हिन्दी-समिति ग्रन्थमाला—८८

भारतीय नीति-शास्त्र
का
इतिहास

लेखक

डॉ० भीखनलाल आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट०, पद्मभूषण

भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन, मनोविज्ञान तथा धर्मविभाग,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

हिन्दी समिति

सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

लखनऊ

प्रकाशकीय

मनुष्य ने जब से सोचना-विचारना शुरू किया, दुःख से निवृत्ति और सुख की उपलब्धि के साधनों पर विचार किया तथा व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्ध में ध्यान दिया, तभी से देश, काल और परिस्थिति के अनुकूल वह अपने आचार-व्यवहार का नियमन एवं संयोजन करता रहा है। अपने जीवनोद्देश्य को लेकर वह आगे बढ़ा और उसकी प्राप्ति के लिए कर्तव्याकर्तव्य का विवेक रखते हुए उसने अपना कार्य-पथ प्रशस्त किया। नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र अथवा कर्तव्यशास्त्र का सर्जन हुआ। समय की माँग के अनुसार संसार के प्रत्येक सभ्य देश में आचार-संहिताएँ बनी। भारत में युगद्रष्टा ऋषि-महर्षियों, आचार्यों, संत-महात्माओं एवं नेताओं ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्रवृत्तियों का समन्वय करने और जीवन को सुख-समृद्धिपूर्ण बनाने के लिए जिस नैतिकता का आधार लेकर मानव को कर्तव्यारूढ़ होने के संदेश और उपदेश दिये वे हमारे लोकहितकारी जीवन-दर्शन तथा नीतिशास्त्र के सुदृढ़ आधार हैं।

दर्शनाचार्य डा० भीखनलाल आत्रेय ने वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल तक के इस विषय के मुख्य ग्रंथों का मंथन कर और मनीषियों की दिव्य वाणी से निकले आदर्श वचनों का संकलन कर प्रस्तुत पुस्तक में नीतिशास्त्र एवं इससे संबंधित विषयों की सुन्दर समीक्षा की है। वैदिक धर्म के अतिरिक्त इस्लाम और ईसाई धर्मों में वर्णित नैतिकता का आभास देते हुए तथा उसकी भारतीय नीतिशास्त्र से तुलना करते हुए विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुओं की ज्ञानवृद्धि के लिए इस विषय का उन्होंने बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया है। हिन्दी को यह वृहत् ग्रंथ भेंट कर डा० आत्रेय ने एक अभाव की पूर्ति की है।

ठाकुरप्रसाद सिंह
सचिव, हिन्दी समिति

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन पर तो हिन्दी में अब कुछ ग्रन्थ मिलने भी लगे हैं पर भारतीय नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान पर कोई अच्छा ग्रन्थ हिन्दी में नही मिलता। इन विषयो पर तो अंग्रेजी मे भी ग्रन्थो का अभाव सा ही है। इसलिए उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति ने मुझसे जब हिन्दी में भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास लिखने को कहा तो मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

भारत के किसी शास्त्र का इतिहास लिखना कितना कठिन काम है यह तो वही जानते हैं जो इतिहास लिखने का प्रयत्न करते हैं। मुझे भी बहुत कठिनाइयो का सामना करना पडा, और कई बार मै इस कार्य को हाथ मे लेकर पछताया। जो कुछ लिख पाया हूँ उससे मुझे सन्तुष्टि भी नही हुई। मेरे अपने प्रमाप से ही इसमें बहुत कमियाँ और दोष दिखाई पडते हैं। पर इस आशा से इस ग्रन्थ को प्रकाशनार्थ भेज रहा हूँ कि भारतीय नीति-शास्त्रो का अध्ययन करने के लिए कुछ सामग्री तो पाठको और विचारको के हाथ में एक साथ आ जायेगी, जिसके आधार पर भारतीय नीतिशास्त्र पर विवेचनात्मक, तुलनात्मक, आलोचनात्मक और समन्वयात्मक विचार आरम्भ तो हो जाय। मुझे बडी प्रसन्नता होगी यदि मेरे इस प्रयास से नीतिशास्त्र अथवा भारतीय नीति-शास्त्र के विद्यार्थियों का भारतीय नीतिशास्त्र मे कुछ परिचय होकर उसके अधिक अध्ययन की रुचि उत्पन्न हो, अथवा विद्वानों के मन में इस पुस्तक से अच्छी दूसरी पुस्तक लिखने का सकल्प हो जाय। पक्की सडक बनने से पहले कच्ची सडक बनायी जाती है। मै अपनी इस पुस्तक को कच्ची सडक की नाई आगे बनने वाली पक्की सडक के लिए पुर सर मात्र मानता हूँ। इससे अच्छी और इसको निवेशित करने वाली पुस्तक को देखकर मुझे ही बहुत प्रसन्नता होगी।

यद्यपि भारतीय नीति-शास्त्र की ओर कुछ लोगो का ध्यान जाने लगा है पर इसके क्रमिक, सुसम्बद्ध, युगानुसार और विकासात्मक इतिहास पर मेरे देखने मे अभी तक कोई पुस्तक नही आयी। इसलिए मुझे इसको लिखने के लिए अपना मार्ग स्वय बनाना पडा। भारत में किसी विद्या का युगानुसार क्रमबद्ध इतिहास लिखना सभव नही जान पडता, क्योकि कब कोई ग्रन्थ लिखा गया था, किसने लिखा था, यह बहुत कम ज्ञात है। कोई

ग्रन्थ अपने प्राचीन शुद्ध रूप में भी नहीं मिलता। हर युग में प्राचीन ग्रन्थों में परिवर्तन होता आया है। कुछ उनमें से छोड़ा गया है कुछ जोड़ा गया है। ग्रन्थ लेखकों ने अपने सम्बन्ध में अपने समय के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है। यहाँ तक कि अपना नाम भी ग्रन्थों में नहीं दिए हैं। और भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। इसी लिए अभी भारतीय दर्शन-शास्त्र का भी कोई दोषरहित और पूर्णतया सन्तोषजनक इतिहास नहीं लिखा जा सका।

लेखक ने इस पुस्तक में भारतीय नीतिशास्त्र को कुछ विभागों में जो कुछ-कुछ युगानुसार हैं और कुछ कुछ मतानुसार हैं, विभाजित किया और उनके सम्बन्ध में प्रभावशाली मतों का उल्लेख किया है। इस्लाम और ईसामसीह के उपदेशों का वर्णन उन भारतीय नैतिक युगों के साथ किया है जिनके ऊपर उनका प्रभाव पड़ना आरम्भ हुआ था न कि उस समय जब कि उनका संसार के इतिहास में प्रादुर्भाव हुआ था। इसलिए यहाँ पर लेखक ने नीतिशास्त्र की परिभाषा और भारतीय नीतिशास्त्र की विशेषताओं को बतलाकर इस क्रम से भारतीय नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों और मतों का वर्णन किया है—वैदिक नीति, ब्राह्मणों की नीति, उपनिषदों की नीति धर्मसूत्रों और स्मृतियों की नीति इतिहास ग्रन्थ, रामायण और महाभारत तथा उससे सम्बद्ध भगवद्गीता और योगवासिष्ठ की नीति, पुराणों की नीति दर्शनों की नीति नीति ग्रन्थों की नीति इस्लाम और मध्यकालीन सन्तों की नीति, ईसामसीह के नैतिक उपदेश और १९वीं शताब्दी के सुधारकों की नीति और बीसवीं शताब्दी के नेताओं की नीति। इसके पश्चात् इन सब विचारधाराओं के ऊपर एक विहंगम दृष्टि डालकर भारत के नैतिक क्षेत्र में समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों का संक्षिप्त विवरण दिया है। इसके पश्चात् भारतीय नीतिशास्त्र के मूल तत्वों और भारतीय नीति की कुछ जटिल समस्याओं की ओर पाठकों का ध्यान दिलाकर कुछ अपने सुझाव भी देने का प्रयत्न किया है। कहाँ तक लेखक सफल हो पाया है इसका निर्णय तो पाठक और समय ही करेंगे।

इस पुस्तक की पाण्डुलिपि प्रकाशकों को देने में जो अधिक देरी हुई है उसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ। देरी का कारण मेरी लापरवाही या मेरा ढीलापन नहीं था। समय की कमी थी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की सेवा से अवकाश प्राप्त कर लेने पर भी मुझे इतना समय नहीं मिला कि मैं यह पुस्तक समय से पूर्व समाप्त कर सकता। एक विश्वविद्यालय से छुट्टी पा लेने पर अनेक विद्यालयों से मेरा अनेक प्रकार का सम्पर्क स्थापित हो गया और उनका कुछ न कुछ कार्य करना ही पड़ता है, जिसके लिए बहुत यात्रा भी करनी पड़ती है। विश्वविद्यालयों के कामों के अतिरिक्त कई अन्य सार्वजनिक संस्थाओं की भी कुछ न कुछ निष्काम सेवा करनी पड़ती है। इसलिए मैं आशा करता हूँ कि मेरा विलम्ब क्षमा किया जायगा।

इस पुस्तक के लिखे जाने और छपने का सर्वाधिक श्रेय तो मत्री, हिन्दी समिति को ही है क्योकि वे समय-समय पर मुझे इसकी पाण्डुलिपि भेजने की याद दिलाते और शीघ्रता करने के लिए प्रेरित करते रहते थे। इसलिए सबसे पहले धन्यवाद के पात्र वे ही हैं। उनके पश्चात् उन ग्रन्थो के लेखक हैं जिनके आधार पर मैंने यह पुस्तक लिखी है और जिनके उद्धरण मैंने प्रचुरता से इसमें दिये हैं। उनके पश्चात् वे मेरे मित्र है जिन्होने मेरे लेखो की सुन्दर अक्षरो मे प्रतिलिपि करके उनको टाइप होने के योग्य बनाया। उनमें डा० गोवर्धन भट्ट, श्री रघुनाथ गिरि, प० ज्वालाप्रसाद गौड, प्रो० शान्तिप्रकाश आत्रेय, डा० राजेन्द्र नाथ मुकर्जी के नाम उल्लेखनीय है। श्री शशिकान्त पाठक भी, जिन्होने समस्त पुस्तक को टाइप करके इस रूप में मुझे दिया कि मैं उसे हिन्दी समिति को भेज सकूं, मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

अपनी पुस्तक की कमियो और अशुद्धियो से जितना मै स्वय परिचित हूँ उतना शायद कोई और, पाठक या आलोचक, नही हो सकता। इसलिए बडी विनम्रता से अपने दोषो के लिए पाठक और आलोचक दोनो से क्षमा याचना करता हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि दूसरे सस्करण में कुछ कमियो को पूरा करने और दोषो को दूर करने का प्रयत्न करूँगा।

भी० ला० आत्रेय

विषय सूची

अध्याय	पृष्ठ
१—नीतिशास्त्र की परिभाषा और क्षेत्र	१
२—भारतीय नीतिशास्त्र की विशेषताएँ	१६
३—भारतीय नीतिशास्त्र के धार्मिक और दार्शनिक आधार	२३
४—वैदिक कालीन नीति	३३
५—ब्राह्मण ग्रन्थों की नैतिक शिक्षा	४७
६—उपनिषदों की नीति	५६
७—धर्मसूत्रों की नीति	७२
८—स्मृतियों की नीति	९६
९—वाल्मीकीय रामायण की नीति	१४१
१०—महाभारत की नैतिक शिक्षा	१५७
११—भगवद्गीता की नैतिक शिक्षा	१८३
१२—योगवासिष्ठ की नीति	२००
१३—पुराणों की नैतिक शिक्षा	२२१
१४—भारतीय दर्शनों की नीति	२६२
१५—नीति-ग्रन्थों की नीति	३११
१६—पंचतन्त्र और हितोपदेश की नीति	३९५
१७—इस्लाम धर्म की अरब में उत्पत्ति, उसकी नीति और भारतीय नीति पर उसका प्रभाव	४२३
१८—मध्यकालीन सन्तों की नैतिक शिक्षा	४३१
१९—ईसामसीह के नैतिक उपदेश	४८९

अध्याय	पृष्ठ
२०—उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारकों के नैतिक विचार	४९४
२१—बीसवीं शताब्दी के नेताओं की नीति	५३१
२२—पाश्चात्य नीतिविज्ञान की विचारश्रेणी	५७८
२३—भारतीय नीतिशास्त्रों पर विहंगम दृष्टि	५९१
२४—भारतीय नीतिशास्त्र के मूल सिद्धांत	६१२
२५—भारतीय नीतिशास्त्र की कुछ जटिल समस्यायें	६४०
२६—नीति के ऊपर विज्ञान का प्रभाव तथा भारतीय नीति में उथल-पुथल	६८५
२७—भारतीय नीतिशास्त्र की समर्थता	७
२८—भारतीय नीतिशास्त्र के लिए कुछ सुझाव	७ ४

अध्याय १

नीति शास्त्र की परिभाषा और क्षेत्र

शास्त्र शब्द का अर्थ

नीति शास्त्र दो शब्दों से बना है—एक नीति और दूसरा शास्त्र। शास्त्र शब्द शास् (शासु—अनुशिष्टौ भेद्) धातु से बना है जिसका अर्थ है सिखाना, बतलाना, नियन्त्रण करना, दण्ड देना और सलाह देना। शास्त्र वह ग्रन्थ या ज्ञान है जिसमे हमको किसी विषय के सम्बन्ध में ऐसी शिक्षा मिले जिसके द्वारा हम जीवन और जगत की वस्तुओ का नियन्त्रण और नियमन कर सकें। भारतवर्ष मे यह शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त होता है जिस अर्थ मे पाश्चात्य देशो में साइंस (विज्ञान) शब्द। भेद केवल इतना ही है कि साइंस (विज्ञान) शब्द किसी विषय के विशेष ज्ञान को कहते हैं और शास्त्र उस ज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों को कहते हैं। विशेष ज्ञान से यहाँ उस ज्ञान की ओर संकेत है जो साधारण ज्ञान (Common Sense) से कहीं अधिक है और जिसको प्राप्त करने की रीति निश्चित है। विज्ञान अंग्रेजी शब्द 'साइंस' का पर्याय है। साइंस किसी विषय के सम्बन्ध मे वह ज्ञान है जिसको मनुष्य ने अपने प्रयत्न से धीरे धीरे संग्रह किया है और जो प्राय सत्य, निश्चित, सर्वमान्य तथा उपयोगी है। शास्त्र वे ग्रन्थ हैं जो हमको किसी विषय के सम्बन्ध मे ऐसा ज्ञान देते है, जिसके द्वारा हम उस विषय मे भली-भाँति परिचित हो जाये तथा जीवन मे उसका उपयोग और उसके द्वारा जीवन का नियन्त्रण कर सके। आजकल शास्त्र शब्द का प्रयोग ग्रन्थ के अतिरिक्त विद्या या विज्ञान के अर्थ मे भी प्राय होता है, जैसे तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, कामशास्त्र, धर्मशास्त्र, मोक्ष-शास्त्र, अर्थात् इन विषयो के सम्बन्ध का ज्ञान। अति प्राचीन काल में शास्त्र उन ग्रन्थो को ही कहते थे जिनमे किसी विषय के सम्बन्ध का ज्ञान होता था। किन्तु आज शास्त्र का अर्थ किसी विषय के सम्बन्ध में "ज्ञान" "विद्या" या "विज्ञान" भी है। आजकल शास्त्र और विज्ञान पर्यायवाची शब्द हो गये है। अर्थशास्त्र और अर्थ विज्ञान दोनो का एक ही अर्थ है। इसी प्रकार नीति विज्ञान और नीति शास्त्र शब्दो में शास्त्र और विज्ञान का एक ही अर्थ है।

विशेष ज्ञान 'विज्ञान' अथवा शास्त्र और साधारण ज्ञान में बहुत अन्तर है। साधारण ज्ञान इन्द्रियों और मन के द्वारा प्राप्त वह ज्ञान है जो वैयक्तिक क्षणिक, साम यिक और सापेक्ष है। उसका बोध और निराकरण होता ही रहता है। विज्ञान विशेष रीति निरीक्षण और प्रयोग द्वारा प्राप्त वह ज्ञान है जो सर्वमान्य सब कालों में और स्थानों पर अबाधित तथा निश्चित है तथा जिसके द्वारा वस्तुओं के स्वरूप का उतना ज्ञान हमको हो जाता है कि उनका नियन्त्रण और उपयोग कर सकें। यह ज्ञान वैयक्तिक ज्ञान नहीं बल्कि सार्वभौम है। उसका मनुष्यों ने अपनी विशेष जिज्ञासा विशेष साधनों और प्रयत्नों द्वारा शनै शनै सचय किया है। यह वह सार्वमान्य ज्ञान है जिसके आधार पर और जिसके उपयोग से आधुनिक सभ्यता का निर्माण हो रहा है— उस सभ्यता का जिसकी प्रकृति पर विजय और प्रकृति का मानव जाति के सुख और आनन्द की वृद्धि के निमित्त उपयोग ही विशेषताएँ हैं। विज्ञान द्वारा मनुष्य ने अपने चारों ओर वर्तमान जल थल और आकाश में स्थित पदार्थों अपने मन तथा शरीर का अपूर्व ज्ञान प्राप्त करके उनको अपनी सेवा में और अपनी समृद्धि सुख और आनन्द के लिए उपयोग करना सीख लिया है। रेल, तार, मोटरकार, जलयान वायुयान रेडियो, टेलीफोन टेलीविजन सिनेमा और रेफ्रीजेरेटर, रोगो के नाना प्रकार के उपचार एवं शल्य-चिकित्साएँ इत्यादि, जो मनुष्य जीवन को सुखी और सम्पन्न बना रही हैं विज्ञान के ही परिणाम हैं। इस विज्ञान का आरम्भ योरोप में १७वीं शताब्दी में हुआ था। अंग्रेज बेकन ने लोगों को इस प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया था। उसके पूर्व वहाँ भी मध्यकालीन भारत की भाँति धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर बौद्धिक विचार मात्र द्वारा संसार और जीवन के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने की रीति प्रचलित थी।

शास्त्र शब्द का प्रयोग यद्यपि आज विज्ञान के ही अर्थ में किया जाने लगा है तथापि प्राचीन काल में शास्त्र शब्द से भारतवर्ष में वे ग्रन्थ ग्रहण किये जाते थे जो विज्ञान की भाँति हमको किसी विषय के सम्बन्ध में मानवी साधारण ज्ञान से अधिक गहरा निश्चित सर्वव्यापी ज्ञान देते हैं। प्राचीन ऋषि लोग अर्थात् वे महापुरुष जो योग साधनों द्वारा समाधि की अवस्था में पहुँच कर ज्ञेय पदार्थों के साथ तादात्म्य का अनुभव प्राप्त करके उनके सम्बन्ध में पूर्ण अबाध निरपेक्ष और यथोचित ज्ञान प्राप्त कर लेते थे—स्वय द्वारा प्राप्त ज्ञान को जगत् के उपकार के लिए अपने शिष्यों को दिया करते थे। अभी कुछ वर्ष पूर्व फ्रान्स के एक महान् वैज्ञानिक और दार्शनिक विद्वान् हेनरी बर्गसाँ ने अपने अनेक प्रतिभापूर्ण ग्रन्थों द्वारा वैज्ञानिक और बौद्धिक ज्ञान में भेद करके हमको बौद्धिक ज्ञान की उत्कृष्टता का निर्देश किया है। भारतीय प्राचीन शास्त्रों

से जो ज्ञान प्राप्त है उसका आधार योग है अथवा ऋषियो (द्रष्टाओ) के समाधिगत अनुभव हैं। वह ज्ञान ब्रह्माण्डी चित्त के साथ जिसमे ससार का पूर्ण ज्ञान सदा ही रहता है, तादात्म्य अनुभव करने पर वैयक्तिक मन मे स्वत प्रकट हो जाता है। सभी भारतीयो का यह विश्वास है कि योगियो को, समाधि अवस्था में जाने पर ससार का कोई भी विषय हस्तामलकवत् हो जाता है। अर्थात् जिस प्रकार अपनी हथेली पर रक्खे हुए आमले को मनुष्य भली-भाँति जान लेता है। उसी प्रकार योगी समाधि में किसी भी विषय को पूर्ण रूप से जान लेता है।

आजकल ऋषियों और योगियो की इस शक्ति मे विश्वास, विशेषत भारत में, कम होता जा रहा है। इसका कारण यह है कि हम पाश्चात्य विज्ञान से इतने चकाचौंध होते जा रहे हैं कि अब हमारा विश्वास इन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान पर ही रह गया है। ऐन्द्रीय निरीक्षण और व्यवहारिक प्रयोग ही को हम लोगो ने ज्ञान का साधन समझकर योग समाधि को केवल ढकोसला समझ लिया है। पर यह हमारी धारणा बहुत अनुचित और असत्य है। पाश्चात्य देशो में आजकल परा-मनोविज्ञान (Para Psychology) में वैज्ञानिक रीतियों द्वारा जो महान् खोजें हो रही हैं उनको जानकर तो यह निश्चित होता जा रहा है कि योग द्वारा प्राप्त ज्ञान केवल ढकोसला नही है। आज पाश्चात्य परा मनोविज्ञान अथवा आध्यात्मिक खोज (Psychical Research) द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि मनुष्य के मन और आत्मा मे ज्ञान प्राप्ति के विचित्र और उच्च साधन हैं। इन विज्ञानो ने यह सिद्ध कर दिया है कि मन की अलौकिक शक्तियो द्वारा मनुष्य भूत, वर्तमान, भविष्य की किसी घटना और ससार के किसी पदार्थ का हस्तामलकवत् अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त कर सकता है। टेलीपेथी (मन द्वारा दूसरो के मन के विचारो का ज्ञान) 'एकस्ट्रा सेंसोरी पर्सेपशन' (Extra Sensory Perception) वाह्य इन्द्रियो के प्रयोग के विना ही मन की ऐन्द्रिक शक्ति द्वारा दूरस्थ भूत वर्तमान और भविष्यत् वस्तुओं का ज्ञान, साइकोमेट्री (Psychometry) आध्यात्मिक स्पर्श अर्थात् किसी वस्तु के स्पर्श मात्र से उसके सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान, जो आत्मा की सर्वज्ञता का द्योतक है—आदि आत्मा और मन की ऐसी शक्तियाँ हैं जिनसे यह सकेत होता है कि आत्मा अथवा मन अपने असली रूप में जब वह भौतिक शरीर और इन्द्रियो से ऊपर उठ जाता है, सर्वज्ञ सा है, और यदि योग द्वारा हम अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जायें तो ससार के सभी पदार्थ हमको हस्तामलकवत् ज्ञात हो सकेंगे। हमारे प्राचीन शास्त्र इसी अवस्था में पहुँच कर ऋषियो ने लिखे थे। उनमें से अधिकाश का लोप हो गया है। केवल उनके आधार पर लिखी हुई ऋषियो के शिष्यो की स्मृतियाँ ही आजकल उपलब्ध हैं। ऋषियो के समाधिगत् अनुभव का परम्परागत

ज्ञान स्मृतियाँ हैं। अर्थात् उन अनुभवों द्वारा प्राप्त ज्ञान जो उन्होंने अपने शिष्यों को सुनाया श्रुतियाँ थी और उन शिष्यों ने जो ज्ञान संसार को अपने गुरुओं से सुन हुए ज्ञान के आधार पर दिया वह स्मृतियाँ हो गयी क्योंकि इन शिष्यों का ज्ञान ऋषियों जैसा साक्षात् नहीं था बल्कि उस साक्षात् ज्ञान की जो उन्होंने गुरुओं से सुना था, स्मृति के आधार पर उनका स्वतन्त्र निर्माण किया हुआ था।

अतः विज्ञान वास्तव में वह ज्ञान है जो नैमित्तिक निरीक्षण उसकी पुनः पुनः परीक्षा, उसके ऊपर कौशल विचार और उस विचार के प्रायोगिक निरूपण द्वारा आत्मिक महानुभावों द्वारा प्राप्त हुआ है और शास्त्र वे पुस्तकें हैं जो ऋषियों के उस ज्ञान के आधार पर लिखी गयी हैं जो उन्होंने समाविस्थ होकर प्राप्त किया था। प्राचीन भारत के सभी शास्त्रों में आरम्भ में यही बतलाया गया है कि उस शास्त्र का प्रथम लेखक या प्रवर्तक कोई महान योगी महर्षि या देवता था। सभी विद्याओं की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई। केवल धर्म और मोक्ष सम्बन्धी ज्ञान का ही उद्गम इस प्रकार नहीं हुआ बल्कि अर्थशास्त्र और काम शास्त्र का भी। प्रचलित वात्स्यायन के काम-सूत्र को पढ़ने से इसको यही ज्ञान होता है। "प्रजापति ने प्रजा को रचकर सौ हजार अध्यायों में त्रिवर्ग की जो उसकी स्थिति का कारण है साधन पहले कहा। उसमें एक भाग धर्म-शास्त्र को स्वायम्भुव् मनु ने अलग कर दिया। बृहस्पति जी ने अर्थ शास्त्र को पृथक कर दिया। महादेव जी के अनुचर नन्दी ने एक हजार अध्यायों में काम सूत्र को पृथक कहा। महर्षि उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने बाभ्रव्य के एक हजार अध्याय में कहे हुए काम शास्त्र का पाँच सौ अध्यायों में संक्षेप करके निरूपण किया। (कामसूत्र १। ५—९)

महाभारत के शान्ति पर्व (अध्याय ५९) में भीष्म ने नीतिशास्त्र का आदि स्रोत और लेखक ब्रह्मा को बतलाया है। ब्रह्मा ने अपनी बुद्धि से एक लाख अध्यायों का एक ऐसा 'नीति शास्त्र' रचा था जिसमें धर्म अर्थ काम और मोक्ष का विस्तारपूर्वक वर्णन था (शान्ति पर्व ५९।२९)। ब्रह्मा जी के नीति शास्त्र में साम, दान भेद दण्ड उपाय कार्य और सहायक इन ६ वर्गों का वर्णन है। ये वहाँ नीति द्वारा सचालित होने पर प्रगति के कारण होते हैं। उस ग्रन्थ में वेदत्रयी (धर्मशास्त्र) आन्वीक्षिकी (ज्ञान काण्ड) वार्ता (कृषि गोरक्षा और वाणिज्य) और दण्ड नीति—इन विपुल विद्याओं का निरूपण किया गया है (३२—३३)। अमात्य और विनयी का भी वर्णन है। पुरवासियों की रक्षा राज्य की वृद्धि तथा १२ राजमण्डलों के विषय में जो चिन्तन किया जाता है उसका भी इस ग्रन्थ में उल्लेख है। बहत्तर प्रकार की शारीरिक चिकित्सा तथा देश जाति और कुल के धर्मों का भी भली भाँति इस ग्रन्थ में

वर्णन किया गया है। (७०, ७१) सबसे पहिले भगवान शकर ने इस नीति-शास्त्र को पढा। विशालाक्ष भगवान् शिव ने प्रजावर्ग की आयु का ह्रास होते देखकर ब्रह्मा जी के रचे हुए इस महान् अर्थ से भरे हुए शास्त्र को सक्षिप्त किया। इसलिए इसका नाम 'वैशालाक्ष्य' पडा। फिर इसका इन्द्र ने अध्ययन किया। महा तपस्वी सुब्रह्मण्य भगवान् पुरन्दर ने जब इसका अध्ययन किया तब उसमें १० हजार अध्याय थे। फिर उन्होंने भी इसका सक्षेप किया, जिससे यह पाँच हजार अध्यायों का ग्रन्थ हो गया। यही ग्रन्थ "बाहुदन्तक" नामक नीति शास्त्र के रूप मे विख्यात हुआ (८१, ८२, ८३)। इसके बाद सामर्थ्यशील बृहस्पति ने अपनी बुद्धि से इसका सक्षेप किया, तब इसमे ३ हजार अध्याय रह गए थे, यह ग्रन्थ "बार्हस्पत्य" नामक नीति शास्त्र कहलाया। फिर महा-यशस्वी, योगशास्त्र के आचार्य तथा अमित बुद्धिमान् शुक्राचार्य ने एक हजार अध्यायो मे उस शास्त्र का सक्षेप किया (८४, ८५)। इस प्रकार मनुष्यों की आयु का ह्रास होता हुआ जान कर जगत् के हित के लिए महर्षियो ने इस शास्त्र को सक्षिप्त किया। (८६)

इस प्रकार सभी शास्त्रों का मूल स्रोत कोई न कोई देवता या ऋषि या योगी माना गया है, साधारण मनुष्य नही। आयुर्वेद, धनुर्वेद और ज्योतिष् जैसी विद्याओं का स्रोत भी यौगिक प्रत्यक्ष है।

गहरे विचार से यदि देखा जाय तो विज्ञान का स्रोत भी इन्द्रियाँ और साधारण मन नही हैं। ये तो केवल आत्मा का विषय से सन्निकर्ष कराने के साधन मात्र हैं। विषयो के सम्बन्ध में जो अतीन्द्रिय और सर्वव्यापी सामान्य ज्ञान होता है वह वैज्ञानिकों को उनकी अत्यन्त सयमित अवस्था में ही होता है। जितनी वैज्ञानिक खोजें हुई हैं वे सब धारणा और ध्यान द्वारा समाधि अवस्था मे पहुँचने पर हुई हैं। साधारण पुरुष उच्च कोटि का वैज्ञानिक अन्वेषण नही कर सकता। विश्व का समस्त ज्ञान आत्मा के उच्च स्तर से ही आता है और ध्यानावस्था में ही प्राप्त होता है। कवि की कविता और उच्च कोटि के लेख और विचार हृदय के अन्तस्तल में प्रवेश करने पर और ध्यानावस्थित होने पर ही प्रकट होते हैं। इसलिए शास्त्र और विज्ञान में अधिक भेद नही है।

जीवन और ससार का पूर्ण और सर्वांगी ज्ञान, जिसको प्राप्त करके सब प्रश्न हल हो जाए और सब शकाएं निवृत्त हो जाए, यद्यपि मनुष्य का ध्येय है, तथापि उसका प्राप्त होना मनुष्य जीवन मे सभव नही है। मनुष्य का हृदय वह प्रधान कुजी (Master-key) प्राप्त करना चाहता है जिसके द्वारा जीवन और ससार के सभी ताले आसानी से खुल सकें। उपनिषदो में शिष्य गुरु से वही रहस्य जानना

चाहता है जिसको जानकर कुछ भी अज्ञेय नहीं रहता। उस प्रकार का सर्वग्राही (Synoptic) और सर्वांगी (Synthetic) ज्ञान तो स्यात् सिद्ध पुरुषों का ही होता होगा। साधारण मनुष्य का ज्ञान एकांगी अपूर्ण और सापेक्ष ही होता है क्योंकि उसकी रुचि और आवश्यकताएँ साधारण व्यावहारिक और तात्कालिक होती हैं। हमारा शरीर हमारी इन्द्रियाँ और हमारी सामाजिक परिस्थितियाँ तात्कालिक लौकिक और वैयक्तिक हैं। अतएव उनकी आवश्यकताएँ और उनका व्यवहार तथा विचार भी देश काल द्रव्य और व्यक्ति की अवस्थानुसार होता है। इसलिए हमको जीवन में पग-पग पर विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है। सामान्य ज्ञान से हमारा काम तब तक नहीं चलता जब तक हम उसका विशेष अवस्थाओं में प्रयोग करना न जानें। विज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान और सामान्य ज्ञान दोनों ही हमको प्राप्त हों तब हमारा जीवन सफल हो सकता है। इसलिए ही ज्ञान की अनन्त शाखाएँ हैं और तत्सम्बन्धी अनेक विज्ञान और तत्सम्बन्धी अनेक शास्त्रों का निर्माण हुआ है। जीवन में जितने प्रकार की समस्याएँ हैं उतने ही प्रकार के विज्ञान और शास्त्र हैं।

नीति शब्द का अर्थ

जीवन की अनेक समस्याओं और प्रश्नों में से यह एक प्रश्न पुनः पुनः और पग पग पर उठा करता है कि किसी विशेष परिस्थिति और अवस्था में जब कि मेरे सामने दो या अधिक प्रकार के काम करने की सम्भावना और स्वतन्त्रता है तो उनमें से कौन सा काम मुझे करना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि उन दो या अधिक सम्भव कार्यों में से जिनको करने के लिए मैं पूर्ण स्वतन्त्र हूँ कौन सा कार्य मेरे लिये उचित है, क्योंकि जो मेरे लिए उचित है वही मेरा कर्तव्य है।

इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर तभी मिल सकता है जब मैं यह जानूँ कि मेरे जीवन का क्या उद्देश्य है क्योंकि मुझे अपने जीवन में वे ही काम करने चाहिए जो मुझे अपने उद्देश्य की प्राप्ति की ओर ले जायँ उसके अनुकूल हों और उसकी प्राप्ति में सहायक हों और ऐसे काम न करने चाहिये जो मुझे उसके विपरीत ले जायँ अथवा उससे दूर ले जायें अथवा उसको प्राप्त करने में बाधक हों। हमारे सभी कार्यों का हमारी उद्देश्य प्राप्ति के साथ सामञ्जस्य होना चाहिए। अन्यथा हम अपनी सारी शक्तियाँ जीवन के उद्देश्य की पूर्ति में नहीं लगा सकेंगे।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या जीवन का कोई एक ऐसा उद्देश्य भी है जिसकी प्राप्ति के लिए हमारी समस्त शक्तियाँ उपयोगी हो सकती हैं और और हमारे सारे कर्म हमें ले जा सकते हैं? यदि जीवन का कोई अन्तिम लक्ष्य नहीं है और जीवन की समस्त क्रियाएँ क्षणिक और परस्पर असम्बद्ध हैं, और जीवन

तात्पर्य केवल प्रत्येक क्षण, अवस्था और परिस्थिति में—यदृच्छया, तदपेक्षया, तत्प्रेरित, यत्किञ्चित् प्रतिक्रिया ही कर देने में है, यदि जीवन जीने और मरने मात्र का ही नाम है, और एक प्रकार के जीवन और दूसरे प्रकार के जीवन मे कोई तारतम्य नही है, कोई विशेष अन्तर नही है, और जीवन की क्षणिक तथा सापेक्ष प्रतिक्रियाओं के समय अनुभूत दुःख या सुख ही जीवन के पर्याप्त अनुभव है, तो यह प्रश्न ही नही उठना चाहिये कि किसी विशेष परिस्थिति मे मेरा क्या कर्त्तव्य है, मुझे क्या करना चाहिए, क्योंकि मैं जो कुछ करूँ वही उस परिस्थिति में उपयुक्त है।

मनुष्येतर प्राणियों के जीवन की भी यही दशा है या नहीं, यह हम नही जान सकते, पर मनुष्य होने के कारण यह अवश्य कह सकते हैं कि मनुष्य किसी भी अवस्था और परिस्थिति में इस प्रकार की निरुद्देश्य स्वातन्त्र्यहीन, परिस्थितियो द्वारा मजबूर की हुई, क्षणिक तात्पर्यवाली प्रतिक्रिया मात्र से सन्तुष्ट नही होता। ऐसी क्रियाओं के करने में उसे आत्महत्या का अनुभव होता है, दुःख और खेद होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने भीतर पूर्ण स्वतन्त्रता का अनुभव करता है और यह समझता है कि उसकी सब क्रियाओं पर उसका इतना अधिकार है कि उनको करे या न करे, जब चाहे करे, जिस प्रकार चाहे करे। यद्यपि इस पूर्ण स्वतन्त्रता के व्यावहारिक प्रयोग मे मनुष्यों में बहुत बडा तारतम्य है और सभी मनुष्यो को अपने शरीर और मन की सभी क्रियाओं पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त नही है, पर यह सभव है, जैसा कि योगी और महात्माओं के जीवन मे जान पडता है। साधारण मनुष्यों मे ऐसा न पाये जाने के कारण आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ताओ ने जीवन की क्रियाओ में अनेक प्रकार के भेद (Random, involuntary and voluntary) करके कुछ क्रियाओं को ही स्वतंत्र क्रियायें बतलाया है।

कुछ भी हो अपनी स्वतन्त्र क्रियाओ के सम्बन्ध में तो प्रत्येक मनुष्य के सामने उनके उद्देश्य, अर्थ और प्रयोजन का प्रश्न, यदि मनुष्य मानसिक रोगों से आक्रान्त नही है, अनिवार्य रूप से उठता है। मन्द बुद्धि वाला मनुष्य भी बिना किसी प्रयोजन के कोई काम नही करता।

अब प्रश्न यह उठता है कि प्रत्येक क्रिया का प्रयोजन केवल क्षणिक आवश्यकता की पूर्ति है अथवा कोई अन्तिम और जीवनव्यापी उद्देश्य है, जिसकी सभव पूर्ति और अपूर्ति की दृष्टि से हम अपनी क्षणिक, क्षुद्र और साधारण क्रियाओं को करें या न करें। उदाहरणार्थ भूख, प्यास, मैथुन, क्रोध, भय, संग आदि मनुष्य की साधारण नैसर्गिक, सामान्य और अनिवार्य प्रवृत्तियाँ हैं, तो भी प्रत्येक मनुष्य के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उनका क्या अन्तिम प्रयोजन है। मनुष्य के जीवन पर और उसके

किसी अन्तिम जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति पर अथवा उसके व्यक्तिगत जीवन के निर्माण पर, इस बात का बहुत बड़ा और अनिवार्य प्रभाव पड़ता है कि वह क्या खाय कब खावे और कैसे खावे क्या पिये कब पिये और कैसे पिये किससे भाषण करे कब करे, कैसे करे किससे क्रोध करे कैसे करे और कब करे किससे भय करे, कैसे उसे प्रकट करे और कब करे किसका संग करे और उस संग के प्रभाव में आकर क्या करे और क्या न करे ?

हमारा जीवन प्रतिक्षण बदलने वाला है और हमारी अवस्थाएँ तथा परिस्थितियाँ समयानुकूल होने पर भी हमारे व्यक्तित्व के अंग ही हैं। आज जो हमारा व्यक्तित्व है वह हमारे सारे पूर्व जीवन की क्रियाओं का सामूहिक फल है। जो कुछ हम इस समय हैं, उसके हमी बहुत दूर तक उत्तरदायी हैं। हमारा भविष्य भी इसी प्रकार निर्मित होता है। इस निर्माण में हमारी प्रत्येक क्रिया अपना प्रभाव डालती है। प्रत्येक विचार, प्रत्येक आकांक्षा इच्छा सुख-दुःख का अनुभव हमारे जीवन-प्रासाद के निर्माण में ईंट, पत्थर, लोहे लकड़ी चूने सीमेन्ट, गारे और पानी का काम करते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि जब हम किसी भौतिक प्रासाद या यन्त्र या उपयोगी वस्तु का निर्माण करते हैं तो हम यह देखते हैं कि उसमें लगने वाले प्रत्येक पदार्थ की भली-भाँति देखभाल या परीक्षा करके प्रयोग हो, वाटिकाओं में काट-छाँट कर पुष्प और लताएँ भी लगायी जायें और उसकी समय-समय पर देखभाल होती रहे क्यों में उत्तम से उत्तम बीज बोये जायें और यथोचित खाद तथा पानी दिया जाय। कि[ंतु] जीवन व्यक्तित्व और आचार-व्यवहार का निर्माण करने में यह न सोचें कि कौन सा कर्म हम करें और कौन सा कर्म हम न करें जबकि जीवन व्यक्तित्व और आचार कर्म प्रधान हैं और कर्मों से ही निर्मित हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि प्रासाद का वाटि[का] का खेती का कोई अर्थ उद्देश्य और लक्ष्य हो और हमारे जीवन का जो कि इन सब का निर्माता है कोई उद्देश्य ही न हो।

यदि कोई ऐसा लक्ष्य है जिसके अनुकूल हमारी सब स्वतन्त्र क्रियाएँ होनी चाहिए तो वह क्या है ? वह एक है अथवा अनेक ? अनेक हैं तो उनका क[्या] पारस्परिक सम्बन्ध है ? वह ऐहिक है या पारलौकिक ? वह अन्तिम और पूर्ण है अथवा अपूर्ण उसकी प्राप्ति होती है ? उसके साथ हमारे जीवन का क्या सम्बन्ध है ? उसके प्राप्त करने पर जीवन की क्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं अथवा चलती रहती हैं ? जन्म से लेकर मरण पर्यन्त वह प्राप्त हो जाता है अथवा उसके लि[ए] बारम्बार जन्म-मरण होता है ? उस लक्ष्य की प्राप्ति पर सुख-दुःख का अनुभव होता है अथवा नहीं ? उसके प्राप्त करने के लिए क्या कोई ऐसे नियम बनाये जा सक[ते]

हैं जिनके अनुसार हम जीवन की सभी क्रियायो को करते रहे? यदि वह लक्ष्य इसी जीवन में प्राप्त हो सकता हो तो उसके प्राप्त कर लेने पर मनुष्य का कैसा व्यवहार होता है? कैसे भाव होते हैं? दूमरे प्राणियो से कैसा सम्वन्ध होता है? यह ससार, और जीवन उसको कैसा लगता है?

इस प्रकार के अनेक प्रश्न उस मनुष्य के समक्ष उपस्थित होते हैं जो वुद्धिपूर्वक विचार करके अपने जीवन का निर्माण (Planning) करना चाहता है। इन प्रश्नो का उत्तर जो शास्त्र या जो विज्ञान देता है वही नीति शास्त्र है। उसी को धर्म-शास्त्र, आचार-शास्त्र, कर्त्तव्य-शास्त्र आदि नामो मे लोग व्यक्त करते हैं। 'नीति' शव्द का अर्थ है ले जाने का तरीका अर्थात् जीवन को लक्ष्य की ओर किन-किन नियमो के पालन करने से ले जाया जा सकता है। सस्कृत के 'नी' धातु से जिसका अर्थ ले चलना है यह शव्द वना है। धर्म शव्द सस्कृत के 'धृ' धातु मे वना है जिसका अर्थ धारण करना है। धारण का अर्थ है कायम रखना, नष्ट न होने देना, वर्वाद न होने देना। अर्थात् धर्म वे नियम हैं जिनसे जीवन व्यर्थ न जाय, वर्वाद न हो, भली भाँति कायम रहे, चलता रहे। आचार शव्द का अर्थ है जीवन का नियमित व्यवहार, नियन्त्रित जीवन, कर्त्तव्य का अर्थ है वे कर्म जो मनुष्य को अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिये अथवा जीवन को ठीक चलाने के लिये करने चाहिये।

नीति शास्त्र

आजकल के शव्दो में यह कहना चाहिये कि नीति-शास्त्र, धर्मशास्त्र, आचार-शास्त्र, या कर्त्तव्य-शास्त्र जीवन-कला-विज्ञान है जो हम को जीवन का उचित निर्माण (Proper Planning) सिखाता है। जब से मनुष्य ने सोचना, विचार करना और अपने जीवन को स्वतन्त्रतापूर्वक निर्माण करना आरम्भ किया है तभी से यह शास्त्र प्रादुर्भूत हुआ। ससार के सभी देशो में और सभी कालो मे इसकी आवश्यकता पडी तथा इसकी शिक्षा मिली है। यह भले ही हो कि इस शास्त्र का स्वतन्त्र और अन्य शास्त्रो से भिन्न अस्तित्व रहा हो अथवा अन्य शास्त्रो के साथ समावेश।

इस ग्रन्थ[1] का उद्देश्य यह दिखाना है कि भारतवर्ष में समय-समय पर क्या-क्या विचार इस विषय में रहे हैं।

नीति और दर्शन

जीवन का क्या लक्ष्य है? उस लक्ष्य पर पहुँचने का क्या साधन है? जीवन में किन वस्तुओ का क्या मूल्य है? क्या सार है, क्या असार है? इन प्रश्नो का उत्तर हम तभी दे सकते है जव कि हम यह जानते हो कि जीवन क्या है? इसका क्या

---

१ भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास।

क्या है ? इसका उत्तर पाने के लिए हमको यह जानना चाहिए कि हमारे जीवन का संसार में क्या स्थान है ? हम कौन हैं। हमारा क्या स्वरूप है ? कहाँ से आए हैं ? कहाँ जाना है ? इन प्रश्नों का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि यह संसार जिसमें हम हैं, क्या है ? इसमें क्या-क्या तत्त्व हैं ? यह कब उत्पन्न होता है कैसे स्थित है इसका क्या अर्थ उद्देश्य और अन्त है ? यह नियमित है अथवा अनियमित इसकी देख-रेख और संचालन करनेवाली कोई शक्ति है अथवा यहाँ पर सब कुछ अकस्मात् और निष्प्रयोजन है ? यदि कोई इसका उत्पादक नियामक और संचालक है तो हमारे जीवन का उससे क्या सम्बन्ध है ? क्या हम उसकी कठपुतलियाँ हैं अथवा हम जैसा कि अपने हृदय में अनुभव करते हैं, अपनी जीवन-नैया के स्वयं कर्णधार हैं ? यह संसार भौतिक पदार्थ से बना है अथवा इसमें मन और आत्मा जैसा कोई अन्य तथा भिन्न तत्त्व इसके भीतर या बाहर विद्यमान है ? हम भी क्या भौतिक शरीर मात्र हैं अथवा शरीर से भिन्न मन और आत्मा हैं ? हमारे शरीर की अनन्त क्रियाओं पर हमारा अधिकार है अथवा नहीं ? कहाँ तक हम अपनी शारीरिक मानसिक आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के उत्तरदायी हैं ? हमारा जीवन हमारे ही लिए है या समाज के लिए ? हमारे जीवन की उद्देश्य-पूर्ति क्या यहीं इसी जीवन में हो सकती है अथवा किसी दूसरे लोक में किसी दूसरे जीवन में होगी ? जन्म क्या है ? मृत्यु क्या है ? हमारी स्वतन्त्र क्रियाओं की हमारे ऊपर कोई प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी है अथवा नहीं ? वे प्रतिक्रियाएँ तात्कालिक हैं—इस जीवन में ही हो जाती हैं—अथवा उनको कुछ समय लगता है और उनके लिए हमको कोई दूसरा जीवन धारण करना पड़ता है ? क्या यह सम्भव है कि हम क्रियाएँ करें और उनकी प्रतिक्रियाओं से बचे रहें ? कर्म करें और फल से मुक्त रहें ? क्या कोई क्रिया वास्तव में प्राकृतिक दृष्टि से भली बुरी पाप और पुण्य है अथवा ये भेद केवल हमारे जीवन के उद्देश्य से सम्बन्ध रखते हैं ? मानव जीवन का अन्य प्राणियों के जीवन से या अपने समाज से क्या सम्बन्ध है ?

ये अनेक प्रश्न हैं, जिनके उत्तर पर हमारे जीवन की नीति का निर्णय हो सकता है। इन प्रश्नों पर गहरा और विस्तृत विचार, दर्शन-शास्त्र में किया जाता है। अतएव नीति-शास्त्र सदा ही दर्शन शास्त्रोपजीवी है। बल्कि यह कहना अनुचित नहीं होगा कि यह शास्त्र वास्तव में दर्शनशास्त्र रूपी वृक्ष का ही फल है। समस्त ज्ञान का तात्पर्य जीवन के व्यवहार में ही होता है। सच्चा ज्ञानी वही है जो अपने ज्ञान के अनुरूप अपना जीवन बनावे। केवल जिज्ञासा मात्र से प्रेरित होकर ज्ञान प्राप्त करना, उससे सन्तुष्ट रहकर, मनमाना अनियन्त्रित निरर्थक अनुद्दिष्ट व्यवहार करना सच्चे ज्ञानी का स्वभाव नहीं। ऐसा ज्ञान व्यर्थ है जो जीवन पर प्रभाव न डालता हो।

इसीलिए मीमासको ने कहा है "सारा शास्त्र क्रियाओं को प्रेरित करने के लिए है। जो ज्ञान व्यवहारिक न हो वह व्यर्थ है।" 'योगवासिष्ठ महारामायण' में ज्ञानी उसी को कहा है जो ज्ञानानुसार अपना जीवन वितावे, जो ऐसा न करके केवल मानसिक अथवा शारीरिक सन्तुष्टि के लिए अथवा पैसा कमाने के लिये शास्त्रों को पढते हैं वे ज्ञानवन्धु कहलाते हैं। दर्शन और नीति का इतना प्रगाढ सम्वन्ध होने के कारण नीति के किसी ग्रन्थ में दर्शन सम्वन्धी विचारो से वचकर केवल नीति के विषयो पर चर्चा करना असम्भव है। अतएव नीति शास्त्र के आवारभूत दर्शन-शास्त्र की हमे जहाँ तहाँ चर्चा करनी ही पडेगी। भारतवर्ष के इतिहास में कभी ऐसा नही हुआ कि दर्शनशास्त्र के ज्ञान के विना नीति शास्त्र के ज्ञान की चर्चा हुई हो। दर्शद का पर्यवसान नीति में है और नीति का आवार दर्शन है। दर्शन हमारी ज्ञानेन्द्रियो के समान हैं और नीति कर्मेन्द्रियो के। दोनो विना एक दूसरे के निरर्थक और पगु हैं।

भारतीय विचारको और दार्शनिको ने तो यहाँ तक निश्चय किया है कि दर्शन और नीति दोनो परस्पराश्रित हैं। विना उच्च नैतिक जीवन के दार्शनिक वुद्धि का उदय नही हो सकता। न दर्शन की वाते समझ में आती हैं और न उनमें रुचि ही होती है। अच्छा दाशनिक होने के लिए मनुष्य को धार्मिक, नैतिक, सदाचारी और शान्तमना होना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा हुए विना वह दर्शन का अधिकारी ही नही है। श्री शकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" के भाष्य में 'अथ' शब्द की व्याख्या में यही वतलाया है कि ब्रह्म मीमासा में ब्रह्म अर्थात् परमात्मा को समझने का वही अधिकारी है जो 'साधन—चतुष्टय सम्पन्न' हो। साधन-चतुष्टय मे अनेक नैतिक गुणों—विवेक, वैराग्य, पटसम्पत्ति—शम, दम तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान तथा मुमुक्षा का समावेश है। उपनिपद् में भी यह कहा गया है कि ज्ञान का अधिकारी वह है जो सत्य वक्ता हो, शान्त हो, और दान्त हो। उपदेश साहस्त्री में श्री शकराचार्य ने दार्शनिक उपदेश उन्ही लोगो को देने को कहा है जिनका उच्च कोटि का नैतिक जीवन हो। ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश उन लोगो को ही देना चाहिए जो शान्त चित्त, जितेन्द्रिय, दोप-रहित, आज्ञाकारी, गुणवाले, सदा शास्त्रानुसार चलने वाले, और मोक्ष के चाहने वाले हो।

शुभाचरण द्वारा जव तक कि चित्त शान्त और निर्मल नही हो जाता तव तक उच्च कोटि के दार्शनिक सिद्धान्त समझ में नही आते। इसलिए अच्छा दार्शनिक होने के लिए नैतिक जीवन की वहुत वडी आवश्यकता है।

अतएव नीतिशास्त्र और दर्शन-शास्त्र का अन्योन्याश्रय सम्वन्ध है, जैसा कि विज्ञान और प्रयोग का, ज्ञान और योग का।

इस ग्रन्थ में हम भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के मुख्य कालों के नैतिक विचारों और धारणाओं का निरूपण करने के पूर्व तत्कालीन दार्शनिक पृष्ठभूमि का भी दिग्दर्शन करेंगे। ऐसा करने से हम यह जान सकेंगे कि दर्शन का नीति पर कितना प्रभाव होता है और दार्शनिक दृष्टिकोण के बदलने से नैतिक सिद्धान्त कितने बदल जाते हैं।

मनोविज्ञान और नीति शास्त्र

नीतिशास्त्र यह निश्चय करता है कि मनुष्य को क्या करना चाहिए? उसका क्या कर्तव्य है? उसके जीवन के क्या आदर्श हैं? तथा उन्हें प्राप्त करने के क्या साधन होने चाहिए? मनुष्य का व्यवहार तथा जीवन की परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों में किस प्रकार का आचार और व्यवहार होना चाहिए?

मनोविज्ञान यह जानना चाहता है कि मनुष्य का प्राकृतिक स्वभाव क्या है? उसकी प्राकृतिक शक्तियाँ क्या हैं? वह स्वभावतः किस प्रकार जानता है, सोचता है, अनुभव करता है, कार्य करता है, और उसके व्यक्तित्व का किस प्रकार निर्माण तथा विकास होता है? वह क्या है और क्या कर सकता है? उसमें जो नैतिक तथा धार्मिक और कलात्मक प्रवृत्तियाँ हैं उनका क्या स्वरूप और आधार है? और किस प्रकार से उसके जीवन को प्रभावित करती हैं और उनके आधार पर किस प्रकार के आचार तथा व्यवहार का निर्माण होता है? शब्दान्तर में यह भी कहा जा सकता है कि मनोविज्ञान यह बतलाने का वैज्ञानिक प्रयत्न करता है कि मनुष्य क्या है और स्वभावतः क्या करता है, जब कि नीतिशास्त्र यह जानने का वैज्ञानिक प्रयत्न है कि उसे क्या होना चाहिए और क्या करना चाहिए। यह स्पष्ट ही है कि दोनों प्रकार के ज्ञानों में बहुत बड़ा सम्बन्ध है।

किसी वस्तु के प्राकृतिक गुणों और स्वभाव को जाने बिना उसका सत्कार करना तथा उसको मनोवांछित रूप में परिवर्तित करना सम्भव नहीं है। मनुष्य को किसी आदर्श रूप में परिणत करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि यह जाना जाय कि मनुष्य के स्वाभाविक गुण और स्वभाव क्या हैं? यही नहीं इस सम्बन्ध में हमको यह भी जानना होगा कि क्या मनुष्य के अन्दर इस प्रकार की शक्ति भी है कि वह अपने को यथेष्ट रूप में बदल सके। क्या मनुष्य को इस बात का ठीक ज्ञान हो पाता है अथवा हो सकता है कि उसके जीवन का क्या आदर्श होना चाहिए, उसके लिए क्या आचार और व्यवहार उचित है और उस पर चलने के लिए क्या वह स्वाभाविक स्वतन्त्र शक्ति सम्पन्न है?

यदि मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य केवल भौतिक, रासायनिक और जैविक शक्तियों तथा परिस्थितियों का दास है और उसकी समस्त क्रियाएँ इन कारणों

मे उत्पन्न होती हैं और इन्ही पर पूर्णतया निर्भर रहती हैं तब यह सोचना ही व्यर्थ है कि उसे क्या होना चाहिये, तथा क्या करना चाहिये ? कारण यह है कि वहाँ तो स्वभावत जो होगा वही होगा, और जो उसे करणीय है वही करना चाहिये। नीतिशास्त्र का स्वतत्र अस्तित्व ही नही रह जाता। ऐसा कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है।

परन्तु पूर्णरूप से विशेष विचार करने पर यह बात ठीक नही जँचती। पशु-पक्षियों, कीट, पतग आदि का स्वभाव और उनकी शक्तियाँ चाहे जो कुछ हो और उनके जीवन का चाहे कितना भी प्राकृतिक नियत्रण होता हो, मनुष्य प्रकृति का दास नही जान पडता है। हम दूसरे प्राणियों के अन्तस्तल में प्रवेश नही कर पाते। उनके स्वभाव और व्यवहार को बाहर से ही देख और जानकर उनके सम्बन्ध में धारणाएँ बनाते हैं तथा अपने अन्तस्तल मे स्वय प्रवेश करके अपने गुणो और स्वभाव को तथा अपनी शक्तियों और परिस्थितियों को जानबूझ सकते हैं।

बहुधा मनुष्य का आचार और व्यवहार प्राकृतिक होता है और शरीर—मन तथा परिस्थितियों, भौतिक, रासायनिक और जैविक शक्तियों, कारणो, और प्रवृत्तियो पर निर्भर होता हुआ भी कुछ हद तक स्वाधीन, स्वतत्र और स्वच्छन्द जान पडता है। यदि मनुष्य के अन्दर कर्तृत्व, अकर्तृत्व अन्यथा कर्तृत्व की स्वतत्रता और शक्ति न होती तो उसके जीवन मे यह प्रश्न कभी न उठता कि उसे क्या करना चाहिये और क्या नही करना चाहिये, यह बात तभी सभव हो सकती है जब कि वह कर सकता हो।

यही कारण है कि ससार के प्राय सभी नीतिज्ञो ने यह माना है कि मनुष्य कर्म करने मे स्वतत्र है। पाणिनी का एक सूत्र ही है कि "स्वतत्र कर्ता"। नीतिशास्त्र की उत्पत्ति और स्थिति ही न रह जाय यदि मनुष्य अपने कर्मो पर स्वतत्ररूप से अधिकार-सम्पन्न न हो। जीवन के जितने भी विधि-निषेधात्मक कर्म हैं वे सब व्यर्थ हो जावें यदि मनुष्य के अन्दर कर्म करने की स्वतत्रता और निर्धारित काम करने की शक्ति न हो।

प्रत्येक मनुष्य अपने अनुभव द्वारा यह जानता है कि यह कर्तव्य है अथवा अकर्तव्य है। इसी कारण से प्रत्येक मनुष्य अपने किए हुए कर्मो का समाज द्वारा उत्तर-दायी समझा जाता है।

दूसरी बात यह है कि मनुष्य के अन्दर एक प्रकार की स्वाभाविक विवेकशक्ति है, जिसके द्वारा वह यह जानने की सामर्थ्य रखता है कि उसके लिए किसी भी अवस्था अथवा परिस्थिति विशेष में क्या करना उचित है। इस शक्ति के द्वारा ही उसको अपने कर्तव्य का ज्ञान हो सकता है। यदि यह ज्ञानात्मिका शक्ति न होती और केवल शास्त्र, विधान और विधि ही मनुष्य को सन्मार्ग पर चलाने वाले होते, तो मनुष्य

इस प्रकार इनका दास बना रहता जैसे पशु-पक्षी आदि दूसरे प्राणी प्राकृतिक प्रवृत्तियों के दास दिखायी देते हैं। मनुष्य तो स्वयं शास्त्रों, विधानों और विधियों का निर्माता है तथा अपने को जीवन समाज और परिस्थितियों के अनुसार बनाने वाला एवं बदलने वाला भी स्वयं इसलिए है कि उसके अन्दर विवेक शक्ति की जागृति हमेशा बनी रहती है। इसीलिए समस्त नीतिशास्त्र निर्माताओं ने धर्म को जानने के चार साधन बतलाये हैं

"वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः (मनु)

अर्थात् वेद स्मृति सदाचार, और आत्मनिर्णय।

मनुष्य की विवेकशक्ति और कर्तृत्वस्वाधीनतात्मक शक्ति ये दो शक्तियाँ शारीरिक और मानसिक शक्तियों की भाँति सभी मनुष्यों में स्वाभाविक रूप से वर्तमान रहती है और प्रयोग-प्रयत्न तथा अभ्यास के अनुसार सक्रिय जागृत और प्रबल होती रहती हैं। जो इनसे काम नहीं लेता उस व्यक्ति में स्वल्पमात्रा या सुप्तावस्था के रूप में ये मौजूद रहती हैं और जो इनको प्रयोग में लाता है प्रयत्न और अभ्यास के द्वारा इनकी मात्रा को बढ़ाता है वह रामचन्द्र–बुद्ध–ईसामसीह तथा गान्धी प्रभृति जैसे महात्माओं की भाँति नैतिक वीर हो जाता है। जीवन के प्रत्येक अंग तथा साधारण व्यवहार में भी उसका आचरण पवित्र और श्रेष्ठ होने लगता है। उसमें और साधारण व्यक्ति में जो नैतिक दृष्टि से बहुत नीचे हैं आकाश और पाताल जैसा अन्तर हो जाता है।

प्राचीन नीतिज्ञ नैसर्गिक मानसिक प्रवृत्तियों, और नैतिक जीवन के भेद को जानते थे। और जानते हुए भी उन्होंने नैतिक जीवन के महत्व की ओर मनुष्य का ध्यान आकृष्ट किया था। मनु में कहा है—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥

अर्थात् न मांस भक्षण में दोष है और न मद्य तथा मैथुन में क्योंकि इनमें प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति देखने में आती है। हाँ इतना अवश्य है कि यदि इन विषयों से प्राणियों की निवृत्ति किसी प्रकार हो जाय तो उसका महान् फल होता है।

भारत के समस्त नीतिशास्त्र स्वाभाविक प्रवृत्तियों और शारीरिक तथा मानसिक तत्त्वों को भली भाँति समझकर ही नैतिक जीवन का निर्माण करना सिखाते हैं। वे केवल आदर्शवादी ही नहीं हैं अपितु व्यावहारिक जीवन में वास्तविकता और आदर्श का किस प्रकार समन्वय हो इस उद्देश्य के भी पूर्णरूप से समर्थक हैं। यही कारण है कि भारत के समस्त नीतिशास्त्रों में धर्म अर्थ काम और मोक्ष

न चारो पुरुषार्थों को सिद्ध करने का उपदेश दिया गया है। अर्थ और काम की वृत्तियो तथा आवश्यकताओ को भुलाकर केवल धर्म और मोक्ष की साधना करना अवास्तविक आदर्शवाद है।

अध्याय २

भारतीय नीति शास्त्र की विशेषताएँ

प्रत्येक देश और प्रत्येक युग की अपनी विशेषता होती है जिसको एक अर्थ में उसकी प्रत्यगात्मा अथवा उसका व्यक्तित्व कह सकते हैं। भारत का भी अपना विशेष प्रकार का व्यक्तित्व है और उस व्यक्तित्व में युगानुसार परिवर्तन होते रहे हैं जिनके होते हुए भी मनुष्य के व्यक्तित्व की भाँति उसका अपना व्यक्तित्व कभी नष्ट नहीं हुआ। जीवन की सभी समस्याओं और प्रश्नों के हल करने पर उस व्यक्तित्व की छाप रही है। यहाँ हम को यह देखना है कि नैतिक समस्याओं और जीवन के सम्बन्ध में भारत की क्या विशेषता रही है और उसके ऊपर युगों का या विशेष प्रभाव पड़ा है।

भारतीय विचारधारा, चाहे वह जीवन के किसी अंग के सम्बन्ध में हो सर्वथा एकांगी विशिष्ट, ऐहलौकिक इस जीवन तक ही सीमित और केवल इन्द्रियानुभव-आश्रित तथा विचारपरक कभी नहीं रही है। भारतीय विचारकों और लेखकों ने जब कभी जीवन और जगत् की किसी समस्या पर सोचा और लिखा है जीवन के समस्त अनुभवों, वास्तविक और सम्भव—सभी अंगों या पहलुओं—भौतिक मानसिक और आध्यात्मिक—इस जीवन इससे पूर्व और पीछे के जीवन इस लोक के और परलोक में आने वाले जीवन केवल मानव जीवन ही नहीं बल्कि सब प्रकार के प्राणियों के जीवन, देव असुर, पशु, पक्षी कीट पतंग आदि भू भुव स्व आदि प्रकृति स्थूल सूक्ष्म सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम स्तरों तक के परस्पर सम्बन्धों और प्रभावों को ध्यान में रखकर विचार किया है और किया है।

भारतीय लेखकों का ध्यान सदा ही इस बात की ओर रहा है कि मनुष्य का इन्द्रियजन्य अनुभव बहुत सीमित और सापेक्ष है उसी तरह ही भावना और अनुभव भी सीमित नहीं है। केवल उनके आधार पर विचार करके मानव जीवन के सम्बन्ध में निर्णय कर लेना पर्याप्त नहीं है। मनुष्य के जीवन का बहुत बड़ा भाग—जिसका अनुभव हमें स्वप्न सुषुप्ति और समाधि में मिलता है अतीन्द्रिय है। इसी प्रकार विच-

ही ज्ञान का एकमात्र साधन नही है। विचार मात्र के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह तो सदा ही सदिग्ध और अनिश्चित रहता है। वह बहुत ही सकुचित सीमाओ तक काम आ सकता है। हमको तो उस ज्ञान की आवश्यकता है जो तीन कालो, समस्त लोको, और वस्तुओ के समस्त गुणो और पूर्ण अगो से सम्बन्धित हो। इसलिए भारतीय लेखको ने अपने क्षुद्र अनुभव और अपनी सीमित बुद्धि द्वारा विचार न करके तपस्या, ध्यान और आत्मसमर्पण के द्वारा ब्रह्माण्डा-भिमानी देवताओ (दिव्य शक्तियो) का आह्वाहन किया और उनसे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विषयो के सम्बन्ध में उतना ज्ञान प्राप्त कर लिया जितना उनके लिये पर्याप्त था, और उस प्रकार का जो कि विश्व के समस्त ज्ञान का एक सूक्ष्म सा, पर सत्य अश है। यहाँ पर सभी ज्ञान, शक्तियाँ, और वैभव देवताओ के आवाहन् और प्रसाद से प्राप्त हुए माने गये हैं। बिना सरस्वती (ब्रह्माण्डीय ज्ञान की देवी) की आराधना और वरदान के यहाँ कोई विद्या प्राप्त नही होती। जीवन सम्बन्धी सभी शास्त्रो का आदिम श्रोत कोई देवता ही है। और समस्त ज्ञान का भडार अपौरुषेय और सनातन वेद हैं, जो ईश्वर प्रदत्त ज्ञान के आधार पर दैवी शक्तियो द्वारा निर्मित हुए हैं। यही कारण है कि सभी ग्रन्थ यहाँ देव प्रार्थना और मगल कामना से आरभ होते हैं। वही ग्रन्थ अधिक सत्यता पूर्ण, जीवनोपयोगी और प्रभावशाली होता है जो कि लेखक के व्यक्तित्व से अधिक ऊपर उठकर या गहराई मे प्रवेश करके लिखा गया हो।

यहाँ का यह विश्वास रहा है कि 'यत् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे' अर्थात् जो तत्व ब्रह्माण्ड में वर्तमान हैं वे सब तत्व पिण्ड अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के शरीर मे भी मौजूद हैं। जिन शक्तियो का बाहर से आवाहन किया जा सकता है उनका भीतर से भी हो सकता है। ईश्वर को बाहर और भीतर दोनों जगह से साक्षात्कार किया जा सकता है। जो ज्ञान जितने गहरे अथवा ऊँचे स्तर से आयेगा वह उतना ही सत्य, व्यापक और प्रभावशाली होगा। नैतिक नियम जीवन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उनका ज्ञान बहुत सीमित और सकुचित दृष्टि के आधार पर नही हो सकता, क्योकि उनसे नियन्त्रित होकर जो कर्म किया जायेगा उनका प्रभाव हमारे भावी जीवन और ससार के अन्य बहुत से प्राणियो पर पडेगा। उनका ज्ञान साधारण मानव को नही हो सकता क्योकि वह जीवन को बहुत कम जानता है और बहुत ही सकुचित दृष्टि से देखता है। जिन लोगो की दृष्टि व्यष्टिमयी न रहकर समष्टिमयी—ब्रह्माण्डी—हो गई है, जो मानव और जगत् के स्थूल, सूक्ष्म और अति सूक्ष्म स्वरूप को भलीभाँति समझते हैं और यह भी जानते हैं कि मनुष्य का ब्रह्माण्ड में क्या स्थान है और उसका दूसरे प्राणियो से क्या वास्तविक सम्बन्ध है, वे ही लोग नीति के नियमो का साक्षात्कार कर सकते हैं।

यह तभी हो सकता है जबकि मानव बहुज्ञानी बुद्धि के साथ तादात्म्य का अनुभव करके नैतिक विषयों पर विचार करे। सब मनुष्य ऐसा करने में असमर्थ हैं। ऋषियों ने ऐसा किया इसी कारण उनको सनातन तथ्यों का ज्ञान हुआ। जिसने जितना किया उसको उतना ही व्यापक ज्ञान हुआ और उसका उतना ही व्यापक प्रभाव पड़ा।

इस कारण से ही भारत में श्रुति स्मृति और सदाचार को नीति के विषय में प्रधान मान कर अन्तरात्मा के भाव विचार, या संवेद को चौथा (चौथी श्रेणी का) प्रमाण माना है।*

नीति-शास्त्र में केवल सनातन तथ्यों का ही निर्णय नहीं है बल्कि सनातन नियमों का किसी विशेष युग विशेष देश और विशेष परिस्थिति में किस प्रकार पालन किया जाए इस बात पर भी विचार किया जाता है। अतएव जो कर्तव्य श्रुति, स्मृति सदाचार और आत्म सन्तुष्टि (अन्तरात्मा की आवाज—वाणी—अथवा निर्णय) सभी द्वारा उचित जान पड़े ठीक है। श्रुति तो हमको व्यापकतम् नियम जो सब व्यक्तियों, समयों, देशों और परिस्थितियों में ठीक हो बतायेगी। स्मृति किसी विशेष देश और काल में उसका किस प्रकार पालन हो यह बतलायेगी। सदाचार यह बतलाता है कि किसी विशेष देश और युग के उन महापुरुषों ने किस प्रकार उनको पालन किया जो समाज और साधारण व्यक्तियों को उचित मार्ग पर ले चलने का प्रयत्न करते हैं। अन्तरात्मा जो प्रत्येक उचित व्यक्ति की अलग-अलग होती है और जो उस व्यक्ति की विशेष परिस्थिति शक्ति रुचि इच्छा भावना और आवश्यकताओं की जो उसके मन में एक सामूहिक प्रतिबिम्ब सा है उन नियमों का विशेष व्यक्ति द्वारा किस प्रकार पालन हो यह बतलाती है। इसलिये कर्तव्य निश्चय करने में श्रुति (सामान्य नियम) स्मृति (युग और देश द्वारा माने गए उन नियमों पर आधारित दैनिक और युगीय नियम) सदाचार (युग और देश के नेताओं का आचार और व्यवहार) और अन्तरात्मा का निर्णय (वैयक्तिक निर्णय के अनुसार विशेष कर्म-ज्ञान) सभी की आवश्यकता भारतवर्ष में मानी गई है।

सामान्यतः सभी हिन्दुओं को यह मान्य है कि स्मृतियाँ विशेष देश और काल के लिए लिखी गयी हैं। इतिहास और पुराणों में देश के महान् व्यक्तियों के चरित्रों का वर्णन किया गया है। और स्वतन्त्र नीति ग्रन्थों में अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ग्रन्थकारों ने नीति के नियमों का प्रणयन बताया है। इसलिए भारत में और भारत के इतिहास में नीति शास्त्र के ये चार प्रधान ग्रन्थ हैं जिनको हम नीति के

---

* वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्।

प्रस्थान-चतुष्टय कह सकते हैं। इनका प्रादुर्भाव भारतीय इतिहास के ऐसे कालो में हुआ था जब कि उनकी आवश्यकता थी।

भारत मे मनुष्य जीवन का प्रयोजन और उसके सब कर्मो का उद्देश्य केवल काम (भौतिक और नैसर्गिक सहज प्रवृत्तियो और वासनाओ की पूर्ति तथा उनसे उत्पन्न होने वाले क्षणिक सुख) और अर्थ (काम को प्राप्त करने के साधन जिनमे अर्थ—सम्पत्ति, ऋद्धि—जिनके द्वारा काम के विषयो की प्राप्ति होती है मुख्य हैं) नही माने गये। अर्थ-प्राप्ति और विषयो के उपभोग में उन धर्म के नियमों का भी पालन करना आवश्यक है जिनके ऊपर समाज, जिसमें रहकर हम अर्थ और काम की प्राप्ति तथा उपभोग करते हैं, कायम हैं। धर्म वे नियम हैं जिनके द्वारा हमारा पारस्परिक, सामाजिक व्यवहार नियन्त्रित होना चाहिये और जिनका अनुकरण न करने से या जिनकी अवहेलना करने से प्राणियो मे आपस मे द्वेष, वैरभाव, लडाई-झगडे मार काट, प्रेम, भाव, आदि की उत्पत्ति और वृद्धि होती है तथा जिनके कारण व्यक्ति न तो अर्थ सम्पादन कर सकता है और न कर्मोपभोग। धर्म की अवहेलना करने से अर्थ और काम में बाधा पडती है। धर्म के नियमो पर चल कर उनसे नियन्त्रित होकर धन की प्राप्ति और विषयो का उपभोग करने से मनुष्य सुख और शान्ति का अनुभव कर सकता है। उनका तिरस्कार करके केवल स्वार्थ साधक कामो को करने से, जिनके द्वारा परपीडन और पर विनाश हो, मनुष्य को सुख और शान्ति की प्राप्ति नही हो सकती। इसलिए ससार यात्रा मे उचित यही है कि धर्मानुसार अर्थ की प्राप्ति और काम का उपभोग हो, विश्व और समाज के सभी प्राणियो और व्यक्तियो के साथ हमारा सामजस्य तथा सहयोग बना रहे, और प्राणिमात्र, सुख-चैन से जीवन व्यतीत करता रहे। धर्म, अर्थ, और काम को ही भारत मे जीवन का प्रयोजन और उद्देश्य नही माना गया। जीवन का चरम लक्ष्य जीवन मे परे और ऊपर की वह अवस्था है जिसमें पहुँच कर और जिसका अनुभव करके मनुष्य को परम, निरूपाधिक, विषयातीत, अखण्ड एकरस, आनन्द का सतत अनुभव हो और जिसमें पहुँच कर कुछ प्राप्त करने की कोई वासना ही न रहे, जिसमें अमरत्व, सर्वज्ञत्व और परम पूर्णता का अनुभव हो, जिसमें स्थित होने पर विश्व के साथ परम सामन्जस्य, प्राणीमात्र के साथ परम प्रेम सहानुभूति, सहयोग की भावना तथा परम तृप्ति, परम आनन्द और आप्तकमता तथा कृतकृत्यता का सतत, अनुभव होता रहे। इस अवस्था को भारतवर्ष मे मोक्ष निर्वाण, कैवल्य, अपवर्ग, ब्राह्मी, स्थिति, मुक्ति, भूमा, सच्चिदानन्द, परमानन्द, अहत्व, सिद्धि, बोधि, आदि नामो से लक्षित किया गया है। प्राय सभी नीति शास्त्रो में मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार किया गया है और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारो को मानव जीवन के पुरुषार्थ (मूल्य) माने हैं।

जो काम हमको पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि में सहायक होते हैं वे उचित, और जो इनकी सिद्धि के विरुद्ध हैं, वे अनुचित समझे गये हैं। इन पुरुषार्थों में क्या तारतम्य है इसका भी विचार सभी नीतिशास्त्रों में किया गया है। मोक्ष को प्रथम परम पुरुषार्थ माना गया है। धर्म को मोक्ष अर्थ और काम का आवश्यक साधन होने के कारण मोक्ष से दूसरे स्थान पर, और धन (अर्थ) को काम का साधन होने के कारण तीसरे स्थान पर, और काम को चौथे स्थान पर रखा गया है। कामोपभोग बिना धन के नहीं हो सकता धर्म के नियन्त्रण के बिना कामोपभोग और धन सिद्धि जीवन को दुखी और समाज को अव्यवस्थित बनाते हैं। धर्म-अर्थ और काम मनुष्य को परम-तृप्त और परम आनन्द नहीं प्राप्त करा सकते। अतएव इन सब के द्वारा मनुष्य को मोक्ष की ओर अग्रसर होना चाहिये। यह भारतीय नीति ग्रन्थों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है। मानव जीवन नाशवान है, बाल्य यौवन प्रौढ़ता और जरा से युक्त है। इसका एक दिन अन्त होने वाला है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को इसका इस प्रकार यापन करना चाहिये कि इसमें ही धर्म अर्थ काम और मोक्ष सभी की सिद्धि हो सके। इस बात को ध्यान में रख कर भारतीय नीति शास्त्रों ने चार आश्रमों की कल्पना की। जीवन को चार सम भागों में विभक्त करके चारों पुरुषार्थों की सिद्धि का प्रयत्न करना चाहिये। जीवन का प्रथम चतुर्थांश ब्रह्मचर्याश्रम है। इसमें धर्म अर्थ काम मोक्ष की सिद्धि के लिये शक्ति, ज्ञान और योग्यता प्राप्त करनी चाहिये। जीवन के दूसरे भाग में अर्थ का सम्पादन और काम का उपभोग धर्माचरण द्वारा करना चाहिये। इसको गृहस्थाश्रम कहते हैं। तीसरे आश्रम वानप्रस्थ में धर्म की विशेषतया आचरण और मोक्ष के लिये साधना करनी चाहिये। चौथा सन्यास आश्रम जिसमें मोक्ष सिद्धि और उसका अनुभव करके जीवन्मुक्ति का आनन्द लेना चाहिये और संसार में मुक्त होकर विचरण करते हुये सभी प्राणियों के कल्याण के लिये जीवन बिताना चाहिये।

कोई भी व्यक्ति धर्म अर्थ काम और मोक्ष की साधना तब तक नहीं कर सकता जब तक कि जिस समाज में वह रहता है वह सुव्यवस्थित और धार्मिक न हो। अतएव भारतीय नीतिकारों ने वर्णव्यवस्था की कल्पना की। जिसके अनुसार सभी मनुष्य जन्म गुण और स्वभाव के अनुकूल पारस्परिक लाभ और सुख के लिये अपने योग्य कार्यों को करते रहें और मान-मर्यादा रक्षा और शान्ति उचित अर्थ व्यवस्था और पारस्परिक सेवा और सहयोग ठीक ठीक रीति से हो सके। जाति, गुण और स्वभाव के अनुसार समाज को उन्होंने ब्राह्मण (ज्ञान प्रसारक) क्षत्रिय (रक्षा और शान्ति के स्थापक) वैश्य (धन धान्य के उत्पादक) और शूद्र (सब प्रकार की सेवा करने वाले) व्यक्तियों में विभाजित करके और उनको विराट पुरुष के शरीर (समाज) के

भिन्न भिन्न अंग बतला कर एक सुव्यवस्थित और शान्तिमय समाज की रचना करने का उपदेश दिया। भारत के प्राय सभी प्राचीन नीतिज्ञ इस व्यवस्था को मान्यता देते हैं।

भारतीय शास्त्रो के इतिहास लिखने की विशेष कठिनाई

भारत में जीवन के सभी पहलुओं पर पर्याप्त मात्रा में साहित्य वर्तमान है जिसका कुछ अंश प्रकाशित हो चुका है और बहुत सा अंश अभी तक प्रकाशित है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी विषयो पर बहुत से प्राचीनकालीन ग्रन्थ है।

प्राचीन काल के संस्कृत लेखको ने उत्तम से उत्तम ग्रन्थ लिख कर भी अपने आप को इतना छिपाया कि अपना नाम तक ग्रन्थ पर नही लिखा, और न यही लिखा कि वह कौन सा समय और युग था जब कि वह ग्रन्थ लिखा गया था। ग्रन्थो पर लेखको का नाम और काल न होने के कारण समय समय पर दूसरे लेखको ने अपनी इच्छानुसार और आवश्यकतानुसार ग्रन्थो मे जोडना और उनमे से कुछ अंश निकालना बुरा न समझा। कोई भी प्राचीन ग्रन्थ अपने मूल रूप में नही मिलता। अतएव यह पता लगाना कठिन है कि किसी ग्रन्थ का वास्तविक स्वरूप क्या रहा होगा और वह कब लिखा गया होगा। जर्मन पंडित विन्टर निट्ज (Winter Nitz) ने अपने ग्रन्थ **भारतीय साहित्य के इतिहास** (Vol I, Part I, Page 22) में ठीक ही लिखा है कि "भारतीय साहित्य के इतिहास में समय-सारणी गहनतम् अन्धकार मे निहित है और अभी इस सम्बन्ध में अनेक समस्याओ को हल करने के लिये बहुत खोज की आवश्यकता है। यह स्पष्टतया जान लेना ही ठीक है कि प्राचीनतम भारत के साहित्यिक इतिहास में कोई काल भी निर्धारित नही किया जा सकता और पीछे के इतिहास में भी बहुत कम कालो का निर्णय किया जा सकता है।*

यही कारण है कि हमको भारतीय नीति शास्त्र के इतिहास लिखने मे बहुत बडी कठिनाई का सामना करना पड रहा है। कब कौन से प्राचीन नैतिक ग्रन्थ लिखे गए होंगे यह निर्णय करना कठिन ही नही असभव सा ही है। अतएव लेखक ने किसी भी ग्रन्थ के लेखन काल के निर्णय करने का प्रयत्न नही किया। मोटी दृष्टि

---

* "The Chorology of the History of Indian Literature is shrouded in truly terrifying darkness and most of the riddles still remain to solved by research It is much better to recognize clearly the fact that for the oldest period of Indian Literary History we can give no certain dates and for the later periods only a few" (Winternits, *A History of Indian Literature* Vol I, Part I, p 22)

से ग्रन्थों का आनुपूर्व्य निर्धारित कर के उनके नैतिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है। अतएव इस ग्रन्थ का वास्तव में भारतीय नीति शास्त्र का इतिहास न कह कर यदि इसको (Sources of Indian Ethics) 'भारतीय नीति शास्त्र के स्रोत' कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा।

अध्याय ३

भारतीय नीति शास्त्र के धार्मिक और दार्शनिक आधार

ारत मे सदा मे ही धर्म, दर्शन और नीति एक दूसरे से अपृथक् रहे है। यही नही, एक दूसरे के ऊपर निर्भर रहे हैं, और एक दूसरे के पूरक भी रहे हैं। यहाँ की सदा ही मे यह धारणा रही है कि बिना नैतिक पवित्रता के सत्य का ज्ञान नही हो सकता, और विना श्रद्धा के आत्मा या परमात्मा के दर्शन या अनुभव नही हो सकता, और विना बुद्धि के द्वारा सद्-असद्-विवेक किये मुक्ति प्राप्त नही हो सकती। "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्"—श्रद्धावान को ज्ञान प्राप्त होता है, और "न ऋते ज्ञानान्मुक्ति" ज्ञान के विना मुक्ति प्राप्त नही होती। श्रद्धा, धर्म का मूल आधार है और ज्ञान दर्शन का अन्तिम फल है। धार्मिक और दार्शनिक व्यक्ति जो भक्त या मुक्त हो जाता है उसका जीवन बहुत ऊँचे नैतिक स्तर पर पहुँच जाता है और सदा दूसरे का उपकार करने में ही रत रहता है। "परोपकाराय सता विभूतय"। अर्थात् सन्तो का वैभव दूसरो का उपकार करने ही के लिये होता है। वे सदा "सर्वभूत हिते रत" सब प्राणियो के हित में ही लगे रहते हैं। इस प्रकार भारतीय विचारधारा मे नीति, धर्म, और दर्शन एक दूसरे से ओत-प्रोत है उनमें भेद करना और उनके बीच में कोई दीवार खीचना असम्भव नही तो कठिन जरूर है।

यही नही, नैतिक जीवन के लिये कुछ धार्मिक विश्वासो का होना आवश्यक है। जर्मन दार्शनिक इमैनुएल काण्ट ने भी यह दिखलाया है कि नैतिक जीवन का कोई अर्थ नही। (१) यदि मनुष्य को कर्म करने में स्वातन्त्र्य नही हो, (२) यदि वह अमर न हो, और (३) यदि इस जगत् का प्रबन्धक ईश्वर न हो। भारत में भी वे चार्वाक लोग जो न आत्मा के सत्ता में, न ईश्वर मे, और न कर्म के उत्तरदायित्व में विश्वास करते थे, कोई नैतिक आदर्श और नैतिक नियम अपने अनुयायियो को नहीं दे सके और न आजकल के भौतिकतावादी नीतिज्ञ ही कोई नैतिक आदर्श मनुष्य के सामने स्थापित करने में समर्थ हो रहे हैं। यही कारण है कि आज ससार में झूठ, धोखा, बेईमानी, हिंसा, चोरी, जारी, डकैती, विश्वास-घात आदि अवगुणो की दिन

प्रति दिन वृद्धि हो रही है। भौतिकतावादी ऐहिकतावादी वस्तुवादी अनात्मवादी, अनीश्वरवादी नेताओं की समझ म नहीं आ रहा है कि किस प्रकार समाज में होने वाले अनेक और अनन्त अपराधों की रोक थाम करके मानव को नैतिक और सामाजिक बनाया जा सकता है। इसमें किसी को शक ही नहीं हो सकता कि आज के युग में जब कि धर्म और दर्शन का त्याग कर लोग विज्ञान की उन्नति के पीछे पड़े हुए हैं और ऐहिक सुखों की सामग्री जुटाने में ही लगे हुये हैं नैतिकता का प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है। जो भारत कभी नैतिकता के शिखर पर था वह आज नैतिक अवनति के पथ पर चल रहा है। लोगों म स्वकर्तव्यपरायणता सत्य पालन सम्यक जीवन परस्पर प्रेम, अहिंसा सरलता ब्रह्मचर्य सन्तोष तप स्वाध्याय अस्तेय आदि नैतिक गुणों का दिन पर दिन अधिक अभाव होता जा रहा है और झूठ, बेईमानी धोखेबाजी और विषय भोगों की लालसा धन लोलुपता पद लोलुपता गुटबाजी और छल कपट द्वारा धन और पद की प्राप्ति की वृद्धि होती जा रही है।

इस स्थिति का कारण यही है कि जन साधारण और उनके नेताओं के मन से धार्मिक विश्वास उठ गये हैं और दार्शनिक चिन्तन में रुचि नहीं रही।

अब यहाँ पर हमको यह देखना है कि भारत की उस नैतिकता की जो वैदिककाल से लेकर विनोबा भावे तक चली आ रही है और जिसके पालन करने पर ही मानव समाज सुखी और सम्पन्न हो सकता है क्या धार्मिक और दार्शनिक आधार रहे हैं।

धार्मिक आधार

१—भौतिक शरीर के अतिरिक्त आत्मा में विश्वास —

भारत म केवल चार्वाक मत के अनुयायियों को छोड़ कर जिनकी संख्या बहुत कम रही होगी सब लोगों का यह विश्वास रहा है भौतिक शरीर के अतिरिक्त जो उत्पन्न होता है और मरता है प्रत्येक व्यक्ति के शरीर के साथ जीवन पर्यन्त एक जीवात्मा सम्बद्ध है। वही भौतिक शरीर का स्वामी और संचालक है। शरीर जड़ है। शरीर और इन्द्रियाँ आत्मा के साधन मात्र हैं। आत्मा अमर है शरीर की उत्पत्ति से पूर्व वह किसी दूसरे भौतिक शरीर से सम्बद्ध था और शरीर के नाश हो जाने पर दूसरे शरीर से सम्बद्ध हो जायेगा। आत्मा कर्म और सुख दुःख का ज्ञाता कर्ता और भोक्ता है।

२—प्रत्येक जीवात्मा कर्म करने में स्वाधीन है पर उसके फल भोगने में परतंत्र है—

सब जीव कर्म करने म स्वतन्त्र हैं और अपने भविष्य के सुख-दुःख के जो उनके अपने ही कर्मों के फल हैं जिम्मेदार (उत्तरदायी) हैं। जो लोग अच्छे कर्म करते हैं उनकी अच्छी गति होती है और जो बुरे कर्म करते हैं उनकी दुर्गति।

३—संसार समुद्र :—

आत्मा अनादिकाल से 'जन्म 'मरण का बारम्बार अनुभव करती हुई संसार समुद्र में गोते खाती रहती है। संसार में सुख-दुःख का अनुभव करती रहती है। इस भव सागर से पार होने और जन्म मरण के चक्र से छूट जाने की जो इच्छा करता है उसका नाम मुमुक्षा है। मोक्ष का अर्थ ही जन्म मरण के चक्र में और संसार के सुख-दुःख के अनुभव से छुटकारा पा लेना है। यही जीव का अभावात्मक उद्देश्य है। मोक्ष केवल अभावात्मक अवस्था ही नहीं है, उसमें परम आनन्द का भी अनुभव होता है। यह अवस्था जीव के लिये सब पदार्थों से अधिक मूल्यवान् अर्थात् परम अर्थ (परमार्थ) है।

४—कर्मफल का नियम और उससे निर्मुक्ति —

कोई प्राणी ऐसा नहीं है जिसको अपने किये हुये कर्मों का फल न भुगतना पड़े। कोई स्थान, त्रिलोक में, ऐसा नहीं है जहाँ कर्मों का शुभ या अशुभ फल भुगतान न पड़े। इस जन्म में पूर्व जन्मों के किये कर्मों का भोग, भोगना ही पड़ता है, और इस जन्म में किये कर्मों का फल अगले जन्मों में भोगना पड़ेगा। कर्म-फल-भोग का नियम अटल है। मोक्ष प्राप्त होने पर ही कर्म-फल-भोग के बन्धन से छुटकारा मिलता है।

५—ईश्वर का अस्तित्व —

जीवात्माओं के अतिरिक्त इस समस्त जगत् का उत्पादक, प्रबन्धक और रक्षक तथा संहारकर्ता ईश्वर भी है। वह ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् और सर्व-व्यापी है। जो जीव, उसका ध्यान, स्मरण और चिन्तन करते हैं और उसकी शरण में जाकर उसकी कृपा चाहते हैं, उनकी प्रार्थना को सुनकर वह उनकी सहायता करता है और संसार सागर से उनको उबार लेता है, तथा सद्गति भी देता है। ईश्वर की भक्ति से जीव के कर्म फल से और संसार चक्र से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

६—परलोक और लोक-लोकान्तर —

इस लोक के (पृथ्वी तल), जिसका नाम मर्त्य लोक भी है, अतिरिक्त इस ब्रह्माण्ड के अनेक और अनन्त लोक है जो इससे बुरे और अच्छे या इससे स्थूल या सूक्ष्म हैं। यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य यहाँ पर शरीर छोड़ कर (मर कर) इसी लोक में फिर जन्म ले। दूसरे लोकों में भी जन्म ले सकता है या जा सकता है, और वहाँ से फिर यहाँ भी आ सकता है। इन लोकों में नाना प्रकार के प्राणी रहते हैं। कुछ लोकों में जीवन सर्वथा सुखमय है और कुछ लोकों में सर्वथा दुःखमय है। एक का नाम स्वर्ग है और दूसरे का नरक। अच्छा कर्म (पुण्य) करने वाले मृत्यु के पश्चात्

४

कुछ समय के लिए स्वर्ग में जाते हैं और अशुभ कर्म (पाप) करने वाले नरक में जाते हैं। कर्मफल नियम और जीवन मरण से मोक्ष प्राप्त कर लेने पर स्वर्ग और नरक दोनों से जीव बच जाता है।

७—मनुष्य योनि ही कर्म योनि है और दूसरी योनियाँ भोग योनियाँ हैं :—

मनुष्येतर पृथ्वी पर रहने वाले सभी प्राणी और स्वर्ग में रहने वाले देव पितर आदि और नरक की यातना भोगने वाले पापी ये सब ऐसे हैं जो केवल अपने पूर्व कृत कर्मों का फल ही भोगते हैं नये कर्म जिनका फल उनको आगे भोगना पड़े नहीं करते। केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो शुभ या अशुभ कर्मों द्वारा अपना भविष्य निर्माण करता है, और जिस ढंग से स्वर्ग या मोक्ष को चाहे प्राप्त हो सकता है। मनुष्य योनि इसीलिए कर्मयोनि कही गई है। प्रत्येक कर्म करने न करने या किसी भी प्रकार करने की उसको स्वतन्त्रता प्राप्त है। अतएव उसका उत्तरदायित्व भी बहुत बड़ा है। उसके जीवन का क्षण-क्षण बहुत महत्व का है। यदि उसने अपना जीवन न सुधारा और मोक्ष प्राप्त करने का इस जीवन में प्रयत्न न किया तो फिर मनुष्य योनि न जाने कब मिलेगी और कब उसको फिर अपनी गति सुधारने का अवसर मिलेगा। इसलिये सब सन्त महात्माओं ने मनुष्य को शुभ कर्म और भगवान् की भक्ति करने का उपदेश दिया है।

८—वेदों का महत्व और प्रामाणिकता :—

मनुष्य का क्या कर्तव्य है इसको बताने के लिये भगवान् ने वेदों की रचना की। वेदों के द्वारा ही मनुष्य को सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। वेद किसी मनुष्य या मनुष्यों के बनाये हुए नहीं हैं वे ईश्वर की वाणी हैं जो ऋषियों द्वारा सुनी गई है। हर विषय में वेद परम प्रमाण हैं। सब स्मृतियाँ पुराणों, इतिहासों और अन्य शास्त्रों में वेद में कही गई बातों की ही व्याख्या है। नीति शास्त्र के लिए भी वेद अन्तिम प्रमाण हैं।

९—चार युगों में विश्वास :—

आधुनिक मनुष्य नैतिकता और ज्ञान बल आयु आदि सम्बन्धी उन्नति नहीं कर रहा है बल्कि अवनति ही कर रहा है। यह युग कलि युग है। इसमें पापों की बाहुल्यता और मानव की आध्यात्मिक और मानसिक शक्तियों का ह्रास होता जा रहा है। मनुष्य जाति के इतिहास में पूर्व तीन युग सत्य त्रेता और द्वापर बीत चुके हैं। सत्ययुग में सभी मनुष्य स्वभावतः ही नैतिक और धार्मिक होते थे और सब प्रकार से सुखी रह कर भगवान् की भक्ति आदि शुभ कर्म किया करते थे। धीरे-धीरे धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होती गई जिसके फलस्वरूप मनुष्यों की आयु शक्ति,

ज्ञान और गुण भी कम होने गए। सत्य युग में धर्म पूर्ण रूप से पालन किया जाता था। त्रेता में ३ पाद धर्म, द्वापर में २ पाद और कलियुग में केवल १ पाद धर्म रह गया है। मनुष्य की आयु भी बहुत कम रह गई है।

१०—प्राचीन काल के महत्व में विश्वास :—

भारत में यह एक अटल विश्वास है कि प्राचीन काल में मनुष्य अधिक ज्ञानी, तपस्वी और धार्मिक होते थे। उनका देवताओं और ईश्वर से निकट संपर्क था। उनमे बहुत लोग ऋषि, मुनि, महात्मा आदि ऐसे थे जो संसार को हस्तामलकवत् पूर्ण रूप से देख सकते थे और इसके भूत, वर्तमान् और भविष्य का पूर्ण ज्ञान रखते थे। उन्होंने अपने पवित्र अन्तःकरण में वेदों को सुनकर मनुष्यों को दिया। मनुष्यों के भलाई के लिये अनेक धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सम्बन्धी शास्त्रों की रचना की और जीवन यापन करने के उचित मार्ग बतलाए। वे सब प्रकार से आदर्श मनुष्य थे उनके उपदेशों पर चलना, उनका अनुकरण करना और उनके लिखे हुए शास्त्रों का अध्ययन और व्याख्या करनी ही पीछे उत्पन्न होने वाले मनुष्यों का कर्त्तव्य है। मनुष्य का कल्याण उन्हीं के पद चिह्नों पर चलने से ही सकता है। ऊपर लिखे हुए दस धार्मिक विश्वास भारतीय नीति शास्त्रों के मूल आधार हैं। प्रायः सभी भारतीय नीति शास्त्रों के लेखकों ने इनको माना है और किसी ने भी इनका खण्डन या मण्डन नहीं किया है। ये विचार भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं।

भारतीय नीति शास्त्र के दार्शनिक आधार

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, भारत में दर्शन और धर्म में भेद करना या उनके बीच में दीवार खींचना कठिन है। दर्शन और धर्म में केवल हम इतना ही भेद कर सकते है कि धर्म (Religion) मे विश्वास, श्रद्धा और भावना का प्राधान्य होता है और दर्शन में बुद्धि, विचार, तर्क, युक्ति, और पक्षपात रहित सत्यान्वेषण की इच्छा का प्रधान्य होता है। जिन बातों को धार्मिक व्यक्ति दूसरे से सुनकर, पढ़कर, या केवल मन मे आने पर उन पर निष्पक्ष रूप से युक्ति-युक्त बौद्धिक विचार किये बिना ही तदनुरूप अपना जीवन ढालने लगता है, उन्हीं बातों पर एक दार्शनिक, बौद्धिक और तार्किक विचार करता है, उनकी सत्यता या असत्यता का निर्णय कर, सत्य और असत्य का ग्रहण और त्याग करता है। दार्शनिक जीवन और जगत् की प्रायः सभी विचारणीय समस्याओं पर निष्पक्ष विचार करता है और अपने स्वतंत्र निर्णयों पर पहुँचता है, बाल की खाल निकालता है, और पदपद पर, बात बात पर शंका उठाकर उसका समाधान चाहता है। धार्मिक व्यक्ति के आगे कोई समस्या ही नहीं होती। उसका कतिपय सिद्धान्तों में अंध विश्वास होता है और वह उनके ऊपर

बदलने का प्रयत्न करता है। अपने विचारों के प्रति उसके चित्त में इतनी कट्टरता होती है कि उनके विरोध में वह कुछ भी नहीं सुनना चाहता और यदि कोई कुछ कहता है तो उसको असहनीय होता है। इसके विरुद्ध दार्शनिक बिना उपयुक्त प्रमाण के किसी सिद्धान्त को मानने के लिये तैयार नहीं होता और अपने सिद्धान्तों के विरोधी सिद्धान्तों को सुनने उन पर विचार करने और यदि वे सत्य प्रमाणित हो जाय तो उन्हें मानने के लिए सदा प्रस्तुत रहता है।

भारत में प्राचीन काल से लेकर अब तक अनेक दार्शनिक हो गये हैं और उनके सिद्धान्तों के आधार पर अनेक दर्शनों का निर्माण हुआ है। तो भी भारतीय दार्शनिकों के कुछ निर्णय ऐसे हैं जो चार्वाक दर्शन को छोड़ कर सब दर्शनों को मान्य हैं। ये निर्णय ऐसे हैं जो भारतीय नीतिशास्त्र के मूल आधार हैं। यही कारण है कि नीति के सम्बन्ध में भारत मे इतना मत भेद नहीं है जितना और विषयों के सम्बन्ध में है। प्रथम हम उन्हीं दार्शनिक आधारों का संकेत करगे जो अनादि काल से लेकर आज तक और सभी दर्शनों—छ आस्तिक दर्शन न्याय वैशेषिक सांख्य योग पूर्व मीमांसा, और वेदान्त बौद्ध और जैन दर्शनों को मान्य हैं।

१—मानव केवल भौतिक शरीर मात्र ही नहीं है —

चार्वाक दर्शन को छोड़ कर सभी दर्शन यह मानते हैं कि मनुष्य केवल भौतिक शरीर ही नहीं है। उसकी उत्पत्ति होने पर वह उत्पन्न नहीं होता और उसका नाश होने पर वह नष्ट नहीं होता। एक शरीर के मर जाने पर वह दूसरा शरीर धारण कर लेता है और उसके नष्ट होने पर तीसरा। वह इस शरीर के जन्म से पूर्व और इसकी मृत्यु के पश्चात् भी कहीं न कहीं रहता है। इस सिद्धान्त को पुनर्जन्म का सिद्धान्त कहते हैं। यह जन्म मरण का अनुभव तब तक चलता ही रहता है। जब तक प्राणी को मोक्ष निर्वाण या मुक्ति प्राप्त नहीं हो जाता।

२—कर्म फल का नियम —

प्रत्येक प्राणी अपने ही किए हुए कर्मों के अनुसार जन्म लेता है। वह जो कर्म करता है कभी न कभी कहीं न कहीं उसका फल अवश्य ही भोगता है। जो वासनायें उसके हृदय में होती हैं वे बीज के समान कहीं न कहीं जाकर फल देती हैं। वासना और तदनुसार कर्म ही जन्म मरण और इसलिए आवागमन के कारण हैं।

३—लोक-लोकान्तर का सिद्धान्त —

यह पृथ्वी ही प्राणियों के रहने का एकमात्र स्थान नहीं है। इस ब्रह्माण्ड में अनन्त लोक हैं और प्राणी अपनी वासना और कर्मों के अनुसार कहीं न कहीं चला जाता है और जन्म लेता है। अनन्त योनियों में से अपनी वासना और कर्म के अनुसार

किसी भी योनि मे जन्म ले सकता है।

४—जन्म मरण का चक्र दु:खदाई है —

जन्म मरण रूपी ससार चक्र मे कही भी स्थायी सुख और शान्ति प्राप्त नही हो सकती। क्योकि यहाँ न कोई स्थिति स्थिर है और न सतोषपूर्ण है। प्राणी को चैन और आनन्द केवल इस आवागमन से निवृत्ति पाने मे ही मिल सकता है। उसको प्राप्त करना सभी प्राणियो का परम उद्देश्य होना चाहिये।

५—सासारिक भोग विलासो में सुख और शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती —

इन्द्रियो के विषयो के स्पर्श से जो सुख मिल सकता है या किसी सांसारिक वस्तु को पा लेने पर जो सुख मिलता है वह क्षणिक है, और दु ख में परिणत होने वाला है। अतएव उसको प्राप्त करने मे मनुष्य को अपनी शक्ति और अपना समय नही खोना चाहिए सच्चा सुख विषय भोगो की वासना को त्याग कर अपने आत्म-स्वरूप में स्थित होने या अपने मन को निरोध करके शान्त होकर स्थित रहने में ही प्राप्त हो सकता है।

६—मुक्ति का मुख्य साधन —

सब दु खो से निवृत्ति, पूर्ण शान्ति और परम आनन्द या पूर्णता तभी प्राप्त हो सकी है जब कि मनुष्य ससार के सुखो की तृष्णा का त्याग करके, मुक्त होने की उत्कट इच्छा (मुमुक्षी) से प्रेरित होकर, आत्मा और अनात्मा मे विवेक करके, आत्म स्वरूप में स्थित होने का प्रयत्न करे। इस सम्बन्ध में गुरू से सहायता ले, ईश्वर से प्रार्थना करे, ध्यान, धारण और समाधि का अभ्यास करे, और मन से राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मात्सर्य आदि दुर्गणो को निकाल कर सद्गुणो, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सन्तोष आदि का आश्रय ले।

७—ज्ञान का महत्व —

भारतीय सभी दर्शन ज्ञान और विशेषत आत्म-ज्ञान को बहुत आवश्यक और श्रेष्ठ मानते हैं और अज्ञान के अन्धकार से बाहर निकलना चाहते हैं। "तमसो मा ज्योतिर्गमय" यह भारत की प्राचीनतम प्रार्थना है। इस ज्ञान को प्राप्त करने का सर्व-साधारण साधन बुद्धि है। किन्तु बुद्धि की पहुँच दूर तक नही है। बुद्धि से बढकर ज्ञान प्राप्त करने का साधन प्रज्ञा है। सयम (धारणा, ध्यान और समाधि) के अभ्यास से प्रज्ञा का उदय होता है और उसमें पूर्णता और सूक्ष्म विषयो को जानने की क्षमता आती है। इसके परिपक्व होने पर आत्मसाक्षात्कार होता है और परम पद की प्राप्ति होती है और दूसरे जितने साधन हैं वे सब हमको ज्ञान प्राप्त कराने के लिये हैं। निर्वाण, मोक्ष या पूर्णता तो ज्ञान के द्वारा ही होता है। इसलिये ज्ञान को

ही परम पवित्र साधन माना है। ईश्वर या गुरु की भक्ति और शुभ कर्म अन्तःकरण को स्थिर और पवित्र (निर्मल) बनाने में सहायक होते हैं।

८—मोक्ष का आनन्द इसी जीवन में हो जाता है —

ज्यों-ज्यों साधक मोक्ष का अधिकारी होता जाता है त्यों त्यों उसका लौकिक जीवन भी सुखी और दुःख रहित होने लगता है। उसके हृदय में शीतलता का अनुभव होता है और वह षड्रिपुओं काम क्रोध मोह लोभ मद मात्सर्य-पर विजय पाकर संसार में इस प्रकार निर्लेप जीवन व्यतीत करता है जैसे कि जल में बिना भीगे कमल का पत्ता रहता है। उसको न किसी से राग होता है और न द्वेष। सब के प्रति उसको दया और करुणा होती है और वह सदा ही निष्काम भाव से दीनों और दुखियों की सेवा करता हुआ अपने लिये कुछ भी प्रत्युपकार नहीं चाहता। वह सदा ही सब प्राणियों का हित का चिन्तन करता है और सब को परम पद प्राप्त कराने में सहायक होता है। ऐसे पुरुष को ही जीवन्मुक्त सन्त अर्हत् और बोधिसत्व कहते हैं। ऐसा व्यक्ति इस देह के अन्त होने पर जन्म मरण के चक्र से छूटकर भव-सागर से पार हो जाता है।

९—ईश्वर की सत्ता और महत्ता —

भारतीय दर्शनों में कुछ दर्शन ईश्वर को मानते हैं जो जगत् का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता है। दूसरे दर्शन ईश्वर को केवल पूर्ण पुरुष और मानवों के लिये आदर्श आत्मा के रूप में जो अन्य प्राणियों के लिए शिक्षक या गुरु का काम करता है मानते हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि जगत् के सृष्टा पालक और संहारक तथा सब प्रकार के ज्ञान और ऐश्वर्य को देने वाला ईश्वर से भी परे, परम ब्रह्म तत्व है जिसमें ईश्वर समेत यह जगत् उत्पन्न होकर रहता है और विलीन भी हो जाता है। वह ब्रह्म ही सच्चिदानन्द स्वरूप परम तत्व है जिसके सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह मन बुद्धि और वाणी का विषय नहीं है। प्रत्येक मनुष्य का ही नहीं प्रत्येक प्राणी की आत्मा वही एक ब्रह्म है इसका संकेत उपनिषदों के महावाक्यों "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" और "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ तू भी वही है, यह आत्मा ब्रह्म है यह सब कुछ ब्रह्म है, में मिलता है। अद्वैत वेदान्त का यही सिद्धान्त है और अनेक दार्शनिकों ने इसका नाना युक्तियों से प्रतिपादन किया है। अद्वैत-वेदान्ती इस सिद्धान्त के आधार पर ही नैतिक नियमों का प्रतिपादन करते हैं। जब सभी प्राणी एक ही ब्रह्म के अनेक नाम और रूप हैं तो उनके साथ अपने ही जैसा बर्ताव करना उनके प्रति आदर सम्मान प्रेम दया और करुणा का व्यवहार करना और सबके साथ मेल जोल से रहना चाहिये क्योंकि सब में

अन्तोगत्वा वही आत्मा (परमात्मा) है, जो हम में है। यहाँ तक कि सभी जड-चेतन वस्तुओ में वही आत्मा है। इसलिए किसी से द्वेष करना, किसी को दु ख देना, किसी को मारना, काटना अनुचित है। सब के साथ आत्मौपम्य से वर्ताव करना चाहिये।

१०—मानव का सर्वांगी जीवन और उनके मूल्यो में तारतम्यता और समन्वय —

भारत के अधिकतर दार्शनिक तो मानव के आध्यात्मिक जीवन को ही मानव का सर्वस्व और सर्वश्रेष्ठ अर्थ समझकर सासारिक जीवन से वैराग्य और मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र उपदेश देते है, किन्तु कतिपय दार्शनिक जीवन के सब अगो, सब आवश्यकताओ, और सासारिक अवस्थाओ को ध्यान में रख कर परमार्थ और व्यवहार में समन्वय और सामन्जस्य करने के लिये जीवन के मूल्यो का निर्धारण करके, उनमें तारतम्य स्थापित करने का प्रयत्न करते है। उनके अनुसार जीवन मे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो का धर्म (कर्त्तव्य पालन) अर्थ (धन सचय) काम (सुखोप भोग) और मोक्ष (ससार के दु ख सुखो से और आवागमन से निवृत्ति) का समन्वय और तारतम्य निश्चित करके जीवन को इस प्रकार आश्रम व्यवस्था के अनुसार व्यतीत किया जाये कि सभी पुरुपार्थो की लब्धि हो सके और समाज की वर्ण व्यवस्था (जिसमें अधिकार के अनुसार समाज में स्थान प्राप्त हो) या और किसी उचित रीति से इस प्रकार नियत्रण हो, जिसे मनुष्यो में परस्पर सघर्ष न होकर सहानुभति और सहयोग से काम चले। वर्ण और आश्रम व्यवस्था के द्वारा सभी प्राणी अपने कर्त्तव्यो का पालन और सभी पुरुपार्थो की प्राप्ति कर सकते हैं।

११—योगियो, सन्तों और सिद्धों के आन्तरिक अनुभव का मूल्यांकन —

भारत के दर्शन और नीति पर योगियो, सन्तो और सिद्ध पुरुपो के आन्तरिक अनुभव का बहुत प्रभाव पडा है। जिन लोगो ने आध्यात्मिक साधना करके सिद्धि, आत्मानुभव, या ब्रह्मानुभव, कर लिया है वे उस अनुभव का सकेत बहुत आकर्षक शब्दो में करते हैं, और कहते है कि उस अनुभव में जिस स्थायी प्रकाश, आनन्द, शान्ति और तृप्ति का अनुभव होता है वह किसी भी सासारिक सुख में नही होता। उनके अनुसार और उन दार्शनिको के अनुसार जो उनके अनुभव और वर्णन को वास्तविक समझते हैं, मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य, सबसे महान् अर्थ उस अवस्था का अनुभव करके उसमें सदा स्थिर करना ही है। जिस साधन से भी विचार, ध्यान, भक्ति, हरि स्मरण, नाना प्रकार के योग द्वारा वह अवस्था प्राप्त हो सके वही करना मनुष्य का एकमात्र कार्य होना चाहिये और उसको प्राप्त करने के लिए जो भी मूल्य चुकाना पडे चुकाना चाहिये। यहाँ तक कि अपने आपको सर्वथा नष्ट कर देने पर भी यदि वह अवस्था प्राप्त हो सके तो सौदा महगा नही है।

१२—गुरु का महत्व —

उपर्युक्त अवस्था को प्राप्त करने में वही सहायक हो सकता है जिसने स्वयं अपने जीवन में उसको प्राप्त कर लिया है। वही उसको प्राप्त करने की सरल युक्ति बतला सकता है और वही उस युक्ति पर चलने में सहायक हो सकता है। उसका नाम "गुरु" है। गुरु का महत्व भगवान् से भी अधिक है। क्योंकि गुरु के द्वारा ही मनुष्य को ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व प्राप्त होता है।

अध्याय ४

वैदिक कालीन नीति

१—वैदिक साहित्य

वेद भारतीय ज्ञान और सस्कृति का मूल स्रोत है। भारतीय सम्यता सस्कृति और जीवन का निर्माण वास्तव में वेद के ही आधार पर हुआ है। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वेदो का प्रादुर्भाव कब हुआ। इस विषय में पाश्चात्य और भारतीय विद्वानो ने जो निर्णय दिये हैं वे सभी सदिग्ध और अधूरे हैं। केवल इतना निश्चित है कि वेद भारत की ही नही बल्कि ससार की प्राचीनतम साहित्यिक सम्पत्ति है। वेदो के विषय में सर्वसम्मत भारतीय धारणा यह रही है कि ये मनुष्य-कृत हैं ही नही, बल्कि उनका प्रकाश सृष्टि के आरम्भ में उत्कृष्ट आचार विचार वाले, शुद्ध और शान्त चित्त वाले, जन-जीवन का नेतृत्व करने वाले, अलौकिक आध्यात्मिक शक्ति सपन्न ऋषियो की ध्यानावस्था में हुआ। ऋषि वेदो के कर्त्ता नही, द्रष्टा कहे जाते हैं। ऋषियो के हृदय में जिन सत्यो का जिस रूप और भाषा में प्रकाश हुआ उसी रूप और भाषा में उन्होने दूसरो को सुनाया। वेदो को श्रुति कहा जाता है। जिस प्रकार एक शब्द-योग का साधक अपने अन्तःकरण में अनेक प्रकार के शब्द सुनता है उसी प्रकार ऋषियों ने वेदो को सुना। जिस प्रकार शब्दयोगी (Clairaudient) या दृष्टियोगी (Clairvoyant) शब्दो को सुनते या पदार्थो को देखते हैं और उनके रचयिता नही बल्कि केवल श्रोता या द्रष्टा होते हैं, उसी प्रकार यह माना जाता है कि वेद के मन्त्र ऋषियो के द्वारा सुने हुये और वैदिक विषय देखे हुए हैं, तथा ऋषि लोग उनके श्रोता और दृष्टा मात्र हैं। ऋषियो को वेदो का ज्ञान उपरोक्षानुभूति (Intuition) के रूप में हुआ। प्रकृति के रहस्यो का उद्घाटन करने वाले महान् वैज्ञानिको का ज्ञान भी कुछ इसी प्रकार का है, आधुनिक विज्ञान में अपरोक्षानुभूति का स्थान बहुत ऊँचा है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि संसार में सबसे व्यापक प्रभाव रखने वाले ग्रन्थो, काव्यो और विचारो का मनुष्यो के द्वारा उत्पादन नही होता बल्कि ध्यानावस्था में मनुष्यो को उनकी उपरो-

सानुभूति होती है और लौकिक भाषा में उन्हें प्रकट किया जाता है।

वेदों को अपौरुषेय और अनादि कहा गया है। वेद मनुष्य द्वारा नहीं रचे गए तथा उनकी साधारण वस्तुओं की तरह उत्पत्ति नहीं हुई। वेदों को अनन्त भी कहा गया है। वेदों की संख्या निश्चित नहीं की जा सकती अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि जितना ज्ञान ऋषियों को हुआ वह सब हमको प्राप्त है अथवा उनको भी वेदों का सम्पूर्ण ज्ञान हो गया था।

वेदों को केवल चार्वाक जैन और बौद्ध सम्प्रदायों के अनुयायियों को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय धर्मशास्त्रज्ञों ने अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा और परम प्रमाण माना है। मनुस्मृति में जो कि धर्म के ऊपर प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, वेदों को मनुष्यों का चक्षु और धर्म-मूल कहा गया है। (१—६)

गौतम धर्म सूत्र (१—१) में कहा गया है—कि वेद धर्म का मूल है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र (१ १ १) में कहा गया है —धर्म जानने वालों का आचार और वेद प्रमाण है।

वेद ग्रन्थों का विवरण

वेद के संहिता और ब्राह्मण भाग दो प्रधान विभाग हैं। संहिता मंत्रों का समूह है। ब्राह्मण मंत्रों की व्याख्या के रूप में विस्तृत ग्रन्थ है। इनमें यज्ञ और मंत्रों के प्रयोग से सम्बन्धित बातों का सविस्तार वर्णन है तथा छन्द और दर्शन-सम्बन्धी विचार भी हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तिम भाग आरण्यक और उपनिषद् हैं। आरण्यक वानप्रस्थों के लिए हैं। इनमें मंत्रों और यज्ञों की आध्यात्मिक व्याख्यायें मिलती हैं। उपनिषदों में ब्रह्मविद्या का विशद वर्णन है। जिसके परिशीलन से मनुष्य मोक्ष का अधिकारी होता है अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त होकर परमानन्द-रूप, परम पद को प्राप्त करता है। उपनिषद् वेद के अन्तिम अंग होने के कारण वेदान्त (वेद+अन्त) के नाम से भी पुकारे जाते हैं। ये दार्शनिकों के लिए परम प्रामाणिक ग्रन्थ हैं और वेद का भाग होने के कारण श्रुति भी कहलाते हैं।

विषय की दृष्टि से वेद के दो भाग किये जाते हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक में प्रधानतः कर्म की विवेचना है और उपनिषदों में ज्ञान की।

ऋक्, यजु, साम और अथर्व वेद मन्त्रों की चार संहितायें हैं। ऋग्वेद नाम संहिता में प्रधानतः देवताओं और देवविशेष की प्रार्थनाएं और यज्ञों में प्रयुक्त होने वाले मंत्र हैं। इसके अतिरिक्त धर्म आचार-व्यवहार, विवाह, मृत्यु इत्यादि विषयों पर भी विचार है। यजुर्वेद में प्रार्थनाओं और यज्ञ सम्बन्धी मंत्रों के अतिरिक्त यज्ञ-

विधि के नियम भी बनाये गये हैं, सामवेद उन मंत्रों का संग्रह है जो प्राय विशेष अवसरों पर गाये जाते थे। इन तीनों संहिताओं को त्रयी कहा जाता था और इनका याज्ञिक जीवन के लिये विशेष महत्व था। अथर्ववेद में, जो कि चौथी संहिता है, मारण, मोहन, उच्चाटन, विवाह आदि के लिये उपयुक्त मंत्र हैं।

वेदों का रचना काल

वेदों की ग्रन्थाकार में कब रचना हुई, इस विषय में बहुत मतभेद हैं। पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर ने १२०० ई० पूर्व ऋग्वेद का रचना-काल माना है। लोकमान्य तिलक ने ऋग्वेद में आये हुए नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर गणना करके ६००० ई० पू० और ४००० ई० पू० के बीच इसका रचना काल माना है। वेदों में जो भूगर्भ-विद्या सम्बन्धी सिद्धान्त पाये जाते हैं उनके आधार पर डा० अविनाशचन्द्र गुप्त का यह मत है कि वेदों की रचना लाखों वर्ष पूर्व हुई होगी।

वेदों में नीति सम्बन्धी विचार

संहिताओं में

१—सुख और शान्ति वैदिक काल के मनुष्यों के ध्येय थे :—

वैदिक कालीन मनुष्य सुख और शान्ति को जीवन का लक्ष्य समझते थे। उनकी समस्त प्रार्थनाओं और यज्ञादि क्रियाएँ सुख और शान्ति की प्राप्ति के लिए होती थीं। स्वस्ति शब्द सुख के लिए प्रयोग में आता था (ऋग्वेद ५।५१।११-१५, १०।६३।३।१६, १।८९।१, २, ६, ८, ९, १०।७।१ और अथर्ववेद १।३१।४ तथा १९।-८।७ में स्वस्ति, भद्र और अभय अर्थात् सुख के लिए देवताओं और देवाधिदेव से प्रार्थना की गयी हैं। इनमें से कुछ मंत्रों का अर्थ यहाँ उद्धृत किया जाता है। यथा —

"बढ़े हुए यश वाला इन्द्र हमें सुख दे, सब ज्ञानों वाला पूषा हमें सुख दे अटूट और अकुंठित वज्र वाला तार्क्ष्य हमें सुख दे, वही वाणी का स्वामी हमें सुख दे।" (ऋ० १।८९।६)

"हे देवताओ। हम कानों से कल्याणकारी वचनों को सुनें। हे यजनशील पितरो। हम आँखों से कल्याणकारी वस्तुओं को देखें और दृढ़ अंगों और स्वस्थ शरीरों से आपको प्रसन्न करते हुए ईश्वर दत्त आयु को भोगें।" (ऋ० १।८९।८)

"हमको सुख हो, हमको अभय हो।" (अथ० १९।८।७)

ऋग्वेद ७।३५।१-१३, १।९०।९, यजुर्वेद ३६।८।१०, ११, १७ और अथर्ववेद १९।९।१, २, १३, १४ में शान्ति के लिए प्रार्थना की गई है। दो मंत्रों का अर्थ यहाँ दिया जाता है —

"लोक में जो कुछ भी शान्ति के साधन सारी ऋषियों ने माने हैं वे सब हमारे लिए शान्तिकारी हों। हमको शान्ति हो। हमको सदा अभय हो हमारे लिए शान्तिकारी हो अन्तरिक्ष शान्तिकारी हो पृथ्वी शान्तिकारी हो जल शान्तिकारी हो, वन शान्तिकारी हो वृक्ष शान्तिकारी हो सब देव शान्तिकारी हों ब्रह्म शान्तिकारी हो, सब कुछ शान्तिकारी हों शान्ति ही शान्ति हो मुझे भी व शान्ति निरन्तर हो।

वैदिक काल से लेकर आज तक भारतीयों के जीवन का लक्ष्य सुख और शान्ति ही रहा है। सब लोग सुखी रहें और पारस्परिक व्यवहार शान्तिपूर्ण रहे यही हमारा ध्येय रहा है। सुख के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार समय-समय पर बदलते रहे हैं। वैदिक काल के लोग किस प्रकार का सुख चाहते थे यह विचारणीय है।

वैदिक संहिताएँ प्रार्थनाओं और उपदेशों से भरी हैं। किसी व्यक्ति या जाति की प्रार्थनाओं का अध्ययन करके हम उसके जीवन के लक्ष्य को समझ सकते हैं वेदों में इस जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाने के लिये भिन्न-भिन्न वस्तुओं और परिस्थितियों की आवश्यकता है अधिकांशतः उन्हीं के लिए प्रार्थना की गयी है और आपस में प्रेम और मेल से रहने का उपदेश दिया गया है। ये दोनों बातें इस बात की द्योतक हैं कि सुख और शान्ति वैदिक कालीन मानव के जीवन के लक्ष्य थ। कुछ प्रार्थनाओं और उपदेशों के अर्थ को यहाँ उद्धृत किया जाता है —

दीर्घ और पूर्ण जीवन के लिए प्रार्थना

"हम सौ वर्ष तक देखें और सौ वर्ष तक जियें (ऋ ७।६६।१६)

"हम सौ वर्ष तक सुनें सौ वर्ष तक बोलें सौ वर्ष तक दीन न हों बल्कि सौ वर्ष से अधिक तक भी। (शु य ३६।२४)

"हम सौ वर्ष तक देखें सौ वर्ष तक जियें सौ वर्ष तक जानें सौ वर्ष तक उन्नति करें सौ वर्ष तक पुष्ट रहें सौ वर्ष तक स्थित रहें, सौ वर्ष तक बढ़ते रहें बल्कि सौ वर्ष से अधिक तक (अथर्व १९।६।७)

सविता हमको लम्बी आयु दे। (ऋ १।३४।१४)

"प्राण हमारी आयु को बढ़ावे। (ऋ १।१८९।१)

इन्द्रियों की शक्ति, स्वास्थ्य और यौवन के लिए प्रार्थना

"हमारी आँखों में ज्योति दो। हमारे शरीरों को ज्योति दो ताकि वे देख सकें। हम संसार को भली भाँति देख सकें। (ऋ १।१५८।४)

मेरे मुँह में बोलने की शक्ति हो और नाक में साँस लेने की आँखों में ज्योति हो और कान में सुनने की शक्ति। मेरे बाल काले रहें और दाँत मजबूत। मेरी बाहु में बल रहे। मेरी जाँघों में शक्ति हो टाँगों में तेजी और पैरों में स्थिरता। मेरे शरीर

के सब अंग स्वस्थ रहे और मेरी आत्मा बलवान् रहे। (अर्थ० १९।६०)

"बुढापे के मेरे रूप को बादल की तरह आच्छादन कर लेने के पूर्व ही मेरा बचाव करो। (ऋ० १।११।१०)

"हे भगवान्। हम आपकी मैत्री से सदा जवान बने रहे" (ऋ० ७।५४।२)

हमारा जीवन स्वतन्त्र रहे

"हमारे शरीरो को स्वतन्त्रता हो, हमारे घरो को स्वतन्त्रता हो। हमारे जीवन को स्वतन्त्रता हो"। (ऋ० ८।६८।१२)

हमारा जीवन सब प्रकार सपन्न रहे

"हे इन्द्र। हमें श्रेष्ठ धनो को दो, चतुर मन दो और अच्छे भाग्य दो। हमारी दौलत बढ़े और शरीर स्वस्थ रहे। हमारी वाणी मीठी हो और हमारे दिन अच्छी तरह बीतें।"

"हे इन्द्रानी। जो आपका गौ वाला, सोने-चाँदी वाला और घोड़ो वाला धन है वह हम माँगते हैं। उसको हम आपकी कृपा से भोगें। (ऋ० ७।९४।९)

"हमारे अच्छे और अनेक बच्चे हो। हमारे यहाँ अनेक वीर हो और पुष्टिकारक अन्न हो। (यजु० ३।५८)

"हे भगवान्। तू बल देने वाला है। हमारे शरीरो में बल दे। हमारे पानी चलाने वाले बैलो को बल दे। हमारे बीजो में बल दे। हमारे बच्चो मे जीवन के लिये बल दे।" (ऋ० २।५३।१२)

हमें बुद्धि बल मिले

"हे प्रजापति। मुझ में उस तेज (बुद्धिबल) और यश को सुस्थापित कर जो यश में है।" (अ० ६।६१।३)

"जिस मेधा (बुद्धि) का देवगण और पितर आदर करते हैं, हे अग्नि, आज मुझे उस मेधा से मेधावाला कर। हे वरुण। मुझे मेधा दे, हे अग्नि। मुझे मेधा दे। हे वायु। मुझे मेधा दे। हे प्रजापति ! मुझे मेधा दे। हे धाता। मुझे मेधा दे" (यज० ३२।१४-१५)

यश, तेज आदि के लिए प्रार्थना

"धनवान् इन्द्र मुझे यशस्वी बनावे। द्यौ और पृथ्वी मुझे यशस्वी बनाये। देव सविता यशस्वी बनावे। यही पर मैं (यज्ञ की) दक्षिणा देने वाले (परमात्मा) का प्यारा बनूं। जिस प्रकार इन्द्र पृथ्वी और आकाश में यशस्वी है। जैसे जल औष-धियो में यशस्वी है, इसी प्रकार हम समस्त ससार और देवताओ में यशस्वी हो। (अथ० ६।५८।१,३)

हे भगवान्। तू तेज है, मुझे तेज दे, तू वीर्य है, मुझे वीर्य दे, तू बल है, मुझे बल

अ० २०।६३।१।१२४।४)

"हम महान् शक्ति के स्वामी हों। (ऋ० १०।१३१।६)

तेरा बल पाने की मित्रता पाकर हम न डरेंगे, न थकेंगे।"

वैदिक मानव अपने और अपने समाज के लिए सुख-सम्पत्ति, उन्नति और शान्ति अवश्य चाहता था और इनके लिए यथासंभव प्रयत्न भी करता था, किन्तु वह न्याय और सत्य के पथ पर चलकर और पाप से बचकर ही इनको प्राप्त करना चाहता था। उसके मन में यह दृढ़ विश्वास था कि विश्व में एक ऐसी शक्ति काम कर रही है जो संसार को सुचारु रूप से न्यायपूर्वक चला रही है। उसका नाम ऋत है। देव उसके अधिष्ठाता हैं। ऋत के कारण ही संसार नियमपूर्वक चल रहा है। प्रत्येक मनुष्य को अपना जीवन उस ऋत के अनुकूल अर्थात् नियमानुसार व्यतीत करना चाहिए —

"मनुष्य को धन के सम्बन्ध में खूब विचार करना चाहिए और ऋत के मार्ग से उसे नमस्कार करके धन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए" (ऋ० १०।३१।२) संसार को यदि ऋत चलाता है तो मानव जीवन को सत्य चलाता है। ऋत ही मानव-जीवन में सत्य कहलाता है। मनुष्य जीवन में सुख और सम्पत्ति की इच्छाओं का ऋत और सत्य के द्वारा नियन्त्रण होना चाहिए। कष्ट सहकर भी मनुष्य को सत्य के मार्ग पर दृढ रहना चाहिए क्योंकि —

"ऋत और सत्य तप से ही उत्पन्न हुए थे।"

वास्तव में वैदिक कालीन मनुष्य यह समझता था कि संसार का समस्त व्यवहार नियमपूर्वक और सत्य के आधार पर होना चाहिए चाहे उसमें कष्ट ही क्यों न हो, तथा ऐसा होने के लिए वह दैवी शक्तियों से प्रार्थना करते रहने की आवश्यकता समझता था। ऐसा करने से पृथ्वी पर शान्ति रहती है।

"सत्य, महान् ऋत, जो कि अपने नियन्त्रण में उग्र है, दीक्षा, तप, प्रार्थना, और यज्ञ पृथ्वी को धारण करते हैं।" (अ० १२।१।१)

सत्य की महिमा वेदों में यहाँ तक कही गयी है कि देवाधिदेव को भी सत्य का पालन करने वाला बताया गया है।

"सविता सत्य का पालन करते है।" (अ० १।२४।१)

देवों को "ऋतवाले" (ऋ० ८।१५।११) अर्थात् ऋत को धारण करने वाला कहा गया है। इन्द्र कहते हैं, "ऋत मुझे शक्तिमान बनाता है। (ऋ० ९।१००।४) हमको उस इन्द्र की उपासना करनी चाहिए जो सत्य है, असत्य नहीं। (ऋ० ८।६२।१२)

वचन और कर्म दोनों में ही सत्य के पालन करने की प्रार्थना और प्रतिज्ञा की जाती थी और अत्यन्त कष्ट सहकर भी उसका पालन करने का प्रयत्न किया जाता था।

ऋत बोलते हुए ऋत करते हुए, सत्य बोलते हुए सत्य पर चलते हुए। (ऋ १।११३।४) "मैं सीधा सत्य की ओर जाऊँ। (य॰ ब्रा॰ ५।५)

ऋत और सत्य के अनुसार चलना ही वैदिक कालीन भारतीय आदर्श था और उसने जीवन के प्रत्येक कार्य को इनके अनुसार ही ढालने का प्रयत्न किया था। संसार में ऋत के अस्तित्व और व्यापकता को देख कर उसने देवविशेष को श्रद्धा विश्वास और प्रार्थना से प्रसन्न करने का प्रयत्न किया देवताओं के साथ जो प्रकृति की शक्तियों के अधिष्ठाता समझे जाते थे उसने मंत्र द्वारा अपना नाता जोड़ा मनुष्यों के साथ प्रेम सहयोग अतिथि-सत्कार, मित्रता सत्य दान दया और अभयदान द्वारा भली भाँति रहने का प्रयत्न किया। नीचे उद्धृत वेद वाक्य इसके द्योतक हैं —

ईश्वर में विश्वास और उसकी उपासना

किस देव की हम हवि द्वारा उपासना करें? उस देव की जो आदि में था जो सारी सृष्टि का एकमात्र स्वामी है, जिसने पृथ्वी और आकाश को बनाया और जो इनको कायम रखता है, जो हमको शक्ति और बल देता है, जिसकी आज्ञा को सारे देवता मानते हैं, जिसकी छाया अमृत है और जो मृत्यु का स्वामी है। (ऋ १।१२१।१२ श॰ ब्रा॰ ११।१।२१।१।२५।१०—अ ४।२।७)

भगवान् से हमारा सम्बन्ध

"वह हमारा पिता है उत्पादक है और मित्र है। (अ ११।१।१)

वह हमारा मित्र उत्पादक और पिता है। वह सब नियमों और पदार्थों का जानने वाला और स्वामी है। (य॰ वा॰ ३२।१) हे परमात्मन् तू हमारा पिता है, भाई है और मित्र है। (सा॰ १८४१) है। तुम हमारे पिता और माता हो। वह देव कहीं दूर नहीं है इसी विश्व में ओत प्रोत है (ऋ ८।१८।११। सा॰ ११७ य॰ २।११ ८।२) वह सर्वव्यापी अपनी प्रजा में ओत-प्रोत है" (य॰ ३२।८) हम उसके और वह हमारा है —

"तुम हमारे हो और हम तुम्हारे हैं। (ऋ २।९२।१२)

जितने हम भगवान् के समीप जाते हैं और तद्रूप होते हैं उतनी ही शक्ति हम में आती है —

"हे देव। जब मैं तू हो जाऊँगा और तू मैं तब तेरे दिये सभी आशीर्वाद सत्य हो जावेंगे (ऋ ८।४४।२१)

वह एक ही है यद्यपि अनेक नामों से पुकारा जाता है:

"ज्ञानी लोग उस एक सुन्दर सत्ता की अनेक प्रकार कल्पना करते हैं। (ऋ १।१६४।४६)

उसके असली स्वरूप का ज्ञान किसी को भी नहीं है

"जो इस संसार का अध्यक्ष है और परम आकाश में स्थित है उसके स्वरूप को कौन जानता है? वह ही जानता है, या न भी जानता हो।" (ऋ० १०।१२९।७)

वह सबका आदर्श है

"वह सब का आदर्श हो गया है।" (ऋ० २।१२।९)

सत्य और सत्कर्म की प्रतिज्ञा

उस परमात्मा से वैदिक मानव जहाँ अपने लिये सुख और समृद्धि की प्रार्थना करता है वहाँ सत्य और सत्कर्म करने की प्रार्थना और प्रतिज्ञा भी करता है --

"वह देव तुम सबको श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कामों को करने की प्रेरणा करे।" (यजु० १।१) "मैं झूठ से सत्य की ओर जाता हूँ।" (य० १।५)

पापों के लिये क्षमा प्रार्थना

जब कभी पाप होते थे तो लोग भगवान् से क्षमा माँगते थे —

"जो पाप मैंने जानबूझ कर किया है और जो अनजाने किया है उसको क्षमा करने वाला तू है।" (य० ८।१३)

दूसरों की सेवा की प्रार्थना

हम अपने लिए ही न जियें दूसरों के भी काम आए। ऐसा उनका प्रयत्न रहता था —

"अज्ञानी व्यर्थ अन्न को इकट्ठा करता है, मैं सत्य कहता हूँ वह उसका नाश करने वाला है। जो अन्न न अतिथि को पुष्ट करता है और न मित्रों को, उसे अकेले खाने वाला पाप ही करता है।" (ऋ० १०।११७।६)

अतिथि का सत्कार करना सबका कर्तव्य माना जाता था

वह उस प्रकार वेदविद्या का जानने वाला, भले नियमों वाला अतिथि जिस गृहस्थ के घर में आवे वह गृहस्थ स्वयं ऐसे अतिथि के सामने खड़े होकर कहे —हे व्रात्य! भले नियमों वाले! आप रात कहाँ रहे? हे व्रात्य! यह जल है। हे व्रात्य! आप प्रसन्न होवें। हे व्रात्य! जैसा आपको प्रिय हो वैसा ही हो। हे व्रात्य! जिस तरह आपको स्वतन्त्रता हो वैसा ही हो। हे व्रात्य! जैसी आपकी इच्छा हो वैसे ही हो।" (अ० १५।११।१) "अतिथि के खा लेने पर गृहस्थ खावे।" (अ० ९।८।८)

सर्व कल्याण और मैत्री की भावना

वैदिक कालीन मनुष्य सब प्राणियों के साथ मैत्री रखने की प्रार्थना करता था —

"सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि

से देखूँ। हम सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखें। (य० ३६।१८) मित्र भाव के लिए यह आवश्यक है कि सब लोगों के संकल्पों में समानता हो मनों में समानता हो।

"हे मनुष्यों! आपस में मिलो प्रेमपूर्वक बोलो तुम्हारे मन एक ज्ञान वाले हों। सब मनुष्यों का विचार एकसा हो सभी एक हों, मन एक हों, चिन्तन एक हों, मैं तुम सबको एक मन का उपदेश देता हूँ और एक मन कर्म में लगाता हूँ। तुम सब का संकल्प एक हो। तुम सबके हृदय एक हों। तुम सबका मन एक हो जिसमें तुम्हारा अच्छा ऐक्य रहे"। (ऋ० १ ।१९१।१४)

हमारे संकल्प कल्याणकारी हों, हमारा जीवन पवित्र हो और हमारा मार्ग सन्मार्ग हो।

'वह मेरा मन कल्याणकारी संकल्पों वाला हो। (य० वा० ३४।११)

(हे अग्नि! हमको सुमार्ग से कल्याण की ओर ले चलो (ऋ० ११।८९।१)

हे अग्निदेव। मुझे दुराचार से बचाकर सदाचार में लगाओ। (य० वा० ४।२८) हम लोग सूर्य और चन्द्रमा की तरह कल्याण के मार्ग पर चलें और दानशील सहृदय और ज्ञानी लोगों का सत्संग करें (ऋ० ५।५१।१५)

विवाहित जीवन

वैदिक कालीन स्त्री-पुरुष गृहस्थ जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न करते थे और उनका विवाह परस्पर प्रेम के आधार पर हुआ करता था।

"कितनी ही स्त्रियाँ वधू चाहने वाले पुरुष के धन और श्रेष्ठ धन के कारण उनसे प्रीति करती हैं। वह वधू कल्याणकारी होती है जो सुन्दरी है और अपने माता पिता की अनुमति से स्वयं अपने मित्र को वरती है।" (ऋ० १ ।२७।१) 'सविता ने सूर्या को उस पति को दिया जिसकी वह हृदय से प्रशंसा करती थी। (ऋ० १ ।८५। १०) देवताओं ने उसको सूर्या को दिया जो (स्वयं) काम से पीड़ित था, कल्याण था और तेज पति वाला था' (ऋ० १।५८।४)

वर और वधू विवाह के सम्बन्ध में जो अनेक वैदिक मंत्र हैं वे अतीव सुन्दर हैं और वैदिक मानव के उच्च विचार लक्ष्य, और दृढ़ प्रतिज्ञा के द्योतक हैं। विस्तार भय से थोड़े ही यहाँ उद्धृत किए जाते हैं।

विवाह के समय पर वर कहता है

मैं तुम्हारा हाथ अपने हाथ में इसलिए लेता हूँ कि तुम सौभाग्यवती हो और बुढ़ापे तक तुम अपने पति के साथ रहो।

स्त्री घर की सम्राज्ञी होती थी।

"अपने श्वसुर की सम्राज्ञी हो, अपनी सास की सम्राज्ञी हो, अपनी ननद की सम्राज्ञी हो और अपने देवरों की सम्राज्ञी हो (ऋ० १ ।८५।४६)

स्त्री पुरुष परस्पर प्रेम के लिये प्रार्थना करते थे —

"सारे देव, अप, मातरिश्व, धाता, देष्ट्री आदि हमारे हृदयों को मिलावे, हमको परस्पर दृढ़ बन्धन मे बांधें। (ऋ० १०।८५।४७)

गृहस्थी स्त्री-पुरुषों को एक अच्छा कुटुम्ब बनाने का आदेश —

"हे गृहस्थो। मै तुमको हृदय की एकता, मन की एकता, और आपस में द्वेष के त्याग का उपदेश देता हूँ। तुम सब एक दूसरे को ऐसा चाहो जैसे नए पैदा हुए बच्चे को गौ चाहती है। पुत्र पिता के अनुकूल कर्मों वाला हो, और माता के साथ एक मन वाला हो। पत्नी पति के लिए शहद जैसी मीठी हो और शान्ति देने वाली वाणी बोले। भाई-भाई से और बहन-बहन से द्वेष न करे। तुम सब एक विचार वाले और मिलकर कर्म करने वाले होकर आपस में कल्याणकारी वाणी से बातचीत करो।" (अ० ३।३०।१–३)

हमारे घर कैसे हों —

"ये घर सुखदायी अन्नों से पूर्ण, दूध से पूर्ण, और धन से पूर्ण हो, और आते हुए हमको पहिचानें। (अ० ७।६२।२) हे हमारे घरो। तुम सदा प्रिय बोलने वालो से पूर्ण, ऐश्वर्यवान् अन्नो से भरे हुए हंसी-खुशी वाले, भूख प्यास से रहित हो और हमसे कभी भी भयभीत न हो।" (अ० ७।६२।५)

"हमारे इन घरो में गौयें बुलाई हुई आवे, बकरियाँ बुलाई हुई आवें, और औषधियो का सार (दूध और शहद) बुलाया हुआ आवे" (शत० ७।६२।५)

गृहस्थो में खाना, पीना और उपासना सम्मिलित रूप से होनी चाहिए —

"तुम सबका पानी पीने का स्थान एक हो। भोजन एक साथ करो मै तुम सब को एक जुए में साथ जोड़ता हूँ। तुम सब रथ की नाभि के चारो ओर औरो की तरह जगद्गुरू परमात्मा की पूजा करो।" (अ० १।३०।६)

जो गृहस्थ भगवान् की उपासना करते हैं उनको भगवान् अच्छे पुत्र देते है।

"जो सोमदेव को आहुतियाँ देता है उसे सोम दूध देने वाली गौ, तेज़ चलने वाले घोडे, और ऐसा वीर पुत्र देता है जो कर्मण्य हो, घर के योग्य हो, समाज के योग्य हो, सभा के योग्य हो, और पिता के यश को बढ़ावे (१।९१।२०)

यहाँ एक आदर्श पुरुष के गुणो का कथन किया गया है। आदर्श पुरुष को कर्मठ होना चाहिये, घर के कामो में कुशल होना चाहिये। समाज में प्रिय, सामाजिक कार्यों में यथोचित भाग लेने वाला, सभा में चतुर, और अपने यशस्वी कार्यों से पिता की कीर्ति फैलाने वाला होना चाहिये।

प्रत्येक व्यक्ति का ऐसा आचरण होना चाहिए कि वह सब प्राणियो को प्रिय हो जाए।

"हम देवों के प्रिय बनें प्रजा के प्रिय बनें पशुओं के प्रिय बनें अपने बराबर वालों के प्रिय बनें। (ऋ १७।१।२-५)

पति-पत्नी साथ ही रहें —

यावज्जीवन पति-पत्नी को साथ रहना चाहिये और गृहस्थ में रहना चाहिये।

"हे दम्पति। तुम दोनों यहाँ इकट्ठे ही रहो मत बिछुड़ो। अपने घर में पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलते हुए आनन्द मानते हुए पूरी आयु को भोगो।

विधवा-विवाह और नियोग —

यदि किसी स्त्री का उसके पति की मृत्यु के कारण वियोग हो जाय तो उसे अपने देवरों में से किसी एक को दूसरा पति बना लेने का अधिकार था।

वैदिक काल में जिस स्त्री का पति मर जाता था उसे दूसरा पति करने की स्वतन्त्रता थी। दूसरे पति का पहिले पति के समान ही पद होता था। (ऋ १।५।२७ २८)

वैदिक कालीन समाज समठन

ऋग्वेद में समाज रूपी विराट् पुरुष के चार अंग बतलाए गये हैं ब्राह्मण राजन्य (क्षत्रिय) वैश्य और शूद्र।

ब्राह्मण इस (समाज-रूपी पुरुष) का मुख था। क्षत्रिय बाहु बताया गया है। वैश्य इसका उरु है और शूद्र पाँव से बना। (ऋ १ ।९ ।१२)

भगवान् से यही प्रार्थना की जाती थी कि इस देश के ब्राह्मण विद्वान् बनें क्षत्रिय वीर बन वैश्य देश का धन बढ़ायें शूद्र सेवा करें और समाज का प्रत्येक अंग एक-दूसरे को रुचिकर हो।

"हे ब्रह्म इस राष्ट्र के ब्राह्मण विद्याओं से देदीप्यमान हों। क्षत्रिय पराक्रमी अस्त्र-शस्त्र चलाने में निपुण शत्रुओं को अत्यन्त पीड़ित करने वाले और हजारों से युद्ध करने वाले हों? (वैश्यों की) गौ दूध देने वाली बैल बोझ ढोने वाले और घोड़े शीघ्रगामी हों।

"हे अश्विनौ। ब्राह्मणों में ज्ञान डालो बुद्धि को प्रबल करो। क्षत्रियों म ज्ञान डालो। सभी मनुष्यों में ज्ञान डालो। गौ में ज्ञान डालो। वैश्यों में ज्ञान डालो। सर्वान इन सबको अपने अपने कार्य में योग्य बनाओ (ऋ ८।३५।१६।१७ १८)

"हमारे ब्राह्मणों को प्रकाशित करो, क्षत्रियों को प्रकाशित करो वैश्यों को प्रकाशित करो शूद्रों को प्रकाशित करो और प्रकाश से मुझे प्रकाशित करो। (ऋ १८।४८)

जीवन संग्राम

वैदिक कालीन मनुष्य जीवन की कठिनाइयों से और उन शत्रुओं से जो समाज द्रोही थ लड़ना अपना कर्तव्य समझता था। वे लोग दस्यु और राक्षस कहलाते

थे जो अशुभ व्रत वाले, अमानुषिक काम करने वाले, यज्ञ न करने वाले और देश में विश्वास न रखने वाले (ऋ० ८।७०।११) होते थे। उनका मुकाबला करना और उनको मारना श्रेय समझा जाता था।

"हम तुमको राक्षसो के वध की आज्ञा देते हैं।" (य०वा।९।३९)

"वह वज्रधारी दस्युओ को मारने वाला डरावना और बलवान् है।" (ऋ० १।१००।१२)। ऐसे लोगो को नष्ट करना और ससार के सभी प्राणियो को सभ्य बनाना वैदिक कालीन पुरुष अपना कर्त्तव्य समझता था।

"सब को आर्य (सभ्य) बनाओ और नियम भग करने वालो को नष्ट करो।" (ऋ० ९।६३।५)

राष्ट्र की उन्नति तभी हो सकती है जब ज्ञान और शक्ति दोनो का समन्वय रहे।

"जहाँ ज्ञान और शक्ति साथ साथ काम करते हैं उस लोक को मैं पवित्र जानता हूँ। वहाँ देवता लोग अग्नि के साथ वास करते हैं। ऐसे ही राष्ट्र मे लोग अभय के साथ रहकर आनन्दमय जीवन बिताते हैं।"

निर्भय होकर रहना प्रत्येक आदमी चाहता था

"मै मित्र से निर्भय रहूँ, शत्रु से निर्भय रहूँ। मैं उससे निर्भय रहूँ जिसको मै जानता हूँ और उससे भी जिसको नही जानता। मै रात मे निर्भय रहूँ और दिन मे भी। सब दिशाएँ मेरी मित्र बने (अ०१९।१५।६)

वैदिक मनुष्य ने एक आदर्श समाज और व्यक्तिगत जीवन की कल्पना की थी। इन्ही के लिए वह यज्ञ करता था, उपासना करता था, तप करता था, दृढ व्रतो को धारण करता था और ऋत और सत्य के नियमो के अनुसार अपने चरित्र और व्यक्तित्व का निर्माण करता था।

"जो ऋत के अनुसार चलते हैं उनके लिये वायु मधुर होता है, नदियाँ मधुर होती है, औषधियाँ मधुर होती हैं, राते मधुर होती है, प्रभात मधुर होती है, पृथ्वी का कण कण मधुर होता है, और हमारा पिता द्यौ मधुर होता है। मेरे लिए वनस्पतियाँ मधुर हो, सूर्य मधुर हो और गौए मधुमती हो। (ऋ० १।९०)

मृत्यु और पुनर्जन्म

मृत्यु और मरणोत्तर जीवन के सम्बन्ध मे वेदो के क्या विचार थे और मनुष्य का क्या कर्त्तव्य समझा जाता था, यह भी विचारणीय है। जरा और मरण जीवन के साथ सदा से चलते आये हैं चाहे ससार कितना ही मधुर और जीवन कितना ही सुखी हो जरा और मृत्यु का भय इन्हे दुःखमय बनाता है। जरा-मरण के आक्रमण के पूर्व ही, दूसरो को इनसे आक्रान्त देख कर, सबको इनका भय लगा रहता है। मनुष्य

भले ही अपने शुद्ध आचरण से इन्हें टालता रहे फिर भी एक न एक दिन इनका आक्रमण हो ही जाता है। इनके प्रति लोगों के अनेक प्रकार के विचार रहे। वैदिक काल में व्याधि जरा और मरण से आक्रान्त होने पर भी प्रसन्नचित्त रह कर जीने का यह उपाय सिखाया गया था कि मनुष्य अपने आपको पूर्णतया जाने और आत्म-ज्ञान द्वारा यह मालूम कर ले कि यद्यपि भौतिक शरीर व्याधि जरा और मरण से आक्रान्त होता है तथापि उसकी आत्मा अजर अमर है। आत्मा सदा रहती है और उसके ऊपर व्याधि जरा मरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मृत्यु द्वारा शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह अन्यत्र दूसरा शरीर धारण कर लेता है वैदिक ऋषि निश्चय पूर्वक कहता है

"मैं इस महान् पुरुष को जानता हूँ जो अन्धकार से परे है और सूर्य की तरह प्रकाशमान् है। उसको जान कर ही मनुष्य मृत्यु को लांघ जाता है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग मृत्यु के परे जाने का नहीं है। (यु य ३१।१८)

वह आत्मा जिसके ज्ञान से मनुष्य जरा और मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है कैसी है

"वह आत्मा इच्छा रहित और (अचल अमृत स्वयंभू) जिसकी उत्पत्ति दूसरे से नहीं है अपने ही आनन्द से तृप्त है। ऐसे आत्मा की जो सदा निश्चल अजर और युवा है। जानकर मृत्यु से डर नहीं होता" (अ १।८।४४)

सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल की नीति का आधार ऋत और सत्य थे। ऋत से नियमित होकर सत्य का आचरण करते हुए जीवन का वैभव और सुख प्राप्त करना तथा आत्म-ज्ञान द्वारा जरा-मृत्यु के शोक से बचना मनुष्य का लक्ष्य था। जो वैदिक काल में ऋत कहा जाता था वह पीछे समय में धर्म कहलाया जाने लगा। धर्म और आत्म-ज्ञान भारतीय नीति के मूल आधार हैं। धर्म के अनुसार जीवन यापन और समाज संगठन होना चाहिये तथा आत्म ज्ञान द्वारा जरा मरण के भय से मुक्त होना चाहिये। यही वेदों का उपदेश है। यही विचार परवर्ती सभी शास्त्रों में भी मिलते हैं। इसी कारण वेदों को धर्म का मूल स्रोत और परम प्रमाण माना जाता है। वेद भारत की अमूल्य निधि हैं। इनसे जीवन को जो प्रेरणा और उत्साह मिलता है वह किसी दूसरे शास्त्र से नहीं मिलता। इस कारण ही भारत में वेद का सदा से परम आदर है।

अध्याय ५

ब्राह्मण ग्रन्थो की नैतिक शिक्षा

ब्राह्मणों का सकलन काल ३०००–२००० वि० पू० माना जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह प्रयत्न किया गया है कि वेद के मन्त्रों में जो बातें सूक्ष्म रूप मे पाई जाती हैं और जिनका सकेत मात्र वहाँ पर मिलता है उनकी विशद् व्याख्याये की जाएँ और यज्ञ आदि जो नित्य और नैमित्तिक कर्म हैं उनकी उचित रीति, तथा उन में किन मन्त्रों का कहाँ प्रयोग होना चाहिये आदि बातें बतलाई जाएँ। हम यहाँ पर ब्राह्मण ग्रन्थों की केवल नीति सम्बन्धी बातों का उल्लेख करेंगे।

सत्य की महिमा

'देवता (विद्वान्) लोग सत्य के व्रत को करते हैं। इसलिए वे यशस्वी होते हैं। वह भी निश्चय ही यशस्वी होता है जो ऐसा जान कर सत्य बोलता है। (शत १।१।१।८–५)

"वह निश्चय ही ऐश्वर्यवान्, यशस्वी और सत् कृतिमान होता है जो निश्चय ही वाणी के पुष्प और फलरूप सत्य को बोलता है। (शत० १।३।४।२७)

"जैसे नगी जड़ों वाला वृक्ष सूख जाता है और उखड़ जाता है, उसी प्रकार झूठ बोलने वाला मनुष्य अपने आप को नगी जड़ों वाला बनाता है, और सूख जाता है तथा उखड़ जाता है। (ए० आर० २।३।६)

"सत्य ही ईश्वरीय नियम हैं। (तै० स० ६।३।६)

"असत्य, ईश्वरीय नियम के विरुद्ध करने पर, अवश्य ही (तै० वा० १।७।२) भगवान् वरुण पकड लेते है। (दण्ड देते है)

"जिसको धर्म कहते हैं वह सत्य ही है। (शत १४।४।२।२६)

तप की महिमा

"तप द्वारा निश्चय ही लोक में विजय पाते हैं। (शत० ३।४।४।२७)

तप किसे कहते हैं।

'अपने आप को जो धर्म और राष्ट्र के लिये देता है उसको निश्चय ही तप कहते हैं। (त० ब्रा० १।१।२)

दमन-दया-दान

प्रजापति के पुत्रों ने अपने पिता के पास ब्रह्मचर्य से वास किया। ब्रह्मचर्य से वास करके वह कहा आप हमें कुछ उपदेश दें। उनके लिये उन्होंने प्रसिद्ध अक्षर 'द' को तीन बार कहा (द द, द,) बस समझा। वह प्रजापति ने कहा। प्रसिद्ध प्रजापति के पुत्रों ने उत्तर दिया —समझे। इन्द्रियों का दमन करो दान करो और दया करो। यह आपने हम लोगों को कहा है। हां हाँ तुम लोगों ने समझ लिया ऐसा प्रजापति ने कहा (ब्रह १४।८।२।२-१-४)

जीवन से पुरुषार्थ का महत्व

"बैठे हुए का ऐश्वर्य बैठ जाता है। उठ खड़े हुए का उठ खड़ा होता है। सोने पसार के सोने वाले का ऐश्वर्य सो जाता है। चलने वाले (पुरुषार्थियों) का ऐश्वर्य पीछे चलता है। (ऐ ब्रा ३३।३)

साफ सुथरा रहने का उपदेश

प्रत्येक मनुष्य का जल से स्नान करना बालों का संस्कार करना नखों को काटना दांतों को साफ करना अच्छे भूषण और कपड़े पहनना, चाहिये।

जो जल में स्नान करता है वह साक्षात् दीक्षा और तप को अपनाता है, तीर्थ में स्नान करता है। अतएव स्नान करे। जल अमृत (स्वस्थ जीवन देने वाला) है। जल के पास जाकर मल मूत्र का परित्याग न करे और न थूके और न नंगा स्नान करे। (तै १-२६)

प्रातः कृत्यम्

अब सिर-मुँह के बालों को कटावे या न कटावे। बाल पुरुषों का सौन्दर्य है। अब नखों को कटावे दांतों को साफ करे, बिना फटा हुआ वस्त्र पहने। वस्त्र मनुष्य का सौन्दर्य है, इसलिए हमेशा अच्छा वस्त्र पहने। स्वर्ण पवित्र चीज है। सोना पहनना पवित्र करता है। जो सोना पहनता है वह बूढ़ा होकर मरता है। सोना आयु देने वाला है वह अमर करने वाला है। (तं ब्रा ३।८।१) (तै ५।५।१) (तै ब्रा ३।८।१) (शत ब्रा १३।४।१।१५।व ३।१।२।१६) (तै सं २।२।५) अथर्व १७।२६।१)

पशु पालन

पशु घरों के ऐश्वर्य हैं, इसलिए सदा पशु वाला बने (ताण्ड्य-१३।२।२)

आपस में भेद भाव तथा अभिमान न रखना चाहिए

देव और असुर दोनों एक ही प्रजापति की सन्तान हैं उनको उसने ऐसा न जाना। ये और हैं, और वे और हैं, ऐसा समझा। वे दोनों प्रजापति के पुत्र अपने

पिता की सम्पत्ति को प्राप्त हुए। वे दोनों एक ही पिता की सन्तान होते हुए आपस में स्पर्धा करने लगे। वे असुर, इस अत्यन्त अभिमान से कि हम किसी दूसरे (अग्नि) में क्यों आहुति दें, अपने ही मुख में आहुति देने लगे। वे इस अत्यन्त अभिमान से निश्चय ही अनादर को प्राप्त हुए। इसलिए अत्यन्त अभिमान न करे, क्योंकि अत्यन्त अभिमान अनादर का कारण है। (शत० ११७१२१२२) (गो० ५।१।१)

सन्ध्योपासन

उदय होते हुए तथा अस्त होते हुए सूर्य के सामने ध्यानपूर्वक चिन्तन करता हुआ समझदार आदमी ब्रह्म का ध्यान करने से सर्वांगी कल्याण प्राप्त करता है। अतः ब्राह्मण, दिन और रात्रि के संयोग के समय सन्ध्या करे। (तै० आ० २।२)

मनुष्य आवश्यकता से अधिक खाकर अपनी आयु का ह्रास करता है

ये प्रजाएँ वैसे ही खाना खाती हैं जैसा कि प्रजापति ने इनके लिए विधान किया है। इस विधान का न देवता उल्लघन करते हैं न पशु। एक मनुष्य ही उल्लघन करता है। इसलिए जो मनुष्य चर्बी का बढ़ाता है, वह अशुभ के लिए बढ़ाता है, वह आयु को घटाता है, वह कभी पूर्ण आयु प्राप्त नही कर सकता, क्योंकि वह प्रजापति के विधान के विरुद्ध चल कर भेद को ही बढ़ाता है। इसलिए साँझ सवेरे दो बार ही खाने वाला बने। जो ऐसा जान कर साँझ सवेरे दो बार ही खाता है वह पूर्ण आयु को प्राप्त होता है। (शत० २।८।२।६)

भोजन का महत्त्व

अन्न से ही भूख निवृत्त होती है और पानी से प्यास। अन्न ही सब प्राणियों की आत्मा (जीवन) है। जो प्राणी अन्न खाता है वही जीता है। इसलिए प्राण (जीवन) को अन्न से बढ़ाओ। प्राण ही प्राणियों की आयु है। (श० १०।२।६।१७) (गो० ३०।३) (शत० ७।५।१२।१६)

उचित भोजन

दूध निश्चय ही मनुष्यों का अन्न है, क्योंकि प्रजापति ने सबसे पहले इसको पैदा किया। दूध ओषधियों का सार है। दूध शरीर की कान्ति को बढ़ाने वाला है। दूध पीने वाले से सन्तान उत्पन्न होती है। सब दूधों में बढ़िया दूध बकरी का होता है। (श० २।५।१।६) (शत० १२।८।२।१३।१२।७।३।१३।२।५।१।१५। तै० स० ५।१।७)।

गौ का घी मनुष्यों के लिए और मक्खन बच्चों के लिए है। निश्चय ही घी आयु को बढ़ाने वाला और मक्खन प्राण (शक्ति) को देने वाला है। (ऐ० ब्रा० १।३। तै० स० २।३।११)

दमन-दया-दान

प्रजापति के पुत्रों ने अपने पिता के पास ब्रह्मचर्य से वास किया। ब्रह्मचर्य से वास करके यह कहा आप हमें कुछ उपदेश दें। उनके लिये उन्होंने प्रसिद्ध अक्षर 'द' को तीन बार कहा (द द, द,) बस समझा। यह प्रजापति ने कहा। प्रसिद्ध प्रजापति के पुत्रों ने उत्तर दिया —समझे। इन्द्रियों का दमन करो दान करो और दया करो। यह आपने हम लोगों को कहा है। बस हाँ तुम लोगों ने समझ लिया ऐसा प्रजापति ने कहा (शत १४।८।२।२–१–४)

जीवन में पुरुषार्थ का महत्व

"बैठे हुए का ऐश्वर्य बैठ जाता है। उठ खड़े हुए का उठ खड़ा होता है। दीर्घ प्रकार के सोने वाले का ऐश्वर्य सो जाता है। चलने वाले (पुरुषार्थियों) का ऐश्वर्य पीछे चलता है। (ऐ ब्रा ३३।३)

साफ सुथरा रहने का उपदेश

प्रत्येक मनुष्य का जल से स्नान करना बालों का संस्कार करना नखों को काटना दाँतों को साफ करना, अच्छे भूषण और कपड़े पहनना चाहिये।

जो जल में स्नान करता है वह साक्षात् दीक्षा और तप को अपनाता है, तीर्थ में स्नान करता है। अतएव स्नान करे। जल अमृत (स्वस्थ जीवन देने वाला) है। जल के पास आकर मल मूत्र का परित्याग न करे और न थूके और न नंगा स्नान करे। (ते १–२६)

प्रात कृत्यम्

अब सिर-मुँह के बालों को कटावे या न कटावे। बाल पुरुषों का सौन्दर्य है। अब नखों को कटावें दाँतों को साफ करे, बिना फटा हुआ वस्त्र पहनें। वस्त्र मनुष्य का सौन्दर्य है इसलिए हमेशा अच्छा वस्त्र पहने। स्वर्ण पवित्र चीज है। सोना पहनना पवित्र करता है। जो सोना पहनता है वह बूढ़ा होकर मरता है। सोना आयु देने वाला है वह अमर करने वाला है। (ते ब्रा १।८।१) (ते ५।५।१) (ते ब्रा० १।८।१) (शत ब्रा १३।४।१।१५।ता ३।१।२।१६) (ते सं २।२।६) अथर्व १।३५।१)

पशु पालन

पशु घरों के ऐश्वर्य है इसलिए सदा पशु वाला बने (ताण्ड्य–१३।१।२) आपस में भेद भाव तथा अभिमान न रखना चाहिए

देव और असुर दोनों एक ही प्रजापति की सन्तान हैं उनको, उनने ऐसा न माना। वे और है, और वे और हैं ऐसा समझा। वे दोनों प्रजापति के पुत्र अपने

कि वह पूरी आयु को प्राप्त हो और निरोग रहे। (तै० ब्रा० १-७-६, शत० १-७-३-१७) (शत० १०।२।६।८। ताण्ड्य० २२।१२।२)

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि मनुष्य की अमरता इसी में है कि वह पुत्रों के पीछे पौत्रों को देख ले। (तै० ब्रा० १-५-५)

स्त्री का पुरुष के जीवन मे स्थान

पुरुष का कर्त्तव्य यज्ञ है, और जो अपत्नीक है वह यज्ञ नही कर सकता। पत्नी आत्मा का आधा भाग है। पत्नी पुरुष के साथ रहने वाली है। अच्छी योषा मोटे नितम्ब, चौड़ी छाती, पतली कमर वाली, सुन्दर, जवान, मीठा बोलने वाली, प्रेम करने वाली तथा सन्तान उत्पन्न करने वाली होती है। ऐसी योषा से ही ये सब प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। (तै० ब्रा० ३।८।२३) (३।३।१३) (तै० स० ६–१–२) (शत० ३।८।२।५) (शत० १–२–३–६) (शत० ३–८–२–५)

गृहस्थ जीवन

बच्चो से मनुष्य पूर्ण होता है। इसलिए जब पत्नी को ग्रहण करता है और बच्चों को उत्पन्न करता है तभी पूर्ण होता है। (तै० ब्रा० ३।३।१०) (शत० ५।२।१।१०)

पत्नी घर की रानी है

घर निश्चय ही पत्नी की प्रतिष्ठा है। इसलिए घर में पत्नी की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। वह घर के पदार्थ मात्र की स्वामिनी है। स्त्री घर की लक्ष्मी है। इसलिए स्त्रियो का कभी ताडन न करे। (शत० १२।८।२।६।, ३।३।१।१०) (तै० स० ६।२।१) (शत० ११।४।३।२)

स्त्रियों का धर्म

जिसको मुझे पिता ने दिया है, जब तक वह जीता है उसे नही छोड़ूंगी। (शत० ४।१।५।७)

पुत्र-कामना और पुत्र का महत्त्व

पुत्र हीन को लोक में (सुख) नही। पुत्र से ही मनुष्य की लोक में विजय होती है, और किसी काम से नही। (ऐ० ब्रा० ३३।१)

पृथ्वी पर जितने सुख हैं, द्युलोक में जितने सुख हैं और अन्तरिक्ष लोक मे जितने सुख प्राणियो को प्राप्त होते हैं उनसे बहुत अधिक सुख पिता को पुत्र से होता है। (ऐ० ब्रा० ३३।१)

क्या रखा है मैले (भगवे) वस्त्रो में? क्या है मृगचर्म में? क्या है दाढी और बालो में? क्या है तप में? हे ब्राह्मण! पुत्र की इच्छा करो। वह निश्चय ही अनिन्दनीय लोक सुख का साधन है। (ऐ० ब्राह्मण ३३।१)

गेहूं और चावल

गेहूं निश्चय ही अन्न है। चावल शरीर के अंगों को बांधता है। (शत ५।२।१।१२)

मांस सबसे उत्तम खाद्य

यह प्रसिद्ध निश्चय है कि सब अन्नों से बढ़कर खाने योग्य अन्न मांस है। मनुष्य को इस सबसे बढ़िया अन्न को खाना चाहिए। ये तीन पशु यज्ञ के अयोग्य हैं—गांव का सूअर, गांव का मेढ़ा और कुत्ता—इसलिए इनको न खाये। गौ और बैल को न खाये क्योंकि गौ और बैल सब मनुष्यों का पालन करते हैं। (शत ११।७।१।३ ऐ ब्रा ६।८)

वर्ण व्यवस्था

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र समस्त मनुष्य वर्ग हैं। ये सब मनु की सन्तान हैं। (शत ७।२।१।१४) (ऋ १०।७।२।२७) (तै ब्रा ५।१।५)

ब्राह्मण सब प्रजाओं की देख-रेख करने वाला है। (तै ब्रा २।१।१)

ब्राह्मण मनुष्यों में देवता है। (श १२।७।७।६)

यज्ञकर्ता आहुतियों से देवताओं को और दक्षिणा से ब्राह्मणों को प्रसन्न करे। प्रसन्न होने पर दोनों स्वर्ग लोक में पहुंचाते हैं। (शत ७।१।७।४)

क्षत्रिय जिस काम को ब्राह्मण से अनुमति न लेकर करता है वह उसको सफलीभूत नहीं बनाता। इसलिए किसी कर्म को निश्चित करने के लिए क्षत्रियों को ब्राह्मण के पास जाना चाहिए। ब्राह्मण से अनुमति लिया हुआ कार्य निःसन्देह ही क्षत्रिय को सफलता देता है। (शत ४।१।५।९)

ब्राह्मण का बल इष्टापूर्त (इष्ट, यज्ञादि पूर्त परोपकारादि) का बल है। दोनों इन दोनों से सुशोभित होते हैं। (शत० १३।१।५।६)

वैश्य (राष्ट्र की) निश्चय ही समृद्धि है। वे प्रजा के पालक हैं। (ऐत ब्रा ११।१ शत ७।१।१।१४)

शूद्र

विद्याओं के लिए ब्राह्मण रक्षा के लिए क्षत्रिय आयु का (चलने फिरने का) काम करने के लिए वैश्य और श्रम करने के लिए शूद्र है। (तै ब्रा १-४-१)। पूरी आयु प्राप्त करने का ही नाम अमरता है

निश्चय ही पुरुष सौ वर्ष की आयु वाला है। कभी कभी सौ वर्ष से अधिक भी मनुष्य जीता है। जो निश्चय ही सौ वर्ष तक जीता है या बहुत वर्ष तक जीता है वह निःसन्देह जीवन को प्राप्त होता है। मनुष्य की यही अमरता है

कि वह पूरी आयु को प्राप्त हो और निरोग रहे। (तै० ब्रा० १-७-६, शत० १-७-३-१७) (शत० १०।२।६।८। ताण्ड्य० २२।१२।२)

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि मनुष्य की अमरता इसी में है कि वह पुत्रो के पीछे पौत्रो को देख ले। (तै० ब्रा० १-५-५)

स्त्री का पुरुष के जीवन मे स्थान

पुरुष का कर्त्तव्य यज्ञ है, और जो अपत्नीक है वह यज्ञ नही कर मकता। पत्नी आत्मा का आधा भाग है। पत्नी पुरुष के साथ रहने वाली है। अच्छी योषा मोटे नितम्ब, चौडी छाती, पतली कमर वाली, सुन्दर, जवान, मीठा वोलने वाली, प्रेम करने वाली तथा सन्तान उत्पन्न करने वाली होती है। ऐसी योषा से ही ये सब प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। (तै० ब्रा० ३।८।२३) (३।३।१३) (तै० स० ६–१–२) (शत० ३।८।२।५) (शत० १–२–३–६) (शत० ३–८–२–५)

गृहस्थ जीवन

वच्चो से मनुष्य पूर्ण होता है। इसलिए जब पत्नी को ग्रहण करता है और वच्चो को उत्पन्न करता है तभी पूर्ण होता है। (तै० ब्रा० ३।३।१०) (शत० ५।२।१।१०)

पत्नी घर की रानी है

घर निश्चय ही पत्नी की प्रतिष्ठा है। इसलिए घर में पत्नी की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। वह घर के पदार्थ मात्र की स्वामिनी है। स्त्री घर की लक्ष्मी है। इसलिए स्त्रियो का कभी ताडन न करे। (शत० १२।८।२।६।, ३।३।१।१०) (तै० स० ६।२।१) (शत० ११।४।३।२)

स्त्रियों का धर्म

जिसको मुझे पिता ने दिया है, जब तक वह जीता है उसे नही छोडूँगी। (शत० ४।१।५।७)

पुत्र-कामना और पुत्र का महत्त्व

पुत्र हीन को लोक में (सुख) नही। पुत्र से ही मनुष्य की लोक में विजय होती है, और किसी काम से नही। (ऐ० ब्रा० ३३।१)

पृथ्वी पर जितने सुख हैं, द्युलोक में जितने सुख हैं और अन्तरिक्ष लोक मे जितने सुख प्राणियो को प्राप्त होते हैं उनसे वहुत अधिक सुख पिता को पुत्र से होता है। (ऐ० ब्रा० ३३।१)

क्या रखा है मैले (भगवे) वस्त्रों में? क्या है मृगचर्म मे? क्या है दाढी और बालों में? क्या है तप में? हे ब्राह्मण! पुत्र की इच्छा करो। वह निश्चय ही अनिन्दनीय लोक सुख का साधन है। (ऐ० ब्राह्मण ३३।१)

पुत्र का कर्तव्य

पिता से शिक्षित पुत्र को लोक का साधन कहते हैं। यदि पिता का कोई भी काम साधनों को न मिलने से अधूरा रह जाता है तो पुत्र इससे पिता को मुक्त कर देता है। (शत १४।४।३।२६)

इसलिए ही उसे पुत्र कहते हैं।

बाल्य काल में पुत्र पिता के आश्रित रहते हैं और युवावस्था में पिता पुत्रों के आश्रित रहता है। (शत १२।२।३।४)

तीन ऋण

उत्पन्न होते ही ब्राह्मण (आदि सभी लोग) तीन ऋणों से ऋणी होता है। ब्रह्मचर्य द्वारा ऋषि-ऋण से यज्ञों द्वारा देवताओं से और प्रजा द्वारा पितरों से उऋण होता है। वही उऋण है जो पुत्र वाला है ब्रह्मचर्य से जिसने विद्या पढ़ी है और जो यज्ञ करता है। (तै स ६-३-१०)

चार ऋण

वह निश्चय ही ऋणी उत्पन्न होता है। जन्म से ही वह देवताओं का, ऋषियों का पितरों का और मनुष्यों का (ऋणी होता है)। (शत १।७।२।१)

जो हवन करता है वह देव ऋण से उऋण हो जाता है।

(शत १।७।२।१)

क्योंकि इनके लिए ही वह सब कुछ करता है जो इनके लिए यज्ञ करता है और जो इनके लिए हवन करता है।

जो वेद पढ़ता है वह ऋषियों का ऋण चुकाता है, क्योंकि उनके लिए ही वह सब कुछ करता है। इसलिए ही वेद पढ़ने वाला ऋषियों की निधि का रक्षक कहलाता है। (शत १।७।२।१)

जो भी प्रजा की इच्छा करता है उसका पितृ-ऋण निवृत्त हो जाता है क्योंकि इनके लिए ही वह सब कुछ करता है जिससे इनकी प्रजा विस्तार वाली और बीच में ही न टूटने वाली होती है। (शत १।७।२।४)

अब जो भी बसाता है (अर्थात् अतिथियों को ठहराता है) उससे वह मनुष्यों के ऋण से उऋण हो जाता है क्योंकि इनके लिए ही वह सब करता है जो इन को वास देता है, जो इनको भोजन देता है। (शत १।७। ।५)

जो मनुष्य य सब कर्म (यज्ञ, स्वाध्याय, प्रजोत्पत्ति और अतिथि सेवा) करता है वह कृतकार्य होता है। उसको सब प्राप्त होता है और वह सब जीत लेता है। (शत १।७।२।५)

ब्रह्मचर्य

हे गुरो! बतलाओ कौन सा पुण्य कर्म है? ब्रह्मचर्य, गुरु ने कहा। लोक में सुख साधन का कौन सा उपाय है? ब्रह्मचर्य ही उत्तर मिला। (गो० पू० २।५ गोमयन)

जो ब्रह्मचर्य रखता है वह एक लम्बे (बहुत दिनों तक चलने वाले) यज्ञ को करता है। (शत० ११–३–३–१)

समिधा लाकर निश्चय ही प्रति दिन साय-प्रात अग्नि को सेवे। गुरु से ऊँचे आसन पर न सोये। गानेवाला, नाचनेवाला, इधर-उधर फिरने वाला और जहाँ-तहाँ थूकने वाला न हो। (गो० पू० २।७, गो० पू० ५।२।७)

विद्या का महत्त्व

विद्या से उस पद को पहुँचते हैं जहाँ सब कामनाएँ पूरी हो जाती हैं, वहाँ न दानी जाते हैं और न विद्याहीन तपस्वी। (शत० १०।५।४।१६)

यज्ञ

यज्ञ नि:सन्देह सब प्राणियों का, सब देवताओं का आत्मा (जीवन) है। उस यज्ञ की समृद्धि (अर्थात् भली भाँति पूर्ति) से यज्ञ करने वाले की प्रजा और पशुओं में वृद्धि होती है। (शत० १–७–२–५) (गो० ३।२।७३) (शत० १४–३–२१)

जो विद्वान् अग्निहोत्र करता रहता है वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। (शत० २–३–१–६)

पञ्च महायज्ञ

जो अग्नि में आहुति देता है वह देव-यज्ञ करता है। जो भूतों (अन्य प्राणियों) को बलि देता है वह भूत-यज्ञ करता है। जो ब्राह्मणों को भोजन कराता है वह मनुष्य-यज्ञ करता है। जो स्वाध्याय करता है वह ब्रह्म-यज्ञ सम्पन्न करता है। (तै० आ० २।१०)

ब्रह्मयज्ञ का महत्त्व

स्वाध्याय निश्चय ही ब्रह्म-यज्ञ है। स्वाध्याय और प्रवचन (पढ़ना और पढाना) दोनों ही आनन्ददायक हैं। इन दोनों से मनुष्य एकाग्रचित्त और स्वतन्त्र होता है, दिन प्रति-दिन धन को प्राप्त करता है, सुख से सोता है। वह अपना परम चिकित्सक होता है। उसको इन्द्रियों पर संयम, सदा एकरसता, बुद्धि की वृद्धि, यश की वृद्धि, लोगों की अति श्रद्धा प्राप्त होती है। बुद्धि की उन्नति ब्राह्मण को ये चार पदार्थ प्राप्त कराती है, विद्वत्ता, यथोचित, आचार, यश और लोगों की श्रद्धा। श्रद्धालु लोग इन चार पदार्थों से विद्वान् का पालन करते हैं, आदर सत्कार से, दान से, अत्याचार न करने से और वध के अयोग्य समझने से। (शत ११।५।६।३) (शत० ११।५।७।१)

'सर्वश्रेष्ठ' का उपदेश

प्रजापति का पुत्र अपने पिता से पूछता है—

हे भगवन्! आप क्या सर्वश्रेष्ठ समझते हैं? (तै आ १ ।६३) प्रजापति उत्तर देते हैं—

सत्य—सत्य से वायु बहता है। सत्य से द्युलोक में सूर्य चमकता है। सत्य से वाणी की प्रतिष्ठा है। सत्य के आधार पर सब कुछ ठहरता है। अतः सत्य को ही सर्वश्रेष्ठ कहते हैं। (तै आ॰ १ ।६३)

दम—इन्द्रियजयी मनुष्य पाप से मुक्त हो जाता है और स्वर्गीय सुख प्राप्त करता है। दम मनुष्यों का कठिन काम बनाता है। इसके आधार पर हम सब कुछ पाते हैं। इसलिए दम को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं।

शम—शम (मन के निग्रह) से शान्त हुए मनुष्य शुभ आचरण करते हैं। शम से मुनि लोग दुःखरहित स्वर्गपद प्राप्त करते हैं। शम में सब की प्रतिष्ठा है। इस लिए शम को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं। (तै आ १ ।६३)

दान—दान यज्ञ का आधार है। संसार के सब प्राणी दाताओं के आश्रित रह कर जीते हैं। दान से शत्रु दब जाते हैं। दान से द्वेषी मित्र हो जाते हैं। दान में सब प्रतिष्ठित हैं। इस लिए दान को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं। (तै आ १ ।६३)

धर्म—धर्म समस्त जगत् का आधार है। संसार में धर्मात्मा के पास सब प्रजा जाती है। धर्म से पाप दूर होता है। धर्म में सब प्रतिष्ठित हैं। अतः धर्म को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं। (तै आ १ ।६३)

सन्तान—सन्तान पैदा करने पर ही संसार भली भाँति कायम है। प्रजातन्तु को चलाने वाला पितृ ऋण से विमुक्त होता है। निश्चय ही वह उस ऋण से विमुक्त हो जाता है। अतः सन्तानोत्पादन को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं। (तै आ १०।६३)

अग्निहोत्र—साँझ-सवेरे किया हुआ अग्निहोत्र घरों की शुद्धि है। अच्छी तरह किया हुआ—अच्छी तरह होमा हुआ अग्निहोत्र स्वर्ग तक की ज्योति है। इसलिए अग्निहोत्र को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं। (तै आ १ ।६३)

जीवन का लक्ष्य सुख और सम्पत्ति

ब्राह्मण-काल में भी मनुष्य-जीवन के लक्ष्य सुख तेज समृद्धि और सम्पत्ति ही थे। ब्राह्मण-काल में लोग प्रार्थना करते थे—

(हे परमात्मा) मैं अग्नि के तुल्य असहनीय तेज वाला होऊँ पृथ्वी की भाँति अच्छी स्थिति वाला होऊँ। सूर्य की तरह महातेजस्वी बनूँ जिस पर दूसरों की दृष्टि न जम सके। चन्द्रमा की तरह पुन-पुन नवीन होऊँ। मन के समान अपूर्व वायु

के समान फैली (विस्तृत) कीर्ति वाला, ब्राह्मण की तरह लोक-मान्य तथा क्षत्रिय की भांति ऐश्वर्ययुक्त होऊँ। (ऐ० आ० ५।१।१)

स्वर्ग लोक मेरे लिए सुखकारी हो। मेरे लिए चन्द्रमा सुखकारी हो। सूर्य सुखकारी हो। ब्रह्म तथा प्रजापति सुखकारी हो। (तै० आ० ४।१)

हे ईश्वर! मुझे आयु दे, मुझे प्राण दे, अपान दे, आंख दे, कान दे, मन दे, वाणी दे, शरीर दे, प्रतिष्ठा दे, अपनापन दे। (तै० आ० ४।२)

हे भगवन्! मुझे विद्या दे, मुझे क्षत्र-बल दे, मुझे तेज दे, मुझे यश दे, मुझे तप (परिश्रम) दे, मुझे मन दे। (तै० आ० ४।५)

अध्याय ६

उपनिषदों की नीति

वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग उपनिषद् कहलाता है। अतएव इसको वेदान्त (वेदों का अन्त आखिरी भाग) भी कहते हैं। यह साहित्य दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का है क्योंकि भारतीय दर्शनों में से एक महान और सबसे सम्मान्य एवं प्रभावशाली दर्शन उपनिषदों के आधार पर ही निर्मित हुआ है। वह उपनिषदों के वाक्यों को परम प्रमाण और परम सत्य मानता है और उनको श्रुति कह कर उद्धृत करता है। बादरायण कृत 'वेदान्तसूत्र' अथवा 'ब्रह्मसूत्र' जिस पर अनेक भाष्य और व्याख्याएँ लिखी गयी हैं, जिनमें से श्री शंकराचार्य और श्री रामानुजाचार्य के 'शारीरक भाष्य' और श्री भाष्य बहुत प्रसिद्ध हैं उपनिषदों के वाक्यों के अर्थ को ही प्रतिपादित करता है। उपनिषदों में जीवन और जगत् सम्बन्धी बहुत गहरे और सूक्ष्म विचार पाये जाते हैं और प्राय यह समझा जाता है कि उनमें जीवन सम्बन्धी रहस्यों का पूर्ण और सन्तोषजनक उद्घाटन मिलता है। सभी देशों में और सभी कालों में संसार भर के विद्वानों ने उपनिषदों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है तथा इनके सिद्धान्तों के आधार पर अपना जीवन ढालने और चरित्र-निर्माण करने का प्रयत्न किया है। भारत की तो प्राय सारी संस्कृति सारी विचारधारा उपनिषदों के विचारों से रंजित है। उपनिषदों का आज भी उतना ही सम्मान है जितना किसी भी काल में रहा होगा।

उपनिषदों में अधिकतर ब्रह्म (जगत् के मूल तत्त्व) और आत्मा (व्यक्ति के अपने अविनश्वर स्वरूप) के विषय में चर्चा की गयी है और यह निर्धारित किया गया है कि उन दोनों में क्या सम्बन्ध है। इसके अन्तर्गत तत्सम्बन्धी अनेक विषयों पर, यथा जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है किस प्रकार उसको प्राप्त किया जाता है और किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए आदि की चर्चा गुरु-शिष्य संवादों द्वारा की गयी है। अतएव यह साहित्य नीति-विज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी है। भारतीय नीति के परम आधार यही ग्रन्थ हैं।

उपनिषद् नाम से पुकारे जाने वाले अनेक ग्रन्थ हैं, जिनकी रचना भिन्न भिन्न समयों पर हुई है। उपनिषदों का भारत में इतना आदर होता था कि कोई भी ग्रन्थ जिसमें जीवन और जगत् के रहस्यों का वर्णन होता था और जिस वर्णन को कोई सम्प्रदाय-विशेष प्रामाणिक महत्त्व देना चाहता था, उसको एक विशेष उपनिषद् के नाम से पुकारने लगता था। यहाँ तक कि मध्यकालीन भारत में, जब कि इस्लाम का भारत में प्रचार हुआ, "अल्लोपनिषद्" नामक एक ग्रन्थ बना जिसमें अल्ला की चर्चा की गयी है। इसी प्रकार अभी थोड़े समय पूर्व ईसाई सम्प्रदाय वालों ने किसी संस्कृतज्ञ से "क्रिष्टोपनिषद्" नामक ग्रन्थ, जिसमें क्राइस्ट के उपदेशों का वर्णन है, तैयार करा कर छपवा दिया है। इस प्रकार उपनिषद् नामक ग्रन्थों की संख्या बहुत है। इनमें से बहुत मुद्रित हो चुके हैं और कुछ अभी तक मुद्रित नहीं हुए हैं। भविष्य में भी शायद और कुछ उपनिषद् बन जायें। कुछ महत्त्वाकांक्षी सम्प्रदायों या पंथों के अनुयायी शिष्य लोग भी संभवत अपने अपने गुरुओं के उपदेशों के ऊपर एक एक उपनिषद् की रचना कर दें तो आश्चर्य नहीं।

कई उपनिषद् तो ऐसे हैं जिनमें दूसरे ग्रन्थों में से चुने हुए सुन्दर श्लोकों का केवल संग्रह ही है। पर चूंकि उनका विषय ब्रह्म और आत्मा तथा आत्मानुभूति आदि हैं। अतः उनके संग्रह को एक विशेष उपनिषद् के नाम से पुकारा गया है। उदाहरणार्थ १०८ उपनिषदों के संग्रह में जो निर्णयसागर प्रेस में मुद्रित हुआ था और दूसरे संग्रहों में भी, महोपनिषद् नामक एक बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक उपनिषद् है। यह उपनिषद् योगवासिष्ठ महारामायण में से चुने हुए ५३५ श्लोकों का संग्रह मात्र है। उसी ग्रन्थ में से इसी प्रकार दूसरे संग्रह भी किये गये हैं और उनका नाम भी उपनिषद् रखा गया है। उनमें से कुछ के नाम ये हैं—अन्नपूर्णोपनिषद्, अक्षि-उपनिषद् और मुक्तिकोपनिषद्। (देखिए आत्रेय—योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृ० ४६)

उपनिषद् नामक आध्यात्मिक ग्रन्थों में से ११ उपनिषदों पर श्री शंकराचार्य के भाष्य मिलते हैं और ये ही उपनिषद् प्रामाणिक और प्राचीन समझे जाते हैं। उनके नाम ये हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा नृसिंहपूर्वतापिनी। इनके अतिरिक्त श्री शंकराचार्यजी ने, कौषीतकी, महानारायण, श्वेताश्वतर और मैत्रायणी उपनिषदों में से अपने भाष्यों में प्रामाणिक वाक्यों का उद्धरण भी किया है। इन प्राचीन उपनिषदों के आधार पर यहाँ पर हम औपनिषदिक नीति का विवेचन करेंगे।

उपनिषदों के अनुसार **मनुष्य-जीवन का लक्ष्य अपने असली स्वरूप को जान कर वही होना और अनुभव करना है।** मनुष्य का वास्तविक रूप अजर, अमर,

परमानन्द-स्वरूप विभु आत्मा है। यह आत्मा समस्त विश्व में ब्रह्म नाम से व्याप्त है। विश्व उसकी ही रचना है और उसके द्वारा ही चालित और नियमित है। उपनिषदों का सबसे ऊँचा, गहरा और निश्चित सिद्धान्त यही है। इसको सूक्ष्म रूप से व्यक्त करने वाले उपनिषद्-वाक्य महावाक्य कहलाते हैं। जैसे "अहं ब्रह्मास्मि" (मैं ब्रह्म हूँ) "तत् त्वमसि" (तू वह है) अयम् आत्मा ब्रह्म" (यह आत्मा ब्रह्म है) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म ही है)। इन महावाक्यों द्वारा यह बतलाया गया है कि विश्व के कण-कण में ब्रह्म अपनी पूर्ण सत्ता और शक्तियों के साथ स्थित है और यही हमारा वास्तविक स्वरूप है। उस स्वरूप का साक्षात् अनुभव करके उसके अनुरूप आचरण करना ही मनुष्यजीवन का परम लक्ष्य है। किसी कारण से सब प्राणी अपने भौतिक नश्वर और विकारवान् शरीर को ही अपनी आत्मा समझते हैं। शरीर की अवस्थाओं को अपनी अवस्थाएँ समझकर सुख और दुःख का अनुभव करते हैं और अपने शरीर के सुख के लिए ही प्रयत्न करते हैं। उपनिषद्-वाक्यों से हमें यह शिक्षा मिलती है कि हमको इस संकुचित स्वरूप और दुःख दायी दृष्टि से ऊपर उठ कर आत्ममयी दृष्टि को प्राप्त करके तदनुसार व्यवहार करना चाहिए। उस दृष्टि को प्राप्त कर लेने पर और उसके अनुसार व्यवहार करने पर मनुष्य के सब शोकों और दुःखों का अन्त होकर परम तृप्ति और परमानन्द का अनुभव होने लगता है तथा वह संसार के सभी प्राणियों के साथ आत्मीयता प्रेम सहानुभूति का अनुभव करता हुआ सब के कल्याण की चेष्टा करने लगता है। इसी मूल सिद्धान्त पर उपनिषदों की नीति का निर्माण हुआ और यही नीति भारतवर्ष में उपनिषद्-काल से लेकर आज तक उचित मानी गयी है। इस देश के महापुरुषों, ऋषि-मुनियों सन्त-महात्माओं और जन साधारण ने इसी नीति का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। इस नीति ने ही भारतीय संस्कृति को दीर्घजीवी जनमान्य और सर्व-प्रिय बनाया है। भारत का सारा साहित्य इस नीति के मूलतत्त्वों से व्याप्त है। भारतीय जीवन और समाज की रचना और व्यवस्था इसी नीति के आधार पर अवलम्बित है। इस नीति के आधार पर, अपने राजनीतिक कार्यक्रमों को निश्चित करने के कारण ही आज भारत राष्ट्र विश्व के राष्ट्रों का नेतृत्व पाने का अधिकारी होता जा रहा है। भारतीय संस्कृति का प्रभाव आने वाली सार्वभौम संस्कृति के ऊपर बहुत पड़ने वाला है क्योंकि ऐसा कोई देश नहीं है जहाँ आज वेदान्त का दृष्टिकोण सर्वप्रिय न हो। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ आदि अनेक भारतीय विद्वानों और लेखकों के प्रयत्न से आज वेदान्त का डंका समस्त भूमण्डल पर बज रहा है और जितना ही लोग वेदान्त को जानेंगे उतना ही उस को अपनायेंगे भी।

ब्रह्म का स्वरूप

सब जगत् का आदि कारण और नियामक परब्रह्म हमारे भीतर आत्मरूप होकर स्थित है, उसको अनुभव करना ही हमारा परम कर्त्तव्य है। **उपनिषदों में कहा गया है—**

जिससे इन सब वस्तुओ की उत्पत्ति होती है, जिसके द्वारा ये स्थिर रहती हैं और जिसमें ये अन्त में लीन हो जाती हैं उसको ही जानो, वह ब्रह्म है (तै० ३–१)। जो इन चमकने वाले (सूर्य-चन्द्र आदि) को चमकाता है और जो उनको विलीन कर देता है वह ब्रह्म है। यह मन जो विषयो की ओर जाता है (अर्थात् मन की प्रगति), जो स्मरण करता है और सकल्प करता है वह भी ब्रह्म की शक्ति के द्वारा होता है। अर्थात् बाह्य और आन्तरिक जगत् की सब वस्तुओ की सत्ता, क्रियाएँ और प्रगति ब्रह्म के अधीन हैं (केन० ४।४।५)। उसके चमकने से सब चमकते हैं और उसके प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं। (क० २।५।१५।)

जिस परमेश्वर से यह सम्पूर्ण जगत् सदा व्याप्त है; जो ज्ञानस्वरूप परमेश्वर निश्चय ही काल का भी महाकाल, सर्वगुण सम्पन्न और सब को जानने वाला है, उसके द्वारा ही शासित हुआ यह जगत्रूप व्यापार विभिन्न प्रकार से चल रहा है और पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश भी उसी के द्वारा शासित होते हैं ऐसा सोचना चाहिए। (श्वे० ६–२)

वह आदि कारण, तीनो कालो से सर्वथा अतीत, कलारहित होने पर भी प्रकृति के साथ जीव का सयोग कराने में कारणो का भी कारण देखा गया है। अपने अन्तःकरण में स्थित उस सर्वरूप एव जगत्रूप में प्रकट, स्तुति करने योग्य, पुराण पुरुष परमदेव की उपासना करके उसे प्राप्त करना चाहिए। उस ईश्वर के भी परम महेश्वर, सम्पूर्ण देवताओ के भी परम देवता, पतियो के भी परमपति तथा समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी और स्तुति करने योग्य उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा को हम लोग सब से परे जानते हैं। उसके कार्य और कारण नही हैं। उससे बडा और उसके समान भी अन्य कोई नही दीखता तथा इस परमेश्वर की ज्ञान, बल एव क्रिया-रूप स्वाभाविक दिव्य शक्ति नाना प्रकार की सुनी जाती है। जगत् में कोई भी उस परमात्मा का स्वामी नही है, उसका शासक भी नहीं है और उसका चिह्न विशेष भी नही है। वह सबका परम कारण तथा समस्त कारणो के अधिष्ठाताओ का भी अधिपति है। कोई भी न तो उसका जनक है और न स्वामी ही है। जो अकेला ही बहुत से अक्रिय जीवो का शासक है और एक प्रकृति-रूप बीज को अनेक रूपो में परिणत कर देता है, उस हृदयस्थित परमेश्वर को जो धीर पुरुष निरन्तर देखते

रहते हैं उन्हीं को अनन्त काल तक रहने वाला परमानन्द प्राप्त होता है। दूसरों को नहीं। (श्वे ६।२ ५, ६ / १ १२)

जो आत्मा मनुष्य में है और जो आत्मा सूर्य में है वह एक ही है। (तैत्ति १-१०-४)

वही तेरा आत्मा है और वही तू है (छा ६-११-१)। यह आत्मा ही ब्रह्म है (बृ-२-५-१९)। मैं ब्रह्म हूँ (बृ-१-४-१)। तू भी ब्रह्म है (छा ६-८-७)। सब कुछ ब्रह्म ही है। (छा ३-१४-१)

सब उपनिषदों का सिद्धान्त यही है कि ब्रह्म का आत्मरूप से साक्षात्कार करे। जीवन का यही ध्येय है और इसी को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को परम सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है तथा इस पद को प्राप्त कर लेने पर कोई अन्य इच्छा नहीं रह जाती और संसार के समस्त बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है।

जो धीर पुरुष उस देवाधिदेव को अपने भीतर स्थित अनुभव करते हैं उनको ही शाश्वत सुख का अनुभव होता है औरों को नहीं। (श्वे ६-१२)

उस इच्छित फल को देने वाले परम पूज्य परमात्मा को प्राप्त कर लेने पर अत्यन्त शान्ति की प्राप्ति होती है (श्वे ४-११)। उस देव को जान लेने पर सब बन्धन टूट जाते हैं (श्वेता १-११)। उसके ध्यान से उससे सम्बन्ध स्थापित करने से और फिर उसके साथ तद्रूप हो जाने से संसार-माया से मुक्ति मिल जाती है (श्वे १-१)। फिर उसके साथ सम्बन्ध करने पर अमृतत्व प्राप्त कर लेता है (श्वे १-६)। उसको ही जान कर मनुष्य मृत्यु के ऊपर विजय पाता है। कल्याण का दूसरा कोई मार्ग नहीं है (श्वे ३।८)। जो अपने हृदय में स्थित उसको मन और हृदय से जान लेता है वह अमर हो जाता है (श्वे ४-२)। उसी एक आत्मा को जानो और सब बातों का छोड़ो वह अमरता का पुल है। (मुण्डक ५-२-५)

मनुष्य का परम कर्तव्य उस आत्मा का अनुभव करना है

आत्मा को जानना चाहिए, सुनना चाहिए, विचार करना चाहिए और उसका बारम्बार ध्यान करना चाहिए। (बृ ४।५।६)

उसको जान बिना सुख नहीं मिलता अतः उसको जानना चाहिए।

जो अनन्त है वही सुख देता है अल्प में सुख नहीं है (छा ७।२३।१)। इसलिए अनन्त को जानने की इच्छा करनी चाहिए उसमें जरा मृत्यु और शोक नहीं है (छा ७।२३।१)। जो ब्रह्म को जान लेता है ब्रह्म ही हो जाता है (मु ३।२।७)। उसको जान लेने पर जीवन की सब समस्याएँ हल हो जाती हैं। उस सबसे परे और नजदीक रहने वाले आत्मा का अनुभव कर लेने पर हृदय की गाँठ

खुल जाती है, समस्त संशय कट जाते हैं और सब फल देने वाले कर्म क्षीण हो जाते हैं। शाश्वत सुख-शान्ति की प्राप्ति उनको ही होती है जो आत्मा को जान लेते हैं (मु० २।२।८)। जो वह अकेला सब प्राणियों को वश में रखनेवाला, सब प्राणियो का अन्तरात्मा है और जो अपने एक स्वरूप को अनेक प्रकार से व्यक्त करता है, उस आत्मा को जो विद्वान् (बुद्धिमान्) अपने शरीर में विद्यमान देखते है उनको ही सदा कायम रहने वाले सुख का अनुभव होता है, दूसरो को नही। जो नित्यो से भी नित्य और चेतनो से भी चेतन है और जो अकेला ही सबकी कामनाओ को पूरा करता रहता है उसको जो बुद्धिमान् अपने भीतर स्थित देखते हैं, उनको ही सदा रहने वाली शान्ति का अनुभव होता है, दूसरो को नही। (कठ० २।५।१२–१३)

उसको प्राप्त करके मनुष्य अमर हो जाता है, मृत्यु के पाश से बाहर हो जाता है।

उस अनादि और अनन्त, प्रकृति से परे और अचल आत्मा को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है (कठ० १–३–१५)। वह उस पद को प्राप्त कर लेता है जिसको पाकर फिर जन्म नही लेता (कठ० १।३।८)। उस महान् और अनन्त आत्मा को जान लेने पर बुद्धिमान् को शोक नही होता। (कठ० १–२–२१)

आत्मज्ञानी (ब्रह्मज्ञानी) की सब इच्छाएँ पूरी हो जाती है

उस अक्षर (नाश न होने वाले) (ओम्) को जान लेने पर जो मनुष्य चाहता है वही हो जाता है। (कठ० १।२।१६)

उपनिषद् काल के भारतीयो ने यह जान लिया था कि इन्द्रियो के भोग, सासारिक सुख और विजय, पुत्र-पौत्रादि अनश्वर वस्तुएँ सुख और शान्ति को देने वाली नही हैं। इनमे मनुष्य की परम तृप्ति नहीं होती और न मनुष्य अमर होता है।

कठोपनिषद् मे नचिकेता को यम सब सासारिक सुख, भोग, ऐश्वर्य देने का वर देता है (कठ० १।१।२३।२५)। नचिकेता इन सबको इतना महत्व नही देता, जितना कि अपनी जिज्ञासा पूर्ति को देता है। वह इन सब को हेय समझता है, (कठ० १।१।२६-२७)। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने अपने पति से, जब कि वह अपना धन उसको देकर वन को जा रहा था, पूछा था—हे भगवन्! यदि मेरे पास निश्चय ही यह सब पृथ्वी धन से भरी हुई हो तो मैं क्या उससे अमर हो जाऊँगी अथवा नही? यह आप कहे (बृ० ४।५।३)। याज्ञवल्क्य ने कहा—निःसन्देह नही। जैसे दूसरे धन वालो का जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन भी होगा। धन से तो अमर होने की आशा नही। वह मैत्रेयी बोली—जिससे मैं अमर नही होती उसको लेकर क्या करूँगी। जो अमरत्व का साधन आप जानते हैं वही मुझसे कहें। (बृ० ४५४)

इसी प्रकार सब सुखों और आनन्दों से बढ़कर कौन सा आनन्द है
इसकी खोज भी उन लोगों ने करने का प्रयत्न किया और इस विषय पर पहुँ
कि ब्रह्मानन्द (आत्मानन्द) ही सबसे बड़ा आनन्द है। सौ मनुष्यों के आनन्द
बराबर उन पितरों का एक आनन्द है जिन्होंने पितृलोक को प्राप्त कर लिया है
सौ पितृलोक-पितरों के आनन्दों के बराबर उन कर्म-देवताओं का एक आनन्द है
शुभ कार्यों के करने से देवत्व को प्राप्त हो गये हैं। सौ कर्म-देवों के आनन्दों
बराबर आजान देवताओं का एक आनन्द है और वही आनन्द उस वेद-विद् ज्ञानी
है जो पापों से रहित और कामनाओं से अनाहत है। सौ आजान देवों के आनन्द
के बराबर एक आनन्द प्रजापति के लोक में है वही आनन्द उस वेदविद् ज्ञानी
है जो पाप से रहित और कामनाओं से अनाहत है। सौ प्रजापति-लोकों के आनन्दों
समान एक आनन्द ब्रह्म-लोक में रहने वालों का है और वह उसका है जो पापों से रहि
है और कामनाओं से अनाहत है। हे सम्राट्! यही परम आनन्द है यही ब्रह्मलो
है। (बृ ४।३।३३)

आत्मानुभव का आनन्द सर्वोच्च आनन्द तथा परम-आनन्द है क्योंकि उपनि
षदों के अनुसार आत्मा परमानन्द स्वरूप है, वह भूमा है अनन्त है। वह अल्प सुख
कारी नहीं होता।

जो सबसे बड़ा है वही (उसी में) सुख है। अल्प में सुख नहीं है। भूमा
सुख है। जहाँ न दूसरे को देखता है न दूसरे को सुनता है और न दूसरे को जान
है वही भूमा है और जहाँ दूसरे को देखता है, सुनता है और जानता है
अल्प है। भूमा ही अमृत है अल्प नाशवान् है (छा ७।२३।१ ७।२४।१)। आत्म
ही नीचे आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे और आत्मा ही आगे है, आत्मा
दायें और आत्मा ही बायें है। आत्मा ही यह सब कुछ है। जो ऐसा निश्चय
पूर्वक देखता हुआ मानता हुआ जानता हुआ आत्मा में ही रमता है, आत्मा से
खेलता है आत्मा से ही संयोग करता है आत्मा में ही आनन्द लेता है वही स्वरा
राजा होता है और वही सब लोकों में अपनी इच्छा के अनुसार विचरण करत
है। (छा ७।२५।२)

यही आत्मा "सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म" है। यही सीमा है, यही परम गति
(कठ १।३।११)। जिसमें द्यु-लोक पृथ्वी लोक, अन्तरिक्ष लोक और सब इन्द्रि
सहित मन पिरोया हुआ है उसी एक आत्मा को जानो, और सब बातें छोड़
क्योंकि यही अमरता का पुल है। (मुण्डक २।२।५)

यदि हम इस शरीर में रहते हुए ही उसको जान सकते हैं तब तो कल्याण है

यदि नही जाना तो बहुत हानि है। (ऐसा सोचकर) बुद्धिमान् प्राणी, प्राणियो में उस आत्मा को समझकर इस लोक मे मरने के बाद अमर हो जाते हैं। (बृ० ४।४।१४)

आत्मानुभव प्राप्ति के साधन

यह आत्मा निश्चय ही सत्य भाषण से, तप से, यथार्थ ज्ञान से और ब्रह्मचर्य से सदा प्राप्त करने योग्य है। वह यह शुद्ध, प्रकाशस्वरूप, निमन्देह शरीर के भीतर विद्यमान है, उसको क्षीण (निवृत्त) हुए रागद्वेषादि दोषों वाले जितेन्द्रिय देखते हैं। (मु० ३।१।५)

वह आँखो से नही पकडा जाता (देखा जाता), न वाणी से और न दूसरी इन्द्रियो से, न तप से और न किसी दूसरे कर्म से पकडा जाता है। परन्तु जब मनुष्य ज्ञान की निर्मलता से शुद्धान्तकरण होता है, तब ध्यान-योग करता हुआ उस कलारहित अमृत आत्मा को देखता है। (मु० ३।१।८)

वह देखने वालों के लिए यहाँ ही हृदय की गुफा में स्थित है (मुण्डक ३।१।७)। वह सूक्ष्म आत्मा शरीर में ही ध्यान द्वारा चित्त (मन) मे जानने योग्य है (मुण्डक ३।१।९)। उस कठिनता से देखे जाने वाले परमात्मा देव को शुद्ध बुद्धि युक्त साधक अध्यात्म-योग की प्राप्ति के द्वारा समझ कर हर्ष और शोक को त्याग देता है। (कठ० १।२।१२)

परमात्मा की उस महिमा को कामना रहित और चिन्ता रहित (कोई विरला साधक) सर्वाधार परम परमेश्वर की कृपा से ही देख पाता है। (कठ० १।२।२०)

सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा भी इस परमात्मा को न तो वह मनुष्य प्राप्त कर सकता है जो बुरे आचरणो से निवृत्त नही हुआ है, न वह जिसके मन-इन्द्रियाँ सयत नही हैं और न वही प्राप्त करता है, जिसका मन शान्त नही है (कठ० १।२।२४)। वह परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचन से, न बुद्धि से और न बहुत सुनने से ही प्राप्त हो सकता है। जिसको वह स्वीकार कर लेता है उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। क्योकि वह परमात्मा उसके लिए अपने यथार्थ रूप को प्रकट कर देता है (१।२।२३)। जो कोई मनुष्य विवेकशील बुद्धि से युक्त, सयतचित्त (और) पवित्र रहता है, वह तो उस परम पद को प्राप्त कर लेता है जहाँ से (लौटकर) पुन जन्म नही मिलता (१।३।८)। वह सब का आत्मस्वरूप परम पुरुष समस्त प्राणियो में रहता हुआ भी छिपे रहने के कारण सब को प्रत्यक्ष नही होता। केवल सूक्ष्म तत्त्वों को समझने वाले पुरुषो द्वारा अति सूक्ष्म बुद्धि से देखा जाता है (१।३।१२)। उठो, जागो, श्रेष्ठ महापुरुषो को पाकर, उनके पास जाकर उस परम ब्रह्म परमेश्वर को जान लो, (क्योकि) त्रिकालज्ञ ज्ञानी जन, उस तत्त्व ज्ञान के मार्ग को छूरे की तीक्ष्ण और दुस्तर धार के सदृश दुर्गम

(अत्यन्त कठिन) बतलाया है (१।३।१४)। जिसमें तप (और) ब्रह्मचर्य (है) जिसमें सत्य प्रतिष्ठित है उन्हीं को यह ब्रह्मलोक मिलता है (प्रश्न १।१५)। जिसमें न तो कुटिलता है न झूठ है और न माया (छल कपट) ही है उन्हीं को वह विकार रहित विशद ब्रह्म लोक मिलता है। (प्रश्न १।१६)

आहार के शुद्ध होने पर मन की शुद्धि होती है और मन के शुद्ध होने पर ध्यान अचल होता है। ध्यान के अचल होने से हृदय की सब गाँठें अच्छी तरह खुल जाती हैं (छा ७।२६।२)। तप दान आर्जव अहिंसा सत्य वचन उसकी दक्षिणा (मत्य) है (छा ३।१७।४)। तप से ब्रह्म को जानो तप ही ब्रह्म है। (तै ३।२)

योग पद्धति

छाती गर्दन और सिर इनको सीधा शरीर के साथ सम अवस्था में करके मन के सहित इन्द्रियों को इकट्ठा करके (वश में करके) ओंकाररूपी नौका से (ओंकार का जप और ध्यान करता हुआ) भय को देने वाले सभी स्रोतों (विषयों तथा इन्द्रिय प्रवाहों) को ज्ञानी पार करे (श्वेत २-८)। अब वह ज्ञानी (प्राणायाम करके) एव अपनी सब क्रियाओं को वश में करके और इच्छाओं को अपने वश में करके प्राण के सूक्ष्म हो जाने पर धीरे-धीरे नाक से साँस ले। जैसे दुष्ट घोड़ों से जुते हुए रथ को सारथि वश में कर लेता है ऐसे ही सावधान हुआ विद्वान् शरीर को वश में करके मन को स्थिर करे। (श्वेत २-)

सम तल न नीचा न ऊँचा शुद्ध कंकड़ अग्नि-बालू से रहित शब्द-जल और रचना आदि से मन को पसन्द, आँखों को पुरे, न लगने वाले स्थान पर वायु के झोंकों से रहित गुफा में योगाभ्यास करे (श्वे २।१)। ब्रह्म के ध्यान में लगे हुए योगी को पहले कुहरे धुआँ, सूर्य वायु अग्नि जुगनू बिजली स्फटिक-शिला और चन्द्रमा के आकार दिखाई पड़ते हैं (श्वेत ११)। पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश से बने हुए शरीर के शुद्ध हो जाने पर और योग के पाँच गुणों से युक्त हो जाने पर, योगाग्नि मय शरीर हो जाने पर, योगी को रोग जरा (बुढ़ापा) और मौत नहीं सताती (श्वेत २।१२)। वे पाँच गुण क्या हैं? आचार्य लोग इन गुणों को योग की प्रथम सिद्धि कहते हैं शरीर का हलकापन निरोगता विषयों के प्रति लालसा का अभाव, शरीर के रंग की उज्ज्वलता स्वर की मधुरता शरीर से अच्छी सुगन्ध आना और मल-मूत्र का कम होना। जैसे मिट्टी से ढकी हुई कोई प्रकाशमान वस्तु (रत्न) धोकर साफ करने पर चमकने लगती है, वैसे ही शरीर-धारी जीव अपनी आत्मा को भली भाँति देखकर, उसके साथ एक होकर, शोक से रहित और कृतकृत्य हो जाता है (श्वेत २।१४)। जब इस शरीर में ही योग युक्त जीवात्मा उस परमात्मा को दीपक के समान

देखता है तो जो अनादि है, अचल है और सब गुणों से 'परे है, तब उस परमात्मा को जानकर मव बन्धनो से छूट जाता है (श्वेत० २-१५)। जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के सहित स्थिर हो जाती हैं, और बुद्धि भी कोई चेष्टा नही करती है उसको योग की सबसे ऊँची अवस्था कहते हैं। उस मन, बुद्धि और अचल इन्द्रियो की स्थिति को ही योग कहते हैं। उसमें योगी आत्मनिष्ठ होता है। क्योकि अनात्मनिष्ठा की प्रति क्षण हानि और आत्मनिष्ठा की प्रति क्षण वृद्धि का ही नाम योग है। (श्वे० २।८-१५।, कठ० २।६।१०।११)

ज्ञानी का जीवन

जिसने योग द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है वह ससार में कैसे रहता है और किस प्रकार दूसरो से व्यवहार करता है?

जब आत्मज्ञानी के लिए सब पदार्थ आत्मरूप ही हो जाते है तो उसको सर्वत्र एकता का अनुभव करते हुए क्या मोह और क्या शोक हो सकता है (ईश० ७)। जो सब प्राणियो को अपने आत्मा में स्थित देखता है और अपने को सब में स्थित देखता है वह किसी से घृणा-द्वेष नही करता (ईश० ६)। वह वेद के इस उपदेश का सदा पालन करता है—यह सब जगत और जो कुछ भी इसमें है ईश्वर से व्याप्त है। देखो, त्यागपूर्वक भोग करो। लालच मत करो, धन किसी का नही है। सौ वर्ष तक शुभ कर्म करते हुए जीने की इच्छा रखो। इसके अतिरिक्त और कोई चारा नही है। ऐसा करने से मनुष्य कर्म के बन्धन में नही पडता (ईश० १।२)। अर्थात् आत्मज्ञानी कभी जीवन से नही ऊबता और न कर्महीन होकर आलस्य मे रहता है।

जब हृदय में स्थित समस्त कामनाओ का त्याग हो जाता है तो आदमी अमरत्व का अनुभव करता है और ससार में रहता हुआ भी ब्रह्म का अनुभव करता है (कठ० २।६।१४)। उस सबसे परे और सबसे श्रेष्ठ आत्मा का ज्ञान हो जाने पर हृदय की गाँठ खुल जाती है और सब सशय मिट जाते हैं तथा सब कर्मों के भले-बुरे फल से मुक्ति मिल जाती है (मु० २-२-८)। वह ऐसा देखता हुआ कि सब ओर आत्मा ही आत्मा है, ऐसा मानता हुआ, ऐसा जानता हुआ, आत्मा में ही क्रीडा करता है, आत्मा मे ही प्रेम रखता है, आत्मा के साथ सयोग करता है, आत्मानन्द में मस्त रहता है। वह स्वतन्त्र राजा होता है और इच्छानुसार सब लोको में विचरता है (छा० ७।२५।२)। उस आत्मा को जानकर ब्राह्मण निश्चय ही पुत्र की कामना से, धन की कामना से और लोक की (यश-कीर्ति की) कामना से ऊपर उठकर भिक्षावृत्ति का आचरण करते हैं (बृहद्० ३।५।१)। उसको जान लेने पर पाप-कर्म से लिप्त नही होता। (बृ० ४-४-२५)

साधारण जीवन में पाप-पुण्य और उनका फल वासना और कर्मों के अनुसार लोक-लोकान्तरों में गति—

वैदिक काल से ही भारतीय लोगों के मन में पाप (अशुभ कर्म) और पुण्य (शुभ कर्म) का भाव उत्पन्न हो गया था और उनको यह विश्वास था कि इस लोक (जीवन) और परलोक में (मृत्यु के पश्चात् जीवन में) मनुष्य की गति उसके अपने ही पापों और पुण्यों के अनुसार होती है। पाप-पुण्य केवल बाहरी कर्म ही नहीं हैं, उनकी जड़ मन की वासनाओं और संकल्पों में विद्यमान है। इसलिए वे भी मानते थे कि जैसी मति (इच्छा या संकल्प) वैसी ही गति। इन दोनों के पाश से आत्मवित् ऊपर उठकर सब कुछ करता हुआ भी स्वतन्त्र विचरता है। साधारण व्यक्ति को यही प्रयत्न करते रहना चाहिए कि वह पाप से बचे और पुण्य के रास्ते पर चले। भगवान् से भी यही प्रार्थना की जाती थी कि वह हमें शुभ मार्ग पर चलाये और अशुभ से बचाये।

ब्रह्मलोक उन लोगों को प्राप्त होता है जो पुण्यात्मा होते हैं (प्रश्नोपनिषद् १।७)। हे अग्नि देव ! हमको धन प्राप्त कराने के लिए शुभ मार्ग से ले चलो। हे सब के हृदय के अन्तर्यामी ! तू हमारे सब कार्मों को जानने वाला है। हमें कुटिल पाप के मार्ग से हटाकर ले चल। हम तुझे बहुत नमस्कार करते हैं।

अपने कर्मों से जीव लोक-परलोक में घूमता है। (कठ०)

हमारा व्यक्तित्व और भविष्य, हमारे विचार और आचरण पर ही निर्भर है

जैसा कर्म करने वाला जैसा आचरण करने वाला मनुष्य होता है, वह वैसा ही बन जाता है। अच्छा काम करने वाला अच्छा होता है, पाप कर्म करने वाला पापी हो जाता है पुण्य कर्मों के करने के कारण पुण्यात्मा होता है, पाप कर्मों के करने से पापात्मा होता है। मनुष्य कामभय है अर्थात् इच्छाओं से ही बना है। जैसी उसकी इच्छाएँ होती हैं वैसे ही उसके संकल्प होते हैं। वैसे ही वह कर्म करता है और वह जैसा कर्म करता है वैसा ही हो जाता है (बृ ४-४-५)। पुण्य कर्म करने से पुण्यात्मा और पाप कर्म करने से पापात्मा हो जाता है। मनुष्य संकल्प रूप है। जैसा संकल्प करता है वह इस लोक में वैसा ही हो जाता है, यहाँ से दूसरे लोक में जाकर भी वैसा ही होता है। अतएव वह (अच्छा) संकल्प करे। भगवान् से प्रार्थना विशेषतया इस कारण भी की जाती है कि उन लोगों का विश्वास था कि भगवान् जिसको सद्गति देना चाहते हैं उसको शुभ कर्म करने की प्रेरणा देते हैं और जिसको अधोगति देना चाहते हैं उससे अशुभ कर्म करवाते हैं। "यह परमात्मा उससे अच्छा काम कराता है जिसको इन लोकों से ऊपर उठाना चाहता है और जिसको नीचे गिराना चाहता है उससे अच्छा काम नहीं कराता है (कौ १-६)।"

मरने के पश्चात् कर्मानुसार दूसरे लोकों में गति

हे गौतमवंशी! अब मैं तुम्हे वह सनातन ज्ञान देता हूँ जिससे तुम यह जानोगे कि मरने के बाद आत्मा की क्या गति होती है (कठ० २।५।६)। कोई शरीर-धारी (लोग) तो अपने कर्म के अनुसार दूसरा शरीर प्राप्त करने के लिए योनि में प्रवेश करते हैं और कोई अपने ज्ञान के अनुसार अचल ब्रह्म को प्राप्त होते हैं (कठ० २।५।७)। तपस्वी और ब्रह्मचारी ये हैं जो सत्य पर आरूढ हैं। उन्हीं के लिए यह शुद्ध ब्रह्म-लोक है जिसमें न कुटिलता है न झूठ है और न धोखा है (प्रश्नोपनिषद् १।१५।१६)। पुण्य कर्मों से अच्छे लोक मिलते हैं, पाप कर्मों से खराब। दोनों से मनुष्य-लोक मिलता है (प्रश्नोपनिषद् ३।७)। जिसका जीवन पवित्र है वह जिस-जिस लोक की प्राप्ति का मन से संकल्प करता है और जिन-जिन पदार्थों को चाहता है उन-उन लोकों को तथा उन-उन पदार्थों को पा लेता है (मुण्डक० १-१०)। जो जिन पदार्थों को श्रेष्ठ मानता हुआ उनकी कामना करता है वह उन कामनाओं के अनुसार वहाँ-वहाँ जन्म लेता है जहाँ-जहाँ वे पदार्थ मिल सकते हैं (मुण्डक० ३-२-२)। अपने-अपने कर्मों के अनुसार जीव भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेता है। वासनानुसार और कर्मानुसार वह दूसरे (पितृ, गन्धर्व आदि) लोकों में जाकर वहाँ अपनी वासनाओं और कर्मों के अनुसार सुख दुःख भोगता है। शुभ कर्म वाले शुभ योनियों और लोकों में, तथा अशुभ कर्म वाले अशुभ योनियों और अशुभ लोकों में जाते हैं। (छा० ५।१०।७) (कौ० १-२)।

कुकर्म करने वाले दूसरे बुरे लोकों में जाते हैं (बृ० ४-४-८)। उपनिषदों में, मृत्यु के बाद किस मार्ग से और कहाँ-कहाँ होकर जीव दूसरे लोकों में जाता है, वहाँ पर कर्मानुसार सुख दुःख भोग कर फिर कैसे इस लोक में आकर जन्म लेता है, इस विषय का सविस्तार प्रतिपादन मिलता है (बृ० ४-४-११)। उसको हम यहाँ पर स्थानाभाव के कारण छोड़ देते हैं।

जीव की इस प्रकार की गति को जानते हुए, ऋषियों ने मनुष्यों और सब योनियों के जीवों को शुभ मार्ग पर चलने का और अशुभ मार्ग को त्यागने का उपदेश दिया है। शुभ कार्यों के करने से शरीर को कष्ट होता है और शुभ मार्ग, इन्द्रियों के सुखों और भोगों का त्याग भी चाहता है, पाप का मार्ग स्वार्थ और भोगमय जीवन है। एक को ऋषियों ने प्रेय (प्रिय लगने वाला) और दूसरे को श्रेय (कल्याणकारी) मार्ग बताया है। "निश्चय ही एक श्रेय और दूसरा प्रेय अलग-अलग प्रयोजन वाले हैं तथा मनुष्य को बाँधते हैं। उन दोनों में से जो श्रेय को ग्रहण करता है उसका भला होता है और जो प्रेय को ग्रहण करता है वह अपने वास्तविक प्रयोजन (कल्याण) से गिर जाता

है। श्रेय और प्रेय दोनों ही मनुष्य के सामने हैं। बुद्धिमान् मनुष्य दोनों के भेद को ठीक-ठीक जानता है। निःसन्देह बुद्धिमान् मनुष्य प्रेय के मुकाबले (स्थान) में श्रेय को माँगता है और बुद्धिहीन (मन्द-बुद्धि) संसार के सुखों की प्राप्ति तथा उसकी रक्षा करने के लिए प्रेय को चाहता है। (कठोपनिषद् २।१२)

जीवन में प्रेय क्या है जिसका हमको त्याग करना चाहिए

यह वही वस्तुएँ हैं जिन्हें कठोपनिषद् में यम ने नचिकेता को देने का प्रलोभन दिया था और जिनको नचिकेता ने आत्मज्ञान के लिए त्याग कर दिया था— शतायु पुत्र पौत्र, सुसज्जित हाथी-घोड़े, बड़े-बड़े घर, ऐहिक सम्पदा, जीवन, अनन्त धन और धान्य, विस्तृत भूमि भाग, सब प्रकार के और दुर्लभ कामभोग, सुन्दर स्त्रियाँ जिनकी प्राप्ति के लिए सांसारिक और अज्ञानी लोग पाप कर्म करते हैं और संसार समुद्र में गोते खाते रहते हैं।

हे नचिकेता ! तू वह है जिसने सब प्रकार से विचार करते हुए प्रिय और सुन्दर रूप वाले पदार्थों को त्यागा है। तूने इस धन सम्पादन रूपी मार्ग को नहीं अपनाया जिस पर चलने से मनुष्यों का पतन होता है। (कठ २।१)

धन-सम्पत्ति की कामना ही मनुष्य को सत्य के कल्याणकारी मार्ग से हटा कर पाप के मार्ग पर ले जाती है। वास्तव में धन और सम्पत्ति के लालची को सत्य का मार्ग दिखाई ही नहीं देता।

हे पूषन् ! सत्य का द्वार सुवर्ण के ढक्कन से ढका हुआ है, आप इसको मेरे सामने से हटाइए ताकि मैं सत्य और धर्म को देखूँ। (बृ ५।१५।१ ईश १।१५)

इस नश्वर जीवन में जहाँ सदा नहीं रहना है, जहाँ से सब वस्तुओं को छोड़कर ही जाना है, जहाँ भोगों से इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होती है, प्रेय का मार्ग ग्रहण करना तो मूर्खता है। हे यम ! ये जो पदार्थ आप देने को कहते हैं वे कल तक रहने वाले हैं (नश्वर हैं) और अति भोग से इन्द्रियों की शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। जितना भी जीवन हो वह भी थोड़ा ही है। इसलिए ये सवारी और नाच गाने आपको ही मुबारक हों। मनुष्य की तृप्ति धन से नहीं होती (अर्थात् उसको जितना ही धन मिल जाय उसकी लालसा नहीं जाती) आपको देखकर क्या हम धन की प्राप्ति करेंगे? क्या जीयेंगे जब तक आपका साम्राज्य है? सुन्दर और प्रिय वस्तुओं के उपभोगों के ऊपर खूब विचार करके (उनके भयंकर परिणामों को जानकर) लम्बे जीवन से कौन प्रसन्न होगा? (कठ० १।१।२६–२७–२८)।

इसलिए मनुष्य जिस श्रेय मार्ग की जिज्ञासा करता है वह क्या है? बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार वे हैं दम दान और दया। देवताओं को दम का उपदेश इसलिए

दिया कि वे भोग के अधीन हैं। उनको चाहिए कि वे अपने श्रेय के लिए इन्द्रियों और मन को वश में करें। मनुष्यों को दान का उपदेश इसलिए दिया गया कि धन को सर्वस्व समझकर उसके लोभ में आकर वे पाप कर्म न करें और असुरों को दया का उपदेश इसलिए दिया गया कि वे हिंसाप्रधान जीवन व्यतीत करते हैं। काम, लोभ और हिंसा, ये ही हम सबको पतन की ओर ले जाने वाले हैं। इसलिए इनके निषेधात्मक गुणों का, दम-दान-दया का हमको सम्पादन करना चाहिए (बृ० ५-२-१-१)। सोने (धन) का चुराने वाला, मद्यपान करने वाला, गुरुस्त्री से सम्भोग करने वाला, ब्राह्मण को मारने वाला, ये चारों पतन की ओर जाते हैं, और पाँचवा वह जो इनका संग करता है। (छा० ५।१०।९)

श्रेय मार्ग पर चलने वालों को सदा स्वाध्याय करना चाहिए और अतीत विषयों पर परस्पर विचार करना चाहिए तथा नियमपूर्वक रहना चाहिए। सत्य बोलना, सादा और कठिन जीवन बिताना, इन्द्रिय और मन का निग्रह करना, अग्निहोत्र करना, अतिथि सत्कार, मनुष्यों के साथ सद्व्यवहार, अच्छी सन्तानों की उत्पत्ति करना एवं उनका पालन पोषणादि करना चाहिए।

जीवन में किन-किन कामों को करना चाहिए और किन-किन कामों को न करना चाहिए इस विषय में आचार्य अपने स्नातक शिष्यों को, जब कि वे ब्रह्मचर्याश्रम को पूरा करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया करते थे, उपदेश देते थे (तै० ९।१)। सत्य और दान का विशेष महत्त्व समझा जाता था (तै० ११।१।२।३)। छान्दोग्य उपनिषद् में जाबाल के लड़के सत्यकाम का वृत्तान्त यह दिखलाता है कि सत्य बोलने वाले का कितना सम्मान किया जाता था।

"इस प्रकार का सत्य ब्राह्मण के अतिरिक्त कोई नहीं बोल सकता।" सत्य में इतनी शक्ति समझी जाती थी कि सत्यवादी को गरम लोहा भी नहीं जला सकता था (छा० ६।१६।१-२)। असत्य के आचरण वाला समूल नष्ट हो जाता है। (प्र० ६।१)

सत्य की ही सदा विजय होती है और सत्य ही मृत्यु के पश्चात् उत्तम लोकों को ले जाता है। सत्य ही सदा जीतता है झूठ नहीं। सत्य से ही देवयान मार्ग खुला रहता है, जिसके द्वारा आप्तकाम ऋषि लोग वहाँ पहुँचते हैं जहाँ सत्य का बड़ा भण्डार है।

उच्चतम गति (आत्मज्ञान) प्राप्त करने के लिए उपाय उपनिषदों के अनुसार ये हैं—तप, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्य, वचन। (छा० ३-१७-४)

धर्म के तीन स्कन्ध (शाखाएँ)

धर्म के तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। प्रथम दान (गृहस्थों का धर्म), दूसरा तप (वानप्रस्थ) और तीसरा आचार्य के पास ब्रह्मचर्य से रहना

(ब्रह्मचारी का धर्म) है (छा० २-२३-१)। आत्मज्ञानी और ब्रह्मनिष्ठ हो जाने पर व्यक्ति पाप पुण्य और धर्माधर्म के फलों के अधीन नहीं रहता।

जैसे जल में रहते हुए भी कमल के पत्ते को जल भीगा नहीं करता वैसे ही आत्मज्ञानी पापों से लिप्त नहीं होता। अर्थात् उनके बन्धन में नहीं पड़ता (छा० ४।१४।३)। उसके मन में यह पश्चात्ताप नहीं होता कि मैंने क्यों अच्छा काम नहीं किया और क्यों बुरा काम किया। (तै० २।९।)

वर्णाश्रम व्यवस्था कड़ी नहीं थी

उपनिषदों के समय में समाज में वर्ण और आश्रम की व्यवस्था मानी जाती थी पर वह इतनी कड़ी और पक्की नहीं थी जितनी कि पीछे स्मृति-काल में हो गयी थी। सत्यकाम की कथा इस बात की द्योतक है कि उन दिनों में जाति-पाँति का विचार न करके लोग जिज्ञासु और सत्यानुयायियों को ऊँचे से ऊँचे ज्ञान की शिक्षा दे देते थे। ब्राह्मणों में यह अभिमान नहीं था कि वे क्षत्रियों से कैसे ब्रह्मविद्या और आत्मज्ञान प्राप्त करें। बल्कि वे क्षत्रियों से ब्रह्मविद्या प्राप्त करने में कोई लज्जा नहीं मानते थे और क्षत्रिय लोग इतने ब्रह्मज्ञानी होते थे कि वे ब्राह्मणों को आत्मज्ञान का उपदेश दे सकते थे। सनत्कुमार ब्राह्मण नारद को आत्मज्ञान देते हैं। (क्षत्रिय) जनक और अजातशत्रु के यहाँ ब्रह्मज्ञान की चर्चा हुआ करती थी और वे ब्रह्मज्ञानी थे।

ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ और सन्यास सभी आश्रम मान्य थे। गृहस्थों का जीवन भी आध्यात्मिक होता था। सन्यास अवस्था में जाकर लोग आत्मचिन्तन और योगाभ्यास में सारा समय लगाते थे तथा भिक्षावृत्ति से अपना पेट भरते थे।

स्त्रियों को ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने का पूरा अधिकार था

मैत्रेयी और गार्गी की आत्मज्ञान में उतनी ही रुचि थी जितनी याज्ञवल्क्य की। ऐसी स्त्रियाँ बराबर सभाओं और शास्त्रार्थों में भाग लिया करती थी।

उपनिषद् काल में नैतिक विचार नैतिक आदर्श और नैतिक आकांक्षाएँ तत्कालीन ऋषियों की प्रार्थनाओं से भली भाँति व्यक्त होती हैं। यहाँ पर उनमें से कुछ का उदाहरण दिया जाता है।

हे परमात्मा! मेरे सब अंग पुष्ट हों। नाक, आँख कान और त्वचा तथा सारी इन्द्रियाँ बल सब की पुष्टि हो। उपनिषदों में जिसका प्रतिपादन किया गया है वह सब मुझे प्राप्त हो। मैं उस ब्रह्म को न भूलूँ और वह मुझे न भूले। वह ब्रह्म मुझे मत भूले। न भूलना परस्पर हो। न भूलना मेरे लिए हो। उस आत्मा में निमग्न होने के लिए उपनिषदों में जो धर्म-साधन बतलाये गये हैं वे सब मुझमें हों। शान्ति शान्ति-शान्ति हो। (कठोपनिषद् अन्त)

गुरु शिष्य अथवा पति-पत्नी दोनों की सम्मिलित प्रार्थना

हे परमात्मा ! आप हम दोनों की एक साथ रक्षा करें, हम दोनो एक साथ सासारिक सुख भोगें। अथवा, दोनो एक साथ बैठकर भोजन करें। दोनों एक साथ मिलकर प्रयत्न करें और बल सम्पादन करें। हम दोनो का अध्ययन तेजस्वी (ख्याति लाने वाला) हो। आपस में हम एक दूसरे से द्वेष न करें। (कठ०)

वह इन्द्र मुझे बुद्धि से बलवान् बनाए। हे देव ! मैं अमृत (अमरता) का धारण करने वाला होऊँ। मेरा शरीर कार्यकुशल हो। मेरी वाणी बहुत मीठी हो। मै कानों से बहुत सुनूं। तू ब्रह्मविद्या का भण्डार है। मेरे सुने हुए ज्ञान की रक्षा कर। (तै० १-४-१)

अध्याय ७

धर्मसूत्रों की नीति

धर्मसूत्रों का परिचय

वेद के स्वरूप अर्थ और उपदेश को सुरक्षित रखने एवं विचार करने के लिए वैदिक ऋषियों ने जिन छः वेदांगों की रचना की थी उनमें से कल्प एक वेदांग है। वेद में विहित कर्मों की क्रमपूर्वक व्यवस्था करने वाले शास्त्र को कल्प कहते हैं। ये ग्रन्थ सूत्रों में लिखे गये हैं। ये कब लिखे गये होंगे यह निश्चय करना बहुत कठिन है। यही कहा जा सकता है कि इनमें से कुछ सूत्रग्रन्थ पाणिनि से पूर्व के हैं और ५   से २   ई पू के कहे जा सकते हैं। कल्पसूत्र चार प्रकार के हैं—१—श्रौत सूत्र जिनमें ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित यज्ञादि अनुष्ठानों का विधान है। २—गृह्य-सूत्र जिनमें गृहस्थ जीवन में किये जाने वाले संस्कारों का वर्णन है। ३—धर्म-सूत्र जिनमें चारों वर्णों आश्रमों और राजाओं के कर्त्तव्यों तथा धर्मों का वर्णन है। ४—शुल्ब-सूत्र जिसमें यज्ञ के लिए वेदी के निर्माण की रीति का वर्णन है। धर्मसूत्रों में कई ग्रन्थ पाये जाते हैं जिनमें 'बौधायन धर्मसूत्र' और 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' तथा 'गौतम धर्मसूत्र' मुख्य हैं। उनमें से कुछ नैतिक सूत्रों का यहाँ संग्रह किया जाता है।

गौतम सूत्र के नैतिक उपदेश

धर्म का मूल

वेद धर्म के लिए प्रमाणभूत है। (१ प्रश्न। १ अध्याय। १ सूत्र) १-१-१।

वेद धर्म के लिए प्रमाणभूत है। वेद जानने वालों द्वारा प्रणीत स्मृतियाँ (धर्म-शास्त्र) तथा उनके अनुष्ठान भी धर्म के मूल हैं। (१-१-२)

आश्रम धर्म

ब्रह्मचर्य गृहस्थ सन्यास और वानप्रस्थ ये चार आश्रम हैं। (१-३-२)

ब्रह्मचारी के लिए त्याज्य

ब्रह्मचारी मधु, मांस गन्धमाल्य, माला दिन का सोना आँख में अञ्जन लगाना

(यान), जूता, छाता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, व्यर्थ की बकवाद, बाजा बजाना, स्नान करना, दाँत साफ करना, अति प्रसन्न होना, नाच, गीत तथा दूसरे की निन्दा आदि का परित्याग करे (१–२–१७) अश्लील (गाली आदि)। वाणी तथा मादक वस्तु का भी नित्य परित्याग करे (१–२–२५)।

ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य

गुरु से नीचे बिछावन (बिस्तर) वाला, पहले उठने वाला औरबाद में सोने वाला होना चाहिए (१–२–२६)। वाक् का सयम, बाहु का सयम और पेट का सयम (स्वल्प भोजन) रखे। (२७)

विद्यार्थी पर शासन

शिष्य को न पीटने वाला गुरु भर्त्सना (मुख पर निन्दा) आदि के द्वारा शिष्य पर शासन करे (१–२–४८)। यदि वह भर्त्सना से शासित न हो सके तो पतली रस्सी या पतली बाँस की छडी से मारकर शासन करना चाहिए। (१–२–४७)

अन्य किसी वस्तु से मारने वाला आचार्य राजा द्वारा शासित हो

क्रोधवश अन्य किसी चीज़ से मारने वाला आचार्य राजा द्वारा शासित हो।
(१–२–५०)

विद्या प्राप्त करने के पश्चात् गुरु को निमन्त्रित करे

विद्या प्राप्त कर लेने के बाद गु को गुरु दक्षिणा के लिए निमन्त्रित करे।
(१–२–५४)

गृहस्थ के कर्त्तव्य, विवाह-भेद

गृहस्थ अपने वश, कुल, जाति के सदृश, दूसरे को न दी हुई, अवस्था में छोटी स्त्री से विवाह करे। (१–४–१)

ब्राह्म विवाह

जिस विवाह में विद्या, चरित्र, जाति, शील आदि से युक्त वर को वस्त्र और अलकार से सुशोभित कन्या दी जाती है उस विवाह का नाम ब्राह्म विवाह है।

प्राजापत्य विवाह

प्राजापत्य विवाह का लक्ष्य है कि दोनो साथ-साथ धर्माचरण करें अर्थात् प्रत्येक धर्मकार्य में स्त्री साथ रहे। वस्त्र-अलकार आदि ब्राह्म विवाह की भाँति हो।

आर्ष विवाह

आर्ष विवाह में एक जोडी गाय-बैल कन्या वाले को वर वाला दे। (१–४–६)

दैव विवाह

दक्षिणा के समय ऋत्विक्-कर्म करने वाले को कन्या देना दैव विवाह है।

गान्धर्व विवाह—अपनी इच्छा से वर और कन्या जिसमें सम्बन्ध करते हैं वह गान्धर्व विवाह है (१-४-८)। असुर विवाह—कन्या वाले को धन देकर नम्रता से कन्या के साथ विवाह करना आसुर विवाह है (१-४-७)। राक्षस विवाह—बलपूर्वक कन्या वाले को जीत कर कन्या से विवाह करना राक्षस विवाह कहलाता है (१-४-१)। पैशाच विवाह—अज्ञात में (सोते अथवा नशा आदि के समय) रमण करके पत्नी बनाना पैशाच विवाह है। (१-४-११)

इन आठों विवाहों में श्रेष्ठ कौन है

पहले के चार (ब्राह्म प्राजापत्य आर्ष दैव) धर्म से सम्बन्धित हैं। (१-४-१२)

असवर्ण विवाह में सन्तान के वर्ण का निर्णय

यदि उच्च वर्ण अपने से नीच वर्ण की कन्या के साथ विवाह करता है तो सातवीं पुश्त में जाकर सन्तान ब्राह्मण होगी। इस प्रकार ब्राह्मण का लड़का क्षत्रिया से विवाह करता है और उसका लड़का फिर क्षत्रिया से ही विवाह करता है इस प्रकार पाँचवीं पीढ़ी मे होने वाला बालक क्षत्रिय कहलायगा। (१-४-१८)

पंच महायज्ञ

देवता पितर, मनुष्य भूत ऋषि इन पाँचों की पूजा पंच महायज्ञ है। (१-५-१)। पितृयज्ञ—पितरों को प्रति दिन बल तथा उत्साह के अनुसार अन्न फल मूल आदि भी दे। (१-५-५)

क्रोध आदि में कहा गया असत्य पापकर नहीं

क्रुद्ध हर्ष से विह्वल, डरे हुए, रोगी लोभी बाल बूढ़े, मूर्ख पागल और उन्मत्त के कहे हुए असत्य वाक्य पाप नहीं उत्पन्न करते हैं।

गृहस्थ अपने से पूर्व अतिथि आदि को भोजन करावे

गृहस्थ अपने से पहले अतिथि बालक रोगी गर्भवती स्त्री कन्या या बहन वृद्ध तथा नौकर आदि को खिलावे। (१-५-२१)

अतिथि को अपने तुल्य आसन आदि दे—अपने समान या अपने से विद्या, धन आदि म श्रेष्ठ अतिथि को अपने समान बिस्तर और आसान दे तथा उसके जाते समय उसको पहुँचावे और पूजा आदि करे (१-४-१४)। अपने से थोड़े हीन के साथ भी समान वाले के सदृश व्यवहार करे। (१-४-१५)

अतिथि का लक्षण—दूसरे गाँव में रहने वाला एक रात्रि के लिए यदि दोपहर अथवा सन्ध्या समय म आवे तो वह सदा मान्य होता है। (१-५-२१)

असवर्ण ब्राह्मण का अतिथि नहीं होता—क्षत्रिय आदि ब्राह्मण के अतिथि नहीं होते हैं। (१-५-१७)

ग्राम में रहने वाले को प्रणाम निषेध

ऋत्विज आदि से अन्य, अवस्था में छोटे, ग्रामवासी, तथा अस्सी से कम अवस्था के शूद्र को प्रणाम नही करना चाहिए। लडके के समान शूद्र को मानते हुए उठकर स्वागत कर देना चाहिए। (१—६—१०)

अतिथियों में प्रथम मानने के नियम—धन, जाति, कर्म, विद्या अथवा अवस्था के आधार पर अतिथि प्रथम मान्य होता है। सबके समान होने पर जो श्रेष्ठ अथवा अधिक बलवान् हो वह प्रथम मान्य होता है (१—६—१८)। वेद विद्या में निपुण अतिथि सबसे श्रेष्ठ होता है। (१—६—१७)

श्रोत्रिय ब्राह्मण क्यो सबसे श्रेष्ठ होता है—श्रोत्रिय अनुष्ठान का मूल है तथा अनुष्ठान धर्म का मूल है। इसी प्रकार परम्परा की रक्षा करने के कारण श्रोत्रिय वेद का भी मूल है अत वह श्रेष्ठ है। (१—६—२०)

वैखानस (वानप्रस्थ) का कर्तव्य

वानप्रस्थ को फल-मूल खाकर वन में रहना तथा तप करना चाहिए (१—३—२५)। गाँव के फल-मूल भी नही खाना चाहिए (१—३—२७)। देवता, पितृ, मनुष्य, भूत (समस्त प्राणी), ऋषि आदि का पूजक होना चाहिए (१—३—२८)। जो उसके पास आयें वे सभी उसके अतिथि हैं। किन्तु पतित आदि, प्रतिषिद्ध अतिथि नही होते। वह सिंह आदि के मारे हुए मास भी खा सकता है (१—३—३०)। ग्राम में प्रवेश न करे (१—३—३२)। एक वर्ष से अधिक व्यतीत हुई जगली वस्तु को भी न खाई।

सन्यासी का कर्तव्य

सन्यासी को धन आदि के सचय से हीन होना चाहिए (१—३—१०)। जिसमे वीर्य का स्खलन न हो वैसा प्रयत्न करना चाहिए (३—११)। वर्षा काल में एक स्थान पर रहना चाहिए (१—३—१२)। केवल भिक्षा के लिए ही गाँव में जाय (१—३—१३)। जिस घर से अधिक भिक्षा मिले उसको आशीर्वाद न देने लगे (१—३—१५)। वाणी, नेत्र तथा कर्म में सयम रखे (अर्थात् मौन रहे)। मार्ग से अतिरिक्त वस्तुओं को न देखे तथा भिक्षा आदि विहित कर्मों से अतिरिक्त कर्म न करे (१—३—१६)। गुप्त स्थानों को ढकने मात्र के लिए वस्त्र पहने (१—३—१७)। वर्षा ऋतु को छोडकर अन्य किसी ऋतु में ग्राम में रात्रि में न रहे (१—३—२०)। हिंसा करने वाले तथा कृपा करने वाले सभी जीवों पर समान दृष्टि रखे (१—३—२३)। ऐहिक या पारलौकिक कोई कर्म प्रारम्भ न करे। (१।३।२४)

वर्ण-धर्म

द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) लोगो का कर्त्तव्य अध्ययन, यज्ञ करना और

दान लेना है। (२-१-१)

ब्राह्मण का विशेष कर्तव्य

सामान्य द्विजाति से ब्राह्मण का अधिक कर्तव्य अध्यापन यज्ञ कराना और दान लेना (प्रतिग्रह) है (२-१-२)। ब्राह्मण कृषि और व्यापार दूसरे से करा सकता है—कृषि और वाणिज्य भी ब्राह्मण दूसरे से करा सकता है (२-१-५)। सूद पर दूसरे के द्वारा रुपया भी दिलवा सकता है—ब्राह्मण दूसरों के द्वारा सूद पर रुपये का व्यवहार भी करा सकता है। (२-१-६)

शूद्र चौथा वर्ण है

शूद्र चतुर्थ वर्ण है जो संस्कारादि कर्मों में द्विजाति से भिन्न है (२-१-५१)। यद्यपि शूद्र के उपनयन आदि संस्कार नहीं होते हैं (२-१-५२) तथापि सत्य, अक्रोध और पवित्रता (शौच) उसके धर्म हैं जो पालन करने के योग्य हैं उनका पालन करना चाहिए। (२-१-५५)

अपनी स्त्री के साथ ही (काम) व्यवहार रखे (२-१-५६)। अन्य वर्णों की परिचर्या करे (२-१-५७)। अन्य वर्ण भी अपने से उच्च वर्ण की सेवा करें। चारों वर्ण अपने से उच्च-उच्च वर्ण की सेवा करें (२-१-५९)। पुरानी वस्तुएँ शूद्र को देनी चाहिए—पुराना जूता छत्र कपड़ा चर्म आदि शूद्र को दे (२-१-६)। उच्छिष्ट भोजन—जो भोजन के उपरान्त पात्र में अवशेष बचता है वह शूद्र को दें। वही उसका भोजन है (२-१-६१)। शिल्पकारी आदि कर्म से भी वह अपनी जीविका चलाये (२-१-६१)। सेवा केवल शूद्र का ही धर्म नहीं—सभी वैश्यादि वर्ण अपने-अपने से ऊपर-ऊपर के वर्ण की परिचर्या करें केवल शूद्र की परिचर्या न करें। (२-१-६८)।

विद्या किससे प्राप्त की जाय

यों तो सामान्यतः ब्राह्मण से ही विद्या प्राप्त करनी चाहिए किन्तु आपत् काल में ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी से भी विद्या प्राप्त की जा सकती है। ब्राह्मण से विद्या प्राप्त करनी चाहिए, किन्तु ब्राह्मण के न मिलने पर क्षत्रियादि से भी विद्या प्राप्त की जा सकती है। (१-७-१)

ब्राह्मण का धर्म आपत्काल में कोई भी कर सकता है

यज्ञ कराना पढ़ाना तथा दान लेना आदि ब्राह्मण के कर्म आपत्काल में सबके लिए विहित हैं (१-७-४)। आपत्काल में दान लेकर जीवन निर्वाह करे, उसके असम्भव होने पर अध्यापन तथा उसके असम्भव होने पर यज्ञादि कराकर जीवन निर्वाह करे, उनमें उत्तर-उत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व श्रेष्ठ होता है।

ब्राह्मण-वृत्ति के अभाव में क्षत्रियादि वृत्ति से निर्वाह

ब्राह्मण अपनी वृत्ति के अभाव म क्षत्रिय-वृत्ति से निर्वाह करे (१–७–६)। क्षत्रिय वृत्ति के न मिलने पर वैश्य-वृत्ति से जीवन निर्वाह करे (१–७–७)। जब निर्दिष्ट वृत्तियो से जीवन निर्वाह न हो तो किसी भी वृत्ति से जीवन निर्वाह करना चाहिए, किन्तु शूद्र का कर्म नही करना चाहिए। (१–७–२२)

आपत्कालीन वृत्ति को सदा के लिए अपना लेने पर कौन निवारण करे ?

यदि आपत्काल के लिए निर्दिष्ट वत्तियो को उस काल के लिए अपना लेने के बाद कोई न छोडे तो उसे छुड़ाने वाला कौन होगा ? लोक मे इस काम को करने वाले व्रतवारी दो ही हैं, एक राजा, दूसरा वहुश्रुत ब्राह्मण। ये दण्ड और उपदेश द्वारा उसका निवारण करें (१–८–१)। सन्तान वृद्धि, पालन, असकरता, धर्म आदि सभी ब्राह्मण और राजा के अधीन है (१–८–३)। **बहुश्रुत का लक्षण।** वही बहुश्रुत होता है (१–८–५४) जो लोक-व्यवहार, चारो वेदो तथा छहो वेदांगो को जानता है।

इस प्रकार का ब्राह्मण वधादि दण्डो से मुक्त होता है

ऐसा ब्राह्मण अवध्य (मारने के अयोग्य), अबन्ध्य (बांधने के अयोग्य), अदण्ड्य (दण्ड देने के अयोग्य), अवहिष्कार्य (देश निकालने के अयोग्य) अपरिवाद्य (निन्दा के अयोग्य) और अपरिहार्य (त्यागने के अयोग्य) होता है। (१–८–१३)

स्वधर्म पालन से सज्जन्म

वर्ण और आश्रम में रहने वाले अपने-अपने धर्मो का अनुष्ठान करके मरने पर अपने कर्म का फल भोग लेने के उपरान्त अवशेष कर्म से विशिष्ट देश, विशिष्ट जाति, रूप, कुल, आयु, विद्या, कला, धन, सुख और प्रतिभा प्राप्त करते हैं। (२–२–२७)

आत्मा के अष्ट गुण (धर्म)

अब आत्मा के आठ गुणो (धर्मो) को बतलाते हैं (१–८–२३)। सभी जीवो पर दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास,(जिसमें अत्यन्त पीडा न हो), अदीनता तथा अस्पृहा ये आठ गुण हैं। (१–२४)

जिस ब्राह्मण में ये आठ गुण नहीं हैं वह कदापि मुक्त नहीं होगा

जिस ब्राह्मण के चालीस सस्कार तो हुए हो किन्तु उसमे ये आठ गुण न हो ऐसा ब्राह्मण न सायुज्य और न सालोक्य, कोई मुक्ति नही पाता है (१–७–२५)।

जिस ब्राह्मण के सस्कारो का एक अश ही हुआ हो और अष्ट गुण हों तो वह मुक्त हो जाता है—जिस ब्राह्मण को सस्कार तो थोडे ही हुए हैं किन्तु ये आत्मा के आठ गुण उसमें विद्यमान हैं, वह ब्राह्मण सायुज्य और सालोक्य कोई भी मुक्ति पा लेता है।

मिथिद्ध कर्म

किसी स्त्री को नंगी न देखे (१-७-४८)। बिना जरूरत हाथ पैर, वाणी और नेत्र आदि को चञ्चल न बनाये (१-७-५)। रात्रि में नंगा न सोना— रात्रि में कभी नंगा न सोये (१-७-६)। नंगा स्नान करने का निषेध—कभी नंगा स्नान न करे (१-७-११)। बड़ों की आज्ञा मानना—जो अपने से वृद्ध सभी प्रकार से विनम्र दम्भ लोभ मोह आदि से रहित वेद को जानने वाले वहीं उसे करना चाहिए। (१-७-१२)

ईश्वर-आराधना

अप्राप्त की प्राप्ति (योग) प्राप्त के परिरक्षण (क्षेम) के लिए ईश्वर की आराधना करनी चाहिए। (१-७-६१)

सदा सत्यवादी होना चाहिए

सदा सत्य का प्रयोग करे (१-७-६८)। सदा अहिंसक, कोमल स्वभाव दृढ सत्यनिष्ठ इन्द्रिय-संयमशील तथा दानशील होना चाहिए। (१-७-७१)

राजा का कर्तव्य

राजा ब्राह्मण को छोड़कर अन्य सभी के निग्रह और अनुग्रह में रहता है (२-२-१)। राजा श्रोत्रिय ब्राह्मण को मार्ग प्रदान करे। (१-६-२२)

उसको शास्त्र के विरुद्ध आचरण करने वाला नहीं होना चाहिए तथा समय पर पक्षपात-रहित प्रिय बोलने वाला होना चाहिए (२-२-२)। प्रजा पर समता की वृत्ति— व्यवहार के समय वह प्रजा में द्वेषी या प्रिय सभी के साथ समान बर्ताव करे। (२-२-५)

ब्राह्मणादि निर्णायकों के साथ निर्णय करने वाला राजा सिद्धि प्राप्त करता है

तीनों वेदों का ज्ञाता ब्राह्मण क्षत्रिय राजा के साथ युक्त होकर देवता पितर और मनुष्यों का धारण करता है ऐसा माना जाता है।

राजा दण्ड से दुष्टों का दमन करे

दमन करने के कारण दण्ड की दण्ड संज्ञा है अतः दण्ड के द्वारा उद्दण्डों का दमन करे।

दण्ड विधान

आर्य स्त्री से प्रसंग करने पर शूद्र को दण्ड

द्विजाति की स्त्री के साथ प्रसंग करने वाले शूद्र का लिंग उखाड़ लेना तथा उसकी सम्पत्ति लेनी चाहिए। (२-१-२)

वेद सुनने पर शूद्र के लिए दण्ड विधान

शूद्र यदि ध्यानपूर्वक वेद मन्त्र को सुन ले तो रांगा या लाख पिघलाकर उसके

कान में भर देना चाहिए। यदि उच्चारण करे तो उसकी जीभ छेद देनी चाहिए। यदि वेद धारण कर लिया हो तो उसका शरीर काट डालना चाहिए। (२–३–४)

आसन आदि में समता की इच्छा करने वाला शूद्र दण्ड्य है

जो शूद्र आसन, विस्तर, वाणी और मार्ग में द्विजाति के साथ समता करने की इच्छा रखता हो तो उसे दण्ड देना चाहिए। (२–३–५)।

ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिए

अपने से उपस्थित ब्राह्मण को भी शरीर का दण्ड नही देना चाहिए। (२–३–४३)

झूठी गवाही देने वाले को दण्ड

झूठ गवाही देने वाला सबके द्वारा निन्द्य तथा राजा के द्वारा दण्ड का पात्र होता है। (२–४–२३)

झूठ बोलने से यदि किसी के प्राण की रक्षा होती हो तो उस में दोष नहीं

यदि झूठ वोले विना किसी का जीवन न वचता हो तो झठ वोलने में कोई दोप नही। (२–४–२४)

किन्तु पापी का जीवन नहीं वचाना चाहिए

झूठ वोलकर पापी का जीवन वचाने पर झूठ का पाप अवश्य लगता है। (२–४–२५)

प्राड्विवाक (न्यायाधीश) के सामने सत्य वोलना

प्राड्विवाक के ममक्ष सत्य वोलना सवसे महान् धर्म है। (२–४–३१)

स्त्री-धर्म

स्त्री श्रौत तथा ग्रार्हस्थ धर्मो में पति के अधीन रहती है। इनका स्वतत्र अनुष्ठान नही कर सकती है। (२–८–१)

पति के अतिरिक्त अन्य से रमण न करे

पति को छोडकर अन्य पुरुष का मन से भी चिन्तन न करे। (१–७–२)

वाणी आदि को सयत रखे

निष्प्रयोजन न वोलना (वाक्सयम), इधर उधर, प्रेक्षको को न देखना (चक्षु-सयम), अकम को न करना (कर्म-सयम) कहलाता है। स्त्री को इन तीनो सयमो से युक्त रहना चाहिए। (१–७–३)

पति के मरने पर सन्तान की इच्छा से देवर से सम्बन्ध

सन्तान के विना पति के देहान्त होने पर मन्तान की कामना वाली स्त्री देवर से सम्वन्ध कर सकती है। (१–७–४)

देवर के अभाव में सपिण्ड आदि से सम्बन्ध

देवर के अभाव में सपिण्ड, सगोत्र समान-प्रवर आदि से सम्बन्ध कर सकती है। इन सबके अभाव में योनिमात्र (ब्राह्मण जातिमात्र) से सन्तान की कामना से सम्बन्ध कर सकती है। (१-७-५)

किसी-किसी आचार्य का मत है कि देवर के अतिरिक्त अन्य से सम्बन्ध न करे

कोई-कोई आचार्य देवर से अतिरिक्त गमन का निषेध करते हैं। (१-७-७)

इस प्रकार केवल एक सन्तान उत्पन्न करे

प्रथम अपत्य का अतिक्रमण कर द्वितीय सन्तान की कामना न करे। (१-७-८)

नियोग से उत्पादित सन्तान किसकी है

ऐसी सन्तति जनक की हो। (१-७-७)

यदि प्रथम प्रतिज्ञा करायी जाय तो बीज वाले की भी सन्तति हो सकती है

यदि बन्धु आदि निश्चय करके नियोग करायें तो दोनों की सन्तान हो सकती है। (१-७-९)

पिता के विवाह न करने पर कन्या स्वयं विवाह कर सकती है

यदि पिता कन्या को नहीं देता तो तीन बार स्त्री-धर्म होने के उपरान्त कन्या पिता के अलंकारादि का परित्याग कर कुल, विद्या, शील आदि से युक्त (अनिन्दित) पति से अपना सम्बन्ध स्वयं कर ले। (२-७-२)

ऋतु के पूर्व ही कन्या-दान

स्त्री-धर्म होने के पूर्व ही कन्या का दान कर देना चाहिए। (२-८-२१)

ऋतु के पूर्व दान न करने वाला दोषी होता है

ऋतु काल के पूर्व कन्यादान न करने वाला दोषी होता है। (२।७।२२)

किसी-किसी आचार्य का मत है कि वस्त्र पहनने के पूर्व ही कन्यादान करना चाहिए

कुछ आचार्य मानते हैं कि जब कन्या समय आने पर वस्त्र पहनने लगे अथवा लज्जा करे इसके पूर्व ही उसका दान आवश्यक है। (२-७-२१)

पतित कौन

ब्राह्मण की हत्या करने वाला, मदिरा पीने वाला गुरु-स्त्री के साथ गमन करने वाला, माता पिता से यौनि-सम्बन्ध वाली (भगिनी आदि) कन्याओं के साथ विवाह करने वाला, चोर, नास्तिक निन्दित कर्माभ्यासी (कुकर्मों का अभ्यास करने वाला) पतित को नहीं त्यागने वाला, अपतित का परित्याग करने वाला आदि पतित कहे जाते हैं। (१-२-१)

द्विजो की पतितता क्या है

द्विजातियो के जो श्रौत, स्मार्त कर्म वतलाये गये हैं उन कर्मो में इनका अनधिकार होना ही पतितत्व है। (३–२–४) जो परलोक-जनक ये कर्म किये रहते हैं वे भी कम परलोक-साधन नही होते। (३–२–५)

स्त्रियों के पतन के कारण

गर्भ की हत्या तथा अपने से हीन वर्ण की सेवा करने से स्त्री पतित हो जाती है। (३–२–७)

माता-पिता की सेवा का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए

किमी भी अवस्था में माता-पिता की शुश्रूषा नही छोड़नी चाहिए। (३–२–१५)

प्रायश्चित्त विधान

गुरु की पत्नी के साथ गमन करने वाला जलते हुए लोहे के विस्तर पर शयन करे। (३–५–८) जलती हुई लोहे की स्त्री का आलिंगन करे। (३–५–७) लिंग को वीज (अण्डकोप) समेत काटकर अजलि में लेकर मरण पर्यन्त दक्षिण दिशा की ओर अकपट बनकर जाये। सखी (मित्र और स्त्री) के साथ, सयोनि (वहन आदि) के साथ, मगोत्रा (एक गोत्र में उत्पन्न वालिका के साथ), शिष्य की पत्नी, पुत्र की पुत्री तथा गाय के साथ मैथुन करने वाले के लिए गुरु-तल्पगामी के समान ही प्रायश्चित्त का विवान है। (३–५–१२)

हीन वर्ण से रमण करने वाली स्त्री को दण्ड

अपने से नीच वर्ण से सम्पर्क करने वाली स्त्री को राजा सवके समक्ष कुत्तो से खिलवा दे। (८–५–१४) **उच्च स्त्री के साथ रमण करने वाले पुरुष का वध**— अपने से उच्च वर्ण की स्त्री के साथ रमण करने वाले पुरुष को राजा प्राण-दण्ड दे। (३–५–१५)

विवाहादि में असत्य का दोष नहीं लगता

विवाह, मैथुन, परिहास, किमी आर्त्त के दुःख निवारण आदि में असत्य बोलने का पाप नही लगता। अत इसके लिए प्रायश्चित्त का विवान नही है। (३–५–२७)

महान् प्रयोजन के लिए विवाह आदि में असत्य का दोष

विवाह आदि में किमी महान् प्रयोजन से झूठ नही वोलना चाहिए।) (३–५–३०)

गुरु से असत्य बोलने का पाप

जो छोटी वातों के लिए भी गुरु से असत्य वोलता है उसकी सात पुश्त आगे और सात पुश्त पीछे पाप से पीडित होती हैं। (३–५–३१)

अज्ञात कार्य को दस प्रवरों की राय से करना चाहिए

जो सम्यक ज्ञात नहीं है ऐसे काम को मध्य, अलोभी तर्क जानने वाले दस प्रवरों की प्रशंसा पर करना चाहिए। (१-१०-४६)

दस प्रवर कौन हैं

चार, चारों वेदों में पारंगत तीन आश्रमी (ब्रह्मचारी गृहस्थ और भिक्षु) विभिन्न धर्मशास्त्रों को जानने वाले तीन य ही दस प्रवर कहे जाते हैं। इन्ही की सभा में अज्ञात कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय कराना चाहिए। (१-१०-४७) उन दस प्रवरों के न मिलने पर एक भी शिष्ट, साम वेद का अध्ययन करने वाला तथा जानने वाला, सन्देह के विषयभूत पदार्थ के लिए जो निर्णय दे उसे उचित मानना चाहिए। (१-१०-४८) क्योंकि जीवों की हिंसा पाप तथा प्रायश्चित्त आदि के विषय में वह केवल शास्त्रानुसार निर्णय करता है, अपनी ओर से कुछ नहीं कहता। अत उसका वचन प्रामाणिक मान कर धर्म करना चाहिए। (१-१०-४७)

भक्ष्य

प्रतुद (चोंच से तोड़-तोड़ कर खाने वाले बाज) विष्किर (पैर से खोद-खोद कर खाने वाले) चोंच जालपाद (जाल के आकार के पैर वाले) ये सभी भक्ष्य हैं। (२-७-१५) अविकृत मछलियाँ भक्ष्य हैं (विकृत का तात्पर्य है मनुष्य के सिर के मांस को खाने वाली)। (२-८-१६)

भक्ष्य जीवों का वध करना

अतिथि की पूजा आदि के लिए भक्ष्य जीवो का वध करना चाहिए। (२-८-१७)

धर्मसूत्रों की नीति—२

आपस्तम्ब धर्मसूत्र की नैतिक शिक्षा

आपस्तम्ब धर्मसूत्र भी गौतम धर्मसूत्र की तरह प्राचीन काल से आज तक धर्म के विषय में प्रमाण माना जाता है। आपस्तम्ब के विचार भी गौतम के विचारो जैसे ही हैं। इसलिए कुछ बातो की पुनरुक्ति होना अनिवार्य है। आपस्तम्ब धर्म-सूत्र का रचनाकाल ६ ई पूर्व से ३ ई पू ही सकता है।

प्रमाण

धर्म और अधर्म के लिए धर्मज्ञो के वचन प्रमाण होते हैं। (१ प्रश्न १ पटल १ कण्डिका १ सूत्र)

वेद भी

धर्म और अधर्म को जानने के लिए वेद भी प्रमाण हैं। (१-१-१-१)

चार वर्ण

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये चार वर्ण हैं। इनमें बाद वालों की अपेक्षा पहले वाले जन्म से श्रेष्ठ हैं। अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, की अपेक्षा ब्राह्मण, अन्तिम दो की अपेक्षा प्रथम दो ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र की अपेक्षा तीनों, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, जन्म से श्रेष्ठ हैं। (१–१–१–४, १–१–१–५)

सब शास्त्रों में ब्राह्मण को ही आचार्य माना गया है। (२–४–२–५)

आपत्काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से भी अध्ययन किया जा सकता है।

(२–४–२–६)

ब्राह्मणादि तीन वर्णों का कर्तव्य

अदुष्ट कर्म करने वाले, शूद्र से भिन्न ब्राह्मण आदि तीन वर्णों का कर्तव्य यज्ञोपवीत संस्कार, वेद का अध्ययन, अग्नि का आधान तथा अग्निहोत्र आदि करना है।

(१–१–१–६)

शूद्र का कर्तव्य

अन्य तीनों वर्णों की शुश्रूषा (सेवा) शूद्र का कर्त्तव्य है। (१–१–१–७)

स्वकर्मानुष्ठान में सुख

सभी वर्णों को अपने धर्म को सम्यक् अनुष्ठान करने से अति उत्कृष्ट तथा अपरिमित सुख मिलता है। (२–१–२–२) इसके बाद स्वर्ग से लौटने पर अवशेष धर्म के फल के अनुसार वह जाति, वर्ण, रूप, बल, मेधा, प्रज्ञा, द्रव्य, धर्माचरण आदि प्राप्त करता है। इस प्रकार दोनों लोकों में चक्र की भाँति सुख ही है।

शूद्र के लिए अन्न-संस्कार

तीनों वर्णों में किसी को मुख्य बनाकर शूद्र अन्न-संस्कार कराये। (२–२–३–२)

शूद्र द्वारा अकेले किये हुए अन्न संस्कार का नियम

यदि शूद्र ब्राह्मण आदि से अधिष्ठित हुए बिना अकेले अन्न संस्कार कर लेता है। तो उस अन्न को अग्नि में रखे, अग्नि में रखने के बाद जल से प्रोक्षण (धोये) करे। वह अन्न देवताओं को भी पवित्र है ऐसा कहा गया है। (२–२–३–७)

याचक को गुणानुसार यथाशक्ति दान देना

याचक के गुण को विचार कर यथाशक्ति दान देना चाहिए।

(२–५–१०–२)

इन्द्रिय-सुख के लिए माँगने वालों को दान नहीं देना चाहिए

इन्द्रियों की प्रसन्नता के लिए भिक्षा माँगना दान का निमित्त नहीं है।

(२–५–१०–३)

ब्राह्मण के कर्म

ब्राह्मण के अध्ययन अध्यापन यज्ञ करना यज्ञ कराना दान देना दान लेना दाय (हिस्सा लेना) शिल और उञ्छ आदि अपने कर्म हैं। (–१०–५) दूसरे से कुछ न लेकर (वन से फल मूलादि लेकर) जीवन निर्वाह करना भी ब्राह्मण का कर्म है। (–१०–६)

क्षत्रिय के कर्म

अध्यापन (पढाना) यज्ञ कराना तथा दान लेना छोडकर, शस्त्र और युद्ध को सम्मिलित करके ब्राह्मण के लिए कहे गये कर्म क्षत्रिय के भी अपने कर्म हैं।

निरस्त्रादि को मारना निन्द्य है

हथियार त्यागे हुए, छूटे हुए केशों को समेटने म असमर्थ तथा हाथ जोड़कर सम्मुख झुके हुए का मारने की श्रेष्ठ जन निन्दा करते हैं। (५–१०–१२)

पथ देने का नियम

भारी के लिए, बोझ से दबे हुए के लिए, रोगी तथा स्त्री के लिए सभी को मार्ग छोड देना चाहिए। (१०–११–७) उच्च वर्णों के लिए नीच वर्ण वालों को पथ छोड देना चाहिए। (१०–११–८) मूर्ख पतित पापक और उन्मत्त से अपनी रक्षा के लिए मार्ग छोड देना चाहिए, पुण्यादि की कांक्षा से नहीं।

चार आश्रम

ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ तथा सन्यास ये चार आश्रम हैं। (९–२१–१) इन आश्रमों का विधिवत् पालन करने वाला कल्याण पाता है

इन चारों आश्रमों म नियमानुसार, सावधान-चित्त होकर रहने वाला कल्याण (मोक्ष) प्राप्त करता है। (२१–२) ब्रह्मचारी के कर्म—आचार्य के अधीन रहे (भिक्षु) हिंसादि (पाप करने वाले कर्मों को) आचार्य की आज्ञा से भी न करे।(१–१–२–१७) पानी से बिना प्रत्युत्तर दिये गुरु का हित करे। (१–१–२–२) नीचे आसन पर शयन करे। (–१२१) श्राद्ध अथवा देवता के लिए उचित वस्तु को न खाये (–१२२) इसी प्रकार क्षार, लवण (नमक) मधु और मांस न खाये। (–१२३) दिन में न सोवे (–१२४)। चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों का सेवन न करे (–१२५)। किसी प्रकार के मैथुन सम्बन्धी कर्म न करे (–१२६)। शोभ (शोभा) से रहित रहे (–१२७)। ब्राह्मण की मेखला (करधनी) मूञ की हो और तीन मुनी वाली हो। (–१३३) क्षत्रिय की मेखला तांत की हो। (१–१–२–१४) वैश्य की मेखला ऊन की हो (१–१–२–१५)। दण्ड में वर्ण-भेद का प्रदर्शन—ब्राह्मण का दण्ड पलाश के वृक्ष की शाखा का हो। क्षत्रिय का दण्ड वट वृक्ष के स्कन्ध का नाचे झुका हुआ हो। वैश्य का दण्ड बेर वृक्ष या गूलर वृक्ष

की शाखा का हो। (१–२–३६) ऊपर मृगचर्म का उत्तरीय वस्त्र धारण करे (१ प्रश्न१ पटल ३ कुण्डिका १० सूत्र) नाच न देखे। (१–१–३–११) जुआ आदि होने वाली सभाओं तथा उत्सव आदि की सभाओं में न जाय। (–।३–१२) लोकापवाद करने वाला न वने। (३–१३) एकान्तवासी रहे। (३–१४) स्त्रियों के साथ आवश्यकतानुसार वातचीत करे। (३–१६) क्षमावान् रहे। (३–१७) इन्द्रियों को अकर्म मे रोक कर शान्त रहे। (३–१८) विहित कर्मों में ग्लानि न करता हुआ उनको करे, (३–१८) लज्जाशील वने। (३–२०) दृढ धैर्य वाला हो। किसी वस्तु के मिलने, नष्ट होने और मरने पर धैर्य न खोये। (३–२१) उत्साह-सम्पन्न हो। (३–२२) किसी पर क्रोध न करे। (३–२३) दूसरे की उन्नति से ईर्ष्या न करे। (३–२४) अपपात्र (रजकादि) तथा अभिशस्त वर्ग के लोगों को छोडकर भिक्षा मांगे और जो कुछ (लाभ) भिक्षा में प्राप्त हो, उस सब को गुरु को निवेदित करे। इस प्रकार प्रति दिन साय-प्रात भिक्षा मांगे। (१–१–३–२५) गुरु की आज्ञा लेकर उस भिक्षान्न का भोजन करे। (१–१–३–३२) भोजन करने के वाद उस भोजनपात्र को स्वय धोये। (१–१–३–३६) सुवह शाम (गुरु के स्नान के लिए) घडो में जल लाये। (१–१–४–१३) प्रति दिन जगल से ईंधन लाकर (गुरु के घर में) नीचे रखे। (१–१–४–१३) अग्नि में हवन करके उपदेशानुसार प्रति दिन साय प्रात चारो ओर से मार्जन करके ईंधन को रखे। (१६) गुरु को प्रसन्न करने वाले स्वस्तिवाचन, अध्ययन, पठित वेद का अभ्यास आदि समस्त कर्मों को करे। (१–२–५–७) इनसे अतिरिक्त कर्मों को ब्रह्मचारी न करे। (१–२–५–१०) नगी स्त्री को न देखे। (१–२–७–३) जूता, छाता, गाडी (रथादि) को व्यवहार मे न लाये। (१–२–७–५) स्त्री को मुख से न सूंघे। (१–२–७–८) हृदय से स्त्री की याचना न करे। (१–२–७–८) विना कारण स्त्री का स्पर्श न करे। (१–२–७–१०) अपनी प्रशसा तथा दूसरे की निन्दा नही करनी चाहिए। (–७–२४) पाँव का स्पर्श तथा जूठा भोजन इन दो कामों को छोडकर अन्य सभी कामों में आचार्य की पत्नी के साथ आचार्य के समान व्यवहार करे। माता, पिता, आचार्य और अग्नि के पास तथा घर को खाली हाथ न जाय।

गुरु का कर्तव्य

अपने पुत्र की भाँति शिष्य की उन्नति की कामना करता हुआ समस्त धर्मों में विना किसी वस्तु को छिपाये सम्यक् प्रकार से सावधान होकर विद्या पढाये। (१–२–८ २५) यदि कोई आपत्ति न हो तो अपने कार्य के लिए शिष्य के अध्ययन में विघ्न न डाले। (१–२–८–२६) अपराध करने पर सदा उसे डाटना फटकारना चाहिए। (१–२–८–२७) ब्रह्मचर्य काल समाप्त कर लौटते समय 'तुम अन्य धर्मों में लीन हो',

ऐसा कह कर उसे विदा करे। (१-२-८-११)

विद्यार्थी का सामान्य कर्तव्य

दिन में द्वार बन्द कर न पढ़े। (१-३-११-१५) प्रातःकाल बिना भोजन किये पानी के समीप जाकर पवित्र स्थान में बैठकर यत्नपूर्वक पूर्व कहे हुए पाठों को दोहराकर अध्ययन करे। (१-११-२७) अपने से उच्च वर्णों की पूजा करे। (१-३-१४-२) अपने सजातीय और अपने से वृद्ध लोगों की भी पूजा करे। (-१४-३) हर्ष का तिरस्कार करना चाहिए—अति प्रसन्न होने से घमण्ड होता है और घमण्डी धर्म का तिरस्कार करता है तथा धर्म के तिरस्कार करने पर नरक होता है। माता-पिता की सेवा भी आचार्य की ही भाँति करनी चाहिए। (१-४-१४-५)

हीन वर्णों को अधिक वय के कारण प्रणाम निषेध

दस वर्ष का ब्राह्मण और सौ वर्ष का क्षत्रिय हो तो उनको पिता-पुत्र की भाँति समझना चाहिए। दोनों में ब्राह्मण पिता होता है और क्षत्रिय पुत्र।

भोजन का नियम

बाजार से खरीद कर सिद्धान्न (बनाया हुआ अन्न) न खाय। (१-५-१७-१४) पहले दिन का पकाया हुआ बासी अन्न नहीं खाना चाहिए तथा बासी पेय (पीने योग्य वस्तु) नहीं पीना चाहिए। (५-१७-१७) जला और कच्चा [illegible], न भी हो तो नहीं खाना चाहिए। (१७-१८)

निम्नलिखित वस्तुओं को खरीद कर तथा बासी हो जाने पर भी खाने में कोई दोष नहीं है —

ईख का रस भुना हुआ चावल धान की खील, भुना हुआ जौ, सत्तू, शाक (तरकारी आदि) मांस पिसा हुआ सामान और दूध आदि। (१७-१७) मादक वस्तुएँ, समस्त अपेय (पीने के अयोग्य) हैं। (१७-२१) इसी प्रकार भेड़ का दूध भी अपेय है। (१७-२२) कवाक द्विजातियों को नहीं खाना चाहिए। (१७-२८) एक खुर वाले (घोड़ादि) ऊँट, गवय (नील गाय) गाँव का सूअर, शरभ (आठ पाँव वाला मृग) इनका मांस नहीं खाना चाहिए। (२८) (गाय और बैल का मांस भक्ष्य है।)

धर्म

लौकिक अर्थ (नाम लोभ [illegible]) को मन में उद्देश्य रखकर धर्म नहीं करना चाहिए। (१-७-२०-१) क्योंकि लौकिक अर्थ के उद्देश्य से किया हुआ धर्म फल-काल में निष्फल हो जाता है। (७-२०-२) कुहक (एकान्त में स्वेच्छा से आचरण करने वाला) शठ (वक्र चित्तवाला) नास्तिक तथा बालक (वेद-रहित)

इनके वचनों में द्वेष भी न करे तथा इनके द्वारा झूठा फल बताने पर उससे वंचित भी न हो। (७-२०-५) जिसके किये जाने पर श्रेष्ठ लोग उसकी प्रशंसा करते हैं वह धर्म है और जिसकी निन्दा करते हैं वह अधर्म है। (७-२०-७) सम्यक् नम्र, वृद्ध, जितेन्द्रिय, अलोलुप (लोभ नहीं करने वाले), अदाम्भिक (मिथ्या अभिमान नहीं करने वाले) श्रेष्ठ पुरुषों को सब देश में एक रूप से स्वीकृत और किये हुए कर्म के समान कर्म करना चाहिए। इस प्रकार (आचरण करता हुआ) दोनों लोकों को जीत लेता है। (७-२०-८)

पाप कर्म का फल

चोरी करने वाले तथा ब्रह्महत्या करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य परलोक में अपार नरक भोग कर ब्राह्मण चाण्डाल, क्षत्रिय पौल्कस (शूद्र पिता तथा क्षत्रिय माता से उत्पन्न) तथा वैश्य वैण (नर्तक) वंश में उत्पन्न होते हैं। (२-१-२६) **अग्नि के सन्मुख बोलने आदि का निषेध**—अग्नि के समक्ष (नमस्कार करने वाला) शब्दोच्चारण, कण्ठ के घुरघुराहट का शब्द तथा क्षुत (थूकना) त्याग दे। (२-२-३-२) **केशादि का स्पर्श कर जल स्पर्श करे**—बाल, निम्न अंग में रहने वाले वस्त्र आदि का स्पर्श करने के बाद जल का स्पर्श करे। (२-२-३-३) **स्वकर्म के अनुष्ठान से उच्च कुल में जन्म**—अपने धर्म के अनुष्ठान से नीच वर्ग (शूद्रादि) दूसरे जन्म में अपने से पूर्व (वैश्यादि) वर्ण प्राप्त करता है। (११-१०)

अधर्माचरण से नीच कुल में जन्म

अधर्म (अर्थात् अपने धर्म के विपरीत) आचरण करने से उच्च वर्ण (ब्राह्मणादि) अपने से नीच (क्षत्रियादि) वर्ण में जन्म लेता है। (१०-११)

पुत्रवती स्त्री के रहने पर दूसरे विवाह का निषेध

धर्म और सन्तान से युक्त स्त्री के रहने पर दूसरी स्त्री नहीं करनी चाहिए। (११-१२) **स्वगोत्र की कन्या से विवाह का निषेध**—अपने गोत्र वाले को कन्या प्रदान न करे। (११-१५) **माता के योनि-सम्बन्धियों को कन्या न दे**—माता के योनि-सम्बन्धी (अर्थात् मामा आदि को कन्या नहीं देनी चाहिए)। (११-१६)

विवाहों के प्रकार

१—**ब्राह्म विवाह**—ब्राह्म विवाह में (वर के) भाई, स्वभाव, सम्पत्ति, अध्ययन, आरोग्य आदि को जान कर पति के साथ कार्य करने के लिए यथाशक्ति अलंकारों से युक्त कन्या का दान करना चाहिए। (११-१७) २—**आर्ष विवाह**—आर्ष विवाह में लड़की के मतानुसार एक जोड़ी गाय अथवा एक जोड़ी बैल देना चाहिए। (११-१८) ३—**दैव विवाह**—दैव विवाह में यज्ञ के विस्तार में ऋत्विक् का

काम करने वाले को कन्या दे। (१७) ४—गान्धर्व विवाह—जिसमें कन्या और वर प्रेम से संगम करते हैं उसे गान्धर्व विवाह कहते हैं। (२) ५—आसुर विवाह—जिस विवाह में कन्या वाले को यथाशक्ति द्रव्यादि देकर कन्या का ग्रहण किया जाता है वह आसुर विवाह है। (५-१२-१) ६—राक्षस विवाह—लड़की वाले को जीत कर जहाँ कन्या का अपहरण किया जाता है वह राक्षस विवाह है। (२) इन विवाहों में पूर्व तीन श्रेष्ठ हैं—इन विवाहों में पहले के तीन (ब्राह्म आर्ष और दैव विवाह) प्रशंसनीय हैं उनमें भी पहले वाले बाद की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। (३)

धर्म का व्यतिक्रम करना पूर्व लोगों का साहस था

वशिष्ठादि ने चाण्डाली से तथा प्रजापति ने अपनी कन्या से विवाह किया था, क्या यह धर्म है? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि पूर्व लोगों का यह आचार देखा जाता है, किन्तु यह धर्म नहीं है धर्म का व्यतिक्रम है। यह पूर्व लोगों का साहस है। (६-१३-७) क्या उनको दोष नहीं लगता?—उनमें इतना प्रबल तेज है कि इससे उन्हें पाप नहीं लगता। (८)

क्या अर्वाचीन लोग उनका अनुकरण करें?

इस धर्म के व्यतिक्रम को देखकर अर्वाचीन लोग वैसा करने से पाप के भागी बनते हैं। (६-१३-८) स्नातकों के लिए व्रत—अध्यापन में पुरुष (स्नातक) वर्षा तथा शरद ऋतु में मैथुन न करे। (११-१२-१) मैथुन करके स्त्री के साथ सम्पूर्ण रात्रि न सोये। (११-१२-२) वासी रात भोजन के बाद रात्रि में भी पढ़ना न चाहिए। (११-१२-१४) नगर में बहुत बार नहीं जाना चाहिए। (११-१२-२१)

गृहस्थ के धर्म

दोनों समय भोजन करे। (२-१-१-२) अन्न को तृप्ति पर्यन्त न खावे। (२-१-१-३) ब्राह्मण—जो होम और बलि को सावधान चित्त होकर करता है उनको नित्य स्वर्ग और पुष्टि प्राप्त होती है। (२-४-७) अतिथियों को पहले भोजन कराय। (२-४-११) बाल वृद्धादि को प्रथम भोजन कराना—बालक, वृद्ध रोगी तथा गर्भवती स्त्री को प्रथम भोजन कराये। (२-४-१२) सज्जन के घर में निरन्तर सत्कार—परम अभाव काल में भी भूमि जल आसन वस्त्रादि करने वाली वाणी की सज्जनों के घर में भी कमी कभी नहीं होगी। (२-४-१४)

अपना धर्म पालन करने वाले गृहस्थ अनन्त लोकों को प्राप्त करते हैं

इस प्रकार आचरण करते हुए दम्पति अनन्त लोकों को प्राप्त करते हैं। (२-४)

शत्रु तथा पापी का अन्न न खाना

जो अतिथि से द्वेष करता हो या अपने से स्वयं द्वेष करता हो अथवा द्वेष

की जिसमें सम्भावना हो, या द्वेष निश्चित हो, उसका अन्न नही खाना चाहिए।

पापी का अन्न पाप है

जो इस प्रकार पापी का अन्न खाता है वह उसके पाप को ही खाता है। (३–६–२०)

अतिथि का सत्कार

प्रिय वचनो द्वारा अतिथि को सान्त्वना देकर रसयुक्त भोजन, जल तथा अर्घ्य के द्वारा तृप्त करे। (२–३–६–१४) **भोजन के प्रथम अथवा बाद में बिस्तर आदि द्वारा अतिथि का सत्कार करना**—विश्राम स्थान, चारपाई, रजाई, उपधान, चद्दर, बिछाने के लिए अवस्तरण (बिछौना), देह में लगाने के लिए तेल अथवा घी यथा समय अतिथि को देना चाहिए। (२–३–६–१५) **अतिथि से प्रथम भोजन में दोष**—जो अतिथि से पहले भोजन कर लेता है वह घर के अन्न, पुष्टि, प्रजा, पशु, अग्निहोत्र, स्मार्त कर्म (कूप खोदना) आदि समस्त का नाश कर देता है। (३–७–३) **अतिथि स्वर्ग लोक में भेजता है**—प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध अतिथि (सत्कार किये जाने पर) स्वर्ग लोक में भेजता है ऐसा जाना जाता है। (३–७–५) **जाते हुए अतिथि को उठकर सत्कार करना**—जो जाते हुए अतिथि के लिए उठकर सत्कार करता है वह यज्ञ के लिए उठकर प्रदक्षिणा करता है। (३–७–७) **अतिथि की प्रशसा यज्ञ की दक्षिणा है**—जो अतिथि की प्रशसा करता है वह प्रशसा यज्ञ-दक्षिणा है। (३–७–८) **अतिथि के पीछे चलना विष्णु क्रम**—अतिथि के पीछे चलना यज्ञ का विष्णु-क्रम (यज्ञार्थ गमन) है। (३–७–७)

अतिथि के पास से लौटना अवभृथ है

अतिथि के साथ जाकर जो लौटना है वह अवभृथ (यज्ञान्त स्नान) है। (३–७–१०) **अतिथि को अपने घर में रखने का फल**—जो एक रात अतिथियो को रखता है व पृथ्वी में होने वाले लोको को जीत लेता है, दूसरे दिन रखने से अतरिक्ष को, तीसरे दिन रखने से दिव्य लोकों को, चौथे दिन रखने से परम सुख वाले लोको को जीत लेता है। अपरिमित दिनो तक अतिथि को रखने मे वह अपरिमित लोको को जीत लेता है ऐसा जाना जाता है। (३–७–१६)

अतिथि को अपने सत्कार करने वाले के लिए उठना चाहिए तथा नमस्कारादि करना चाहिए—जिसने वास कराया है तथा सामने अभिवादन किया है उसके लिए अतिथि को उठना या आसन से उतरना उचित है। (२–४–८–१)

अतिथि से बचा भोजन करना चहिए—गृहस्थ को अतिथि के भोज करने के बाद अवशेष का भोजन करना चाहिए। (८–२) **बिना अतिथि को खिलाये किसी**

रस का भोजन न करना चाहिए—घर में अतिथि को बिना उस रस को जिसमें उसका भोजन नहीं करना चाहिए। (८-३) अपने लिए सुन्दर भोजन न बनाये —अपने लिए स्वादिष्ठ (मालपूआ आदि) न बनाये। (८-४) अतिथि को विमुख लौटा कर पश्चात्ताप तथा उपवास करना चाहिए —आये हुए अतिथि को किसी भाँति विमुख (बिना भोजन कराये) लौटा कर भोजन करते समय जितने भोजन के बाद उसका स्मरण आ जाय उतने भोजन के बाद भोजन बन्द कर उपवास करना चाहिए। (१४) दूसरे दिन अतिथि को खोज कर सत्कार करे—दूसरे दिन उसको खोज कर यथेच्छ उसकी पूजा कर उसके पीछे-पीछे जाय। (४-७-१)

वैश्व देव में कौआ और चाण्डाल को भी भोजन देना

वैश्व देव नामक यज्ञ में सभी को कुछ भोजन दे, चाहे वह कौआ या चाण्डाल अथवा अन्य कोई भी हो। (७-५) नौकर आदि को भोजन में बाधा कभी न डाले —अपनी स्त्री पुत्र तथा अपने लिए भोजन में उपरोध (बाधा) भले ही हो पर नौकर आदि को भोजन देने में बाधा नहीं देनी चाहिए। (७-११)

दाय विभाग

अपने जीते ही अपनी सम्पत्ति को अपने पुत्रों में बराबर बाँट दे नपुंसक पागल और पतित को छोड़कर। (६-१४-१)

बिना अग्निहोत्र किये अन्न खाने का निषेध

जिस अन्न का कुछ अंश अग्नि में हवन नहीं किया गया है तथा जिसमें से अग्र (प्रथम) कुछ नहीं निकाला गया है उस अन्न को नहीं खाना चाहिए। (६-१५-११)

श्राद्ध विचार

श्राद्ध की प्रशंसा

पहले देवता तथा मनुष्य साथ-साथ इस लोक में उत्पन्न हुए। देवता लोग (यज्ञादि) कर्मों को विधिवत् करके स्वर्ग चले गये। मनुष्य वैसा कर्म करने में समर्थ न हो सके अतः हीन (नीच) हो गये और इसी लोक में रह गये। इन मनुष्यों में भी जो इस प्रकार का कर्म करता है वह देवताओं तथा ब्रह्मा के साथ स्वर्गलोक में आनन्द करता है। इसलिए वैवस्वत मनु ने प्रजा के कल्याण के लिए श्राद्ध कर्म को श्राद्ध नामक कर्म बतलाया। (७-१६-१) श्राद्ध के देवता तथा श्राद्ध का कर्म—श्राद्ध कर्म में पितर (पिता, पितामह, प्रपितामह) देवता तथा भोजन के लिए बुलाये गये ब्राह्मण हवनादि कार्य सम्पादनार्थ रहते हैं ऐसा जानना चाहिए। श्राद्ध में तीन कर्म होते हैं—होम, ब्राह्मण भोजन तथा पिण्डदान। (७-१६-२) चौमासे के श्राद्ध से एक वर्ष पितर प्रसन्न रहते हैं—चौमासे के श्राद्ध से पितर एक वर्ष तक प्रसन्न रहते हैं।

(७–१६–२५) महिष (भैंस) के मास से और अधिक प्रसन्नता—गोमास से भी अधिक प्रसन्नता महिष (भैंस) के मास से होती है। (७–१६–२६) खड्ग के मास से अनन्त काल तक प्रसन्न रहते हैं—खड्ग के चम के आसन पर बैठ कर दिये गये खड्ग मास से पितर लोग अनन्त काल तक प्रसन्न रहते है। (७–१७–१) उसी प्रकार की प्रसन्नता रोहित मछली के मास से होती है। (७–१७–२)

उचित द्रव्य-सग्रह तथा उचित व्यय

धर्म से युक्त जो द्रव्य का परिग्रह है उसका उत्पादन करे, अर्थात् धर्म से अविरुद्ध द्रव्य का उपार्जन करे। (८–२०–१८)

दान

उपार्जित धन का उचित दान या व्यय

सत्पात्र अथवा यज्ञ के लिए उपार्जित सम्पत्ति का व्यय करना चाहिए। (८–२०–१८) अपात्र को दान नहीं देना चाहिए—जिसे कुछ भय न हो ऐसे अपात्र को दान नही देना चाहिए। (८–२०–२०)

मनुष्यो का सग्रह

सम्पत्ति देकर अथवा प्रिय बोलकर मनुष्यो का सग्रह करना चाहिए। (२०–२१) धर्म के अविरुद्ध वस्तुओ का भोग—धर्म के विरुद्ध जो नहीं हैं उन भोगो का भोक्ता होना चाहिए। (२०–२२) इस प्रकार दोनो लोको को जीत लेता है—इस प्रकार दोनो लोको पर विजय प्राप्त कर लेता है। (८–२०–२३)

वानप्रस्थ का कर्म

एक अग्नि मे पूर्ववत् हवनादि करता रहे तथा अनिकेत, अशम (सुख न चाहने वाला), अनाश्रित तथा अध्ययन काल मात्र से शब्दोच्चारण करने वाला वनस्थ को होना चाहिए। (२१–२०) वानप्रस्थ के लिए चर्म या छाल का वस्त्र—वानप्रस्थ के लिए जगली छाल अथवा मृगचर्मादि के वस्त्र का विधान है। (७–२२–१) फलमूल से जीवन निर्वाह—पहले फल मूल को स्वय तोडकर जीवन निर्वाह करे, पश्चात् अपने आप गिरे हुए फलो तथा मूलो से जीवन निर्वाह करे। (३) जल, वायु, आकाशादि द्वारा जीवन निर्वाह—इसके उपरान्त जल भक्षण, तब वायु भक्षण, अन्त मे निराहार रहे। (२२–४) इन भक्ष्यो में उत्तरोत्तर फल की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं—इनमे उत्तर उत्तर का ग्रहण फल की दृष्टि से विशिष्ट होता है।

अग्नि के लिए गृह रखे—अग्नि के लिए शरण (गृह) रखना चाहिए। (२०–२१) वानप्रस्थ गृह में न रहे—अपने आप विना घर ही रहे। (२२–२२) बिना बिछौना के शयन—बिना नीचे कुछ बिछाये खाली स्थान पर शयन करे। (२२–२३)

जीवन निर्वाहार्थ वानप्रस्थ का कर्तव्य—वानप्रस्थ पहले भिक्षा माँगकर, तदनन्तर क्रमशः मूल फल पत्तों और तृणों के द्वारा जीवन निर्वाह करे। इसके पश्चात् क्रमशः जल वायु और निराहार द्वारा जीवन व्यतीत करे। (८–२१–२)

परिव्राजक (संन्यासी) का कर्तव्य

सन्यासी को अग्नि कार्य से रहित गृह मे होम विषय सुख (धर्म) से विरत, अनाग्नि (अशरण) वेदादि अध्ययन काल में ही वाणी उच्चारण करने वाला, जीवन रक्षामात्र के लिए ग्राम मे भिक्षा ग्रहण करने वाला परलोकादि के लिए होम आदि न करने वाला होना चाहिए। (७–२१–१) संन्यासी का वस्त्र—जिस वस्त्र को दूसरों ने छोड़ दिया है, सन्यासी को वही वस्त्र पहनना चाहिए। (२१–११) संन्यासी दिगम्बर रहे—कुछ आचार्यों का मत है कि सन्यासी समस्त वस्त्रों से मुक्त रहे। (२१–१२) आत्मचिन्तन से अतिरिक्त सब वस्तु का त्याग—सत्य, असत्य, सुख दुःख वेद लोक यह और वह सबका परित्याग कर केवल आत्मा की उपासना करे। (२१–१३) ऊर्ध्वरेता की प्रशंसा—ऊर्ध्वरेता (ब्रह्मचारी) सन्यासी वानप्रस्थ अपने संकल्प मात्र से समस्त दुःसाध्य कार्यों को कर लेता है। यथा सूखा पड़ने पर अपने संकल्प से वृष्टि, निःसन्तान को अपने संकल्प से सन्तति प्रदान अति अधिक दूर वाली वस्तु का दर्शन मन के समान वेग इस प्रकार अन्य जितने ही काम अपने संकल्प मात्र से वह कर सकता है। (७–२१–७)

राज-धर्म

अब राजधर्म को विशेष रूप से कहते हैं। (१०–२५–१) गुरु (पितादि) अमात्य (मन्त्री आदि) के भोजन वस्त्र आदि में असंयत न करे। (२५–१) नौकरों तथा ब्राह्मणों को आवश्यकतानुसार वित्त और खेत देना—नौकर आदि को जितने से काम चल जाय उतना और ब्राह्मण को उनकी विद्या आदि के अनुरूप भूमि और धन देने वाला राजा अनन्त लोकों पर विजय पा लेता है। (१०–२५–१) ब्राह्मण के लिए युद्ध में मरने वाला राजा यज्ञ रूप है—जो चुराए हुए ब्राह्मण के धन को लाने की इच्छा से चोरों से संग्राम करता हुआ मर जाता है उस राजा का शरीर यूप है और वह संग्राम ही यज्ञ है तथा वह लाभ के लिए दक्षिणा द्रव्य ही अनन्त दक्षिणा है। अन्य शूर भी जो संग्राम में देह त्यागते हैं यज्ञरूप हैं—प्रयोजन के लिए युद्ध करते हुए, युद्ध में मरने वाले अन्य और भी उक्त रूप से माने जाते हैं अर्थात् उनका शरीर यूप संग्राम यज्ञ तथा वह द्रव्य दक्षिणा माना जाता है।

(१०–२६–१)

कर-विधान

वेदपाठी पर कर न लगाना

वेदपाठी (श्रोत्रिय) पर कर नही लगाये। (१०–२६–१०) **सभी वर्णों की स्त्रियों पर कर नहीं लगाना**—किसी वर्ण की किसी स्त्री पर कर न लगाना चाहिए। (१०–२६–११) **नाबालिग पर कर नहीं लगाना चाहिए**—दाढ़ी मूँछ आने के पहले कुमारो (नाबालिगो) पर कर नही लगाना चाहिए। (१२) **बालिग होने पर भी विद्यार्थी पर कर नहीं लगाना**—जो विद्या के लिए गुरु के घर मे रहता हो उस बालिग विद्यार्थी पर भी कर नही लगाना चाहिए। (१३) **धर्मनिष्ठ तपस्वियो पर कर नहीं**—जो तपस्वी धर्मनिष्ठ हैं उन पर कर नही लगाना चाहिए। (१४)

पर-स्त्री गमन का दण्ड

ब्राह्मणादि (आर्य) यदि शूद्र की स्त्री का गमन करता है तो राजा को चाहिए कि उसको देश से निकाल दे। (१०–२७–८) पर यदि शूद्र ब्राह्मणादि की पत्नी (आर्या) के साथ रमण करता है तो उसे प्राणदण्ड देना चाहिए। (१०–२७–७) **निन्दा का दण्ड**—यदि किसी धार्मिक द्विजाति की शूद्र निन्दा करता हो तो उसकी जीभ छेद देनी चाहिए। (२७–१८) **द्विजाति से समता करने पर शूद्र को दण्ड**—वाणी में, मार्ग में, शय्या (सेज) और आसन में द्विजाति के समान होने वाले शूद्र को डण्डा से पीटना चाहिए। (७–१०–१५)

कर्मफल का भागी केवल कर्ता ही नहीं—प्रयोजक (आज्ञा देने वाला), मन्ता (राय देने वाला) तथा कर्ता, तीनो स्वर्गफल, नरकफल, तथा धर्म और अधर्म के भागी होते हैं। (११–२७–१)

विवाद में निर्णायक

विवाद के निर्णायको को विद्वान्, शुद्ध कुल में उत्पन्न, वृद्ध, मेधावी और धर्म में प्रमाद रहित होना चाहिए। (२७–५)

अध्यात्म विचार

अपने आत्मस्वरूप के ज्ञान से बडा कोई लाभ नही है। (८–२२–२) जो लोग समस्त प्राणियों के गुहाशय (हृदय) में रहने वाले, कूटस्थ, अहन्यमान (किसी प्रकार न नष्ट होने वाले), विकल्मष (पाप रहित) आत्मा का अनुध्यान और साक्षात्कार करते हैं वे अमर हैं (वे अमर हो जाते हैं)। (८–२२–३–४) इस ससार मे जो कुछ भी विषय कहा जाता है उसका परित्याग कर मेधावी गुहाशय (कूटस्थ) आत्मा का अनुध्यान करे। (८–२२–५) जो आत्मा सब प्राणियो मे नित्य, सर्वज्ञ, अविनाशी, अचल, स्थूल शरीर रहित, शब्द रहित, सूक्ष्म शरीर रहित, पवित्र तथा महान् रूप से विद्यमान है, वही सबकी

परम अन्तिम सीमा है सबका मध्य तथा सबका विभाग है। उसी की सेवा करनी चाहिए। (८-२२-७) ऐसे आत्मा की जो सदा और सब जगह सेवा करता है तथा उसके साथ बन्धन (सम्बन्ध) स्थापित करता है तथा जो युक्त (समाहित चित्त वाला) दुर्दर्श (कठिनता से दिखलाई पड़ने वाले) निपुण आत्मा को देखता है वह सन्ताप रहित हो इसी लोक में आनन्द प्राप्त करता है। सब भूतों में आत्मा को तथा अपने आत्मा में सब भूतों को देखता हुआ मेधावी विचार करता हुआ मोह को न प्राप्त हो। इस प्रकार विचार करने वाला ब्रह्म के सदृश अपनी महिमा में विविध प्रकार से प्रकाशित होता है।

जो आत्मा सर्वत्र कमलतन्तु से भी लघु है और सबको व्याप्त किये हुए है जो आत्मा पृथ्वी से भी बड़ा नित्य तथा समस्त जगत् को स्तम्भित किये हुए है। वह (परम आत्मा) इस संसार के इन्द्रियजन्य ज्ञानों से भिन्न तथा जगत् से अभिन्न है उसे जानना चाहिए। वह हृदय-आकाश में विराजमान विभिन्न देव-पितर आदि रूपों में विभक्त है। समस्त शरीर (आकाशादि क्रम से) उसी से उत्पन्न होते हैं। वह सबका मूल नित्य और शाश्वत रहने वाला है।

विद्वान् (क्रोधादि) दोषों का विनाश करके (अक्रोधादि) योग से युक्त होकर तथा भूतों को कष्ट देने वाले अपराधों का परित्याग कर इस संसार में जीता हुआ भी निर्भय कल्याणकर मोक्ष को प्राप्त करता है। (८-२३-१)

अशुभ और शुभ गुण

क्रोध (मारने-पीटने आदि का कारण) हर्ष (अभीष्ट प्राप्ति पर प्रसन्नता) रोष (अनिष्ट विषयक मानसिक विकार) मोह (कार्य तथा अकार्य का अज्ञान) लोभ (दूसरे के धन की आकांक्षा) दम्भ (अपने को धार्मिक प्रकाशित करना) द्रोह (दूसरों के अनिष्ट करने की इच्छा) असत्य बोलना अति भोजन दूसरे के दोष कहना असूया (दूसरे के गुण को सहन न करना) काम मन्यु (स्त्री के प्रति अभिलाषादि करने वाले के प्रति द्वेष) और असात्मकता ये अयोग कहलाते हैं, इनका विनाश योग का मूल है। (८-२३-५) अक्रोध अहर्ष अरोष अलोभ अमोह अदम्भ अद्रोह सत्य वचन अति भोजन न करना चुगली न करना असूया न करना संविभाग (अपने जीवन निर्वाह मात्र के लिए वस्तु में विभाग कर याचक को देना) त्याग आर्जव (मन-वचन-कर्म में एकरूपता) मार्दव (मृदुता या कोमल स्वभाव) शम (शान्ति) दम (इन्द्रिय विजय) सब प्राणियों से अविरोध योग (एक भाव) आर्य (शिष्टाचार का पालन) भाव आनृशंस्य (निष्ठुरता का परित्याग) तुष्टि आदि सभी आश्रमों में रहने वालों के लिए पालनीय विषय हैं। जो इनका विधिपूर्वक अनुष्ठान करने वाला सर्वगामी (ब्रह्मगामी) होता है। (८-२३-६)

गुरु पत्नी-सग का कठोर प्रायश्चित्त

गुरु स्त्री के साथ सम्भोग करने वाला अण्डकोष सहित लिंग को काटकर दक्षिण दिशा को चलता जाय पुन लौटे नही। (१-७-२४-१) अथवा जलती हुई तांबे की स्त्री का आलिंगन करके प्राण समाप्त कर दे। **गुरुतल्पग के लिए तीसरा प्रायश्चित्त** — गुरु स्त्री से प्रसग करने वाला खोखली तांबे की जलती हुई मूर्ति मे प्रवेश करके दोनो ओर से अग्नि लगा कर जल मरे। (१०-२८-१५) शराव पीने वाला अग्नि मे प्रज्वलित शराव पीये। (१-७-२४-२)

चोर की परिभाषा

जो आपत्काल में तथा अनापत्काल मे थोडी अथवा बहुत दूसरे की सम्पत्ति को अपनी मानता है वह चोर कहलाता है। ऐसा कौत्स, हारीत, कण्व और पुष्कर आदि आचार्यों का मत है। (१-१०-२८-१)

हिसा में प्रवृत्त को, हिसा करने में दोष नहीं—जो हिंसा करने के लिए आते हुए की हिंसा करता है, वह क्रोध का प्रतिकार क्रोध से करता है। अत उसे दोष नही लगता, यह पुराण का मत है। (१०-२७-७)

अध्याय ८

स्मृतियों की नीति

स्मृतियाँ और उनका काम

स्मृति शब्द का अर्थ

प्राचीन काल में 'स्मृति' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग होता था। एक अर्थ था वे सब ग्रन्थ जो 'श्रुति' की कोटि में नहीं आते थे किन्तु प्रामाणिक माने जाते थे। यथा पाणिनि का व्याकरण, श्रौत, गृह्य एवं धर्म-सूत्र, महाभारत, मनु-याज्ञवल्क्य आदि के धर्मशास्त्र। श्रीमद्भगवद्गीता की गणना भी इसी कोटि में आती है। दूसरे सीमित अर्थ के अनुसार स्मृति शब्द केवल धर्मशास्त्रों का पर्यायवाची है। अर्थात् वे ग्रन्थ जो वेदों के आधार पर धर्म की व्याख्या करते हैं और प्रामाणिकता में वेदों के पश्चात् स्थान पाते हैं। ये ग्रन्थ उन ऋषियों द्वारा प्रणीत हुए माने जाते हैं जो वेदों के मर्म को खूब जानते थे और जिन्होंने मनुष्यों के धर्म की वर्ण आश्रम परिस्थिति काल और युग के अनुसार विस्तृत व्याख्या की है। इस प्रकार के बहुत से ग्रन्थ आवश्यकतानुसार समय समय पर लिखे गए हैं।[1] याज्ञवल्क्य ने २० धर्मशास्त्रों का उल्लेख किया है। पराशर ने १९ का तथा चतुर्विंशतिमत नामक ग्रन्थ में २४ धर्मशास्त्रों का उल्लेख है। वृद्ध-गौतमस्मृति के अनुसार धर्मशास्त्रों की संख्या ५७ है। प्रयोग-पारिजात के अनुसार १८ मुख्य स्मृतियाँ हैं और १८ उपस्मृतियाँ हैं। विख्यात स्मृतियों में से कुछ के नाम ये हैं—मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति, अत्रि स्मृति, विष्णु स्मृति, हारीत स्मृति, औशनसी स्मृति, आंगिरस स्मृति, यम-स्मृति, आपस्तम्ब स्मृति, संवर्त स्मृति, कात्यायन स्मृति, बृहस्पति स्मृति, पराशर स्मृति, व्यास स्मृति, शंख स्मृति, लिखित स्मृति, दक्ष स्मृति, गौतम स्मृति, शातातप स्मृति और वशिष्ठ स्मृति।

स्मृतियाँ भिन्न-भिन्न समय की रचना हैं। उनमें से कुछ तो बहुत प्राचीन हैं और उनकी रचना ईसवी सन् की प्रथम या उसके आसपास की शताब्दियों

---

1. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। मनु २१

में हुई होगी। यथा, याज्ञवल्क्य स्मृति, पराशर स्मृति, नारद स्मृति । शेष स्मृतियों में से अधिकतर स्मृतियाँ ४०० से १००० ईसवी के अन्तर्गत रची गयी होंगी।

सब स्मृतियो में मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ अधिक प्रामाणिक और मान्य हैं। पराशर स्मृति में यह बतलाया गया है कि यह स्मृति विशेषत कलियुग के लिए लिखी गयी है, जब कि मनुस्मृति सत्ययुग के लिए, गौतमस्मृति त्रेतायुग के लिए, और शख तथा लिखित स्मृतियाँ द्वापर युग के लिए प्रमाण मानी जाती थी। पराशर स्मृति का यह सिद्धान्त है कि कलियुग में और युगो के मुकाबले में लोगो में कम शक्ति और क्षमता होती है। अत इस युग में धर्म और प्रायश्चित्त के नियम कम कठोर होने चाहिए, युगानुरूप ही धर्म होना चाहिए। यह बात सब लोगो को मान्य नही है। अतएव पुरानी स्मृतियो, मनु और याज्ञवल्क्य आदि का ही धर्म सम्बन्धी विचारों में अधिक महत्व माना जाता है।

मनुस्मृति—इसमें १२ अध्याय तथा २६९४ श्लोक हैं। यह सरल शैली में लिखी गयी है। मेधातिथि ने ९०० ई० में इसके ऊपर भाष्य लिखा। मृच्छकटिक नामक नाटक में मनु के नियमों का उल्लेख आता है। शबर स्वामी भी जिनका समय ५०० ई० है और जिन्होंने जैमिनि के मीमासासूत्रो पर भाष्य लिखा है, मनु के नियमो का उल्लेख करते हैं। वाल्मीकीय रामायण में भी मनुस्मृति से कुछ श्लोक मनु के नाम से उद्धृत हैं। इससे पता चलता है कि द्वितीय शताब्दी से लेकर आज तक के लेखको ने मनुस्मृति को एक प्रामाणिक धर्मशास्त्र के रूप मे ग्रहण किया है। इतनी प्रसिद्धि प्राप्त करने में आरम्भ में इसको कई शताब्दियाँ लग गयी होंगी। अन्य प्रमाणो के अनुसार मनुस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति से बहुत प्राचीन है। बहुत से विषय मनुस्मृति में याज्ञवल्क्य की अपेक्षा अपूर्ण एव अनियमित रूप में वर्णित हैं। अध्याय १० के ४४वें श्लोक में मनु ने यवनो, कम्बोजो, शको और पह्लवो आदि का उल्लेख किया है। इससे पता चलता है कि मनुस्मृति तीसरी शताब्दी ई० पू० के बाद की लिखी हुई पुस्तक है। बहुत से विद्वान् इसका समय २०० ई० पू० से २०० ई० तक का निश्चित करते हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति में १०१० श्लोक हैं। यह मनुस्मृति से अधिक नियमित है। इसमें क्रमबद्ध रूप से थोडे में ही सब कुछ वर्णित है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्द में है। सक्षिप्त होते हुए भी यह दुर्बोध नही है। इसमें वर्ण, आश्रम आदि के धर्मों का अच्छा वर्णन है। नवम शताब्दी में विश्वरूप ने इस पर टीका लिखी थी।

नारदस्मृति और बृहस्पतिस्मृति ५०० ई० के बाद की नही हो सकती। याज्ञवल्क्यस्मृति इनके पूर्व समय की ही है, ३०० ई० के बाद की नही हो सकती।

याज्ञवल्क्यस्मृति अवश्य ही मनुस्मृति के पीछे की है। अतः प्रथम शताब्दी ई० पू० से पहले की याज्ञवल्क्यस्मृति नहीं हो सकती। इसका रचनाकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० से ३ ई० तक हो सकता है।

पराशरस्मृति में १२ अध्याय और ५ २ श्लोक है। आचार और प्रायश्चित इसके विषय हैं। याज्ञवल्क्य इसका उल्लेख करते हैं। नवम शताब्दी के पूर्वार्ध के विश्वरूप पराशरस्मृति का कई बार उल्लेख करते हैं। उस समय यह एक प्राचीन प्रामाणिक स्मृति मानी जाती थी। अतः इसका रचनाकाल १ से लेकर ५ १ ई० के बीच नहीं हो सकता है।

नारदस्मृति—इसके दो संस्करण हैं एक छोटा और दूसरा बड़ा। इसमें बहुत से विषयों का वर्णन है और यह मनुस्मृति का अनुकरण करती है। नवम शताब्दी के पूर्वार्ध के लेखक विश्वरूप इसके लगभग ५ श्लोकों का उद्धरण देते हैं। मेधातिथि और मिताक्षरा में भी इसका उल्लेख है। नारदस्मृति में मनुस्मृति के उद्धरण पाये जाते हैं। सम्भवतः नारदस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति के पीछे की है। दोनों की तुलना से यह पता चलता है कि नारदस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति के कुछ ही पीछे की है।

बृहस्पतिस्मृति—अभी तक यह सम्पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं है। यह मनुस्मृति का पूर्ण अनुकरण करती है। बहुत सी बातों का इसमें नारदस्मृति के समान ही विवरण मिलता है। यह नारदस्मृति की समकालीन या कुछ ही पीछे की हो सकती है किन्तु मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति के निश्चित ही पीछे की है। डा० जौली के मतानुसार इसका समय ६ या ७ शताब्दी है। कात्यायन और विश्वरूप ने इसका कई बार उल्लेख किया है। यह स्मृति ४ ई० के लगभग लिखी गयी होगी।

कात्यायनस्मृति—इस लिखित याज्ञवल्क्य (१।४-५) और पराशर स्मृतियों में इसका धर्मशास्त्र के रूप में उल्लेख किया गया है। इसमें व्यवहार के विषय में नारदस्मृति और बृहस्पतिस्मृति को आदर्श मान कर उनका अनुकरण किया गया है। इसमें स्त्री-धन के विषय में सबसे अधिक लिखा गया है। कात्यायन ने मनु के सिद्धान्तों का कई बार उल्लेख किया है। यह स्मृति निश्चय ही मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति के बहुत पीछे की है। नारदस्मृति और बृहस्पतिस्मृति की पूर्ण सत्ता का ज्ञान इससे होता है अतएव यह १ से ४ ई० पहले की नहीं हो सकती। नवम शताब्दी पूर्वार्ध के विश्वरूप कात्यायन, ८ श्लोकों का उद्धरण देते हैं। (या० २।५,६,४६,६१।२८१) मेधातिथि (मनु १-१) पर कात्यायनस्मृति का प्रभाव है और वे उसके उद्धरण भी देते हैं। विश्वरूप और मेधातिथि दोनों

ही नारद और बृहस्पति के साथ-साथ कात्यायनस्मृति को प्रामाणिक समझते हैं। यह प्रसिद्धि प्राप्त करने मे उसको कुछ शताब्दियाँ तो अवश्य लगी होंगी। अतएव उसका समय ४०० से ६०० ई० के मध्य समझा जा सकता है।

इन स्मृतियो के अतिरिक्त अन्य स्मृतियाँ (मुख्य और उप) अधिक पीछे के समय की जान पडती हैं। धर्म और कर्त्तव्यो के निर्णय करने में स्मृतियो का स्थान वेद तथा वैदिक वाङ्मय (सहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् और धर्मसूत्रो) के पीछे का है और इतिहास ग्रन्थो (रामायण और महाभारत) के पूर्व का। इसलिए हम यहाँ पर स्मृतियो में पाये जाने वाले नैतिक उपदेशो का सग्रह करते हैं।

धर्म के प्रमाण

पितर, देवता तथा मनुष्य सब के लिए वेद ही सनातन चक्षु हैं। वेद अपौरुषेय, अशक्य और अप्रमेय हैं। (मनुस्मृति १२-९४) यह प्राचीन कालीक अपौरुषेय वेद शास्त्र समस्त प्राणियो को धारण करता है। इसलिए जीव का यह परम साधन है (मनु० १२-९९)। **वेदातिरिक्त शास्त्र तथा ज्ञान तमोनिष्ठ एव अश्रेयस्कर हैं**—वेद से बाह्य (विरुद्ध) स्मृतियाँ, वेद के प्रति कुदृष्टिपूर्ण निन्दात्मक वचन (नास्तिको द्वारा वेदनिन्दा आदि) तमोनिष्ठ है। इनसे पारलौकिक सुख लेश मात्र भी नहीं, अर्थात् वेद पर आधारित सब कार्य सफल तथ, दूसरे सब निष्फल है। (मनु० १२-९५)

समस्त वेद धर्म का मूल है—(ऋक्-यजु-साम अथर्व) सब वेद धर्ममूल है। वेदज्ञों की स्मृति तथा शील भी धर्म का मूल है। साधुओ का आचार तथा आत्मा (मन) का सन्तोष भी धर्म के प्रमाण हैं (मनु० २-८)। **श्रुति-स्मृति के अनुसरण करने का फल**—वेदो तथा स्मृतियो में कहे गये धर्म का अनुसरण करने वाला मानव इस लोक में यशस्वी होता है तथा परलोक में परम सुख प्राप्त करता है (मनु० २-७)। **श्रुति का परम प्रामाण्य**—अर्थ तथा काम में आसक्ति न रखने वालो के लिए धर्मज्ञान आवश्यक है तथा धर्म के जिज्ञासु के लिए श्रुति उत्कृष्ट प्रमाण है। **वेदविहित कर्मानुष्ठान**—प्रत्येक व्यक्ति वेद में कथित अपने कर्म को आलस्यहीन होकर करे, यथाशक्ति उसको करता हुआ परम गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है। (मनु० ४-१४)

वेदज्ञ ब्राह्मण का वचन ही धर्म का प्रमाण है—वेदज्ञ ब्राह्मण, भले ही वह एक हो, जिस बात का (धम का) निर्णय कर दे, वही धर्म मानना चाहिए, अवेदज्ञो की दस हजार की सभा का निणय भी महत्वहीन है। (मनु० १२।११३, मनु० १२-११४) वह सभा धर्मज्ञ वृद्ध न होने से कारण व्रत, यम, नियम, मन्त्र-रहित

ब्राह्मण जाति मात्र वालों की चाहे हजारों की भी सभी न हो, धर्म का व्यवस्थापन नहीं कर सकती। अपरिमित धर्म के विषय में शिष्ट ब्राह्मणों का वचन मान्य है—जिस धर्म के विषय में नहीं कहा गया है उसमें क्या करना चाहिए इस सन्देह पर शिष्ट ब्राह्मणों की अनुमति ही निःसन्देह मान्य है। (मनु)

शिष्ट ब्राह्मणों की परिभाषा—धर्मपूर्वक जिन्होंने वेद का सांगोपांग अध्ययन किया है वे ही श्रुति के प्रत्यक्ष करने में हेतु हैं। श्रुति-स्मृति प्रतिपादक ही शिष्ट ब्राह्मण कहे जाते हैं। उन शिष्ट १ ब्राह्मणों की अथवा कम से कम तीन ब्राह्मणों की (१ से अधिक नहीं और तीन से कम नहीं) सभा जिस सिद्धान्त को (धर्म के विषय निर्णय को) स्वीकार करे उसमें ननु नच अर्थात् विवाद नहीं करना चाहिए। (मनु १२-१ ७-११)

परिषद् द्वारा धर्म निर्णय —वेद में पारंगत चार अथवा तीन जिसको कहें उसी को धर्म समझना चाहिए। अन्य हजार व्यक्तियों का कहा भी धर्म के लिए प्रमाण नहीं होता (पराशर स्मृति ८-१५)। परिषद् की धर्मप्रमाणता—चार अथवा तीन वेदविख्यात जिस बात को कहें वह धर्म में प्रमाण होती है दूसरे हजारों का कहा भी धर्म के लिए प्रमाण नहीं है। वेद-विहित व्रत को नहीं करने वाले मन्त्र से अनभिज्ञ केवल उत्तम जाति में जन्म लेने मात्र से जीविका चलाने वाले हजार व्यक्तियों की भी परिषद् नहीं हो सकती (वशिष्ठ स्मृति)। परिषद् की संख्या—पाँच अथवा तीन धर्मज्ञों की परिषद् धर्म की निर्णायिका होती है। वेद विहित आचार में निरत एक व्यक्ति की भी (निर्णायिका) परिषद् होती है (परा ८-२। ८-२१)। वेदवित् का वचन धर्म में प्रमाण होता है—वेदज्ञ द्विजोत्तम यदि अकेला भी किसी बात को व्यवस्थित करता है तो उसको परम धर्म कहना चाहिये। लाख मूर्ख पुरुषों का कहा धर्म के लिए प्रमाण नहीं होता। (अत्रिस्मृति १४)। वेदज्ञ द्विज का वचन धर्म है—धर्मशास्त्र रूपी रथ पर आरूढ़ तथा वेद रूपी खड्ग को धारण करने वाले ब्राह्मण क्रीड़ा के लिए भी जो कुछ कहें उसे परम धर्म समझना चाहिए (परा स्मृति ८-३४)। श्रुति स्मृति और पुराणों में विरोध होने पर किसका प्रमाण—जहाँ पर वेद स्मृति और पुराणों में विरोध पड़े वहाँ श्रुति मान्य होती है और जहाँ स्मृति और पुराण में विरोध उपस्थित होता है वहाँ स्मृति प्रमाण मानी जाती है। आचार धर्म-प्रमाण है—वेद विहित ही धर्म है। उसके अभाव में शिष्ट पुरुषों का आचार भी धर्म के लिये प्रमाण है (वशिष्ठ स्मृति १)।

धर्म के लक्षण

दस धर्म लक्षण—धृति (धैर्य) क्षमा दम अस्तेय (चोरी न करना) शुद्धता

इन्द्रियों को अधीन रखना, धी (बुद्धि), विद्या, सत्य और अक्रोध ये दस धर्म के लक्षण हैं। (मनु० ६–७२) आचार (धर्म के आचरण) से ही आयु, इच्छानुकूल सन्तति तथा अक्षय धन प्राप्त होता है तथा आचार ही अलक्षण अर्थात् अनिष्टों का नाश करने वाला होता है।

सदाचारवान् सम्पत्ति-हीन तथा सर्व लक्षणहीन होने पर भी श्रेष्ठ है

सब लक्षणों से हीन होने पर भी जो मनुष्य सदाचारवान्, श्रद्धावान् तथा ईर्ष्या-हीन है, वह सौ वर्षों तक जीता है। (मनु० ४–१५७) **दुराचार का फल**—दुराचारी मनुष्य लोक में निन्दित, दुःखी, सदा रोगी तथा अल्प आयु वाला होता है। (वशिष्ठ० ६–६) **आचार ही परम धर्म है**—आचार ही वेद तथा स्मृति में कहा हुआ परम धर्म है। अतः ब्राह्मण को जितेन्द्रिय तथा धर्मेच्छु बन कर सदा आचार युक्त होना चाहिए। (मनु० १–१०८) **आचार तपस्या का मूल है**—मुनियों ने आचार के द्वारा ह धर्म की गति जानकर यह कहा है कि कठिन से कठिन तप का भी मूल आचार ही । (मनु० १–११०) **आचार परम धर्म है**—सबका परम धर्म आचार ही है। आचार-हीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। (वशिष्ठ-स्मृति) आचार से ही धर्म फलता है, आचार से ही धन फलता है। आचार से शोभा प्राप्त होती है और आचार ही सब दोषों का नाश करता है। (वशिष्ठ ६–७) **सर्व सम्पत्ति-दायक आचार**—आचार से ही आयु, इच्छानुसार सन्तति तथा अक्षय धन प्राप्त होता है तथा आचार ही अलक्षण अर्थात् अनिष्टों का नाश करने वाला होता है। (मनु० १–१५६)

अधार्मिक आदि को सुख की प्राप्ति नहीं होती

जो अधार्मिक है, जिसके यहाँ झूठे व्यवहार द्वारा धन प्राप्त है और जो पर-पीडन में संलग्न है, वह मनुष्य इस लोक में सुखी होकर उन्नति नहीं कर पाता है। (मनु० ४–१७०) **अधर्म से मन को हटाना चाहिए**—अधार्मिक पापियों का (धन धान्य आदि समृद्धि का) शीघ्रता से विपर्यय (विनाश) देखता हुआ मनुष्य धर्म के कारण दुःखी होता हुआ भी, अधर्म में बुद्धि को कभी न लगाये। (४–१७१) **दुराचार की निन्दा**—दुराचारी पुरुष संसार में निन्दित, सर्वदा दुःख के भागी और अल्प आयु वाले होते हैं। (मनु० ४–१५६) **अधर्म द्वारा धीरे-धीरे समूल नाश**—किया हुआ अधर्म यद्यपि गौ या भूमि की भाँति तत्काल फल नहीं देता, किन्तु धीरे-धीरे फलोन्मुख होता हुआ वह (अधर्म) कर्ता की जड को ही काट डालता है। (मनु० ४–१७२) **अधर्म-कर्ता के पुत्र, पौत्रादि तक फल प्राप्ति**—यदि अधर्म का फल स्वयं करने वाले को नहीं मिलता, तो उसके पुत्रों को मिलता है। और यदि उसके पुत्रों को

नहीं मिलता तो पौत्रों को अवश्य मिलता है। क्योंकि किया गया अधर्म कभी निष्फल नहीं होता। (मनु ४-१७३)

अधम से उन्नति के बाद समूल नाश

मनुष्य अधम करके पहले तो उन्नति करता है कल्याण देखता है, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है। किन्तु अन्त में समूल नष्ट हो जाता है। (मनु० ४-१७४) दोनों जन्मों के अधर्मों का फल—इस जन्म तथा पूर्व जन्म के पाप कर्मों से फल दुष्ट मनुष्य कुरूप तथा नीच वर्ण में जन्म आदि के रूप में पाते हैं। (मनु) धर्म फल—परलोक में सहायता के लिए प्राणी धीरे-धीरे धर्म संचय करता रहे। क्योंकि धर्म से दुस्तर तम पार किया जाता है। (मनु ४-२४२) धर्मात्मा को स्वर्गादि की प्राप्ति—तपश्चर्या द्वारा निष्पाप धर्म-प्रधान पुरुष को धर्म ही एक मात्र प्रकाशमय लोक में ले जाता है। (मनु) धर्म की प्रशंसा—परलोक में माता पिता पुत्र-स्त्री और जाति कोई भी सहायता के लिए नहीं रहते। केवल धर्म ही ऐसे अवसर पर सहायता करता है। (मनु ४-२३०) बान्धव छोड़ मरे हुए शरीर को लकड़ी और ढेले के समान भूमि पर छोड़ कर पराङ्मुख हो प्रस्थान कर जाते हैं, पर एक धर्म ही उस समय प्राणी का सहायक होता है। (मनुस्मृति ४-२४१) धर्म के धीरे-धीरे संचय करने का विधान—जिस प्रकार दीमक वल्मीक का संचय करती है उसी प्रकार परलोक की सहायता के लिए किसी भी जीव को पीड़ा न देते हुए धीरे-धीरे धर्म का संचय करे। (मनु ४-२३८) परलोक में सहायता के लिए प्राणी शनैः-शनैः धर्म संचय करता रहे। क्योंकि धर्म से दुस्तर तम पार हो जाता है। धर्मरूपी प्रकाश से नरक का दुःखरूपी तम नष्ट हो जाता है। (मनु ४-२४२) धर्मात्मा को स्वर्गादि की प्राप्ति—तपश्चर्या द्वारा निष्पाप धर्म-प्रधान सूक्ष्म शरीर वाले पुरुष को एक मात्र धर्म ही ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक आदि में ले जाता है। सुरक्षित धर्म रक्षक होता है—जो धर्म को नष्ट करता है वह नष्ट हुआ धर्म ही उसका नाश करता है और जो धर्म की रक्षा करता है वह धर्म भी उसकी रक्षा करता है। अतः धर्म की पूर्णतः रक्षा करनी चाहिए। नष्ट न किया हुआ धर्म कभी नष्ट नहीं करता। (मनु ८-१५) सबसे बड़ा मित्र धर्म है, जो मरने पर (परलोक में) भी साथ देता है, अन्य सब तो (सम्पत्ति नारी आदि) शरीर तक के ही साथी हैं पर एक धर्म ही सर्वदा साथ रहता है। (मनु ८-१८)

धर्म अर्थ काम

विभिन्न आचार्यों के मत से त्रिवर्ग का स्वरूप—कोई आचार्य (काम-हेतुक

होने से) धर्म तथा अर्थ को, कोई (सुख-हेतुक होने से) काम तथा अर्थ को, कोई (अर्थ और काम के उपायभूत होने से) धर्म को और कोई आचार्य (धर्म तथा काम का साधनभूत होने से) अर्थ को ही श्रेय (कल्याणकारक) मानते हैं। किन्तु पुरुषार्थता के कारण त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) ही श्रेय है ऐसा निश्चय है (मनु० २–२२५)। **धर्मविरुद्ध अर्थ और काम का त्याग**—जो अर्थ और काम धर्मविरुद्ध हैं उनका त्याग करे। भविष्य में दुःख देने वाले धर्म-कार्य (यथा—स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि युक्त पुरुष का सर्वस्व दान देना आदि) और लोक-निन्दित धर्म-कार्य (यथा कलि में यज्ञ में गोवध आदि या नियोग द्वारा सन्तान उत्पादन आदि) का भी त्याग करे। (मनु० ४–१७६) **प्रवृत्त और निवृत्त धर्म**—स्वर्ग आदि सुख सांसारिक उन्नति तथा निःश्रेयस का कारण यह वैदिक कर्म प्रवृत्त तथा निवृत्त दो प्रकार का कहा गया है। (मनु०)

प्रवृत्त तथा निवृत्त की विशद व्याख्या—ऐहिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति की कामना से जो यज्ञादि तथा तत्सम्बन्धी कर्म किये जाते हैं उनको प्रवृत्त की संज्ञा दी जाती है तथा दृष्टादृष्ट फल की कामना से रहित (निष्काम) जो कर्म किये जाते हैं, उन कर्मों को निवृत्त की संज्ञा दी गयी है। (मनु० १२–६) **अधर्म के चारों पाद चार के लिए घातक होते हैं**—अधर्म के चार पाद होते हैं। पहला पाद अधर्म करने वाले को, दूसरा देखने वाले को, तीसरा सभासदों को और चौथा राजा को पहुँचता है, अर्थात् ये चारों पाप के भागी होते हैं। (मनु० ८–१८)

काल के अनुसार धर्मभेद

सत्य-प्रधान युग के बाद अधर्म के कारण धर्म ह्रास

सत्ययुग में धर्म सर्वांग-पूर्ण था और उसमें सत्य की भी पूर्ण मात्रा थी। त्रेता इत्यादि में अधर्म आदि द्वारा धन एकत्र करने पर एक-एक चौथाई धर्म घटता गया, तदनन्तर लुप्तप्राय ही हो गया। चोरी, झूठ और छल ये तीनों, त्रेता आदि तीनों युगों में क्रम से बढ़ते जाते हैं। (मनु० १–८२) सत्ययुग के धर्म और ही थे। शनैः शनैः धर्म का ह्रास हुआ तो त्रेता, द्वापर, कलि के धर्म में भी परिवर्तन होते गये। सत्ययुग में तप प्रधान था, त्रेता में आत्मज्ञान, द्वापर में यज्ञ आदि और कलि में दान ही श्रेष्ठ फलदायक है। (१–८५, ८६)

समयानुसार धर्मभेद (पराशर स्मृति)

सत्ययुग में मनुष्यों के लिए अन्य धर्म तथा त्रेता में दूसरा और द्वापर में उससे भी पृथक्, इस प्रकार कलियुग में भी युग के अनुरूप अन्य धर्म होता है। (१–२२) सत्ययुग में तप प्रधान धर्म माना जाता था, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ तथा कलि में

दान की प्रधानता मानी जाती है। सत्ययुग के लिए मनु की स्मृति मान्य थी, त्रेता में गौतम स्मृति द्वापर में शंख-लिखित स्मृति और कलि के लिए पराशर की स्मृति मान्य है। सत्ययुग में पापी के देश का परित्याग करे, त्रेता में ग्राम का द्वापर में कुल का तथा कलि में केवल कर्त्ता का ही परित्याग करना चाहिए। सत्ययुग में (पाप कर्म के अथवा पापात्मा के साथ) भाषण से पतित हो जाता है त्रेता में (पापी का) स्पर्श करने से द्वापर में उसका अन्न खाने से और कलि में पाप कर्म करने से पतित होता है। सत्ययुग में पाप उसी क्षण लग जाता है, त्रेता में दस दिन में द्वापर में एक मास में तथा कलि में एक वर्ष में पाप लगता है। सत्ययुग में जाकर दान दिया जाता है त्रेता में बुलाकर तथा द्वापर में माँगने पर, और कलि में सेवा करने पर दान दिया जाता है। जाकर दिया हुआ दान उत्तम कहलाता है बुलाकर दिया हुआ दान मध्यम, माँगने पर दिया हुआ दान अधम तथा सेवा करने पर दिया हुआ निष्फल (व्यर्थ) होता है। कलियुग में अधर्म से धर्म पराजित हो जाता है असत्य से सत्य, चोरों से राजा लोग तथा स्त्रियों से पुरुष पराजित हो जाते हैं। कलि में अग्निहोत्री दुखी होता है पुष्पूजा आदि नष्ट हो जाते हैं तथा कुमारियों को बच्चे पैदा होते हैं। सत्ययुग म अस्थि में प्राण रहता है त्रेता में मास में द्वापर में रुधिर में तथा कलि में अन्न आदि में प्राण रहता है। जिस युग में जैसा धर्म हो तथा उस युग में जो ब्राह्मण हों उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे ब्राह्मण युगानुरूप ही होते हैं। (पराशर स्मृति १–२२ से १–३३ तक)

विविध प्रकार के धर्म (सामान्य) और अधर्म

सत्य तथा प्रिय भाषण

सत्य और प्रिय बोलना चाहिए, अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए तथा झूठ प्रिय भी नहीं बोलना चाहिए। यही सनातन धर्म है। (मनु ४–१३८) असत्य का फल—पशु के विषय में झूठ बोलने पर पाँच भाइयों के विषय में झूठ बोलने पर दस गौओं के विषय में झूठ बोलने पर एक सौ तथा मनुष्य के विषय में झूठ बोलने पर एक हजार बन्धुओं को मारने का दोष लगता है (मनु ८–९८)। विभिन्न असत्यों का फल—सुवर्ण के विषय में झूठ बोलने पर जो पुत्र-पौत्रादि पैदा हुए हैं, तथा जो पैदा होने वाले हैं सब नष्ट हो जाते हैं। भूमि के विषय में झूठ बोलने वाला समस्त प्राणियों की हत्या का फल पाता है। अतः भूमि के विषय में कदापि झूठ न बोले। (मनु ८–९९) झूठ बोलने वाला चोर होता है—समस्त अर्थ वाणी में ही नियत हैं, शब्दों का मूल वाणी है सभी प्रकार वाणी से ही निकलते हैं। वस्तु-स्थिति को न कहकर अन्यथा कहना ही वाणी को चुराना है। अतः वाणी को चुराने वाला समस्त वस्तुओं का

घोर होता है। (मनु० ४–२५६)

उत्तम साक्षी आत्मा ही है अत उसका असत्य भाषण द्वारा तिरस्कार न करे

अपने शुभाशुभ कर्मों का साक्षी आत्मा ही है। आत्मा की गति आत्मा से ही सम्भव है। अत मनुष्यो के बीच परम साक्षी स्वरूप आत्मा का असत्य भाषण आदि (आत्महनन के मूल कारणों) द्वारा कभी तिरस्कार नही करना चाहिए। (मनु० ८–८४) **परमात्मा के समान आत्मा भी कर्मसाक्षी है**—पाप करने वाले समझते हैं कि हम लोगो को कोई नही देखता, किन्तु बात ऐसी नही है। उसे देवता लोग देखते है। (सबसे बडा देखने वाला, परमात्मा का प्रतिनिधि) अपने ही अन्दर रहने वाला आत्मा पल-पल प्रत्येक कार्यों को देखता रहता है। (मनु० ८–८५) **सत्यवक्ता की प्रतिष्ठा**—सत्य गवाही देने वाला व्यक्ति उत्तम लोक को प्राप्त करता है। वह इस लोक में भी उत्तम कीर्ति प्राप्त करता है। यही सत्य-वाणी ब्रह्म द्वारा भी पूजित है। साक्षी (गवाह) गवाही में झूठ बोलने से अति कठोर वरुण के पाश से बद्ध होता है और इस प्रकार सौ जन्म पर्यन्त विवश रहता है। अत सत्य गवाही देनी चाहिए। गवाह को कभी झूठ नही बोलनी चाहिए। सत्य बोलने से साक्षी पवित्र हो जाता है तथा धर्म की वृद्धि होती है। अत सभी वर्णों को गवाही में सत्य ही बोलना चाहिए। मनुस्मृति ८–८१–८२–८३) ब्रह्महत्या करने वाले को जो पाप लगता है, तथा स्त्री-बालक की हत्या का जो पाप है, मित्र के साथ वैर और कृतघ्नता करने मे जो पाप लगता है, झूठ बोलने से वे सभी पाप लगते हैं। (मनु० ८–६९) **झूठ बोलना पाप का मूल है**—महाशय! आजन्म आपने जो कुछ पुण्य कार्य किया है मिथ्या बोलने से वह सब पाप में परिणत हो जायेगा, अर्थात् कुत्ते (श्वान) चण्डालादि पद हो तुम्हे प्राप्त होगे (मनु० ६–७०)। **झूठी गवाही की दुर्गति**—गवाही में झूठ बोलने वाला नगा, मुण्डन किये हुए, भूख प्यास से आकुल होकर भिक्षापात्र हाथ में लिए शत्रु के घर में जन्म लेता है। (मनुस्मृति ८–९३) **भूमि सम्बन्धी मिथ्या भाषण के फल के समान फल वाले कार्य**—भूमि के सम्बन्ध में असत्य बोलने से जो दोष होता है वही दोष जल, कुआँ, तालाब आदि के विषय में, स्त्रियो के भोग विलास मैथुन आदि के विषय में, जल में उत्पन्न रत्न मोती आदि के विषय में तथा पाषाणमय वैदूर्य आदि मणि के विषय में, झूठ बोलने पर भी होता है। (मनु० ८–१००)

मिथ्या गवाही के कारण—झूठी गवाही देने के कारण इस प्रकार हैं—लोभ से, मोह से, भय से, मित्रता से, काम से, क्रोध से, अज्ञान से, असावधानी से और मूर्खता से लोग झूठी गवाही देते हैं। (मनु० ८–११८) **लोककल्याण के लिए मिथ्या**

मनुष्य का वेदाध्ययन, दान, यज्ञ नियम और तपस्याएँ आदि (समस्त कार्य) कभी सिद्ध नही होते। **जितेन्द्रिय का स्वरूप**—जो मनुष्य (प्रशसा या निन्दा की बात को) सुनकर, (चिकने कोमल रेशमी तथा रूखे कम्बल आदि वस्त्र को) छूकर, (सुन्दर या कुरूप को) देख कर, (स्वादयुक्त तथा स्वादहीन वस्तु को) खाकर, (सुगन्धि तथा दुर्गन्धि वस्तु को) सूंघ कर न प्रसन्न होता है और न खिन्न, वही जितेन्द्रिय है (मनु० २–९६)। **इन्द्रियसंयम की सर्व-पुरुषार्थ-हेतुता**—वाह्य इन्द्रिय-समूह तथा मन को वश में करके, उपाय से अपने शरीर को कष्ट न देता हुआ मनुष्य सम्पूर्ण पुरुषार्थों को सिद्ध करे (मनु० २–१००)। **इन्द्रिय-विषयो में आसक्ति का निषेध**—इन्द्रियों के विषयो में कामवश अधिक आसक्त न हो, इनमें अधिक आसक्ति को मन से रोके। (मनु०) **आत्म-सयम**—आत्मा को जिसने सयमित कर लिया है उसका यम क्या करेंगे? (आपस्तम्ब स्मृति १०–३) **पचेन्द्रिय-रत ब्राह्मण**—जो ब्राह्मण वेद का अध्ययन करते हैं तथा पच यज्ञो में निरत रहते हैं वे पचेन्द्रिय-रत रहने पर भी त्रैलोक्य का तारण करते हैं। (पराशर स्मृति ८–२७) **दुःशील द्विज और जितेन्द्रिय शूद्र**—दुःशील ब्राह्मण पूज्य होता है किन्तु जितेन्द्रिय शूद्र पूज्य नही होता। कौन व्यक्ति दुष्ट गाय को छोडकर साधु गदही को दुहता है? (पराशर०)

अहिंसा

निरपराध जीवों को मारने का फल

जो अपने आनन्द के लिए हिंसा न करने वाले जीवो का नाश करता है, वह इस लोक तथा परलोक मे कही भी सुख नही प्राप्त करता (मनु० ५–४५)। **अविहित हिंसा का निषेध**—गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम तथा वानप्रस्थाश्रम, किसी में भी रहता हुआ ब्राह्मण शास्त्रनिषिद्ध हिंसा कभी भी न करे (मनु० ५–४३)। **अहिंसा का फल**—धन दान से फलीभूत होता है और जीवन जीवो की रक्षा करने से, अहिंसक व्यक्ति रूप, ऐश्वर्य, और आरोग्य रूप अहिंसा का फल प्राप्त करता है। (बृहस्पति० ७१)

पशु हिंसा का विधान—

पितृ, देवता तथा अतिथि की पूजा में पशु की हिंसा करे। (वशिष्ठ स्मृति ४) **आततायी की हिंसा करने में दोष नहीं**—आततायी की हिंसा (हत्या) करने में रक्षा की इच्छा रखने वाले पुरुष को कोई पाप नही लगता। छ प्रकार के आततायी कहे गये हैं। अग्नि लगाने वाला, विष देने वाला, मारने के लिए हाथ में शस्त्र लेने वाला, धन का अपहरण करने वाला तथा क्षेत्र का अपहरण करने वाला, और स्त्री का हरण करने वाला, ये छ आततायी कहे गये हैं (वशिष्ठ स्मृति ३)। **अपने और दूसरे के दुःख-सुख को समान मानना**—सुख की इच्छा करने वाले को अपने आत्मा की

भाँति ही दूसरों को देखना चाहिए। सुख जैसा अपने लिए होता है उसी प्रकार दूसरों के लिए भी होता है। यदि कोई दूसरे को कुछ दुःख अथवा सुख देता है वह बाद में समस्त उसको ही प्राप्त होता है (दक्ष ३-२१।३-२२)

चित्त-शुद्धि आवश्यक—हजार बार मिट्टी लगाने और सैकड़ों घड़े जल से नहाने से जिनकी भावना निर्मल नहीं है वे दुष्ट मन वाले दुरात्मा कभी शुद्ध नहीं हो सकते। (दक्ष ५-१०-११)

सन्तोष की प्रशंसा —सुख चाहनेवाला अत्यन्त सन्तोष धारण कर संयमी बने। क्योंकि सन्तोष समस्त सुखों का मूल और असन्तोष समस्त दुःखों का उद्गम है। (मनु ४-१२)

यम-नियम—यमों का सदा सेवन करना चाहिए। आनृशंसता (अक्रूरता) क्षमा सत्य अहिंसा दान ऋजुता प्रीति प्रसाद (प्रसन्नता) मधुरता तथा मृदुता ये दस यम हैं। शौच यज्ञ तप दान स्वाध्याय इन्द्रियनिग्रह व्रत मौन उपवास तथा स्नान ये दस नियम हैं। (अत्रिस्मृति ४८।४७)

दान

दान अयोग्य धन

अवश्य पालनीय पुत्र स्त्री आदि आश्रित व्यक्तियों को दुःख पहुँचा कर जो पारलौकिक सुख धर्मवृद्धि के लिए धन खर्च करता है (दान करता है) वह दान उस दाता के जीवनकाल में तथा मृत्यु पश्चात् भी दुःखदायक हो जाता है (मनु)। वेदज्ञ ब्राह्मण को दान देना स्वर्गदायक है—यथाशक्ति दान देकर तथा स्त्री-पुत्र आदि सम्पन्न ब्राह्मणों को देना चाहिए। इस प्रकार के दान से ही स्वर्ग मिलता है। (मनु)

धर्मादि के अभाव में विद्यादान की निष्फलता

जिस शिष्य में धर्म और अर्थ न हो तथा विद्यायोग्य सेवावृत्ति भी न हो उस शिष्य को विद्या नहीं देनी चाहिए क्योंकि जिस प्रकार उत्तम बीज ऊसर में निष्फल होता है, उसी प्रकार सुविद्या ऐसे शिष्य में निष्फल हो जाती है। (मनु०२-११२) अपात्र को विद्यादान का निषेध—वेदज्ञ विद्वान् बिना किसी को पढ़ाये विद्या के साथ भले ही मर जाय परन्तु दुर्गम परिस्थिति एवं महा-आपत्काल में भी अपात्र शिष्य को विद्यादान न दे। (मनु २-११३) असूयक के पास जाने से विद्या बचाती है—विद्या (विद्या की अधिष्ठात्री देवी) ने ब्राह्मण के पास जाकर कहा कि मैं तुम्हारा कोष (खजाना) हूँ मेरी रक्षा करो। मेरी निन्दा करने वाले को मुझे मत दो। इससे मैं अत्यन्त वीर्यवती होऊँगी। (मनु) अपात्र को दान देने का फल—अज्ञानी

मनुष्य के द्वारा वेद तथा वेदार्थ ज्ञान से हीन ब्राह्मण के लिए देवों तथा पितरों के उद्देश्य से दिये गये हव्य तथा कव्य नष्ट हो जाते हैं। वे देवों और पितरों को नहीं मिलते हैं। (मनु० ३–७६) **सत्पात्र को दान देने का फल**—विद्या तथा तप से समृद्ध ब्राह्मण के मुख रूपी अग्नि में हवन किया हुआ (श्रेष्ठ ब्राह्मण को खिलाया गया) अन्न दुस्तर दुर्ग (कठिनता से पार करने योग्य), रोग, राजभय, शत्रुभय आदि तथा पाप से भी छुड़ा देता है। (मनु० ३–८७) **दस लाख ब्राह्मणों की अपेक्षा एक विद्वान ब्राह्मण को दिये गये दान की श्रेष्ठता**—जिस श्राद्ध में हजार गुने हजार (लाखों) बिना पढ़े हुए ब्राह्मण भोजन करते हों वहाँ यदि वेद पढ़ने वाला एक ही ब्राह्मण भोजन करके सन्तुष्ट हो जाये तो वह उन दस लाख भोजन करने वाले ब्राह्मणों के योग्य (तुल्य) होता है। (मनु० ३–१३१) **ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण को हव्य-कव्य दान**—ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मणों के लिए यत्नपूर्वक कव्य दान करना चाहिये, हव्य दान ज्ञान-निष्ठ, तपोनिष्ठ, स्वाध्यायनिष्ठ तथा कर्मनिष्ठ चारों के लिए करना चाहिए। (मनु० ३–३५) **श्राद्ध में मित्रादि को भोजन कराने का निषेध**—श्राद्ध में मित्र को भोजन न कराये। धन के द्वारा मित्रता को बढ़ाये तथा मित्रों का संग्रह करे। जिस वेदज्ञ ब्राह्मण को न शत्रु समझे और न मित्र, उस ब्राह्मण को ही श्राद्ध-यज्ञादि में भोजन कराये। (मनु०) **शूद्र याजक से प्रतिग्रह (दान) लेने का निषेध**—वेदज्ञ ब्राह्मण भी लोभ से शूद्र याजक का प्रतिग्रह (दान) लेकर पानी में पड़े कच्चे घड़े के समान शीघ्र नष्ट हो जाता है। (मनु० ३–१७९) **दान लेने से ब्रह्मतेज का क्षय**—विद्या तप आदि के कारण दान लेने में समर्थ होता हुआ भी यथा शक्ति उसके प्रसंग का परित्याग करे। परिवार के पालन-पोषण आदि के चलते रहने पर बार-बार लोभवश दान न ले क्योंकि इस प्रकार दान लेने से दान लेने वाले का ब्रह्मतेज शीघ्र शान्त हो जाता है। दान ग्रहण करने के कारण ब्राह्मण का ओज हीन हो जाता है। (मनु० ४–१८६) **अभक्ष्य अन्न ग्रहण का फल**—राजा का अन्न तेज को, शूद्र का अन्न ब्रह्मवर्चस को, सोनार का अन्न आयु को और चमार का अन्न यश को ले लेता है। अतः इनके अन्न को नहीं खाना चाहिए। (मनु० ४–२१८) **कथन आदि से दान आदि के फल का नाश**—असत्य बोलने से यज्ञ नष्ट हो जाता है। विस्मय करने से तपस्या नष्ट हो जाती है। ब्राह्मण को दुर्वचन कहने से आयु, और दान की हुई वस्तु का जिक्र करने से दान का फल नष्ट हो जाता है। (मनु०) **श्रद्धापूर्वक सत्पात्र को दान करने का फल**—पात्र (सत्पात्र) को प्राप्त कर श्रद्धापूर्वक दिया हुआ दान, देने वाले को स्वर्ग में थोड़ा बहुत फल देने वाला होता है। (मनु० ७–८६) **अनुचित पात्र से लेकर सत्पात्र को दान देने का श्रेय**—जो व्यक्ति असज्जनों से धन लेकर सज्जनों की सहायता देते

है वे अपने आप स्वयं नाव बन कर दूसरे को भी पार लगा देते हैं। वे व्यक्ति जितना धन लेते हैं उनके पाप भी नष्ट हो जाते हैं तथा जिसे देते हैं उसकी दुर्गति से रक्षा हो जाती है। (मन ११-१७) श्रद्धा रहित दान का फल—देवयज्ञ में अश्रद्धा से जो ब्राह्मण और अग्नि को दान दिया जाता है उस दान से देवता तृप्त नहीं होते और वह दाता का दान निष्फल हो जाता है। (अत्रिस्मृति १५१) वेद माता तथा दान की प्रशंसा—वेद से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं है। माता से बढ़कर कोई गुरु नहीं है और दान से बढ़कर इस लोक या परलोक में कोई मित्र नहीं है (अत्रि १४८) विद्या दान का महत्व—समस्त दानों से विद्या दान अधिक महत्व वाला होता है। (अत्रिस्मृति १११) सत्पात्र को दान देने का फल—श्रेष्ठ ब्राह्मण को, कुलीन को तथा विशेष रूप से आवश्यकता वाले याचक को जो भक्तिपूर्वक दान दिया जाता है उसका सुन्दर और महान् फल होता है। (संवर्तस्मृति ४०) विद्या दान का फल—सुन्दर बुद्धि वाला ब्राह्मण विद्या दान करने से ब्रह्मलोक में पूजित होता है। (संवर्तस्मृति ८८) अन्न-दान—यथा-शक्ति थोड़ा-थोड़ा अन्न निकालकर विधिवत् पितरों और मनुष्यों को प्रति दिन ब्राह्मण दे। (कात्यायनस्मृति १३-७) ब्रह्मदान की श्रेष्ठता—कन्यादान से भी ब्रह्मदान (विद्यादान) श्रेष्ठ होता है। (कात्यायन १४-१५) भूमिदान तथा उसका फल—जिस प्रकार पृथ्वी तल में बिखरे हुए बीज (समय पाकर) अंकुरित होते हैं उसी प्रकार भूमि दान से अर्जित पुण्य वाले पुरुष की समस्त कामनाएँ फलीभूत होती हैं। अन्न देने वाला सुखी होता है, वस्त्र देने वाला रूपवान् होता है किन्तु पृथ्वी दान करने वाला सब वस्तुओं का दान करने वाला माना जाता है। अतः वह राजा होता है। (बृहस्पतिस्मृति ११।१३) तीन अतिदान—गौ पृथ्वी और सरस्वती का दान अतिदान कहलाता है ये तीनों दान क्रमश दोहन (दूध दुहना) वापन (बीज बोना) और जप के द्वारा दाता को तार देते हैं। (बृ १८) दान का महत्त्व—पाप कर्म करके भी जो याचक को और विशेष रूप से ब्राह्मण को धन देता है, वह पाप के प्रकोप से मुक्त हो जाता है। (बृ ६७) दान के द्वारा ही धन फलीभूत होता है। (बृहस्पति स्मृति ७१) दान का पात्र—कुटुम्ब वाले गरीब विशेष रूप से वेदज्ञ ब्राह्मण को जो दान दिया जाता है वह दान शुभकारक होता है। (पराशर १२-४८) जो धन किसी काम में नहीं आता उसका दान क्यों न करे—जो धन न धर्म के लिए है न काम के लिए और न कीर्ति के लिए जिसको छोड़ कर ही जाना है ऐसे धन का दान क्यों नहीं करते? (व्यास-स्मृति ४-२) कम से भी कम दान—एक ग्रास में से भी आधा ग्रास क्यों नहीं देते? अपनी इच्छा के अनुकूल सम्पत्ति कब किसको मिलती है और किसकी?

(व्यासस्मृति ४–२३) बिना मांगे दिये दान का महत्व—बिना बुलाए आये हुए को तथा बिना मांगे दिया हुआ दान कभी नष्ट नहीं होता। भले ही युग का अन्त हो जाय, पर उस दान का अन्त सम्भव नहीं। (व्यास ४–२६) स्वसम्बन्धियों को भी दान देना—माता-पिता को जो दान दिया जाता है या भ्राता अथवा दामाद या जो दान दिया जाता है, अथवा स्त्री और बालक को जो दान दिया जाता है, वह अनन्त (अपार) होकर स्वर्ग का कारण होता है। पिता को दिया हुआ दान सौ गुना, माता को दिया हुआ हजार गुना, भगिनी (बहन) को दिया हुआ लाख गुना और भाई को दिया हुआ दान अक्षय हो जाता है। (व्यासस्मृति ४–२७।४–३०) गुणी को दान देना चाहिये—जिसके घर में मूर्ख हो और गुणसम्पन्न पुत्र हो वहां गुणयुक्त पुत्र को ही दान देना चाहिए। किन्तु मूर्ख के लिए अनादर नहीं करना चाहिए। (व्यासस्मृति ४–३२)

दिया हुआ धन ही सार्थक है—जो धन ब्राह्मणों को दे दिया गया अथवा अग्नि में हवन कर दिया गया उसी धन को धन कहा जाता है, शेष धन निरर्थक है (व्यास स्मृति ४–३७) मूर्ख को भोजन भी न दे—वेद से परिपूर्ण, मूर्ख यानी वेदश ब्राह्मण ने यदि अच्छी तरह खा लिया हो तो भी उसे खिलाना चाहिए किन्तु छः रात्रि से निराहार मूर्ख को भोजन देना ठीक नहीं। (व्यास ४–५२) मूर्ख को दान देने का निषेध—मूर्ख को दान देना उचित नहीं। (व्यास ४–६८) शूर, पण्डित और दाता—रण में विजय मात्र से कोई शूर नहीं होता और न शास्त्र अध्ययन करने मात्र से कोई पण्डित, वाक् में निपुण होने से न कोई वक्ता, और न धन मात्र का दान करने से कोई दाता ही होता है। किन्तु शूर वही है जो इन्द्रियों पर विजय करे, पण्डित वही है जो धर्म का आचरण करे, वक्ता वही है जो हितकर वचन बोले, और दाता वही है जो सम्मान (आदर) के साथ दान दे। (व्यासस्मृति ४–५७।४–६०) सफल दान—माता, पिता, गुरु, मित्र, विनम्र, उपकारी, दीन और अनाथ को दिया हुआ दान सफल होता है। (३–१६ दक्ष० स्मृति) निष्फल दान—धूर्त, बन्दी, मल्ल, खराब वैद्य, कितव (पाखण्डी), शठ, चाटु (चापलूस) चारण तथा चोर को दिया हुआ दान निष्फल हो जाता है। (दक्ष० ३–१७)

अतिथि-सत्कार

अन्नादि के अभाव में अतिथि-सत्कार

तृण (घास—आसन एवं शयन के लिए), भूमि (बैठने के लिए), जल (पीने के लिए) और मधुर वचन, ये चारों तो सज्जनों के घर से कभी दूर नहीं होते (सदैव विद्यमान रहते हैं), अतएव अन्नादि के अभाव में इन्हीं के द्वारा अतिथियों का सत्कार करना चाहिए। (मनु० ३–१०१) बिना अतिथि को दिये स्वयं भोजन न

करने का विधान—जो अतिथि को नहीं खिलाया जाय ऐसा घी दूध मिठाई आदि पदार्थ स्वयं भी न खाये। अतिथि का पूजन (भोजनादि से आदर सत्कार) करना धन, आयु, यश तथा स्वर्ग का कारण होता है। (मनु ३-१ ६) अतिथि की परिभाषा तथा सत्कार आदि का फल—आतिथ्य और वैश्वदेव आदि कर्म प्रति दिन करने चाहिए। इष्ट (मित्र) हो या द्वेष्य (शत्रु) पण्डित हो या मूर्ख वैश्वदेव के उपरान्त आया हुआ अतिथि स्वर्ग का निमित्त होता है। दूर से आये हुए, थके तथा वैश्वदेव के पश्चात् उपस्थित को ही अतिथि समझना चाहिए। पहले आया हुआ (अर्थात् पूर्व परिचित) अतिथि नहीं होता। कभी भी एक ग्राम के अतिथि का संग्रह नहीं करना चाहिए। अनियमित रूप से आने के कारण ही उसकी अतिथि संज्ञा हुई है। आये हुए अतिथि का सत्कार (पूजन) स्वागत आसन प्रदान पाद-प्रक्षालन आदि के द्वारा करना चाहिए। श्रद्धापूर्वक अन्न देकर, प्रिय प्रश्न और उत्तर के द्वारा तथा जाते समय उसका अनुगमन करके गृहस्थ अतिथि को प्रसन्न करे। जिसके द्वार से अतिथि निराश होकर लौट जाता है उसके पितर १५ वर्षों तक नहीं खाते हैं। हजारों मन काष्ठ व सैकड़ों घड़े घी की आहुति करने वाले का होम निरर्थक हो जाता है यदि उसके द्वार से अतिथि निराश होकर चला जाता हो। (पराशरस्मृति १-३९ से १-४६) अतिथि की प्रतीक्षा करनी चाहिए—बिना भोजन किये अतिथि की प्राप्ति की इच्छा से युक्त मन सहित मुहूर्तभर (दो दण्ड तक) घर के द्वार पर बैठ कर अतिथि की प्रतीक्षा करनी चाहिए। अतिथि यज्ञ से भी अधिक माना जाता है। समय पर उपस्थित अतिथि तथा घर पर आये हुए वेद-पारगत ये दोनों पूजित होने पर स्वर्ग के दाते हैं और अपूजित होने पर अधोगति-दायक होते हैं। (व्यासस्मृति ३-१७।१-४)

त्रिविध अशुभ कर्म

अशुभ कर्म का अशुभ फल—मानस कर्म का फल मन से ही भोगना पड़ता है। वाणी से किये हुए फल वाणी से तथा शरीर से किये अशुभ कर्म का फल शरीर द्वारा ही भोगना पड़ता है। (मनु १२) त्रिविध कर्मों से त्रिविध गतियाँ—शरीर वचन और मन से किये गये शुभ और अशुभ कर्मों के फल स्वरूप मनुष्य उत्तम, मध्यम और नीच गति को प्राप्त करता है। (मनुस्मृति १२-३) मानसिक अशुभ कर्म—दूसरे के धन को लेने की इच्छा मन में दूसरों के अनिष्ट का चिन्तन नास्तिक बुद्धि रखना या भावना करना ये तीन मानसिक अशुभ कर्म कहे जाते हैं। (मनुस्मृति १२-५) वाचिक अशुभ कर्म—कठोर वचन कहना झूठ बोलना परोक्ष में निन्दा करना बिना मतलब बकवास करना ये चार प्रकार के वाचिक अशुभ कर्म कहे गये हैं। (मनु १२-६)

त्रिविध गुण

सात्विक गुण के लक्षण—वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, शुद्धता, इन्द्रियदमन, धर्म-क्रिया तथा आत्म-चिन्तन ये सात्विक गुण के लक्षण है। (मनु० १२–३१) **राजस गुण के लक्षण**—फलाभिलाषी धन कार्य का प्रारम्भ करना, अधैर्य, अनुचित कार्य का विधान, नित्य विषयो का चिन्तन, ये सभी राजस गुण के लक्षण है। (मनु० १२–३२) **तामस गुण के लक्षण**—लोभ, अधिक शयन, अधीरता, क्रूरता, नास्तिकता, भिन्न वृत्ति, मांगने का स्वभाव तथा प्रमाद ये तामस गुण के लक्षण हैं।

(मनु० १२–३३)

महापाप तथा पापी पुरुष

ब्राह्मण की हत्या करने वाला, मद्यपान करने वाला, चोर और गुरु की स्त्री से व्यभिचार करने वाला, ये भिन्न भिन्न कर्म करने वाले महापापी है। (मनु०) **पाँच महान् पाप**—प्रथम महापाप ब्राह्मण की हत्या, द्वितीय गुरु पत्नी से व्यभिचार, तृतीय शराव पीना और चौथा चोरी करना तथा पञ्चम महापातक इन चार प्रकार के पापियों के साथ सम्बन्ध रखना है। (अत्रिस्मृति १६४। १६५)

पापियों पर अनुग्रह नहीं करना चाहिए—स्नेह से अथवा लोभ से, भय से अथवा अज्ञान से जो पापियो पर कृपा करता है, वह पाप, पा पर अनुग्रह करने वाले के ऊपर आ जाता है। (लिखित० ७३) **पच महापातक**—गुरु स्त्री से व्यभिचार, शराब पान, भ्रूण-हत्या, ब्राह्मण से सोने का अपहरण तथा पतितो के साथ का व्यवहार ये पांच महापातक हैं। **चार महापातकी**—माता, पिता तथा ब्राह्मण की हत्या करने वाले और गुरु की स्त्री के साथ अनाचार करने वाले, चारों महापातकी होते हैं। (आपस्तम्ब ९–३०) **क्रोध**—प्राणियो के लिए तीक्ष्ण तलवार तथा दूर रहने वाला सप उतना विनाशक नही होता जितना विनाशक शरीर में रहने वाला क्रोध होता है। (आपस्तम्ब १०–४) **क्रोधयुक्त व्यक्ति के सभी कर्म निष्फल होते हैं**—क्रोधयुक्त पुरुष जो यज्ञ करता है, जो हवन या पूजन करता है, वे सब उसका उसी प्रकार नाश करते हैं जिस प्रकार जल कच्चे घर का नाश करता है। (आपस्तम्ब १०–८)

क्षमा—क्षमा प्राणियो का गुण है। क्षमावान् पुरुषो में इस एक दोष के अतिरिक्त दूसरा दोष नही, कि लोग क्षमावान् पुरुष को असमर्थ (अशक्त) समझते है। (आपस्तम्ब १०–१०–५)

आपद्धर्म

आपद्धर्म दोषयुक्त नहीं कहे जाते—

क्षुधा का प्रतिकार करता हुआ क्षुधित अजीगर्त पुत्र-हत्या में प्रवृत्त हुआ

फिर भी वह धर्मलिप्त नहीं हुआ। अधर्म और धर्म को भली भाँति जानने वाले महर्षि वामदेव प्राणरक्षा के लिए कुत्ते का मांस खाने की इच्छा करते हुए भी दोषी न हुए। भरद्वाज मुनि ने मनुष्य रहित वन में वृधु नामक बढ़ई से बहुत सी गायें दान में लीं तथा धर्माधर्म को जानने वाले विश्वामित्र ऋषि ने क्षुधा से पीड़ित होकर चाण्डाल से लेकर कुत्ते की जाँघ का मांस खाने की इच्छा व्यक्त की। (मनु १ ५) आपत्ति काल में अब्राह्मण से अध्ययन—आपत्ति काल में अब्राह्मण से भी ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करे तथा अध्ययन काल तक उस अब्राह्मण गुरु का अनुगमन और शुश्रूषा भी करे। (मनु २-२४१)

प्राण रक्षार्थ मांस भक्षण का विधान

प्रोक्षण नामक संस्कार से शुद्ध किए हुये तथा यज्ञादि के बचे हुए मांस को यथाविधि भक्षण कर सकता है। दूसरा आहार न मिलने पर प्राणों का नाश होता हो और रोग उत्पन्न होता हो तो नियमपूर्वक मांस खाया जा सकता है। ब्रह्मा ने समस्त जगत को प्राणरक्षा के लिए ही बनाया है। अतः प्राणरक्षा के लिए स्थावर (धान्य) जंगम (पशु) आदि सभी भोजन खा सकते हैं। परन्तु यह विधान केवल आपत्काल के लिए ही है (मनु ५-२७-२८)। चातुर्वर्ण्य के लिए आपत्ति काल का कार्य—क्षत्रिय अपने बाहुवीर्य से आपत्ति से पार हो, वैश्य शूद्र धन से तथा ब्राह्मण जप-होम से आपत्ति से पार हो। (मनु ११-३४) आपत्ति-काल के धर्म अनापत्ति काल में किये जाने पर निष्फल—आपत्ति काल में कहे गये धर्म का जो अनापत्ति काल में प्रयोग करते हैं वे उस धर्म का फल परलोक में नहीं पाते हैं। (मनु ११-२८)

विशेष धर्म

स्वधर्म-महत्त्व

अपने-अपने कर्म को करते हुए, अपने-अपने कर्म में उपस्थित, दूर रहने वाले मनुष्य भी लोकप्रिय होते हैं। (अत्रिस्मृति १२) जो धर्म जिसके लिए जैसा बताया गया है उसके लिए वैसा ही है इसलिए आपत्तिरहित समय में ब्राह्मण को अपना धर्म (यथोचित) पालन करना चाहिए। भगवान् नरसिंह जितना अपना धर्म पालन करने से मनुष्यों पर प्रसन्न होते हैं उतना अन्य किसी कर्म से वे प्रसन्न नहीं होते। (हारीतस्मृति ७-१।७-१।७-२) स्वधर्म का परित्याग न करे—जो ब्राह्मण अपने कर्म का परित्याग करके अन्य कर्म अज्ञान अथवा लोभ से करता है वह उस कर्म द्वारा पतित हो जाता है (दक्षस्मृति २-३।२-४)। चारों वर्ण तीनों लोक तथा चारों आश्रम वेदमूलक हैं—चार वर्ण तीन लोक, चार आश्रम इत्यादि जो पृथक् पृथक् निर्मित किये गये हैं, उन सब का उद्गम स्थान वेद ही है। यही नहीं, भूत भविष्य

और वर्तमान की प्रसिद्धि भी वेद से विहित है (मनु० १२–१७)। वर्णों की सृष्टि— लोक वृद्धि के लिए भगवान् ने मुख से ब्राह्मण बाहुओं से क्षत्रिय, उरु से वैश्य तथा पाँवों से शूद्र की सृष्टि की (मनु० १–३१)। ब्राह्मण आदि जातियों के कर्म का निर्माण— महातेजस्वी उस ब्रह्मा ने निर्मित सृष्टि की रक्षा के लिए मुख, बाहु उरु और पैर से उत्पन्न चारों वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न कर्मों को बनाया।

चार वर्णों के कर्म

ब्राह्मण के कर्म—पढ़ना, पढ़ाना यज्ञ करना, दान देना तथा दान लेना आदि कर्म ब्राह्मणों के लिए बनाये गये। (मनु० १०–१५) **क्षत्रिय के कर्म**—प्रजाओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना और विलासिता में अनासक्त रहना आदि क्षत्रिय के कर्म हैं। (मनु० १–८७) **वैश्य के कर्म**—पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, व्यापार वृत्ति करना, सूद लेना (ब्याज लेना) और खेती करना, ये वैश्य के नियत कार्य हैं। (मनु० १–९०) **शूद्र के कर्म**—ईश्वर ने शूद्र के लिए एक ही कार्य बताया। ईर्ष्या-द्वेष रहित होकर इन (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) तीनों वर्णों की सेवा करे। अध्ययन अध्यापन, यजन याजन, दान तथा प्रतिग्रह ये छ ब्राह्मण के कर्म हैं। अध्ययन, यजन और दान ये क्षत्रिय के कर्म हैं। शस्त्र के द्वारा प्रजा की रक्षा करना तथा इसी से अपनी जीविका चलाना भी क्षत्रिय का अपना धर्म है। वैश्य के भी इसी प्रकार कृषि, व्यापार, पशुपालन ये तीन कर्म हैं तथा कुसीद (सूद पर रुपया देना) उसकी वृत्ति है। इन तीनों वर्णों की सेवा शूद्र का कर्तव्य है और इसकी वृत्ति अनियत है। (वशिष्ठस्मृति २) **क्षत्रियकर्म**—क्षत्रिय का सबसे प्रधान कर्म प्रजा का पालन करना है। अतः सब प्रकार के प्रयत्न से राजा प्रजा का पालन करे। (विष्णुस्मृति ५–३) **क्षत्रिय तथा वैश्य का कर्म**—दान, अध्ययन तथा विधिवत् यजन, क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए निर्धारित कर्म हैं। (शंख १–३) क्षत्रिय का विशेषरूप से प्रजा का सम्यक् पालन करना तथा कृषि, गौ सेवा और व्यापार वैश्य के कर्म हैं। (शंख १–४) **शूद्र का कर्म**—द्विजाति मात्र की सेवा करना अथवा समस्त शिल्पों को सीखना शूद्रों का कर्म है। **क्षत्रिय कर्म**—क्षत्रिय की यजन, दान, अध्ययन, तप, शस्त्र से जीवन, भूतों का रक्षण आदि वृत्तियाँ हैं। (अत्रि० १४) **वैश्य तथा शूद्र का कर्म**—वैश्य के दान, अध्ययन, वार्ता (खेती बारी), यजन आदि कर्म हैं, शूद्र के वार्ता (खेती बारी), द्विजातियों की सेवा तथा बढ़ई का कार्य आदि कर्म हैं। (अत्रिस्मृति)

ब्राह्मण सबका प्रभु (स्वामी) है—मुख से उत्पन्न होने के कारण उत्तमांगोद्भव, क्षत्रिय आदि जातियों से पूर्व में उत्पन्न होने के कारण ज्येष्ठ, अध्ययन तथा

फिर भी वह पापलिप्त नहीं हुआ। अधर्म और धर्म को भली भाँति जानने वाले महर्षि वामदेव प्राणरक्षा के लिए कुत्ते का मांस खाने की इच्छा करते हुए भी दोषी न हुए। भरद्वाज मुनि ने क्षुधार्त निर्जन वन में वृबु नामक बढ़ई से बहुत सी गायें दान में ली तथा धर्माधर्म को जानने वाले विश्वामित्र ऋषि ने क्षुधा से पीड़ित होकर चाण्डाल से लेकर कुत्ते की जाँघ का मांस खाने की इच्छा व्यक्त की। (मनु० १ ५) आपत्ति काल में अब्राह्मण से अध्ययन—आपत्ति काल में अब्राह्मण से भी ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करे तथा अध्ययन काल तक उस अब्राह्मण गुरु का अनुगमन और शुश्रूषा भी करे। (मनु २-२४१)

प्राण रक्षार्थ मांस भक्षण का विधान

ब्राह्मण प्रोक्षण नामक संस्कार से शुद्ध किए हुये तथा यज्ञादि से बचे हुए मांस को यथाविधि भक्षण कर सकता है। दूसरा आहार न मिलने पर प्राणों का नाश होता हो और रोग उत्पन्न होता हो तो नियमपूर्वक मांस खाया जा सकता है। ब्रह्मा ने समस्त जगत को प्राणरक्षा के लिए ही बनाया है। अतः प्राणरक्षा के लिए स्थावर (धान्य) जंगम (पशु) आदि सभी भोजन बन सकते हैं। परन्तु यह विधान केवल आपत्काल के लिए ही है (मनु ५-२७-२८)। चातुर्वर्ण्य के लिए आपत्ति काल का कार्य—क्षत्रिय अपने बाहुवीर्य से आपत्ति से पार हो वैश्य शूद्र धन से तथा ब्राह्मण जप-होम से आपत्ति से पार हो। (मनु ११-३४) आपत्ति-काल के धर्म अनापत्ति काल में किये जाने पर निष्फल—आपत्ति काल में कहे गये धर्म का जो अनापत्ति काल में प्रयोग करते हैं, वे उस धर्म का फल परलोक में नहीं पाते हैं। (मनु ११-२८)

विशेष धर्म

स्वधर्म-महत्त्व

अपने-अपने कर्म को करते हुए, अपने-अपने कर्म में उपस्थित हुए रहने वाले मनुष्य भी लोकप्रिय होते हैं। (अत्रिस्मृति १२) जो धर्म जिसके लिए जैसा बताया गया है उसके लिए वैसा ही है इसलिए आपत्तिरहित समय में ब्राह्मण को अपना धर्म (वर्णोचित) पालन करना चाहिए। भगवान् नरसिंह जितना अपना धर्म पालन करने से मनुष्यों पर प्रसन्न होते हैं उतना अन्य किसी कर्म से वे प्रसन्न नहीं होते। (हारीतस्मृति ७-११।७-१७।७-२) स्वधर्म का परित्याग न करे—जो ब्राह्मण अपने कर्म का परित्याग करके अन्य कर्म अज्ञान अथवा लोभ से करता है वह उस कर्म द्वारा पतित हो जाता है (दक्षस्मृति २-१।२-४)। चारों वर्ण तीनों लोक तथा चारों आश्रम वेदमूलक हैं—चार वर्ण तीन लोक, चार आश्रम इत्यादि को पृथक पृथक निर्मित किये गये हैं, उन सब का उद्गम स्थान वेद ही है। यही नहीं भूत, भविष्य

से ब्राह्मण तत्काल पतित हो जाता है और दूध बेचने से तीन दिन में शूद्र हो जाता है। **ब्राह्मण को अध्यापन आदि कर्म से दोष नहीं लगता**—ब्राह्मणों को अध्यापन, याजन तथा गर्हित दान आदि ग्रहण करने में दोष नहीं लगता। (मनु० १०–१३०) ये स्वत अपने कर्मों में जल और अग्नि के समान परम पावन हैं।

पाप-कर्म-प्रवृत्त क्षुधार्त ब्राह्मण निर्दोष—क्षुधाकुल अजीगर्त अपने लडको को मारने के लिए दौडा, पर यह कर्म क्षुधा का प्रतिकार करने वाला था, अत वह पाप-युक्त नही हुआ। (मनु० १०–१०५) **नीच से दान लेने पर भी निर्दोष**—क्षुधार्त, पुत्र के साथ महातपस्वी भरद्वाज ने जगल में वृधु नामक बढई से बहुत सी गायें दान ली, तथापि वे दूषित न हुए। (मनु० १०–७) **ब्राह्मण के लिए सेवा वृत्ति का निषेध**—यद्यपि वाणिज्य वृत्ति झूठ-सच युक्त है, तथापि इससे जीविका का उपार्जन किया जा सकता है, परन्तु सेवा वृत्ति से ब्राह्मण कभी जीविका उपार्जन न करे। इसे कुत्ते की वृत्ति कहते हैं। यह पेशा सर्वदा वर्जित है। (मनु० ४–६२) **ब्राह्मण का धन इतर जाति के लिए अग्राह्य**—ब्राह्मण का धन क्षत्रियादि वर्णों को हरण नही करना चाहिए। दस्यु तथा निष्क्रिय ब्राह्मण का धन उसे जीवित रखते हुए क्षत्रिय हरण कर सकता है। (मनु० ११–१८) **शराबी ब्राह्मण की पुनर्जन्म की योनि का विधान**—कृमि, कीट, पतग, विष्टाभोजी, पक्षी तथा हिंसक व्याघ्र आदि योनियों में मदिरा पीने वाला ब्राह्मण जाता है।

विप्र के लक्षण

शौच, शुभ कार्य, शारीरिक परिश्रम न करना, अनसूया और अस्पृहा, दया और दान, ये ब्राह्मण के लक्षण हैं। (अत्रिस्मृति ३३) **ब्राह्मण क्यों बनाये गये**—तीन लोक, तीन वेद, चार आश्रम तथा तीन अग्नियों की रक्षा करने के लिए प्रथम काल में ब्राह्मणों की सृष्टि की गयी है। (अत्रिस्मृति २५) **ब्राह्मण के इष्टा-पूर्त आदि कर्म**—ब्राह्मण को प्रयत्न से इष्ट (यज्ञ) तथा पूर्त (परोपकार) के काम अवश्य करने चाहिए। (अत्रि० ४२) **ब्राह्मण के कर्म**—ब्राह्मणों के छ कर्म होते हैं, महात्मा लोग ऐसा कहते हैं। इन्ही छ कर्मों में जो प्रवृत्त रहता है वह सुख प्राप्त करता है। अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान तथा प्रतिगृह (दान लेना) यही छ कर्म ब्राह्मण के लिए कहे गये हैं। सम्यक् स्नानादि से सम्पन्न ब्राह्मण को प्रति दिन वैश्वदेव करना चाहिए तथा आए हुये अतिथियों की पूजा यथा-शक्ति बिना विचार किये ही करनी चाहिए। गृहस्थ अन्य अभ्यागत तथा विप्रों की यथा-शक्ति पूजा करे। सदा अपनी पत्नी से प्रसग करे और पर-स्त्री का सदा परित्याग करे। उदार बुद्धि रखते हुए प्रात तथा सायकाल होम करने के उपरान्त

अध्यापन वेदोक्त सदाचार आदि पुण्य कर्मों में श्रमपूर्वक निष्ठा होने के कारण ब्राह्मण सारे संसार के स्वामी है। (मनु १-९१) ब्राह्मण की सर्वश्रेष्ठ मान्यता—स्थावर जंगम भूतों में प्राणी श्रेष्ठ है। प्राणियों में बुद्धिजीवी प्राणी श्रेष्ठ है। बुद्धि जीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है। (मनु १-९६) वह वैसा ब्राह्मण श्रेष्ठतम माना जाता है—ब्राह्मणों में विद्वान् ब्राह्मण श्रेष्ठ है। विद्वानों में शास्त्रोक्त विधि-सम्पादित कर्मज्ञ ब्राह्मण श्रेष्ठ है। उनमें भी ब्रह्मज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है। (मनु १-९७) ब्राह्मण को धन सम्बन्धी सर्वाधिकार प्राप्ति का विधान—जो कुछ भी संसार में धन सम्पत्ति है सर्वश्रेष्ठ होने के कारण उसे लेने का पूर्ण अधिकार ब्राह्मण को है। (मनु १-१) वर्ण के क्रम से ज्ञान आदि की श्रेष्ठता—ब्राह्मणों की विद्या से क्षत्रियों की बल से वैश्यों की धन से और शूद्रों की जन्म से श्रेष्ठता होती है। (मनु १-१५५) अवस्था की अपेक्षा वेदज्ञान की श्रेष्ठता—अधिक वर्ष की उम्र (अधिक वय की आयु होने) से पके हुए बालों से धन से अथवा बान्धवों से कोई बड़ा नहीं होता। किन्तु जो साङ्ग वेदों का ज्ञाता है वही बड़ा है ऐसा ऋषियों ने कहा है। (मनु १-१५४) अवस्था की अपेक्षा ज्ञान द्वारा वृद्धत्व—बाल पक जाने मात्र से कोई बड़ा नहीं हो जाता, किन्तु युवा पुरुष भी यदि विद्वान् हो तो उसे ही देवता लोग वृद्ध कहते हैं। (मनु १-१५६) कर्म न करने वाले ब्राह्मण की दुर्दशा—वेद न पढ़कर, पुत्रोत्पत्ति न करके यज्ञादि कर्म के बिना जो मुक्ति चाहता है वह ब्राह्मण अधोगति को जाता है। (मनु)।

ब्राह्मण सब वर्णों के लिए नियम विधायक

शास्त्र के अनुकूल ब्राह्मण सब जातियों के लिए जीविका का प्रयत्न निश्चित करे। स्वयं नियम पालन करे तब औरों को उपदेश दे। अन्यथा केवल उपदेश से कोई काम नहीं। (मनु १०-२) ब्राह्मण के लिए प्रभु-पद का विधान—जाति की विशेषता से प्रकृति की श्रेष्ठता से तथा नियमों को धारण करने से एवं विशेष संस्कारों द्वारा संस्कृत होने से ब्राह्मण सब जातियों में प्रभु के समान है। (मनु)

शूद्रों का उत्कृष्ट तथा कल्याणकारी धर्म—वेदज्ञ ब्राह्मणों की तथा यशस्वी गृहस्थ की सेवा करना ही शूद्र का परम कल्याणप्रद धर्म है। (मनु ७-११४)

शूद्रों के साथ विवाहादि व्यवहार का निषेध

धर्माचरण करने वाले पुरुष को शूद्रों के साथ व्यवहार और परस्पर विवाह आदि सम्बन्ध नहीं करना चाहिए। (मनु १०-५१) आवश्यक जीविकोपयोगी कर्म—पूर्वोक्त कर्मों में से तीन कर्म याजन अध्यापन तथा शुद्ध दान जीविका के लिए ग्राह्य है। (मनु १०-७६) ब्राह्मण के लिए त्याज्य कर्म—मांस लाक्षा तथा लवण बेचने

चतुर्वर्ण-कर्म—ब्राह्मण का कर्म यजन, दान, अध्ययन, तप, दान लेना, अध्यापन तथा याजन है। (अत्रिस्मृति)।

शंख-स्मृति

ब्राह्मण का कर्म—यजन, याजन, दान, अध्यापन, प्रतिग्रह तथा अध्ययन ब्राह्मण के लिए निर्दिष्ट कर्म है। (शंखस्मृति १–२)

शातातप-स्मृति

ब्राह्मणों का महत्त्व—ब्राह्मण जिनकी इच्छा करते हैं वे समस्त वस्तुएँ निश्छिद्र (दोषरहित) हो जाती हैं तथा ब्राह्मण जिस बात को कहते हैं देवता लोग भी उसे मानते हैं। ब्राह्मण समस्त देवस्वरूप होते हैं। अतः उनके कथन के विपरीत कुछ नहीं हो पाता। उपवास, व्रत, स्नान, तीर्थ, तप आदि सभी ब्राह्मण द्वारा सम्पन्न होकर कर्त्ता को अपना उचित फल देते हैं। मही-देव (ब्राह्मण) जब "सम्पन्न हुआ" यह शब्द कहें तो प्रणाम करके उसे धारण करना चाहिए, इससे अग्निष्टोम यज्ञ का फल प्राप्त होता है। ब्राह्मण जंगम (चलने फिरने वाले), समस्त कर्मों को सिद्ध करने वाले, जलरहित तीर्थ हैं। इनके वाक्य रूपी जल से ही पापी मनुष्य पवित्र हो जाते हैं। उनकी आज्ञा पाकर तथा आशीर्वाद लेकर अपनी शक्ति के अनुसार ब्राह्मणों को भोजन करा कर बन्धुओं के साथ भोजन करे। (शातातप १–२६।३१) **अपढ़ ब्राह्मण**—वेद का अध्ययन न करके जो ब्राह्मण अन्यत्र परिश्रम करता है वह जीते हुए वंश समेत शीघ्र शूद्रता को प्राप्त हो जाता है। (वशि० ३) **ब्राह्मण का लक्षण**—योग, तप, दम, दान, सत्य, शौच, दया, श्रुत (वेद), विद्या, विज्ञान और आस्तिकता ये ब्राह्मण के लक्षण हैं। (वशि० ६–२१) **तारण में समर्थ ब्राह्मण**—सब जगह शान्त स्वभाव रखने वाले, वेदों से पूर्ण श्रोत्रवाले, जितेन्द्रिय, प्राणिहिंसा से विरत, दान लेने में संकोच रखने वाले, गृहस्थ ब्राह्मण भवसागर से प्राणियों को तारने में समर्थ होते हैं। (वशिष्ठ ६–२२) **स्वकर्म का परित्याग न करे**—अपने कर्म का परित्याग कर, अज्ञान अथवा लोभ से ब्राह्मण जो कुछ कर्म करता है वह उसी कर्म से पतित हो जाता है। (दक्षस्मृति २–४) **सन्ध्याहीन ब्राह्मण**—जो ब्राह्मण विशेष रूप से सन्ध्या की उपासना नहीं करता है वह जीते जी शूद्र हो जाता है और मरने पर कुत्ता होता है। वह जो अन्य कर्म करता है उसका फल उसे नहीं मिलता। (दक्षस्मृति २–२२।२–२३) **वेदाभ्यास ब्राह्मण का परम तप**—वेद का अभ्यास ब्राह्मण के लिए परम तप कहा जाता है। जो षडंग सहित वेदाभ्यास है वह ब्रह्म-यज्ञ है। वेद का प्रथम अध्ययन, तदनन्तर विचार, अभ्यास, जप तथा शिष्यों को वेद दान, इस प्रकार वेदाभ्यास पाँच प्रकार का होता है। (दक्षस्मृति २–३०।३१) **शूद्रों के लिए श्रेष्ठ कर्म**—शूद्र के लिए ब्राह्मण सेवा ही श्रेष्ठ कर्म है। यदि इस विहित

भोजन करना चाहिए। उसे सत्यवादी क्रोध-रहित तथा अधर्म में मन न रखने वाला होना चाहिए। भली भाँति प्राप्त अपने कर्म से कभी प्रमादवश विमुख न होकर सत्य हित करने वाली तथा परलोक में भलाई करने वाली बात कहनी चाहिए। यह संक्षेप में ब्राह्मण का धर्म कहा गया है। जो केवल धर्म ही करता है वह ब्राह्मण ब्रह्मपद (परम पद) प्राप्त करता है। (हारीतस्मृति १–१७।१–१८ और १–२७ से १–३१ तक) कर्मच्युत ब्राह्मण—जिस ग्राम में व्रत-विहीन अध्ययन रहित भिक्षा माँगने वाले ब्राह्मण हों राजा को उस ग्राम को दण्ड देना चाहिए, क्योंकि वह ग्राम चोर-भक्त है। (पराशरस्मृति) चाण्डाल दर्शन का प्रायश्चित्त—चाण्डाल के दर्शन करने पर शीघ्र सूर्य को देखे तथा उसका स्पर्श करने पर सचैल (कपड़ों सहित) स्नान करे। नाम मात्र के ब्राह्मण—जैसे काठ का हाथी और चमड़े का मृग केवल नाम मात्र के होते हैं, वैसे ही अध्ययन विहीन ब्राह्मण भी नाम मात्र का होता है। (पराशरस्मृति ८–२४) गायत्री-रहित विप्र—गायत्री-रहित ब्राह्मण शूद्र से भी अपवित्र होता है। गायत्री ब्रह्म और तत्त्व को जानने वाले द्विज मनुष्यों द्वारा पूजित होते हैं। (पराशरस्मृति ८–३२) पंचेन्द्रियरत और सर्वभक्षी द्विज—जो ब्राह्मण वेद का अध्ययन करते हैं तथा पञ्च यज्ञ में निरत रहते हैं; पञ्च इन्द्रियों में रत रहने पर भी वे त्रैलोक्य को तार देते हैं। वेदज्ञ ब्राह्मण सर्वभक्षी होने पर भी देवता के समान है। (पराशरस्मृति ८–२९।८–३) दुःशील द्विज और जितेन्द्रिय शूद्र में कौन पूज्य?—दुःशील होने पर भी द्विज पूज्य होता है किन्तु जितेन्द्रिय शूद्र पूजित नहीं होता। कौन सा व्यक्ति दुष्ट गाय का परित्याग कर शीलवती खरी (गधी) को दुहता है। (पराशरस्मृति ८–३३) द्विज के लिए शूद्र का पकाया हुआ अन्न तथा उसका मठ वर्जित है—जो ब्राह्मण शूद्रों से भोजन बनवाता है या जिसकी स्त्री शूद्री है वह पितरों से वर्जित अन्न वाला ब्राह्मण रौरव नामक नरक में जाता है। मृतक तथा सूतक का अन्न खाने से पुण्यपाप तथा शूद्र के अन्न का भोजन करने वाला ब्राह्मण किन किन योनियों में जायेगा यह मैं नहीं जानता। (पराशरस्मृति १२–३१। १२–३४।१२–३६) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र का अन्न—ब्राह्मण के अन्न से अमरता क्षत्रिय के अन्न से दरिद्रता वैश्य के अन्न से शूद्रता तथा शूद्र के अन्न से नरक की प्राप्ति होती है। (पराशरस्मृति ४–११) ब्राह्मण के लिए शस्त्र धारण का विधान—प्राण संकट उपस्थित होने पर ब्राह्मण शस्त्र धारण करे। (गौतम ७) चालीस संस्कारों तथा आत्मगुण से विहीन ब्राह्मण मुक्ति नहीं पाता—जो ब्राह्मण चालीस संस्कारों से तथा आठ आत्मगुणों से विहीन होता है वह सायुज्य और सालोक्य आदि मुक्ति पद नहीं प्राप्त करता। (गौतमस्मृति ८)

गुरु की आज्ञा प्राप्त कर मन्त्र से आहुति आदि करके ओंकार का स्मरण कर आदि से गायत्री का आरम्भ करे। (व्यास १-२४) मधु, मांस, अजन, श्राद्ध, गीत, नृत्य, हिंसा, दूसरे की निन्दा तथा विशेष रूप से स्त्रीलीला का परित्याग करे। (शंखस्मृति ३-१३। ३-१४) ब्रह्मचारी न स्नान से, न मौन से, न अग्नि की सेवा से, स्वर्ग जाता है, केवल गुरु-सेवा से उसे स्वर्ग मिल सकता है। (शंखस्मृति ५-१०) **गुरु-निन्दा सुनने का निषेध**—जहाँ गुरु की बुराई या निन्दा होती हो, वहाँ ब्रह्मचारी कान बन्द कर ले, या वहाँ से अन्यत्र चला जाय। (मनु० २-२००) **इच्छा से वीर्यपात का निषेध**—ब्रह्मचारी सर्वत्र अकेला ही सोये। कहीं इच्छापूर्वक वीर्यपात न करे। ऐसा करने पर वह अपने व्रत से भ्रष्ट हो जाता है। (मनु० २) **आपत्तिकाल में अब्राह्मण से अध्ययन**—आपत्तिकाल में ब्रह्मचारी अब्राह्मण से भी अध्ययन करे तथा अध्ययन-काल तक उस अब्राह्मण गुरु का अनुगमन तथा शुश्रूषा करे। (मनु० २-२४९) **आचार्य के मरने पर उनके पुत्रादि के साथ आचार्य तुल्य व्यवहार**—आचार्य के मरने पर गुणयुक्त गुरु, पुत्र, गुरु पत्नी और गुरु के सपिण्ड से गुरु के समान व्यवहार करे। (मनु० २-२४७)

ब्रह्मचर्य पालन की अवधि—ब्रह्मचारी गुरु के पास में ३६ वर्ष (प्रति वेद के क्रम से १२-१२ वर्ष) तक या उसका आधा १८ वर्ष (प्रति वेद के हिसाब से ६-६ वर्ष) तक अथवा उसके चतुर्थांश ९ वर्ष (प्रति वेद के हिसाब से ३-३ वर्ष) तक अथवा वेदों के अध्ययन करने की अवधि तक, तीनों वेदों का अध्ययन रूप व्रत करे।

गृहस्थ धर्म

गृहस्थाश्रम की प्रशंसा—

जिस प्रकार (प्राण) वायु का आश्रय कर सब जीते हैं उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय कर सभी आश्रम चलते हैं। तीनों आश्रम वाले (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासी) गृहस्थाश्रम से ही ज्ञान, वेदाध्ययन तथा अन्न को प्राप्त करते हैं। इस कारण गृहस्थाश्रम ही सबसे श्रेष्ठ है। **गृहस्थाश्रम की महत्ता**—जिस प्रकार सभी नद और नदियाँ समुद्र में आश्रय पाती हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम, गृहस्थ आश्रम में आश्रय पाते हैं। (मनु० ६-७०) **गृहस्थ श्रेष्ठ है**—गृहस्थ ही यज्ञ करता है, गृहस्थ ही तप करता है, अत चारों आश्रमो में गृहस्थ विशिष्ट स्थान पाता है। (वशिष्ठस्मृति ८)। प्रति दिन गृहस्थाश्रम का आश्रय लेकर देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि जीवित रहते हैं, इसी लिए गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ माना जाता है। **देवता, अतिथि आदि को सन्तुष्ट न करने की निन्दा**—जो गृहस्थाश्रमी देवताओ, अतिथियो, माता-

कर्म को छोड़कर शूद्र अन्य कर्म करता है तो उसका वह कर्म निष्फल हो जाता है। (१०—१२१) शूद्र के लिए सेवाशुल्क—शूद्र को उच्छिष्ट अन्न तथा पुराने कपड़े देने चाहिए। मालहीन धान्य तथा अन्य अनुत्कृष्ट वस्तुएँ जो दे सके देना चाहिए। (मनु १०—१२५) शूद्र-कर्म—शूद्र को अभक्ष्य आदि भोजन का पाप नहीं लगता। वह संस्कार तथा धर्म का अधिकारी नहीं है। शूद्र के लिए कोई कर्म विहित नहीं है और यज्ञ आदि के लिए भी कोई रुकावट नहीं है। (मनु १०—१२६) शूद्र के लिए धन संचय प्रतिषेध—समर्थ होने पर भी शूद्र को धन संग्रह नहीं करना चाहिए। क्योंकि शूद्र धन पाकर ब्राह्मणों को कष्ट देता है। (मनु १०—१२७) शूद्र का कर्म—द्विजाति की सेवा शूद्र का परम कर्तव्य है। कपिला गौ के दूध पीने से ब्राह्मणी के साथ प्रसंग करने तथा वेदाक्षर के विचार करने से शूद्र को अवश्य नरक प्राप्त होता है। (पराशरस्मृति १—१०।।१—७४) शूद्र का लक्षण—ईर्ष्या रखने वाला चुगली करने वाला कृतघ्न और अति क्रोध करने वाला ये चार कर्म से चाण्डाल हैं, और पाँचवा जन्म से चाण्डाल होता है। दीर्घ वैर, ईर्ष्या, असत्य ब्राह्मण पर दोषारोपण चुगली और निर्दयता को शूद्र का लक्षण समझना चाहिए। (१—२१—२४)

समस्त वर्णों का धर्म

क्षमा सत्य और शौच बिना कोई विशेषता विचारे सब वर्णों का विहित धर्म है। (शंखस्मृति १—५) चातुर्वर्ण्य-धर्म—हिंसा न करना सत्य बोलना चोरी न करना शौच इन्द्रियों को अपने वश में रखना इन पाँचों बातों को संक्षेप में मनु ने चातुर्वर्ण्य का धर्म कहा है। (मनु १०—६३)

आश्रम धर्म

आश्रम-हीन कभी न रहे—

द्विज एक दिन भी आश्रम विहीन न रहे। आश्रम-हीन रहने पर वह पाप का भागी हो जाता है। अतः उसके लिए प्रायश्चित का विधान है। आश्रम से रहित रहकर जप होम दान तथा स्वाध्याय निरन्तर करते रहने पर भी इनके फल का भागी नहीं बनता है। (दक्ष १—१ ।१—११)

ब्रह्मचर्याश्रम

ब्रह्मचारी के धर्म—गुरु से कम अन्न, वस्त्र आसन आदि रखने का विधान—

सर्वदा गुरु की अपेक्षा अन्न (भोज्य पदार्थ) वस्त्र तथा वेष को हीन रखे और गुरु के सोकर उठने से पहले उठे तथा सोने के बाद सोवे। (मनु २—१०४) उपनयन संस्कार के बाद गुरु में नित्य समाहित चित्त होकर रहे तथा वस्त्र कौपीन उपवीत मृग चर्म और मेखला धारण करे। (व्यासस्मृति १—२१) अच्छे दिन में

चौथे भाग में निद्रा का परित्याग कर, भगवान् का स्मरण करे, शौच से निवृत्त होकर, अग्नि का सेवन कर, जल मे दाँतों को साफ कर, स्नान करके ब्राह्मण, सन्ध्या, देवता आदि का तर्पण करे। (व्यासस्मृति ३–२।३–३) **परदार तथा परधन-रत तीर्थ करने पर भी दोषी है**—जो प्रति-दिन दूसरे की स्त्री और धन का अपहरण करता है वह समस्त तीर्थों का अभिषेक भले ही करे, पापो से मुक्त नही हो सकता। (व्यास ४–५) **भोजन से पूर्व हवन, जप और दान आवश्यक**—जो मनुष्य विना हवन किये, विना जप तथा दान किये भोजन कर लेता है वह देवता आदि का ऋणी होकर दरिद्र हो जाता है। एक अन्न को खाता है और दूसरा अन्न के द्वारा खाया जाता है। वह अकेला खाने वाला भी जो सबका भाग देकर खाता है, अन्न द्वारा नही खाया जाता (दक्षस्मृति २–५२।२–५३)

धार्मिक गृहस्थ—जो प्रति दिन सबके भाग का सम्यक् वितरण करने वाला, क्षमायुक्त, दयालु, देवता और अतिथि का भक्त होता है, वह गृहस्थ धार्मिक होता है। इसलिए गृहस्थ को उचित वितरण करके शेष का भोजन करने वाला होना चाहिए तथा सुखपूर्वक बैठ कर उस अन्न को पचाना चाहिए। (दक्षस्मृति २–५४।२–५६)

अष्टादश विकर्मों का परित्याग—असत्य, परस्त्री-गमन, अखाद्य का भोजन, अगम्य का गमन, अपेय का पान, चोरी, हिंसा, श्रुतिविरुद्ध कर्म का आचरण, ये नव विकर्म हैं, इनका सर्वथा परित्याग करना चाहिए। चुगली, असत्य, कपट, काम, क्रोध, अप्रियता, द्वेष, दम्भ, परद्रोह ये नौ प्रच्छन्न विकर्म के भेद हैं, अत इनका भी परित्याग करे। (दक्षस्मृति ३–११।३–१३) **गृहस्थ के लिए नव गोप्य वस्तुएँ**—आयु की अवधि (अर्थात् अवस्था), गृह का छिद्र (भेद), मन्त्र, मैथुन, औषधि, तप, दान और अपमान इन नौ वस्तुओ को सर्वदा गोप्य रखना चाहिए। (दक्षस्मृति ३–१४) **गृहस्थ के लिए ये नव वस्तुएँ प्रकाश्य**—प्रयोग करने योग्य (कामो का निर्णय), ऋण-शुद्धि (कर्ज का चुकाना), दान, अध्ययन, विक्रय, कन्यादान तथा वृषोत्सर्ग (श्राद्ध के उपरान्त साड छोड़ना), एकान्त में किया पाप तथा अनिन्दा (प्रशसा) इन नौ चीजो को गृहस्थ प्रकाशित करे। (दक्ष स्मृति ३–१५) **स्वतुल्य दूसरे के दु ख-सुख का ध्यान**—सुख चाहने वाले को अपनी आत्मा की भाँति दूसरो को भी देखना चाहिए। सुख और दु ख जैसे अपने लिए होते हैं वैसे ही दूसरो के लिए भी। सुख अथवा दु ख जो कुछ दूसरो के प्रति किया जाता है वही किया हुआ दु ख और सुख पुन अपने पर होता है। (दक्ष स्मृति ३–२१) **गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता कब**—यदि पतिव्रता स्त्री हो तो गृहस्थाश्रम से बढकर कोई आश्रम नही है। (दक्ष स्मृति ४–१)

वानप्रस्थ आश्रम

गृहस्थ के लिए वानप्रस्थ-काल

गृहस्थ जब देखे कि मेरे बाल सफेद हो गये हैं, त्वचा शिथिल हो गयी है,

पिता आदि वृद्ध जनों पितरों और अपने को अन्नादि से सन्तुष्ट नहीं करता वह श्वास लेता हुआ भी नहीं जीता है। वह मृतक के समान है। (मनु ३–७२) असमर्थावस्था में भी ब्रह्मयज्ञ तथा हवन करना आवश्यक—निर्धनता आदि के कारण अतिथि को भोजन आदि कराने में असमर्थ द्विज को इस संसार में स्वाध्याय (ब्रह्मयज्ञ रूप वेदपाठ) और देवकर्म (हवन) अवश्य करना चाहिए, क्योंकि देवकर्म (हवन) को करता हुआ द्विज इस चराचर जगत् को धारण करता है। (मनु ३–७५)

गृहस्थों के धर्म—प्रातःकाल उठकर शौचादि से निवृत्त हो स्नानादि करके शान्त चित्त से तीनों काल में नियमस्थ होकर सभी को सन्ध्योपासना करनी चाहिए। अज्ञान से अथवा मोह से रात्रि में जो कुछ पाप हो जाता है प्रातःकालीन स्नान के द्वारा द्विजों में श्रेष्ठ जन उसका निवारण करते हैं। यज्ञशाला में प्रवेश करके अग्नि में विधिपूर्वक हवन करने के पश्चात् पवित्र स्थान में सम्यक प्रकार से बैठकर यथाशक्ति स्वाध्याय (वेदादि) का अभ्यास करे। स्वाध्याय के उपरान्त उठकर मन्त्र पूर्वक स्नान करके तिल और जल से देवता ऋषि और पितरों का तर्पण करे। मध्याह्न हो जाने पर आश्रितों को सम्मिलित करके भोजन करे, भोजन के उपरान्त बैठ कर विश्राम करे तथा किञ्चित् वेद (ब्रह्म) का विचार-चिन्तन करे। गृहस्थ तीसरे प्रहर में इतिहास आदि का अवलोकन करे, चौथे प्रहर में गृह में अथवा बाहर पश्चिमाभिमुख बैठ कर शक्ति के अनुसार गायत्री का जप करे तथा अग्निहोत्र करने के उपरान्त अग्नि की परिक्रमा करे। (विष्णुस्मृति २ २ से २–८) निर्दोष गृहस्थ—वैश्वदेव बलि भिक्षा गोग्रास आदि करने वाला गृहस्थ क्षुधा (परपीड़ा) दोष से लिप्त नहीं होता है। (परा स्मृति ९–१३१२–१५) गृहस्थ अपने धर्म से मुक्ति प्राप्त करता है—पर के कर्मों को करके अपनी स्त्री के पालन में संलग्न रहकर ऋतुकाल में स्त्रीसेवन करने वाला गृहस्थ परम गति को प्राप्त करता है। (मनु) गृहस्थ विधिपूर्वक अतिथि का पूजन कर स्वर्ग (सिद्धि) प्राप्त करता है। (पराशरस्मृति ५–११) घर में दूसरों के भूखे रहते गृहस्थ का भोजन करना निषिद्ध है—गर्भवाली स्त्री रोगी नौकर, बालक और वृद्ध के भूखे रहते हुए जो गृहस्थ भोजन कर लेता है वह पाप खाता है। (व्यासस्मृति ३–५) सद्गृहस्थ की महिमा—गृहस्थाश्रम से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। जो गृहस्थ यथोक्त गृहस्थ-नियम का पालन करता है उसको समस्त तीर्थों के स्नान का फल प्राप्त होता है। गृहस्थ नौकर का पोषण करने वाला दयावान् ईर्ष्या-रहित नित्य जप तथा होम करने वाला सत्यवादी जितेन्द्रिय तथा पर-स्त्री का परित्याग कर अपनी स्त्री मात्र से सन्तोष करने वाला अहंकाररहित गृहस्थ समस्त तीर्थों का फल घर में ही पा लेता है। (व्यासस्मृति ४–२ से ४–४) गृहस्थ धर्म—पत्नि के

(मनुस्मृति ६–४६) **सुखपूर्वक विचरण के उपाय**—सदा तत्वज्ञान में सलग्न, योगासनों में स्थित, विषयवासना हीन, मास न खाने वाला, अपने ही आत्मा के बल से अपना कल्याण करता हुआ सुख-पूर्वक विचरण करे। (मनु० ६–४७) **मोक्ष का अधिकारी**—इन्द्रियों के निरोध से, राग द्वेष के क्षय होने से, सब प्राणियों के प्रति अहिंसा भाव से अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्ति का अधिकारी होता है (मनुस्मृति ६–६०) **यति के लिये ध्यान योग**—हृदय में ही समस्त देवता स्थित हैं, प्राण प्रतिष्ठित हैं, ज्योतिष् (तारागण) तथा सूर्य एव सब वस्तुएँ प्रतिष्ठित हैं। अपने शरीर को अधरारणि बनाकर, ओंकार को उत्तरारणि बनाये, पुन ध्यान रूप मन्थन के द्वारा हृदय में स्थित विष्णु का दर्शन करे। इस जीव की हृदय रूपी गुफा में अणु से भी अणु और महान् से भी महान् आत्मा प्रतिष्ठित है। विधाता की कृपा से, शोकरहित पुरुष आत्मा की इस तेजोमय महिमा का दर्शन करता है। मैं इस महान्, स्व-प्रकाश (श्वेत वर्ण के) तम से परे रहने वाले पुरुष को जानता हूँ जिसको पाकर ज्ञाता मृत्यु के भय से रहित हो जाता है। इससे भिन्न अपुनरावर्तन के लिए दूसरा पथ नहीं है। (मनु० ७–१६।७–१८। ७–१९।७–२१) **शाश्वत सुख प्राप्ति के उपाय**—अपने प्रिय जनों में सुकृत और अप्रिय जनों में दुष्कृत छोडकर ध्यानयोग से योगी सनातन ब्रह्म प्राप्त करता है। जब मानव विचारपूर्ण होकर सर्वत्र और सदा के लिए नि स्पृह हो जाता है तब वह इस लोक तथा परलोक में शाश्वत सुख प्राप्त करता है। (मनुस्मृति ६–७९।६–८०)

सन्यास आश्रम

सन्यास केवल ब्राह्मण के लिए ही विहित है

तीन आश्रम, (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ) वैश्य और क्षत्रिय के लिए भी विहित हैं, किन्तु सन्यास आश्रम केवल ब्राह्मण के लिए ही कहा गया है। **सन्यासी का आचरण**—आत्मा में अग्नि का समारोपण करके तथा समस्त भूतों को अभय दक्षिणा देकर ब्राह्मण गृह से सन्यास लेता हुआ, चतुर्थ आश्रम (सन्यास) में प्रवेश करे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अगुलफता (एकत्रित न करना), सर्व भूतों पर दया आदि का यति नित्य-प्रति व्यवहार करे। स्त्रियों के साथ सभाषण, उनका आलिंगन, प्रेक्षण, नृत्य, गान, सभा, सेवा आदि का यति परित्याग करे। वानप्रस्थ और गृहस्थ से प्रेम का यत्नपूर्वक परित्याग करे। समस्त परिग्रह (सामग्रियों) का परित्याग करके नित्य अकेला विचरण करे तथा माँगी हुयी अथवा बिना माँगी भिक्षा से जीवन निर्वाह करे। समस्त सुख तथा आनन्द का परित्याग कर, पुत्र और ऐश्वर्य सुख का भी परित्याग करे। (विष्णुस्मृति ४–२।४–३, ४–४।४–५।४–८।४-७।४–१०।४–१३।४–१७) बन्धुओं को तथा समस्त भूतों को अभय दान देकर धर्म में प्रेम रखने वाला, शान्त, सुख

उसका पौत्र उत्पन्न हो गया है उस समय उसे वैराग्य मन में हो, वानप्रस्थ आश्रम के लिए वन का सहारा लेना चाहिए। (मनु ६-२) वनवासविधान— ग्राम्य सर्व एवं अग्नि कार्य इत्यादि सम्पन्न करके उसके साधन वस्तु आदि लेकर ग्राम से बाहर वन में जितेन्द्रिय होकर रहे। (मनु ६-४) वानप्रस्थ के लिए त्याज्य वस्तुएँ—हल से जोते हुए, किसी के द्वारा बोये हुए अन्न तथा कन्द वन में यदि प्राप्त हों तो नहीं खाना चाहिए। ग्राम की भूमि में उत्पन्न हुई लता वृक्षों के मूल और फलों को भूखा रहने पर भी वानप्रस्थ में न खावे। (प्रातः मध्याह्न तथा सायं) तीनों कालों में स्नान, देवता, ऋषि एवं पितृ तर्पण तथा पञ्चमहायज्ञ के व्रत आदि करता हुआ अपने शरीर को सुखावे। (मनु ६-२४) वर्षा-काल में खुले आकाश में शयन करे, शीतकाल में तालाब के पास सोवे ग्रीष्मकाल में पञ्च अग्नियों के मध्य में बैठकर वन में नित्य निवास करे। (भिक्षु) वानप्रस्थ केवल भोजन का परित्याग करने से स्वर्ग (सिद्धि) को प्राप्त करता है। (शंखस्मृति ५-११) परमोत्तम योग के द्वारा ही श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त करता है। (दक्षस्मृति ५-१२२) हानि पर दुखी न हो तथा जो कुछ प्राप्त हो उसी से जीवन निर्वाह करे। स्वादिष्ट वस्तुओं के रसास्वादन में न लगे तथा किसी के घर में भोजन न करे। दृष्टि से देखकर पैर रखे वस्त्र से छान कर जल पीवे सत्य से पवित्र वचन का प्रयोग करे तथा मन से पवित्र आचरण करे। (शंखस्मृति ७-१ ७-६) सुखार्थ प्रयत्न न करने वाला ब्रह्मचर्य पालन-रत भूमिशायी, शीत-उष्णादि के दुखों से मुक्त होने के उपायों से रहित होता हुआ स्थान की ममता छोड़कर वृक्षमूल को शय्या का निकेतन बनावे। (मनुस्मृति ६-२६) विद्या तप की वृद्धि तथा शरीर की शुद्धि के लिए ऋषि ब्राह्मण गृहस्थ आदि से सेवित मार्ग का अवलम्बन करते हुए अनुसरण करे। (मनुस्मृति ६-१) अभयदाता की अभय प्राप्ति—जो गृहस्थ सब प्राणियों को अभयदान देकर निर्भय संन्यास ग्रहण करता है उस ब्रह्मवादी के समस्त लोक तेजोमय होते हैं अर्थात् वह तेजोमय लोकों को प्राप्त होता है। (मनुस्मृति ६-३७) मुक्त का लक्षण—मिट्टी का खप्पर आदि भिक्षापात्र वृक्षों का मूल निवास स्थान, मोटा जीर्ण वस्त्र अकेला और किसी की सहायता न लेकर मित्र-शत्रु सभी को समान समझकर जो संसार का परित्याग कर चुका है उसमें मुक्त के लक्षण हैं। (मनुस्मृति ६-४४) समभाव रह कर काल की प्रतीक्षा करना—मरने-जीने की इच्छा न करता हुआ कर्मशील मरण काल की उसी प्रकार प्रतीक्षा करे, जिस प्रकार सेवक अपने वेतन काल की अवधि की प्रतीक्षा करता है। (मनुस्मृति ६-४५) पवित्र व्यवहार—आँख से देखकर चलना चाहिए, पानी छानकर पीना चाहिए, सत्य से पवित्र वाणी कहनी चाहिए। मन को पवित्र कर सदाचरण करना चाहिए।

तीर्थ में स्नान करने की इच्छा रखनेवाली नारी अपने पति का चरणोदक पान करे। ऐसा करने से वह शंकर तथा विष्णु के परम धाम को जाती है। (अत्रिस्मृति १३५) **पति की आज्ञा के बिना इधर उधर जाने वाली स्त्री का त्याग**—पति के शासन का उल्लंघन करके जो स्त्री इधर-उधर घूमती है उस स्त्री का उपभोग न करना चाहिए, तथा उस व्यभिचारिणी (स्वेच्छाचारिणी) समझना चाहिए। (आंगिरस ६८) **स्त्री-सौभाग्य**—स्त्री सौभाग्य से जेठी होती है, तथा ब्राह्मण विद्या के द्वारा जेठा होता है। पति स्त्री की ख्याति अथवा तपस्या से सन्तुष्ट नहीं होता। पति के आदेशानुसार आचरण करने वाली, अनेक व्रतों द्वारा पार्वती के समान अग्नि को सन्तुष्ट करने वाली स्त्री सौभाग्य प्राप्त करती है। जो स्त्री विनयसम्पन्न होकर भी पतिविहीन होकर दुर्भाग्यवती हो जाती है, उसने अवश्य ही पूर्व जन्म में पार्वती, अग्नि और पति का अपमान किया होगा ऐसा समझना चाहिए। पति की सेवा मात्र से स्त्री किन-किन लोकों का सुख नहीं भोग सकती है? यदि वह स्वर्ग से इस संसार में आती है तो उसके लिए यहाँ सुखों का समुद्र हो जाता है। (कात्यायन स्मृति १७-६।१९-७। १७-८।१७-१२) **भर्ता के अपमान का फल**—दरिद्र, रोग से पीड़ित अथवा धूर्त पति का भी जो स्त्री अपमान करती है वह मरकर कुत्ती होती है तथा बार बार सूकरी योनि में जन्म ग्रहण करती है। जो स्त्री पति के जीवित रहते हुए समीप रहकर भी व्रत का आचरण करती है वह पति के जीवन का अपहरण करती है तथा नरक को जाती है। जो स्त्री पति का स्पर्श न कर व्रत का आचरण करती है उसके व्रत के समस्त फल राक्षसों को प्राप्त होते है ऐसा मनु ने कहा है। (पराशरस्मृति ४-१६ से ४-१८) **गर्भ पात का फल**—अपने कुटुम्ब के बन्धुओं अथवा सजातीय लोगों के साथ जो स्त्री दुराचार करती है तथा गर्भपात कराती है उस स्त्री से कही किसी को संभाषण नही करना चाहिए। ब्रह्म-हत्या करने में जितना पाप लगता है, उससे दूना पाप गर्भ गिराने में लगता है। इस पाप के लिए किसी भी प्रायश्चित्त का विधान नही है। अतः उसका (स्त्री का) परित्याग कर देना चाहिए। (पराशरस्मृति ८-२७।४-३०) **दूसरे पति का विधान**—पति के खो जाने, मर जाने, सन्यासी हो जाने, नपुंसक हो जाने तथा पतित हो जाने पर अर्थात् इन पाँच आपत्तियों में स्त्रियों को दूसरा पति करने का विधान है। (इस श्लोक पर भाष्यकार लोगों का विचार यह है कि, यहाँ वाग्-दत्ता स्त्री के लिए ही यह विधान है, विवाहिता के लिए नही) (पराशरस्मृति ४-३०) **पति की मृत्यु के बाद ब्रह्मचर्य श्रेयस्कर**—पति के मर जाने पर जो स्त्री ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती है वह मरने पर ब्रह्मचारियों की भाँति स्वर्ग प्राप्त करती है। (पराशरस्मृति ४-३१) **पति के अनुगमन का फल**—मानव के शरीर में साढ़े

भूतों में समता का व्यवहार करने वाला तथा इन्द्रियों को वश में करने वाला यति उस परम पद को प्राप्त करता है जिसको प्राप्त करके वह पुनः नहीं लौटता। (हारीतस्मृति ६-५।१६-२२) प्रथम प्राणायाम के द्वारा वाणी प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रिय धारणा के द्वारा दुर्धर्ष मन को वश में करके बुद्धि में एकाकार अनन्त अनामय स्वरूप सूक्ष्मातिसूक्ष्म जगत् के आधार अव्यक्त (भगवान्) का ध्यान करे। एकान्त में शान्त चित्त से बैठकर आत्मा द्वारा विशुद्ध स्वर्ण की प्रभा के समान प्रभावाले अन्त तथा बहिः स्थित (ईश्वर) का मरण पर्यन्त ध्यान करे। (हारीतस्मृति ७-४।७-५।७-६) जो समस्त प्राणियों का हृदय है, जो सबके हृदय में स्थित है और जो सब मनुष्यों द्वारा जानने के योग्य है, वही मैं हूँ ऐसा चिन्तन करे। वेद के अभ्यास में रत रहकर आत्मचिन्ता में निरत रहे। पुनः निर्मल मन से मुक्त की भाँति रहे तथा अपेक्षा मन वाणी तथा काया के कर्मों द्वारा नित्य चिन्तन करे। (संवर्तस्मृति १ ९।१ ८।१)

नारी-धर्म

मनु द्वारा स्त्रियों के लिए कल्पित वस्तुएँ

शय्या आसन अलंकार करने की प्रवृत्ति काम क्रोध कुटिलता पर-हिंसा कुत्सित आचार ये सब मनु ने (सृष्टि के आरम्भ में) स्त्रियों के लिए निर्मित किये हैं। (मनुस्मृति -१७) नारी के दोष—मद्यपान करना दुर्जन संसर्ग पति की अनुपस्थिति में घूमना कुसमय में सोना दूसरे के घर में रहना ये छ स्त्रियों के दूषण हैं। (मनु ७-११) स्त्रियाँ शोभा-युक्त हैं—यद्यपि स्त्रियों में बहुत दोष कहे गये हैं तथापि व प्रयत्नत रक्षणीय भी हैं, (महा उपकार रूप) गर्भ धारण करने के कारण कल्याण पात्र हैं। उन्हें सदा वस्त्राभूषण से सुशोभित रखने से गृह की शोभा बढ़ती है। घर में लक्ष्मी और स्त्री दोनों बराबर समझी जाती हैं। (मनुस्मृति ९-२६) स्त्रियाँ प्रजा-उत्पत्ति तथा पुण्य का कारण हैं—सन्तति के उत्पादन उत्पन्न की सम्यक रक्षा तथा प्रति दिन लोकव्यवहार के लिए स्त्रियाँ मूल कारण हैं। सन्तान उत्पन्न करना, धर्म कार्य आदि सम्पादन सेवा प्रेम अपने तथा पितरों के उद्धारार्थ कार्य आदि सभी स्त्रियों पर निर्भर हैं। (मनुस्मृति ९-२७।९-२८) नारी क्षेत्र है—स्त्री क्षेत्र कही गयी है उसमें बोया जाने वाला बीज पुरुष है। इसी क्षेत्र और बीज के सम्यक संयोग से देहिओं की उत्पत्ति होती है। (मनु -११) क्षेत्र बीज में बीज प्रधान—बीज तथा क्षेत्र में बीज ही प्रधान है क्योंकि समस्त प्राणियों की उत्पत्ति बीज पर ही अवलम्बित है। (मनु ९-१७) नारीधर्म—जो स्त्री जीवित पति के समीप रहकर व्रत आदि का आचरण करती है वह अपने पति की आयु का अपहरण करती है और नरक म जाती है। (अत्रिस्मृति १३४)

तीर्थ में स्नान करने की इच्छा रखनेवाली नारी अपने पति का चरणोदक पान करे। ऐसा करने से वह शंकर तथा विष्णु के परम धाम को जाती है। (अत्रिस्मृति १३५) **पति की आज्ञा के बिना इधर उधर जाने वाली स्त्री का त्याग**—पति के शासन का उल्लंघन करके जो स्त्री इधर-उधर घूमती है उस स्त्री का उपभोग न करना चाहिए, तथा उसे व्यभिचारिणी (स्वेच्छाचारिणी) समझना चाहिए। (आंगिरस ६८) **स्त्री-सौभाग्य**—स्त्री सौभाग्य से जेठी होती है, तथा ब्राह्मण विद्या के द्वारा जेठा होता है। पति स्त्री की ख्याति अथवा तपस्या से सन्तुष्ट नहीं होता। पति के आदेशानुसार आचरण करने वाली, अनेक व्रतों द्वारा पार्वती के समान अग्नि को सन्तुष्ट करने वाली स्त्री सौभाग्य प्राप्त करती है। जो स्त्री विनयसम्पन्न होकर भी पतिविहीन होकर दुर्भाग्यवती हो जाती है, उसने अवश्य ही पूर्व जन्म में पार्वती, अग्नि और पति का अपमान किया होगा ऐसा समझना चाहिए। पति की सेवा मात्र से स्त्री किन-किन लोकों का सुख नहीं भोग सकती है? यदि वह स्वर्ग से इस संसार में आती है तो उसके लिए यहाँ सुखों का समुद्र हो जाता है। (कात्यायन स्मृति १७–६।१९–७। १७–८।१७–१२) **भर्ता के अपमान का फल**—दरिद्र, रोग से पीड़ित अथवा धूर्त पति का भी जो स्त्री अपमान करती है वह मरकर कुत्ती होती है तथा बार बार सूकरी योनि में जन्म ग्रहण करती है। जो स्त्री पति के जीवित रहते हुए समीप रहकर भी व्रत का आचरण करती है वह पति के जीवन का अपहरण करती है तथा नरक को जाती है। जो स्त्री पति का स्पर्श न कर व्रत का आचरण करती है उसके व्रत के समस्त फल राक्षसों को प्राप्त होते हैं ऐसा मनु ने कहा है। (पराशरस्मृति ४–१६ से ४–१८) **गर्भ पात का फल**—अपने कुटुम्ब के बन्धुओं अथवा सजातीय लोगों के साथ जो स्त्री दुराचार करती है तथा गर्भपात कराती है उस स्त्री से कहीं किसी को सम्भाषण नहीं करना चाहिए। ब्रह्म-हत्या करने में जितना पाप लगता है, उससे दूना पाप गर्भ गिराने में लगता है। इस पाप के लिए किसी भी प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। अतः उसका (स्त्री का) परित्याग कर देना चाहिए। (पराशरस्मृति ८–२७।४–३०) **दूसरे पति का विधान**—पति के खो जाने, मर जाने, सन्यासी हो जाने, नपुंसक हो जाने तथा पतित हो जाने पर अर्थात् इन पाँच आपत्तियों में स्त्रियों को दूसरा पति करने का विधान है। (इस श्लोक पर भाष्यकार लोगों का विचार यह है कि, यहाँ वाग्दत्ता स्त्री के लिए ही यह विधान है, विवाहिता के लिए नहीं) (पराशरस्मृति ४–३०) **पति की मृत्यु के बाद ब्रह्मचर्य श्रेयस्कर**—पति के मर जाने पर जो स्त्री ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती है वह मरने पर ब्रह्मचारियों की भाँति स्वर्ग प्राप्त करती है। (पराशरस्मृति ४–३१) **पति के अनुगमन का फल**—मानव के शरीर में साढ़े

तीन करोड़ बाल हैं। अतः पति का अनुगमन करने वाली स्त्री उतने काल भागी साढ़े तीन करोड़ वर्ष तक स्वर्ग में निवास करती है। सर्प को पकड़नेवाला जिस प्रकार सर्प को हठात् बिल से निकाल लेता है इसी प्रकार स्त्री (महापातकि से) पति का उद्धार कर उसी के साथ आनन्द का उपभोग करती है। (पराशरस्मृति ४-१२१४-११) पत्नीधर्म—(पत्नी को) मन वाणी तथा कर्म से शुद्ध, पति के आदेश का अनुपालन करनेवाली अपनी इच्छा से छाया की भाँति पति का अनुगमन करने वाली तथा भलाई के कार्यों में मित्र की भाँति व्यवहार वाली होना चाहिए। इष्ट कार्य में (यज्ञ-याग-यज्ञादि कार्य में) स्त्री सदा पति की दासी तुल्य रहे इसके पश्चात् अन्न को सिद्ध कर (पका कर) पति को समर्पित करे। तदनन्तर भोजन करके दिन का शेष भाग भोजन व्यय आदि की चिन्ता में व्यतीत करे। प्रति साय तथा प्रति प्रातः गृह की शुद्धि करे। सन्ध्या के पश्चात सुन्दर बिस्तर को सम्यक प्रकार फैला कर (उस पर सोये हुए) पति की सेवा करे। पति के सो जाने पर उसके समीप में पति में मन लगाकर शयन करे। नंगी तथा उन्मत्त न रहते हुए काम रहित तथा जितेन्द्रिय होकर रहे और जोर से तथा कठोर न बोले। इतना अप्रिय न बोले कि पति को अप्रिय लगता हो। किसी के साथ विवाद न करे। प्रलाप और विलाप न करे अधिक खर्च करनेवाली न बने तथा धर्म और अर्थ का विरोध करने वाली भी न हो। साध्वी स्त्री प्रमाद, उन्माद रोष ईर्ष्या, कुवचन अतिमानिता पिशुनता (चुगली) हिंसा विद्वेष अहङ्कार, धूर्तता, नास्तिकता साहस चोरी करना तथा दम्भ आदि का परित्याग कर। इस प्रकार परम देवतातुल्य पति की सेवा करती हुई इस लोक में यश और कल्याण प्राप्त करती है तथा परलोक में सुन्दर लोक प्राप्त करती है। इस प्रकार स्त्रियों के नित्य कर्म का वर्णन किया गया है। अब उनके नैमित्तिक कर्म का निर्देश किया जाता है—रजोदर्शन दोष के समय सब कर्म का परित्याग करे तथा सबसे अलक्षित होकर शीघ्र लज्जित होती हुई अन्तःगृह में रहे। एक वस्त्र ग्रहण कर दीन स्नान तथा आभूषण का परित्याग करके, मौन नीचे की ओर मुख रखती हुई, आँख हाथ पैर आदि के द्वारा अचपल (शान्त) रात्रि में केवल मात्र मिट्टी के बर्तन में खाना एवं अप्रमत्त चित्त होकर पृथ्वी पर शयन करे। इस प्रकार तीन दिन व्यतीत करे। तीन रात्रि के बाद शुद्ध होने पर सचैल स्नान करे तथा स्नान करने के उपरान्त समस्त कर्मों को पूर्ववत् करे। रजोदर्शन के बाद सोलह रात्रियाँ ऋतुगमन होती हैं। इनमें गया हुआ पुरुष का बीज शुद्ध होने के कारण बिना कठिनाई के ही अङ्कुरित होता है। इस प्रकार बाद की चार रात्रियों को वैसे ही व्यतीत करे। (व्यासस्मृति २-२१ २०-२-१ से २-४२) दूसरे का धर्म धारण न करे—जो दूसरे से धर्म धारण करती है वह पापिनी तथा परित्याग करने योग्य होती है तथा जो पति के धर्म का नाश करती है

वह महापातकी और दुष्ट आचरणवाली स्त्री होती है। (व्यासस्मृति २–४६)

कौन स्त्री भार्या कहलाती है—

वही स्त्री भार्या है जो गृहकार्यों में दक्ष, पतिव्रता, पति को अपना प्राण समझने वाली तथा सन्तान वाली होती है (शख ४–१५)। **नारीधर्म एक मात्र धर्म**—न व्रत द्वारा, न उपवास द्वारा, न विविध धर्मो के द्वारा ही स्त्री स्वर्ग प्राप्त करती है। यदि वह स्वर्ग प्राप्त करती है तो केवल पति की पूजा द्वारा ही प्राप्त करती है (शखस्मृति ५–८)। **अच्छी स्त्री**—अनुकूल आचरण करने वाली, दुष्ट वचन न बोलने वाली, चतुर, साध्वी, प्रिय बोलने वाली, अपनी स्वय रक्षा करने वाली, पति की सेवा करने वाली स्त्री स्त्री नही देवता है (दक्षस्मृति ४–४)। **पति के अनुकूल तथा प्रतिकूल रहने का फल**—पति के अनुकूल आचरण करने वाली स्त्री के पति के लिए यहीं स्वर्ग है तथा पति के प्रतिकूल आचरण करने वाली स्त्री के पति के नरक में होने में कोई भी सदेह नही है (दक्षस्मृति ४–५)। **स्त्री अपने गुणों से लक्ष्मी बन जाती है**—सुखार्थी गृहस्थ के सुख स्त्री-मूलक हैं, अर्थात् उसके समस्त सुख स्त्री पर ही निर्भर हैं। जो स्त्री विनम्र, पति की मनोवृत्ति को जाँचने वाली, पति के वश में रहने वाली, अनुकूल तथा अधिक न बोलने वाली, अदुष्ट, चतुर, साध्वी और पतिव्रता होती है वह स्त्री इन सभी गुणों से विशिष्ट होने के कारण साक्षात् लक्ष्मी है, इसमें तनिक भी सन्देह नही (दक्षस्मृति ४–७। ४–१२)। **स्त्री धर्म में स्वतन्त्र नहीं होती**—धर्म में स्त्री को स्वतन्त्रता नही रहती है (गौतम स्मृति १८)। **स्त्री को किन अवस्थाओं में न देखना चाहिए**—स्त्री के साथ एक बरतन में भोजन नही करना चाहिए। भोजन करती हुई, छीकती हुई, जँभाई लेती हुई तथा आराम से बैठी हुई स्त्री को नही देखना चाहिए। **स्त्री-स्वभाव**—स्त्रियों का यह स्वभाव है कि वे जगत में (श्रृगारचेष्टाओं द्वारा व्यामोहित कर) पुरुषो में दूषण उत्पन्न कर देती हैं। अत एव विद्वान् पुरुष स्त्रियों के विषय में असावधानी नही करते (मनु० २–२१३)। **माता-बहन आदि के साथ एकान्त वास निषेध**—पुरुष को चाहिए कि (युवती) माता, बहन या पुत्री के साथ कभी भी एकान्त में न बैठे, क्योकि बलवान् इन्द्रिय-समूह विद्वान् को भी अपने वश में कर लेता है। (मनुस्मृति २–२१४)

विवाह सम्बन्धी नियम

असपिण्डादि कन्या का विवाह-योग्यत्व—जो कन्या माता के सपिण्ड (सात पीढी तक) की न हो और पिता के गोत्र की न हो, ऐसी कन्या द्विजातियो के स्त्रीधर्म (अग्न्याधानादि, यज्ञकर्म तथा मैथुनकर्म) के लिए श्रेष्ठ है। (मनुस्मृति)।

विवाह में निन्दित कुल—गौ, बकरी, भेड, धन तथा अन्न अधिक समृद्धि होने पर भी दस कुलो को आगे कहे हुए विवाह सम्बन्ध में त्याग देना चाहिए (मनु०

३–६)। त्याज्य दस कुल—जाति धर्म आदि संस्कारों से हीन जिस कुल में पुत्र नहीं उत्पन्न होता हो तथा सदा कन्या ही उत्पन्न होती हों जो वेदों के पठन पाठन से हीन हो, जिस कुल के पुरुषों के शरीर में अधिक रोम हों जिस कुल में राजयक्ष्मा मन्दाग्नि मूर्च्छा (मृगी) श्वेत कुष्ठ और गलित कुष्ठ रोग हों या कभी हुए हों उस कुल की कन्या से विवाह न करे (मनुस्मृति ३–७)। कपिलादि कन्या की विवाह-अयोग्यता—भूरे वर्ण वाली अधिक या कम अंगों वाली नित्य रोगिणी रहने वाली बिल्कुल रोम विहीन या बहुत अधिक रोमवाली अधिक बोलने वाली तथा भूरी-भूरी आँखों वाली कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए (मनुस्मृति ३–८)। सवर्ण स्त्री की योग्यता—द्विजातियों के लिए प्रथम विवाह के योग्य सवर्णा स्त्री ही श्रेष्ठ है। काम के वशीभूत होकर प्रवृत्त पुरुषों की स्त्रियाँ क्रमशः श्रेष्ठ (अनुलोम क्रम से) मानी जाती हैं (मनु)। हीन वर्णोत्पन्न स्त्री से विवाह-निषेध—आपत्ति में भी पड़े हुए ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए किसी भी इतिहास आख्यान आदि में शूद्र भार्या का विधान नहीं है। (मनुस्मृति)। ब्राह्मणों के लिए शूद्रा का सम्भोग निषेध—ब्राह्मण पुरुष शूद्रा को शय्या पर बिठा कर (उसके साथ सम्भोग कर) अधोगति (नरक) को प्राप्त होता है तथा उससे सन्तान उत्पन्न करने से ब्राह्मणत्व से भी भ्रष्ट हो जाता है (मनुस्मृति ३–१७)। शूद्रापति की शुद्धि असम्भव—शूद्रा का अधर पान करने वाले तथा उसके श्वास से दूषित ब्राह्मण की और उससे उत्पन्न सन्तान की शुद्धि नहीं होती है (मनुस्मृति ४–१७)। निन्दित स्त्री से विवाह फल—अनिन्दित स्त्री के साथ विवाह करने से अनिन्दित तथा निन्दित स्त्री के साथ विवाह करने से निन्दित सन्तान उत्पन्न होती है अतः निन्दित स्त्री के साथ होने वाले विवाहों का सर्वथा त्याग करना चाहिए (मनु ३–४२)। सवर्ण कन्या के साथ विवाह-विधि—सवर्ण कन्या के साथ शास्त्रानुसार पाणिग्रहण संस्कार (विवाह संस्कार) करने का विधान है (मनु ३–४३)। वर से कन्या-शुल्क निषेध—वर दोष जानने वाला कन्या का पिता वर से या वरपक्ष वालों से कुछ भी धनादि न ले क्योंकि लोभ से धन को ग्रहण करता हुआ मनुष्य, सन्तान को बेचने वाला होता है। (मनुस्मृति ३–५१)

दोषी कन्या के दोष छुपाकर उसे प्रदान करने का विधान—

उन्मत्ता कोढ़िनी तथा मैथुन आदि संसर्ग से दूषित कन्या के विवाह से पूर्व यदि उसके पति (वर) से उक्त अवगुणों के बारे में कह दिया जाय तो दाता दोषी नहीं होता (मनुस्मृति ८–२ ५)। मूल्य लेकर कुरूप कन्या देने वाले व्यक्ति से मूल्य देते समय दिखायी गयी सुन्दरी कन्या को भी उसी मूल्य में ग्रहण करने का विधान—मनु ने कहा है कि जिस कन्या को मूल्य देकर लिया जाता है, उसे न दिखाकर देने वाला

यदि किसी अन्य सुन्दरी सुशीला निर्दोष कन्या को दिखाये और देते समय दोषसहित कुरूपा को दे, तो ऐसी स्थिति में वर को एक ही मोल में दोनों कन्याओं को ब्याह लेने का अधिकार है (मनु० ८–२०४)। **कन्या को वस्त्राभूषण से अलंकृत करना**—अपना अधिक कल्याण चाहने वाले कन्या के पिता, भाई, पति और देवर को चाहिए कि वे सदा कन्या का पूजन (विवाह के पश्चात्) करें, आदर सत्कार करें तथा उसे वस्त्राभूषण से अलंकृत करें (मनुस्मृति ३–५५)। **दम्पत्ति की सन्तुष्टि का फल**—जिस कुल में स्त्री से पति तथा पति से स्त्री सन्तुष्ट रहती है, उस कुल में निश्चय ही सदा कल्याण रहता है (मनुस्मृति ३–६०)। **स्त्री को अलंकारादि से सन्तुष्ट न करने का फल**—यदि स्त्री वस्त्राभूषण आदि से प्रसन्न नहीं होती है, तो वह पति को आनन्दित नहीं करती और हर्षित न होने के कारण वह पति गर्भाधान करने में प्रवृत्त नहीं होता है (मनु०)। **स्त्रियों के आदर तथा तिरस्कार का फल**—जिस कुल में स्त्रियों की पूजा (वस्त्र, आभूषण तथा मधुर वचनादि द्वारा सत्कार) होती है उस कुल पर देवता प्रसन्न रहते हैं, और जिस कुल में इनकी पूजा नहीं होती है उस कुल में समस्त कर्म निष्फल होते हैं। अतएव स्त्रियों का अनादर कभी नहीं करना चाहिए (मनुस्मृति ३–५६)। **स्त्रियों के चिन्ता करने से कुलनाश तथा अचिन्ता से कुलवृद्धि**—जिस कुल में जामि (स्त्री, पुत्रवधू, बहन, भावज, कन्या आदि) शोक करती हैं, वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, और जिस कुल में ये शोक नहीं करती हैं (अर्थात् प्रसन्न रहती हैं) वह कुल सर्वदा उन्नति करता है (मनुस्मृति ३–५७)। **उत्सवादि में स्त्रियों की विशेष पूजनीयता**—इसलिये उन्नति चाहने वाले मनुष्यों को स्त्रियों का सत्कार, भूषण तथा वस्त्र भोजन से विशेष आदर करना चाहिए (मनु०)। **स्त्रियों को स्वतन्त्र न करने का विधान**—स्वकीय पुरुषों को चाहिए कि वे स्त्रियों को सदा दिन-रात अस्वतन्त्र रखें। विषयों (रूप-रसादि विषयों) में प्रविष्ट स्त्रियों को सर्वदा अपने अधीन ही रखने का प्रयत्न करना चाहिए। (मनुस्मृति ७–२)

समय-समय पर स्त्रियों की रक्षा तथा रक्षक का विधान

स्त्री का कुमारावस्था में पिता रक्षक होता है, युवावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में उसका पुत्र। अतः किसी भी दशा में स्त्री को स्वतन्त्र नहीं छोड़ना चाहिए (मनुस्मृति)। **समय पर विवाह न करने वाले पिता, ऋतु काल में गमन न करने वाले पति, वृद्धावस्था में रक्षा न करने वाले पुत्र निन्दा के पात्र हैं**—स्त्रियों का समय पर विवाह न कर देने वाला पिता निन्दनीय होता है। ऋतुकाल में स्त्री के साथ सम्भोग करने के लिए न जानेवाला पति निन्दनीय होता है। स्वामी के मरने पर माता की रक्षा न करने वाला पुत्र निन्दनीय होता है (मनुस्मृति ९–४)। **कौटुम्बिक कार्यों**

में स्त्रियों की नियुक्ति—स्त्रियों को अनेक कामों में लगाए रखना चाहिए। रखना खर्च करना सफाई करना धर्माचरण करना शय्या आसन कुम्भ इत्यादि के रक्षण आदि कार्यों में इन्हें नियुक्त करना चाहिए (मनु)। अपनी रक्षा करने वाली स्त्रियाँ ही रक्षित होती हैं—सज्जनों द्वारा घर में बन्द रखने से ही स्त्री के शौच तथा चरित्र की रक्षा नहीं हो सकती अर्थात् पुरुषों द्वारा र होने पर भी वे अरक्षित रह सकती हैं किन्तु जो स्त्रियाँ अपने आचरणादि की स्वयं करती हैं वे ही वास्तव में सुरक्षित रहती हैं (मनुस्मृति ७—१२)। म दोष—मद्यादि पान करना दुर्जन सम्पर्क पति के अनुपस्थित रहने पर इधर घूमना कुसमय में सोना दूसरों के घर में निवास करना ये स्त्रियों के छ दोष हैं (स्मृति १—११)। नारियाँ रूप (कुरूप अथवा सुरूप) अवस्था (बालक युवा) का विचार नहीं करती वे इच्छाकाल में प्राप्त कैसा भी पुरुष हो उसके साथ स के लिए तत्पर रहती हैं (मनु ७—१४)। पुरुष के दर्शन मात्र से सम्भोग की इ करने वाली स्त्रियाँ चित्त की स्वाभाविक चंचलता स्नेहहीनता के कारण नाना प्र से रक्षा करने पर भी पति के प्रतिकूल हो जाती हैं (मनुस्मृति)। वाग्दत्ता क स्त्री के लिए देवर ब्याहने का विधान—वाणी द्वारा दान करने पर यदि कन्या पति मृत्यु को प्राप्त हो जाय, तो शास्त्रोक्त विधि से उस वर का छोटा भाई (दे उस कन्या से विवाह करे (मनु० ९९)। दुष्ट कन्या को विवाह के बाद छोड़ देने विधान—विधिपूर्वक विवाह हो जाने पर भी कन्या यदि निन्दित रोगी ! क्षतयोनि और छल से उपपादित हो तो उसके परित्याग करने में कोई दोष नहीं (मनु ९—७२)। रजोदर्शन होने पर भी पिता के घर में कन्या का रहना ठीक है गुणहीन पति से ब्याह करना उचित नहीं—रजोदर्शन होने के उपरान्त भी का कन्या का पिता के घर में रहना बुरा नहीं पर गुणहीन पति के साथ विवाह क बुरा है (मनुस्मृति ९—८९)। वर्णसंकर की उत्पत्ति का वर्णन—चारों वर्ण परस्पर व्यभिचार से तथा सगोत्र आदि विवाह से उपनयन आदि कर्मों के परि से वर्ण सकर सन्तान पैदा होती है (मनुस्मृति १०—२४)। प्रतिलोम की रीति प्रतिलोम आचरण करने वाले उच्च वर्ण पुरुष हीन पुत्रों को उत्पन्न करते हैं (१०—३१)। स्त्री आदि के कुछ दोष दोष नहीं माने जाते—स्त्री जार (उपप से दूषित नहीं होती विप्र भी वेदविहित कर्म करने से विप्र दूषित नहीं होता मलमूत्र से दूषित नहीं होता और (गन्दी वस्तुओं को) जलाने के कर्म से अग्नि दू नहीं होती (अत्रिस्मृति १९)। स्त्री सोम से कभी दूषित नहीं होती—ग गन्धर्व अग्नि और देवताओं ने पहले स्त्रियों का भोग किया पीछे मनुष्य का

उपभोग करते हैं। वे कभी भी दूषित नहीं होती (अग्नि०)। **स्त्री कभी दूषित नहीं होती**—जिस प्रकार बहती हुई धारा तथा वायु से उड़ी हुई धूल, सदा पवित्र रहती है, उसी प्रकार स्त्री, वृद्ध और बालक सदा पवित्र रहते हैं (पराशरस्मृति ७-३७)। **स्त्री, बाल, वृद्ध कभी दूषित नहीं होते**—स्त्री, बालक और वृद्ध के समस्त चरित्र पवित्र होते हैं। ये तीन कभी दूषित नहीं होते (आपस्पतम्बस्मृति २-१। २-३)। **दूषित नारी की शुद्धि**—जो स्त्री असवर्ण पुरुष से गर्भ धारण करती है वह जब तक गर्भ का परित्याग नहीं करती तब तक अशुद्ध रहती है। उस शल्य (अर्थात् अन्य वर्ण से प्राप्त गर्भ) के परित्याग करने पर जब रजोदर्शन हो जाता है तब वह नारी विमल स्वर्ण की भाँति शुद्ध हो जाती है। स्वय विप्रतिपन्न (घबडा कर) या दूसरो से प्रतारित (बहकायी जाने पर) अथवा बलात्कार मे या चोरी मे छूट कर आने वाली नारी का परित्याग नहीं करना चाहिए। इसके काम का विधान नहीं है। ऋतुकाल में उपासना करे तब वह पुन रजोदर्शन काल में शुद्ध हो जाती है। रजक (धोबी), चर्मकार (चमार), नट, वुरुड, कैवर्त (मल्लाह) मेद, भिल्ल ये सात अन्त्यज कहे जाते हैं। मोहवश इनके पास जाकर एव इनसे सम्भोग द्वारा गर्भधारण करके, वर्ष भर तक ज्ञानपूर्वक कुछ व्रत का अथवा अज्ञान से दो वर्ष तक कुछ व्रत का अनुष्ठान करने पर स्त्री शुद्ध हो जाती हैं। पाप कर्म करने वाले म्लेच्छो के द्वारा एक बार उपभोग की हुई स्त्री प्राजापत्य व्रत से ऋतुप्रसव के द्वारा शुद्ध होती है। बलात्, स्वेच्छा से अथवा दूसरो की प्रेरणा से, एक बार की उपभुक्त स्त्री प्राजापत्य व्रत द्वारा शुद्ध होती है (अग्नि १९२ म १९९)। **दोष होने पर स्त्री की शुद्धि**—रजस्वला स्त्री स्नान करके चौथे दिन विशुद्ध होती है। रज के समाप्त होने पर ही इस शुद्धि का विधान है, उससे पूर्व नहीं। प्रथम दिन में वह रजस्वला चण्डाली रहती है, द्वितीय दिन वह ब्रह्मघातिनी रहती है और तृतीय दिन रजकी (धोबिन) रहती है, फिर चौथे दिन शुद्ध होती है। स्त्री रज से तथा नदी वेग मे शुद्ध होती है (आंगिरस स्मृति ३५।३७।३८।४२)। **नारी कब त्याज्य होती है**—दुष्ट स्वभाव होने के कारण पति की सेवा न करने वाली स्त्री को बारह वर्ष बिना धन के परित्याग कर देना चाहिए (यमस्मृति १८)। **स्त्री के लिए निषिद्ध कार्य**—स्त्री के लिए बाहर सोना, वीरासन से बैठना, गोष्ठ में निवास करना मना है। जाती हुई स्त्री का पीछा करना पुरुष के लिए निषिद्ध है (यम स्मृति ५५)। **रजस्वला की शुद्धि**—रजस्वला स्त्री रज की समाप्ति के पश्चात् स्नान करके शुद्ध हो जाती है। (यम स्मृति ७७) रजस्वला स्त्री के लिए चौथे दिन स्नान करने का विधान है। रज के निवृत्त हो जाने पर ही स्त्री गमन करने के योग्य होती है, उसके बिना निवृत्त हुए वह किसी प्रकार गमन के योग्य नहीं रहता। जब तक रजस्वला रहे तब

तक वह भले आचरण वाली नहीं मानी जाती। किन्तु रज से अपवित्र हो जाने पर गृह कर्म के लिए तथा इन्द्रिय कर्म के लिए वह सम्यक आचरण वाली मानी जाती है। विवाह में विस्तृत यज्ञ में तथा संस्कार में यदि कन्या रजस्वला हो जाय तो संस्कार नहीं हो सकता। उस रजस्वला को विधिवत् स्नान कराकर, अन्य वस्त्र-भूषण से अलंकृत करके योग्य वस्तुओं से हवन करने के पश्चात् शेष कर्म करना चाहिए (आपस्तम्ब स्मृति ७-१७-१। ।१)। स्त्री-धन से जीविका चलाने वाले की अधोगति—अल्प शुल्क से भी जो पिता कन्या को बेचता है वह बहुत वर्षों तक रौरव नरक में मल-मूत्र भक्षण करता है। जो मानव स्त्रीधन स्वर्ण एवं वस्त्र का उपभोग करते हैं वे पापात्मा अधोगति को प्राप्त होते हैं (प स्मृति ९-२६)। ऋतु के पूर्व कन्या का विवाह—ऋतुमती होने से पूर्व कन्या का विवाह करना चाहिए। (संवर्तस्मृति) ऋतु स्नान करके पति के पास न जाने का फल—ऋतुकाल में स्नान करके जो स्त्री पति के पास नहीं जाती है वह मरकर नरक में पड़ती है तथा बार बार अगले जन्मों में विधवा होती है (पराशरस्मृति ४-१४)। ऋतुस्नान के बाद स्त्री के पास न जाने का फल—ऋतु स्नान करने के उपरान्त स्त्री के समीप जो पुरुष नहीं जाता है वह घोर भ्रूण हत्या के पाप से सम्बद्ध होता है (पराशरस्मृति ४-१५)। बाल विवाह—जब लड़की अष्ट वर्ष की हो जाती है, तब उसकी संज्ञा गौरी होती है और नव वर्ष की होने पर रोहिणी तथा दसवें वर्ष कन्या कहलाती है। इससे ऊपर वह रजस्वला हो जाती है। बारहवाँ वर्ष लग जाने पर जो लोग कन्या का विवाह नहीं कर देते उनके पितर महीने-महीने सदा उसके रज का पान करते हैं। माता पिता और बड़ा भाई ये तीनों अविवाहित रजस्वला को देखकर नरक के भागी होते हैं। मद से मोहित जो ब्राह्मण उस रजस्वला कन्या से विवाह करता है वह समाज में किसी से भाषण करने योग्य नहीं रहता तथा उसे समान पंक्ति में बैठने का अधिकार भी नहीं रहता। उसे वृषली-पति (शूद्रा का पति) कहा जाता है (पराशर स्मृति ७-६।७-७)। स्त्री को स्वतन्त्रता नहीं—स्त्री की रक्षा पिता कुमारावस्था में पति यौवन काल में तथा पुत्र वृद्धावस्था में करता है। अतः स्त्री कभी स्वतन्त्र नहीं रहती। (वसिष्ठ ५)। सदा नारी की रक्षा—समस्त अवस्थाओं में स्त्री की अरक्षा उचित नहीं है, अर्थात् नारी की सदा रक्षा करनी चाहिए (व्यासस्मृति २-५१)। असगोत्र तथा असपिण्ड विवाह—असमान ऋषि और असमान गोत्र में उत्पन्न मातृपक्ष की पाँचवी पीढ़ी तथा पितृपक्ष की सातवीं पीढ़ी की उत्पन्न कन्या से विधिवत् विवाह करना चाहिए (शंख स्मृति ४-१)। अष्ट-विध-विवाह—ब्राह्म दैव आर्ष प्राजापत्य आसुर, गान्धर्व राक्षस तथा पैशाच ये अष्ट-विध विवाह विहित हैं किन्तु इनमें आठवाँ अधम है (शंख

स्मृति ४–२)। लालन और ताडन दोनो से स्त्री लक्ष्मी होती है—स्त्रियों का लालन करना चाहिए किन्तु अवसर आने पर उनका ताडन भी करना आवश्यक है, क्योंकि लालन तथा ताडन के द्वारा ही स्त्री लक्ष्मी होती है, दूसरे प्रकार से नही (शंखस्मृति ४–१६)। **माता सबसे श्रेष्ठ**—दस उपाध्यायों के बराबर एक आचार्य, एक सौ आचार्यों के बराबर एक पिता तथा एक हजार पिताओं से माता प्रतिष्ठा में अधिक मानी जाती है (वसिष्ठस्मृति १३)। **विधवा का पुनर्विवाह**—मन्त्र से संस्कार हो जाने पर यदि बालिका का पति मर जाय और बालिका अक्षतयोनि हो तो उसका पुन संस्कार हो सकता है। (वसिष्ठस्मृति १७)

राजा का कर्म

राजा की आवश्यकता का विधान

राजा से रहित लोक मे सब जगह से भय रहता है अत ईश्वर द्वारा लोकरक्षा के लिए राजा का निर्माण हुआ है (मनुस्मृति ७–३)। **राजा में देवता का वास**—राजा बालक भी हो तो उसका अनादर नही करना चाहिए। (वह मनुष्य नही होता किन्तु) कोई बडे से बडा देवता मनुष्य रूप में स्थित रहता है (मनुस्मृति ७–८)। **राजा की सर्वशक्तिमत्ता**—जिसकी प्रसन्नता में लक्ष्मी रहती है तथा पराक्रम में विजय रहती है एव जिसके क्रोध मे मृत्यु बसती है वह वास्तव मे सर्व-तेजोमय है (मनुस्मृति ७–११)। **राज्यसत्ता की प्रबलता**—उस राजा के भय से समस्त चर, अचर जीव-जन्तु भोग के लिए समर्थ होते हैं तथा अपने धर्म से विचलित नही होते (मनु० ७–१५)। **धर्मिष्ठ के प्रति राजा का कर्त्तव्य**—अपने-अपने धर्मों के अनुकूल चलने वाले, सभी वर्णों (ब्राह्मणादि) तथा सभी आश्रमों (ब्रह्मचर्य–गृहस्थादि) की रक्षा करने के लिए विधाता ने राजा की सृष्टि की है (मनुस्मृति ७–३५)। **ब्राह्मण-वध महान् अधर्म**—ब्राह्मण के वध से महान् अधर्म संसार में दूसरा नही है। इसलिए ब्राह्मण वध की कल्पना तक राजा को नही करनी चाहिए (मनु० स्मृति ८–३८)। **शूद्रों को दास बनाना**—चाहे खरीदा हो या बिना खरीदा, शूद्र को ही दास बनाना चाहिए। विधि ने ब्राह्मणों की दासता करने के लिए शूद्रों का पृथक् निर्माण किया है (मनुस्मृति ८–८१३)। **दास आदि का धन स्वामी का होता है**—भार्या, पुत्र और नौकर ये अधम कहे जाते हैं, जिस धन को ये एकत्र करते हैं वह क्रमश उनके पति, पिता तथा स्वामी का होता है (मनुस्मृति ८–११६)। **अभयदाता राजा का कल्याण**—जो राजा अभय दान करने में तत्पर रहता है, वही पूज्य है, उसी का राज्य पनपता है, उसके यज्ञादि कार्य सदा कल्याण-कारक होते हैं (मनुस्मृति ८–३०३)। **व्यर्थ कर लेने वाला राजा नरकगामी होता**

है—जो राजा प्रजा की रक्षा न करके कर, शुल्क प्रतिभाग तथा दण्ड लेता है वह शीघ्र नरक को जाता है (मनुस्मृति ८–३ ७)। अरक्षक, करग्राही राजा पापी होता है—जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता कर में भाग का छठा भाग लेता है, वह सारे संसार के पापों का ग्रहणकर्ता कहा जाता है (मनुस्मृति ८–३ ८)। पवित्रात्मा नृप—पापियों का दमन तथा साधुओं का संरक्षण करने से राजा भी सर्वदा पुण्य होता है (मनु ८–३ ०)। आत्मरक्षा में राजा के निर्दोषत्व का कथन—अपनी रक्षा के लिए, दक्षिणा आदि का अपहरण होने पर, स्त्री और ब्राह्मण की कष्ट निवृत्ति के लिए शत्रु का वध करने वाला राजा पाप का भाजन नहीं बनता (मनु ८–१४०)। आततायी गुरु भी हो तो उसके मारने का विधान—गुरु बालक, वृद्ध तथा विद्वान् ब्राह्मण कोई भी यदि आततायी अर्थात् हत्या करने वाला बनकर आता है तो बिना किसी प्रकार का विचार किये ही उसे मार देना चाहिए। उसको मारने में कोई दोष नहीं होता है (मनुस्मृति ८–१५)। ब्राह्मण के वध दण्ड का निषेध—ब्राह्मण को प्राण दण्ड देने के स्थान पर मुंडन देना शास्त्रविहित दण्ड है। किन्तु अन्य जातियों के लिए प्राणान्त दण्ड विहित है (मनुस्मृति ८–१५)। देश से निकाल देना ब्राह्मण के लिए महादण्ड—समस्त पापों में स्थित रहने पर भी ब्राह्मण को मृत्युदण्ड नहीं देना चाहिए, अपितु समस्त सम्पत्ति के साथ अक्षत शरीर उस ब्राह्मण को देश से निकाल दे (मनु ८–१८)। शूद्र आदि की अधिकता होने पर राज्य का विनाश होता है—जो राष्ट्र शूद्र से परिपूर्ण हो नास्तिकों से व्याप्त हो तथा ब्राह्मणों से विहीन हो, वह अकाल रोग तथा नाना प्रकार के दुःखों से शीघ्र नष्ट हो जाता है (मनुस्मृति ८–२२)। राजा को सबके धर्म की रक्षा करनी चाहिए—विवेकी राजा को जाति कुल तथा श्रेणी (क्रय-विक्रय वैश्य वर्ग) के धर्मों की रक्षा करते हुए न्यायवादी से अपने धर्म की स्थापना करनी चाहिए (मनुस्मृति ८–४१)। राजा के लोकप्रिय होने के कारण—अपने-अपने (जाति कुल देश के अनुसार) धर्म में रत रहते हुए, दूर देश में रहने पर भी धर्म में व्यवस्थित मानव लोक के प्रिय होते हैं तथा उनको अपने स्वधर्म में व्यवस्थित करने वाला राजा समस्त लोक का प्रिय होता है। दण्ड का महत्त्व—दण्ड ही समस्त प्रजा के ऊपर शासन करता है तथा दण्ड ही उनकी रक्षा करता है। दण्ड ही सोये हुए को जगाता है और दण्ड ही को विद्वान् लोग धर्म भी कहते हैं। दण्ड के भय के बिना कुकर्म कदाचित् ही कोई करे (मनुस्मृति ७–१८)। अयोग्य दण्ड का निषेध—(शास्त्र के अनुकूल) विचार कर सम्यक् प्रकार से दिया हुआ दण्ड प्रजा में प्रीति उत्पन्न करता है किन्तु बिना विचारे शास्त्र विरुद्ध दिया हुआ दण्ड सब प्रकार से (कुल धन आदि का) नाशक

होता है (मनु० ७–१८७)। **दण्ड योग्य को दण्ड न देने से निन्दा**—यदि कोई राजा आलस्यवश होकर दण्ड देने योग्य को दण्ड न दे तो बलवान् दुर्बलों को इस प्रकार मार डालेंगे जैसे कि शूल में छेद कर लोग मछलियों को पका डालते हैं (मनु० ७–२०)। **दण्ड की प्रशंसा**—दण्ड के नियम से ही सब लोकों में शान्ति स्थापित की जा सकती है, क्योंकि स्वभाव से पवित्र मनुष्य कठिनता से प्राप्त होते हैं। अत दण्ड के भय से ही समस्त विश्व भोग के लिए उपयुक्त होता है (मनुस्मृति ७–२२) **दण्ड की अवहेलना पर दु ख**—दण्ड न देने से अथवा उसमें अनुचित कार्य करने से ब्राह्मण आदि के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थ के साधनभूत शास्त्र नष्ट हो जाते हैं तथा संसार में दुष्प्रवृत्तियों का प्रकोप बढ़ जाता है (मनुस्मृति ७–२४)। **दण्ड द्वारा शान्ति की स्थापना**—जिस देश में श्याम रंग वाला तथा लाल आँखों वाला दण्डदायक अपराधियों को उसके अपराधों के अनुकूल उचित दण्ड देता हो, वहाँ प्रजा व्याकुल नहीं होती (मनुस्मृति ७–२५)। **शत्रु-मित्र, ब्राह्मण आदि की दण्डविधि**—राजा अपने देश में (शास्त्रानुसार) न्याय करने वाला तथा शत्रुओं को अधिक दण्ड देने वाला हो। मित्रों से कुटिलता के स्थान पर स्नेहयुक्त हो तथा ब्राह्मणों को क्षमा देने वाला हो (मनु० ७–३२) । **राजा को विनयशील होना चाहिए**—प्रति दिन प्रात काल उठकर ऋक्, यजु, साम नाम की तीनों विद्याओं को जानने वाले तथा नीति-शास्त्र जानने वाले ब्राह्मणों का सत्संग तथा उनकी आज्ञा से काम करे। अवस्था तथा तपस्या से वृद्ध, अर्थ सहित वेद को जानने वाले तथा भीतर-बाहर से द्रव्यादि से शुद्ध ब्राह्मणों की सेवा करे। क्योंकि वृद्ध की सेवा करने वाला राक्षसों द्वारा भी पूजित होता है फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है (मनु० ७–३७।३८)। **व्यसन की निन्दा**—व्यसन और मृत्यु में व्यसन विशेष कष्टकर होता है। क्योंकि व्यसन से मनुष्य नीचे से नीचे नरक को जाता है और व्यसनरहित मर कर भी स्वर्ग में जाता है (मनुस्मृति ७–५६)। **राजदूत का लक्षण**—राजा से प्रीति रखने वाला (धन, स्त्री आदि से नहीं), शुद्ध विचार रखने वाला, निपुण, सन्देश को न भूलने वाला, देश काल को जानने वाला, सुन्दर शरीर वाला, निर्भय वक्ता इन समस्त गुणों से विशिष्ट राजा का दूत प्रशंसा के योग्य होता है (मनुस्मृति ७–६४)। **राजा के लिए कल्याणकारी काम**—युद्ध से न हटना, प्रजा का पालन करना, ब्राह्मणों की सेवा करना आदि राजा के लिए स्वर्ग देने वाले तथा कल्याण करने वाले कर्म हैं (मनु० ७–८८)। **जीती हुई कुछ वस्तुएँ जीतने वाले की होती हैं**—रथ, घोड़ा, हाथी, छत्र, धन, धान्य, पशु, स्त्री तथा सब द्रव्य (गुड़, नमक आदि) तथा कुप्य अर्थात् सोना चाँदी जो जीत-कर लाये, वह उसी का होता है (मनु० ७–९६)। **श्रोत्रिय के दु ख से राष्ट्र दुःखी**

हो जाता है—जिस राजा के देश में श्रोत्रिय (वेद के विद्वान) क्षुधा से पीड़ित रहते हैं उस राजा का देश भी उनकी क्षुधा से थोड़े ही काल में नष्ट हो जाता है (मनुस्मृति ७-१३४)। शत्रुओं पर विजय पाने के साधन—साम (प्रीति) दान (हाथी आदि दान देने योग्य वस्तुओं को देना) भेद (उनके अनुयायियों अमात्यों और प्रजा में भेद डालना) इन तीनों नीतियों को पृथक्-पृथक् अथवा साथ-साथ अपनाकर शत्रु पर विजय प्राप्त करनी चाहिए, युद्ध से जीतने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए (मनुस्मृति ७-१९८)। यथासंभव युद्ध परित्याग—युद्ध करने वाले राजाओं को युद्ध में (अधिक और अल्प बल की अपेक्षा के बिना) अनित्य विजय तथा पराजय देखनी होती है अतः युद्ध का परित्याग कर देना चाहिए (मनुस्मृति ७-१९९)। युद्ध करना हो तो पूर्ण शक्तिसम्पन्न होकर लड़े—साम दान भेद तीनों उपायों के न रहने पर इस प्रकार सन्नद्ध होकर युद्ध करे जिससे शत्रु पर विजय प्राप्त कर ले। (अत्रि स्मृति ७-२)

राजा के पाँच यज्ञ—दुष्ट को दण्ड सज्जन की पूजा न्याय द्वारा कोष की वृद्धि याचकों के प्रति पक्षपात रहित होना तथा देश की रक्षा ये पाँच राजाओं के लिए यज्ञ कहे गये हैं।

राजा का स्वर्गसाधन—न व्रत के द्वारा और न उपवास तथा अन्य किसी विधि के द्वारा राजा स्वर्ग प्राप्त करता है वह केवल प्रजा का पालन करके ही स्वर्ग प्राप्त करता है। (यम स्मृति ५-७)

प्रायश्चित्त

प्रायश्चित्तों द्वारा पापनाश—शास्त्रोक्त प्रायश्चित्तों से हिंसा से उत्पन्न ज्ञान तथा अज्ञान से किये हुए पाप दूर करने चाहिए। अब मद्यपान के प्रायश्चित्त सुनो। अन्न रस फल तथा पुष्प में उत्पन्न कीड़े का नाश हो जाय तो मनुष्य घृत प्राशन (अर्थात् घी खाने से) से शुद्ध हो जाता है (मनुस्मृति ११-१४४)। मद्यपान का प्रायश्चित्त—मद्यपात्र में रखे हुए सुरा के रस तथा गन्ध से रहित जल को पीने से उत्पन्न पाप का प्रायश्चित्त पाँच दिन तक शंखपुष्पी नामक औषधि को दूध में पकाकर पीने से होता है (मनुस्मृति ११-१४७)। इच्छा और अनिच्छा से किये हुए पापों का प्रायश्चित्त—अनिच्छा से किए हुए पाप कर्मों का प्रायश्चित्त होता है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। पर कुछ विद्वानों का मत है कि इच्छा से भी किए हुए पापों का प्रायश्चित्त श्रुति में विहित है (मनुस्मृति ११-४५)। उक्त दो प्रकार के पापों का प्रायश्चित्त—अनिच्छा से किया हुआ पाप वेदाभ्यास से नष्ट हो जाता है, किन्तु इच्छा से और मोहवश किए गये पापों के लिए विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्त करने का विधान है (मनुस्मृति ११-४६)। तपोबल अथवा पाप तप

से नष्ट करता है—तप करने वाले लोग अपने उन सब पापों को, जो मन, वचन और कर्म से होते हैं, तप द्वारा नष्ट कर डालते हैं (मनु० ११–२४२)। **प्रति दिन वेद का अभ्यास महापातक का नाशक है**—अपनी शक्ति के अनुसार प्रति दिन वेद का अध्ययन, पञ्च महायज्ञो का करना, शील तथा विनयपूर्वक रहना इत्यादि कर्म महापातको से उत्पन्न पापो को भी शीघ्र नष्ट कर देते हैं, फिर दूसरे पापो की गणना ही क्या है (मनु० ११–२४६)। **वेदज्ञ समस्त पापो को नष्ट कर देता है**—जिस प्रकार अग्नि अपने तेज से समीपस्थ लकडी को क्षण भर में जला देती है, उसी प्रकार वेदज्ञ ब्राह्मण अपने ज्ञान रूपी अग्नि से समस्त पापो को शीघ्र भस्मसात् कर डालता है (मनुस्मृति ११–२४७)। **चाण्डाल दर्शन और स्पर्श का प्रायश्चित्त**—चाण्डाल दर्शन करने पर सूर्य का दर्शन कर ले तो पाप नष्ट हो जाता है और चाण्डाल के स्पर्श करने पर सचैल स्नान (अर्थात् समस्त वस्त्रो के साथ स्नान) करने से शुद्धि हो जाती है (पराशरस्मृति ६–२४)। **विभिन्न स्त्रियों के संसर्ग से लगे हुए पाप का प्रायश्चित्त**—चाण्डाल, पुल्कस आदि के यहाँ भोजन करने वाला तथा उनकी स्त्रियो से सम्भोग करने वाला पतित होता है। वह यदि ज्ञान से किया हुआ हो तो एक वर्ष तक कुछ व्रत करे और अज्ञान से किया हो तो दो दिन कुछ व्रत करके शुद्ध हो सकता है (यमस्मृति २८)। **माता-बहन आदि से सम्भोग करने का प्रायश्चित्त**—माता, गुरु-पत्नी, बहन, लडकी, पुत्रवधू से सम्भोग करने वाले को अग्नि में प्रविष्ट हो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसकी शुद्धि का कोई उपाय नही है। रानी, सन्यासिनी, धाय तथा उत्तम वर्ण की स्त्री तथा सगोत्र स्त्री से सम्भोग करने पर कृच्छ् व्रत को दो बार करने पर शुद्ध होता है। समस्त अन्य स्त्रियों के गमन करने वाले को कृच्छ्व्रत करना चाहिए (यमस्मृति २८।३५।३६।३७)। **ज्ञान से किये गये पापो के प्रायश्चित्त का विधान**—किसी भी स्थान में, सवारी अथवा जल में, दिन आदि में भी मैथुन करने के बाद सवस्त्र स्नान करे। ब्राह्मण यदि अज्ञान से शूद्रा-स्त्री-गमन करे तो भी पतित हो जाता है। इस अवस्था के लिए प्रायश्चित्तो का विधान है, पर ज्ञान से उक्त मैथुन करने पर उक्त वर्ण की समता में आ जाता है। दुष्ट स्त्री को पति एकान्त घर मे बन्द रखे और पर-स्त्री-गमन करने पर पुरुष के जिन प्रायश्चित्तो का विधान है उससे भी वही प्रायश्चित कराये। वह स्त्री पुन यदि सदृश वर्ण के पति से प्रदूषित हो जाय तो वह कृच्छ् और चान्द्रायण व्रत करके शुद्ध हो सकती है। जो ब्राह्मण एक रात्रि भी शूद्रा स्त्री का सेवन करता है तथा उसका अन्न खाता है, वह जाप करता हुआ तीन वर्ष व्यतीत करने पर शुद्ध हो सकता है। (मनुस्मृति)

कर्म का फल

दोनों लोकों में दुश्चरित्र का फल मिलता है—कुछ पाप इस जन्म में होते हैं और कुछ पूर्व जन्म के दुष्ट मनुष्य उन सभी पापों का फल दुश्चर्म (खराब वंश में उत्पत्ति) और रूप-विपर्यय (खराब चेहरा खराब रूप आदि) के रूप में प्राप्त करते हैं (मनुस्मृति)। विभिन्न पाप कर्मों के विभिन्न फल—दोष वर्णन करने वाले के नाक से दुर्गन्ध आती है और मिथ्या दोषारोपण करने वाले के मुख से दुर्गन्ध आती है। धान्य का चोर अंगहीन होता है। धान्य आदि में कुछ और मिलाने वाला अधिक अंग (छः उंगली आदि) पाता है।

अध्याय ९

वाल्मीकीय रामायण की नीति

रामायण और महाभारत

नीतिशास्त्र के लिए इतिहास का बहुत महत्त्व है, क्योंकि उसके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इस देश के प्राचीन काल के महापुरुषो ने अपने वास्तविक और व्यावहारिक जीवन में नैतिक नियमो का कहाँ किस प्रकार पालन किया है तथा अपने जीवन के समक्ष क्या आदर्श रखे हैं एव उनको कहाँ तक प्राप्त किया है। वेद, स्मृति, सदाचार और अपने मन की सन्तुष्टि ये चार धर्म के स्रोत बतलाये गये हैं। इनमें से सदाचार के अर्थ वर्तमान और प्राचीन दोनो काल के ही महापुरुषो के आचरण को ध्यान में रखकर नैतिक निर्णय करना चाहिए। महापुरुषों के चरित्र के उदाहरणो का नैतिक जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। भारत का नैतिक जीवन तो उसके 'इति-हास' (इस प्रकार हुआ) रामायण और महाभारत के अन्तर्गत प्राचीन काल के धार्मिक व्यक्तियो के आचरण के आधार पर ही बहुत कुछ बना है। स्त्रियो के जीवन पर सीता, सावित्री आदि पतिव्रता, सती और साध्वी महिलाओं के जीवन का और पुरुषो के ऊपर राम, कृष्ण, भरत, हनुमान्, युधिष्ठिर, हरिश्चन्द्र, शिवि, दधीचि और प्रह्लाद आदि महापुरुषो के आचरण का बहुत प्रभाव पड़ा है। रामायण और महाभारत में धर्म के नियमों का उल्लेख भी है और उनको मानकर उन पर चलने के अनेक उदाहरण भी हैं। धर्म में प्रवृत्त कराने के लि उनमें आख्यान, उपाख्यान और आख्यायिका आदि भी हैं। हमारे इस ग्रन्थ में इतना स्थान तो नही है कि हम रामायण और महाभारत और उनके अन्तर्गत उपाख्यानो के पात्रो का चरित्र-चित्रण करके यह दिखलायें कि उन्होने अपने आचरण के द्वारा किन-किन धार्मिक नियमो का पालन किया है। हम यहाँ केवल इतना दिखा सकते हैं कि महापुरुषो के चरित्रों के आधार पर इन इतिहासो के प्रसिद्ध लेखक वाल्मीकि और व्यास ने किन-किन नैतिक सिद्धान्तो की पुष्टि की है। हमारे ये दोनों इतिहास ग्रन्थ कब लिखे गये होंगे, किसने लिखे होंगे, कितनी बार इनकी आवृत्ति हुई होगी, इनके कितने भाग मौलिक और

उसके लेखकों के ही लिखे हुए हैं और कितने प्रक्षिप्त हैं अर्थात् पीछे से जोड़ दिये गये हैं, इन सारे प्रश्नों का कोई अन्तिम और सन्तोष-जनक उत्तर नहीं है। इन विषयों पर भारतक बहुत खोज हो चुकी है और बहुत से मत हैं। हम यहाँ पर इस वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहते। इस विषय में जो निश्चय हमको ठीक जान पड़ते हैं उनको संक्षेप में यहाँ पर दे देते हैं।

वाल्मीकीय रामायण का रचना-काल

भारतीय परम्परा में यह कहा जाता है कि वैदिक ग्रन्थों के पश्चात् आदि लौकिक-काव्य वाल्मीकीय रामायण है। रामायण की रचना कब हुई इसके लिये निश्चित प्रमाण देना दुष्कर है किन्तु बहिरंग और अन्तरंग दृष्टि से हम इसके काल का एक संक्षिप्त विवेचन करते हैं। राम वैदिक जैन और बौद्ध तीनों धर्मों में मर्यादा-पुरुषोत्तम माने गये हैं। बौद्ध कवि कुमारलात (ई १) की कल्पना-मण्डितिका म रामायण के पारायण की चर्चा आती है। जैन कवि विमल सूरि ने 'पउम चरिउ' नामक प्राकृतभाषा के ग्रन्थ में रामकथा का अनुवाद किया है। इसकी रचना का समय लगभग ६२ ई माना जाता है। बौद्ध धर्मावलम्बी महाकवि अश्व घोष ने अपने बुद्ध-चरित में सुन्दरकाण्ड की अनेक उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं को ज्यों का त्यों लिया है। दशरथजातक म पूर्णरूपेण रामकथा मिलती है। इन बाह्य प्रमाणों से पता चलता है कि रामायण की रचना ई पू तीन शतक से पहले ही हो गयी होगी क्योंकि सभी जातक ई पू द्वितीय शतक के पहले के ही माने जाते हैं। रामायण में महाभारत की कथा उपलब्ध नहीं होती किन्तु महाभारत में रामायण की कथा ही नहीं रामायण काव्य का स्थान पवित्र तीर्थों के रूप में माने गये हैं। महाभारत का वर्तमान रूप भी ई पू प्रथम शतक निर्मित माना जाता है। अतः उससे भी पूर्व रामायण की सत्ता सिद्ध होती है।

गंगा और सोन के संगम पर जाते हुए राम के मार्ग में पाटलिपुत्र नगर का उल्लेख रामायण में नहीं मिलता। इस नगर की स्थापना मगधनरेश अजातशत्रु ने ५ ई पू म की थी। अतः इससे पूर्व रामायण की रचना हुई होगी।

कोशल की राजधानी रामायण में अयोध्या बतलायी गयी है किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में कोशल की राजधानी साकेत (श्रावस्ती) बतलायी गयी है। यहाँ पर लव ने अपनी राजधानी बनायी थी। अतः श्रावस्ती म कोशल राज्य की राजधानी आने से पूर्व ही रामायण की रचना हुई होगी।

भारत के दक्षिण भाग का महान् जगल होना, उत्तर भारत म कोसल अग काश्य पुण्ड्र मगध मिथिला आदि अनेक छोटे राज्यों की सत्ता बौद्ध काल से पूर्व के ही भारत

के इतिहास मे मिलती है।

इन सभी प्रमाणो के आधार पर हम कह सकते हैं कि रामायण की रचना बुद्ध के जन्म से पहले हुई होगी। रामायण में एक दो स्थानो पर भवनों का नाम देखकर कुछ लोग इसे बाद की कृति कहने का प्रयास करते हैं, किन्तु जर्मन विद्वान् याकोवी इन श्लोकों को प्रक्षिप्त मानकर रामायण के उक्त काल का समर्थन करता है।

वाल्मीकीय रामायण की नीति

राम का अनुकरणीय चरित्र

वाल्मीकि ने रामचन्द्रजी के चरित्र का चित्रण इन शब्दो में किया है—वे राम बड़े सुन्दर है, पराक्रमी हैं, किसी के गुण में दोष देखने वाले नही, किसी के गुण से वे जलते नही। रामचन्द्र से कोई कठोर वचन कह देता है तो वे उसका कुछ उत्तर नही देते, क्योंकि उनका चित्त शान्त है, वे अक्रोधी हैं। इतना ही नही कि वे कठोर वचन बोलने वाले को उत्तर नहीं देते, किन्तु उससे प्रेमपूर्वक भाषण करते हैं। उनका कभी किसी ने यदि कुछ उपकार ही कर दिया, भले ही वह दिखावटी ही क्यो न हो, रामचन्द्र उतने ही मे सन्तुष्ट हो जाते हैं। उनके प्रति कोई सैकड़ो अपकार करे तो भी वे इधर ध्यान नही देते, अपकारी से अति क्रोध कर बदला लेने के लिए तैयार नही हो जाते। अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा से जो उनका समय बचता है उस समय में वे चरित्रवान्, ज्ञानी तथा वृद्धजनो के साथ कथोपकथन करते हैं। वे बुद्धिमान्, मधुरभाषण करने वाले, अपने पास आये हुए व्यक्तियो से प्रथम ही बोलने वाले हैं, प्रिय बोलने वाले हैं। वे पराक्रमी हैं परन्तु अपने महान् पराक्रम का उनको अहकार नही है। वे कभी असत्य नही बोलते हैं, वे विद्वान् हैं। असत्य बोलने के परिणाम को वे भली भाँति जानते हैं। चरित्र, ज्ञान और अवस्था मे वे अपने से बड़ो का सदा आदर करते हैं। उनको प्रजा से अनुराग है तथा प्रजा भी उनसे अनुराग रखती है। वे दुःखियो पर दया करते हैं, क्रोध उनको छू तक नही गया है। वे ब्राह्मणो का सत्कार करते हैं, सकट में पडे हुए जनो पर दया करते हैं। वे धर्म के रहस्य को जानते हैं, अधर्म की ओर से सदा दूर रहते हैं। वे स्वय भी पवित्र हैं तथा दूसरो को भी शुद्ध करने वाले है। कुलपरम्परा के धर्म के पालन मे उनका अनुराग है। प्रजारक्षण रूप क्षात्र धर्म को वे अपना धर्म समझते हैं। क्षात्र धर्म का पालन करते हैं तथा यह भी जानते हैं कि क्षात्र धर्म के सम्यक् पालन करने मे कीर्ति तथा स्वर्ग प्राप्त होता है। वे व्यर्थ काम नही करते। धर्म और शास्त्र के विरुद्ध विषयो की ओर उनका अनुराग नही रहता। वाद-विवाद में उत्तरोत्तर युक्ति देने में वे बृहस्पति के समान हैं। वे निरोग है, तरुण है, वक्ता हैं, उनका शरीर बडा ही सुन्दर है। वे देश और काल को जानने वाले हैं, वे श्रेष्ठ पुरुषों को समझने वाले हैं, गुणी का आदर करने वाले हैं। अतः वे राजकुमार प्रजा के

बाहरी प्राण हैं। गुणों के कारण वे प्रजा के प्रिय हैं। उन्होंने सभी विद्याओं को विधिवत् पढ़ा है, तथा धर्मों के समस्त भेदों को वे भली भाँति जानते हैं अस्त्र-शस्त्र विद्या में अपने पिता से बढ़कर हैं। वे साधु हैं, शुद्ध स्वभाव वाले हैं वे अदीन हैं कठिन से कठिन समय में भी शास्त्र युक्त धर्म तथा आत्म-सम्मान के विरुद्ध काम करने वाले नहीं हैं, सत्यवादी हैं, नम्र हैं, धर्म अर्थ आदि पुरुषार्थों को वे गुरु ब्राह्मणों से तत्त्वतः सीखे हुए हैं। अतः वे अर्थ धर्म तथा काम को तत्त्वतः जानने वाले हैं, उनकी स्मरणशक्ति ठीक है, वे प्रतिभा-सम्पन्न हैं, वे लौकिक कार्यों के सम्पादन की क्षमता रखते हैं तथा धार्मिक आचरणों में तो वे निष्णात ही हैं। वे विनयी हैं, वे अपना आकार छिपाना जानते हैं, उनके मन्त्र गुप्त रहते हैं अपने कर्तव्यों से उन्होंने अनेक सहायक बना रखे हैं। उनके क्रोध तथा प्रसन्नता कभी निष्फल नहीं होते। वे यह जानते हैं कि किस समय किस वस्तु का त्याग तथा किस वस्तु का ग्रहण करना चाहिए। देवता गुरु आदि में दृढ़ भक्ति रखने वाले हैं। उनकी बुद्धि स्थिर है वे बुरी वस्तुओं तथा बुरे मनुष्यों का संग्रह करने वाले नहीं हैं। उत्तेजित होने पर भी वे कठोर वचन नहीं बोलते। वे आलस्य रहित हैं। वे सदा सावधान हैं, वे अपने तथा दूसरों के दोषों को भले प्रकार जानते हैं। वे शास्त्रों के उपदेश के रहस्य को जानने वाले हैं इतना ही मनुष्यों के अन्तर उन्हें मालूम हैं, दण्ड और पुरस्कार की व्यवस्था करने में वे बड़े ही निपुण हैं। सज्जनों का संग्रह तथा उन पर अनुग्रह करना वे अच्छी तरह जानते हैं। दण्ड देने के स्थान तथा समय उन्हें मालूम हैं, राज्य की आय बढ़ाने वाले उपाय उन्हें मालूम हैं तथा धर्म और राजनीति के अनुसार कहाँ कितना व्यय करना चाहिए इसका भी उन्हें ज्ञान है। शस्त्रों में उन्होंने श्रेष्ठता प्राप्त की है। न्यायनिष्ठ अर्थ तथा काम की सेवा करके वे सुख चाहते हैं। वे आलस्यहीन हैं। गीत-वाद्य आदि शिल्पों के वे विज्ञाता हैं, अर्थशास्त्र सम्बन्धी व्यय आदि का उन्हें अच्छा ज्ञान है। हाथी-घोड़े की सवारी तथा उनको शिक्षा देने में वे निपुण हैं, धनुर्वेद में प्रवीण अतिरथों द्वारा सम्मानित आक्रमण तथा प्रहार करने वाले सेना की नीति में प्रवीण अर्थात् सेना को कब किस स्थिति में रखना चाहिए इसको भली भाँति जानने वाले हैं। देवता अथवा राक्षस क्रोध करके भी उनको युद्ध में हरा नहीं सकते। वे किसी से ईर्ष्या नहीं करते हैं क्रोध को जीतने वाले हैं अहंकारी नहीं हैं तथा दूसरों की सम्पत्ति से द्वेष करने वाले नहीं हैं। वे किसी द्वारा भी तिरस्कृत होने वाले नहीं हैं सभी उनका आदर करते हैं भिन्न-भिन्न समय के लिए वे भिन्न-भिन्न अनुचर रखने वाले हैं। उनकी क्षमा पृथ्वी की क्षमा के समान है वे बृहस्पति तुल्य बुद्धिमान् हैं इन्द्र के सदृश पराक्रमी हैं। इस प्रकार वे तीनों लोकों की प्रजा के आदरणीय हैं। प्रजा के प्रिय तथा पिता को प्रसन्न करने वाले सभी गुणों से वे सुशोभित हैं जैसे अपनी किरणों से सूर्य सुशोभित होता है। वे लोकपालों के गुणों से विभूषित हैं। वे सत्यवादी तथा

सत्याचारण करने वाले हैं। अर्थ के साथ धर्म को भी स्वयं राम ने प्रतिष्ठित किया है। चन्द्रमा के समान वे प्रजा को सुखी रखते हैं। पृथ्वी के समान क्षमाशील, बृहस्पति के समान बुद्धिमान् तथा इन्द्र के सदृश पराक्रमी हैं। रामचन्द्र धर्म के रहस्यों को जानने वाले, सत्य-प्रतिज्ञ, शीलवान् तथा गुणियों के गुण का आदर करने वाले हैं। तृष्णारहित हैं, दुखियों के दुख को दूर करने वाले हैं। प्रिय बोलने वाले हैं, दूसरे के किये हुए उपकारों को समझने वाले हैं और अपनी इन्द्रियों पर अधिकार रखने वाले हैं। वे आसानी से प्रसन्न किये जाते हैं, विकट परिस्थितियों में भी वे अपनी कही बातों से नही टलते। वे सदा दर्शनीय हैं, कोई भी उनसे द्वेष नहीं करता। वे प्रियवादी तथा सत्यवादी हैं। वे बहुश्रुत ब्राह्मणों और वृद्धों की सेवा करते हैं तथा उनका उपदेश सुनते हैं। इसलिए उनकी कीर्ति, यश और तेज उत्तरोत्तर बढ़ते हैं तथा अतुलनीय हैं। देवता, मनुष्य तथा राक्षस सभी की अस्त्रविद्याओं में वे निपुण हैं। उन्होंने विधिपूर्वक विद्या ग्रहण करने के व्रतों का पालन किया है तथा गुरु से अंगों के समेत वेदों का अध्ययन किया है। रामचन्द्र गायन विद्या में इस पृथ्वी में सबसे श्रेष्ठ हैं। उनके माता-पिता के कुल शुद्ध हैं, वे स्वयं भी शुद्ध हैं, वे बुद्धिमान् हैं तथा दुख के समय में कभी भी घबड़ाते नहीं। धर्म और अर्थ के विशेषज्ञ ब्राह्मणों से उन्होंने शिक्षा प्राप्त की है। वे पुरवासियों से अपने निजी आदमियों की भाँति कुशल आदि पूछते हैं। वे पुत्र, अग्निहोत्र, स्त्री, परिवार, भृत्य और शिष्य आदि का समाचार पूछते हैं जैसे कोई पिता अपने पुत्रों से पूछता हो। वे ब्राह्मणों से पूछते हैं कि क्या आपके शिष्य सावधानी से आपकी सेवा करते हैं? पुरुषश्रेष्ठ श्री रामचन्द्र जी इसी प्रकार सभी से पूछते हैं। जो मनुष्य दुःखी होता है रामचन्द्र जी स्वयं उसके दुख से दुखी होते हैं। दूसरों की प्रसन्नता में रामचन्द्र स्वयं प्रसन्न होते हैं जिस प्रकार पिता प्रसन्न होता है। वे सत्यवादी, धनुर्धारी, वृद्ध सेवी और जितेन्द्रिय हैं। वे सदा प्रसन्न रहते हैं, हँस कर बातें करते हैं तथा सर्वात्मना धर्म को प्रधानता देते हैं। यथावत् सभी के कल्याण करने वाले हैं। झगड़ों की बातों में उन्हें प्रसन्नता नहीं मिलती है। युक्ति-युक्त उत्तर प्रत्युत्तर करने में वे बृहस्पति के समान वक्ता हैं। रामचन्द्र शौर्य वीर्य तथा पराक्रम से सदा प्रजा पालन में लगे रहते हैं। अनुराग के कारण उनकी इन्द्रियाँ मूढ़ नहीं हो गई हैं, वे यथावत् कार्य करती हैं। उनके क्रोध और प्रसन्नता कभी व्यर्थ नहीं जाते। वे राजनियम से सदा अपराधियों को ही दण्ड देते हैं, निरपराधियों पर कभी क्रोध नहीं करते। वे जिस पर प्रसन्न होते हैं उसको धन देते हैं। वे अपने मन पर अधिकार रखते हैं। रामचन्द्र लोक की भलाई तथा बुराई दोनों भलीभाँति जानते हैं। रामचन्द्र का मन उच्छृंखल नहीं है। वे विद्वान्, धर्मात्मा तथा अपने भाइयों पर प्रेम रखने वाले हैं। वे जिस प्रकार से अपने भाइयों के प्रति प्रेम रखते हैं उसी प्रकार हम लोगों (प्रजा) पर प्रेम रखते हैं। रामचन्द्र जी धर्मज्ञ, गुणवान्, संयत, सत्यप्रिय तथा

शुद्ध चरित्र वाले हैं। यद्यपि हमारी स्त्रियाँ हैं और अनेक नौकर हैं पर रामचन्द्र के सम्बन्ध में कोई भी परिवाद या अपवाद नहीं सुना गया है। रामचन्द्र सभी प्राणियों के साथ शुद्ध चित्त से व्यवहार करते हैं तथा देशवासियों का अभीष्ट पूरा करके उनको अपने वश में करते हैं। रामचन्द्र जी सत्य के द्वारा लोक को जीतते हैं, ब्राह्मणों को दान से जीतते हैं, गुरुओं को सेवा के द्वारा तथा युद्ध में शत्रुओं को धनुष के द्वारा जीतते हैं। सत्य दान तथा त्याग मित्रता, शुचि, ऋजुता विद्या गुरु, शुश्रूषा ये सभी रामचन्द्र में अचल भाव से हैं। (बाल काण्ड–१।७ से १२ २।२९ से ५७ १ से २१–१) राम दो बार नहीं बोलते अर्थात् अपनी बात को नहीं पलटते। (अयो १८–१) रामचन्द्र सब वर्णों प्राणियों तथा वृद्धों पर दया करते हैं इसलिए वे सभी उनके अनुगामी हैं। (अयो १७–१५) राम का दुःख-सुख में समभाव—कैकेयी के कठोर वचन कहने से भी रामचन्द्र दुःखी नहीं हुए। (अयोध्या १८–४१) शत्रु-घाती रामचन्द्र मरण के समान अप्रिय कैकेयी के कटु वचन सुन कर भी व्यथित न हुए। (अयोध्या १९–१) कैकेयी से राम ने कहा—हे देवी मैं धन चाहने वाला नहीं हूँ मैं लोक रक्षा करना चाहता हूँ विमल धर्म पालन करने वाले ऋषियों के समान तुम मुझे समझो। (अयो १९–२) राज्य मिलने के बजाय वनवास की आज्ञा मिलने पर राम के मुख की कान्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ा—राज्य के नाश होने से विघ्न के कारण अभिषेक न होने से रामचन्द्र की शोभा में कोई अन्तर नहीं पड़ा। क्योंकि लोकप्रिय होने के कारण वे चन्द्रमा की भाँति स्वभाव से सुन्दर हैं। जैसे चन्द्रमा घटने और बढ़ने दोनों में समान रहता है उसी प्रकार रामचन्द्र जी भी दुःख और सुख दोनों में समान हैं। (अयो १९–१२–११) रामचन्द्र जी ने इन्द्रियों पर संयम करके मन में दुःख को धारण कर लिया था। अभिषेक के समय जिन लोगों ने सुन्दर वस्त्राभूषण धारण कर लिये थे वे परिजन भी रामचन्द्र के मुख पर विकार न देख सके। (अयो १९–३५–३६) कभी बात सुनकर भी रामचन्द्र जी को क्रोध नहीं आता। वे स्वयं ऐसा कोई काम नहीं करते जिससे दूसरे को क्रोध हो। वे तो दुष्ट मनुष्यों को भी प्रसन्न करते रहते हैं।

राम की पितृभक्ति

"राजा की आज्ञा से मैं अग्नि में कूद सकता हूँ तीक्ष्ण विष खा सकता हूँ तथा समुद्र में गोते लगा सकता हूँ। यदि हितकारी पिता गुरु या राजा की ओर से मुझे वैसा करने के लिए आज्ञा मिल जाय। (अयो १८–२९–१०) ठीक है। मैं वन में रहने के लिए यहाँ से जाऊँगा। राजा की प्रतिज्ञा पालन करने के लिए मैं जटा और चीर धारण करूँगा। देवी ये बातें मैं तुम्हारे सामने कह रहा हूँ अतः तुम्हें क्षोभ न करना चाहिए। तुम प्रसन्न रहो, मैं जटा-चीर धारण कर वन में जाऊँगा। हितकारी गुरु

पिता, कृतज्ञ तथा राजा की आज्ञा से विना सोचे विचारे मैं तुम्हारा प्रिय काम क्यो न करूँगा।" (अयो० १९–२,४,५) इससे वढकर दूसरा कोई धर्माचरण नही है, जैसा कि पिता की सेवा तथा उनकी आज्ञाओं का पालन है। (अयो० १९–२२) **रामराज्य**—रामराज्य में सभी शरीर तथा मन से प्रसन्न थे। सभी सन्तुष्ट थे। सभी धार्मिक थे। किसी प्रकार का रोग न था, दुर्भिक्ष का भी भय नही था। उस राज्य में कोई पुत्र-मरण नहीं देखता था। स्त्रियाँ विधवा नही होती थी तथा वे सदा पतिव्रता रहती थी। न वहाँ आग का भय था और न जल मे डूबने का भय था। वातरोग तथा ज्वर आदि का भी भय नही था। क्षुधा तथा चोरों के भय से भी नगर रहित था। सभी नगर और राज्य धन-धान्य से परिपूर्ण थे। (वाल काण्ड १–१–९०) वहाँ कोई न नास्तिक था और न झूठ बोलने वाला, कोई भी अबहुश्रुत नही था। ईर्ष्या करने वाला, असमर्थ और मूर्ख कोई भी वहाँ न था। वहाँ के रहने वाले सत्य तथा धर्म के अनुयायी थे। स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि परिपूर्ण थे। (वाल काण्ड १६।१४।१–६–१८)

धर्म-परित्याग के पाप से राम ने वाली का वध किया

तुम सनातन धर्म का परित्याग कर छोटे भाई की स्त्री का उपभोग करते थे इसीलिए मैंने तुम्हारा वध किया है। (कि० १८–१८) **महाजनो का पथ, धर्म का प्रदर्शक है**—मैं एक अपूर्व तथा प्रतिकूल धर्म की स्थापना नही कर रहा हूँ। पूर्व लोगो को भी यह मार्ग अभीष्ट रहा है, हम लोग उनका ही अनुगमन मात्र करते हैं। (अयो० २१–३७)

धर्म, अर्थ और काम

धर्म, अर्थ और काम—इस लोक के धर्म के फल की प्राप्ति में धर्म, अर्थ, काम निश्चय रूप से विद्यमान रहते हैं अर्थात् धर्म में ही, धर्म, अर्थ, काम तीनो उसी प्रकार सहायक होते हैं जिस प्रकार वश्य, अभिमत तथा पुत्रवती भार्या धर्म, अर्थ और काम मे सहायक होती है। (अयो० २१–५७–५८।२१–५७) **धर्म का महत्व**—धर्म से अर्थ होता है, सुख होता है, धर्म से ही सब कुछ मिलता है। धर्म ही इस जगत् का प्राण (सार) है। (अयो० ९–३०) धर्म ही सब पुरुषार्थो में श्रेष्ठ है, धर्म में ही सत्य की प्रतिष्ठा है। (अयो० २१–४१) **अधार्मिक काम की निन्दा**—जो अर्थ और धर्म का परित्याग कर केवल काम का सेवन करता है, वह शीघ्र उसी प्रकार की आपत्ति में पडता है जिस प्रकार की आपत्ति में दशरथ जी पडे थे। (अयो० ५३–१३)

कामी पुरुष देश, काल, धर्म और अर्थ की परवाह नहीं करता

कामासक्त मनुष्य जिस प्रकार देश, काल का विचार नही करता उसी प्रकार धर्म और अर्थ का भी विचार नही करता। (कि० ३३–५५) **कामी की आतुरता**—इन्द्र ने कहा—प्रार्थी ऋतु काल की प्रतीक्षा नही करता। हे सुन्दर कटिवाली मैं तुम्हारे साथ

रति करना चाहता हूँ। हे रघुनन्दन अहल्या समझ गयी कि यह मुनि के वेश में इन्द्र है तथापि इन्द्र के साथ प्रणय का आनन्द लेने के कारण उसने इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार की, और अन्त में अपने को कृतार्थ मानती हुई उससे कहा—इन्द्र तुम अब यहाँ से शीघ्र चले जाओ। (बाल १-४८-१८।१९।२०) काम की प्रबलता—काम के वशीभूत होकर मुनि ने उससे कहा कि हे अप्सरा तुम्हारा मैं स्वागत करता हूँ। तुम मेरे आश्रम में रहो मैं काम के वशीभूत हो गया हूँ अतः मुझ पर कृपा करो। इस प्रकार ऋषि के कहने पर, वह वहाँ रहने लगी किन्तु वहाँ विश्वामित्र की तपस्या का एक विशाल विघ्न था। (बाल १-६३।१४-७-८)

अर्थ की प्रशंसा

अर्थहीन अज्ञानी पुरुष की सभी क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं जिस प्रकार गर्मी के दिनों में छोटी नदियाँ सूख जाती हैं। सुख में पला हुआ मनुष्य प्राप्त धन का परित्याग कर सुख की इच्छा से पाप कर्मों में प्रवृत्त होकर पाप का भागी बनता है। जिसके पास धन है उसी के मित्र हैं उसी के बान्धव हैं वही लोक में पुरुष है, वही पण्डित है। जिसके पास धन है वही पराक्रमी है। जिसके पास धन है वह बुद्धिमान् है भाग्यवान है और है तथा गुणवान् भी है। हर्ष काम दर्प धर्म क्रोध शम दम ये सभी अर्थ से ही सिद्ध होते हैं। धर्मात्मा का यह लोक अर्थ के बिना नष्ट हो जाता है। (उत्तर ८३-३२ से ३६ ८३-३९।४) अकेले धर्म की निन्दा लक्ष्मण का मत — यदि यह नियम है कि धर्म से सुख मिलता है और अधर्म से दुःख तो जो लोग अधर्मरत हैं उन्हें सदा दुःख तथा जो लोग धर्मनिष्ठ हैं उन्हें सदा सुख ही मिलते रहना चाहिए, क्योंकि शुभ तथा अशुभ का फल मिले बिना रह नहीं सकता है। पर देखा जाता है कि जो लोग अधर्म का आचरण करते हैं वे लोग सदा सुखी रहते हैं और धर्मात्मा लोग दुःख उठाते हैं। अतः धर्म-अधर्म दोनों निरर्थक हैं या विपरीत फल देने वाले हैं। (युद्ध ८३-१७-२०-२१) यदि धर्म है तो भी वह दुर्बल है, निर्जीव है तथा बल का अनुयायी है। मेरा मत है कि दुर्बल तथा मर्यादाहीन की उपासना नहीं करनी चाहिए। यदि बल का अनुयायी ही धर्म है तो पराक्रम से व्यवहार कीजिए और धर्म को छोड़ दीजिए। इस समय आप जैसे धर्म में आरूढ़ हैं वैसे ही पराक्रम में आरूढ़ हो जाइए। यदि आप सत्य के पालन रूप धर्म को मानने के कारण पिता की आज्ञा से वन में आये हैं, तो पहले पिता ने आप को राज्य देने का कहा था तब आपने उसका पालन क्यों नहीं किया? यदि धर्म ही प्रधान होता, अधर्म नहीं तो इन्द्र विश्वरूप मुनि को मार कर यज्ञ नहीं करता। अधर्म युक्त धर्म से शत्रु का नाश होता है तथा केवल धर्म से धर्मात्मा का नाश होता है। अतः यह धर्म-अधर्म मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार करता है। (युद्ध ८३-२६-२७-२८-२९-३)

धर्म, अर्थ, काम सबका सेवन समयानुसार होना चाहिए—हे राक्षसराज ! नीतिनिपुण मनुष्य धर्म, अर्थ और काम का सेवन कालभेद से करता है। इन तीनों में श्रेष्ठ कौन है, यह आप्तजनों से सुनकर भी जो नहीं समझता है और जो केवल नाम मात्र का राजा है उसका ज्ञान व्यर्थ है। जो राजा मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार उचित समय में धर्म, अर्थ और काम का सेवन करता है वह दुःख नहीं भोगता है। (युद्ध० ६३–७–१०–१२)

सत्य की प्रशंसा

धर्म के रहस्य जानने वाले मनुष्य सत्य को ही श्रेष्ठ धर्म कहते हैं। (अयो० १४–३) प्राणियों पर दया करने वाला सनातन राजधर्म सत्य ही है। सत्य इसी लोक में मनुष्य को अक्षय परम पद प्राप्त करा देता है। सत्य ही ईश्वर है। जगत् में सभी धर्म सत्य के ही आश्रित हैं। सत्य ही सब धर्मों का मूल है। अतः सत्य से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है। दान, यज्ञ, हवन, तपस्या, वेद इन सबका मूल सत्य ही है। अतएव मनुष्य को सत्य-परायण होना चाहिए। (अयो० १४–३–१०९–१०।१३।१०९–१४) सत्य एक पद ओंकार रूप ब्रह्म है। सत्य में ही धर्म वर्तमान रहता है। सत्य ही ये अक्षय वेद हैं। सत्य से ही ब्रह्मरूप परम पद प्राप्त होता है। यदि धर्म में विश्वास है तो सत्य का पालन करो। (अयो० १४।७–८) सत्य धर्म का मूल है यह बात सज्जनों को मालूम है। (अयो० १८–२४)

उत्साह की महत्ता—उत्साह सम्पत्ति का मूल है, उत्साह सबसे बड़ा सुख है। उत्साह सब कार्यों में प्रवृत्त कराता है तथा वह मनुष्य द्वारा किये गये कार्यों में सफलता प्रदान करता है। (सुन्दर काण्ड १२–१०–११) **क्षमा की प्रशंसा**—क्षमा, चाहे पुरुष में हो, अथवा स्त्री में, वह भूषण होती है। वह क्षमा देवताओं के लिए भी कठिन है, मानवों की तो बात ही क्या है ? क्षमा ही दान है, क्षमा सत्य तथा क्षमा यज्ञ है, क्षमा यश तथा क्षमा धर्म है। क्षमा में ही सारा संसार प्रतिष्ठित है। (सु० ३३–७।३३–८। ३३–९) **क्रोध की निन्दा**—क्रोधी मनुष्य कौन सा पाप नहीं कर सकता ? वह गुरुजनों का भी वध कर सकता है, वह कठोर वचनों से सज्जनों का तिरस्कार कर सकता है। क्रुद्ध मनुष्य विवेकहीन हो जाता है। वह यह नहीं समझ पाता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। उसके लिए न तो कुछ अकर्त्तव्य है और न कुछ अवाच्य है। (सु० ५५–४।५५–५) **अधर्म करके राज्य तक नहीं लेना चाहिए**—मैं केवल राज्य मात्र के लिए महान् फलवाले यश को पीठ पीछे नहीं कर सकता। जीवन बहुत थोड़े दिनों का है। ऐसी दशा में एक साधारण पृथ्वी को अधर्म से लेना नहीं चाहता। (अयो० २१–६३) **महात्माओं की प्रशंसा**—ब्रह्मपरायण, जितात्मा वे मुनि धन्य हैं, जिनको न कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय। जिनको प्रिय-वियोग से दुःख नहीं होता और न अप्रिय-संयोग से

ही अधिक दुःख होता है। वे इन दोनों से परे रहते हैं ऐसे महात्माओं को नमस्कार। (सुन्दर २६-४-५-४६) अतिथि सत्कार—धर्मात्मा तथा ज्ञानी मनुष्य के लिए साधारण अतिथि भी पूज्य होता है फिर आप के समान अतिथि की तो बात ही क्या है (सु १-११२)

प्रत्युपकार

उपकार के बदले में प्रत्युपकार करना सनातन धर्म है। (अ १-१ ९)

हित कहने वाला दुर्लभ है

हे राजन् प्रिय बोलने वाले मनुष्य सदा मिला करते हैं किन्तु अप्रिय हितकारी वचन कहने वाले और सुनने वाले दुर्लभ हैं। (अ १७-२)

मित्र का व्यवहार

धनी हो या दरिद्र दुःखी हो या सुखी निर्दोष हो या सदोष पर मित्र ही मित्र के लिए परम होता है। मित्र का उत्कृष्ट प्रेम देखकर उसके लिए मित्र धन त्याग सुख त्याग और देश त्याग भी करता है। (कि ८-८।८-९) अवसर जानने वाले लोग मित्र काम में सदा तत्पर रहते हैं। हे राजन्! जो राजा लोग ऐसा मित्र तथा अपने शरीर सभी को समान समझ कर मित्र की रक्षा करता है उस राजा का राज्य कीर्ति तथा प्रताप उत्तरोत्तर बढ़ते हैं। (कि २९-१९-११)

दैव और पुरुषार्थ

दैव की प्रबलता

राम कहते हैं—मैं दैव से अतिरिक्त दूसरा कारण नहीं समझता। जिसके विषय में कुछ सोचा न जा सके वह दैव है। उसका प्रभाव भूत तथा उसके अधिष्ठाता देवताओं पर भी पड़ता है। यह निश्चय है कि मेरे और कैकेयी के सम्बन्ध में कभी दैव ने यह उलट फेर की है। हे लक्ष्मण! कौन पुरुष दैव से युद्ध कर सकता है। क्योंकि कर्मफल भोगों के अतिरिक्त उसका ज्ञान तो होता नहीं। वह स्वयं तो प्रत्यक्ष नहीं है। केवल उसके फलभोग ही प्रत्यक्ष होते हैं। सुख दुःख भय क्रोध लोभ हानि उत्पत्ति विनाश तथा इस प्रकार के अकस्मात्‌हेतुक जो कुछ होते हैं वे सब दैव के कार्य हैं। कठोर तपस्या करने वाले ऋषि भी दैव के द्वारा प्रेरित होकर बड़े प्रयत्नों से अर्जित नियमों का त्याग कर काम क्रोध के कारण व्यथित से भ्रष्ट हो जाते हैं। प्रयत्नों द्वारा प्रारम्भ किए गये कार्य को रोक कर अकस्मात् काम को अनायास ही हो जाता है यह दैव का काम है। (अयो २२-१२।२२-२।२१-२२-२१-२४।१)

काम की प्रबलता

प्राणियों को सुख-दुःख देता हुआ काल ही परम बलवान् है जिससे सर्वप्रिय

हीकर भी हे राम ! आप वन जा रहे हैं। (अयो० २४–५) काल के आगे किसकी चलती है ? हे राघव ! काल की गति बडी ही कठिन होती है, वह जानी नही जा सकती। देखिए वही भाग्य मेरी वात टाल कर आज आपको वन भेज रहा है। (अयो० २४–३३।२४–३६)

दैव (निन्दा) लक्ष्मण ने कहा—

लक्ष्मण ने उत्तर दिया—आप समर्थ श्रेष्ठ क्षत्रिय हैं। आप दैव की प्रतिकूलता दूर कर सकते हैं। फिर भी आप दैव को समर्थ वतला रहे हैं जो यथार्थत कोई वस्तु नही है। असमर्थ लोग भाग्य का अवलम्बन लेते हैं। वह भाग्य तुच्छ है जो पुरुषार्थ के समक्ष कोई भी कार्य सिद्ध नही कर सकता। पर आप उसकी प्रशसा करते हैं। इससे विदित होता है कि आपको भ्रम हो गया है। (अयो० २४–७)

उद्योग और उत्साह की प्रशसा (लक्ष्मण का वचन)

आर्य ! आप स्वस्थ हो जायें। धैर्य धारण करें। इस कायरता का त्याग करें। आप उद्योग करें। उद्योग के विना अर्थ की सिद्धि नही होती। जिनके उद्योग तथा धन नष्ट हो जाते हैं, वे अपने धन को पुन नही प्राप्त कर सकते। आर्य, उत्साह में वडा वल है। उत्साह से वढकर कोई वल नही है। जो लोग उत्साही हैं उनके लिए ससार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है। उत्साही पुरुष दुष्कर कामो में भी घवडाते नही। उत्साह की सहायता से ही हम लोग जानकी को पा सकेंगे। (कि० १–१२०–२२–२२)

कर्मफल

हे कल्याणी ! कर्त्ता शुभ अयवा अशुभ जो कर्म करता है, उसी का फल उसे प्राप्त होता है। जो लोग कर्मो के प्रारम्भ में ही उनके फलों की गुरुता तथा लघुता का विचार नही करते, उनको वाल वुद्धि (अर्थात् मूर्ख) कहा जाता है। (अयो० ६३–६–७) मनुष्य अपने किये हुए अच्छे वुरे कर्मो का फल सुख या दु ख दूसरे लोक में भी जाकर भोगता है। (कि० २१–२)

सम्पर्क प्रेम का कारण

अत्यन्त सम्पर्क होने से जड वस्तु के साथ भी प्रेम हो जाता है। (अयो० ८–२८)

त्रिविध मन्त्र (सलाह)

उत्तम मन्त्र—एक मत होकर शास्त्र की दृष्टि से सभी मन्त्री मिल कर जो विचार करते हैं वह उत्तम मन्त्र कहलाता है। (यु० ६–१२) **मध्यम मन्त्र**—जहाँ पर विभिन्न प्रकार के मत के उपरान्त सभी मन्त्री मिलकर एकमत होकर निर्णय करते हैं, वह मन्त्र मध्यम कहा जाता है। (यु० ६–१३) **अधम मन्त्र**—जिस उपाय के विपय में मन्त्रि-गण भिन्न-भिन्न मत रखते हो और अपना महत्व जताने के लिए भाषण करते हो उनके एकमत होने पर भी यदि कल्याण के लक्षण दिखाई न पडें तो उसे अधम उपाय कहते हैं।

शौर्य की प्रशंसा

जब तक यह बात फैल नहीं पाती उसके पहले ही आप मेरी सहायता से राज्य पर अधिकार कर लें। सदा मृदु का अपमान होता है। (अयो २१।८।११)

विवेकहीनता अनर्थ का कारण

राजा दशरथ की बुद्धि उलटी हो गयी है। एक तो वे बूढ़े हैं, दूसरे विषयों से आकृष्ट हैं, तीसरे काम से पीड़ित हैं अतः इस समय वह कुछ भी कह सकते हैं। (अयो २१-३)

कुपथगामी गुरुजन पर भी शासन—गुरुजन भी यदि अहंकार वश कार्य-अकार्य का विवेक खो बैठता है, तथा मर्यादा का उल्लंघन कर मनमानी करने लगता है तो उस पर शासन करना अर्थात् उसे भी दण्ड देना उचित है। (अयो २१-१३)

मन की चंचलता—मनुष्यों का मन स्थिर नहीं रहता है, ऐसा मेरा मत है। धर्मात्मा सज्जनों का मन परोपकार करने के पश्चात् पोमता है। (अयो ४-२७) इन्द्रियों को प्रिय मालूम होने वाले विषयों से मनुष्यों का मन व्यथित हो जाता है। (बाल १-१०-४)

त्रिविध पुरुषों के लक्षण

उत्तम पुरुष—योग्य मित्रों, समान दुःख सुख वाले बान्धवों अथवा इनसे भी अधिक हितकारियों से मिलकर जो तीन गुणों से युक्त सलाह करता है तथा उसी के अनुसार दैव के सहारे कार्य प्रारम्भ करता है, उसको उत्तम पुरुष कहते हैं। (यु ६-७-८) मध्यम पुरुष—अकेला ही कर्तव्य निश्चित करे, धर्म में आस्था रखे और अकेला ही कार्य करे, उसको मध्यम पुरुष कहते हैं। (युद्ध ६-७) अधम पुरुष—गुण दोषों का जो निश्चय न करे, तथा दैवता का आश्रय न रखे, कर्तव्य ही इस आग्रह से कार्य प्रारम्भ करे और अन्त में उपेक्षा कर दे वह अधम पुरुष होता है। (यु ६-१)

तीन प्रकार के भृत्य

उत्तम भृत्य—स्वामी के द्वारा कठिन काम में नियुक्त भृत्य अनुराग से यदि उस काम को करे तो वह पुरुषोत्तम (श्रेष्ठ भृत्य) कहलाता है। (युद्ध १-७)। मध्यम भृत्य—कार्य में नियुक्त भृत्य निर्दिष्ट कार्य के अतिरिक्त यदि स्वामी के प्रिय कार्यों को नहीं करता है और वह उनको करने में समर्थ भी है तो वह भृत्य मध्यम कहलाता है। (यु १-८) अधम भृत्य—योग्य तथा समर्थ होकर भी जो भृत्य स्वामी की आज्ञा के अनुसार कार्य नहीं करता, वह भृत्य अधम अर्थात् नीच है। (यु १-९)

तीन पिता-तुल्य—ज्येष्ठ भाई, पिता तथा जो विद्या प्रदान करता है, ये तीनों धर्मानुकूल चलने वालों के लिए पिता के समान हैं। (कि १८-१३)

तीन पुत्र-तुल्य—छोटा भाई, पुत्र तथा गुणवान् शिष्य, ये तीन पुत्र तुल्य माने जाते हैं। परन्तु ऐसा मानने में भी धर्म ही कारण है। (कि० १८–१४)

चिन्ता से हानि

जो शोक करते हैं उन्हें सुख नहीं होता, उनका तेज नष्ट होता है। अतएव शोक नहीं करना चाहिए। जो शोक के अधीन हो जाते हैं, उनका जीवन भी संशय में पड जाता है। (कि० ७–१२।७–१३)

पत्नी पति की आत्मा है

गृहस्थों की स्त्रियाँ उनकी आत्मा हैं। (अयो० ३०–२४) आदर्श स्त्री का स्वभाव—कौसल्या दासी के समान, मित्र के समान, स्त्री के समान, बहन के समान और माता के समान सदा व्यवहार करती आयी हैं। सर्वाधिक पुत्र को प्रिय मानने वाली तथा प्रिय बोलने वाली कौसल्या ने सदा मेरे प्रिय काम किये हैं। (अयो० १२।६८।१२–६९)

स्त्रियो के सम्बन्ध मे विचार

पतिसेवा

पति का परित्याग करना स्त्री के लिए बहुत बडी क्रूरता है। वह क्रूरता आपको नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वैसा मन से सोचना भी निन्दित है। जब तक काकुत्स्थ वंशी मेरे पिता राजा जीवित है, तब तक आप उनकी सेवा करें यही सनातन धर्म है। (अयो० २४–१२।२४–१३) जो स्त्री पतिसेवा नही करती वह पापिनी है। पति की सेवा से स्त्रियां स्वर्ग पाती हैं। देवता को बिना नमस्कार किये तथा देवपूजा छोडकर भी स्त्रियों को चाहिए कि वे अपने पति की सेवा ही करें। लोक तथा वेद में स्त्रियों का यही नित्य धर्म बताया गया है। (अयो० २४–२६।२४–२८) स्त्री का आश्रय—पति स्त्रियों का प्रधान रक्षक है। दूसरा रक्षक पुत्र होता है। तृतीय रक्षक बान्धव होते हैं। चौथा कोई नहीं जो स्त्रियो का रक्षक बने। (अयो० ६१–२४) स्त्रियो का पति ही देवता है—पति दुःशील हो, स्वेच्छाचारी हो, दरिद्र हो, किन्तु श्रेष्ठ स्वभाव वाली स्त्रियो के लिए वह देवता ही है। (अयो० ११७–२४) पति स्त्रियों के लिए भूषण से भी अधिक शोभा देने वाला है। (सु० १६–२७) पर-स्त्री रक्षण—हे राजा, स्त्रियो की रक्षा तो विशेष रूप से होनी चाहिए, पर-स्त्री को स्पर्श करने की नीच बुद्धि को दूर हटाओ। (अर० ५०–७) महात्मा लोग स्त्रियों के साथ कठोर व्यवहार नहीं करते—स्त्रियों के साथ सज्जन पुरुष कठोर व्यवहार नहीं करते हैं (कि० ३३–३६) स्त्री की अवध्यता—स्त्री सब जीवो मे सदा अवध्य होती है। अतः क्षमा करो। (अयो० ७८–२१) स्त्री वध हो जाने के भय से राम ने मेरा अपमान करके मुझे छोड दिया है। (शूर्पणखा) (कि० ३४–११)

सौतेले पुत्र पर समान स्नेह (कैकेयी का वचन)

मैं राम और भरत में कोई भेद नहीं समझती हूँ। अतः मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि कल राजा रामचन्द्र का अभिषेक करेंगे। (अयो ७–३५) सौतेली माँ को अधिक मानना (कैकेयी की उक्ति)—रामचन्द्र जी कौसल्या से भी अधिक मेरी सेवा करते हैं। (अयो ८–१८)

माता का पिता तुल्य महत्त्व (कौसल्या वचन)—जिस गौरव से राजा तुम्हारे पूज्य हैं, उसी गौरव से मैं भी पूज्य हूँ। अतः मैं तुमको मना कर रही हूँ कि तुम वन में मत जाओ। (अयो २१–५) सपत्नी का कष्ट (कौसल्या के वचन)—अब मेरा हृदय छेदने वाली अपने से छोटी सौतों की बात मुझको सुननी पड़ेगी। सौतों का ताना सहने से बढ़कर स्त्रियों को अधिक दुःख क्या हो सकता है। इससे मुझे जो दुःख और शोक होगा वह अनन्त होगा। हे पुत्र! जब तुम्हारे रहते पर मेरा इस प्रकार का तिरस्कार था तब तुम्हारे परदेश जाने पर क्या होगा, उस समय मेरी निश्चय ही मृत्यु हो जायगी। पति के द्वारा सम्मान पाने के कारण मेरा बहुत ही तिरस्कार होता है। मैं तो कैकेयी की दासियों के बराबर अथवा उनसे भी छोटी समझी जाती हूँ। (अयो २०–३९४२) भ्रातृ-स्नेह (राम वचन)—तुम मेरे दूसरे अन्तरात्मा हो। मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे लिए है। (अयो ४३–४४)। जाति बिरादरी वालों का स्वभाव—जाति वाले कष्ट देखकर प्रसन्न होते हैं, यदि जाति के किसी ने राज्य प्राप्त कर लिया है वह यदि राज्य का रक्षक है, विद्वान् तथा धर्मात्मा है तो जाति वाले उसका तिरस्कार करते हैं यदि वह शूर वीर है तो उसे पराजित करते हैं। जाति के लोग आततायी होते हैं। वे छिपकर विरोधाचरण करते हैं। अतः वे बड़े भयानक होते हैं। आपस में एक दूसरे को विपद्ग्रस्त देखकर प्रसन्न होते हैं। अतः जाति के लोग भयानक कहे गये हैं। हमारे लिए अग्नि अन्य प्रकार के शस्त्र तथा पाश उतने भयानक नहीं हैं जितने कि जाति वाले भयानक हैं। (यु १६–१४–५१०)

राजा का कर्तव्य

मीसु धर्म वेद वर्ण पद तथा अन्य धर्म धनुर्वेद और शिक्षा इनकी ओर ठीक-ठीक तुम्हारा ध्यान तो है? वार्ता दण्डनीति और त्रयी इन तीन विद्याओं का तो सम्यक् ध्यान रखते हो? बुद्धि द्वारा इन्द्रियों का वश उचित विग्रह आन आसन, द्वैध और आश्रय इन पदार्थों की ओर, तथा दैव मनुष्य सम्बन्धित आपत्तियों की ओर शत्रु पर आक्रमण अपराधी को दण्ड आदि की ओर ठीक से मनसा ध्यान तो रखते हो? शास्त्रानुसार तीन अथवा चार मन्त्रियों से एक साथ अथवा अकेले परामर्श तो करते हो? (अयो १००–७१) यदि आप कष्ट सह कर ही धर्म पालन करना चाहते हैं तो धर्म से

चारो वर्णो का पालन करके क्लेश उठाइए। (अयो० १०६–२१) क्षत्रिय का यह पहला धर्म है कि उसका अभिषेक इसलिए ही हो कि वह प्रजा का पालन कर सके। (अयो० १०६–१७)

राजा के पांच रूप

अत्यन्त पराक्रमी राजा के पाँच स्वरूप अर्थात् अग्नि, इन्द्र, चन्द्रमा, यम और वरुण होते हैं। (अ० ४०–१२) राजा दुर्लभ वस्तुओ का दाता होता है—धर्म, धन, जीवन और कल्याण आदि दुर्लभ वस्तुओ के प्रदाता राजा होते हैं। इसमें सन्देह नही है। (कि० १८–४१)

राजा के दोष

जो राजा अपने अमात्यो के विषय में कठोर होता है, उन्हे अल्प वेतन देता है, सदा असावधान रहता है और छिपकर वुराइयां करता है, उस राजा के दुःख में उसकी प्रजा साथ नही देती। जो राजा वहुत ही अहकारी होता है, किसी की वात नही सुनता, अपने को सबसे ऊँचा समझता है तथा क्रोधी होता है वैसे राजा को विपत्ति के समय अपने ही आदमी मार डालते हैं। (अ० ३३–१५–१६) नास्तिकता, असत्य, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, सज्जनो से न मिलना, आलस्य, इन्द्रियो की अधीनता, अकेले ही राज्य की वातो का निर्णय करना, मूर्खों से सलाह लेना, निश्चित कार्यो को प्रारम्भ न करना, गुप्त वातो को प्रकाशित करना, कार्यारम्भ में मागलिक कार्य न करना, सभी शत्रुओ पर एक ही वार चढाई कर देना इन चौदह राजदोषो का परित्याग तो तुमने कर दिया है? (अयो० १००–६५–६६–६७)। **राजा के अस्वास्थ्य के कारण**—वहुत सोते तो नही हो? समय पर उठते हो? रात के पिछले पहर में अपने कार्य की सिद्धि के उपाय तो सोचते हो? किसी वात का निश्चय अकेले अथवा वहुत व्यक्तियो के साथ तो नही करते हो? क्या हजारो मूर्खो का परित्याग कर एक पण्डित को रखना पसन्द तो करते हो? क्योकि सकट के समय पण्डित से वडा भारी कल्याण होता है। (अयो० १००–१७–१८।१००–२२) **दूत का वध अनुचित**—सभी समय तथा सभी स्थान में दूत अवध्य है ऐसा सज्जन पुरुष कहा करते हैं। (सु० ५२–१३) **अविवेकी दूत से हानि**—निश्चित कार्य भी अविवेकी दूत के द्वारा देश काल के विरुद्ध होने के कारण विनष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्योदय मे अन्धकार नष्ट हो जाता है। राजा अथवा अमात्य द्वारा किया हुआ कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का निश्चय भी अविवेकी दूत को प्राप्त कर नष्ट हो जाता है। (सु० २–३७–३८)

कौन से कर्म पाप है

पाप कर्म

रामचन्द्र जिसके परामर्श से वन गये हो उसे सायकाल तथा प्रात काल दोनो सन्ध्या

में सोने का पाप हो। आग लगाने वाले, मद्य स्त्री गामी तथा मित्रद्रोह करने वाले को जो पाप होता है वह पाप उसे हो। वह देवताओं पितरों तथा माता-पिताओं की सेवा न कर सके। वह सज्जनों के लोक सज्जनों की कीर्ति तथा सज्जनों के धर्म से भ्रष्ट हो जाय। वह माता की सेवा छोड़कर बुरे कर्मों में प्रवृत्त हो। वह बहुपुत्रवान् दरिद्र तथा सदा ज्वर रोग से पीड़ित रहा करे। उसकी आशा व्यर्थ हो वह अपना मनोरथ सुनावे और दीनतापूर्वक दाता का मुख देख तो भी दाता उसकी आशा व्यर्थ कर दे। वह चुगलखोर अपवित्र अधर्मी राजा से भीत होकर छल के द्वारा अपना जीवन बितावे। वह दुष्टात्मा ऋतु समय में पति की प्रार्थना करने वाली ऋतुस्नाता सती स्त्री की प्रार्थना न माने। वह उस ब्राह्मण का पाप पावे जिसने अपने बच्चों को भोजन न देकर मार दिया है। वह ब्राह्मण की पूजा रोकने तथा बालवत्सा गौ को दुहने के पाप का भागी बने। वह धर्मपत्नी परित्याग धर्मरति को छोड़कर परस्त्री संगम के पाप का भागी बने। वह पानी में विष मिलाने वाले तथा विष देने वाले के पाप से युक्त हो। उसे वह पाप लगे जो पानी रहते हुए भी प्यासे को पानी नहीं पिलाने वाले को लगता है। उसे वह पाप लगे जो अमर्यादा-निर्णय करते समय पक्षपात से एक के पक्ष को लेकर उसके पक्ष में निर्णय करने वाले को लगता है। (अयो ७५-४४।७५-१४४-५८)

नरक देने वाले पाप—राजा ब्राह्मण तथा गौ की हत्या करने वाले चोर, प्राणिवध में निरत नास्तिक तथा परिवेत्ता ये सभी नरकगामी होते हैं। चुगलखोर, लोभी मित्रघाती तथा गुरु पत्नी के साथ प्रसंग करने वाला ये सभी पापियों के लोक (नरक) में जाते हैं। (कि १७-३६-३८)

इच्छोत्पन्न तीन पाप—इच्छा द्वारा उत्पन्न होने से तीन पाप होते हैं। मिथ्या वचन बड़ा पाप है और परस्त्रीगमन तथा बिना वैर क्रूर कर्म करना ये इससे भी बड़े पाप हैं। (अरण्य काण्ड ९-१-४)

अध्याय १०

महाभारत की नैतिक शिक्षा

महाभारत का रचना-काल

महाभारत संस्कृत साहित्य का सुप्रसिद्ध महाकाव्य है, जिसके पर्वों (प्रकरणो) की संख्या अठारह और श्लोकों की संख्या एक लाख मानी जाती है। इसकी ख्याति सिर्फ इसलिए है कि इसकी रचना विस्तारपूर्ण हुई है, यह बात नही, बल्कि इसमें संचित ज्ञान चयन भी चरम सीमा तक पहुँच चुका है। अत इसे अपने समय का विश्वकोश कहा जाय तो कोई भी अत्युक्ति नही होगी।

महाभारत के रचना काल पर विभिन्न विद्वानो ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं, यद्यपि निर्णय के आधार सभी लोगों के करीब-करीब समान हैं जो इस प्रकार हैं—

१—४४५ ई० का एक शिलालेख इस तरह पाया जाता है —

'शतसाहस्त्र्या संहितायां वेदव्यासेनोक्तम् ।'

अर्थात् वेदव्यास ने एक लाख श्लोको की संहिता में यह कहा।

२—संस्कृत साहित्य के विख्यात कवि अश्वघोष ने जिसका समय ईसवी पहली शताब्दी माना गया है, अपनी 'बुद्ध चरित्र' एवं 'सौन्दरनन्द' नामक पुस्तकों में उन नामो की चर्चा की है जो 'भारत' यानी महाभारत मे पाये जाते हैं।

"पराशर शापशरस्तथर्षि काली सिषेवे यम-गर्भयोनि
सुतोऽस्य यस्या सुषुवे महात्मा द्वैपायनो वेदविभागकर्ता ॥२९॥

३—भारतीय ज्योतिष शास्त्र की गणना जो प्राचीन काल में नक्षत्र के माध्यम से होती थी पीछे राशि के माध्यम से होने लगी। कहा जाता है कि इस राशि गणना की जानकारी भारतीय लोगों को ग्रीक लोगों से ईसा से २०० वर्ष पहले हुई थी, किन्तु महाभारत में नक्षत्रशास्त्र का ही वर्णन मिलता है।

४—आश्वलायन, जिनका समय ईसा से ४०० वर्ष पहले माना गया है, अपने गृह्य सूत्र में जो वर्णन प्रस्तुत करते हैं उससे 'भारत' से विस्तृत रूप 'महाभारत' होने की जानकारी होती है।

अमित ज्ञानी व्यास जी इसको अर्थशास्त्र, महान् धर्मशास्त्र, तथा काम शास्त्र कहते हैं। 'हे भारतवीर! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो इसमे है वही अन्य ग्रन्थो में भी मिलता है और जो इसमे नही है वह कही नही मिलता।' (१–२–३–८–३)

महाभारत के अनुसार पूर्ण जीवन के चार उद्देश्य है—**धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष**—इनको पुरुषार्थ चतुष्टय अर्थात् जीवन के चार महान् उपादेय अर्थ (मूल्यवान् वस्तुएँ) कहते हैं।१—अर्थ, इसमें ससार की वे वस्तुएँ हैं जिनकी जीवन यात्रा मे आवश्यकता होती है जैसे भोजन, मकान, वस्त्र, धन और नाना प्रकार की वस्तुएँ जो जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। २—काम, सासारिक इच्छाओ, विषयों की वासनाओं की पूर्ति से और विशेषत स्त्री पुरुष के परस्पर प्रेम, सगम, सहयोग और उपभोग से जिस सुख और आनन्द का अनुभव होता है उसे काम कहते हैं। ३—धर्म, वे नियम जिनके द्वारा हमारा व्यवहार इसलिए नियन्त्रित होना चाहिए कि ससार के सभी प्राणी एक दूसरे के साथ शान्तिपूर्वक रह सकें, सभी सुखी हो सकें, सभी को आवश्यकतानुसार और यथोचित अर्थ की प्राप्ति और कामोपभोग का सुख प्राप्त हो सके, जिनके अनुसार व्यवहार करने से मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक उन्नति कर सके, समाज में रहकर अपने कर्तव्यो को समझकर उनका पालन करता रहे और जिनका परिणाम दु खदायी न हो, जिनका पालन करते हुए अर्थ सचय करने से किसी को हानि न हो और कामोपभोग करते हुए किसी दूसरे व्यक्ति को दु ख और क्लेश न हो, जिनके पालन करने से जीवन का पूर्ण विकास हो, पूर्ण सन्तुष्टि हो और समन्वित, वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन का निर्माण हो। ४—मोक्ष, मोक्ष का अर्थ है सब प्रकार के बन्धनों से, सीमाओं से, क्लेशो और दुःखो से निवृत्ति और निरपेक्ष तथा परमानन्द की प्राप्ति, जो हमारा वास्तविक स्वरूप है उसमें अवस्थित होकर ससार और ससारगत सभी वस्तुओ तथा प्राणियो के साथ तादात्म्य का अनुभव और सब प्रकार की सासारिक वासनाओ का क्षय।

महाभारत में इस विषय पर भिन्न-भिन्न मतो का उल्लेख है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है और कौन दूसरो का आधार है, किसके लिए दूसरों का बलिदान और परित्याग किया जाना चाहिए।

जीवन मे सुख, धर्म और मोक्ष मे क्या तारतम्य है

हे भारत! धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति करने की वेद शिक्षा देते हैं। हे पितामह! इनमें किससे विशेष लाभ होता है, वह मुझे बतलाओ। लोगो की वृत्ति धर्म, अर्थ और काम मे लगी रहती है, इन तीनो में कौन सा बडा, मध्यम और छोटा है, अर्थात् किसका मूल्य अधिक है।

इसका एक उत्तर है—अर्थ ही धर्म और काम का आधार है। बिना अर्थ (धन) के न मनुष्य सांसारिक सुखों का उपभोग कर सकता है और न धर्म के कार्य यज्ञ अतिथि सत्कार, समाज सेवा और परोपकार आदि कर सकता है। अतः जीवन में अर्थ का उपार्जन करना ही सर्वोत्तम है।

अर्जुन का मत—यह संसार कर्मभूमि है। यहाँ वार्ता (जीविका) ही प्रधान है। कृषि गो-रक्षा वाणिज्य तथा नाना प्रकार के शिल्पों का महत्त्व है। इन सब कार्यों का फल धन ही है। यदि धन नहीं रहता तो धर्म और काम का भी सम्पादन नहीं हो सकता ऐसा सुना जाता है। धन वाला व्यक्ति ही उत्तम धर्मों का पालन कर सकता है और धन वाला ही साधारणतया अप्राप्य सुखों का उपभोग कर सकता है। श्रुति भी यही कहती है कि धर्म और काम अर्थ ही के अंग हैं। दोनों धन के द्वारा ही सिद्ध होते हैं।

ऋषियों ने अर्थ को चौथा धर्म का लक्षण बताया है पहले तीन हैं वेद स्मृति और सदाचार। अर्थात् धनवान् लोग जो करते हैं वह भी धर्म समझा जाता है।

भीम के अनुसार काम ही जीवन में प्रधान है। काम धर्म तथा अर्थ दोनों का आधार है—काम (विषयों के उपभोग की इच्छा) के बिना न कोई धन प्राप्त करना चाहता है और न कोई धर्म करना चाहता है और न विषयों के सुखों का उपभोग करता है। इसलिए काम ही सर्वोत्तम ध्येय है। काम से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है न हुआ है और न होगा। धर्म और अर्थ का यह ही सार है और वे सभी इसी के ऊपर आश्रित हैं। जैसे दही से श्रेष्ठ मक्खन खली से तेल और मट्ठे से श्रेष्ठ घी है वैसे ही धर्म और अर्थ से काम श्रेष्ठ है। जैसे फूल और फल लकड़ी से श्रेष्ठ हैं वैसे ही काम धर्म और अर्थ से श्रेष्ठ है। जैसे फूल से मधु (शहद) उत्पन्न होता है वैसे ही कामोपभोग से सुख मिलता है। धर्म के नियम केवल लोकयात्रा के लिए बनाये गये हैं जिससे यहाँ और वहाँ (इस लोक-परलोक) दोनों जगह सुख मिले।

तीसरा मत है कि धर्म और अर्थ दोनों ही आवश्यक हैं क्योंकि दोनों से ही काम का उपभोग होता है।

यहाँ यह मत है कि धर्म से युक्त धन और धन से युक्त धर्म वैसे ही हैं जैसे अमृत से मिला हुआ मधु। जिसके पास धन नहीं है वह काम का भोग नहीं कर सकता और जो धर्मानुसार आचरण नहीं करता उसके पास धन कहाँ से होगा ? और जो धनवान् तथा धर्मात्मा नहीं है, उससे लोग दूर रहते हैं। अतएव पहले धर्म का आचरण करना चाहिए और फिर धर्म के अनुसार धन का उपार्जन। तब काम का उपभोग करे। धन जिसने एकत्र कर लिया है वही काम रूपी फल को पाता है।

चौथा मत यह है कि धर्म, अर्थ और काम तीनों को ही साथ-साथ और बराबर सेवन करना चाहिए।

धर्म, अर्थ और काम तीनो का समान रूप से साथ-साथ सेवन करना चाहिए। जो किसी एक मे अधिक रत हो जाता है वह अधम व्यक्ति है। जो दो में रत रहता है वह मध्यम है और जो तीनो में समान रूप से रत रहता है वही उत्तम श्रेणी का है। अतएव कुछ लोगो का मत यह है—

मनुष्य को केवल धर्मपरायण, अर्थपरायण और कामपरायण नही होना चाहिए। सब को सदा समानता से सेवन करना चाहिए। धर्म, अर्थ और काम तीनों को जीवन में यथासमय स्थान देना चाहिए। (३।३३।३९) आदि में धन उपार्जन करे और अन्तिम भाग मे धर्म का सम्पादन करे। ऐसी शास्त्र की आज्ञा है। (३।३३।४१) प्रत्येक दिन पहले भाग में धर्म का सम्पादन करे, मध्य भाग में धन का उपार्जन करे और अन्तिम भाग में काम का उपभोग करे, यह शास्त्र की आज्ञा है। (३।३३।४०) जो लोग केवल अर्थपरायण होते हैं और अर्थ सम्पादन में ही सारा जीवन व्यतीत करते हैं वे दुःखी होते हैं और उनके द्वारा बुरे-बुरे काम किये जाते हैं।

ज्ञानियों ने यह बतलाया है—कृपणता, दर्प, अभिमान, भय और उद्वेग ये सभी दुःख के कारण धन से उत्पन्न होते हैं। जैसे प्राणियों को सदा मृत्यु की आशका बनी रहती है वैसे ही धनवान् को राजा, जल, अग्नि और अपने घर वालो से भी भय रहता है। जैसे मास के टुकडे पर आकाश के पक्षी, पृथ्वी के कुत्ते और जल की मछलियाँ का आक्रमण होता है, वैसे ही धनवान् को सब खाने को दौडते हैं। इसलिए केवल धन सचय ही जीवन का उद्देश्य नही होना चाहिए। व्यास का अपना मत यह है कि 'तीनो में धर्म ही प्रधान है, क्योंकि धर्म का आचरण करने से अर्थ और काम दोनो की प्राप्ति होती है।'

'मैं हाथो को ऊपर उठाकर चिल्लाता हूँ और कोई मेरी यह बात नही सुनता कि धर्म से ही अर्थ और काम प्राप्त होते हैं। उसका क्यो नही सेवन किया जाता ?

देवता, ब्राह्मण, सन्त, यक्ष, मनुष्य और चारण सब धार्मिक लोगो का आदर करते हैं, धनवालो और कामियो का नही। धन में सुख की कला मात्र है और धर्म में तो परम सुख है। धर्म के द्वारा ही ऋषि लोग ससार से पार उतर गये और धर्म के आधार पर ही सारे लोक स्थित हैं। धर्म के कारण ही देवता लोग स्वर्ग में हैं। समझदार लोग धर्म को उत्तम, अर्थ को मध्यम और काम को निकृष्ट समझते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जीवन और धर्म दोनों में किसका महत्त्व अधिक है। जीवन के लिए धर्म का त्याग करना चाहिए अथवा धर्म के लिए जीवन का ? एक मत तो यह है कि जीवन सबसे मूल्यवान् है उसकी रक्षा करने के लिए किसी हद तक धार्मिक

नियमों को ढीला कर देना चाहिए।

जिस प्रकार से भी मनुष्य जीवित रह सके वह निःसंकोच होकर करना चाहिए। मर जाने से जीवन श्रेष्ठ है। जीने से ही मनुष्य धर्म का सम्पादन कर सकता है। सर्व प्रकार के उपायों से बड़े लोगों के जीवन की रक्षा करनी चाहिए। जहाँ प्राण नहीं है वहाँ धर्म है। यह सब सोचकर मनुष्य को सदा जीने का प्रयत्न करना चाहिए। जीवित रहने से ही मनुष्य भी पुण्य कमाता है, और शुभ अवस्था को प्राप्त करता है, अपने को तथा मित्रों को जो कष्ट देता है, है तथापि वह धर्म नहीं कुकर्म है।

लेकिन महाभारत-कार व्यास का मत स्पष्ट शब्दों में यह है कि मनुष्य को धर्म का पालन करने के लिए यदि जीवन का त्याग भी करना पड़े तो उचित है।

धर्म का त्याग न काम के लिए, न भय के लिए और न जीवन के लिए ही कभी करना चाहिए। धर्म तो नित्य है (अर्थात्) सदा साथ रहने वाला है और सुख-दुःख अनित्य है। जीव नित्य है किन्तु उसके कर्म करने के हेतु सभी अनित्य हैं।

धर्म से ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही कल्याण होते हैं। धर्म के नियम लोक यात्रा के लिए (अर्थात् जीव के लिए संसार में भली-भांति गति होती रहे इसलिए) बने हैं। धर्म के नियमों पर चलने से इस लोक और परलोक दोनों में ही सुख की प्राप्ति होती है। धर्मच्युत होने से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

धर्म का हनन होने से प्राणी का हनन होता है और रक्षा होने से रक्षा होती है।

वास्तव में धर्म ही सभी प्राणियों को यथोचित कार्यों में लगा कर सब को मर्यादा में कायम रखता है। इसके द्वारा ही सबकी भलाई और उन्नति होती है। इसकी वजह से ही प्राणी एक दूसरे की हिंसा नहीं करते।

धारण करने (स्थिर रखने) के कारण ही इसको धर्म कहा है। धर्म ही सभी प्राणियों को यथोचित रूप से स्थिर रखता है। जिन नियमों से स्थिरता बनी रहती है वे ही धर्म कहलाते हैं। सभी प्राणियों की उन्नति हो इसलिए धर्म का उपदेश किया जाता है।

वे नियम धर्म कहलाते हैं जिनके अनुसार चलने से उन्नति होती है। सब प्राणी एक दूसरे की हिंसा न कर नष्ट न हों इसलिए धर्म का उपदेश किया गया है। जिन नियमों के कारण संसार में अहिंसा की वृद्धि हो उनको धर्म कहते हैं।

मोक्ष का जीवन में स्थान

संसार में बार-बार जन्म-मरण और कर्म फल के बन्धन से छुटकारा पाकर परम और अलौकिक अनुपम सुख रूप आत्मा में सदा के लिए स्थित होने का नाम मोक्ष है। यह जीवन की सब अवस्थाओं में उच्च स्थिति है। साधारण जन को इसका कोई ज्ञान नहीं होता। उस अवस्था में न कोई वासना और तृष्णा रहती है और न कोई

दुःख, न धर्म के नियम और न कोई कर्त्तव्य। वही जीवन का परम उद्देश्य है और धर्म, अर्थ और काम सबसे वह श्रेष्ठ है।

वह मनुष्य सिद्ध है (अर्थात् जिसे जीवन मे जो कुछ भी प्राप्त करना था, वह सब कुछ प्राप्त कर लिया है) जो न पाप में लिप्त है और न पुण्य में, जो न धर्म, अर्थ और काम की वासना करता है, जो सब दोषों से निर्मुक्त हो गया है, जिसको सांसारिक दुःख-सुखों का अनुभव नही होता। सुख चाहने वाले को सुख की प्राप्ति मोक्ष में ही होती है जो कि जीवन का परम श्रेय है। संसार में जितना भी कामोपभोग करने से सुख होता है और जो स्वर्ग में भी महान सुख हो सकता है वह सब सुख उस अवस्था के परम आनन्द को, जो तृष्णा से मुक्त होने पर मनुष्य के अनुभव में आती है, सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है। संसार के दोषों से, हे पार्थ! जो मुक्त हो जाते हैं, वे पुनर्जन्म और मरण के बन्धन से छूटकर आत्मरूप में स्थित हो जाते हैं और फिर संसार मे नही लौटते।

मनुष्य-जीवन की सफलता इसी बात मे है कि वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी को प्राप्त कर सके। सभी को जीवन में यथोचित स्थान देकर जीवनयात्रा करना ठीक है। महाभारत के अनुसार सबसे उत्तम पुरुष वही है जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का तारतम्य समझकर उनका यथोचित सेवन करता है।

महाभारत के अनुसार मनुष्यजीवन की सफलता इसी मे है कि वह चारों उद्देश्यों की पूर्ति कर सके। इनका यथोचित रूप से सेवन करने का ही उद्देश्य महाभारत में मिलता है।

यहाँ पर, धर्म के विषय में महाभारत का क्या विचार है यह जानने का प्रयत्न करेंगे।

धर्म क्या है यह तो ऊपर बतलाया ही जा चुका है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि धर्म वे नियम हैं जिनका पालन करते हुए सभी मनुष्यों को अर्थ की प्राप्ति और काम का उपभोग करना चाहिए ताकि संसार के सभी प्राणियों की रक्षा, उन्नति और परस्पर उचित सम्बन्ध बना रहे।

धर्म प्रजाओं को सुस्थिर रखता है। प्राणियों की उन्नति के लिए धर्म का उपदेश है और सभी प्राणियों की परस्पर हिंसा न करने के लिए धर्म का उपदेश है। अब प्रश्न यह है कि वे कौन से नियम हैं जिनके अनुसार आचरण करने से सबका कल्याण होता है, सबकी उन्नति होती है, और सबकी रक्षा होती है। महाभारत में जहाँ तहाँ इन नियमों की चर्चा की गयी है। उनका उद्धरण हम यहाँ करते हैं।

सब धर्मों का सार, धर्म का मूल मन्त्र

जिस व्यवहार को मनुष्य अपने प्रतिकूल समझता हो उसे दूसरों के प्रति न

करे (अर्थात् जो व्यवहार दूसरों द्वारा किये जाने पर अपने को बुरा लगे वह दूसरे के प्रति न करना चाहिए)। जो सत्य पुरुष दूसरों द्वारा अपने प्रति किया जाना पसन्द नहीं करता है वह उसको अप्रिय समझता हुआ दूसरों के प्रति कदापि न करे, जो अपने को बुरा लगे उस काम को कभी न करे। अपने लिए जो चाहे वही दूसरों के लिए भी सोचे। हम दूसरों से क्या चाहते हैं, हम बहुत कुछ चाहते हैं पर दो बातें अवश्य ही चाहते हैं एक अहिंसा अर्थात् कोई हमें मानसिक और शारीरिक कष्ट न दे और न कोई हमारा प्राण ले और दूसरी बात यह चाहते हैं कि सभी मनुष्य हमारे साथ सत्य का व्यवहार करें कोई हमसे झूठ न बोले कोई हमको धोखा न दे। हम सबसे अहिंसा और सत्य के व्यवहार की आशा करते हैं। अतएव हमको भी अपने व्यवहार में सत्य और अहिंसा का पालन करना चाहिए। इस कारण ही सत्य और अहिंसा धर्म के प्रधान नियम माने गए हैं।

सत्य के व्यवहार करने का प्रयत्न करना चाहिए। सत्य से ही बल मिलता है। अपने आपको बलवान रखने वालों को चाहिए कि कभी असत्य का व्यवहार न करें। सत्य और अहिंसा की महाभारत में स्थान-स्थान पर प्रशंसा की गयी है और धार्मिक जीवन के ये दो महान् आधार बतलाये गये हैं।

सत्य के समान दूसरा धर्म नहीं है। सत्य से उत्तम कुछ नहीं है। सैकड़ों कुओं के खुदवाने से अधिक पुण्य एक तालाब के खुदवाने में होता है। सैकड़ों तालाबों के खुदवाने से अधिक पुण्य एक यज्ञ करने में होता है और सैकड़ों यज्ञों से अधिक पुण्य एक पुत्र उत्पन्न करने में होता है और सैकड़ों पुत्रों से अधिक पुण्य एक सत्य में होता है। सत्य सब सद्गुणों का मूल है और असत्य सब दुर्गुणों का। सत्य का पालन करने से मनुष्य में बहुत से सद्गुण आ जाते हैं और असत्य से दुर्गुण। सत्य समता दम मत्सरता का अभाव क्षमा तितिक्षा अनसूयता त्याग ध्यान आर्जव धृति (धैर्य) सदा सब पर दया और अहिंसा ये १३ सद्गुण हे राजन् ! सत्य के ही प्रकार हैं।

हे भरत श्रेष्ठ ! प्राणियों में ये १३ प्रकार के असत्य का आचरण करने से उत्पन्न होते हैं—क्रोध काम लोभ मोह विधित्सा (दूसरों पर शासन करने की इच्छा) दूसरों के प्राण लेने की इच्छा शोक मद मात्सर्य ईर्ष्या, जुगुप्सा असूया और कृपा (करुणा)।

धर्म के लक्षण महाभारत में अनेक स्थलों पर बतलाये गये हैं, कुछ का यहाँ उल्लेख किया जाता है—स्वायम्भुव मनु ने ये प्रधान सामान्य धर्म बतलाये हैं—अद्रोह सत्य वचन संविभाग (बाँट कर लेना) दया दम अपनी स्त्री से सन्तान उत्पादन करना, मृदुता लज्जा और चंचलता रहित होना। (शां. प. मा. १५—३—१२४) यज्ञ स्वाध्याय दान तप सत्य क्षमा दया और अलोभ ये धर्म के आठ प्रकार कहे गये हैं।

हे राजन्! निश्चय ही अहिंसा, सत्य, अक्रोध, आनृशंस्य (अक्रूरता), दम, सीधा-पन धर्म के लक्षण हैं। (१३–२–४० स० म० भा०) ब्रह्मचर्य से रहना, मांस और मदिरा का निषेध और मर्यादा तथा शम के भीतर रहना धर्म के लक्षण हैं। (१३–२–४१ म० म० भा०)

अच्छे लोगों का यह सदा का धर्म है कि वे मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष नही करते, सब पर अनुग्रह रखते हैं और दूसरो को दान देते ही रहते हैं, जो उनके शत्रु होते हैं उनपर भी अवसर पडने पर वे दया ही करते हैं। शाश्वत आर्यत्व-युक्त आचार को जानकर सज्जन लोग दूसरो का उपकार ही करते हैं और किसी दूसरे की अवहेलना नही करते। (म० भा० ३–२९७।३५,३६, ४९)

दूसरे लोग यदि हमारे प्रति अपराध भी करें तो भी हमको उन्हे क्षमा प्रदान कर देना चाहिए। क्रोध का बदला क्रोध और द्वेष का बदला द्वेष कभी नही होना चाहिए। हमेशा क्षमा का व्यवहार करना चाहिए। क्रोध के आवेश में आकर आचरण करने से अनेक दुर्गुण उत्पन्न होते हैं और अनेक न करने योग्य कार्य हो जाते हैं।

हे सुश्रोणि (द्रौपदी)! क्रोध के आवेश में आया हुआ व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को ठीक से नही पहचानता। क्रोध में आकर मनुष्य ऐसे लोगो को मार देता है जिनको नही मारना चाहिए तथा गुरुओ को भी कष्ट देता है। क्रोध से पराजित व्यक्ति कभी भी दक्षता, अभय, शौर्य और शीघ्र निर्णायकता को प्राप्त नही करता। क्रोध के आवेश में आकर माता-पिता पुत्रो को, पुत्र पिता-माता को, पति पत्नी को तथा पत्नी पति को मार देते हैं। जो आदमी उत्पन्न क्रोध को बुद्धि द्वारा रोक लेता है, उसको तत्त्वज्ञानी विद्वान् तेजस्वी मानते हैं। (म० भा० ३–२९।१८–२०,२८,१७)

क्रोध के स्थान पर हमको क्षमा का अभ्यास करना चाहिए, क्षमा मानवजीवन में बहुत आवश्यक है। क्षमा ही मनुष्य का बहुत बडा धर्म है, क्षमावान् ही आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। क्षमा ही मनुष्यो का सबसे बडा बल है।

क्षमा ही धर्म है, क्षमा ही यज्ञ है, क्षमा ही वेद और श्रुति का उपदेश है, जो यह जानता है वह सब को क्षमा कर देता है। क्षमा तप है, क्षमा शौच है, क्षमा ही संसार को धारण किये हुए है। क्षमा तेजस्वियो का तेज है और तपस्वियो का ब्रह्म है। क्षमा वालो का यह लोक और परलोक दोनो ही हैं। जब मनुष्य सब को क्षमा करने लगता है तब ब्रह्म हो जाता है। क्षमा अशक्त का बल है और शक्तिवमान् का भूषण है। जिसने क्षमा-रूपी शस्त्र हाथ में ले रखा है, उसका दुर्जन भी कुछ बुरा नहीं कर सकता। (म० भा० ३–२९।३६, ३७, ४०, ४३, ४२)

जिस प्रकार क्रोध से बहुत अनुचित काम हो जाते हैं उसी प्रकार लोभ भी बहुत से पापों का मूल है।

हे राजा! लोभ एक महाग्राह है। लोभ से मनुष्य पाप में प्रवृत्त होता है। अति लोभ और अज्ञान को एक ही समझो। जिसके मन में लोभ होता है उसके मन में ही दर्प, क्रोध, मद, स्वप्न, हर्ष, शोक और अभिमान होते हैं। इसलिए ही लोभ को पाप और ज्ञान को धर्म समझा गया है। दूसरे के धन की न लेना धर्म है।

अतएव सबसे ऊँचा धर्म दूसरों के साथ अद्रोह, अनुग्रह और उपकार करना, सबके साथ मित्रता का बर्ताव करना है। (स. म. भा. १२।१०-५-८८)

मन वचन और कर्म से सभी प्राणियों के साथ अद्रोह (अर्थात् किसी के साथ वैर भाव न रखना) सबके ऊपर अनुग्रह तथा दान का आचरण प्रशंसा के योग्य है—(स. म. भा. १२।१।५।१४) हे अजातशत्रु! इस धर्म का आचरण करो। अहिंसा, सत्य, अद्रोह और दान यही सनातन धर्म है। (१३।१।१९८) हे जाजलि—धर्म के मर्म को वही जानता है जो मन वचन और कर्म से सदा सब का सुहृद (हार्दिक मित्र) है और जो सदा सब का हित करने में लगा रहता है। सब लोगों का हित करो। (१२-३-१४०) हमारा व्यवहार सब लोगों के हित के लिए होना चाहिए। सब प्राणियों के प्रति दया और अहिंसा का बर्ताव सबसे श्रेष्ठ धर्म है।

सब वेदों के पढ़ने से सब यज्ञों के करने से सब तीर्थों के स्नान करने से वह काम नहीं होता जो प्राणियों पर दया करने से होता है। धर्म का लक्षण अहिंसा है और प्राणियों का वध अधर्म है। इसलिए जो धर्म करना चाहते हैं उन्हें प्राणियों पर दया करनी चाहिए।

महाभारत के इन सब वाक्यों से जिनका उद्धरण किया गया है, यही ज्ञात होता है कि सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, दान और परहित-चिन्तन, परोपकार और अपनी पाशविक प्रवृत्तियों का नियमन ही मनुष्य का वह आचरण है जिसके द्वारा समाज में शान्ति रह सकती है और सभी अपनी-अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकते हैं।

अब एक प्रश्न यह उठता है कि सत्य, अहिंसा, लोकहित और आत्मकल्याण (आध्यात्मिक उन्नति) में यदि कभी विरोध दिखाई पड़े तो महाभारत के अनुसार किसको सर्वश्रेष्ठ समझ कर मनुष्य को व्यवहार करना चाहिए। जीवन की परिस्थितियों में कभी-कभी आत्म-कल्याण और परोपकार में, सत्य और लोक-हित में, अहिंसा और लोक हित में, सत्य और अद्रोह में विरोध उपस्थित हो जाता है, और मनुष्य नहीं समझता कि उस अवसर पर उसको क्या करना चाहिए। महाभारत में बहुत से ऐसे स्थल

ई जहां पर कृष्ण, युधिष्ठिर और अर्जुन जैसे धर्मात्माओं को कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। अहिंसा धर्म होते हुए भी कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त होने की अनुमति दी। सत्य परम धर्म होते हुए भी कृष्ण ने युधिष्ठिर को झूठ बोलने के लिए बाध्य किया। कृष्ण ने अपने आप भी शिशुपाल का वध किया। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जब कि अपनी परिस्थितियों में वह किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है। महाभारतकार के सामने ये प्रश्न थे और उन्होंने इन प्रश्नों का जहां तहां उत्तर भी दिया है।

वह यह है, धर्म का कोई भी नियम ऐकान्तिक नहीं है। ऐसा कोई नियम नहीं है जो सब समयों में, सब देशों में, सब अवस्थाओं और परिस्थितियों में एक समान लागू हो।

धर्म ऐकान्तिक नहीं है। अवस्थाओं के ऊपर निर्भर है। देश, काल और निमित्त (परिस्थितियों) के भेद से धर्म में भेद हो जाता है। सम अवस्था वाले का धर्म कुछ है और विषम अवस्था वाले का धर्म कुछ और। कोई भी ऐसा आचरण नहीं है जिससे सबको समान लाभ हो।

सत्य बोलना यद्यपि समान धर्म कहा गया है पर विशेष अवस्थाओं में असत्य बोलना ही धर्म हो जाता है। (शान्ति पर्व)

कभी-कभी सत्य न बोलना और झूठ बोलना ही धर्म हो जाता है। इसे भली भांति जानकर ही आदमी धर्म को जानने वाला होता है। प्राणों का अन्त होते समय, विवाह के अवसर पर, धन की (चोर से) रक्षा करने के अवसर पर और दूसरों के साथ उपकार करने के लिए झूठ बोल लेना चाहिए। कभी भी किसी अच्छे व्यक्ति को दुष्टों के पंजे से छुड़ाने के लिए धन देने की शपथ खा लेने पर भी उनको धन नहीं देना चाहिए। (स० म० भा० १२–८।३७०)

यद्यपि अहिंसा सामान्य धर्म है तथापि आततायी को मारना ही धर्म है, चाहे वह वेदविद् विद्वान् ही क्यों न हो।

जो आततायी (ज़ालिम) है और जो मारने की इच्छा से चला आ रहा है, उसको आते ही आते बिना विचारे मार देना चाहिए चाहे वह गुरु हो, बालक हो, बूढ़ा हो, बहुत पढ़ा लिखा हो या वेदान्त में पारंगत हो। ऐसा करने में कोई दोष नहीं लगता और न ऐसा करने से जीव हत्या का पाप ही लगता है।

अहिंसा, अद्रोह और दया धर्म के लक्षण होते हुए भी राजा को चाहिये कि चोर, डाकुओं और दुष्टों को अवश्य ही दण्ड दे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो पाप करता है।

यदि अच्छे बुरे का भेद कराने वाली दण्डप्रथा उठ जाय तो संसार में अँधेरा का जायेगा और कुछ भी नहीं सूझ पड़ेगा क्योंकि हे राजन् बिना भय के न तो संसार में कोई यज्ञ करता है न कोई दान देने की इच्छा करता है और न कोई अपनी मर्यादा के भीतर रहता है।

तब साधारण मनुष्य कैसे जानेगा कि किस अवस्था में उसका क्या कर्तव्य है? इसका उत्तर महाभारत में इस प्रकार मिलता है—

हे महाराज! धर्म बहुत सूक्ष्म पदार्थ है। इसकी गति को हम नहीं जानते। हम तो केवल उस मार्ग पर चलते हैं जिस पर परम्परा से हमारे पूर्वज चलते आ रहे हैं। (म भा १-१९७ २) सज्जनों का आचरण स्मृतियाँ और वेद ये तीन हमको धर्म बतलाते हैं। (श म भा १२।१ ।१५८) विद्वान् लोग धर्म का चौथा लक्षण अर्थ—सिद्धि को बतलाते हैं। धर्म का लक्षण सदाचार है और सदाचार वह है जो साधु (भले लोग) करते हैं। अतएव जैसे साधु (भले लोग) आचरण करते हैं वैसे ही आचरण करना सदाचार का लक्षण है। (१३।१।१४७ श म भा)

इसलिए जब कभी भी धर्म और अधर्म के विषय में शंका उपस्थित हो, तो सज्जनों के पास जाकर उनसे अपने कर्तव्य के सम्बन्ध में अनुमति लेनी चाहिए।

सज्जनों के लक्षण क्या हैं? सज्जन वे हैं जो काम क्रोध लोभ मोह छल कपट, ममता और अहंकार के वश में न होकर लोक के कल्याण के लिए तत्पर रहते हैं। वेद, स्मृतियों और प्राचीन ऋषियों के मतों में बहुत भेद होने के कारण दूसरा कोई उपाय मनुष्य के पास धर्म जानने के लिए नहीं है।

जो काम और क्रोध के वश में नहीं निर्भय और निरहंकार हैं, जिन्होंने अच्छा व्रत ले रखा है और जो मर्यादा के भीतर रहते हैं, (कर्तव्य अकर्तव्य की शंका उपस्थित होने पर) उन सज्जनों के पास जाओ और उनसे पूछो कि किस परिस्थिति में क्या करना चाहिए। (वनपर्व यक्ष-युधिष्ठिर सवाद)

ऐसे लोगों को ही उन सभाओं का सदस्य होना चाहिए जो निर्णय करती हैं और निर्णय देती हैं। 'वह सभा सभा नहीं है जहाँ पर वृद्ध न हों, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्म के अनुकूल निर्णय नहीं देते वह धर्म नहीं है, जो सत्य पर आधारित न हो और वह सत्य नहीं है जिसमें छल, कपट का समावेश हो। श्रुतियों (वेदों) में भिन्न-भिन्न मत हैं। स्मृतियाँ भी एक दूसरे से भिन्न मत वाली हैं। (ऋषि बहुत से हैं और उनमें से) कोई एक ऐसा नहीं है जिसका मत प्रमाण मान लिया जाय। इसलिए महाजन (सज्जन लोग) जिस मार्ग पर चलते हैं, वही (धर्म का) मार्ग है। (वनपर्व,

यक्ष-युधिष्ठिर सवाद)

महात्माओ की सबमे बडी पहचान यह है कि उनके मन, वचन और कर्म में सामजस्य होता है, वे जो सोचते हैं वही करते है और उसी का उपदेश करते हैं।

महात्माओ के मन वचन और कर्म में एकता होती है और दुरात्माओ के मन में कुछ वचन में कुछ तथा कर्म में कुछ और होता है।

महात्माओं की दूसरी पहचान यह है कि वे अपने हित की चिन्ता नही करते, सदा लोक-हित और लोक-कल्याण की ही चेष्टा करते हैं। ऐसे लोग ही धर्म अधर्म का निर्णय और उपदेश दे सकते हैं।

जो मन, वचन और कर्म से सबके हित में लगा हुआ हो और जो सबका मित्र हो वही धर्म का उपदेश देने योग्य व्यक्ति है।

सत्य मे बढकर कोई धर्म नही है और सत्य मे ऊपर कुछ नही है, किन्तु कभी-कभी यह निर्णय कठिन हो जाता है कि क्या सत्य है और क्या असत्य। ऐसे अवसर पर जिज्ञासुओ को लोक-हित की कसौटी से काम लेना चाहिए। जो व्यवहार लोक-हित के लिए हो, वही परम सत्य है, ऐसा समझना चाहिए।

सत्य का बोलना श्रेय है। पर सत्य से अधिक है हितकारी बातों का कहना। जो सबसे अधिक हित करने वाला वचन है वही सत्य है ऐसा हमने सुना है।

धर्म कहने सुनने मात्र के लिए नही है। धर्म का आचरण करना चाहिए। बिना व्यवहार और आचरण में लाये धर्म चर्चा व्यर्थ है।

आचार (सदाचार) ही धर्म की निष्ठा (अन्तिम उद्देश्य) है। आचार का आश्रय लेकर (अर्थात् धर्म के नियमो के अनुसार व्यवहार करके ही) मनुष्य प्रसन्नता का अनुभव करता है। (१२–१०–५८६)

यद्यपि धर्म परम सुख देने वाला तथा परम कल्याण का मार्ग है और वही धर्म है जो इस लोक और परलोक में सुख देता है तथापि सुख और कल्याण आदि की भावना अपने मन मे न लाकर केवल कर्तव्य बुद्धि से धर्म का आचरण करना चाहिए। इसलिए युधिष्ठिर का यह सिद्धान्त था—धर्म के लिए कर्मानुष्ठान।

'हे राजपुत्री (द्रौपदी)! मैं शुभ कर्मो को इस कारण नही करता कि उनसे प्राप्त होने वाले फलों को प्राप्त करना चाहता हूँ। मैं तो इसलिए देता हूँ कि देना चाहिए, यज्ञ करता हूँ कि यज्ञ करना चाहिए। हे सुश्रोणि! मैं धर्म के फल की प्राप्ति के कारण धर्म नहीं करता हूँ। धर्म के विचार करने वालों की दृष्टि में जो धर्म का वाणिज्य करे वह सबसे गिरा हुआ और वह हीन होता है, उसे दुहना चाहता है, अर्थात् धर्म से फल प्राप्ति की आशा

रखते हुए वाणिज्य वृत्ति से उसका आचरण करता है। वह चूरों और चोरों से भी गिरा हुआ है, जो धर्म में शंका करता है अर्थात् यह सोचता है कि इसके करने से मुझको अमुक फल मिलेगा कि नहीं। वह मन्द बुद्धि है और शास्त्रों की अवहेलना करता है। (म भा ३।३१।२४५६११)

इसलिए मनुष्य को धार्मिक होना चाहिए। धर्म का निष्काम आचरण करते रहने से ही सद्गति प्राप्त होती है। धर्म केवल आचरण मात्र ही नहीं है। मन वचन और कर्म सबके द्वारा धार्मिक होना चाहिए। इसलिए महाभारत में धर्म के मार्ग को अष्टांग मार्ग कहा गया है। इस मार्ग का अनुसरण करने वाले सद्गति को प्राप्त होते हैं। यदि देवयानी का देवयान मार्ग है तो पवित्र मन वाले पुरुष को अष्टांग मार्ग पर चलना चाहिए यह अष्टांग मार्ग क्या है? १—सम्यक संकल्प। २—सम्यक इन्द्रियनिग्रह। ३—सम्यक व्रत। ४—सम्यक गुरु सेवा। ५—सम्यक आहार। ६—सम्यक ध्यान। ७—सम्यक त्याग और ८—सम्यक चित्त निरोध।

यहाँ सम्यक का अर्थ है उचित (युक्त) संसार को पार करने की इच्छा वाले रागद्वेष से मुक्त देवता (अर्थ आदमी) ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। धर्म के आठ अंगों में एक अंग गुरु सेवा है। गुरु सेवा और माता-पिता की सेवा धर्म का एक बहुत बड़ा अंग माना गया है। इसके विषय में महाभारत में कहा गया है—

माता-पिता और गुरु की पूजा को मैं बहुत महत्व देता हूँ। (म भा १२।५३।८२) इन तीनों में कौन अधिक आदरणीय है?

दस वेदपाठियों से एक अच्छा आचार्य बड़ा है और दस पिताओं से एक माता बड़ी है सारी पृथ्वी से भी वह बड़ी है और मेरी राय में गुरु तो माता-पिता दोनों से बड़ा है। गुरु के साथ दुर्व्यवहार करना ब्रह्महत्या के समान है। (म भा १२।८ १८६।११। १८४)

कर्मफल का नियम

धर्म का आचरण मनुष्य का कर्तव्य है और इस कर्तव्य पालन के द्वारा ही मनुष्य की लौकिक और पारलौकिक भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति होती है। धर्म का आचरण अथवा शुभ कर्म करने से निश्चय ही मनुष्य की उन्नति (उत्तम गति की प्राप्ति) और अधर्म करने से अथवा अशुभ कर्म करने से अवश्य ही अवनति (नीच गति की प्राप्ति) होती है। प्रत्येक प्राणी अपने किये हुए कर्मों का ही फल पाता है और जो अवस्था उसकी इस समय है वह उसके पूर्व-जन्म शुभ या अशुभ कर्मों का ही फल है। वर्तमान कर्मों से उसके भविष्य का निर्माण होता है। प्राणी अपनी अवस्था का स्वयं ही निर्माता है। दूसरा और कोई उसके सुख-दुख के लिए उत्तरदायी नहीं है। अपने ही प्रयत्न (पुरुषार्थ)

और कर्म द्वारा वह अपनी अवस्थाओं को यथेच्छ रूप मे परिणत कर सकता है। ईश्वर या दैव (भाग्य) किसी को उसके अपने कर्मों के बिना कुछ नही दे सकते और न उसको ऊपर उठा सकते हैं और न नीचे गिरा सकते हैं। प्राणियों को स्वतन्त्रता पूर्वक अपने आप अपने पुरुषार्थ द्वारा किये गये कर्म ही उन्नति-अवनति, दुःख-सुख तथा बंधन और मोक्ष के कारण हैं। प्राणियों का जन्म-मरण भी उनके कर्मों के अधीन है। भौतिक शरीर के मृत्यु द्वारा नष्ट हो जाने पर भी प्राणियो का अन्त नही होता। कर्मानुसार दूसरे शरीर धारण करने पडते हैं और दूसरे जन्मों में अपने किये हुए शुभ और अशुभ कर्मों का फल अवश्य ही भुगतना पडता है। संसार में कुछ ऐसा प्रबन्ध है कि प्राणी का कोई भी कर्म नष्ट नही होता, जब तक कि उसको करने वाला प्राणी उसके फल को न भोग ले। प्रत्येक कर्म एक बीज की भाँति है जो कभी न कभी फल अवश्य ही देता है। इन बातों में महाभारत-कार का अटल विश्वास था।

"जीवन कर्मभूमि है। इस लोक में शुभ अथवा अशुभ कर्मों को करके प्राणी उनके शुभ अथवा अशुभ फलों को भोगता है। (सं० म० भा० १२।८।५१७) शुभ कर्मों का शुभ फल मिलता है और अशुभ कर्मों का अशुभ। बुद्धिमान्, मूर्ख या वीर, सबको पूर्व काल के शरीर से किये हुए शुभ और अशुभ कर्मों का फल भोगना ही पडता है। किये हुए कर्मों का ही फल सब जगह मिलता है। बिना किये कर्मों का फल कोई नही भोगता (सं० म० भा० १२।८।४९२) शुभ कर्मों से सुख मिलता है और अशुभ कर्मों से दुख। (सं० म० भा० १३।९) बिना अच्छे कर्म किये, धन, मित्र गण, ऐश्वर्य, अच्छे कुल में जन्म और सौन्दर्य प्राप्त होना असम्भव है। (सं० म० भा० १३।१।१३) कर्मों के फल मिलने में और देवताओं के अस्तित्व में इस कारण शंका नही करनी चाहिए कि वे दिखाई नही देते। संसार का यह अचल नियम है कि कर्मों का फल अवश्य ही मिलता है। (म० भा० ३।११।२९) शास्त्रोक्त पुण्यो और पापो का फल, उसका उदय, प्रभाव और अन्त ये बातें बहुत गूढ हैं, इनको देवता लोग जानते हैं। (म० भा० ३।३१।३५) हाँ वे द्विज (ब्राह्मण) भी जान लेते हैं जो शुभ इच्छा वाले, व्रतों का पालन करने वाले हैं, जिनके पाप तप करने से शान्त हो गये हैं और जिनके मन पवित्र हैं। (म० भा० ३।३१।३७) पंच इन्द्रियो द्वारा किया हुआ कर्म कभी नष्ट नही होता। वे पाँचो इन्द्रियाँ ही उसकी साक्षी होती हैं और छठा आत्मा भी। (सं० म० भा० १३।१।१८) पाप करने वाला प्राणी यह नही जानता कि उसे कोई देख रहा है। उसको देवता लोग और उसका अन्तरात्मा स्वयं देखते हैं। (म० भा० ३।३१।३७) मनुष्य द्वारा किये गये कर्मों को सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, जल, आकाश, पृथ्वी, उसका अन्तरात्मा, यमराज, दिन, रात, दोनों सन्ध्याएँ और धर्मराज जानते रहते हैं। (म० भा० १।७४।२९)

दैव और पुरुषार्थ

पूर्व काल में किये हुए कर्मों का फल दैव कहलाता है और वर्तमान काल में किये जाने वाले कर्म पुरुषार्थ कहलाते हैं। दैव के अधीन रहकर वर्तमान में पुरुषार्थ न करना ठीक नहीं है। पुरुषार्थ करना आवश्यक है। समयोचित पुरुषार्थ को न करके जो दैव के भरोसे बैठा रहता है वह उस स्त्री के समान है जो क्लीव पति को प्राप्त करने का प्रयास करती है। जैसे कोई बीज बिना खेत के नहीं फल देता वैसे बिना पुरुषार्थ किये दैव कुछ फल नहीं देता। मनुष्यों में जो देवत्व को प्राप्त हुए हैं वे सब अपने पुरुषार्थ (प्रयत्न) से ही हुए हैं। देवताओं की पवित्र दशा भी अपने ही पुण्य कर्मों से मिलती है। पुण्यशील (पुरुषार्थी) व्यक्ति का दैव कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। मनुष्य अपने कर्मों का उत्तरदायी है यह तो इस बात से सिद्ध है कि जब वह सफल होता है तो उसकी प्रशंसा होती है और जब असफल होता है तो निन्दा। यदि ऐसा न हो तो ऐसा कैसे हो? (म भा १३।६।११ १५,११ १७ ३।७।४ १)

पूर्व कर्मों का फल कई प्रकार से मिलता है। किन्तु पुरुषार्थ द्वारा उसे प्राप्त करना अच्छा है। जब कोई मनुष्य किसी वस्तु को अकस्मात् बिना किसी यत्न के पा लेता है, उसको हठ द्वारा प्राप्त कहते हैं। (म भा ३।३२।१८) जो दैवी शक्ति द्वारा उसे प्राप्त होता है उसे दैव कहते हैं (म भा ३।३२।१७) और जो अपने कर्म द्वारा प्राप्त किया जाता है उसे पुरुषार्थ कहते हैं। (म भा ३।३२।१८) जब कोई मनुष्य किसी कारण के बिना स्वभावतः ही प्रवृत्त हो जाने पर किसी वस्तु की प्राप्ति कर लेता है, तो वह स्वभावात्मक कहलाता है। (म भा ३।३२।१९) इस प्रकार हमारे पूर्वकृत कर्मों का फल भगवान् के विधान के अनुसार हठ दैव स्वभाव और स्वकर्म द्वारा मिला करता है। (म भा ३।३२।२) जो केवल दैव के और हठ (आकस्मिक) के भरोसे रहने वाले हैं, वे दोनों ही मूर्ख हैं। इन दोनों से श्रेष्ठ वह है जो पुरुषार्थ में विश्वास करता है। (म भा ३।३२।१३)

मृत्यु के पश्चात् कर्मानुसार गति

मृत्यु के पश्चात् पूर्वकृत कर्मों के अनुसार मनुष्यों की तीन गतियाँ होती हैं मानव-योनि स्वर्ग में वास और पशु-पक्षियों की योनि।

अपने कर्मों के अनुसार, हे राजन्! तीन गतियाँ मिलती हैं। मनुष्य योनि में जन्म स्वर्ग में वास और तीन प्रकार के पशुओं की योनियाँ—चलने वाले उड़ने वाले, और रेंगने वाले। दानादि शुभ कर्मों तथा अहिंसादि के द्वारा अपने अर्थों को प्राप्त करने वाले पुरुषार्थी लोग मनुष्यलोक से स्वर्ग लोक को जाते हैं। मेरा यह मत है कि योग्य पात्रों को दान देने से सत्य और प्रिय बोलने से तथा अहिंसा में तत्पर रहने से मनुष्य स्वर्ग में

जाता है। काम, क्रोध, लोभ और हिंसा से प्रेरित मनुष्य, मनुष्यत्व से भ्रष्ट होकर पशुओं की योनियों में जन्म लेते हैं। (म० भा० ३।१८१।९,१०,२,१२)

मृत्यु के पश्चात् पुण्य और पाप ही साथ जाते हैं शेष सब चीजें यही रह जाती हैं।

मरे हुए मनुष्य का धन दूसरे लोग भोगते हैं। अग्नि और पक्षी उसके शरीर की धातुओ को खाते हैं। आगे तो वह केवल पुण्यो और पापो से बँधा ही जाता है। (स० म० भा० ३,३,१७१)

पुण्य-पाप के पाशो से बचने का उपाय कर्म का त्याग नही किन्तु निष्काम और कर्त्तव्य की भावना से अपने कर्त्तव्यो को करना है। जीवन भर कर्त्तव्य कर्म त्यागे नही जा सकते, उनको लोकहित के लिए करते रहना ही श्रेष्ठ मार्ग है।

हे राजन् ! यदि कर्मों का त्याग (सन्यास) सिद्धि को देने वाला होता तो वृक्ष और पर्वत शीघ्र ही गति को पा लेते (स० म० भा० १२।१।२१) इसलिए सदा कर्म करते रहना चाहिए। कर्म न करने वाले को कभी सिद्धि प्राप्त नही होती। (स० म० भा० १२।१।२२) वेद का यह वचन है कि कर्म करो या त्यागो। इसलिए अपने सब कर्त्तव्यों को अभिमान रहित होकर करते रहो। (स० म० भा०) चाहे सुख हो या दुःख हो, प्रिय हो अथवा अप्रिय, जो जो प्राप्त हो, जैसा जैसा अवसर मिले, उसको अपराजित हृदय से भोगते चलो। (स० म० भा० १२।३।१३) ऐसा सुना जाता है (श्रुति का सिद्धान्त है) कि यदि पाप कर्मो में लगा हुआ और उनको करके भी मनुष्य निस्त्रप (चिन्तारहित) रहे, तो उसके समस्त पाप समाप्त हो जाते हैं। (स० म० भा० १२।३।११३)

यह निश्चिन्त भाव या तो महामूर्ख आदमी में होना है, या महाज्ञानी में इन दोनो के बीच के लोग तो दुःख-सुख का अनुभव करते रहते हैं।

"जो लोग महा-अज्ञानी है और जो लोग बुद्धि की कोटि से परे चले गये हैं वे ही केवल सुखी रह सकते हैं, और लोग तो ससार में क्लेश पाते हैं।"

पण्डित के लक्षण (ज्ञानी कौन है)

वही ज्ञानी (बुद्धिमान्) कहलाता है जिसको आत्मज्ञान, समारम्भ, तितिक्षा, और धर्म-नित्यता भी अपने उद्देश्य से नही डिगा सकती, जिसको क्रोध, हर्ष, दर्प ह्री, स्तम्भ और मान्यमानिता भी अपने उद्देश्य से नही हटा सकती। जो अप्राप्य की इच्छा नही करते और जो नष्ट पदार्थो की चिन्ता नही करते, जो आपत्तियो में नही घबडाते वे मनुष्य पण्डित हैं। जो ठीक निश्चय करके कर्मो का आरम्भ करते हैं, जो कर्मो के भीतर वास नहीं करते (अर्थात् जो कर्मो को अधूरा नही छोडते), जिनका समय व्यर्थ नही जाता और जिनकी आत्मा अपने वश में है, उनको पण्डित कहते हैं। (स० म० भा० ३, १०७–११३)

मूर्खों के लक्षण

जो अपने उद्देश्यों को छोड़कर दूसरों के उद्देश्यों को अपनाता है और मित्र के साथ मिथ्या आचरण करता है वह मूर्ख है। जो चाहने के अयोग्य वस्तुओं को चाहता है और उसको छोड़ भी देता है बलवानों के साथ जो वैर करता है वह मूर्ख है। बिना बुलाये जो जाता है और बिना पूछे जो बहुत बोलता है और अविश्वासियों का विश्वास करता है वह मूर्ख है नराधम है। जो अपने दोषों को दूसरे पर आरोपित करता है जो बिना प्रभुत्व शक्ति के क्रोध करता है वह मूर्ख है। (उ म भा ५।३३।३३-३९) मूर्ख लोग केवल पेट और शिश्न के लिए ही बहुत मारे हैं तथा मोह और राग के वश में रहते हैं तथा इन्द्रियों के विषयों के अधीन रहते हैं। (म भा ३।२।६५) जो मनुष्य जानता हुआ भी बिगड़े हुए दुष्ट घोड़ों द्वारा सारथी की भाँति इन्द्रियों के द्वारा इधर-उधर ले जाया जाता है वह मूर्ख कहलाता है। (म भा ३।२।६६)

चार व्यसनों से सबको बचना चाहिये

कामना से उत्पन्न होने वाले चार दुःख (दुःख देने वाले व्यसन) हैं जिनके कारण मनुष्य भी (लक्ष्मी सौन्दर्य) से भ्रष्ट हो जाता है वे हैं स्त्रियाँ (काम) जुआ, मृगया (शिकार) और मद्यपान। (म भा ३।१३।७)

मनुष्य की आयु को क्षीण करने वाले छ कारण हैं

बहुत अभिमान बहुत बकवास, अत्याग क्रोध आत्म-पिपासा (आत्मश्लाघि) और मित्र द्रोह ये छ धार ऐसी तेज तलवार हैं जो मनुष्यों की आयु को काटती हैं। ये ही मनुष्यों को मारते हैं, मृत्यु नहीं (उ म भा ५।३।१५३)

निन्द्य काम वाले यहीं पर नरक का दुःख भोगते हैं और अल्पायु होते हैं। नास्तिक काम न करने वाले, गुरु तथा शास्त्रों की बातों को नहीं मानने वाले धर्म को न जानने वाले और दुराचारी ये लोग क्षीण आयु होते हैं। किसी वर्ण वाले व्यक्ति को परस्त्री-गमन नहीं करना चाहिए। परस्त्री-गमन के समान आयु को कम करने वाला दूसरा कोई कारण इस संसार में नहीं है। (अ म भा १३।१।१५४)

सदाचार ही मनुष्यों की आयु सौन्दर्य और कीर्ति बढ़ाने वाला है

क्रोध न करने वाला सत्य बोलने वाला, प्राणियों की हिंसा न करने वाला ईर्ष्यारहित से रहित कुटिलता रहित (मनुष्य) सौ वर्ष की आयु पाता है। (अ म भा १३।१।१४८) नित्य सन्ध्योपासना करने से ऋषि लोग दीर्घायु होते थे। (अ म भा १३।१।१५२) स्नानव्यवस्थित होकर प्रातः-सायं केवल दो बार भोजन करना चाहिए। बीच में कुछ नहीं खाना चाहिए। (अ म भा १३।१।१७४) दिन में मैथुन न करे कन्या वेश्या और रजस्वला के साथ मैथुन न करे। ऐसा नियम पालन

करने वाला दीर्घायु होता है। (स० म० भा० १३।३।१८५) स्त्रियों से ईर्ष्या नही करनी चाहिए। सब प्रकार से स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिए। ईर्ष्या आयु को घटाने वाली है, इसलिए ईर्ष्या का त्याग करना चाहिए। (स० म० भा० १३।३।१८६) ब्रह्मचर्य से जीवन प्राप्त होता है। (स० म० भा० १३।१।२३) सत्य पर अमृत (मृत्यु मे स्वातन्त्र्य) आश्रित है। (स० म० भा० २२।४।४८८) सत्य द्वारा मौत को जीतना चाहिए। (स० म० भा० १२।८।५००) अहिंसा से रूप, ऐश्वर्य और आरोग्य प्राप्त होते हैं। (स० म० भा० १३।१।१२४) समझदार लोग कहते हैं कि अहिंसा मे आयु दीर्घ होती है। (स० म० भा० १३।४।२०६)

शरीर के अधिकतर रोग मानसिक अशान्ति से उत्पन्न होते हैं, इसलिए सुख और दीर्घायु चाहने वाले को मानसिक शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

सारा जगत् मन और शरीर से उत्पन्न हुए रोगों से रुग्ण है। उनका शमन करने के अलग अलग और इकट्ठे उपाय सुनो। (म० भा० ३।२।२९) शारीरिक दुख के चार कारण हैं—व्याधि, अनिच्छित के साथ सम्पर्क, इच्छित की अप्राप्ति (अथवा उससे वियोग), अधिक परिश्रम। (म० भा० ३–२–२२) चतुर वैद्य पहले प्रिय बातों को सुना कर और प्रिय भोगों की सामग्री उपस्थित करके मन को शान्त करते हैं। (म० भा० ३।२।२४) क्योंकि जैसे गरम लोहे से घडे के भीतर का जल गरम हो जाता है उसी प्रकार मन के दुःख से ही शरीर दुःखी होता है। (म० भा० ३।२।२५) जैसे जल से अग्नि शान्त की जाती है, उसी प्रकार मन को ज्ञान से शान्त करना चाहिए। मन के शान्त हो जाने पर शरीर में शान्ति छा जाती है। (म० भा० ३–३–२६) मन के दुखों की जड स्नेह है। स्नेह के कारण ही प्राणी आसक्त होता है तथा दुखों के साथ ऐसा सयोग होता है। सारे दुख स्नेह से ही उत्पन्न होते हैं। स्नेह से ही भय उत्पन्न होता है। शोक, हर्ष और प्रयास सभी स्नेह से ही उत्पन्न होते हैं। (म० भा० ३।२।२६) स्नेह (राग) से पराजित पुरुष काम के वश में हो जाता है। उसमें इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छा से तृष्णा बढती है। (म० भा० ३।२।३४) इसलिए मित्रो से स्नेह रखने की इच्छा न करनी चाहिए और न साधनों को एकत्रित करने से स्नेह रखना चाहिए। अपने शरीर के प्रति जो स्नेह है वह भी ज्ञान द्वारा नष्ट कर देना चाहिए। (म० भा० ३।२।३२)

ससार मे सुखी कौन हैं

वही मनुष्य सच्चा सुखी रहता है जिसमें सबके प्रति समानता का भाव रहता है, जो अधिक परिश्रम नही करता, सत्य बोलता है, वेदना और विचिकित्सा से रहित रहता है। कामोपभोग का सुख तथा स्वर्ग का महान् सुख उस सुख की सोलहवी कला के बराबर भी नही है, जो सुख तृष्णा के क्षीण होने पर मनुष्य पाता है। (स० म० भा० १२।८।५०१–२)

संसार में वे दो प्रकार के व्यक्ति सुखी होते हैं जो काम के लिए सोच लेते हैं और जो यथा-अवसर तुरन्त सोच लेते हैं। जो लोग आलसी हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। (म भ मा १२।८।४२५)

सब संकटों के पार करने के उपाय

जो द्विज यथोक्त सामग्री से यथोक्त रीति से आत्मा को वश में करते रहते हैं वे कठिनाइयों को पार कर लेते हैं। जो ललकारने पर भी नहीं उत्तर देते जो कष्ट दिये जाने पर भी दूसरों को कष्ट नहीं देते जो उधार देते हैं और माँगते नहीं, वे कठिनाइयों को पार कर सके हैं। धर्म को जानने वाले जो लोग माता-पिता की सेवा करते हैं, दिन में शयन नहीं करते वे कठिनाइयों को पार कर जाते हैं। जो दूसरी स्त्रियों की इच्छा नहीं करते और अपनी स्त्रियों के पास में ऋतु काल में ही जाते हैं, जो बुरे पड़ोसी वाले कामों को नहीं करते जिनकी वाणी सत्य और प्रिय होती है जो दूसरों की सम्पत्ति को देखकर जलते नहीं जो पुरुष श्रेष्ठ और सज्जन हैं जो सब देवी-देवताओं को नमस्कार करते हैं और सब धर्मों के उपदेश सुनते हैं जो अपने लिए सम्मान नहीं चाहते किन्तु दूसरों को सम्मान देते हैं जो अपने आप क्रोध का परित्याग कर देते हैं, और दूसरों के क्रोध की शान्ति का उपाय करते हैं जो कभी भी मद्य और मांस का सेवन नहीं करते जो केवल जीवन यात्रा के लिए ही खाते हैं, और केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही मैथुन करते हैं और जो सत्य का पालन करने के लिए ही बोलते हैं, वे कठिनाइयों को पार कर जाते हैं। जो समस्त जीवों के शासक, संसार की उत्पत्ति रक्षा तथा नाश के कारण नारायण देव का भजन करते हैं वे कठिनाइयों को पार कर जाते हैं। (म भ मा १२।८।११६-४ १)

लक्ष्मी (श्री, सौभाग्य और सम्पत्ति) का वास भिन्न-भिन्न स्थानों में होता है

लक्ष्मी कहती है—मैं हमेशा सुन्दर बोलने वाले चतुर, कर्मठ क्रोधहीन ईश्वर विश्वासी कृतज्ञ जितेन्द्रिय और सदा ऊँचे विचार वाले पुरुष के यहाँ बसती हूँ। जो कर्म शील नहीं हैं, नास्तिक हैं वर्णाश्रम के अनुसार नहीं चलते कृतघ्न हैं, जिनका आचार ठीक नहीं है जो दूसरों को कष्ट देने का काम करते हैं जो चोरी करते हैं जो गुरु की निन्दा करते हैं उनके यहाँ मैं नहीं रहती। जो लोग थोड़े तेज बल सत्व और मानवाले होते हैं और जहाँ तहाँ क्रोध भी करते हैं तथा दूसरों को क्लेश देते हैं और लोभनीय मनोरथ मन में रखते हैं उनके यहाँ मैं नहीं रहती। जो अपने मन में कुछ पाने की इच्छा नहीं रखते और जिनका अन्तरात्मा स्वभाव से ही गिरा हुआ है जो थोड़े से ही सन्तोष कर लेते हैं ऐसे लोगों के यहाँ मैं नहीं रहती। मैं ऐसी स्त्री का त्याग कर देती हूँ जो अपने घर में बर्तनों को इधर-उधर फेंके रहती है जो बिना विचारे काम करती है और सदा अपने पति के प्रतिकूल बोलती है, जिसमें लज्जा का अभाव है और जो सदा दूसरों के घर जाने में

प्रसन्न होती है। मैं उन स्त्रियों में वास करती हूँ जो सत्यपरायण, सदा प्रिय दिखाई पड़ने वाली, सौभाग्य और सद्गुणों से युक्त, पतिव्रता और कल्याणकारी आचरणवाली, अच्छे भूषण धारण करने वाली होती हैं। दानों, कन्याओं (अविवाहित बालिका), गहनों यज्ञों, बरसते बादलों, फूले हुए कमलों और शरद ऋतु की तारों से भरी रातों, हँसी से निनाद युक्त नदियों, जिनके यहाँ तपस्वी सिद्ध और ब्राह्मण रहते हों, गौओं, बैलों, मत्त हाथियों, राजाओं, राजसिंहासनों और सज्जन पुरुषों में मेरा सदा निवास रहता है, एवं भगवान् नारायण के पास तो मैं सदा एक मन होकर रहती हूँ, क्योंकि वे महान् धर्म के आश्रय हैं। मैं शरीर से कहीं वास नहीं करती और न मेरा कोई शरीर द्वारा वर्णन कर सकता है। मैं तो मनुष्य से भाव से रहती हूँ और जिसमें रहती हूँ वह धर्म, यश, अर्थ और काम सब में उन्नति करता है। (सं० म० भा० १३–१।३०–३८)

सौभाग्य वाले पुरुषों के लक्षण

भाग्यवान् पुरुष को छ प्रकार का सुख होता है—नित्य धन का आगमन, आरोग्य-प्रिय लगने वाली (सुन्दर) और प्रिय बोलने वाली स्त्री, कहना मानने वाला पुत्र और धन देने वाली विद्या। (विदुरवाक्य)

स्त्री-महिमा

मनुष्य की श्री, लक्ष्मी, शोभा स्त्री ही होती है

स्त्रियाँ ही लक्ष्मी होती हैं, अर्थात् घर का सौन्दर्य और सौभाग्य वे ही हैं। जो लोग उन्नति और सौभाग्य चाहते हैं उन्हें स्त्रियों का सत्कार करना चाहिए। पालन और निग्रह करने पर स्त्री लक्ष्मी हो जाती है। (सं० म० भा० १३।२।८०)

स्त्रियों का सदा आदर और सत्कार करना चाहिए

जिन घरों में स्त्रियों का आदर होता है उनसे देवता प्रसन्न रहते हैं। उन घरों की सभी क्रियाएँ असफल होती है, जिन घरों में स्त्रियों का अनादर होता है। स्त्रियों द्वारा शापित घर नष्ट हो जाते हैं। श्री-हीन राजाओं की भाँति वे घर न सुन्दर लगते हैं और न उन्नति ही करते हैं। स्त्रियाँ सम्मान के योग्य हैं। पुरुषों को उनका सम्मान करना चाहिए। धर्म भी स्त्रियों पर निर्भर है, रति और भोग तो है ही। (सं० म० भा० १३।२।७३।७६)

स्त्रियों के कर्म

स्त्रियाँ जीवनयात्रा को आनन्दमयी बनाने, सन्तान की उत्पत्ति और पालन पोषण करने के लिए हैं। सन्तान की उत्पत्ति और उसका पालन करना तथा लोकयात्रा आनन्द के साथ हो सके– इसके लिए स्त्रियाँ बनायी गयी हैं। (सं० म० भा० १३।२।७७)

भार्या मनुष्य के लिए सब कुछ है—भार्या पुरुष का आधा भाग है। पुरुष का सबसे अच्छा मित्र भार्या है। भार्या वाले ही क्रियाशील होते हैं, भार्या वाले ही श्रीयुक्त होते हैं। धर्म-

अर्थ और काम की यह भार्या है, एवं संसार से पार उतरने का भी मूल भार्या ही है। ये प्रियवादिनी स्त्रियाँ विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति की मित्र बन जाती हैं, धर्म के कार्यों में पिता के समान लगती हैं और आर्त व्यक्तियों के साथ माता का बर्ताव करती हैं। विद्वानों को चाहिए कि अपनी स्त्री को भी माता के समान समझें क्योंकि वह उसके पुत्र की माता है और अपने आप ही पुत्र रूप में आत्मा उत्पन्न होती है। (सं म भा आदि शकुन्तलोपाख्यान) मैं सत्य कहता हूँ कि सब दुःखों में वैद्यों की दृष्टि में भार्या के समान कोई दूसरी औषधि नहीं है। (म भा १।६१–२९)

अच्छी स्त्रियों के लक्षण

अच्छी स्त्रियाँ सत्यलोक और स्वर्गलोक को जीत लेती हैं। यदि वे पतिहीन भी हो जायें तो क्रोध नहीं करतीं और सच्चरित्ररूपी कवच से अपने प्राणों की रक्षा करती हैं। भर्ता ही स्त्री की परम शोभा है। उसके बिना वह शोभायमान नहीं होती चाहे वह कितनी ही शोभाशाली क्यों न हो।

स्त्रियों का पति सेवा के अतिरिक्त और कोई कर्तव्य नहीं है। स्त्री का एक मात्र धर्म अपने पति की सेवा करना है, उसके लिए कोई भी यज्ञ क्रिया श्राद्ध, उपवास आदि नहीं है। (स म भा ११।२।१८)

लड़के के अभाव में लड़की को राज्य मिलने का अधिकार

जिसके यहाँ लड़का न हो उसे लड़कियों को राज्याभिषेक देना चाहिए। (स म भा १५–३ ११७)

क्षत्रियों के लिए गान्धर्व विवाह सर्वश्रेष्ठ

क्षत्रियों के लिए गान्धर्व विवाह सर्वश्रेष्ठ विवाह है। गुप्त स्थान में बिना किसी मन्त्र के काम से प्रेरित हुई स्त्री का काम से प्रेरित पुरुष से (अर्थात् जब दोनों एक दूसरे से प्रेम करते हों) सम्बन्ध करना गान्धर्व विवाह कहलाता है। (१–७३।२७)

क्षत्रियों में सबसे अच्छा विवाह गान्धर्व विवाह कहा जाता है। (म भा १।७३।४) रम्भोरु! सब विवाहों में श्रेष्ठ गान्धर्व विवाह कहा जाता है। तुम अपनी आप ही बन्धु हो, अपनी पति की स्वामिनी हो। अतएव अपना दान अपने आप धर्मपूर्वक कर सकती हो। (म भा १।७३।७)

जिन स्त्रियों के साथ मनुष्य को मैथुन नहीं करना चाहिए—पुरुष को अनजान स्त्री के साथ नपुंसक स्त्री के साथ स्वेच्छाचारी स्त्री के साथ और कन्या के साथ मैथुन नहीं करना चाहिए। (पद्म ७)

आश्रम व्यवस्था

प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि अपने जीवन को १   वर्ष का मान चार भागों में

बाँटकर, चारो प्रकार का जीवन निर्माण करे, जिससे कि एक ही जीवन में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों की सिद्धि हो सके और मरते समय उसके हृदय में कोई वाछा बाकी न रहे।

जीवन के प्रथम चौथाई भाग मे शरीर, मन और आत्मा को जीवनयात्रा के योग्य स्वस्थ, बलवान् तथा ज्ञान और विज्ञान सम्पन्न बनायें। जीवन के इस भाग में उसे गुरुओं के पास रहकर सब प्रकार की विद्याओं को प्राप्त करना चाहिए तथा कामोपभोग से बचना चाहिए, ताकि शरीर की शक्तियो का उचित निर्माण हो सके और समय आने पर कामोपभोग, धन सचय तथा सामाजिक नियमो का पालन करने में समर्थ हो सके। गुरु के आश्रम से निकल कर अपने गुण, स्वभाव और रुचि के अनुरूप अपने अनुकूल कन्या से विवाह करके, गृहस्थ बनकर सासारिक जीवन में प्रवेश करे। यह दूसरा आश्रम गृहस्थाश्रम कहलाता है। यह सबसे अधिक महत्त्व का आश्रम है क्योंकि यही आश्रम अन्य तीनो आश्रमों का आधार है। इसके द्वारा ही शेष तीनो आश्रम वाले, वस्त्र और निवास स्थान पाते हैं। धम के नियमों के अनुसार २५ वर्ष तक धन की कमाई करके यथोचित भोगों को धर्मानुसार भोगकर, योग्य सन्तानो को उत्पन्न और पालन करके, उनको पढा-लिखाकर, तीसरे आश्रम में प्रवेश करना चाहिए जिसको वानप्रस्थ आश्रम कहते हैं। इस आश्रम में गृहस्थाश्रम के धन सचय, कामोपभोग, सन्तानोत्पत्ति आदि कामो को छोडकर, घर का बोझ अपनी सन्तान के ऊपर छोडकर घर से दूर अथवा जगल में अपनी भार्या को लेकर रहना आरम्भ करना चाहिए। पत्नी का काम अब कामोपभोग, सन्तानोत्पत्ति आदि न रहकर धर्म, ज्ञान, योग और समाज सेवा ही रह जाता है। दोनों मिलकर इस काम में अपना समय बिताते हैं। कुछ दिनो तक इस प्रकार रहने पर जब कि मनुष्य के मन में ससार और जीवन के प्रति कोई भी लगाव न रहे और जीवन-मरण के चक्र से सदा के लिए मुक्त होने की इच्छा प्रबल हो जाय, तो वह चौथे अर्थात् सन्यास आश्रम में प्रवेश करे। इस तरह एकान्तवासी होकर आत्मचिन्तन, ध्यान और योग का अभ्यास करे। भिक्षावृत्ति द्वारा आवश्यकतानुसार अन्न प्राप्त करके शरीरयात्रा को पूरी करे। इस प्रकार की आश्रम-व्यवस्था का वर्णन महाभारत में जहाँ-तहाँ पाया जाता है, उसका दिग्दर्शन यहाँ कराया गया है।

जीवन के चार आश्रम

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु (सन्यासी) ये चारों शास्त्रोक्त विधि से आचरण करते हुए परम गति को प्राप्त होते हैं। आयु के प्रथम चौथाई भाग में ब्रह्मचारी रहे और धर्म तथा अर्थ को जानने के लिए किसी से वैर न करके गुरु या गुरुपुत्र के घर पर रहे। आयु के दूसरे भाग में गृहस्थ होकर घर बसाये। आयु के तीसरे भाग

में वानप्रस्थ होकर रहे और चौथे भाग में वानप्रस्थाश्रम को भी त्याग दे। अर्थात् संन्यासी होकर विचरे। (सं म भा १२।१ ।५३,६४५६८,७०८५८) ब्रह्मचर्याश्रम के कुछ नियम—गुरु के घर में रहता हुआ पीछे सोवे सवेरे उठे। शिष्य के करने के जो कर्तव्य हैं उन्हें करे, नौकरों के करने के काम भी कर के और सब कामों को पूरा करके तयार होकर गुरु के समीप अध्ययन करे। किसी की बुराई न करे, चतुर हो और गुरु के बुलाने पर उसके पास जाय। (सं म भा १२।१ ।६६१।६६७) विद्यार्थी को किन-किन दोषों से बचना चाहिए—आलस्य मद मोह चपलता गोष्ठी उद्दण्डता, अभिमान त्याग का अभाव विद्यार्थियों के लिए ये सात दोष माने गये हैं।

सुख चाहने वाले को विद्या कहां? और विद्या चाहने वाले को सुख कहां? सुखार्थी को विद्या का त्याग करना चाहिए और विद्यार्थी को सुख का।

गृहस्थाश्रम सब आश्रमों का आश्रय—जैसे सब प्राणी माता के आश्रित होकर जीते हैं वैसे ही शेष तीन आश्रम गृहस्थाश्रम के आश्रित होकर जीते हैं।

गृहस्थों के धर्म

अच्छे कर्मों को आरम्भ करने वाला धर्मानुसार अग्निहोत्र द्वारा आदर करके सौम्ययुक्त हो। केवल अपने लिए ही अन्न न पकावे। पशुओं को वृथा न मारे। नित्य विघस और अमृत का खाने वाला हो। नौकर-चाकरों को खिलाने पर जो बचता है उसे अमृत कहते हैं। (सं म भा १२।१ ।८७१) हे युधिष्ठिर! नौकरों और अतिथियों के भोजन कर लेने पर जो बचता है उसे खाने वाला केवल अमृत खाता है ऐसा समझो। (सं० म भा १३।१।१४) सज्जन लोगों के घर में इन चार चीजों की कमी कभी नहीं होती आसन स्थान जल तथा सत्य और प्रिय वाणी। (म भा ३।२।५४) रात को सोने का स्थान (चारपाई) खड़े-खड़े थके हुए को आसन प्यासे को पीने की वस्तु और भूखे को भोजन देना चाहिए। (म भा ३।२।५४) यह सनातन धर्म है कि अपने पास आने वाले को देखे उसकी ओर ध्यान दे, उससे अच्छी तरह बोले और खड़े होकर उसको बैठने का आसन दे। (म भा ३।२।५६) ये सब देने पर उसके पास बैठकर बातें करे और उसके उठ कर चलने पर उसके पीछे-पीछे चले। यह पांच दक्षिणाओं वाला अतिथि-सत्कार यज्ञ है। (म भा ३।२।६१) जो अनजाने तथा थके हुए राहगीरों को बिना क्लेश का अनुभव किये अन्न देता है उसको बहुत बड़ा पुण्य होता है। (म भा १३।१।२१) केवल अपने लिए ही अन्न न पकावे। पशुओं को वृथा हनन न करे। जो विधिपूर्वक भगवदर्पण न किया गया हो उस अन्न को न खावे। (म भा १-२।५८) कुत्तों, चिड़ियों और पक्षियों के लिए जमीन पर अन्न छोड़े। यह वैश्व देव यज्ञ है। इसको सुबह शाम करना चाहिए। (म भा ३।२।५९) इत्यनुष्ठ साथ बैठ, अपनी

जाति के लोग, अतिथि, भाई, पुत्र, स्त्री और नौकर-चाकर, यदि इनकी यथोचित पेट-पूर्ति न हो तो ये जला देते हैं (हानि करते हैं)। (म० भा० ३।२।५७) जिससे पिता प्रसन्न रहता है उससे प्रजापति प्रसन्न रहते हैं और जिससे माता प्रसन्न रहती है उससे पृथ्वी प्रसन्न रहती है। जो माता-पिता का आदर नहीं करता उसकी सभी क्रियाएँ असफल रहती है। (स० म० भा० १३।१।२६) कभी दिन में न सोये और रात के पहले तथा अन्तिम भाग के बीच में न सोये। (स० म० भा० १७।१०।५०१) स्त्रियों को व्यर्थ में न पुकारे। कभी भी ऐसा न हो कि विना भोजन किये और आदर पाये उसके घर में कोई ब्राह्मण ठहरे। (स० म० भा० १२।१०।५७२) इन लोगों से कभी विवाद नही करना चाहिए, यज्ञ कराने वाला, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, अपने द्वारा पले हुए बूढ़े, आतुर, वैद्य, जाति के लोग, सम्बन्धी, वन्धु, माता, पिता, वहन, भाई, पुत्र, पत्नी, लड़की और नौकर-चाकर। (स० म० भा० १२।१०।५७४–७५) धर्मात्मा कभी भी केवल अपने मतलब से किसी काम को न करे। (स० म० भा० १२।१०।५७८) जो गृहस्थाश्रम में रहता हुआ इस प्रकार का आचरण करता है उसका धर्म सबसे अच्छा है। क्या विप्र! ऐसा मानते हो न! (म० भा० ३।६३)

वानप्रस्थो का धर्म

देवताओं की पूजा करता हुआ वानप्रस्थ उन्ही अग्निहोत्रों को करता रहे। वानप्रस्थों को नित्य इन धर्मों का आचरण करना चाहिए—सज्जनता, क्षमा, दम, शौच, वैराग्य, अमत्सरता, अहिंसा, सत्य बोलना। (स० म० भा० १२।१०।५७८)

सन्यासी के धर्म

सब परिग्रहों को छोड़कर और आत्मा में ही अग्नि का आरोपण करके आत्म-याजी (आत्मा में ही यज्ञ करने वाला), आत्मा से ही प्रेम करने वाला, आत्मा के ही साथ खेल करने वाला और आत्मा के ही सम्बन्ध मे विचार करने वाला हो। जो द्विज, परिव्राजक सब प्राणियों को अभय का दान देता है वह प्रकाश वाले लोकों को जाता है और वहाँ पर अनन्तता का अनुभव करता है। (शान्तिपर्व स० म० भा० १२।१०।५८२)

वर्णव्यवस्था

महाभारत-कार वर्णव्यवस्था को मानते हैं और समझते हैं कि वर्ण व्यवस्था और वर्णों के परस्पर उचित सम्बन्ध से समाज का जीवन सुचारु रूप से चलता है। वर्ण केवल चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। समाज एक शरीर के समान है जिसके चार वर्ण चार मुख्य अंग हैं, ब्राह्मण जिसका मुख है, क्षत्रिय जिसकी भुजाएँ, वैश्य जिसके धड़ और जंघाएँ तथा शूद्र जिसके पैर हैं, उस समाज रूपी भगवान् को नमस्कार।

ब्राह्मण का विशेष धर्म

हे राजन्! सब प्राणियों के साथ मित्रता, दान, अध्ययन और तप ये ब्राह्मणों के धर्म हैं क्षत्रियों के नहीं। (शं म भा १२।१।१२) ब्राह्मणों का पुराने समय से चला आता हुआ धर्म है दम और स्वाध्याय का अभ्यास (श म भा १२।५।२५५)

क्षत्रियों का धर्म

असज्जनों का प्रतिषेध और सज्जनों का परिपालन युद्ध से कभी न भागना, यह क्षत्रियों का परम धर्म है। उग्र होना, शस्त्रों को धारण करना, प्रजाओं का परिपालन, यज्ञ करना, विद्या की उन्नति करना और लक्ष्मी से सन्तुष्ट न होना ये क्षत्रियों के करने योग्य शुभ धर्म हैं। (श म भा १ ।१।२१८) इन सब में श्रेष्ठ है दण्ड धारण अर्थात् शस्त्रों द्वारा दुष्टों को दण्ड देना। क्षत्रिय को दान देना चाहिए, लेना नहीं। पढ़ना चाहिए पढ़ाना नहीं तथा प्रजा का पालन करना चाहिए। उसे यज्ञ करना चाहिए, कराना नहीं और शत्रुओं के मारने में सदा तत्पर रहना चाहिए और रण में पराक्रम दिखाना चाहिए। (श म भा १२।१।१२८)

संक्षेप मे सब वर्णों के कर्तव्य

ब्राह्मणों का कर्तव्य ज्ञान है क्षत्रियों का रक्षा, वैश्यों का वार्ता (व्यापार) और शूद्रों का कर्तव्य है सेवा। (शान्तिपर्व अ २९८)

वैश्य-वृत्ति का महत्व

वार्ता (व्यापार) या वैश्यवृत्ति के ऊपर जगत का जीवन निर्भर है। कृषि, गोपालन और वाणिज्य से लोगों का जीवन चलता है।

सब वर्ग एक दूसरे पर आश्रित हैं

मृत्युलोक (मानवजीवन) एक ऐसा पहलू है जिसमें सब एक दूसरे पर आश्रित हैं।

अध्याय ११

भगवद्गीता की नैतिक शिक्षा

यद्यपि भगवद्गीता कभी महाभारत का ही एक अग थी और अव भी है, तथापि अव वह एक स्वतत्र वहुमूल्य और वहुमान्य ग्रन्थ भी हो गया है। दिन प्रति दिन उसकी लोकप्रियता और सम्मान वढता जा रहा है। समार की शायद ही कोई भाषा हो जिसमें गीता का अनुवाद न हुआ हो और शायद ही कोई देश हो जहाँ गीता किसी न किसी भाषा में न पहुँची हो। भारतवर्ष में प्राय सभी सम्प्रदायो के लोगों को गीता में उपदिष्ट वातें मान्य हैं। जितनी टिकाएँ और भाष्य भगवद्गीता के ऊपर लिखे गये हैं उतने भारत-वर्ष में अन्य किसी ग्रन्थ पर नही पाये जाते। श्री शकराचार्य से लेकर श्री अरविन्द और श्री राधाकृष्णन् तक गीता के सिद्धान्तो की चर्चा वरावर होती आ रही है। गीता की पुस्तक प्राय सभी शिक्षित भारतीयो और वहुत से विदेशियो के पास मिल सकती है। चिर काल से गीता उपनिषदो का केवल सार ही नही प्रत्युत स्वय एक उपनिषद् ही मानी जा रही है और उसका पाठ मात्र पुण्य समझा जाता है। इस आदर का कारण केवल गीता के उच्च कोटि के उपदेश और सिद्धान्त एव उसकी समन्वयात्मक दृष्टि ही नही, वल्कि यह भी है कि उसमें महाभारत के रण-क्षेत्र मे अर्जुन को भगवान् श्री कृष्ण के द्वारा दिया हुआ वह महान् आध्यात्मिक उपदेश है जिसका अनुसरण करने से मनुष्य मात्र का परम कल्याण होता है। महाभारतकालीन श्री कृष्ण केवल सर्वगुणसम्पन्न एक महापुरुष ही नही वरन् परमात्मा के पूर्ण (१६ कला के) अवतार भी माने जाते है। गीता में स्वय भगवान् श्री कृष्ण ने यह वतलाकर अर्जुन को उपदेश दिया है। गीता-भक्तो की यह दृढ़ धारणा है कि वेद, उपनिषद् आदि तो ऋषियो के द्वारा प्रकट हुए हैं, लेकिन गीता तो स्वय परमात्मा के मुख से निकली हुई परम पवित्र वाणी है। उसमें दी हुई शिक्षा स्वय भगवान् द्वारा ही दिया हुआ जीवो के लिए उपदेश है।

भगवद्गीता के उपदेश का स्थान रणक्षेत्र है। जव पाण्डवों और श्री कृष्ण द्वारा युद्ध निवारण के सव प्रयत्नो के निष्फल होने पर कौरवों और पाण्डवो की महान् सेनाएँ कुरुक्षेत्र के मैदान मे लडने के लिए उपस्थित थी और रणभेरी वजने ही वाली थी, उस समय

पाण्डव-युद्ध छिड़ाकर महावीर अर्जुन जो पाण्डव सेना का नेतृत्व और संचालन कर रहा था जिसके रथ के सारथि स्वयं भगवान् श्री कृष्ण थे अकस्मात् चिन्ताग्रस्त होकर अत्यन्त विषण्ण हो गया और उसके मन में यह गहरी शंका उत्पन्न हुई कि क्या जीवन के क्षणिक भोगों, चंचल सम्पत्ति नश्वर शरीर और राज्य को पाने के लिए मनुष्यों का वध उचित है। उस सुसज्जित संग्रामभूमि में चारों ओर अर्जुन को अपने सम्बन्धी भाई-बन्धु, चाचा, ताऊ और गुरुजन दिखाई पड़ रहे थे। उसके मन में बार-बार यह विचार आता था कि क्या इनको मारकर राज्यभोग करना उचित है, अर्जुन के मन में जो विचार आये उनका वर्णन भगवद्गीता के आरम्भ में इस प्रकार है—

हे कृष्ण! इस युद्ध की इच्छा वाले स्वजन समुदाय को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं और मुख सूखा जाता है, मेरे शरीर में कम्प तथा रोमांच होता है। हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है। मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है इसलिए मैं खड़ा होने में भी समर्थ नहीं हूँ। हे कृष्ण! न मैं विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुख। हे गोविन्द! हमें राज्य तथा भोगों से और जीने से क्या करना है। हमें जिनके लिए राज्य भोग और सुख इच्छित हैं वे ही यहाँ सब धन और जीवन को त्याग कर युद्ध में उपस्थित हैं। गुरुजन ताऊ, चाचा लड़के दादा मामा, ससुर, पोते, साले तथा अन्य सम्बन्धी भी यहाँ पर खड़े हुए हैं। हे मधुसूदन! मारे जाने पर भी अथवा तीन लोक के राज्य के लिए भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता फिर पृथ्वी के लिए तो कहना ही क्या है। हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी, इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा। इसलिए हे माधव! अपने बान्धवों, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारना हमारे लिए उचित नहीं। अपने कुटुम्बियों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे? यद्यपि लोभ से भ्रष्ट चित्त वाले ये कुल के नाश करने के दोष को और मित्रों के साथ विरोध करने के पाप को नहीं देख रहे हैं, तथापि हे जनार्दन! कुल को नष्ट करने से लगे हुए दोष को जानकर इस पाप से हम लोगों को हटने के लिए क्यों नहीं विचार करना चाहिए? कुल के नाश होने से परम्परा से चले आए कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं। धर्म के नाश होने से सम्पूर्ण कुल को पाप भी बहुत दबा लेता है। पाप के अधिक बढ़ जाने से हे कृष्ण! कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकरता उत्पन्न हो जाती है, वर्णसंकरता से कुलघाती और कुल दोनों ही नरक में जाते हैं। पिण्ड और जल देने की क्रिया के लोप हो जाने से इनके पितरों का भी पतन हो जाता है। इन वर्णसंकरता कारक दोषों से कुलघातियों के सदा से चले आये कुलाचार और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं। हे जनार्दन! नष्ट हुए कुल-धर्म वाले मनुष्यों का अनन्त काल तक नरक में वास होता है। हमने ऐसा सुना है। अहो! कितने अफसोस की बात है कि

हम लोग बुद्धिमान् होकर भी राज्यसुख के लोभ में स्वजनों के वध करने के महान् पाप को करने के लिए तैयार हैं। यदि मुझ शस्त्ररहित, न प्रहार करने वाले को भी शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार दें तो वह मरना भी मेरे लिए अति कल्याणकर होगा। (१-२९-४६)

हे मधुसूदन ! मैं रण भूमि में भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के साथ किस प्रकार बाणों से युद्ध करूँगा। हे अरिसूदन ! वे दोनों ही मेरे पूज्य हैं। महानुभाव गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भिक्षा का अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ, क्योंकि मैं गुरुजनों को मारकर इस लोक में रुधिर से सने हुए अर्थ और काम रूप भोगों को ही तो भोगूंगा और यह भी तो हम नहीं जानते कि हमारे लिए क्या श्रेष्ठ है, अथवा हम जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे। जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहेंगे वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं। (२।५।६)

ये सब बातें कहकर और हाथ से धनुष गिराकर, हाथ जोड़कर अर्जुन ने कृष्ण भगवान् से यह जिज्ञासा प्रकट की—

कायरता रूप दोष के कारण उपहत हुए स्वभाव वाला और धर्म के विषय में मोहित-चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ, जो कुछ निश्चित कल्याण का साधन हो मुझे बताइए। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में आया हूँ। मुझे शिक्षा दीजिए। (२।७)

इस महान् प्रश्न के उत्तर में ही सारी गीता का उपदेश है—

"जो जीवन का निश्चित श्रेय है वह मुझे बतलाओ?" यही जीवन का महान् प्रश्न है। मानवजीवन क्या निश्चित श्रेय है ? वह श्रेय क्या है जिसको ध्यान में रखकर हमारे सब कर्म होने चाहिए ? वह श्रेय क्या है जिसको प्राप्त किये बिना मानवजीवन में शान्ति का अनुभव नहीं होता, जिसके अनुसार चलने से मनुष्य उत्तम से उत्तम गति को प्राप्त कर लेता है और पाप-पुण्य के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष के आनन्द का अनुभव करता है ? मनुष्यजीवन का पग-पग पर यही प्रश्न है—निश्चित श्रेय क्या है ?

साधारण मानवजीवन की दुर्गति

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार साधारण मनुष्य का जीवन सुखमय नहीं है। यह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और दुःखों के दोषों से पूर्ण है (१३-९), सदा न रहने वाला और दुःखों का निवास स्थान है (८-१५), जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःख से पूर्ण है (१४-२०)। इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होने वाले जितने भोग हैं वे सब दुःख देने वाले और सादि तथा सान्त हैं, इनमें समझदार आदमी चित्त नहीं देता। (५-२२) यह संसार अनित्य और सुख से रहित है। (९-३३) अज्ञान—हमारा थोड़ा सा ज्ञान चारों ओर अज्ञान से घिरा हुआ है इसी कारण सब प्राणी मोहान्धकार में पड़े हुए हैं। (५-१५) राग और

द्वेष से उत्पन्न होने वाले द्वन्द्वों के फन्दे में फँसकर सारे जीव मोह में पड़े हुए हैं। (७-२७)

बार-बार जन्म-मरण होता है

ब्रह्मलोक तक के प्राणी भी बारम्बार जन्म-मरण से बचकर न रहते हैं। (९-१६) सभी प्राणी पैदा होकर मरते हैं। (८-१९) जीव पुराने और जीर्ण शरीर को छोड़कर दूसरे नये शरीरों को धारण करता है। (२-२२) हम सब मृत्युमय संसार के पथ पर हैं। (९-३) हमारा जीवन नश्वर है और पुनर्जन्म के दुःख का घर है। (८-१५)

विषयों का संग और उसका दुःखदायी परिणाम

साधारण मनुष्य इन्द्रियों के विषयों की ओर प्रवृत्त होता है और उनको ही प्राप्त करने का ध्यान करता रहता है। इसका भयकर परिणाम होता है। विषयों के ध्यान से उनमें लगाव की उत्पत्ति होती है। लगाव से उनको प्राप्त करने की इच्छा पैदा होती है। इच्छा जब पूर्ण नहीं होती तो क्रोध आता है। क्रोध से सम्मोह (भ्रम) और सम्मोह से स्मरणशक्ति खराब होती है। स्मरणशक्ति के बिगड़ जाने पर बुद्धि का नाश होता है और जब बुद्धि ही नष्ट हो गयी तो प्राणी के व्यक्तित्व का ही नाश हो जाता है। (२-६२-६३)

मानव के लिए मोक्षतम आदर्श

इन सब कारणों से साधारण सांसारिक जीवन जिसमें इन्द्रियों के विषयों का सेवन और भोग ही सब कुछ समझा जाता है, मनुष्य के लिए कल्याणकारी नहीं है। मनुष्यजीवन इससे सन्तुष्ट नहीं होता उसका लक्ष्य और ध्येय कुछ और ही होना चाहिए। भगवद्गीता के अनुसार मनुष्य का लक्ष्य ब्राह्मी स्थिति है। यही मनुष्य का परम प्राप्य पद है जिसको प्राप्त कर लेने पर ही उसे अनन्त सुख और शान्ति का लाभ होता है। ब्राह्मी स्थिति क्या है? इसका संकेत गीता के अनेक स्थलों पर इस प्रकार मिलता है—

सनातन ब्रह्म को पा लेना (४-३१) परम तत्त्व को पा लेना (३-१९) भगवद्-भाव का प्राप्त कर लेना (४-१०) भगवान् के पास पहुँच जाना (४-९) ब्रह्म में लीन हो जाना (५-२६) (२-२५) ब्रह्म में स्थित हो जाना (५-२४) ब्रह्म को सभी प्रति छू लेना (६-२८) निष्कलंक ब्रह्म रूप हो जाना (६-२७) सबसे पूर्ण स्थान और परम अवस्था को प्राप्त कर लेना (८-२८) दिव्य और परम आत्मा को प्राप्त कर लेना (८-१०) अव्यक्त और अक्षर हो जाना भगवान् के पास पहुँच जाना (८-१५) भगवान् में प्रविष्ट हो जाना (८-११) भगवद् भाव को प्राप्त कर लेना (८-५६ १४-१९) भगवान् में वास करना (१२-८) ब्रह्म ही जाना (१३-३ १८-५४ १६-२६ १८-५३) इत्यादि।

१—ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर लेने पर पुनर्जन्म नहीं होता

उस अवस्था को प्राप्त करके आत्मा पुन जन्म के बन्धन से पूर्णतया विमुक्त हो जाता है (२–५१), इस शरीर को त्यागने पर दूसरे शरीर में जन्म नही लेता (४–९), भगवान् को प्राप्त करके पुनर्जन्म नही होता (८–१६), भगवान् का वह स्थान है जहाँ से वापसी नहीं होती (८–१६, १४–४, १५–६), उसको प्राप्त कर लेने पर परम सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है और अनित्य और दु ख के निवास शरीर में फिर जन्म नही लेना पडता। (८–१५) अमरता का अनुभव होता है।

२—परम शान्ति का अनुभव होता है

जिस शान्ति के लिए मनुष्य लालायित रहता है उस परम और स्थिर शान्ति का अनुभव केवल ब्राह्मी स्थिति मे ही होता है। (२–११, ४–३९ ५–१२, ६–१५, २१८, ६२)

३—उस अवस्था में दु खों का अत्यन्त अभाव हो जाता है

तव जीव जन्म, मृत्यु और जरा के दु खो से मुक्त हो जाता है (१४–२०), रोगो मे रहित पद की प्राप्ति हो जाती है (२–५१) और दु खो से रहित सुख का अनुभव होता है। (६–२३) केवल दु ख निवृत्ति ही नही (६–२७), अधिक से अधिक (६–२१) **अक्षय और सर्वोत्तम सुख (५–२१) की प्राप्ति भी होती है।**

४—प्रकृति के वन्धनकारक गुणो से जीव ऊपर उठ जाता है

उसको गुणातीत अर्थात् गुणो से पार जाने वाला कहते हैं, वह गुणो (सत्त्व, रजस्, तमस्) से परे चला जाता है। (१४–२१)

५–ब्राह्मी स्थिति ही मनुष्य की परम गति अर्थात् जीवन का लक्ष्य, गम्य स्थान और परम सिद्धि है। (८–२१, ८–१३, १६–१२, १३–१२, ८–१६)

६—इसमें पहुँचकर सव कर्मों के फल से मुक्ति मिल जाती है और किसी पाप का भयकर परिणाम नही भुगतना पडता। (३–१३, ४–१६, १८–६६) इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर किसी भी कम के फल को भोगने का वन्धन नही रहता है। (४–१४)

७—इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य का और **कुछ कर्त्तव्य नहीं रहता।** (३-१७)

लक्ष्य प्राप्ति के साधन

यह तो हुआ जीवन का लक्ष्य। भगवद्‌गीता में इस लक्ष्य को प्राप्त करने के साधनों पर अनेक स्थलो पर उपदेश मिलते हैं। टीकाकारो का इस वात से वहुत मतभेद है कि गीता के अनुसार कौन सा साधन सर्वश्रेष्ठ, प्रधान अथवा निश्चित है, क्योंकि इस ग्रन्थ की भाषा कुछ इस प्रकार की है कि प्रत्येक साधन की स्थान-स्थान पर प्रशंसा की गयी है और उसको सर्वश्रेष्ठ वतलाया गया है।

हम इस वादविवाद में न पड़कर अपने विचार के अनुसार गीता में बताए हुए साधनों का समन्वय करने का प्रयत्न करेंगे। हमारे मत में गीता में बतलाये हुए सभी साधनों की आवश्यकता है और सभी लाभदायक हैं। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार मनुष्यों को साधनों का अभ्यास करना चाहिए।

ज्ञान योग

१—ज्ञान—आत्मज्ञान ब्रह्मज्ञान और ईश्वर के अस्तित्व और महिमा का अधिक से अधिक ज्ञान होना चाहिए। (४–१९) "मुझ (ईश्वर को) जानकर शान्ति को प्राप्त करता है। (५।२९) इस ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य बहुत जल्द परम शान्ति का अनुभव करता है। (४।३९) ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट रूप यह है कि सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन और अनुभव हो।

जिस ज्ञान से (मनुष्य) पृथक-पृथक दिखाई पड़ने वाले सब भूतों में एक अविनाशी विभाग रहित परमात्मभाव को देखता है उस ज्ञान को तू सात्विक समझ। (१८–२)

इस ज्ञान को विचार और ध्यान के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। भगवान् का दर्शन दो रूप में होता है बाहर विश्व के रूप में और भीतर आत्मा के रूप में। बाहर का रूप जानने के लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि विश्व का मूल कारण उपादान और निमित्त दोनों भगवान् ही हैं और सब पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति लय भगवान में ही होते हैं। सब भगवान् के ही नाना रूप हैं। उसके अतिरिक्त और बाहर कोई नहीं है। सबके बाहर, भीतर ऊपर, नीचे चारों ओर भगवान् ही हैं इस विषय की गीता में बहुत स्पष्ट शब्दों में और सविस्तार चर्चा है, कुछ वाक्यों को यहाँ उद्धृत किया जाता है।

"उस आदि रहित परम ब्रह्म को न सत् कहा जा सकता है और न असत्‌ वह चर और अचर सब भूतों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है तथा वह चर और अचर भी है। वह समीप से समीप और दूर से दूर भी है। सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है। (१३।१५) सदा एकरस रहने वाला अचल निराकार और अविनाशी है। (१२।१) मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ। मुझसे ही सब जगत् की चेष्टा होती है। (१ ।८) मैं भूतों का आदि मध्य और अन्त भी हूँ। (१ –२) जो सब भूतों का बीज है वही मैं हूँ। (१०–३९) मेरे निराकार स्वरूप से ही सब जगत् परिपूर्ण है। (९–४) जैसे सर्वत्र विचरने वाला महान् वायु सदा ही आकाश में स्थित है वैसे ही समस्त भूत मुझमें स्थित हैं ऐसा समझो। (९–६) मैं सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति और प्रलय रूप हूँ। (७–६) यह समस्त जगत मुझमें इस प्रकार गुँथा हुआ है, जिस प्रकार तागे में मणियाँ। (७–७) हे अर्जुन समस्त भूतों का सनातन बीज मुझे ही जानो। (७–१) वह सब भूतों के नष्ट

होने पर भी नष्ट नहीं होता। (८–२०) परम ब्रह्म नाश रहित है। (८–३) मैं सबका नाश करने वाला मृत्यु हूँ और आगे होने वालों की उत्पत्ति का कारण हूँ। (१०।३४) मैं सब प्रकार से देवताओं और महर्षियों का कारण हूँ। वह सब ओर हाथ पैर वाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुख वाला, और सब ओर कानों वाला है, क्योंकि वह संसार में व्याप्त होकर स्थित है। (१३।१३) मैं अविनाशी प्रकृति का, अमृत का, नित्य धर्म का और अखण्ड तथा एकरस आनन्द का आधार हूँ। (१४।१७) वह अविनाशी परमात्मा तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका भरण और पोषण करने वाला है, ऐसा कहा जाता है। (१५।१७) इस देह का जीवात्मा भी मेरा ही सनातन अंश है। (१५।७) हे अर्जुन! शरीर रूपी यन्त्र में आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से संचालित करता हुआ उन सबके हृदयों में अविस्थित है। (१८।६१) मैं सब प्राणियों के हृदय में प्रवेश किये हुए हूँ। (१५।१५) इसलिए लोक और वेद में मैं पुरुषोत्तम के नाम से प्रसिद्ध हूँ। (१५।१८) मुझे ही सब यज्ञों और तपों का भोगने वाला और समस्त लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर तथा सब प्राणियों का सुहृद् जानकर मनुष्य शान्ति को प्राप्त करता है। (५।२९) गुण और कर्म के आधार पर मनुष्यों का विभाजन करके मैंने ही चारों वर्णों की योजना की है। (४।१३) सज्जनों का दुःखों से उद्धार करने के लिए और दुर्जनों को सजा देने के लिए और उनको नष्ट करने के लिए तथा धर्म की स्थापना करने के लिए मैं समय-समय पर संसार में अवतार लेता हूँ। (४।८) हे भारत! जब-जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब मैं अपने को प्रकट करता हूँ, (४।७) यद्यपि मैं अविनाशी और अजन्मा हूँ, तथापि सब प्राणियों का ईश्वर होने के नाते अपनी प्रकृति को आधार मानकर योगमाया से प्रकट होता हूँ। (४।६) जो भी वस्तु विभूति युक्त है, कान्ति युक्त है और शक्तियुक्त है उसको तू मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुई जान। (१०–४१) हे अर्जुन! मैं सब प्राणियों के हृदय में सबके आत्मा रूप से स्थित हूँ। (१०।२०) इस देह में स्थित मैं ही पर (सब से परे—अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से परे), सबका साक्षी, अनुमति देने वाला, भरण पोषण करने वाला, भोगों का भोगने वाला, महान्, ईश्वर और परम आत्मा मौजूद हूँ। (१३।२२) सब शरीरों में हे अर्जुन! मुझे उनका जानने वाला (क्षेत्रज्ञ) समझो।" (१३।२)

ईश्वर को आत्मा रूप में जानने का साधन

ईश्वर हमारे शरीर में आत्मा रूप से वर्तमान है। हम आत्म-ज्ञान और ध्यान द्वारा उसे भली भाँति जान सकते हैं। उसे जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

१—बुद्धियोग

आत्मा को जानने का एक मार्ग जो कि गीता में साम्य मार्ग के नाम से वर्णित है,

यह है कि मनुष्य अपने भीतर स्थित पुरुष को जो कि शरीर, इन्द्रिय मन और बुद्धि से परे है समझे और उसका ज्ञान प्राप्त करके व्यवहार करे।

(शरीर से) इन्द्रियों को परे (श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म) कहते हैं इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है और जो बुद्धि से परे है वह आत्मा है। इस प्रकार बुद्धि से परे आत्मा को जानकर और बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहु अर्जुन! तू काम (भोगों की अभिलाषा) रूप शत्रु को जीत ले। (३।४२-४३) पंच महाभूत शरीर अहंकार, बुद्धि मूल प्रकृति दस इन्द्रियाँ एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) इच्छा द्वेष सुख-दुःख स्थूल शरीर, चेतना और धृति ये सब संक्षेप से विकारवान् क्षेत्र कहलाता है। (१३।५-६) जैसे एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही क्षेत्रज्ञ (आत्मा) क्षेत्र (व्यक्ति) को प्रकाशित करता है। (१३।३३) जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ आकाश भी सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता वैसे ही देह में (सर्वत्र) स्थित आत्मा भी (गुणातीत होने के कारण) इस देह के गुणों से लिप्त नहीं होता। (१३।३२) हे अर्जुन! अनादि होने से और गुणातीत होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित हुआ भी लिप्त नहीं होता। (१३।३१) जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किये हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्ता देखता है वही (ठीक) देखता है। (१३।२) राग द्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सब पदार्थों को प्रकृति से उत्पन्न हुए समझो। (१३।१९) (सब) कार्य-कारणों की उत्पत्ति का हेतु प्रकृति ही कही जाती है। (१३।) पुरुष इस देह में स्थित होकर भी इससे परे ही है। वह इसका साक्षी अनुमंता (सम्मति देने वाला) धारण करने वाला भोक्ता महान् ईश्वर और परम आत्मा कहलाता है। (१३।२२) प्रकृति में स्थित हुआ पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए सब त्रिगुणात्मक पदार्थों का भोग करता है। पर गुणों का संग ही इस आत्मा के अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण हो जाता है। (१३।२१) इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा प्रकृति से छूटने के उपाय को जो पुरुष ज्ञान के द्वारा जानते हैं वे परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। (१३।३४)

ध्यानयोग

इस अवस्था का अनुभव ध्यानयोग द्वारा भी किया जा सकता है। गीता में इस ध्यानयोग का वर्णन इस प्रकार है।

जिसका शरीर मन और इन्द्रियों सहित जीता हुआ है, ऐसा वासना और संग्रह रहित योगी एकान्त स्थान में अकेला बैठकर निरन्तर अपने आप को परमात्मा के ध्यान में लगाये। शुद्ध भूमि में कुश मृगछाला और वस्त्र वाले आसन पर जो न बहुत ऊँचा हो

न बहुत नीचा, स्थिर होकर बैठे। काया, सिर और ग्रीवा को समान, अचल करके और स्थिर होकर अपनी नासिका के अग्रभाग के ऊपर दृष्टि जमाये और इधर-उधर की दिशाओ में न देखे। ब्रह्मचर्य के व्रत मे स्थित, भय रहित और शान्त-अन्त करण होकर मन को वश में करके, मुझमें चित्त लगाकर मेरा ध्यान करते हुए मत्परायण होकर बैठे। (६।१०–१४) सकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओ को पूर्णरूप से त्याग कर, मन के द्वारा इद्रियो के समुदायो के समुदाय को सभी ओर से अच्छी तरह वश में करके, क्रम से अभ्यास और आराम को प्राप्त होता हुआ धैर्यवान् योगी बुद्धि द्वारा मन को परमात्मा मे स्थित करके और कुछ भी चिन्तन न करे। यह चचल मन जिन कारणो से सासारिक पदार्थों की ओर जाता है उनसे हटाकर उसको परमात्मा में ही लगाये। (६।-२४–२६) हे अर्जुन ! इसमे कोई शक नही कि मन चचल है और कठिनता से वश में आने वाला है, परन्तु अभ्यास और वैराग्य से वश में आता है। (७–३५) अत्यन्त वश में आया हुआ चित्त जब परमात्मा में भली प्रकार स्थित हो जाता है तब सम्पूर्ण कामनाओं से रहित होकर योगयुक्त कहलाता है। (६।१८) जिस प्रकार वायुरहित स्थान में स्थित दीपक की ज्योति निश्चल हो जाती है उसी प्रकार आत्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के चित्त की अवस्था होती है। (६।१९) इस प्रकार अपने को निरन्तर परमात्मा के ध्यान मे लगाता हुआ वह योगी, जिसका मन उसके वश में है, मुझमें स्थित निर्वाण की पराकाष्ठा में, अनुभव मे आने वाली परम शान्ति का अनुभव करता है। (६।१५) जिस अवस्था में योगाभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त शान्त हो जाता है और जब कि अपने आप ही अपनी आत्मा का साक्षात्कार करता है तब आत्मा में ही उसको पूर्ण तुष्टि प्राप्त होती है।(६।२०)। जब योगी आत्मतत्त्व के ध्यान से नहीं डोलता तब उसे इन्द्रियो से ऊपर के उस परम आनन्द का अनुभव होता है जिसको केवल बुद्धि ही समझ सकती है। (६।२१)

भगवद्भक्ति

जब यह ज्ञान हो जायेगा कि ससार में भगवान् के सिवाय कुछ अविनाशी और सार वस्तु नही है, समस्त पदार्थ उसके ही रूप हैं और समस्त ससार का सचालन, नियमन और उत्पत्ति-स्थिति, सहार उसी भगवान् की इच्छा और शक्ति से हो रहा है, तो ससार की वस्तुओं मे रुचि हटकर भगवान् और उसकी भक्ति में हो जाती है। मनुष्य उस भक्ति के कारण भगवान् के ऊपर अत्यन्त भरोसा करके उसको प्रसन्न करने का काम करता रहता है, धीरे-धीरे उसकी ओर खिचा चला जाता है और उस तक पहुँचकर और उसे पाकर तद्रूप हो कृतकृत्य हो जाता है। अब उसको अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए कोई विशेष कर्त्तव्य नही रहता। उसका जीवन भगवान् की सेवा, इच्छा-पालन और सब प्राणियो की

सेवा करने में ही व्यतीत होने लगता है।

गीता में भक्ति का उपदेश निम्नलिखित वाक्यों में किया गया है:

वह योगी जो सदा योग में लगा हुआ दूसरे पदार्थों की ओर से मन हटाकर मुझमें ही मन लगाए रहता है और सदा मेरा ही स्मरण करता रहता है, मुझे आसानी से पा लेता है। (८।१४) भक्ति के द्वारा मुझे वास्तविक रूप में और पूर्णतया जान लेता है। उस परमात्मा की प्राप्ति भक्ति से ही होती है अन्य किसी प्रकार से नहीं। (८।२२) जिसने अपना मन और बुद्धि को मुझे अर्पित कर दिया है (अर्थात् जो भगवान् का ही ध्यान और चिन्तन करता है) वह मुझे (भगवान् को) निःसन्देह पा लेता है। (८।९) अतएव मुझमें मन लगाओ, भगवान् के भक्त बनो भगवान् के लिए यज्ञ करो भगवान् को नमस्कार करो भगवत्परायण बनो। इस प्रकार भगवान् में आत्मा को लगाकर भगवान् को प्राप्त कर लोगे। (९–३४) हे भारत! तू उस (परमात्मा) की सब भावों से (पूर्ण रूप से) शरण में जा। उसकी प्रसन्नता से ही नित्य स्थान की प्राप्ति होकर परम शान्ति का अनुभव होगा। (१८।६२) मुझमें ही मन लगाओ और मुझ में ही बुद्धि को स्थिर करो। ऐसा करने पर अवश्य ही अब से तुम मुझमें निवास करोगे। (१२।८) हे अर्जुन! जो सब कर्म मेरे लिए ही करता है जो मुझे ही परम लक्ष्य समझता है जो विषयों में आसक्त नहीं है, जो किसी भी प्राणी से वैर नहीं रखता ऐसा भक्त मुझे प्राप्त कर लेता है। (११।५५) अतएव सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा। चिन्ता मत कर। (१८।६६)

निष्काम कर्म

ईश्वर-भक्ति का सांसारिक जीवन और उसके कर्तव्यों के पालन करने के साथ कोई विरोध नहीं है। अपने वर्ण (समाज में स्थान) और आश्रम (जीवन की अवस्था) के अनुसार सारे संसार के हित के निमित्त काम करने से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं और सिद्धि देते हैं।

जिस परमात्मा से सब भूतों की उत्पत्ति हुई और जिससे यह सब जगत् व्याप्त है उसको अपने कर्तव्य (वर्णाश्रमनिर्धारित कर्म) द्वारा प्रसन्न करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है। (१८।४६)

अतएव ज्ञान और भक्ति का कर्म के साथ कोई विरोध नहीं है। परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करके उसको प्रसन्न करने के लिए ही मनुष्य को अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। कुछ न कुछ कर्म तो मनुष्य को करना ही पड़ता है। इसके बिना जीवन यात्रा सम्भव नहीं है। अतएव मनुष्य को यह जानना चाहिए कि कौन कर्म करे, कौन न करे, किस भाव से करे, किससे न करे, किस उद्देश्य से करे किससे न करे।

कोई भी पुरुष किसी काल में क्षण मात्र भी बिना कर्म किये नही रहता। सब लोक निस्सन्देह प्रकृति के गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं। (३।५)

मनुष्यों को अपने वर्णाश्रम और परिस्थिति तथा धर्मशास्त्रो के आदेशों के अनुसार अपने कर्तव्यों का निश्चय करना चाहिए, क्योंकि वर्ण आदि की व्यवस्था भगवान् ने समाज को ठीक-ठीक चलाने के लिए ही की है। यदि भगवान् ससार में अवतार भी लेते हैं तो स्वय शास्त्रानुकूल वर्ण और आश्रम तथा परिस्थितियों के अनुसार आचरण करते हैं। ससार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उन्होने ऐसा ही किया है और ऐसा करने से परम पद की प्राप्ति की है। तू नियमत (शास्त्रों के विधान के अनुसार) कर्मों को कर क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। (३।८)

अपने मन से ही इच्छानुसार जो चाहा कर लिया इससे सिद्धि नही मिलती। शास्त्रों ने जिस काम को उचित बतलाया है उसी को करना चाहिए।

जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से अनुकूल ही आचरण करता है वह न सिद्धि को प्राप्त करता है, न परम गति का, और न सुख को। इसलिए तेरे लिए कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण हैं, ऐसा जानकर तो तू शास्त्र-विधि से नियत किये हुए कर्म को ही कर। (१६।२३-२४)

महापुरुषों को सदा ही सदाचारी होना चाहिए क्योंकि साधारण जन तो महापुरुषो का अनुकरण ही किया करते हैं।

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उसका अनुसरण किया करते हैं। वह पुरुष जो कुछ करता है प्रमाण हो जाता है और साधारण लोग उसके अनुसार चलते हैं। यदि मैं स्वय आलस्य के कारण कर्म न करूँ तो, हे अर्जुन! सब मनुष्य मेरे बर्ताव के अनुसार बर्ताव करने लगेंगे। यदि मैं कर्म न करूँगा तो ये सब लोग नष्ट हो जायेंगे और मैं समाज में गडबड करनेवाला तथा प्रजा का नाश करने वाला होऊँगा। (३।२१-२४)

जनकादि (ज्ञानी लोगो) ने भी कर्म करते हुए ही परम सिद्धि को प्राप्त किया था। इसलिए प्रजा को सुव्यवस्थित अवस्था में रखने के लिए कर्म करना ही चाहिए। (३।२०)।

कर्म-बन्धन से मुक्ति का उपाय

अब प्रश्न यह होता है कि जब प्रत्येक कर्म का फल होता है और उस भले या बुरे फल को हमें भोगना ही पडता है, परिणामस्वरूप एक जन्म के पश्चात् दूसरा जन्म लेना ही पडता है, तो कर्म शुभ हो अथवा अशुभ, यह एक प्रकार का बन्धन ही हुआ, जब कि मनुष्य की आन्तरिक इच्छा है सब बन्धनो से छुटकारा पाना। कर्म करते हुए भी

और उसके बन्धन में न पड़े इसका क्या उपाय है, उसी उपाय का निर्देश करना गीता का मुख्य उपदेश है।

कर्म से बन्धन क्यों होता है? इसलिए कि जो कोई कर्म करता है वह अपनी किसी इच्छा को पूरी करने उस कर्म द्वारा अपने लिए कुछ प्राप्त करने के लिए ही करता है। अपने को जिसने संसार से अलग एक विशेष व्यक्ति समझ लिया है तथा अपनी ही प्रसन्नता और सुख के लिए भोगों की सामग्री चाहता है वह प्राणी अवश्य ही उस व्यक्तित्व की पुष्टि, रक्षा और लोक-परलोक में अवस्थिति को चाहता है वह कर्मों के बन्धन में पड़ता है। उसकी जन्म-जन्मान्तर में कर्मों के अनुसार गति होती ही रहेगी। पर जो पुरुष अपने को संसार और भगवान् से अलग नहीं समझता अपने लिए जो किसी भी फल की इच्छा न करके केवल लोक-संग्रह अर्थात् समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए सब रूप से अर्थात् संसार भर के कल्याण तथा सब प्राणियों के उचित हित एवं केवल भगवान् को प्रसन्न करने के लिए ही उचित कार्यों को करता रहता है, भले ही उनके करने में कुछ ऐसी क्रियाएँ भी होती हों जो दोषयुक्त प्रतीत हों वह कर्मों के फल के बन्धन में नहीं पड़ता। उनके करने से वह पाप-पुण्य का भागी नहीं होता। वह कर्मों को करता है लेकिन निर्लेप रहता है। पाप और पुण्य के फल का भागी मनुष्य तब तक है जब तक वह अपने ही लाभ के लिए, अपने ही सुख के लिए और अपनी ही इच्छा की पूर्ति के लिए कर्मों को करता है, अपना कर्तव्य समझकर और लोक कल्याण के लिए नहीं करता। जिसकी कर्मों के फलों में आसक्ति है अर्थात् जो उनको प्राप्त करने के लिए ही कर्म करता है उसको वे फल तो अवश्य ही मिलते हैं, लेकिन उन कर्मों को करने में जो अपकार या उपकार दूसरे प्राणियों को होता है उसका बुरा-भला बदला भी उसको मिलता ही है। अतएव गीता का उपदेश है—

हे कुन्तीपुत्र! स्वाभाविक (अपनी प्रकृति के अनुसार) कर्म यदि दोषयुक्त भी हों तो भी उनको त्यागना नहीं चाहिए क्योंकि जैसे अग्नि धूम से आवृत रहती है ऐसे ही सभी कर्म किसी न किसी दोष से आवृत हैं। (१८।४८) हे परंतप! ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों और शूद्रों के कर्तव्य स्वाभाविक हैं और उनके गुणों के अनुसार विभक्त किये गये हैं। (१८।४१) मेरे परायण होकर सब कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परम पद को प्राप्त होता है। (१८।५६) इसलिए तू मुझमें निरन्तर मन वाला होकर मेरी कृपा से (जन्म मृत्यु आदि) सब संकटों से पार हो जायेगा। (१८।५८) जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा के अर्पण करके आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है वह जल में कमल के पत्ते के सदृश पाप से लिप्त नहीं होता। (५।११) योगी लोग केवल इन्द्रिय मन बुद्धि और शरीर द्वारा ही आसक्ति को छोड़कर आत्म

शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। (५।११) अतएव निष्काम कर्मयोगी कर्मो के फल की इच्छा को त्यागकर परम और स्थायी शान्ति का अनुभव करता है और कर्मों के फलों की इच्छा रखने वाला अयोगी उनमें आसक्ति रखने से बन्धन मे पड जाता है। (५।-१२) सदा (जो कुछ प्राप्त है उसमें) तृप्त और (किसी वस्तु के) अधीन न रहने वाला कर्मो के फल के प्रति आसक्ति को छोडकर कर्मो में लगा हुआ भी कुछ नही करने वाला (जैसा) होता है। (४।२२) जिसने अपने मन को और आत्मा को जीत लिया है और सम्पूर्ण भोगो की सामग्री जिसने त्याग दी है, ऐसा आकाक्षारहित पुरुष केवल शरीर द्वारा कर्म करता हुआ भी पाप का भागी नही होता। (४।२१) अपने आप ही जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसी में सतुष्ट रहने वाला और (हर्ष, शोक आदि) द्वन्द्वों से ऊपर उठा हुआ, ईर्ष्या से रहित, सिद्धि और असिद्धि दोनो में एक सा रहने वाला पुरुष (कर्मों को) करके भी उनके फल से नही बँधता। (४।२२) आसक्ति से रहित, ज्ञान में स्थित हुए चित्तवाले यज्ञ के लिए ही (अर्थात् केवल सर्वभूतहित के लिये) आचरण करते हुए मुक्त पुरुष के सम्पूर्ण कर्म-फलों से बन्धन नष्ट हो जाते हैं। (४।२३) यज्ञ के लिए कर्मो के सिवाय अन्य कर्मो में लगा हुआ मनुष्य कर्मो द्वारा बँधता है। अतएव हे अर्जुन! आसक्ति से रहित यज्ञ के निमित्त ही आचरण कर। (३।९) तू अनासक्त होकर निरन्तर अपने कर्तव्य कर्मो को भली भाँति कर, क्योकि अनासक्त पुरुष ही कर्म करता हुआ परम पद को प्राप्त होता है। (३।१९) फल की वासना रखकर कर्म करने वाले बडे दीन होते हैं। (४।४९) ध्याननिष्ठ चित्त से तू सम्पूर्ण कर्मो को मुझे अर्पण करके आकाक्षा और ममतारहित होकर युद्ध कर। तुझे कोई पाप नही लगेगा। (३।३०)

इन सब गीता-वाक्यो का निचोड यह है कि भगवान् की प्रसन्नता के लिए और उनकी आज्ञा से स्वाभाविक कर्तव्य को फल की आकाक्षा छोडकर केवल इस भाव मे करते रहना चाहिए कि उसके करने से लोक-कल्याण और आत्मशुद्धि होगी। ऐसा करने से मनुष्य कर्मो के भले-बुरे फलो को भोगने का भागी नही होता। कर्मो के फलो से बचने का यही एक उपाय है कि उनका सर्वथा त्याग न हो क्योकि न तो कर्मों का पूर्ण त्याग सम्भव है और न मात्र कर्म त्याग से मनुष्य कर्म-बन्धन से छुटकारा पाता है, जब तक मन से उनका त्याग न हुआ हो इच्छा मात्र से ही कुछ भी कर्म न करता हुआ मनुष्य बन्धन में पड जाता है।

मनुष्य कर्मो को न करने मे निष्कर्मता को प्राप्त नही होता और न ही कर्मों को त्याग देने से सिद्धि को प्राप्त करता है, क्योंकि कोई भी पुरुष किसी काल में क्षण मात्र भी बिना कोई कर्म किये नही रहता। निःसन्देह सब लोग प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणो द्वारा परवश होकर कर्म करते हैं। जो मूढ़ बुद्धि वाला पुरुष (हठ से) कर्मेन्द्रियो को रोककर इन्द्रियो

के भोगों को मन में कल्पना करता है, वह मिथ्याचारी कहलाता है। इसलिए तू उचित कर्म को कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, और कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी न हो सकेगा (३।४ ६,८)

गीता की नीति यही है कि कर्तव्य कर्मों को जिनका निश्चय अपने गुण और स्वभाव के आधार पर बनी हुई वर्ण-व्यवस्थानुसार शास्त्रों ने सब प्राणियों के हित के निमित्त किया है जगत् की उत्पत्ति और व्यवस्था करने वाले भगवान् की जो हमारे अन्दर आत्मा के रूप में स्थित हैं, प्रसन्नता और आराधना के निमित्त अपने व्यक्तिगत सुख और भोग के लिए नहीं बल्कि लोक-कल्याण की भावना से करना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य को ऊँची से ऊँची गति जो ब्राह्मी स्थिति है प्राप्त हो जाती है। आत्म ज्ञान भगवद्भक्ति लोकहित और भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्मफल से अनासक्त होकर समभाव से कर्तव्यों को करना मनुष्यों के लिए जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने का उपाय है।

जीवित अवस्था में ही सिद्धि

यह ब्राह्मी स्थिति इसी जीवन और लोक में प्राप्त की जा सकती है और मरणोपरान्त होने पर भी बनी रहती है। जो लोग ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं जिनकी बुद्धि स्थिर हो जाती है और ज्ञान ध्यान भक्ति और निष्काम कर्म द्वारा जो कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर जीवन यापन करते हैं उनका कैसा व्यवहार होता है?

गीता के अनुसार सिद्ध पुरुष के अर्थात् जिसने आत्मभाव का ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर ली है उसके ये लक्षण हैं—

१—उसने मन से सब कामनाओं को निकाल दिया है। २—आत्मभाव में ही सन्तुष्ट है। ३—दुःखों से घबराता नहीं। ४—सुखों की अर्थात् भोग-विलास की इच्छा नहीं करता। ५—आसक्ति भय और क्रोध से मुक्त है। ६—वह किसी वस्तु या प्राणी से ममता और स्नेह नहीं रखता। ७—शुभ वस्तु और अवस्था को प्राप्त करके हर्ष से नहीं फूलता और अशुभ को पाकर द्वेष नहीं करता। ८—इन्द्रियों के विषयों से मन को हटाकर अन्तर्मुखी हो जाता है। ९—मन और इन्द्रियों को अपने वश में रखकर भगवान् के ऊपर भरोसा रखता है। १०—मन और इन्द्रियों का नियंत्रण करके राग-द्वेष से रहित होकर इन्द्रियों से विषयों का धर्मानुसार आसक्ति रहित सेवन करता है। ११—नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमानन्द में निरन्तर जागृत रहता है और क्षणभंगुर सांसारिक सुखों की ओर ध्यान नहीं देता आत्म स्वरूप में स्थित होकर उदासीन रहता है। १२—सांसारिक भोगों से विचलित न होकर समुद्र की तरह अचल रहता है। १३—और कामनाओं, ममता अहंकार और स्पृहा का त्याग कर देता है।

दुखों के आने पर जिसका उद्वेगरहित मन है, सुखो की प्राप्ति के लिए जिसकी स्पृहा दूर हो गयी है और राग, भय, क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिर बुद्धि वाला कहलाता है। (२।५६) जो मनुष्य सर्वत्र स्नेहरहित हो गया है, जो शुभ और अशुभ वस्तुओं के प्राप्त होने पर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है। (२।५७) उस पुरुष को इस ससार मे न कोई काम करने से प्रयोजन है न न करने से, और न उसका किसी प्राणी स स्वार्थ का कोई सम्बन्ध है। सासारिक आश्रयो से रहित, सदा आत्म-तृप्त वह कर्मों के फल और कर्तव्यो के अभिमान को छोडकर कर्तव्यो को भली भाँति करता हुआ भी कुछ नही करता। (४।२०) अपने आप जो कुछ प्राप्त है उसी में सन्तुष्ट रहने वाला और हर्ष-शोकादि द्वन्द्वो से ऊपर उठा हुआ, ईर्ष्या-रहित, सिद्धि और असिद्धि में समभाव वाला पुरुष कर्मों को करता हुआ भी बन्धन में नही पडता। (४।२२) ज्ञानी लोग, विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल सब को समभाव से देखते हैं। (५।१८) सब भूतो में द्वेष भाव से रहित, सबका स्वार्थरहित मित्र, हेतुरहित, दयालु और ममतारहित, दु:ख-सुख की प्राप्ति में समान और क्षमाशील (१३।१३), जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नही होता, और जो स्वय भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नही होता, हर्ष और अमर्ष (दूसरे की उन्नति को देखने पर सताप), भय और उद्वेगादि से जो रहित है वह भक्त मुझे प्रिय है। (१२।१५) निन्दा और स्तुति को समान समझने वाला, मननशील, किसी भी प्रकार से शरीर के निर्वाह होने में सतुष्ट और किसी स्थान विशेष से ममता-रहित, ऐसा स्थिर बुद्धि वाला भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है। (१२।१९) कार्य करना है, ऐसा सोचते हुए जब आसक्ति और फल की आशा से रहित होकर कर्म किया जाता है तो वही सात्विक त्याग कहलाता है। (१८।९) निरन्तर आत्मभाव में स्थित, दु:ख-सुख को समान समझने वाला, मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण में समान भाव वाला, धैर्यवान्, जो प्रिय और अप्रिय को समान समझता हो, (१४।२४) अपनी निन्दा और स्तुति में भी समान भाव वाला हो, मान और अपमान में समान हो, मित्र और शत्रु के पक्षो में समान तथा सब कार्मों में कर्तापन के अभिमान से रहित ऐसा पुरुष गुणातीत कहलाता है। (१४।२५)

दैवी और आसुरी प्रकृति

ससार के सभी मनुष्यों का लक्ष्य ब्राह्मी स्थिति नही होना। कुछ लोग, बल्कि अधिकाश लोग तो ससार में भोग-विलास, धन और शक्ति के ही उपासक होते हैं और इनको प्राप्त करने में अनेक पाप भी करते रहते हैं। वे समझते हैं कि यही जीवन है और ये ही विषय जीवन के सर्वस्व हैं। इसलिए गीता में मनुष्यो के दो मुख्य विभाग

किये गए हैं। १—दैवी प्रकृति वाले और २—आसुरी प्रकृति वाले। दैवी प्रकृति वाले पुरुषों में वे गुण होते हैं जिनसे संसार में शान्ति और लोकहित होता है और आसुरी प्रकृति वाले वे मनुष्य होते हैं जो लड़ाई-झगड़े में रहते हैं और जिनके कार्यों से अशान्ति फैलती है। इन दो प्रकार के मनुष्यों के धर्मों का वर्णन गीता के १६वें अध्याय में इस प्रकार है—

हे अर्जुन! दैवी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरुषों के ये लक्षण हैं— निर्भीकता मन की स्वच्छता ज्ञानयोग में निरन्तर स्थिति दान इन्द्रियों का दमन यज्ञमय कर्म स्वाध्याय शारीरिक कष्ट का सहन सरलता अहिंसा सत्य अक्रोध त्याग शान्ति किसी की निन्दा न करना सब प्राणियों पर दया लोभहीनता कोमलता लज्जा अचपलता तेज क्षमा, धैर्य शुद्धि अद्रोह अभिमान का अभाव। (१६।१ ३)

ये वे ही गुण हैं जिनको दूसरे ग्रन्थों में सामान्य धर्म के लक्षणों के नाम से पुकारा गया है। अब इनके विरुद्ध अधर्म के लक्षणों को जिनको आसुरी सम्पदा के नाम से पुकारा गया है देखिए—

हे अर्जुन! पाखण्ड घमण्ड अभिमान क्रोध कटु वचन अज्ञान ये सब आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए मनुष्यों के लक्षण हैं। (१६।४) ऐसे मनुष्यों का किस प्रकार का आचार-व्यवहार होता है, इसका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—

आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य कर्तव्य कार्य में प्रवृत्त होना और अकर्तव्य कार्य से निवृत्त होने को नहीं जानते। उनमें न तो शुद्धि होती है और न श्रेष्ठ आचरण और न ही सत्य भाषण। वे कहते हैं कि यह जगत आश्रयरहित सर्वथा झूठा बिना ईश्वर के बिना किसी परस्पर सम्बन्ध के उत्पन्न हुआ है इसलिए केवल भोगों को भोगने के अतिरिक्त और है ही क्या? इस दृष्टि का अवलम्बन करके जिनकी आत्म-भावना नष्ट हो गयी है ऐसे मन्द बुद्धि वाले सबका अपकार करने वाले क्रूरकर्मी मनुष्य जगत् का नाश करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं दम्भ मान और मद से युक्त हुए किसी प्रकार भी न पूर्ण होने वाली कामनाओं का आसरा लेकर और अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके वे भ्रष्ट आचरण करते हैं। जो मरण-पर्यन्त रहने वाली अनन्त चिन्ताओं का आसरा लेकर, विषय-भोगों को भोगने में तत्पर रहते हैं और बस इतना ही आनन्द है ऐसा विश्वास करते हैं वे आशा रूपी सैकड़ों फाँसियों में बँधे हुए, काम-क्रोधपरायण विषय भोगों की पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक धनादि बहुत से पदार्थों के संग्रह की चेष्टा करते हैं। मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अपने इस मनोरथ को पूर्ण करूँगा मेरे पास इतना धन हो गया है कल तक इतना हो जायेगा यह शत्रु मेरे द्वारा नष्ट कर दिया गया है और दूसरे शत्रुओं को भी मारूँगा मैं शक्तिशाली हूँ और ऐश्वर्य भोगने वाला हूँ मैं सब प्रकार सामर्थ्यवान हूँ बलवान और सुखी हूँ

मै बडा धनवान् हूँ, बडे कुटुम्ब वाला हूँ, मेरे समान और कौन है ! मै यश प्राप्त करूँगा, दान दूंगा, और मौज करूँगा, ऐसे अज्ञान से मोहित, अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले अज्ञानी लोग, मोह रूपी जाल में फँसे हुए, विषय-भोगो में आसक्त, महान अपवित्र नरक में गिरते हैं। वे अपने आपको ही श्रेष्ठ मानने वाले, घमण्डी पुरुष धन और मान के मद से युक्त, शास्त्र-विधि से रहित, केवल नाम मात्र के यज्ञो द्वारा पाखण्ड से यजन करते हैं। अहकार, वल, घमण्ड, कामना और क्रोध आदि के वश होकर, दूसरो की निन्दा करने वाले पुरुष अपने और दूसरों के भीतर मौजूद मुझ (अन्तर्यामी) ईश्वर से द्वेष करते है, उन द्वेष करने वाले, पापाचारी, क्रूरकर्मी, नराधमो को मै ससार में बारम्बार आसुरी योनियों में ही भेजता हूँ। हे अर्जुन! वे मूख प्रत्येक जन्म में आसुरी योनियों में जाकर मुझे न पाकर उससे भी अति नीच गति को प्राप्त होते हैं, अर्थात् नरक में पडते हैं। (१६।७-२०)

सक्षेप में कृष्ण ने अर्जुन को यह बताया है कि काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरक को ले जाते हैं। उनके द्वारा ही आसुरी प्रकृति वाले नरको में प्रवेश करते हैं।

काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं, और आत्मा का नाश करने वाले अर्थात् अधोगति को ले जाने वाले हैं। इन तीनों को त्यागना चाहिए। हे अर्जुन! इन तीनों नरक के द्वारो से मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याण के मार्ग पर चलता हुआ उच्चतम गति को प्राप्त होता है (१६।२१-२२)

कर्तव्य और अकर्तव्य में शास्त्र ही प्रमाण

कर्तव्य, अकर्तव्य और कर्तव्य की उचित विधि का ज्ञान, शास्त्र से प्राप्त करना चाहिए। काम, क्रोध और लोभ के वश में होकर मनमाना और विधिहीन कर्म नही करना चाहिए। क्योकि काम, क्रोध और लोभ के वशीभूत व्यक्ति की बुद्धि अपने कर्तव्य का निश्चय नही कर सकती। जिन महापुरुषों ने निमल बुद्धि द्वारा और जगत् के कल्याण के लिए शास्त्रो का निर्माण किया है, वे ही हमको हमारे कर्तव्यो का और उनको करने की उचित विधि का उपदेश दे सकते हैं।

जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्याग कर अपनी इच्छानुसार काम करता है वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है और न परम गति को और न सुख को। अतएव तेरे लिए कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण होना चाहिए। शास्त्र के विधान को जानकर उसके अनुसार काम करना चाहिए। (१६।२३-२४)

अध्याय १२

योगवासिष्ठ की नीति

योगवासिष्ठ महारामायण संस्कृत साहित्य में एक अद्भुत ग्रन्थ है। इसमें ऊँचे से ऊँचे आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्तों का बहुत सुबोध रीति से उपाख्यानों द्वारा, सुन्दर और सरस काव्यमयी भाषा में बहुत रोचक वर्णन है। इसके सम्बन्ध में यह धारणा प्रचलित है कि इसको सबसे प्रथम रामायण के लेखक वाल्मीकि ने ही लिखा था। इसमें वे नैतिक तथा धार्मिक उपदेश हैं जो रामचन्द्र जी को जो रामायण के प्रधान पात्र हैं उनके गुरुवर श्री वसिष्ठ ऋषि ने दिये थे और जिनको पाकर तथा जिन पर चलकर वे मर्यादापुरुषोत्तम राम बन गये। वर्तमान योगवासिष्ठ (जो निर्णय सागर प्रेस से मुद्रित हुआ है वह) तो इतना प्राचीन नहीं जान पड़ता है कि उसको आदि कवि वाल्मीकि की रचना कहा जा सके। लेखक ने इसके सम्बन्ध में विशेष गवेषणा की है और अपने विचारों को 'योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त' नामक पुस्तक में प्रकट किया है। लेखक के मत के अनुसार यह ग्रन्थ छठीं शताब्दी की रचना मालूम पड़ता है। पर चूँकि इसका विषय रामचन्द्र जी को वसिष्ठ द्वारा दी हुई आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा है, अतः हम इसके नैतिक सिद्धान्तों का उल्लेख इतिहासों के साथ ही करना उचित समझते हैं।

इस ग्रन्थ में लिखा हुआ है कि कैशोरावस्था को पार करके रामचन्द्र जी जब किशोरावस्था में प्रवेश कर रहे थे तो उनके मन में जगत् और जीवन के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ और शंकाएँ उठीं तथा उन पर बहुत विचार करने पर भी वे अपने आप उनकी निवृत्ति न कर सके। अतएव वे बहुत खिन्न और दुःखी हो गये उनका मन किसी काम में और किसी भोग-विलास में नहीं लगा। खाने-पीने सोने और नित्य क्रियाओं के करने में भी उनका मन नहीं लगता था। उनके हृदय में संसार और जीवन के प्रति पूर्ण वैराग्य हो गया था जिसका वर्णन योगवासिष्ठ के प्रथम प्रकरण (वैराग्य प्रकरण) में बहुत सुन्दर और विस्तृत रूप में किया गया है। संक्षेप में उसको हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

हे ब्रह्मन् ! जो कुछ यह स्थावर-जगम (जड-चेतन) जगत् दीख पडता है वह सब स्वप्न के समागम के समान अस्थिर है। बाल्यावस्था अनित्य है, युवावस्था अनित्य है। ससार के सारे पदार्थ निरन्तर तरग के समान पूर्व भावो का त्याग कर दूसरे भावो को ग्रहण करते रहते हैं। हवा मे रखे हुए दीपक की शिखा के समान चचल (क्षणभगुर) इस ससार में जीवन है और तीनों लोको के पदार्थो की शोभा बिजली की चमक के समान क्षणिक है। बाल्यावस्था थोडे ही दिनो में बीत जाती है, यौवन की शोभा भी थोडे दिनों तक रहती है। फिर थोडे दिनो के लिए बुढापा आता है। जब अपने ही शरीर में एक-रूपता नही तो बाह्य पदार्थों का क्या विश्वास ? जैसे नट क्षण-क्षण में वेश बदलकर अपनी लीलाएँ दिखाता है वैसे ही यह मन भी क्षण में आनन्दित होता है और क्षण मे शोकयुक्त होता है और क्षण में ही शान्त हो जाता है। आयु अत्यन्त चपल है। मृत्यु क्रूर है। युवावस्था अत्यन्त ही चचल है और बाल्यावस्था तो अज्ञान में ही नष्ट हो जाती है। अपनी इन्द्रियाँ ही अपने शत्रु हैं। सत्य भी असत्य के रूप में प्रकट हो रहा है। आत्मा ही आत्मा का द्योतक है और मन ही मन की शत्रुता करता है। सारे भाव (भूत) आने और जाने वाले हैं, उत्पत्ति और नाशशील हैं। विषयो की भावना (ध्यान) ही सबको ससार से बांधती है। न जाने ये सब प्राणी कहाँ से आये हैं और कहाँ चले जा रहे हैं ? सब मनुष्य मोह के वश में होकर, दु खदायी आशा की रस्सियो से बँधे हुए और दोष रूपी झाडो में अटके हुए मृगों के समान जीवन रूपी जगल में फँसकर नष्ट हो रहे हैं। लक्ष्मी से क्या होता है ? राज्य-प्राप्ति से क्या होगा ? शरीर से क्या लाभ और मनोरथो मे क्या, क्योकि थोडे ही दिनो में काल इन सबको नष्ट कर देता है। जितने भी वर्तमान पदार्थ हैं उनके सिर पर नाश अवश्य ही स्थित है। सब रमणीय पदार्थों के सिर पर अरम्यता और सुखो के ऊपर दु ख स्थित है। तब फिर किस वस्तु की शरण लूं ? हे भग-वन् ! लक्ष्मी की वृद्धि सुख के लिए नही है, केवल दु ख के लिए ही होती है। उसकी रक्षा भी नाश का कारण है, जैसे सुरक्षित विष-लता मृत्यु का कारण होती है। जिस प्रकार सिंह पिंजरे के भीतर कभी स्थिर नही रहता, इधर-उधर डोलता ही रहता है, उसी प्रकार मन अपनी चचल वृत्ति के कारण और चिन्ताओं के समूह से लदा हुआ कभी भी स्थिर नही होता। बूढा होने पर मनुष्य के केश, दाँत (आदि सभी चीजें) जीर्ण हो जाते हैं, पर तृष्णा एक ऐसी चीज है, जो शीर्ण नही होती। पके फल के गिरने के समान मरण अनिवार्य है। आयु प्रतिक्षण इस प्रकार चलती जा रही है जैसे कि हथेली पर से पानी। यौवन पहाडी नदी-नालो की तरह तेजी से भागा जा रहा है। जीर्ण स्थिति वाला यह जीवन इन्द्रजाल के दृश्य के समान असत्य है। सुख इतनी जल्दी भाग जाता है जितनी जल्दी धनुष से छूटे हुए बाण। दुःखों को सुख समझकर चित्त उनकी ओर इस प्रकार दौडता

है जिस प्रकार गिद्ध मांस की ओर। बरसाती बुलबुलों की भाँति यह जीवन क्षणभंगुर है, और विचार करने पर सारा व्यवहार केले के खम्भ की तरह असार जान पड़ता है। धन और दारा आदि सुरम्य वस्तुओं की वृद्धि होने से भी हर्ष का क्या अवसर है? मृगतृष्णा की नदी में बाढ़ आ जाने पर भी क्या प्यासे मनुष्यों को कुछ आनन्द हो सकता है? स्त्रियों का सौन्दर्य विचाररहित कल्पना में ही है और मेरी समझ में तो उतना भी नहीं है। उसका एकमात्र कारण पुरुषों का मोह (अज्ञान) है। वास्तव में कौन सी ऐसी दृष्टि (दर्शन) है जिसमें दोष न हो? कौन सी ऐसी दिशा है जिसमें दुःख का दाह न हो? कौन ऐसी उत्पन्न होने वाली वस्तु है जो नष्ट होने वाली न हो? और कौन सी ऐसी क्रिया है जो कपट से रहित हो? (यो वा वै प्र)

संसार और जीवन की इस असारता का अनुभव करने पर रामचन्द्र जी के मन में तीव्र वेदना का अनुभव हुआ जिसको उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया—

"हे मुनि! आरे के दाँतों से चीरा जाना मैं सहन कर सकता हूँ पर संसार के व्यवहार से उत्पन्न आशा और विषयों द्वारा प्राप्त वेदनाओं को मैं सहन नहीं कर सकता।" (१।२७।११)

इस तीव्र वेदना और वैराग्य की अवस्था में राम ने वसिष्ठ जी से ये प्रश्न पूछे—

"इसलिए हे साधु आयासरहित उपाधिरहित भ्रमरहित वह कौन सी उत्तम स्थिति है जिसमें शोक न हो? (१।३ ।११) उचित पथ क्या है? प्राप्त करने योग्य उचित फल क्या है? इस असमञ्जसमय संसार में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। (१।३ ।२) कौन से पवित्र मन्त्र से यह संसार रूपी विसूचिका जो अनेक कष्ट दे रही है, शान्त हो सकती है? (१।३ ।२५) आनन्द रूपी वृक्ष की मञ्जरी के सदृश और पूर्ण चन्द्रमा के समान भरपूर आन्तरिक शान्ति को मैं कैसे प्राप्त कर सकता हूँ? (१।१ ।२५) कौन सा ऐसा उपाय है? कौन सा ऐसा मार्ग है? कौन सा ऐसा विचार है? कौन सा ऐसा आसरा है? जिसके द्वारा यह जीवन रूपी चपल दुःखदायी न हो। (१।३५।६) संसार के प्रवाह में पड़कर व्यवहार करता हुआ भी मानव कमल के पत्ते के ऊपर पड़े हुए जल के समान कैसे बन्धन को प्राप्त न हो? (१।१) (वह साधन बतलाइये) यह बड़ा संसार जहाँ पर कि निरन्तर दुःख ही दुःख है सर्वथा नीरस होने पर भी किस प्रकार मूर्खता का आश्रय लिये बिना सुस्वादु बनाया जा सकता है? (अर्थात् ज्ञानी होता हुआ भी किस प्रकार मनुष्य इस संसार में स्वाद ले सकता है?) (१।३५।८) इस संसार रूपी वन के रास्तों पर उस पुरुष की भाँति कैसे व्यवहार करे, जिसने कि संसार की गति को भली भाँति जान लिया है और जिसने इस लोक और परलोक दोनों के भोगों की वासनाओं का नाश कर दिया है? (१।३१।११) संसार रूपी समुद्र में रहने वाले

जन्तु को किस प्रकार राग-द्वेषादि महारोग, भोगों के समूह और समृद्धि दुःख न पहुँचायें? (१।३१।१७) मुझे वह उत्तम युक्ति बतलाओ जिससे संसार में मुझे दुःख न हो चाहे वह युक्ति संसार में व्यवहार करते हुए बने या संसार का व्यवहार त्याग कर बने।" (१।३१)

ये सब बातें सुनकर ऋषि वसिष्ठ ने रामचन्द्र जी को वह महान् आध्यात्मिक उपदेश दिया जिसका विशद वर्णन योगवासिष्ठ महारामायण में पाया जाता है। उस उपदेश में से हम उन बातों का यहाँ निर्देश करते हैं जिनका सम्बन्ध हमारे प्रस्तुत विषय से है और जो मनुष्य-जीवन और उसके कर्तव्य पर विशेष प्रकाश डालती है।

हे राम! जो मनुष्य संसार के विषयों में लिप्त है उसको ही संसार में दुःख होता है।

संसार का रोग बहुत ही दुःखदायी है। यह साप की भाँति डँसता है, तलवार की भाँति काटता है, भालों की तरह चीरता है, रस्सी की भाँति लपेटता है। आग की तरह जलाता है, रात्रि की तरह अन्धकार करता है, जो इसमें शक्तिरहित होकर पड़ जाते हैं उनको पत्थर की भाँति दबा देता है, बुद्धि को हर लेता है, स्थिरता को नष्ट कर देता है, मोह के अँधेरे कुएँ में डाल देता है, तृष्णा से मनुष्य को जर्जर कर देता है। ऐसा कोई भी दुःख नहीं है जो संसारी (संसार में लिप्त रहने वाला) न सहन करता हो। संसार के सब सुख-दुःख अज्ञानियों को ही होते हैं और अज्ञानियों के द्वारा ही संसार और इसका व्यवहार चल रहा है। (७।१२।४)

यह संसार रूपी प्रवाह अज्ञानियों की मूर्खता से चल रहा है, अज्ञानियों को ही इसमें घोर दुःख होते हैं। (६।६।२३)

ज्ञान से सब दुःखों की निवृत्ति हो जाती है

संसार रूपी विषवृक्ष जो कि सब आपत्तियों को देने वाला है, अज्ञानी को ही दुःख देता है, इसलिए अज्ञान को यत्न द्वारा सदा नष्ट करना चाहिए।

जिस प्रकार वर्षा से भीगते हुए वन को अग्नि की ज्वालाएँ नहीं जला सकती, उसी प्रकार मानसिक दुःख भी ज्ञानी को जिसने जो कुछ जानने योग्य है जान लिया है और युक्त दृष्टि प्राप्त कर ली है, वेदना नहीं दे सकते। (२।११।४१) ज्ञान-युक्तिरूपी नौका द्वारा बुद्धिमान् लोग दुष्कर संसार-समुद्र से निमिष मात्र में ही पार हो जाते हैं। (२।११।३६) संसार से पार होने का एकमात्र उपाय ज्ञान है, तप, दान, तीर्थ आदि उपाय नहीं हैं। (२।१०।२२) संसार-समुद्र से पार होने का उपाय न वन में बसना है, और न किसी विशेष देश में बसना है, न शरीर को कष्ट देने वाले तप और क्रियाएँ, न क्रियाओं का त्याग करना, न किन्हीं क्रियाओं का अनुष्ठान करना, न किसी विशेष और

विविध प्रकार का आचार-व्यवहार (५।१९९।१०-३१) करता है। इस विषय में देव विशेष प्रकार के कर्म धन बान्धव (५।१३।८) तप दान व्रत आदि कुछ भी काम नहीं देते। (३।६४) अतः हे महाबाहो (राम)! मैं कहता हूँ कि संसार के बन्धन में पड़े हुए मन के लिए संसार से पार होने के लिए ज्ञान के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। (५।६७।२)

आत्म ज्ञान से ही परम शान्ति और आनन्द का अनुभव होता है

वह ज्ञान जिसके द्वारा परम शान्ति और परम आनन्द का अनुभव होता है आत्मा और परमात्मा का ज्ञान है। यह जब तक प्राप्त नहीं होता तब तक मनुष्य आनन्द प्राप्ति के लिए विषयों का आश्रय लेता है और इस विषय तथा उस विषय में आनन्द की खोज करता रहता है। पर जब अपने असली स्वरूप को पहचान लेता है तब परम शान्ति और परम आनन्द का अनुभव करता है।

आत्म ज्ञान की प्राप्ति के बिना किसी को भी शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। (५।७७।२४) सब दुःखों का नाश आत्मानुभव से ही होता है। (५।७५।४६) यदि पर मात्मा का ज्ञान हो जावे तो सब दुःखों का प्रवाह इस प्रकार नष्ट हो जायगा जिस प्रकार विष का प्रभाव समाप्त होते ही विषूचिका रोग समाप्त हो जाता है। (३।७।१७)

आनन्द की खोज और प्राप्ति का उपाय

सभी प्राणी आनन्द की प्राप्ति करना चाहते हैं और उसके लिए प्रयत्न भी करते हैं, पर आनन्द बाह्य वस्तुओं की प्राप्ति से नहीं मिलता बल्कि बाह्य विषयों की ओर से मन को हटाकर आत्मा में लगाने पर मिलता है। विषयों की इच्छा तो दुःख का कारण है। इच्छा के शान्त होने पर ही परमानन्द का अनुभव होता है।

सब प्राणी आनन्द के लिए ही प्रयत्न करते हैं। (५।१ ८२) पर वह आनन्द जिसके लिए मन प्रयत्नशील है विषयों के पीछे दौड़ने से नहीं मिलता बल्कि विषयों की इच्छा के शान्त होने पर उसका अनुभव होता है।

विषयों का भोग कभी भी सुख देने वाला नहीं है। वह तो दूर से देखने मात्र में अच्छा लगता है और क्षण भर में क्षीण हो जाता है। (५।२२।१) संसार के सभी भोग आरम्भ में और दूर से अच्छे दिखाई पड़ते हैं लेकिन वे सब क्षणिक हैं, संसार में फँसानेवाले हैं, भय का उत्पादन करने वाले हैं, और अन्त काल में दुःख में परिवर्तित हो जाने वाले हैं। (५।२६।८)

सुख-दुःख के अनुभव का आधार इच्छा है। इच्छा की शान्ति का नाम सुख है और इच्छा की उत्पत्ति का नाम दुःख है। जिस विषय की इच्छा होती है उस विषय की प्राप्ति से वह शान्त हो जाती है तभी मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है। पर वह

आनन्द विषय मे नही आता अपने ही आत्मा का क्षणिक अनुभव होने पर आता है। अतएव विषय और उनकी इच्छा सुख देने वाली नही, बल्कि विषयो की इच्छा की शान्ति सुख देने वाली है। क्योंकि उस अवस्था में परम आनन्द स्वरूप आत्मा का अनुभव होता है। यदि यह अनुभव स्थायी हो जाय तो मनुष्य सदा आनन्द में मग्न रहने लगता है।

किसे इस बात का अनुभव नही है कि इच्छित वस्तु की प्राप्ति के क्षण में जो खुशी किसी आदमी को होती है, वह खुशी उस वस्तु की प्राप्ति के बाद नही होती। जब किसी वस्तु की कोई इच्छा करता है तभी वह वस्तु उसको सुख देने वाली जान पडती है, और जैसी सुखदायी इच्छा रहते हुए वह जान पडती है वैसी दूसरे समय (जब कि उसकी इच्छा न हो) नही जान पडती। अतएव हमारी इच्छा ही वस्तुओं में सुख का आभास उत्पन्न करती है। (६।१।४४।२) वासना के रहते हुए भी जब किसी वस्तु का उपभोग किया जाता है तभी वह सुखदायी जान पडती है और जो वस्तु सुखदायी जान पडती है उसके नष्ट होने पर हमको दु ख होता है। (६।१।१२०।१८) विना वासना के अथवा अल्प वासना से जिस वस्तु का सेवन किया जाता है (६।१।१२०।१७) वह न तो भोग करने से सुख देती है और न उसका नाश होने से हमको दु ख ही होता है। ६।१।१२०।२०) अनुभूति के क्षणिक होने के कारण सुख दु ख मे परिणत हो जाता है। (६।१।६८।३१) जो किसी खास वाह्य कारण से उत्पन्न नही होता, जो अनादि और अनन्त है, वही आत्मा का सुख है। वही वास्तविक सुख है। (६।१।६८।३१) इच्छा के उदय होने पर जो दु ख होता है वह दु:ख नरक में भी नही हो सकता। इच्छा के शान्त होने पर जो सुख मिलता है वह सुख ब्रह्मलोक में भी नही मिल सकता। (६।१।३६।२४) जैसे मरुभूमि में कही बर्फ का घर नहीं होता वैसे ही जो अकृत्रिम सुख या इच्छा के वासना चित्त में उदय न होने से होता है वह स्वर्ग जैसे स्थानो में नही प्राप्त हो सकता। (६।१।४४।२६) चित्त के शान्त हो जाने पर जिस सुख का अनुभव होता है वह सुख (आनन्द) इतना महान् है कि वचनो द्वारा प्रकट नही किया जा सकता। उसमें कमी और वृद्धि नही होती और न वह उत्पन्न होता है और न नष्ट। (६२।४४।२७) जब हृदय में से सब इच्छाएँ निकाल दी जाती हैं तब मनुष्य को बहुत आनन्द होता है और उसके मुख की शोभा चन्द्रमा का शोभा की तरह हो जाती है। (५।७४।२४) परम सुन्दर और इच्छित स्त्री आलिंगन करने पर, उतना आनन्द नही दे सकती, जितना आनन्द अपने भीतर मे आशाओ (इच्छाओ) के निकाल देने पर होता है। (५।७४।४०) इच्छारहित होना राज्य से, स्वर्ग से, चन्द्रमा मे, भगवान् से, प्रेमिका की प्राप्ति मे भी अधिक सुखदायी है। (५।७४।४४) 'यह वस्तु मुझे मिले, यह वस्तु मुझसे दूर है, जिस मनुष्य के हृदय में इस प्रकार की भावना नही रही, भला उस अपने स्वामी की तुलना किससे की जा सकती है। अर्थात् उसके समान सुखी कोई भी

नहीं है। (५।७४।५) जैसे जिस आदमी ने स्वर्ग का सुख देख लिया हो उसका मन पृथ्वी पर नहीं लगता वैसे ही जिसने कुछ समय के लिए अथवा दीर्घ काल के लिए आत्मा में स्थिति प्राप्त कर ली हो उसका मन भोगों में नहीं लगता। (।५४।६९) उस महा आनन्द की पदवी प्राप्त करके प्राणी दृश्य जगत् को कुछ भी नहीं समझता (उसकी कदर नहीं करता) जैसे राजा लोग दीन अवस्था की चाह नहीं करते। (५।५४।७२) अतएव आत्मानुभव ही हमारा परम नित्य और स्वास्थ्यमय धाम है। उसमें विश्राम पाकर फिर हमको भ्रम में नहीं पड़ना पड़ता। (५।५४।७)

आत्मा का स्वरूप

मैं क्या हूँ ? आत्मा का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देना ही सब शास्त्रों विज्ञानों और दर्शनों का ध्येय है।

आत्मा को कोई देह समझता है कोई मन और कोई दोनों से परे और इनसे अलग कोई सूक्ष्म तत्त्व समझता है। कोई आत्मा को परब्रह्म ही समझते हैं। आत्मा के स्वरूप के निर्णय का सर्वोत्तम तरीका अपने पूर्ण अनुभव का विश्लेषण करना है। हमें चार अवस्थाओं का अनुभव होता है इसलिए हमारा अपना अस्तित्व वह है जो चारों अवस्थाओं में वर्तमान रह सके क्योंकि इन अवस्थाओं का अनुभव हमको ही तो होता है। वे चार अवस्थाएं ये हैं—जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय । इनका और इनके अन्तर्गत और इनमें व्याप्त आत्मा के स्वरूप का वर्णन योगवासिष्ठ में इस प्रकार किया गया है—

जाग्रत्

ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाहर की ओर प्रवृत्त होकर जब प्राणी अपने भीतर नाना प्रकार के बाह्य जगत् का अनुभव करता है और उस अनुभव में स्थित होकर व्यवहार करता है तब की अवस्था का नाम जाग्रत् है। (४।१९।१७-१८)

स्वप्न

स्वप्न उस अवस्था का नाम है जब कि जीव बाह्य ज्ञान और कर्मेन्द्रियों के व्यवहार के बिना ही अपने अन्दर क्षुब्ध होकर उससे व्यवहार का अनुभव करता है। जीव जिस-जिस इच्छा के वशीभूत होता है उस-उस इच्छा की पूर्ति का अपने अन्दर ही अनुभव करता है। जो-जो वासना उसके भीतर उदय होती है वही-वही उसको (पूरी होती हुई) सामने दिखाई देती है। (४।१९।११ १६, ४।५८।१८)

सुषुप्ति

जब शरीर में मन वचन और कर्म से कोई भी क्रिया नहीं होती तब जीव अपने रूप में शान्तभाव से स्थित रहता है प्राणी की क्रियाओं में समता आ जाती है और हृदय में स्थित उसमें किसी प्रकार का क्षोभ नहीं होता। जिस प्रकार हवारहित स्थान में

प्रकाश देने वाला दीपक क्षोभरहित होकर स्थित रहता है उसी प्रकार उस समय जीव भी शान्त रहता है। उस समय वह ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियो की ओर नही दौडता है। इस कारण इन इन्द्रियो में चेतना का अभाव रहता है और उनकी क्रिया बाहर की ओर प्रवृत्त नही होती। उस समय चेतना जीव के भीतर ही ऐसे रहती है जैसे कि तिलो में तेल। प्राणो के सौम्य हो जाने पर, वाह्य ज्ञान के नष्ट हो जाने पर, जीवाकार वाली चित्ति सुषुप्ति की दशा मे होती है। (४।१७।२०–२४)

तुरीयअवस्था

अहभाव और अनहभाव दोनो से रहित जो असक्त, सम, और शुद्ध स्थिति है उसे चौथी अवस्था कहते हैं। जो स्वच्छ, सम और शान्त, साक्षी रूप से जीवन्मुक्त भाव में स्थिति है, वह तुरीय अवस्था कहलाती है। यह न जाग्रत है, न स्वप्न है, क्योंकि इस अवस्था में सकल्पों का अभाव रहता है और न सुषुप्ति है क्योंकि इसमें जडता का अभाव रहता है। तुरीयावस्था का अनुभव तभी होता है जब कि अहकार का त्याग, समता की प्राप्ति और चित्त की शान्ति हो जाती है। सकल्प-विकल्प से रहित चित्त की स्थिति का नाम चौथी अवस्था है। (६१।१२४।२३-२७,३६)

इन चार अवस्थाओ का अनुभव यह सिद्ध करता है कि हमारा अपना स्वरूप न शरीर है, न मन है और न वैयक्तिक जीवात्मा है जिसका सकेत हम अह (मैं) से करते हैं। अतएव योगवासिष्ठ में आत्मा के सम्वन्ध में सभी प्रचलित धारणाओ का निराकरण करके यह वतलाया गया है कि आत्मा पूर्ण ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। जो इसके अतिरिक्त आत्मा को कोई परिच्छिन्न वस्तु (शरीर, मन और जीवन) समझते हैं वे ठीक नही समझते और इस नासमझी के कारण अनेक प्रकार के दु खो को सहन करते हैं।

(आत्मा के सम्वन्ध में) एक विश्वास यह है कि मैं माता-पिता से उत्पन्न, सिर से पैर तक विस्तार वाला स्थूल शरीर हूँ। (५।१७।१४) यह विश्वास सत्य नही है, इसलिए वन्धन में डालने वाला है। (५।७३।११) अपने आपको स्थूल देह समझना दु ख का कारण और हमारा शत्रु है, इससे जहाँ तक हो सके दूर रहना चाहिए। ५।३३।५४) इस नाना प्रकार के मानसिक क्लेशो के देने वाले बलवान् शत्रु द्वारा मारा हुआ जीव कभी नही पनपता। (५।३३।५६) दूसरा निश्चय यह है कि जव तक ससार है तव तक रहने वाला और अपने सकल्प के अनुसार रूप धारण करने वाला मन जीवन का सूक्ष्म रूप है। (६१।१२४।१९) तीसरा निश्चय जो कि मोक्ष की ओर ले जाने वाला है, यह है कि मैं सव भावो से मुक्त, वाल की नोक के सौवें भाग मे भी सूक्ष्म (५।१७।१५), परम अणु और सव पदार्थो से परे और सव वस्तुओं से अलग रहने वाला (आत्मा) हूँ। (५।७३।१०) चौथा विश्वास जो कि मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है वह यह है कि मैं समस्त जगत् हूँ

अथवा यह सूक्ष्म नभ चिदाकाश हूँ जो विश्व में सर्वत्र व्याप्त है। (५।१७।१७) जो यह समझता है कि मैं दिक् काल और क्रिया वाला अनन्त और अपार, सर्वत्र फैला हुआ आकाश हूँ वह ठीक समझता है। (७।२२।२५) जो यह समझता है कि मैं चित्त नहीं हूँ वह आत्मा हूँ जिसमें जगत् की सारी वस्तुएँ इस प्रकार पिरोयी हुई हैं जैसे कि धागे के तागों में उसके मोती वही ठीक समझता है। (७।२२।३१) जो यह समझता है कि मैं सब वस्तुओं के भीतर रहने वाला सर्वशक्तिमान् अन्तरात्मा हूँ वही ठीक समझता है। (७।२२।२८) जो यह समझता है कि जैसे तरंग समुद्र का एक अंग है वैसे ही तीनों लोकों में जो कुछ भी है वह मेरा ही अंग है वही ठीक समझता है। (७।२२।३३)

योगवासिष्ठ के अनुसार आत्मा का स्वरूप और उसकी शक्तियाँ

व्यवहार (बोलचाल) के लिए विद्वानों ने उस महान् आत्मा को 'ब्रह्म' 'आत्मा' 'परब्रह्म' 'सत्य' आदि नामों से पुकारा है। ये सब कल्पित नाम हैं। (३।१।१२) वह परब्रह्म सब प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न है और उसमें सब वस्तुएँ हैं। वह सदा ही सब प्रकार से सब कुछ है सबके साथ और सबमें तथा सब जगह है। (६२।१७।८) जिससे सब प्राणी प्रकट होते हैं, जिसमें सब स्थित हैं और जिसमें सब लीन हो जाते हैं, उस सत्स्वरूप तत्त्व को नमस्कार है। (१।१।१) जिससे ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय का द्रष्टा दर्शन और दृश्य का और कर्त्ता हेतु तथा क्रिया का उदय होता है उस ज्ञानस्वरूप तत्त्व को नमस्कार है। (१।१।२) जिससे पृथ्वी और स्वर्ग में आनन्द की वर्षा होती है और जिसके ऊपर सबका जीवन निर्भर है उस ब्रह्मानन्द स्वरूप तत्त्व को नमस्कार है। (१।१।३) वह सब कुछ है, सबकी आत्मा है और सब भावों से रहित है। (६२।५२।१६) वह सब गुणों की आत्मा शून्य और सत् तथा असत् दोनों ही है। (६२।५२।२७) वह सब जगह है सब वस्तुओं से युक्त है तथापि सब भावों से मुक्त है। (६२।१७।१४) सब कुछ है सर्वात्मक है और सबसे रहित है। (६२।५२।१६) वह न सत् है और न असत्, न दोनों का मध्य वह कुछ भी नहीं है तो भी सब कुछ है। वह मन और वचन में आने वाली कोई वस्तु नहीं है वह शून्य से भी शून्य और आनन्द से भी अधिक आनन्द स्वरूप है। (३।११९।२१) न वह दिखाई देता है न वर्णन किया जा सकता है। वह न समीप है और न दूर। परमात्मा का चिद्रूप केवल अनुभव ही किया जा सकता है। (६१।४८।११)

अपने इस ब्रह्म रूप को न जानने के कारण ही हम सब प्रकार के दुःखों के भाजन हो रहे हैं। अपने को भूलकर ही हम विषयों की इच्छा करते हैं, उनसे आनन्द की आशा करते हैं और जन्म-मरण के बन्धन में पड़े हुए हैं अपने आपको बहुत परिमित समझते हैं और अनेक प्रकार के कष्ट पाते हैं।

जैसे समुद्र में (गन्दे) जलों का प्रवेश होता है, वैसे ही उस प्राणी के ऊपर अनेक आपत्तियाँ आती हैं जो 'मैं यह हूँ यह मेरा है' इस प्रकार की कल्पना करता रहता है। (५।२७।२१) मैं ब्रह्म नहीं हूँ इस प्रकार के विचार से मन दृढ बन्धन में पड जाता है। (४।११।२) आत्मा के अज्ञान से ही भ्रम उत्पन्न होता है और आत्मा के ज्ञान से सब प्रकार की सम्पत्तियाँ प्राप्त होती है। (६११।१०-४) विषयो की वासनाओ के तागो से मन अपनी मूर्खता के कारण अपने आप को इस प्रकार बन्धन में डाल लेता है जैसे कि रेशम का कीडा। (६।१०-८)

आत्मज्ञान और आत्मानुभव तथा मोक्ष के साधन

अपने ही पुरुषार्थ के द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। जिसके हृदय में जिज्ञासा न हो, जो अपने आप प्रयत्न न करता हो, उसको न गुरु आत्मज्ञान दे सकता है और न कोई देवता। ससार को छोडकर जगल में जाकर बसने की आवश्यकता ज्ञान के लिए नही। ज्ञान केवल शुद्ध मन द्वारा सत्य, असत्य, आत्मा और अनात्मा के विषय में विचार करने से उदय होता है, मन को शुद्ध करने का उपाय है शास्त्रो का स्वाध्याय, सज्जनो की सगति और सकल्पो तथा वासनाओ का त्याग। योगवासिष्ठ के शब्दो में—

जीवन में पुरुषार्थ का महत्त्व और दैवपरायण होने की निन्दा

आत्मा ही आत्मा का मित्र है, आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। यदि आप ही अपनी रक्षा नही करते तो दूसरा कोई उपाय नही है। (६।२।१६२।१८) यहाँ पर (इस ससार में) सब दु खो का क्षय करने के लिए पुरुषार्थ (प्रयत्न) के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नही है। (३।६।१४) जो किसी पदार्थ के पाने की इच्छा करता है और उसको प्राप्त करने के लिए क्रमश प्रयत्न करता है, यदि बीच में ही प्रयत्न को न छोड दे तो वह उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है। (२।४।१२) जो उद्योग को छोडकर भाग्य (तकदीर) के ऊपर भरोसा करते हैं वे अपने ही दुश्मन हैं और वे धर्म-अर्थ और काम सब नष्ट कर देते हैं। (२।७।३) दैव (तकदीर) मूर्ख लोगो की कल्पना है। (२।९।३) इस कल्पना के भरोसे रहकर ये लोग नाश को प्राप्त होते हैं। (२।८।१६) बुद्धिमान् लोग पुरुषार्थ द्वारा उन्नति करके अच्छे अच्छे पदो को प्राप्त कर लेते हैं। (२।८।१६) दैव की कल्पना कम बुद्धि वाले पुरुषो को दु ख के समय आश्वासन देने के लिए है। आश्वासन-वाक्य के सिवा दैव परमार्थ रूप से कोई वस्तु नही है। (२।८।१५।२।६।८) अपने ही पूर्वकाल में किये हुए पुरुषार्थ (कर्मो) के अतिरिक्त दैव और कोई वस्तु नहीं है। पूर्वकृत पुरुषार्थ का ही नाम दैव है। (२।६।३५) जैसा प्रयत्न किया जाता है वैसा ही फल मिलता है। इसलिए पुरुषार्थ ही सत्य है। उसी को दैव कह सकते हैं। (२।६।२) दोनों, पुरुषार्थ (प्रयत्न) अर्थात् पूर्वकृत जिसका नाम दैव है और वर्तमान कालीन प्रयत्न जिनका नाम पुरुषार्थ है, दो भेडो के समान एक दूसरे

से लड़ते हैं। जो दोनों में अधिक बलवान् होता है वही विजय पा लेता है। (२।६।१)
इसलिए परम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर, दाँत भींचकर शुभ कर्मों के द्वारा पूर्वकाल के अशुभ
कर्मों पर विजय पाओ। (२।५।९) मनुष्य को इतना पुरुषार्थ करना चाहिए कि जिसमे
उसके पूर्वकाल में किये हुए अशुभ कर्म शान्त हो जायें। (२।५।११) इसलिए शास्त्रों
के अध्ययन और सज्जनों के संग से लाभ उठाकर पुरुषार्थ का आश्रय लेकर, बुद्धि को
निर्मल करके संसारसमुद्र को पार करो। (२।६।२४) आलस्य करने से कुछ प्राप्त नहीं
होता है। यदि जीवन में आलस्य रूप अनर्थ न होता तो कौन धनी और विद्वान् न होता।
आलस्य के कारण ही यह समुद्र पर्यन्त पृथ्वी निर्धनों और मूर्खों से भरी पड़ी है। (२।५।३)

आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए सबसे बड़ा प्रयत्न (साधन) विचार है

बिना विचार किये कोई भी तत्त्व अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता। (२।१४।५२)
विचार से ही तत्त्वज्ञान होता है और तत्त्वज्ञान से ही आत्मा में शान्ति आती है। (२।१४।
५१) मैं कौन हूँ? संसार नामक यह दोष कैसे उत्पन्न हो गया? इन बातों पर न्याय-
पूर्वक सोचना विचार कहलाता है। (२।१४।५) मैं कौन हूँ? यह जगत् कैसे उत्पन्न हो
गया है? जन्म-मरण क्यों और कैसे होते हैं? इन बातों पर अपने आप ही विचार करके
तुम महान् अवस्था को प्राप्त होगे। (५।५८।१२)

जो मनुष्य स्वयं प्रयत्न और विचार नहीं करता उसको गुरु या कोई
देवता भी आत्मज्ञान नहीं दे सकता

बहुत दिनों तक आराधना करने पर भी विष्णु (आदि देवता) स्वयं विचार न
करने वाले पुरुष को ज्ञान नहीं दे सकते। (५।४३।१) पुरुष जो कुछ भी कहीं और कभी
प्राप्त करता है वह सब अपनी ही शक्ति के प्रयोग से प्राप्त करता है और किसी के द्वारा
नहीं। (५।४३।११) जो अपने मन में को वश में करके आत्मा को जान लेने से प्राप्त होता
है वह न धन से और न गुरु से और न हरि से मिल सकता है। (५।४३।२७) यदि
गुरु (आदि) किसी व्यक्ति को उसके अपने पुरुषार्थ के बिना ही उद्धार कर सकते हैं तो
वे ऊँट, हाथी और बैल का उद्धार क्यों नहीं कर देते? (५।४३।११।१५) अमित तेज वाले
विष्णु से भी जो वर प्राप्त होता दिखाई पड़ता है वह भी वास्तव में अपने अभ्यास रूपी
वृक्ष का फल है। (५।४३।१९)

फिर ईश्वर का क्या कहना? वह तो हमारे हृदय में बैठा हुआ है। उसको
छोड़कर जो बाहर ईश्वर की खोज करते हैं वे ठीक नहीं करते।

सब प्राणियों के हृदय में विष्णु भगवान् (परम आत्मा) निवास करते हैं। अपने
भीतर रहने वाले विष्णु को छोड़कर विष्णु की जो बाहर खोज करते हैं वे निम्न श्रेणी के
लोग हैं। (५।४३।२१) अपने हृदय की गुफा में वास करने वाले ईश्वर को छोड़कर,

जो व्यक्ति दूसरे ईश्वर की तलाश करता है वह अपने हाथ में आयी हुई कौस्तुभ मणि को छोडकर मामूली रत्न की इच्छा करता है। (५।८।१४) विष्णु आदि देवताओ की पूजा तो उन लोगो को शुभ मार्ग पर लाने के लिए बनायी गयी है जो मूर्ख अध्यात्मशास्त्र, यत्न और विचार से दूर भागते हैं। (५।५३।२०) यदि विष्णु आदि देवताओं को प्रसन्न करने का यत्न कर सकते हो तो अपने मन को शुद्ध करने का ही यत्न क्यो नही करते ? (५।४३।२५) सब देवो के देव परम परमात्मा की प्राप्ति केवल ज्ञान के ही द्वारा हो सकती है। अन्य किसी प्रकार के अनुष्ठान और कष्ट सहने से नही। (३।६।१) जिनकी बुद्धि निर्मल नही हुई है और जिनका चित्त बालक के समान चचल है, केवल उन्ही लोगो के लिए बाहरी और बनावटी देवपूजा की विधि है। (६।१।३०।५)

कर्मों का त्याग करने की आवश्यकता नही है, क्योकि यावज्जीवन कर्म त्याग असम्भव है। वाह्य कर्मों का त्याग कर देने पर वासना और आन्तरिक कर्म (प्रवृत्ति) बने रहते हैं। जब तक वासना और प्रवृत्ति है तब तक कर्म त्याग न सम्भव है और न उपयुक्त ही है। इसलिए यावज्जीवन, शुभ कर्म, उनसे अपने लिए फल की इच्छा न रखते हुए, उनको केवल अपना कर्त्तव्य समझ कर करते रहना ही श्रेयस्कर है।

हे राम ! कर्म पुरुष है और पुरुष कर्म है। जैसे बर्फ और शीतलता अभिन्न हैं, वैसे ही पुरुष और कर्म अभिन्न हैं। (६।२।२८।८) अतएव हे राघव ! वेदनात्मक सूक्ष्म कर्म के, जब तक शरीर है तब तक त्याग और ग्रहण का प्रश्न निरर्थक है अर्थात् जब तक शरीर है कर्म करना ही है। (६।२।२।३१) नरक में हो अथवा स्वर्ग में, कर्म करते हुए जिसकी वासना जैसी होती है वैसा ही उनका मन अनुभव करता है। (४।३८।४) इसलिए जिसने तत्व को नही जाना वह तो कर्म करे या न करे कर्म का कर्ता ही है और ज्ञानी जिसमें वासना नही रह गयी (शारीरिक) है कर्म करने या न करने दोनो पर ही अकर्ता है। (४।३८।५) इसलिए हे राम ! जब तक जीवन है शरीर तो अवश्य ही क्रियाएँ करता रहेगा। इसलिए यथाप्राप्त अवसर के अनुसार बिना व्यग्र हुए काम करते ही रहना चाहिए। (६२।१९९।५) हे राजन् ! जब तक शरीर है तब तक मुक्त पुरुषों को भी स्वाभाविक कर्मों का त्याग उचित नही है। (५।६।१६)

इन कारणों से योगवासिष्ठ बाहरी देवताओ की उपासना और कर्म-सन्यास को आत्मज्ञान के साधनों में नही गिनता। योगवासिष्ठ के अनुसार आत्मज्ञान का साधन है शुद्ध मन और बुद्धि तथा आत्मा का ध्यान जिनके द्वारा और जिनके आधार पर हम ठीक ठीक विचार कर सकें।

हमारा मन शुद्ध होना चाहिए क्योंकि निर्मल मन में आत्मा का प्रकाश होता है। चित्त की शुद्धि स्वाध्याय, सत्सग, सन्तोष और वैराग्य से होती है और जब हमारा मन

शुद्ध हो जाता है, हम भली-भाँति विचार कर सकते हैं।

विचार करते समय हमको यह ध्यान रखना चाहिए कि हम युक्ति-युक्त विचार कर रहे हैं। जो विचार युक्ति हीन है वह कभी हमको नहीं ग्रहण करना चाहिए। विचार करते समय हमको शास्त्रों के उन सिद्धान्तों को ही मानना चाहिए जो युक्तिसंगत हैं और जिनकी बातें हमारे अनुभव में आ सकती हैं।

हे राम ! सबसे पहले शास्त्र के श्रवण से, सज्जनों के सत्संग से और परम वैराग्य से मन को पवित्र करो। (५।५।१८) स्वाध्याय सत्संग और सत्कर्मों के करने से जिनके पाप दूर हो गये हैं, उनकी बुद्धि दीपक के समान चमकने वाली होकर, सार वस्तुओं को पहचानने के योग्य हो जाती है। (५।५।५) सज्जनों का संग इस लोक में सन्मार्ग को दिखाने वाला और हृदय के अन्धकार को दूर करने वाला ज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश है। (२।१६।७) जिस प्रकार मैले शीशे में मुख का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता उसी प्रकार वासनाओं के वशीभूत सन्तोषरहित चित्त में ज्ञान का प्रकाश नहीं होता। (२।१५।७) समतायुक्त सज्जन के भीतर जो कि सब जीवों के प्रति मित्रता का भाव रखता है परमात्मा स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है। (२।१३।६) जब भोगों की वासनाएँ त्याग देने पर, इन्द्रियों की कुटिलता के दब जाने पर मन शान्त हो जाता है तभी गुरु की शुद्ध वाणी मन में प्रवेश करती है जैसे केसर के जल के छींटे धोये हुए श्वेत रेशम पर ही लगते हैं। (६।१।१२ ।११०–११) जब मन में से वासनारूपी मल दूर हो गया हो तभी जलकरण में तीर के समान गुरु के वाक्य हृदय में प्रवेश करते हैं। (६।१।१ ।१।१४) युक्तियुक्त वचन तो बालक से भी मान लेने चाहिए पर युक्तिहीन वचन ब्रह्मा का भी तृण के समान हेय है। (२।१८।३) जो शास्त्र युक्तियुक्त हैं और ज्ञान को बढ़ाने वाले हैं उनको मानना चाहिए चाहे वे साधारण मनुष्यों के लिखे हुए क्यों न हों। इसके विपरीत शास्त्रों को स्पष्ट मान कर केवल सरल बातों को त्याग करना चाहिए चाहे वे ऋषियों के ही लिखे हुए क्यों न हों। (२।१।११)

जैसे समुद्र सब जलों का अन्तिम स्थान है वैसे ही सब प्रमाणों का आधार एक प्रत्यक्ष ही हम मानते हैं, उसे सुनो। (२।१७।१६)

अनुभूति या वेदना या यथास्थिति ज्ञान का ही नाम प्रत्यक्ष है उसी को जीवित भी कहते हैं। (२।१७।१८) आत्मा का ज्ञान न अनुमान से होता है और न आप्तवचन (शास्त्र) से। पूर्णरूप और सब प्रकार से आत्मा का प्रत्यक्ष सदा अपने ही अनुभव से होता है। (५।७३।१५) न शास्त्र आत्मा का दर्शन करा सकते हैं, न गुरु। उसका दर्शन तो केवल अपने आप ही अपनी स्वस्थ बुद्धि द्वारा होता है। (६।१।११८।४)

आत्मज्ञान की केवल झलक मात्र ही नही होनी चाहिए, आत्मज्ञान का जीवन में अभ्यास हो जाना चाहिए। इस अभ्यास का नाम ही योग है। योग द्वारा शनै-शनै मन और जीव ब्रह्माकार हो जाता है और जीवन्मुक्त रूप से ससार में स्थित रहकर व्यवहार करता है। तब मानव जीवन का उच्चतम आदर्श प्राप्त कर लेता है। यही परम श्रेय है। वह इसको प्राप्त करके परम आनन्द का अनुभव करता है।

जिसके ज्ञान का उसके जीवन पर कुछ भी प्रभाव नही पडता और जो ज्ञान के अनुसार अपने जीवन को नही बनाता, उसे ज्ञानी नही बल्कि ज्ञानबन्धु कहते हैं। मैं ज्ञानबन्धु से अज्ञानी को अच्छा समझता हूँ। (६।२१।१–४)

जो जानने योग्य वस्तु को जानकर कर्म करते रहने पर भी वासना रहित होता है, वह ज्ञानी है। जिसके मन की इच्छाएँ शान्त हो गयी हैं और जिसकी शीतलता बनावटी नही है, वास्तविक है, उसे ज्ञानी कहते हैं। (६२।२२।२–३)

अभ्यास की आवश्यकता

बिना अभ्यास के कल्याणकारी ज्ञान से विश्राम नही प्राप्त होता, अभ्यास करते रहने से समय पाकर अवश्य ही शान्ति का अनुभव होगा। (६२।१५५।१३।)

ससार से पार उतरने की युक्ति का नाम योग है। (६१।१३।३) जीव की परमात्मा में उस प्रकार की स्थिति जिसका नाम तुर्या (चौथी अवस्था) है, जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओ के बीज से रहित है, जो चिति और आनन्द का अनुभव है, और परम ज्ञान है, वही योग की निष्ठा है। (६१।१२८।५०–५१)

तीन प्रकार के योगाभ्यास

योग शब्द के तीन अर्थ हैं—१–एक तत्त्व (अद्वैत) का गहरा अभ्यास, २—प्राणों का निरोध, ३—मन का निग्रह। इनमें से किसी एक का अभ्यास हो जाने पर तीनो ही सिद्ध हो जाते हैं। (६१।६९।२७,४०)

एक तत्त्व का गहरा अभ्यास

एक तत्त्व के गहरे अभ्यास से मन सहज ही शान्त हो जाता है और मन के स्वभाव में लीन हो जाने पर प्राण भी शान्त हो जाता है। (६२।१६९।४८) प्राण की शक्ति का निरोध हो जाने पर अवश्य ही, हे राम, मन विलीन हो जाता है। (५।१३।८६)

मनोनिरोध

वैराग्य, कारण का अभ्यास, वायमनाक्षय, परमार्थ का ज्ञान, इनके द्वारा प्राणो का निरोध होता है। (५।१३।८५)

यह ससार मन के सहारे पर ही चल रहा है। मन के जीत लेने पर सब कुछ जीता जाता है। (५।२५।१४) चित्त की सत्ता से जगत् की सत्ता है। जगत् की सत्ता

चित्त की सत्ता है। एक का अभाव होने पर दोनों का ही अभाव हो जाता है और वह होता है सत्य के विचार से। (४।१७।१९) वायु का चलना बन्द हो जाने पर जैसे गन्ध का चलना बन्द हो जाता है वैसे ही मन के स्पन्दन (गति) के शान्त हो जाने पर प्राणों की गति भी रुक जाती है। (६।११।४४) चित्त के त्यागे जाने और लीन हो जाने पर द्वैत और ऐक्य के विचार सब प्रकार लीन हो जाते हैं केवल एक शान्त और अविकार परम तत्त्व ही शेष रहता है। (६।१९।४४) चित्त जैसे ही तरंगों के रूप में प्रकट होता है वैसे ही वह भाव और अभाव वाली वस्तुओं के रूप में प्रकट होता है। (६।१९।४६)

सब प्रकार के उपद्रवों को पैदा करने वाले संसार रूपी दुःख से छूटने का एक ही उपाय है। वह है अपने मन का निग्रह। (४।३५।२) मन के विलीन होने मात्र से ही सब दुःखों की शान्ति हो जाती है और शान्ति से ब्रह्म का अनुभव होने लगता है। (६।१११।९७।५) अपने ही पुरुषार्थ से सिद्ध होने वाले इच्छित वस्तुओं के त्याग रूप मन के प्रसाद बिना शुभ गति प्राप्त नहीं होती। (३।१११।७२) विचार के रूप हो जाने पर ही कल्याण होता है। मन नाम वाले उस कर्म के क्षीण होने पर, जिसने कि इस भ्रम को रच रखा है प्राणी जीवन्मुक्त हो जाता है और उसका दूसरा जन्म नहीं होता। (३।९७।११)

चित्त के ऊपर विजय प्राप्त करने की निश्चित युक्तियाँ हैं—आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन साधुओं की संगति वासनाओं का त्याग और प्राणों का निरोध। (५।९२।३६) मन को जीतने की हे पुत्र ! एक युक्ति यह है कि सब विषयों के प्रति अनास्था उत्पन्न हो जाये। (२।२४।१७) ज्ञान द्वारा वासना रहित हो जाने पर मन का नाश हो जाता है और प्राणों का स्पन्दन भी रुक जाता है। केवल शान्ति ही शेष रहती है। (६।९४।२९)

मन मेरा वास्तविक (असली) रूप नहीं है बनावटी (झूठा) रूप है। इसलिए मैं मन नहीं हूँ। इस प्रकार संकल्प को त्याग देने पर मन शान्त हो जाता है और शीघ्र सनातन ब्रह्म हो जाता है। (४।१७।२७) संकल्प ही मन का बन्धन है और उसका अभाव ही मुक्ति है। (५।१।२७) संकल्प रहित होने से मनुष्य चित्त रहित हो जाता है और चित्त रहित होने से मोक्ष का अनुभव होने लगता है। (५।१३।८) संकल्प को निर्मूल करना कठिन नहीं है अपने ही संकल्पों द्वारा संकल्प को अपने मन द्वारा मन को काटकर आत्मा में स्थित हो जाओ। (४।५४।१८) भावना के अभाव मात्र से संकल्प अपने आप ही क्षीण हो जाता है। (४।५४।११)

महाराज ! वासनाओं को चित्त का ही स्वरूप समझो। वासना और चित्त पर्याय वाची शब्द हैं। (६।१। ४५) सब इच्छाओं को त्याग देने पर शुद्ध चित्त की जो स्थिति है वह ही मनरहित चित्त है। (४।१७।१)

परा दृष्टि प्राप्त होने पर तृष्णा नही रहती और तृष्णा का अभाव हो जाने पर परा दृष्टि आती है। (५।२४।५६) इस सब प्रकार से झूठे ऐन्द्रजालिक संसार में ऐसी कौन सी प्राप्य वस्तु है, ज्ञानी आदमी जिसकी इच्छा करे। इस ब्रह्म-तत्वमय, अतएव सर्वत्र सत्यमय, संसार में ऐसी कौन सी त्याज्य वस्तु है जिसे विद्वान् त्यागे। (४।५५।४२)

इस संसार में जो कुछ भी सुख-दुःख दिखाई पड़ता है वह सब अहंकार-चक्र का विकार फैला हुआ है। अहंकार रूपी बादल के विलीन हो जाने पर, चित्तरूपी आकाश के निर्मल हो जाने पर, आत्म-ज्ञान रूपी सूर्य का प्रचण्ड प्रकाश हो जाता है। (५।१३।१७) अहंभाव को जब जान लिया जाय तब वह नहीं रहता, इस सम्बन्ध में इतना ही जानना काफी है। इससे दुःख नही होता। (६।१।८।३) मैं ही सारा जगत् हूँ, इस विचार द्वारा जब हेय (त्याज्य) और उपादेय (ग्राह्य) भाव क्षीण हो जाय और समता का अनुभव होने लगे तब अहंभाव की वृद्धि नही होती। (४।३३।४६)

संसारी मन भी यदि अनासक्त है तो उसे मुक्त ही जानो और दीर्घकाल की तपस्या से शुद्ध किया हुआ मन भी यदि सक्त (संगयुक्त) है तो उसे बन्धन में समझो। (५।६७।३३) पदार्थों के भाव और अभाव में हर्ष और शोक रूपी मलिन वासना होने का नाम संग है। (५।९३।८४)

यह सब कुछ आत्मा ही है। मैं किस वस्तु की इच्छा करूँ और किसका त्याग करूँ, इस प्रकार की असंसक्ति जीवन्मुक्त पुरुष मे होती है। (५।६८।४) सब कर्मों के फलों को मन से ही पूर्णतया त्यागने वालों को, कर्म से नही, असंसक्त कहते हैं। (५।६८।८) हेय (त्याज्य) वस्तु से खिन्न न होओ और उपादेय (प्राप्य) वस्तु में संग न करो। हेय और उपादेय दोनों दृष्टियों का त्याग करके दोनो से रहित भाव में निर्मल रहो। (५।१३।२१)

यह मेरा बन्धु है और यह मेरा बन्धु नही है इस प्रकार का भेदभाव क्षुद्र मन वालो में होता है। उदार भाव वालो की बुद्धि में इस प्रकार का भेद नही रहता। (५।१८।६१) जब कि एक ही आत्मा सब में विद्यमान है, तब यह मेरा भाई है, यह गैर है, इस प्रकार का विचार क्यों आये। (५।२०।४)

आत्मा के अज्ञान के कारण कर्म करने से संकल्प उदय होता है और संकल्प युक्त होना ही बन्धन का कारण है। इसलिए कर्म के संकल्प को अवश्य ही त्यागो। (६।२।१२४।५-६)

जो किसी और वस्तु को प्राप्त नही करता, वही इस परम अमृत आत्मा को पूर्णतया प्राप्त करके सब कुछ पा लेता है। (५।३४।७६) जो सब कुछ है, जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है, उस सब के एक कारण (परमात्मा) में सब का त्याग, अर्पण, करने से सर्वत्याग सम्पन्न होता है। (६।१।९३।३०)

यदि निर्विकल्प समाधि में स्थित हो जावे तो अक्षय सुषुप्ति के समान सत्य पद की प्राप्ति हो जाती है। (५।१।११) इस तरह के ध्यान से ही जिसमें सत्य ज्ञान हो, शान्ति हो वासनाएँ लेश मात्र भी न हों, आनन्द स्वरूप निर्वाण को प्राप्त होता है। (५।२।७६।१८)

हे पापरहित राम! तुमको महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी बनना चाहिए। (६।१।११५।१) सब शंकाओं का त्याग कर और अनन्त धैर्य को धारण करके जो रागद्वेष सुख-दुख धर्म-अधर्म सफलता विफलता आदि सब का अनुभव निरपेक्ष भाव से करता है वह महाकर्ता कहलाता है। (६।१।११५।९,१२)

महाभोक्ता वह है जो न किसी वस्तु को चाहता है और न किसी वस्तु से द्वेष करता है बल्कि सब का स्वाभाविक रीति से उपभोग करता है। (६।१।११५।२१) और महात्यागी उसे कहते हैं जिसने अपने मन के भीतर से बुद्धिपूर्वक सब इच्छाओं, तृष्णाओं, निश्चयों और शंकाओं को दूर कर दिया है। (६।१।११५।१४)

इस प्रकार आत्मज्ञान का अभ्यास करने पर मनुष्य को महानन्द का निरन्तर अनुभव होता है और वह सब बन्धनों से मुक्त होकर परम तृप्ति को प्राप्त हो जाता है। उस अवस्था में स्थित होकर इस संसार में जीने वाले को जीवन्मुक्त कहते हैं। इस अवस्था का वर्णन करना कठिन है। केवल वह अनुभव में ही आ सकती है।

मन और अहंकार के लीन हो जाने पर, जो परम आनन्दमयी परमेश्वर की स्वरूप वाली सत्ता है जो सब पदार्थों के भीतर स्थित है और जो केवल अपने आप किये हुए बोध द्वारा प्रकट होती है वह अनुभव में आ जाती है। वह सुषुप्ति से बहुत भिन्न है। उसका अनुभव केवल अपने भीतर ही हो सकता है। शब्दों द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता। (५।६४।९१–९२)

इस प्रकार ब्राह्मी अवस्था का अनुभव हो जाने पर और उस अनुभव के सदा स्थिर रहने पर मनुष्य सब सीमाओं और क्लेशों से मुक्त होकर परम आनन्दमय जीवन व्यतीत करता है। उसका बाह्य आचरण और व्यवहार किस प्रकार का होता है इसका वर्णन योगवासिष्ठ में इस प्रकार मिलता है—

जीवन्मुक्त के लक्षण

जीवन्मुक्त पुरुष को न किसी वस्तु के प्रति रसिकता होती है और न विरसता। वह विषयों का इच्छुक होकर विषयों में नहीं रमता राग वाला दिखाई देता हुआ भी राग रहित रहता है। (६।२।१९९।९) वह न किसी को उद्विग्न करता है और न वह किसी से उद्विग्न होता है। वह दूसरों के मन के भावों को जानकर लोकप्रिय आचरण करता है और प्रिय तथा मधुर वाणी को बोलता है। वह क्षण भर में कार्यों का विवेचन और निर्णय कर लेता है। (६।२।१९८।३–४) वह नागरिक जनों के समान आचरण वाला और

सबका बन्धु होता है और किसी के मन को दुखाने वाला व्यवहार नही करता। बाहर से तो वह सब काम करता हुआ दिखाई पडता है लेकिन भीतर सब प्रकार से शान्त रहता है। (६२१९८१५) मुक्त पुरुष प्राप्त वस्तुओ की उपेक्षा नही करता और अप्राप्त वस्तु की वाञ्छा नही करता, सब वृत्तियो में अपने अन्दर शान्त और शीतल रहता है। (६२१४५११०) वह वर्ण, धर्म, आश्रम, आचार और शास्त्रो की यन्त्रणा से अलग होकर जगत् के जजाल से इस प्रकार बाहर निकल जाता है जैसे पिंजडे से शेर। (६२। १२२१२) उसके चेहरे पर प्रसन्नता की शोभा छायी रहती है। वह न जीवन की चाह करता है और न मौत की चिन्ता। (६११२१२) वह असक्त रहता हुआ सम्राट् की भाँति असग रहता है। (५१९३१२४) वह परिपूर्ण मन वाला, अपने मान में रहने वाला, मौनी और शत्रुओं के बीच में अचल रहता है। (५१९३१३९) भयानक आपत्तियो में और सम्पत्ति की अवस्थाओं में तथा आनन्ददायक उत्सवो में विचरण करते हुए भी उसे न उद्वेग होता है और न आनन्द। (५१९३१५२–५३) न वह डरता है, न वह विवश और दीन होता है। वह मौनी, सम और स्वस्थमना होकर पर्वत के समान वीरता से रहता है। (५१९३१५५) वह सब सुखो को भोगता हुआ और सब प्रकार की आशाओ वाला दिखाई पडता है। कर्ता होने के भ्रम को त्याग कर वह सब कामो को करता रहता है। (५। ७७१११) प्राकृत कर्मों में लगा हुआ भी वह उदासीन के समान रहता है। वह न वाञ्छा करता है और न सोच-फिक्र, न द्वेष करता है और न हर्ष। (५१७७११२) वह बालको के प्रति बालक जैसा, वृद्धों के प्रति वृद्ध जैसा और धीरों के प्रति धीरता का बर्ताव करता है। यौवन वृत्ति वालों में वह युवा की भाँति रहता है और दुखियों के प्रति सहानुभूति का अनुभव करता है। (५१७७११४) वह न कभी दीन होता है और कभी उद्धत, न प्रमत्त, न खिन्न, न उद्विग्न, न हर्षित। (५१७७१३२) जैसे आँख देखने का आनन्द लेती है, वैसे ही बिना किसी विशेष प्रयत्न किये यथाप्राप्त भोगों को असक्त मन होकर लीला से भोगता रहता है। (५१७४१६३) वासना रहित होकर जो इस भाव से कर्मो को करता है कि ये विश्व की क्रियाएँ हैं, वह मुक्त है। (५१६११) अप्राप्त की वाञ्छा न करना और प्राप्त भोगों को भोग लेना ज्ञानियो का लक्षण है। (४१४६१८) ज्ञानी लोग जगत् के व्यवहार का न त्याग करते और न उसकी कामना करते हैं। (४१४६। २६) जिसके भीतर हेय और उपादेय का विचार और "मै" और "मेरा" का भाव क्षीण हो गया है वह जीवन्मुक्त है। (५११६१२१) यथाप्राप्त स्थिति के अनुसार व्यवहार करने वाले जीवन्मुक्त के मुख की शोभा सुख-दुःख में उदय और अस्त नही होती। (३१९। ६) ज्ञानी के लिए यह शरीर-नगरी उपवन के समान भोग और मोक्ष देने वाली है, सुख देने वाली है, दुःख देने वाली नही है। (४१२३१२) जीवन्मुक्तों का हृदय (मल-वासना से)

शुद्ध होकर इस प्रकार दूसरे जन्मों को उत्पन्न नहीं करता जैसे कि भुना हुआ बीज नये अंकुर को उत्पन्न नहीं करता। (६।९२।१४) जो उदार चित्तवाला महात्मा त्रिलोकी को तृण के समान समझता है, उसको छोड़कर सारी आपदाएँ ऐसे चली जाती हैं जैसे कि सांप अपनी पुरानी केंचुली को छोड़ता है। (४।३२।१।१८) जैसे चलती हुई हवा स्थिर हुआ न प्रवेश कर जाती है वैसे ही देह के काल द्वारा नष्ट हो जाने पर जीवन्मुक्त विदेहमुक्त हो जाता है। (३।९।१४) विदेहमुक्त न उत्पन्न होता है और न मरता है, न वह सत् रहता है और न असत् न कहीं दूर जाता है और न उसमें 'मैं पना' रहता है और न 'अन्यपना'। (३।९।१५)

मन के निरोध पर विशेष जोर क्यों ?

योगवासिष्ठ के अनुसार मन के निरोध का विशेष महत्व है। क्योंकि आत्मा जो कि देशकाल आदि से अनवच्छिन्न है और परमानन्द तथा चित्तस्वरूप है वह अपनी लीला से अपने को मन के आकार में परिमित करके उसके द्वारा विश्व की रचना करता है। समस्त विश्व और शरीर तथा इन्द्रियाँ और उनके विषय सब मन के ही बनाये हुए हैं। अपनी वासना के अनुसार मन जगत् शरीर और विषयों की रचना स्थिति और संहार करता रहता है। सारी रचनाएँ स्वप्न के समान कल्पित हैं। भौतिक शरीर के काल द्वारा नष्ट हो जाने पर, जीव वासनाओं, विचारों और कर्मों द्वारा परलोक का अनुभव करता है। प्रत्येक प्राणी का संसार दूसरे प्राणियों के संसार से भिन्न है, यद्यपि बहुत से प्राणियों के संसारों में बहुत सी समानता भी है। मनुष्य अपनी मानसिक शक्तियों द्वारा (वासनाओं द्वारा) जिस स्थिति और पद को प्राप्त करना चाहे प्राप्त कर लेता है। अपने विचारों की सीमा ही हमारी सीमा है।

तीनों जगत् मन के विचारों से ही बने हुए हैं। (४।११।२१) स्वर्ग पृथ्वी वायु, आकाश पर्वत नदियाँ और दिशाएँ ये सब आत्मा (मन) के संकल्प से इस प्रकार बने हैं जैसा कि स्वप्न बनता है। (३।१ ।१५) संकल्प ही देश और काल के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि संकल्प से ही देश और काल का अस्तित्व है। (३।११ ५९)

यह (आत्मा) जो कुछ कल्पना करता है उसके अनेक अवयवी आत्मा के साथ अनन्य होने के कारण नाना प्रकार के जीवों का रूप धारण कर लेते हैं। (६।२।२ ८। २७२८) प्रत्येक सृष्टि के भीतर नाना प्रकार की दूसरी सृष्टियाँ हैं, उनके भीतर भी और दूसरी उनके भीतर भी अनेक। इस प्रकार यह सिलसिला केले के तने की भाँति चलता ही रहता है। (४।१८।१६-१७) चित्त के एक परमाणु के भीतर जिस प्रकार स्वप्न की त्रिलोकी होती है उसी प्रकार आकाश में अनन्त द्रव्यों के अनन्त परमाणुओं के भीतर भी नाना प्रकार के जगत् हैं। (६।५२।२)

मन का स्वरूप

सर्वशक्तिमान् परम अनन्त और महान् पुरुष आत्मतत्त्व का सकल्पमय रूप मन है। (३।६९।३) चित्त की चेत्य कल्पना मन कहलाता है। मन मे और सकल्प में कोई भेद नही है। (३।९१।३१) (३।४।४४)

मन की अनन्त और अद्भुत शक्तियाँ

मन में सब प्रकार की शक्तियाँ है और मन सब कुछ कर सकता है। (३।९१।१६) चित्त (मन) ही जगत् का उत्पादक है। वह जैसा जैसा सकल्प करता है उसी के अनु-सार, असत् अथवा सदसत् जगत् की उत्पत्ति होती है। (६२।३९।१) प्रत्येक चित्त में इस प्रकार के जगत् के उत्पादन की शक्ति हैं। (३।४०।२९) जीव (मन) जो कुछ चाहता है वह सब अपने आप ही सम्पादन कर लेता है। (३।५४।१२) दृढ भावना-युक्त होकर मन जिस वस्तु को जैसी कल्पना करता है, उससे उसको उसी आकार में उतने ही समय तक और उसी प्रकार का फल देने वाला अनुभव होता है। (४।२१।५७) मन के दृढ निश्चय को मिटाने या रोकने की शक्ति किसी में नही है। (३।८८।१८) जैसे रेशम का कीडा अपने रहने के लिए अपने आप ही अपना कोश तैयार कर लेता है वैसे ही मन ने भी यह (भौतिक) शरीर अपनी वासनाओ की पूर्ति के लिए बनाया है। (४।४५।७) दुःख के दो कारण हैं, आधियाँ (मन के रोग) और व्याधियाँ (शरीर के रोग)।(६।१।८१।१२) चित्त मे गडबडी होने पर अवश्य ही शरीर मे गडबडी होती है (६।१।८१।३०) और मानसिक रोगो के क्षीण हो जाने पर उनसे उत्पन्न होने वाले शारीरिक रोग भी मिट जाते हैं। (६।१।८१।२४) वास्तव में मन ही सब कुछ है। मन के भीतर ही चिकित्सा करने से सारे ससार का जजाल ठीक हो जाता है। (४।५।५)

मन को पवित्र और अपने अधीन कर लेने पर सब सिद्धियाँ और शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

शुद्ध मन जिस वस्तु की जिस रूप से भावना करता है वह शीघ्र ही और अवश्य ही उसी प्रकार की हो जाती है, जैसे जल भँवर का रूप धारण कर लेता है। (४।१७।४) अशुद्ध मन शक्तिहीन हो जाता है। वह दूसरे मनो के साथ सपर्क स्थापित करने में असमर्थ होता है। शुद्ध मनो का परस्पर सम्पर्क होता रहता है। (४।१७।२९–३०) पवित्र और सूक्ष्म शरीर द्वारा ज्ञान और विवेक तथा पुण्य और वर से मनुष्य परलोक (दूसरे सूक्ष्म लोको) में प्रवेश कर सकते हैं। सूक्ष्म लोको में उन्ही लोगो का प्रवेश हो सकता है जो या तो पूर्णतया ज्ञानी हों या जिनका जीवन धार्मिक (सात्विक) हो। (४।५३।३४) इस स्थूल देह में सूक्ष्मता का भाव तब आता है जब कि इस ससार की वासनाएँ कम हो

जाती है। (३।५१।१) शरीर को सत्य समझने पर ही शरीर सत्य मालूम पड़ता है। इसको असत्य जान लेने पर इसका अनुभव भी नहीं रहता। (६।१।८२।२७)

जीवन-मरण और परलोकों का अनुभव भी मन के ही अधीन है। यह मन के ही संकल्पों का परिणाम है। जीव की मृत्यु के पश्चात् की गति उसके विश्वास विचार और वासनाओं के अनुसार ही होती है।

अपने संकल्पों के जगत् के भीतर स्थित हो जाने का नाम मृत्यु है। (६।२।१८१) अर्थात मृत्यु उस अवस्था को कहते हैं जिसमें बाहरी शरीर से चेतना लौटकर मन के भीतर ही स्थित रहती है। जैसे आँख मीचने ही नाना प्रकार की स्वप्नसृष्टि का अनुभव होने लगता है वैसे ही मौत की मूर्च्छा आते ही दूसरे लोकों का अनुभव होने लगता है। (६।२।१ ५।२४)

मिथ्या मृत्यु की मूर्च्छा का कुछ देर तक अनुभव करके पूर्व अवस्था को भूलकर जीव दूसरी अवस्था का अनुभव करने लगता है। (६।२ ।११) जब जीव इस दृश्य संसार को छोड़कर दूसरे संसार में प्रवेश करता है तो उसे ऐसा अनुभव होता है जैसा कि स्वप्न-जगत् में या संकल्प-जगत् में होता है। (३।५५।८) मरे हुए लोग मौत की मूर्च्छा के पश्चात् अपनी-अपनी वासनाओं के अनुसार क्रम से अथवा बिना क्रम से इस प्रकार की स्थिति का अनुभव करते हैं। ३।५५।३६)

ज्ञान और योग का अधिकार सबको है

योगवासिष्ठ में वर्णित योग के सभी लोग जिन्होंने अपने अज्ञान को समझ लिया है और जो मोक्ष के इच्छुक हैं, अधिकारी हैं, चाहे वे किसी देश और जाति के हों चाहे वे स्त्री या पुरुष हों।

स्त्री और पुरुषों में शक्ति की और योग्यता तथा अधिकार की समानता है। स्त्रियाँ भी आत्मज्ञान की अधिकारी हैं। पुरुषों को उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। कभी-कभी तो वे पुरुषों की आत्मज्ञान प्राप्ति में सहायक होती हैं। अच्छे कुल की स्त्रियाँ अपने पतियों के सब कामों में सबसे अधिक सहायक होती हैं। इन विषयों पर योग वासिष्ठ में यह कहा गया है—

अच्छे कुल की प्रयत्नशील स्त्रियाँ मनुष्यों को अनादि और अनन्त मोह से पार करा देती हैं। शास्त्र गुरु और मन्त्र आदि में कोई भी संसार से पार उतारने में इतना सहायक नहीं होता जितनी कि स्नेह से भरी हुई अच्छे कुलों की स्त्रियाँ। स्त्री अपने पति के लिए सखा बन्धु, सुहृद, सेवक गुरु, मित्र धन सुख शास्त्र मन्दिर, दास आदि सभी कुछ होती है। (६।१।१ ०१२६,२१२८)

अध्याय १३

पुराणो की नैतिक शिक्षा

पुराण शब्द का अर्थ तथा उसका स्रोत

वायुपुराण में पुराण का शाब्दिक अर्थ वतलाया गया है कि "यस्मात् पुरा ह्यनादीदम् पुराणम्" अर्थात् जो अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा हो उसे पुराण कहते हैं। वायुपुराण में यह भी वतलाया गया है कि ब्रह्माजी ने भी सभी शास्त्रो के पूर्व पुराणो का स्मरण किया और तत्पश्चात् उनके मुख से वेदो का प्रादुर्भाव हुआ। इसका तात्पर्य यह है कि पौराणिक विषय अत्यन्त प्राचीन हैं और परम्परा द्वारा इस रूप में आये हैं।

मैकडोनल ने भी अपने 'भारतीय साहित्य के इतिहास' में यह स्वीकार किया है कि ऋग्वेद के सृष्टिनिर्देशक मन्त्र केवल भारतीय दर्शन के जन्मदाता नही हैं अपितु भारतीय पुराणों के तथा पौराणिक गाथाओ के भी मूल स्रोत हैं।

विष्णुपुराण में पुराणो की परम्परा इस प्रकार वतायी गयी है—"वेदो के विभाग करने के पश्चात् पुराणार्थविशारद भगवान् कृष्ण द्वैपायन ने कल्पशुद्धि के साथ पुराणो की रचना की । सूत रोमहर्षण व्यास के प्रधान शिष्यो में थे । व्यासजी ने पुराणसहिता उन्हें ही पढायी। आगे चलकर सूतजी के छ शिष्य हुए जिनके नाम हैं सुमति, अग्नि-वर्चा, मित्रायु, शाम्पायन, अकृतव्रण और सौवर्णि ।" इस प्रकार की परम्परा मत्स्य पुराण में भी उपलब्ध होती है, केवल शिष्यो के नाम मे कुछ अन्तर पडता है।

पुराण-सख्या—भारतीय परम्परा में पुराणो की सख्या १८ मानी गयी है जो सस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थो तथा प्राय सभी पुराणो से प्रमाणित है। किन्तु जो पुराण उपलब्ध हैं उनकी सख्या वहुत अधिक है। तव एक प्रश्न उठ पडता है कि इन उपलब्ध पुराणो में किसे पुराण की सख्या के अन्तर्गत माना जाय और किसे नही। इस समस्या के समाधान के लिए एक वडी सुविधा यह प्राप्त है कि प्राय सभी पुराणो में दी हुई पुराणनामावली सदृश ही है, केवल शिव और वायु-पुराण के विषय में मत-भेद है। विष्णु, श्रीमद्भागवत, पद्म, गरुड, मार्कण्डेय, वाराह आदि पुराणो में वायु का

नाम अठारह के अन्तर्गत नहीं है। वायु के स्थान शिव पुराण को रखा गया है। दूसरी ओर ब्रह्म ब्रह्माण्ड मत्स्यादि पुराणों में शिव पुराण को पुराणों के अन्तर्गत नहीं माना गया है उसके स्थान पर वायु पुराण का निर्देश है।

दूसरा विवाद भागवत पुराण को लेकर चलता है। भागवत का नाम यद्यपि सभी पुराणों में आया है पर इस नाम से दो पुराण उपलब्ध हैं देवी भागवत और श्री मद्भागवत। इनमें किसको पुराण के अन्तर्गत माना जाय और किसे नहीं, इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। पुराणों में दी हुई पुराणनामावली निम्नलिखित है—मत्स्य मार्कण्डेय भागवत भविष्य ब्रह्माण्ड ब्रह्म ब्रह्मवैवर्त वायु वामन विष्णु वाराह अग्नि नारद पद्म कूर्म स्कन्द लिंग और गरुड़।

अन्य अधिकतर पुराणों में वायु के स्थान पर शिव पुराण को रखा गया है।

उपपुराण—पुराणों के समान ही उप-पुराण भी अठारह माने गये हैं और उक्त महापुराणों को छोड़कर अन्य अनेक ग्रन्थ पुराण नाम से उपलब्ध होते हैं। यदि उन सभी को हम उप-पुराणों के अन्तर्गत मानें तो उपपुराण केवल १८ ही नहीं रह जायेंगे। उप-पुराणों की नामावली में अत्यधिक मतभेद है पर अधिकतम पुराणों की मान्य नामावली निम्नलिखित है—सनत्कुमार, नरसिंह आश्च दुर्वासा कपिल, मानव औशनस पाराशर, मारीच मार्गव कौमार, वारुण कालिक माहेश साम्ब सौर, नारद और ब्रह्माण्ड।

किन्तु नारद और ब्रह्माण्ड की गणना महापुराणों में की गयी है इसलिए कुछ स्थलों पर नारद और ब्रह्माण्ड के स्थान पर गणपति और शिव को रखा गया है।

पुराण का महत्व—वेद, स्मृति और सदाचार ये तीन भारतीय साहित्य में आप्त प्रमाण माने जाते हैं। पुराणों का समावेश सदाचार में होता है। जो नियम या विधि वेदों या स्मृति में आदेश के रूप में बतलायी गयी है उन्हीं नियमों और विधियों को जीवन में उपयोग करने वाले महापुरुषों का उदाहरण देकर उनके आचरण के द्वारा ही पुराणों में वे नियम प्रतिपादित हैं। पुराण सामान्य जनता के लिए थे। अतः कहानी के रूप में गूढ़तम विषयों का भी प्रतिपादन पुराणों में मिलता है। पुराण में हमारे धर्म कार्य के लिए देवी देवता तीर्थ व्रत उनका फल उनकी प्रतिमा उनकी प्रतिष्ठा आदि सभी का वर्णन मिलता है। जो धर्म और संस्कृति आज हमारे देश में वर्तमान है उसे हम वैदिक संस्कृति कहते हैं किन्तु वास्तव में वह वैदिक धर्म और संस्कृति न होकर पौराणिक धर्म और संस्कृति है। केवल इसी अर्थ में उसे वैदिक कहा जा सकता है कि उसका मूल रूप वेदों में विद्यमान है। उदाहरणार्थ हम यदि शिव और विष्णु को जो प्रसिद्ध पूज्य देव हैं लें तो इनका रूप हमारे समक्ष या हमारे मन्दिरों में जो दिखलाई पड़ता है वह वास्तव में

वैदिक नही पौराणिक है। पुराणो ने केवल धर्म या आचार को ही नही अपनाया किन्तु जन-जीवन को उपयोगी सभी वस्तुओ का तथा सभी विषयो का प्रतिपादन किया है। हम देखते हैं कि पुराणो मे भूगोल, खगोल, ज्योतिष, नक्षत्र, नदी, पहाड, आयुर्वेद, निदान, राजनीति, धर्मनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास, समाज-शास्त्र, वर्णाश्रम-व्यवस्था, सामुद्रिक विद्या तथा 'तत्कालीन प्रचलित सभी प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्तो का भी प्रतिपादन किया है। यदि यह कहा जाय कि अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के विषय जो पुराणो में हैं, वही सवत्र हैं और जो पुराणो मे नही है वह कही नही है तो अत्युक्ति नही होगी। यह पुराण की ही देन है कि भारतीय अशिक्षित जनता ईश्वर, कर्मनियम, पुनर्जन्म आदि में विश्वास रखते हुए कष्ट में भी सन्तोष और धैर्य का जीवन यापन कर रही है। हमारे पुराण जीवन के सभी पहलुओ को लेकर सभी दृष्टि से विचार करने का प्रयास करते हैं। मानव-जीवन को नैतिक और धार्मिक बनाने के लिए देश की उन्नति, समाज का विकास तथा व्यक्ति के उत्थान मे पुराणो का विशेष हाथ रहा है। अनन्त काल से पुराण अपनी अपूर्व कथाओ द्वारा हमें धैर्य, सन्तोष, त्याग, तपश्चर्या, ब्रह्मचय, परोपकार, देश-सेवा, मानव प्रेम और विश्वबन्धुत्व की शिक्षा देते आ रहे हैं। भारतीय सस्कृति का ऐसा कोई भी अश नहीं है जो पुराणो की देन न हो।

पुराण-काल—पुराणो के काल के विषय में कोई निश्चित मत निर्धारित करना अत्यन्त दुष्कर है। जब हम बहिरग दृष्टि से विचार करते हैं तो पुराणो की चर्चा अथर्ववेद सहिता, छान्दोग्य उपनिषत्, आपस्तम्ब धर्मसूत्र आदि में भी मिलती है। यदि मैक्समूलर का भी सिद्धान्त माना जाय तो भी बौद्ध काल के दो सौ वर्ष पूर्व से १२०० वर्ष पूर्व वैदिक काल में पुराण नामक किसी साहित्य की सत्ता स्वीकार करनी पडती है। छान्दोग्य उपनिषद् में तो स्पष्ट रूप से नारद जी ने अपनी अधीत विद्याओ की चर्चा करते हुए इतिहास और पुराण को पञ्चम वेद के नाम से बतलाया है। अथर्व-वेद ने भी पुराण को स्वतन्त्र साहित्य माना है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने तो अपनी प्रामाणिकता के लिए पुराणो का उद्धहरण भी दिया है। महाभारत में भी अनेक स्थलो पर यह चर्चा मिलती है कि इतिहास और पुराण से वेदो का समुपबृहण करना चाहिए, क्योकि अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद भयभीत रहते हैं कि यह हमारी हत्या कर देगा। महाभारत के अन्तिम पर्व में पुराणो के नाम, उनकी अष्टादश सख्या का व्यक्त रूप से निर्देश है, इससे यह प्रतीत होता है कि महाभारत के वर्तमान रूप प्राप्त होने के पूर्व पुराणो की रचना हो गयी होगी। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में पुराणो का निर्देश किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से कौटिल्य को हम ई० पूर्व ३०० वर्ष से कम नही मान सकते हैं। कालिदास का अभिज्ञानशाकुन्तल', माघ का शिशुपाल वध आदि ग्रन्थ भी तो पौराणिक गाथाओ को लेकर लिखे गये हैं। बाणभट्ट

के 'हर्षचरित' में तो वायुपुराण के पारायण तथा कथावाचन का भी वर्णन मिलता है। इससे कहना पड़ता है कि ई. छठी शताब्दी में ही पुराण अपनी प्रतिष्ठा की चरम सीमा पर आसीन हो चुके थे।

एच. एच. विल्सन ने पुराणों में विष्णु और शिव को अत्यधिक महत्व देकर इस बात को सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पुराणों का समय ई. ७वीं शताब्दी से ई. १०वीं शताब्दी के भीतर ही होगा। जब शैव और वैष्णव धर्म अपनी परिपक्वावस्था को प्राप्त कर चुके हैं तब पुराणों की रचना हुई है। किन्तु इनके मत का खण्डन करते हुए कोलोनेल वान्स कनेडी ने यह बतलाने का प्रयास किया है कि पुराण अत्यन्त प्राचीन साहित्य हैं, इन्हें पीछे की कृति मानने के लिए कोई भी पुष्ट प्रमाण नहीं है।

एस. एन. दास गुप्त ने भी पुराण के दार्शनिक विषयों को शंकर से प्राचीन बतलाते हुए कहा है कि शंकर के पूर्व पुराणों में उपनिषद् प्रतिपादित अद्वैत का परिवर्तित और परिपोषित रूप विद्यमान था जिसका विरोध रामानुज वल्लभ निम्बार्क, भास्कर आदि ने किया है। अपने मत के अनुकूल न होने के कारण शंकर ने उसका विरोध अपने दर्शन में नहीं किया। शंकर की शैली से पुराणों की दार्शनिक शैली अत्यन्त प्राचीन है। इससे यही सिद्ध होता है कि श्री शंकर से पूर्व भी कुछ पुराण विद्यमान थे। एस. पी. एन. नरसिंहम् स्वामी पी. ओ. एल. ने अपने तीस वर्ष के अथक प्रयास से पुराणसंहिता को व्यास की वास्तविक कृति है सिद्ध कर अलग करने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि यह संहिता महाभारत युद्ध से पहले लिखी गयी थी। महाभारत युद्ध का समय उनके मत में ११८५ ई. पूर्व है और इस संहिता का रचनाकाल १९४ ई. पूर्व है। इस प्रकार यह संहिता अथर्ववेद ब्राह्मण और उपनिषद् से भी पुरानी है केवल ऋक संहिता ही इससे पुरानी सिद्ध होती है।

पुराणों में आये हुए अर्हत् और बौद्ध शब्द, बुद्ध का नाम तथा जन्मस्थान चन्द्रगुप्त और अशोक आदि राजाओं का निर्देश देखकर कुछ विद्वान् यह सिद्ध करना चाहते हैं कि पुराणों की रचना अवश्य ही बुद्ध काल के बहुत पीछे हुई है।

अनेक उदारवादी विद्वानों का मत है कि पुराणों को वर्तमान रूप गुप्तकाल में मिला है। सभी पुराण गुप्तकाल में ही लिखे गये होंगे यह मानना युक्तिसंगत नहीं है। गुप्तकाल के पूर्व अति प्राचीन काल से पुराण के नाम से कुछ आख्यान-आख्यायिकाएँ चली आ रही होंगी जिनका धीरे धीरे विकास होता रहा होगा और अन्य आवश्यक विषयों का समावेश भी उनमें समय समय पर होता रहा होगा। यह प्रक्रिया गुप्तकाल से पूर्व हुई होगी। गुप्त काल के पश्चात् भी पुराणों में अनेक स्थल घटाये या बढ़ाये गये होंगे इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। जब पुराणों में अति नवीन बात देखकर केवल उन्हें नवीन कह देना

अति प्राचीन सिद्धान्त देखकर अत्यत प्राचीन मानना दोनो ही एकागी पक्ष हैं। विचार की दृष्टि से दोनो ही पुराणो के भीतर दो कालो में आये हैं। पुराण प्राचीनतम काल से विकसित होकर आज के रूप में आये हैं इसलिए इन्हे आधुनिक कृति कहना उचित नही जान पडता। वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार भी इसी मत के पोषक हैं।

(१) विष्णुपुराण की नैतिक शिक्षा

सदाचार

किसी का थोडा सा भी धन अपहरण न करे, और न थोडा सा भी अप्रिय भाषण करे। जो मिथ्या हो ऐसा प्रिय वचन भी कभी न बोले, और न कभी दूसरे के दोषो को कहे। दूसरों की स्त्री में अथवा दूसरों के साथ वैर करने में कभी भी रुचि न रखे, निन्दित सवारी में कभी न चढे और नदीतीर की छाया का कभी आश्रय न ले। बुद्धिमान् पुरुष लोकविद्विष्ट, पतित, उन्मत्त और जिसके बहुत से शत्रु हो ऐसे पर-पीडक पुरुषो के साथ तथा कुलटा, कुलटा के स्वामी, क्षुद्र, मिथ्यावादी, अति व्ययशील, निन्दापरायण और दुष्ट पुरुषों के साथ कभी मित्रता न करे, और न कभी मार्ग में अकेला चले। विचक्षण पुरुष मूंछ-दाढी के बालों को न चबाये, दो ढेलों को परस्पर न रगडे और अपवित्र एव निन्दित नक्षत्रो को न देखे। नग्न परस्त्री और उदय अथवा अस्त होते हुए सूर्य को न देखे तथा शव और शव की गन्ध से घृणा न करे क्योकि शव-गन्ध सोम का अश है। चौराहा, चैत्यवृक्ष, श्मशान, उपवन और दुष्टा स्त्री की समीपता का रात्रि के समय सर्वदा त्याग करे। बुद्धिमान् पुरुप को जागने, सोने, स्नान करने, बैठने, शय्या सेवन करने, व्यायाम करने में अधिक समय नहीं लगाना चाहिए। हे प्राज्ञ पुरुष ! दांत और सींग वाले पशुओं के सामीप्य को तथा सामने की वायु और धूप का सर्वदा परित्याग करे। नग्न होकर स्नान, शयन और आचमन न करे, केश खोलकर आचमन और देवपूजन न करे। सदाचारी पुरुषो का तो आधे क्षण का सग भी अति प्रशसनीय होता है। बुद्धिमान् पुरुष उत्तम अथवा अधम पुरुषों से विरोध न करे। विवाह और विवाद सदा समान व्यक्तियों से ही होना चाहिए। प्राज्ञ पुरुष कलह न बढाये, तथा व्यर्थ वैर का भी त्याग करे। थोडी सी हानि सह ले किन्तु वैर से जो लाभ होता हो उसे भी छोड दे। पैर के ऊपर पैर न रखे, गुरुजनो के सामने पैर न फैलाये, और धृष्टतापूर्वक उनके समक्ष उच्चासन पर कभी न बैठे। चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, जल, वायु और पूज्य व्यक्तियो के सम्मुख पण्डित पुरुष मल-मूत्र त्याग न करे, और न थूके ही। खडे-खडे अथवा मार्ग में मूत्र त्याग न करे तथा श्लेष्मा, विष्ठा, मूत्र और रक्त को कभी न लांघे। बुद्धिमान् पुरुष स्त्रियो का अपमान कभी न करे, उनका विश्वास भी न करे तथा उनसे ईर्ष्या तथा उनका तिरस्कार भी कभी न करे। जो व्यक्ति जितेन्द्रिय होकर समयानुसार हित, मित और प्रिय भाषण करता है वह आनन्द के हेतु

२९

अक्षय लोकों को प्राप्त होता है। बुद्धिमान् लज्जावान् क्षमाशील आस्तिक और विनयी पुरुष विद्वान् और कुलीन पुरुषों के योग्य उत्तम लोकों में जाता है।

जो व्यक्ति क्रोधी को शान्त करता है, सब का बन्धु है मत्सर शून्य है भयभीत को सान्त्वना देने वाला है और साधु स्वभाव है, उसके लिए स्वर्ग तो बहुत थोड़ा फल है। जिसे शरीर रक्षा की इच्छा हो वह पुरुष वर्षा में और धूप में छाता लेकर निकले, रात्रि के समय और वन में दण्ड लेकर जाय तथा जहाँ कहीं जाना हो सर्वदा जूते पहनकर जाय। बुद्धिमान् पुरुष को ऊपर की ओर, इधर-उधर अथवा दूर के पदार्थों को देखते हुए नहीं चलना चाहिए केवल चार हाथ पृथ्वी को देखते हुए चलना चाहिए। जो जितेन्द्रिय दोष के समस्त हेतुओं को त्याग देता है, उसके धर्म अर्थ और काम की थोड़ी भी हानि नहीं होती। जो विद्या-विनयसम्पन्न सदाचारी प्राज्ञ पुरुष पापी के प्रति पापमय व्यवहार नहीं करता कुटिल पुरुषों से प्रिय भाषण करता है तथा जिसका अन्तःकरण मैत्री से द्रवीभूत रहता है, मुक्ति उसकी मुट्ठी में रहती है। जो वीतराग पुरुष कभी काम क्रोध और लोभादि के वश नहीं होते तथा सर्वदा सदाचार में स्थित रहते हैं उनके प्रभाव से ही पृथ्वी टिकी हुई है। अतः प्राज्ञ पुरुष को वही सत्य कहना चाहिए जो दूसरों की प्रसन्नता का कारण हो । यदि किसी सत्य वाक्य के कहने से दूसरों को दुःख होता जान पड़े तो मौन रहे। यदि प्रिय वचन को भी अहितकर समझे तो उसको न कहे उस अवस्था में भी हितकर वाक्य ही कहना अच्छा है। भले ही वह अत्यन्त अप्रिय क्यों न हो। जो कार्य प्राणियों के इहलोक और परलोक का साधक हो, मतिमान् पुरुष मन वचन और कर्म से उसी का आचरण करे। (३।१२।४-४६)

सदाचार के पतन होने से हानि

कोई भी पुरुष सदाचार का उल्लंघन कर सद्गति नहीं प्राप्त कर सकता। वेद-विहीन पुरुष नग्न और पतित कहलाते हैं। हे द्विज ! ऋक् साम और यजु यह वेदत्रयी वर्णों के आवरण रूप है। जो पुरुष मोह से इसका त्याग कर देता है वह पापी नग्न कहलाता है। जिन लोगों ने वेदत्रयी रूप वस्त्र का परित्याग कर दिया है वही नग्न हैं। जो मनुष्य देवता पितर, भूतगण और अतिथियों का पूजन किये बिना स्वयं भोजन करता है वह पाप-मय भोजन करता है तथा उसकी शुभ गति नहीं होती।

महाराज ! आप अपनी पटरानी का स्मरण कीजिए जिसके कारण मात्र आप श्वान योनि को प्राप्त होकर मेरे चाटुकार बने हुए हैं। हे प्रभो ! क्या आपको स्मरण नहीं है कि तीर्थ स्नान के अनन्तर पाखण्डी से वार्तालाप करने के कारण ही आपको यह कुत्सित योनि मिली है। (३।१८।६२) (३।१२।६७)

इन दुराचारी पाखण्डियों के साथ वार्तालाप करने सम्पर्क रखने और उन्हें

बैठने में महान् पाप होता है इसलिए इन सब बातों का त्याग करे। पाखण्डी, विकर्मी, बिडाल व्रत वाले अर्थात् छिपे पापकर्म करने वाले, दुष्ट, स्वार्थी और बगुलाभक्त लोगों का वाणी से भी आदर न करे। इन पाखण्डी दुराचारियों और पापियों का संसर्ग दूर ही से त्यागने योग्य है। इसलिए इनका सर्वदा त्याग करे। (३।१८।९९,१००,१०१)

वर्णव्यवस्था

हे द्विजोत्तम! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण क्रमश ब्रह्माजी के मुख, वक्षस्थल, जघा और चरणों से उत्पन्न हुए। हे महाभाग! ब्रह्माजी ने यज्ञानुष्ठान के लिए ही यज्ञ के उत्तम साधन रूप इस सम्पूर्ण चातुर्वर्ण्य की रचना की थी। (१।६।६।७) मृत्यु के पीछे कर्मनिष्ठ ब्राह्मणों का स्थान पितृलोक है, युद्ध क्षेत्र से कभी न हटने वाले क्षत्रियों का इन्द्रलोक है तथा अपने धर्म का पालन करने वाले वैश्यों का वायु लोक और सेवा धर्म परायण शूद्रों का गन्धर्व लोक है। (१।६।३४,३५)

ब्राह्मण का धर्म

ब्राह्मण का कर्तव्य है कि दान दे, यज्ञों द्वारा देवताओं का यजन करे, स्वाध्यायशील हो नित्य स्नान-तर्पण करे और अग्न्याधान आदि कर्म करता रहे। ब्राह्मण को उचित है कि वृत्ति के लिए दूसरों से यज्ञ करायें, औरों को पढ़ाये और सदाचारी लोगों से न्यायानुकूल द्रव्य सग्रह करे। ब्राह्मण को कभी किसी का अहित नहीं करना चाहिए और सर्वदा समस्त प्राणियों से मैत्री रखना ही ब्राह्मण का परम धर्म है। पत्थर में और पराये धन में ब्राह्मण को समान बुद्धि रखनी चाहिए। पत्नी के विषय में ऋतुगामी होना ही ब्राह्मण के लिए प्रशसनीय कर्म है। (३।८।२१–२५)

क्षत्रियकर्म

क्षत्रिय को उचित है कि ब्राह्मणों को यथेच्छ दान दे, विविध यज्ञों का अनुष्ठान करे और अध्ययन करे। शस्त्र धारण करना और पृथ्वी की रक्षा करना ही क्षत्रिय की उत्तम आजीविका है। इनमें भी पृथ्वी पालन ही उत्कृष्टतर है। पृथ्वी पालन से ही राजा लोग कृतकृत्य हो जाते हैं। क्योंकि पृथ्वी में होने वाले यज्ञादि कर्मों का अश राजा को मिलता है। जो राजा अपने वर्णधर्म को स्थिर रखता है वह दुष्टों को दण्ड देने और साधुजनों का पालन करने से अपने अभीष्ट लोकों को प्राप्त कर लेता है। (३।८।२६–२९)

वैश्य के कर्म

लोकपितामह ब्रह्माजी ने वैश्यों को पशुपालन, वाणिज्य और कृषि ये जीविका-रूप मे दिये हैं। अध्ययन, यज्ञ, दान और नित्य-नैमित्तिक आदि कर्मों का अनुष्ठान, ये कर्म भी उसके लिए विहित हैं। (३।८।३०)

शूद्र का कर्म

शूद्र का कर्तव्य यही है कि द्विजातियों की प्रयोजनसिद्धि के लिए कर्म करे और उसी से अपना पालन पोषण करे अथवा आपत्काल में जब उक्त उपाय से जीविका निर्वाह न हो सके तो वस्तुओं को लेने बेचने तथा कारीगरी के कामों से निर्वाह करे। अति नम्रता, शौच निष्कपट स्वामी की सेवा मन्त्रहीन यज्ञ अस्तेय सत्सग और ब्राह्मण की रक्षा करना, ये शूद्र के प्रधान कर्म हैं। हे राजन्! शूद्र को भी उचित है कि दान दे बलि-वैश्वदेव अथवा नमस्कार आदि अल्प यज्ञों का अनुष्ठान करे, पितृश्राद्ध आदि कर्म करे, अपने कुटुम्बियों के भरण पोषण के लिए द्रव्य संग्रह करे और ऋतु काल में अपनी ही स्त्री से प्रसंग करे। (३।८।१४)

समस्त वर्णों के सामान्य गुण

हे नरेश्वर! इसके अतिरिक्त समस्त प्राणियों पर दया सहनशीलता अमानिता, सत्य शौच अधिक परिश्रम न करना मंगल आचरण प्रियवादिता मैत्री निष्कामता अकृपणता और किसी के दोष न देखना, ये समस्त वर्णों के सामान्य गुण हैं। (३-८-३६)

वर्णों के आपत्काल के धर्म

आपत्ति के समय ब्राह्मण को क्षत्रिय और वैश्य वृत्ति का अवलम्बन करना चाहिए। ब्राह्मण-क्षत्रिय शूद्रों का कर्म कभी न करें। हे राजन्! इन उपर्युक्त वृत्तियों को भी सामर्थ्य होने पर त्याग दे, केवल आपत्काल में ही इनका आश्रय ले कर्मसंकरता न करे। (३-८-४०)

आश्रम धर्म

ब्रह्मचारी के कर्म

बालक को चाहिए कि उपनयन संस्कार के अनन्तर वेदाध्ययन में तत्पर होकर ब्रह्मचर्य का अवलम्बन करे तथा सावधानीपूर्वक गुरु के गृह में निवास करे। वहाँ रहकर उसे शौच और आचार का व्रत पालन करना चाहिए तथा गुरु की शुश्रूषा करनी चाहिए और व्रतादि का आचरण करते हुए स्थिर बुद्धि से वेदाध्ययन करना चाहिए। हे राजन्! दोनों सन्ध्याओं में एकाग्र चित्त होकर सूर्य और अग्नि की उपासना तथा गुरु का अभिवादन करे। गुरु के खड़े होने पर खड़ा हो जाय चलने पर पीछे-पीछे चलने लगे और बैठ जाने पर नीचे बैठ जाय। इस प्रकार कभी गुरु के विरुद्ध कोई आचरण न करे। गुरु जी के कहने पर उनके सामने बैठकर एकाग्र चित्त होकर वेदाध्ययन करे तथा उनकी आज्ञा होने पर ही भिक्षान्न का भोजन करे। प्रति दिन प्रातःकाल गुरु जी के लिए समिधा जल, कुश पुष्पादि लाकर रखे। (३-९-१ से ३-९-६)

गृहस्थ के कर्म

इस प्रकार अभिमत वेदपाठ समाप्त कर चुकने पर बुद्धिमान् शिष्य गुरुजी की आज्ञा से उन्हें गुरु दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। हे राजन्! विधि-पूर्वक पाणिग्रहण कर अपनी वर्णानुकूल वृत्ति से द्रव्योपार्जन करते हुए सामर्थ्यानुसार समस्त कार्य करता रहे। पिण्डदान आदि से पितृ-गण की, यज्ञादि से देवताओं की, अन्न दान से अतिथियों की, स्वाध्याय से ऋषियों की, पुत्रोत्पत्ति से प्रजापति की, बलियों से भूतगण की तथा वात्सल्यभाव से सम्पूर्ण जगत् की पूजा करे। (३-७-७)।

गृहस्थाश्रम की महत्ता

जो केवल भिक्षावृत्ति से ही रहने वाले परिव्राजक और ब्रह्मचारी हैं उन सबका आश्रय भी गृहस्थाश्रम ही है। अतः यह सब आश्रमों में श्रेष्ठ है।

अतिथिसत्कार—जिसके घर से अतिथि निराश होकर लौट जाता है, वह अपना समस्त पाप उसको देकर और उसका पुण्य लेकर चला जाता है।

वानप्रस्थ के कर्म

इस प्रकार गृहस्थ का काम करते हुए जिसकी अवस्था ढल चुकी है उस गृहस्थ को उचित है कि स्त्री को पुत्रों को सौंप कर अथवा अपने साथ लेकर वन को चला जाय। वहाँ पत्र-फल-मूल आदि का आहार करता हुआ लोम, दाढी और जटाओं को धारण कर पृथ्वी पर शयन करे और मुनि वृत्ति का अवलम्बन करे, सब प्रकार अतिथि की सेवा करे। इसी प्रकार देवपूजन, होम, सब अतिथियों का सत्कार, भिक्षा, और बलि-वैश्वदेव भी उसके विहित कर्म हैं। हे राजन्! वन्य तेल आदि को शरीर में मलना और शीतोष्ण का सहन करते हुए तपस्या में लगे रहना उसके प्रशस्त कर्म है। (३।९।१८—।३।७।२१। ३।७।२२)

सन्यास आश्रम के कर्म

तृतीय आश्रम के अनन्तर पुत्र, द्रव्य और स्त्री आदि के स्नेह को सर्वथा त्याग कर तथा मात्सर्य को छोड़कर चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करे। भिक्षु को उचित है कि अर्थ, धर्म, कामरूप त्रिवर्ग सम्बन्धी समस्त कर्मों को छोड़कर शत्रु मित्रादि में समान भाव रखे, और सभी जीवों का सुहृद हो, निरन्तर समाहित रहकर जरायुज, अण्डज और स्वेदज आदि समस्त जीवों से मन, वाणी और कर्म द्वारा कभी द्रोह न करे, तथा सब प्रकार की आसक्तियों को त्याग दे। ग्राम में एक रात और पुर में पाँच रातों तक रहे, जिससे किसी से प्रेम अथवा द्वेष न हो। जिस समय घर में अग्नि-शान्त हो जाय और लोग भोजन कर चुकें, उस समय प्राण रक्षा के लिए उत्तम वर्णों में भिक्षा के लिए जाय। परिव्राजक को चाहिए कि काम-क्रोध मद, लोभ, और मोह आदि को छोड़कर ममता शून्य होकर रहे। जो

मुनि समस्त प्राणियों को अभयदान देकर विचरता है उसको भी किसी से कभी भय
होता। (१।७।२४ १।७।११)

केवल चार ही आश्रम

ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और सन्यास ये चार ही आश्रम हैं। इनके अति
पाँचवाँ आश्रम और कोई नहीं है। हे मैत्रेय ! जो गृहस्थाश्रम छोड़ने के अनन्तर वान
या सन्यासी नहीं होता वह पापी भी नग्न ही है। (३।१८।३७) देवता पितर
अन्य प्राणी तथा अतिथि को बिना खिलाये जो भोजन करता है वह पाप का भोजन क
है और उससे छुटकारा नहीं होता। (३।११।५६।७९)

विवाह के योग्य कन्या

अपने से तृतीयांश अवस्था वाली कन्या से विवाह करे अधिक या अल्प केशव
अथवा अति साँवली या पाण्डुवर्णा स्त्री से सम्बन्ध न करे। जिसके जन्म से ही अधिक
न्यून अंग हों, जो अपवित्र रोमयुक्त अकुलीन अथवा रोगिणी हो उस कन्या का पाणि
न करे। बुद्धिमान पुरुष को उचित है कि जो दुष्ट स्वभाव वाली हो कटु भाषिणी
माता या पिता के अनुसार अंगहीन हो जो पुरुष के आकार वाली हो, उस स्त्री के
विवाह न करे। मातृपक्ष से पाँचवीं पीढ़ी तक और पितृपक्ष से सातवीं पीढ़ी तक
जो कन्या न हो गृहस्थ पुरुष को नियमानुसार उसी से विवाह करना चाहिए। (३।
१०।१८–१९) अष्टविध विवाह—ब्राह्म दैव आर्ष प्राजापत्य आसुर, गान्धर्व रा
और पैशाच ये आठ प्रकार के विवाह हैं। (३।१०।२४)

मनोरथों की समाप्ति नहीं हो सकती

मनोरथों की तो हजारों लाखों वर्षों में भी समाप्ति नहीं हो सकती। उनमें
कुछ पूर्ण हो भी जाते हैं तो उनके स्थान पर अन्य नये-नये मनोरथ की उत्पत्ति हो जा
है। (४।२।११६) मेरे पुत्र पैरों से चलने लगे फिर वे युवा हुए, उनका विवाह हु
तथा उनकी सन्तानें हुईं यह सब तो मैं देख चुका किन्तु अब मेरा चित्त उन पौत्रों के पु
जन्म को भी देखना चाहता है। इस प्रकार मैंने अब भली प्रकार समझ लि
है कि मृत्यु पर्यन्त मनोरथों का अन्त तो होता नहीं है, और जिसके चित्त में मनोर
की आसक्ति होती है वह कभी परमार्थ में नहीं लग नहीं सकता। (४।२।११६ ४।
११८ ४।२।११९)

तृष्णा की पूर्ति नहीं होती

भोगों की तृष्णा उनके भोगने से कभी शान्त नहीं होती बल्कि घृत-आहुति से अ
के समान वह बढ़ती ही जाती है। सम्पूर्ण पृथ्वी में जितने भी धान्य यव सुवर्ण प
और स्त्रियाँ हैं, वे सब एक मनुष्य के लिए भी सन्तोषजनक नहीं हैं। इसी लिए तृष्णा

सदा त्याग देना चाहिए। जिस समय कोई पुरुष किसी भी प्राणी के लिए पापमयी भावना नही रखता, उस समय उस समदर्शी के लिए सभी दिशाएँ सुखमयी हो जाती हैं। दुर्मतियो के लिए जो अत्यन्त दुस्त्यज है तथा वृद्धावस्था मे भी जो शिथिल नही होती, बुद्धिमान् पुरुष उस तृष्णा को त्याग कर सुख से परिपूर्ण हो जाता है। अवस्था जीर्ण होने पर केश और दाँत तो जीर्ण हो जाते हैं किन्तु जीवन और धन की आशाएँ उनके जीर्ण होने पर भी जीर्ण नही होती। विषयो में आसक्त रहते हुए मुझे दस सहस्र वर्ष बीत गये फिर भी नित्य ही उनमें मेरी कामना होती है। अत अब मै इसे छोडकर अपने चित्त को भगवान् में स्थिर कर निर्द्वन्द्व और निर्भय हो मृगो के साथ विचरूँगा। (४।१०।२८)

लौकिक और पारलौकिक सुख

मन्त्रियो ने खाण्डिक्य से कहा कि इस समय शत्रु आप के वश में है, इसको मार डालना चाहिए। इसको मार देने पर यह सम्पूर्ण पृथ्वी आपके वश में हो जायगी। उसने उत्तर दिया (६।६।२७)—

यह ठीक है कि इसके मारे जाने पर अवश्य सम्पूर्ण पृथ्वी मेरे अधीन हो जायगी। किन्तु इसे पारलौकिक विजय प्राप्त होगी और मुझे सम्पूर्ण पृथ्वी। परन्तु यदि इसे नही मारूँगा तो मुझे पारलौकिक जय की प्राप्ति होगी और इसे सारी पृथ्वी। मैं पारलौकिक जय से पृथ्वी को अधिक नही मानता क्योंकि परलोक-जय अनन्त काल के लिए होती है और पृथ्वी तो थोडे ही दिन तक रहती है। (६।६।२७—६।६।३०)

मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है

मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है। विषय का सग करने से वह बन्धनकारी और विषयशून्य होने से मोक्षकारी होता है। योगी को चाहिए कि वह अपने चित्त को ब्रह्मचिन्तन के योग्य बनाता हुआ ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का निष्काम भाव से सेवन करे। (६।७।२८, ६।७।३६)

मानसिक ताप

काम, क्रोध, भय, द्वेष, लोभ, मोह, विषाद, शोक, असूया, अपमान, ईर्ष्या और मात्सर्य आदि मानसिक ताप के अनेक भेद होते हैं। (६।५।५) अज्ञानरूप अन्धकार से आवृत होकर मूढहृदय पुरुष यह नही जानता कि मैं कहाँ से आया हूँ, कौन हूँ, कहाँ जाऊँगा तथा मेरा स्वरूप क्या है। मैं किसके बन्धन से बधा हुआ हूँ ? इस बन्धन का क्या कारण है ? अथवा यह अकारण ही प्राप्त हुआ है। मुझे क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए तथा क्या कहना चाहिए और क्या न कहना चाहिए ? धर्म क्या है, अधर्म क्या है ? किस अवस्था में मुझे किस प्रकार रहना चाहिए ? क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है ? अथवा क्या गुणमय है और क्या दोषमय है ? इस प्रकार पशु के समान

विवेकशून्य शिश्नोदरपरायण पुरुष अज्ञान जनित महान् दुःख भोगते हैं। (११।११ २२,२३,२४)

(२) श्रीमद्भागवत की नीति

आत्मा की प्रियता

सब प्राणी अपनी आत्मा को ही प्यार करते हैं और दूसरी वस्तुओं को उससे सम्बन्धित होने के कारण ही प्रिय समझते हैं। हे राजन्! सब जीवों को अपनी आत्मा सबसे अधिक प्रिय है और उससे अन्य प्रिय पुत्र-वित्त आदि में जो प्रेम है वह इस कारण से है कि वे आत्मा के सुख के साधन हैं। (१०।१४।५४) हे राजेन्द्र! जीवों जैसी प्रीति अहंकार के आस्पद देह में होती है वैसी प्रीति ममता के आस्पद पुत्र धन गृह आदि में नहीं होती। हे नरश्रेष्ठ! जो यह कहते हैं कि देह ही आत्मा है उनको भी जैसी यह देह प्रिय है वैसे इस देह के पीछे आने वाले (गृह पुत्रादि) प्रिय नहीं होते। यदि यह ज्ञान हो जावे कि देह आत्मा से भिन्न है तब तो देह भी आत्मा के समान प्रिय नहीं होता क्योंकि देह के वृद्ध होकर जर जाने पर भी यह इच्छा बनी रहती है कि आत्मा बनी रहे इस कारण देहधारियों को अपनी आत्मा सबसे प्रिय होती है। उसके निमित्त ही ये (पुत्र भार्या आदि) चर और (गृह धनादि) अचर संसार प्रिय लगता है। (१०-१४-५०-५१)

भगवान् सब प्राणियों का परम आत्मा है

कृष्ण भगवान् को तुम सब प्राणियों का आत्मा समझो वे संसार के हित के लिए माया से देहधारी जैसे प्रतीत हो रहे हैं। (१०-१४-५५) विचार करने पर प्रतीत होता है कि सब श्रेयसाधनों के फलों की पराकाष्ठा आत्मा ही है और सब प्राणियों की आत्मा श्री हरि है। वे ही जीव को आत्मप्राप्ति कराता है। (४-११-११)

भागवत् धर्म भगवान् के भक्तों का धर्म

(प्रबुद्ध ने राजा निमि से कहा) सबसे पहले देह पुत्रादि में वैराग्य साधुओं की संगति और प्राणियों पर यथोचित दया मित्रता और नम्रता करे। शौच तप तितिक्षा, मौन स्वाध्याय कोमल स्वभाव ब्रह्मचर्य अहिंसा सुख-दुःख शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों में हर्ष विषाद न करना सीखे। सब प्राणियों में ईश्वर को देखना एकान्त वास करना, घर रहित होना चोगा वस्त्र पहनना अनायास प्राप्त वस्तुओं से सन्तोष कर लेना सीखे। भागवत् शास्त्र में श्रद्धा करना और दूसरे शास्त्रों की निन्दा न करना मन वाणी और शरीर का संयम करना सत्य शम और दम सीखे। अद्भुत कर्म करने वाले भगवान् श्रीहरि के जन्म कर्म और गुणों का श्रवण कीर्तन और ध्यान तथा भगवान् के लिए सम्पूर्ण इन्द्रियों का व्यापार करना सीखे। इष्ट (वैदिक यज्ञादि) पूर्त (सदाचारादि) और जो कुछ अपने को प्रिय लगे उसको एवं स्त्री पुत्र घर और प्राणों को भी परमेश्वर के लिए अर्पण करना

सीखे। श्रीकृष्ण जिनकी आत्मा और स्वामी है एसे मनुष्यो के ऊपर स्नेह और सब स्थावर, जगम, प्राणियो और विशेष करके मनुष्यो की और उनमें भी महापुरुषो की, शुश्रुषा करना सीखे। पवित्र करने वाले भगवान् के यश का परस्पर वर्णन करना, परस्पर प्रीति और सन्तोष करना तथा अपने अहभाव की निवृत्ति को सीखे। (११–३–२३ से ११–३–३०)

तीन प्रकार के भगवद्भक्तो का वर्णन

जो मनुष्य अपने को सब भूतो में ब्रह्मरूप से अनुस्यूत देखता है और ब्रह्मरूप अपने में सब भूतो को देखता है वह भगवद्भक्तो मे श्रेष्ठ है। जो ईश्वर में प्रेम, उसके अधीन रहने वाले के साथ मित्रता, अज्ञानियो पर कृपा, दोषारोपण करने वालों की उपेक्षा करता है वह भगवद्भक्तो में मध्यम है। भगवत्प्राप्ति के लिए जो श्रद्धा से प्रतिमा में ही भगवान् की पूजा करता है पर भगवद्भक्त और दूसरे लोगों के रूप में उनकी पूजा नही करता वह पुरुष साधारण भक्त है। (भा० ११–२–४५–४६)

इन वाक्यों का सार यह है कि अपने को सब प्राणियो में और सब प्राणियो को अपने में देखना, यह भगवान् की सर्वश्रेष्ठ भक्ति है।

सबसे उत्तम भागवत् कौन

सबसे उत्तम भागवत् (अर्थात् भगवान् का भक्त) वह है जिसमें किसी प्रकार का भेदभाव न हो और सब में समता का भाव हो।

जिसको धन और शरीर में अपनी और परायी बुद्धि न हो और सब प्राणियो में समभाव से देखता हो और शान्त हो वही सर्वश्रेष्ठ भागवत है। (११–२–५२)

साधुओ के लक्षण

कृपालु, किसी का भी द्रोह न करने वाला, क्षमावान्, सत्यशील, असूया आदि दोषो से रहित, सुख और दु ख में समान रहने वाला, यथा शक्ति सबका उपकार करने वाला, विषयों में चचल चित्त न होने वाला, जितेन्द्रिय, कोमलचित्त, सदाचारी, परिग्रह त्यागी, सासारिक तथा पारलौकिक सुख की इच्छा से कर्म न करने वाला, परिमित भोजन करने वाला, सावधान, निर्विकार, धैर्यवान्, देह के ५ धर्मों (क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु) को जीतने वाला, अपने लिए मान को न चाहने वाला, औरो का सन्मान करने वाला, उपदेश देने में समर्थ (कल्प), धोखा न देने वाला, दया से परोपकार करने वाला, ज्ञानी, वेद में मेरे (भगवान् के) द्वारा कहे गये वर्णाश्रम आदि स्वधर्मो का पालन करने में गुण है और त्यागने में दोष ऐसा जानकर भी मेरे ध्यान में बाधा करने वाले धर्म (सब कर्त्तव्यों) का भी त्याग कर जो मेरा भजन करता है वह साधुओ में श्रेष्ठ है। मै जो हूँ, जैसा हूँ

और जितना हूँ उसको भली भाँति जान कर अनन्य भाव से जो मेरा भजन करते हैं उनको मैं (भगवान्) सबसे उत्तम भक्त मानता हूँ। (११-११-२८-३३)

भगवान् के भक्त (भगवत) के लक्षण

मुझमें मन और चित्त को लगाता हुआ मेरे धर्मों में मन से प्रीति करता हुआ, और मेरा स्मरण करता हुआ पुरुष सब कर्मों को सावधानी से मेरे आराधन के लिए करे। निर्मल अन्तःकरण वाला पुरुष प्रकाश की भाँति बाहर और भीतर पूर्ण (व्यापक) और आवरण रहित मुझको सम्पूर्ण प्राणियों में और अपने में विद्यमान देखे। हे महामते! इस प्रकार केवल ज्ञान दृष्टि का आश्रय करके जो पुरुष सम्पूर्ण प्राणियों को मेरा रूप मानता हुआ उनकी पूजा करता है जो ब्राह्मण या चाण्डाल में चोर में या ब्राह्मण को दान देने वाले में सूर्य में अथवा अग्नि की चिनगारी में शान्त अथवा क्रूर पुरुषों में समान दृष्टि रखता है उसी को मैं पण्डित मानता हूँ। सब मनुष्यों में नित्य मेरी भावना करने वाले पुरुष के इसी जन्म में स्पर्धा (समवयों में) असूया (बड़ों में) तिरस्कार (छोटों में) अहंकार (अपने में) आदि दोष शीघ्र दूर हो जाते हैं। अपने ऊपर हँसते हुए मित्रों को अपनी देह में मले बुरे की दृष्टि को और इस दृष्टि से प्राप्त हुई लज्जा को छोड़कर, कुत्ते चाण्डाल, बैल गव तक सब को भूमि में दण्डवत प्रणाम करे (११-२७-९-१२-१९)

सब प्राणियों में सद्भाव

जब तक यह भाव उत्पन्न न हो कि मैं इन सब प्राणियों में (ईश्वर) (अन्तर्यामी रूप से) रहता हूँ तब तक मन वाणी और शरीर से इस प्रकार उपासना करता रहे। इस प्रकार के आचरण करने वाले पुरुष की दृष्टि में सब ब्रह्ममय हो जाता है। तब सर्वत्र ईश्वर बुद्धि रखने से उत्तम आत्म-साक्षात्कार रूप विद्या से यह चारों ओर ब्रह्म को ही देखता है और सब सङ्गों को त्याग कर सम्पूर्ण क्रियाओं से उपरत हो जाता है। सब उपायों से उत्तम उपाय यही है कि मन वाणी शरीर की वृत्तियों से सब प्राणियों में मेरी भावना करे ऐसा मेरा मत है।

भिन्न-भिन्न प्रकार से ईश्वर की मान्यता

हे राजन्! इसी ईश्वर को कोई (मीमांसक) कर्म कहते हैं, दूसरे (चार्वाक आदि) स्वभाव वाले कहते हैं कोई काल कहते हैं और कोई दैव कहते हैं। (४-११-२२)

भगवान् किन-किन बातों से प्रसन्न होते हैं

(अपने से बड़ों के प्रति) सहनशील होने से (अपने से छोटों पर) दया करने से (समान पुरुषों के साथ) मित्रता से और सम्पूर्ण प्राणियों को एक समान देखने से सबके आत्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं। (४-११-१३) सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करने से,

प्रारब्धवश जो कुछ मिल जाय उसी से सन्तोष करने से और सब इन्द्रियो को वश मे रखने से, भगवान शीघ्र प्रसन्न होते हैं। (४–३१–१९)

भगवान् को भक्त सबसे अधिक प्रिय है

जैसा मुझे तुम (भक्त) अति प्रिय हो वैसे मेरे पुत्र ब्रह्मा, साक्षात् मेरे स्वरूप शंकर, मेरे भ्रातृ बलराम, मेरी पत्नी लक्ष्मी, और मेरी मूर्ति (आत्मा) भी मुझे प्रिय नही है। मैं निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर और सबदर्शी मुनि (भक्त) के पीछे-पीछे इस कारण नित्य जाता हूँ कि उसकी चरण रज से मैं अपने को पवित्र करूँ। (११–१४–१५–१६)

भगवद् भक्ति ही संसार समुद्र के लिये नौका है

पांच ज्ञानेन्द्रियां और मन इस षड्वर्ग रूपी मगरो से भरे हुए ससार समुद्र को जो पुरुष केवल दुःख रूप योगादि साधन से ईश्वर रूपी कर्णधार के विना तैरने की इच्छा करते हैं उनको बडा कष्ट होता है। इसलिए तुम भगवान् हरि के पूजनीय चरणो की नौका बना कर दुस्तर ससार समुद्र को तैर कर पार हो जाओ। ४–२२–४०)

भगवान् को जो प्रसन्न कर सके यही सबसे श्रेष्ठ है जिससे भी हरि प्रसन्न होते हो वही कर्म है, वही विद्या और वही बुद्धि है, वही वर्ण है, वही श्रेष्ठ कुल है, वही शुभ आश्रम है। (४–२७–४७)

परम सुख

भक्त और धर्मात्मा लोगो के लिए सब ओर आनन्द ही है। जो परिग्रह, शून्य, जितेन्द्रिय, शान्त, समबुद्धि और मेरी प्राप्ति से सन्तुष्ट चित्त वाले हैं उन भक्तो के लिये, चारों दिशाओं में आनन्द ही आनन्द है। मुझमें चित्त लगाकर सब ओर से आसक्ति रहित भक्तो को अपनी आत्मा मुझसे जो सुख होता है वह विषय लोलुप पुरुषो को कहाँ से मिलेगा। मुझमें दत्तचित्त भक्त मुझे छोडकर ब्रह्मपद, स्वर्ग का राज्य, चक्रवर्ती राज्य, पाताल का राज्य, योगसिद्धि और मोक्ष की भी इच्छा नही करते।(११–१४–१२–१४)

भक्ति सब पापो को नष्ट करके मनुष्य को पवित्र बनाती है भक्ति के समान दूसरा कोई साधन नही है

हे उद्धव! जैसे भोजन बनाने में जलाई गई भली भाँति प्रज्वलित अग्नि काष्ठो को जला कर भस्म कर देती है वैसे ही मेरी भक्ति सम्पूर्ण पातको को भस्म कर देती है। वृद्धि को प्राप्त हुई मेरी भक्ति जैसा मुझे वश में कर लेती है, वैसा योग, सांख्य, धर्म, वेदाध्ययन, तप तथा दान मुझे वश में नही कर सकते। साधुओ का प्रिय आत्मा रूप मैं श्रद्धा युक्त एकाग्र भक्ति से प्राप्त होता हूँ। मेरी दृढ भक्ति चाण्डाल तक को जन्म मरण से मुक्त कर देती है। सत्य और दया से युक्त दान आदि धर्म और तप से युक्त विद्या मेरी भक्ति से रहित जीव को पूर्णतया पवित्र नही कर सकती। (११–१४–१७–२२)

अपना स्वधर्म (वर्णाश्रम विहित कर्म) ही भगवान् की प्रसन्नता को उत्पन्न करता है

हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! इस कारण मनुष्यों द्वारा अपने अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार उत्तम प्रकार से किए गए धर्म का फल भी हरि की प्रसन्नता ही है। (१–२–१३)

वर्ण धर्म

शम दम तप शौच सन्तोष शान्ति सरल व्यवहार, मेरी भक्ति दया और सत्य ये ब्राह्मणों के स्वभाव सिद्ध धर्म हैं। तेज बल धैर्य शूरता तितिक्षा उदारता उद्यम स्थिरता ब्राह्मणों की भक्ति और ऐश्वर्य ये क्षत्रियों के स्वभावसिद्ध धर्म हैं। आस्तिक्य दान में निष्ठा दम्भ न करना ब्राह्मणों की सेवा और धन की वृद्धि होने पर भी असन्तुष्ट रहना ये वैश्यों के स्वभाव सिद्ध धर्म हैं। ब्राह्मण गौ और देवताओं की निष्कपट भाव से सेवा करना और जो उस सेवा से मिले उसी से सन्तुष्ट रहना ये शूद्रों के स्वभाव सिद्ध धर्म हैं। अशुचि रहना झूठ बोलना चोरी करना नास्तिकता बिना मतलब कलह करना काम क्रोध और अति लोभ ये चाण्डालादि के स्वभाव सिद्ध धर्म हैं। अहिंसा, सत्य चोरी न करना काम क्रोध लोभ और मोह का त्याग और सब प्राणियों के प्रिय तथा हित की चेष्टा करना ये सब वर्णों के स्वाभाविक धर्म हैं। यज्ञ करना वेद पढ़ना और दान देना ये सब द्विजातियों के धर्म हैं। दान लेना पढ़ाना दूसरों को यज्ञ कराना ये केवल ब्राह्मणों की ही वृत्तियाँ हैं। दूसरों की नहीं। यदि यह प्रतीत हो कि दान लेना अपने तप तेज और यश का विनाशक है तब अन्य दो वृत्तियों से (पढ़ाने या यज्ञ कराने से) अपने जीवन का निर्वाह करे। यदि इनमें भी दोष प्रतीत हो तो शिला वृत्ति से अपना काम चलावे। खेत में से अनाज ले जाने के बाद जो अन्न की बाल खेत में पड़ी हो उसका ग्रहण करना शिल-वृत्ति है। क्योंकि यह ब्राह्मण का शरीर तुच्छ विषय भोगों के लिए नहीं है किन्तु इस लोक में कष्ट सहने तथा तप करने के लिए तथा मरने के अनन्तर को मोक्षरूप सुख को प्राप्त करने के लिए है। (११–१७–१६–२१। ११–१७–४०–४२)

आश्रमों के धर्म गृहस्थों को कैसे रहना चाहिए

क्रमशः वेदाध्ययन (ब्रह्मयज्ञ) स्वधा (पितृयज्ञ) स्वाहा (देवयज्ञ) बलि वैश्व देव (भूतयज्ञ) और अन्नदान (नृयज्ञ) के द्वारा मेरे ही रूप देव ऋषि पितर, एवं अन्य समस्त भूतों की यथा शक्ति नित्य पूजा करे। उद्यम के बिना प्राप्त हुए अथवा अपनी वृत्ति से उपार्जित शुद्ध धन से अपने पोष्यवर्ग वर्णों को भली-भाँति भरण पोषण कर उन्हें कष्ट न पहुँचाकर उपर्युक्त यज्ञों को विधिपूर्वक करे। कुटुम्ब वाला पुरुष अपने कुटुम्ब में आसक्त न रहे, तथा ईश्वर निष्ठा में असावधान न रहे। विवेकी पुरुष अदृष्ट सुख (स्वर्ग के सुख) को उसी प्रकार नाशवान् समझे जिस प्रकार इस लोक के सुख नाशवान् हैं। रास्ते में जाते

हुए बटोहियों के समागम के समान पुत्र, स्त्री, आप्त और बान्धवों का समागम है। जैसे स्वप्न में देखे गए पदार्थ जागने पर नहीं रहते हैं। वैसे ही ये पुत्रादि शरीर देह के पश्चात् कभी साथ नहीं रहते। इस प्रकार दृष्ट तथा अदृष्ट पदार्थों को मिथ्या जानकर और देहादि में ममत्व रहित होकर अतिथि के समान घर में रहता हुआ, गृहस्थ घर के कर्मों में बद्ध नहीं होता। भक्तिमान् पुरुष गृहस्थ के लिए विहित कर्मों से मेरी आराधना करके गृहस्थ में या अथवा वन में चला जाय और यदि पुत्रवान् हो तो सन्यास ले ले। जिस पुरुष की बुद्धि घर में आसक्त है और जो पुत्र, धन आदि की एषणा से व्याकुल है, स्त्री में रत है, जिसकी यदि इन विषयों की प्राप्ति में क्षम है और जो अज्ञानी है या मैं और मेरी ऐसी बुद्धि से बन्धन को प्राप्त होता है। अहो! मेरे माता पिता वृद्ध हैं, स्त्री के छोटे-छोटे बच्चे हैं, ये मेरे बिना अनाथ होकर क्लेश पाते हुए किस प्रकार जीवित रहेंगे। इस प्रकार जिसका चित्त घर की चिन्ताओं से विकल रहता हो वह मूढ़ पुरुष विषयों से तृप्त होकर उन गृह आदि विषयों का चिन्तन करता हुआ मरने पर तामस योनि में जन्म लेता है। (११-१७-५०-५८)

जीवन के पुरुषार्थ

तीव्र अज्ञान को पार करने की इच्छा करने वाला पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अत्यन्त नाश करने वाली वस्तुओं में कभी आसक्ति न करे। इन चार पुरुषार्थों में भी मोक्ष सबसे उत्तम पुरुषार्थ है। क्योंकि वह कदापि नष्ट होने वाला नहीं है। शेष तीन तो सदा काल के भय से युक्त है। (विनाशी हैं) (४-२२-३४।३५)

कर्म से ज्ञान अधिक आवश्यक है

भगवत्परायण पुरुष निष्काम भाव से निवृत्त, (नित्य नैमित्तिक) कर्मों को करे। प्रवृत्त (सकाम) कर्मों को न करे। और जब आत्मविचार में ठीक प्रवृत्त हो जाय तब वेद विहित कर्मों का भी आदर करे अभिमान, मत्सर (डाह), आलस्य, और ममता से रहित, (गुरू में) दृढ़ प्रेम करने वाला, व्यर्थ न बोलने वाला पुरुष हो। सब विषयों में आत्मा का अर्थ समान है। ऐसी सम दृष्टि रख कर स्त्री, पुत्र, घर, क्षेत्र, बान्धव और धन आदि में उदासीन होना चाहिए। (११-१०-४।६-७)

स्त्री, मास और मद्य का निषेध

इस लोक में स्त्री सग, मद्यपान, मास भक्षण, प्राणी मात्र को स्वभाव से निय प्राप्त है। उनके विषय में वेद विधान नही करता, किन्तु आसक्त पुरुषो के लिए विवाह, यज्ञ, और सुरा ग्रहण की व्यवस्था करता है। धन का मूल्य प्रयोजन धर्माचरण है। क्योकि धर्म से परोक्षज्ञान सहित अपरोक्षज्ञान होता है। जिसके अनन्तर शान्ति प्राप्त होती है। ऐसे धर्म आदि फल देने वाले धन को अज्ञानी लोग बलवान् मृत्यु को देखते हुए अपने घर

और देह के निमित्त व्यय करते हैं। इस शुद्ध धर्म को लोग नहीं समझते कि वेद में सुरा के स्थान सूँघन की ही विधि है। पान करना की नहीं और यज्ञ में पशु का आलभन (देवताओं के उद्देश्य से पशु का छू जाना) विहित है किन्तु हिंसा विहित नहीं है। इस प्रकार स्त्री संग का विधान भी पुत्रोत्पत्ति के लिए है न कि रति सुख के लिए। (११–५–११–१३)

जीव का जीव ही जीवन अन्न है

जीवो जीवस्य जीवनम् —हस्त रहित (पशु आदि) हाथ वालों के पाँव रहित (तृणादि) चार पाँव वालों के और उनमें भी बड़े जीव बड़े जीवों के भक्ष होते हैं इस प्रकार सभी जीव जीवों की जीविका है। (१–१३–४६)

असाधुओं के मार्ग

जैसे पशु इस देह को आत्मा मान कर परस्पर एक दूसरे का वध करते हैं वैसे ही देह को आत्मा मानकर प्राणिमात्र की हिंसा करना भगवान् के अनुयायियों को शोभा नहीं देता। (४–११–१)

मृत्यु के पश्चात् दूसरे शरीर द्वारा कर्मों के फलों का भोग

मनुष्य जिस देह से कर्म करता है उसको इसी लोक में छोड़कर अन्य जीवों (स्वर्ग नरकादि) में कर्मफल पाने हुए दूसरे देह से पूर्व देह द्वारा कर्मों का भोग करता है। जैसे सोया हुआ पुरुष जाग्रत देह को सोता हुआ छोड़कर स्वप्न में उसी जाग्रत देह के समान दूसरे लिंग देह से मन में संस्कार रूप से स्थित कर्म फल को भोगता है। ऐसे सोता हुआ पुरुष इस जीवित शरीर का अभिमान छोड़कर स्वप्न में उसके समान ही दूसरे शरीर से मन में संस्कार रूप से स्फुरण हुए कर्म फल को भोगता है वैसे ही परलोक में भी यह कर्म फलों को भोगता है। (४–२ –५८।४–२९–६ ।६१)

महान् कौन है ?

जो पुरुष सम शान्त मान रहित और सबके हित करने वाले और सज्जन हैं उनको ही महान समझो। (५–५–२)

अर्थ की निन्दा

अर्थ के उपार्जन में प्राप्त होने पर उसकी वृद्धि में रक्षा और व्यय में तथा उसके नाश और उपभोग में मनुष्यों को आयास त्रास और चिन्ता तथा भ्रम होते हैं। चोरी, हिंसा, असत्य दम्भ काम क्रोध अभिमान मद भेद वैर, अविश्वास स्पर्धा स्त्री जुआ और मद्य इन १५ अनर्थों की जड़ अर्थ सम्पत्ति में बन रही है। इस कारण कल्याण को चाहने वाला पुरुष अर्थ रूपी अनर्थ को दूर से त्याग दे। भ्राता स्त्री माता पिता और मित्र जो पहले सुहृदय और अति-स्नेही रहते हैं, वे सब मात्र कौड़ी कौड़ी के लिए तुरन्त ही विरोधी

होकर शत्रु हो जाते हैं। थोड़े ही धन के निमित्त ये लोग क्षुब्ध और अत्यन्त क्रोधित होकर स्पर्धा (डाह) करते हैं। अत सहसा सब प्रेम को भूल कर शीघ्र घर से निकाल देते हैं और मार भी डालते हैं। (११–१३–१७।–२१)

सब सुख-दुखो का कारण अपना मन ही है

मनुष्य, देवता, आत्मा, गृह, कर्म, काल आदि कोई भी मेरे सुख दुःख के कारण नही। श्रुति मन को ही सुख दुःख का कारण मानती है क्योकि मन ही ससार चक्र को घुमाता है। (११–२३–४३)

मनुष्य के शत्रु कौन हैं ?

राग, द्वेष, लोभ, शोक, मोह, भय, मद, मान, अपमान, असूया, माया, हिंसा, मत्सर, अभिनिवेश, प्रमाद, क्षुधा, निद्रा ये सब शत्रु हैं। ये रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न होते हैं। कुछ शत्रु सत्व गुण से भी उत्पन्न होते हैं। (परोपकारादि) (६–१५–४३–४४)

परमात्मा ही सब में व्याप्त है और सबका प्रकाशक है

जिस चैतन्य से विश्व चेतन होता है, विश्व जिसको चेतन नही कर सकता, और जो इस देह की सुषुप्ति अवस्था में साक्षी रूप से जगता है, उसको लोग नही जानते और वह सबको जानता है। इस ससार में स्थावर जगम आदि जो कुछ वस्तुये हैं वे सभी परमात्मा से अपनी सत्ता और चैतन्य द्वारा व्याप्त हैं इस कारण ईश्वर ने जो कुछ दिया है उसी से भोगो का सेवन कर दूसरे के धन की आकाक्षा मत कर। (८–१–९–१०)

समस्त सासारिक भोगो से भी सुख और शान्ति कभी नही मिलती

इस ससार में जितने धान, जौ, आदि अन्न, पशु और स्त्रियाँ हैं वे सब विषय ग्रस्त (कामासक्त) पुरुष के मन को सन्तोष नही दे सकते। जैसे घी डालने से अग्नि अधिक बढती है वैसे ही विषयो को भोगने से विषयभोगो की अभिलाषा कभी भी शान्त नही होती। (९–१७–१३–१४)

किस उपाय से पूर्ण सुख और शान्ति होती है

जो पुरुष समस्त प्राणियो मे अमगलकारी भेदभाव नही रखता और सब पर समान दृष्टि रखता है उस पुरुष के लिए सभी दिशाएँ सुख रूप हो जाती हैं। जो तृष्णा अविवेकी पुरुषों से नही त्यागी जा सकती, जो मनुष्य के जरा जीर्ण होने पर भी जीर्ण नही होती, उस तृष्णा को सुख की इच्छा करने वाला, पुरुष शीघ्र ही त्याग दे। (ययाति कहते हैं) मुझे निरन्तर विषयो का सेवन करते हुए एक हजार वर्ष व्यतीत हो गए किन्तु जितना जिन विषयो को भोगता हूँ उतनी ही उनके लिये तृष्णा बढती जाती है (९–१९–१५–१६–१६)

इन्द्रियों की प्रबलता

माता बहन और पुत्री के साथ भी एकान्त एकासन पर नहीं बैठना चाहिए क्यों बलवान् इन्द्रियों का समूह विवेकी पुरुष को भी उनकी ओर आकृष्ट कर देता (९-१९-१७)

परम पद की प्राप्ति का उपाय

जिन पुरुषों की देह में मैं और गृहादि में 'मेरा' यह अभिमान नहीं है वे मि भगवान् के पद को प्राप्त करते हैं। अपने अपमानों को सहन करे पर किसी का अपमान करे यह देह धारण कर किसी से वैर न करे। (१२-६-३३-३४)

३—शिव पुराण

सर्वम् दुःखम्

जिसने इस शरीर को धारण किया उसने अवश्य ही दुःख प्राप्त किया इसमें कोई संशय नहीं है। सर्वप्रथम माता के गर्भ में जन्म ही दुःख का कारण है। उसके बाद कौमार अवस्था में बालकों की लीला सम्बन्धी महादुःख होता है। इसके बाद युवावस्था में दुःख रूपी कामनाओं को भोगते हुए भी दुःख ही दुःख है। दिनों के बीतने और आने से तथा अनेक कार्य भारों से नित्य प्रति आयु क्षीण होती है परन्तु इसको कोई जान नहीं पाता है। इसके पश्चात् शरीरान्त काल में मरण ही महादुःख है। इसके बाद अब मनुष्य अनेक प्रकार की नरक यातना सदा भोगते रहते हैं वह भी महादुःख है। इसलिए इस शरीर को अनित्य समझ कर तुम सत्य धर्म का आचरण करो। जिस धर्म से भगवान् शंकर प्रसन्न होते हैं मनुष्य को उसी सत्य धर्म का आचरण करना चाहिए। (२२-२३-२४-२५-२६)

सत्य का महत्व

सत्य के आश्रय को सर्व-श्रेष्ठ धर्म कहा गया है तथा सत्य के द्वारा ही परम गति की प्राप्ति होती है। सत्य से ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है और क्या कहें सत्य में सब कुछ प्रतिष्ठित है अर्थात् सत्य ही सबका आधार है। (शिव २८) सत्य ही परमब्रह्म है, सत्य ही सर्वश्रेष्ठ तप है सत्य ही परम यज्ञ है तथा सत्य ही सर्वश्रेष्ठ शास्त्र है। (शिव २३) सोये हुए अर्थात् अज्ञानियों में सत्य ही जागता रहता है, सत्य ही परम पद है सत्य से ही इस पृथ्वी का धारण हुआ है, सत्य में ही सब कुछ स्थित है। (शिव २४) तप यज्ञ पुण्य देवता ऋषि तथा पितरों का पूजन जल विद्या आदि सभी सत्य में ही प्रतिष्ठित हैं। (२५) सत्य के आधार पर ही वायु चलती है। सत्य से ही सूर्य तपता है, अग्नि की दाहकता भी सत्य पर ही आधारित है तथा स्वर्ग भी सत्य के आधार पर स्थित है। (२७) समस्त वेदों का पालन तथा समस्त तीर्थों का स्नान भी इस लोक में सत्य द्वारा ही प्राप्त होता है। अतः निःसन्देह सत्य से ही मनुष्य सब कुछ पाता है (२८)

हजारो अश्वमेघ यज्ञ तथा लाखो अन्य यज्ञ, एक ओर और सत्य को दूसरी ओर यदि तराजू के पलडे पर रख कर तोला जाय, तो सत्य ही विशेष (अधिक) पाया जावेगा। (२७) सत्य से ही देवता, पितर, मनुष्य, सप, राक्षस आदि सभी प्रसन्न होते हैं तथा चर, अचर सभी वस्तुओ से युक्त सम्पूर्ण लोक भी सत्य से ही प्रसन्न होते हैं। (३०) सत्य सबसे बडा धर्म कहा जाता है तथा सत्य को ही सबसे श्रेष्ठ पद कहा जाता है और सत्य को पर-ब्रह्म कहा गया है। अत सदा सत्य ही बोलना चाहिए। (३१) अत्यन्त कठिन तप करके, सत्य में तत्पर हुए मुनि लोगो ने तथा सत्य धर्म में सलग्न सिद्ध लोगो ने, स्वर्ग को प्राप्त कर लिया। (३२) अगाध, विशाल, सिद्ध तथा पवित्र सत्य रूपी तीर्थ के तालाब में मन से युक्त होकर स्नान करना चाहिए क्योकि वह सबसे उत्तम स्थान कहा गया है। (३४) अपने लिए अथवा दूसरो के लिए या पुत्र आदि के लिए जो मनुष्य झूठ नही बोलते हैं वे मनुष्य स्वर्ग जाते हैं। (३५) वेद, यज्ञ, तथा मन्त्र, ये ब्राह्मणो के पास यद्यपि नित्य रहते हैं परन्तु असत्य बोलने वाले ब्राह्मण को ये शोभा नही देते हैं। अत सत्य ही बोलना चाहिए। (३६)

मुक्ति के भेद

ससार में क्लेशो को दूर करने वाली तथा परमानन्द को देने वाली मुक्ति चार प्रकार की कही गयी हैं। सारूप्य, सालोक्य, सानिध्य तथा सायुज्य ये सभी भगवान् शकर की कृपा से प्राप्त होती है। (२–३)

काशी में मरने मात्र से मुक्ति

यहाँ काशी क्षेत्र में न ज्ञान की अपेक्षा है न भक्ति की न कर्म की और न दान की। यहाँ न सस्कृति (सस्कार) की अपेक्षा है न ध्यान, न नाम सकीर्तन, न पूजन आदि की ही अपेक्षा है और न श्रेष्ठ जाति की ही अपेक्षा है। केवल जो इस मेरे मोक्ष दायक क्षेत्र में वास करता है तथा जिस किसी प्रकार यहाँ यदि मर जाता है तो निश्चय ही वह मोक्ष को प्राप्त करता है। काशी पुरी के बिना इन सब कर्मों का नाश नही होता है, सब तीर्थ सुलभ हैं किन्तु काशी पुरी दुर्लभ है (४६)

उत्तम पुरुषों का स्वभाव

उत्तम कोटि के लोगो का ऐसा स्वभाव होता है कि वे दूसरो के कष्ट को नही सहन कर पाते हैं। स्वय वे दुख सह लेते हैं किन्तु दूसरों के दुख को हटाने का प्रयत्न करते हैं। (२४)

चार प्रकार के पुरुष ही पृथ्वी के आधार हैं

दयालु, अभिमान का स्पर्श न करने वाले, उपकारी और जितेन्द्रिय, ये चार पुण्य के स्तम्भ पृथ्वी को धारण किये हुए हैं (२६)

तप का महत्व

तप सबसे बड़ा कहा गया है। तप का महान् फल होता है। जो लोग तप में निरत रहते हैं वे देवताओं के साथ आनन्द करते हैं। तप से स्वर्ग प्राप्त होता है। तप से ही यश प्राप्त होता है। तप से काम की प्राप्ति होती है, तप सम्पूर्ण अर्थों का साधन है। (४) मनुष्य जिस किसी कार्य के उद्देश्य से तप करता है उन सब को वह इस लोक अथवा परलोक में प्राप्त कर लेता है। तपोबल द्वारा ही ब्रह्मा बिना परिश्रम इस सारे विश्व का निर्माण करते हैं, तपोबल से ही विष्णु इसका पालन करते हैं तथा शिव इसका संहार करते हैं। तप के ही आधार पर शेष इस समस्त भू-भार को धारण करते हैं। ज्ञान विज्ञान आरोग्य सौन्दर्य सौभाग्य और नित्य सुख सभी तपस्या से ही प्राप्त होते हैं। (४)

वृक्ष लगाने का महत्व

जो कान्तार (वन) में वृक्ष लगाता है वह बीते हुए तथा आने वाले सम्पूर्ण अपने पितृ वंशो को तारता है इसलिए वृक्षों को अवश्य लगाना चाहिए। (१०) तालाब बनाने वाला वृक्ष लगाने वाला तथा यज्ञ करने वाला जो ब्राह्मण है वह स्वर्ग में कभी भी हीन नहीं होता है और जो सत्यवादी है वह भी कभी स्वर्ग से वंचित नहीं होता है।

पुण्य-कार्यों में भाव की प्रधानता

गंगा आदि तीर्थों मे मछलियाँ रहती हैं वैसे ही देव मन्दिरों में पक्षी रहते हैं किन्तु वे भाव शून्य होने के कारण जिस प्रकार फल के भागी नहीं होते वैसे ही भाव शून्य मनुष्य तीर्थ में स्नान करने तथा दान से कोई फल नहीं प्राप्त होते हैं। समस्त शास्त्रीय कार्यों में हृदय के भाव की शुद्धि को परम पवित्र माना गया है। हम पुत्री और पत्नी दोनों का आलिंगन करते हैं किन्तु दोनों में भाव भिन्न-भिन्न होता है। (२४) भाव से ही मनुष्य बन्धन में आ जाता है और भाव से ही वह बन्धन से मुक्त हो जाता है तथा भाव से ही पवित्र और शुद्धात्मा होकर मनुष्य स्वर्ग और मोक्ष भी प्राप्त करता है।

कर्म बन्धन

क्या करना चाहिए कहाँ जाना चाहिए, क्योंकि हम लोग कर्मों के बन्धन में फँसे हुए हैं। जैसा पहले कर्म किया था वैसा ही फल भोग रहे हैं। कर्म तो मनुष्य हँसता हुआ करता है, किन्तु फल को रोता हुआ ही भोगता है। इसीलिए कोई न किसी को दुःख देता है और न किसी को सुख। यह केवल भ्रम है कि सुख दुःख ईश्वर प्रदत्त हैं। अपने कर्मों के अनुसार ही दुःख होता है और उन्हीं के अनुसार सुख भी होता है। इसलिए कर्म ही गुरु अथवा प्रधान है और कर्म में ही सब कुछ स्थित है। तुम मैं और समस्त जगत् ये सब अपने-अपने कर्मों के वश है। अतः कभी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। (१२-१३-१४-१५-१६) पहले जो कर्म किया था उसका फल हम लोग अब भोग रहे हैं। कभी

किसी कर्म का नाश होता है तो कभी किसी कम के फल का भोग होता है। इस कारण से फिर तुम ऐसे कर्म करने के लिए उद्यत मत हो। कौन माता, कौन पिता, कौन स्वामी, और कौन किसी की स्त्री है, इस ससार में कोई भी किसी का नही है। सभी को अपने किए हुए कर्मों का भोगने वाला जानो। (२४–२६–२८)

कर्मों का महत्व तथा भेद

सौ करोड कल्पो में भी किये हुए कर्मों का क्षय नही होता है। अत किये हुए शुभ या अशुभ कर्म का फल अवश्य ही भोगना पडता है। इस ससार में केवल अशुभ कर्म, नरक का कारण माना गया है तथा शुभ कम से स्वर्ग होता है तथा दोनो से मनुष्य का जन्म होता है। शुभ-अशुभ कर्मों के न्यून तथा अधिक होने पर सम्यक् या असम्यक् जन्म होता है। शुभ और अशुभ इन दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय हो जाना ही मुक्ति है। कर्म काण्ड से सचित्, क्रियमाण और प्रारब्ध ये तीन प्रकार के कर्म कहे गये हैं। ये तीन कर्म बन्धन के कारण हैं। पूव जन्मो में किए हुए कर्म को सचित कर्म कहा है और शरीर के द्वारा भोगे जाने वाला कर्म प्रारब्ध कर्म कहा जाता है और इस जन्म में वर्तमान काल में किये जाने वाले शुभाशुभ कर्म को क्रियमाण कर्म जानना चाहिए। प्रारब्ध कर्म का क्षय भोग से होता है अन्यथा नही। सचित तथा क्रियमाण इन दोनो कर्मों का पूजन आदि उपाय से भी नाश हो सकता है। (३७–४०–४१–४२–४३–४४)

प्रारब्ध कर्म की प्रबलता

जो भविष्य (होने वाला) है वह तो अवश्य ही होता है, उसको हटाने वाला कोई नही है। क्योकि इस ससार में प्रारब्ध के आधीन ही सब कुछ है। इसलिए प्रारब्ध शिव स्वरूप कहा गया है। (९) प्रारब्ध कर्म बिना भोग का नष्ट नही होता है, वह पूर्ण निश्चित है परन्तु यदि (काशी में) मृत्यु हो जाय तो तब उस प्रारब्ध कर्म का क्षय हो जाता है। (४९)

स्वार्थ की व्यापकता

कौन माता है, कौन पिता है, कौन पुत्र है और कौन प्रिय है? हे देवि! त्रिलोकी में सब स्वाथ में ही तत्पर हैं, इसमें कोई सन्देह नही।

पाप

दूसरे की स्त्री तथा द्रव्य की इच्छा करना, मन से दूसरे के अनिष्ट का चिन्तन करना, दूषित कार्यों में अभिनिवेश होना ये चार प्रकार के मानसिक पाप कर्म हैं। असगत सभाषण, असत्य तथा अप्रिय भाषण, पीठ पीछे चुगली करना, ये चार प्रकार के वाचिक पाप कर्म हैं। अभक्ष्य का भक्षण, हिंसा, मिथ्या कार्य करना, दूसरों के धन को चुरा लेना ये चार शारीरिक दूषित कर्म कहे गये हैं।

महापातकियों का लक्षण

ब्रह्म हत्या करने वाला, शराब पीने वाला, चोरी करने वाला गुरु की स्त्री के साथ गमन करने वाला तथा इनका संपर्क रखने वाला ये पाँचों महापातकी कहे जाते हैं।

ब्रह्म हत्या तुल्य पाप

जो क्रोध से लोभ से भय से या द्वेष से ब्राह्मण के वध के लिए उसको मर्मभेदी कलंक लगा देता है वह ब्रह्म हत्या का दोषी होता है। जो ब्राह्मण को अपने यहाँ बुला कर कोई वस्तु उसको सुपुर्दगी के लिए प्रदान करके पुनः ले लेता है तथा निर्दोष को दोषी बना देता है वह ब्रह्म हत्यारा होता है। जो विद्या के अभिमान से उदासीन श्रेष्ठ ब्राह्मण को सभा के बीच में निस्तेज कर देता है वह भी मनुष्य ब्रह्म हत्या करने वाला कहा जाता है। जो झूठे गुणों से अपने को उत्कृष्ट बनाता है तथा गुणों को प्रकट करके अपनी उत्कृष्टता जबरदस्ती प्रदर्शित करता है (बताता है) वह भी ब्रह्म हत्यारा माना गया है जो बैल आदि अथवा तिरस्कृत वाणी और गुरु के समेत ब्राह्मणों को विघ्न में डालता है वह ब्रह्म हत्यारा माना जाता है। जो मनुष्य देवता ब्राह्मण गौओं के निमित्त दी हुई भूमि को जो समय से नष्ट हो गयी हो तो भी यदि हरण कर लेता है तो वह ब्रह्म हत्यारा कहलाता है। देवता ब्राह्मण का धन हरण करना तथा अन्याय से धन का उपार्जन करना भी ब्रह्म हत्या तुल्य माना गया है। इसमें कोई संशय ही नहीं है।

महापाप

माता-पिता का परित्याग करना झूठी गवाही देना ब्राह्मणों के समक्ष झूठ बोलना, शिवभक्तों को मांस खिलाना और अभक्ष्य वस्तुओं का भक्षण करना ये महापाप कहलाते हैं। (१२) इसी प्रकार वन में जो निरपराध प्राणियों को मारता है और जो साधु, ब्राह्मण तथा धर्म के लिए प्राण उत्सर्ग नहीं करता और धर्म के लिए जो सज्जनों को नियुक्त नहीं करता वह पाप करता है। गौओं के मार्ग में वन में ग्राम में जो अग्नि लगाते हैं उन्हें ब्रह्म हत्या के समान पाप का भागी होना पड़ता है। जो दीन व्यक्तियों का सर्वस्व अपहरण करता है तथा पुरुष स्त्री हाथी घोड़ा गौ भूमि चाँदी वस्त्र औषधि और रसों का विक्रय करता है वह ब्राह्मण महा पाप का भागी होता है। चन्दन अगर, कपूर, कस्तूरी, सूती वस्त्र आदि का विक्रय बिना आपत्ति काल के और जानता हुआ करता है वह ब्राह्मण महा पाप का भागी होता है। हाथ में दी हुई धरोहर वस्तु का अपहरण कर लेना सुवर्ण की चोरी के समान कहा गया है। विवाह के योग्य कन्याओं को उचित और सदृश वर को न देना महापाप कहलाता है। पुत्र की स्त्री तथा मित्र की स्त्री के साथ, बहन के साथ गमन करना, कुमारी के साथ बलात्कार करना एवं अधिक मद्य पीने वाली स्त्री के साथ प्रसंग करना महापाप कहा गया है। (१७)

पाप निवृत्ति के उपाय

सुवण दान, गोदान, पृथ्वी दान इन सम्पूर्ण श्रेष्ठ दानो को करके मनुष्य पाप से मुक्त हो जाता है। मारने की इच्छा से आते हुए आततायी ब्राह्मण को भी मारन से ब्रह्म हत्या का पाप नही लगता है।

योग धर्मोपदेश

योग के पांच भेद

मन्त्रयोग, स्पर्शयोग, भावयोग, अभाव योग तथा इन सबसे परे महायोग, ये पांच प्रकार के योग होते हैं। **मन्त्रयोग**—मन्त्रो के अभ्याम करने से मन्त्र के वाच्य अर्थ को विषय करने वाली जब मन की वृत्ति स्थिर हो जाती है उसे मन्त्रयोग कहा जाता है। **स्पर्शयोग तथा भाव योग**—प्राणायाम से युक्त मनोवृत्ति को स्पर्शयोग कहते हैं और वह स्पर्श योग मन्त्र के स्पर्श से यदि शून्य हो तो उसे भाव योग कहते हैं। **अभाव योस**—जिस योग के द्वारा यह नाम रूपात्मक विश्व आत्मा में विलीन हो जाता है वह अभाव योग कहलाता है। क्योंकि उस समय वस्तु का भी आभास नही होता है।। **महायोग**—जिस आत्मा में उपाधि से रहित शिव के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है उसी शिव स्वरूप वाली मनोवृत्ति को महायोग कहते है।

योग के अग

सक्षेप से समस्त योगो को आठ अगो वाला अथवा ६ अगो वाला कहा गया है। यम, नियम, स्वस्तिकादि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये आठ याग के अग विद्वानो ने कहा है। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये योग के सक्षेप मे ६ अग बताये गए हैं।

४—मार्कण्डेय पुराण की नीति

आत्म रक्षा

अपनी रक्षा सभी प्रकार से करनी चाहिए ऐसा धम जानने वाल्गों ने कहा है। (३।४२)

पुरुषार्थ

जो लोग दृढ व्रती होते हैं वे मन वाछित फल को पाकर देवत्व और इन्द्रत्व पद को प्राप्त कर पूजित होते हैं। उद्यमी और जितेन्द्रिय लोगो के लिए अविज्ञात और अगम्य कुछ भी नही रहता। जाती हुई चीटी भी सहस्रो योजन जा सकती है और न जाते हुए गरुड भी एक पग नही चल सकते। अयुक्त मनुष्य के लिए अगम्य और गम्य कुछ भी नही है। प्रयत्नशील ध्रुव ने पृथ्वी पर रहकर भी वैकुण्ठ प्राप्त किया। (२२।३०—३३)

करना यह उसकी जीविका है। दान, अध्ययन और यज्ञ, वैश्य का भी तीन प्रकार का धर्म है, तथा वाणिज्य, पशुपालन और कृषि उसकी जीविका है। दान, यज्ञ और द्विजाति की शुश्रुषा ये शूद्रों के धर्म हैं। शिल्प कर्म, सेवा, खरीद विक्रय यह उनकी जीविका है। (२८-३-८)

ब्राह्मण का परम कर्त्तव्य

शास्त्रों में ब्राह्मणो के लिए भोग नही लिखा है। ब्राह्मणो का जीवन इस ससार में अवश्य दुःखदायी है, परन्तु परलोक में वह फलप्रद है। (६१।७०) क्षमावान होना ही ब्राह्मणत्व है और क्रोध का नियन्त्रण करना तप है। (६३।१७)

गृहस्थ धर्म की महिमा

गृहस्थ बनकर मनुष्य सम्पूर्ण जगत् का पोषण करता है इसलिए वह अभिलाषित लोको को प्राप्त करता है। पितर, मुनि, देवता, भूत, मनुष्य, कृमि, कीट, पतग, पक्षी, पशु और असुर सभी जीव गृहस्थ से ही जीवित रहते हैं, तथा तृप्ति प्राप्त करते हैं। (२७।३-५)

गृहस्थ के त्रिविधात्मक कर्म अर्थात् नित्य, नैमित्तिक और नित्य मित्तिक सुनो। पच यज्ञ के आश्रित जो कम हैं उन सबको नित्य कहते हैं, पुत्र जन्म आदि के उपलक्ष में हुए उत्सवो को नैमित्तिक कहते हैं, पर्व और श्राद्ध आदि को नित्य-नैमित्तिक कहते हैं। (३०।१-३)

परम पद प्राप्ति के उपाय

वेद सबसे श्रेष्ठ है, वेदो से यज्ञ क्रियाएँ श्रेष्ठ हैं, यज्ञ से जय और जय से ज्ञान श्रेष्ठ है और ज्ञान से सग तथा राग से रहित ध्यान श्रेष्ठ है, जिसके करने से परब्रह्म की प्राप्ति होती है। (४१।२५)

लक्ष्मी का निवास

जहाँ पर पुत्र, गुरू, देवताओ और पिता की तथा पत्नी अपने पति की पूजा करती है वहाँ अलक्ष्मी का भय कैसा ? (५०)

धन-विभाग

अपने धन के चतुर्थ भाग का सचय परलोक के लिए करे तथा आधे से अपना भरण पोषण करे तथा नित्यनैमित्तिक क्रियायें करे और एक भाग को अपने लिए रख कर उसको बढावे। इस प्रकार से प्रयोग किया हुआ धन सफल होता है। (३४।११,१२)

सदाचार

गृहस्थ को सदा आचार का पालन करना चाहिए। आचार विहीन को यहाँ अथवा परलोक में कही भी सुख नही मिलता है। (३४।

सत्कर्म

नित्य विवेक अर्थात् ऋक् साम और यजुर्वेद का अध्ययन करे और ज्ञानियों की संगति करे, धर्म से धनोपार्जन करे और यत्नपूर्वक यज्ञ करे। हे पुत्र! वह कर्म करे जिससे अपनी निन्दा न हो जिस काम को करने में सबसे कहने में संकोच न लगे वही कर्म करना चाहिए। (१५।५१ ५७)

सत्संग

संसार में सभी का संग छोड़ देना चाहिए और यदि संगति न छूट सके तो सज्जनों की संगति करनी चाहिए क्योंकि सत्संगति औषधि है। (१७।२१)

काम का त्याग श्रेयस्कर है—काम का सर्वथा त्याग करना चाहिए और यदि उसको त्याग न सके तो मुक्ति की इच्छा करो क्योंकि मुक्ति की इच्छा महौषधि है। (१७।२४)

भिक्षुओं के व्रत तथा नियम—चोरी न करना ब्रह्मचर्य त्याग अक्रोध तथा अहिंसा ये भिक्षु के पाँच व्रत हैं। क्रोध न करना गुरु की सेवा करना, पवित्रता थोड़ा भोजन और नित्य स्वाध्याय ये पाँच नियम हैं। (४१।१६।४१।४०)

मित्रता के अयोग्य—दुःशील चोर, कंजूस मूर्ख लोभी और वैरी से मित्रता न करनी चाहिए। बन्ध्या स्त्री उससे अति अधिक बलवान् अति दुर्बल तथा निन्दित पुरुषों के साथ मित्रता नहीं करनी चाहिए। सबसे डरने वाले कायरों के साथ मित्रता नहीं करनी चाहिए। (१७।८०—८१)

मैत्री के योग्य

साधुओं सदाचार से रहने वालों विद्वानों शुभ वचन बोलने वालों सामर्थ्यवान् और कर्मवीर उद्योगी लोगों से मित्रता करनी चाहिए। (१७।०)

यज्ञ मांस खाना निषिद्ध नहीं

पितर और देवताओं को अर्पित किया हुआ, श्राद्ध में ब्राह्मण के लिए बनाया हुआ और औषध के लिए बनाया हुआ मांस खाने में दोष नहीं लगता है। (१५।१)

भिन्न-भिन्न जानवरों का मांस खाना चाहिए—खरगोश कछुआ, गोह, साही, और गैंडे का मांस खाना चाहिए किन्तु ग्राम के सूअर और मुर्गे का मांस नहीं खाना चाहिए। (१५।२)

पर स्त्री गमन की निन्दा

ज्ञानी मनुष्य को चाहिए कि दूसरे की स्त्री के साथ मैथुन न करे। पर स्त्री गमन से पुण्य और आयु का क्षय होता है। संसार में पुरुष के लिए परस्त्री गमन के समान आयु क्षीण करने वाला दूसरा कार्य नहीं है। (१७।९८,९९)

स्त्री रक्षा

पति को चाहिए कि सदा स्त्री का भरण पोषण और रक्षा करे, धर्म, अर्थ तथा काम में स्त्री पति की सहायक होती है। जब स्त्री और पुरुष परस्पर अनुरक्त रहते हैं तो सदा धर्म, अर्थ और काम, ये तीनो पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं। (२१।६०,६१)

दाम्पत्य जीवन

स्त्रियाँ भी पति के विना धर्म, अर्थ, काम और सन्तान को नही प्राप्त कर सकती। ये सुख तो दाम्पत्य जीवन में ही प्राप्त होते हैं। (२१।७८)

कुपत्नी की रक्षा

जिस प्रकार पुरुष का कर्तव्य है कि वह सुशील स्त्री का पालन करे उसी प्रकार दु शील स्त्री का भी पालन पोषण करना चाहिए।

पति सेवा फल—जो कुछ पति, देवताओं, पितरो और अतिथि की सेवा करके पुण्य कमाता है उसका आधा स्त्री केवल पति का अनन्य चिन्तन और सेवा करने से पाती है। (१६।६३)

पति पत्नी—मनुष्य के धर्म, अर्थ और काम का प्रबल कारण स्त्री ही है। उसको छोड देने से मनुष्य का विशेष धर्म छूट जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र कोई हो, स्त्री के विना वह मनुष्य अपने कामो के योग्य नही होता। पति को भी अपनी पत्नी को उसी प्रकार नही छोडनी चाहिए जिस प्रकार पत्नी को अपने पति को। (६१।९–१९।११)

विवाह सम्बन्धी नियम—ब्राह्मण पहले ब्राह्मणी के साथ विवाह करने के बाद अन्य से विवाह कर सकता है, ऐसा करने से उसे कोई दोष नही लगता। इसी प्रकार क्षत्रिय पहले क्षत्रिय कन्या से विवाह करके अन्य वर्ण की स्त्री के साथ विवाह कर सकता है और ऐसा करने से उसे कोई दोष नही लगता। इसी प्रकार वैश्य पहले वैश्य कन्या से विवाह कर लेने के बाद शूद्र कन्या से विवाह कर सकता है और इस प्रकार वह वैश्य कुल से हीन नही होता। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य या शूद्र अपने वर्ण की कन्या से विवाह किए बिना अन्य वर्ण की कन्या से विवाह कर लेता है वह अपने वर्ण धर्म से पतित होता है। (११४।३१।३३।३४)

कुपुत्र—कुपुत्र के रहने की अपेक्षा पुत्र का न रहना अच्छा है। कुपुत्र माता-पिता के हृदय को सदैव सताप देता है और पितरों को भी नीचे गिरा देता है। दुष्ट पुत्र से न तो मित्रो का उपकार होता है और न पितरो की ही तृप्ति होती है। माता पिता के तो वह दु:ख का कारण ही है। अत ऐसे कुपुत्र को धिक्कार है। वही पुत्र धन्य है जिसकी सब लोग प्रशसा करे तथा जो परोपकारी, शान्तचित्त और साधु कर्मों में प्रवृत्त

की सिद्धि बिना योग के नही होती है तथा उसके बिना ससार में यश नही हो पाता है। इसलिए ससार में यश का मूल कारण ब्रह्मचर्य से अतिरिक्त और कोई दूसरा तप ही नही है। अत ब्रह्मचर्य ही प्रधान तपस्या है। (मत्स्य पु० पृष्ठ ५०८ श्लोक ३८–३९)

कलि के पुरुषो का स्वभाव

कलियुग के अन्दर, हिंसा करना, चोरी करना, झूठ बोलना, मिथ्या व्यवहार करना, माया जाल फैलाना, अभिमान करना, यह कलि के तपस्वियो का भी स्वभाव बन जायेगा और कलि के उन तपस्वियो के हिंसा, चोरी आदि स्वाभाविक धर्म को देखकर साधारण लोग भी इन्ही का आचरण करते हुए इन्ही को समस्त कार्यो का साधन समझने लग जायेंगे अर्थात् चोरी करके, किसी को जान से खत्म करके भी यदि उनका कार्य सिद्ध होता होगा तो उसे करने में वे लेशमात्र भी नही हिचकिचायेंगे और न उसे करने मे वे किसी प्रकार का पाप ही अपने मन मे समझेंगे, और इस प्रकार समस्त धर्म नष्ट हो जायेगा (३०) ऐसा होने पर सम्पूर्ण प्राणियो का कलि एक मारकेश रोग बन जायगा और प्राणियो के लिए अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि का भय उपस्थित होने लग जायगा, जिसके कारण प्राणी क्षुधा तथा प्यास से हमेशा पीडित होने लग जायेंगे और इस प्रकार फिर समस्त देशो तथा ऋतु आदि मे भी परिवर्तन हो जायेगा। (३२)

इसके पश्चात् भोजनाच्छादन की विषम परिस्थिति हो जाने के नाते आयु भी क्षीण होने लग जायगी जिसके कारण कुछ ही प्राणी वृद्धावस्था तक पहुँच पायेंगे, अन्यथा कुछ मध्य में, तो कुछ बाल्य अवस्था मे ही मे मर जाया करेंगे। इस प्रकार कलि के अन्दर समस्त प्राणियो का तेज और बल क्षीण हो जायेगा, जिसके कारण वे पापात्मा, महाक्रोधी और अधार्मिक बन जायेंगे। (३३–३४) इस प्रकार की भयकर स्थिति से जकडे हुए प्राणी किंकर्त्तव्य-विमूढ तथा विचारहीन हो जायेंगे, जिसके कारण उनकी दूषित भाषाओं के अध्ययन में तथा दूषित आचरणो के करने मे स्वभाव सिद्ध प्रवृत्ति होने लग जायेगी और अनुष्ठान्, व्रत आदि एक मात्र आडम्बर अर्थात् दूसरे लोगो को दिखाने मात्र के लिए ही रह जायेंगे। (३५) इस प्रकार ब्राह्मणो के कर्म दोषो के कारण साधारण जनता के अन्दर भय, हिंसा, अभिमान, ईर्ष्या, क्रोध, असूया तथा असहिष्णुता, एव धैर्य विहीन होना आदि दोष व्याप्त होने लग जायेंगे। (३६। मत्स्य पु० पृ० ३६६ तथा ३६७ अ० १४३)

ब्रह्मचारी के धर्म

विद्याध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी छात्र को चाहिए कि वह गुरु के कार्य के लिए हमेशा प्रयत्नशील तथा पुरुषार्थ परायण रहे। गुरु के सोने के बाद सोवे और गुरु के उठने के पहिले उठे। साधारण जीवन बितावे, मृदु स्वभाव वाला हो, इन्द्रियो के ऊपर हमेशा दमन रक्खे, धैर्य सपन्न, अप्रमादी तथा अध्ययनशील होवे। (२)

गृहस्थी का धर्म

गृहस्थ को चाहिए कि धर्म से उपार्जित किए हुए धन को प्राप्त करके उस संचित धन से यज्ञ करे तथा हमेशा ही अतिथि लोगों को भोजन कराये। दान में पहले जो वस्तु दूसरों के यहाँ से आयी हुई न हो उसी वस्तु को दान में देना चाहिए यही गृहस्थों का प्राचीन नियम है। (३)

वानप्रस्थी का धर्म

जो अपने ही वन पर जीवन निर्वाह करने वाला हो पाप से दूर रहता हो दूसरे लोगों के लिए भलाई करने वाला हो तथा जो अपने शत्रु को भी कष्ट प्रदान न करता हो और जो वन में रहकर नियमित रूप से आहार करने वाला हो, इस प्रकार का ही वानप्रस्थी मुनि अपनी प्रधान सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। (४)

सन्यासी का धर्म

वास्तविक सन्यासी वही है जो कि किसी व्यापार के आधार पर अपना जीवन व्यतीत नहीं करता है अर्थात् भिक्षावृत्ति अथवा कन्दमूल फल खाकर ही अपना जीवन निर्वाह करता है तथा सोने-बैठने बनैरह के लिए जिसका नियत तथा निश्चित रूप से घर आदि निवास स्थान न हो। अर्थात् कहीं भी बाहर जंगल में अथवा किसी वृक्ष बनैरह के नीचे ही आराम करने वाला हो जो पूर्ण जितेन्द्रिय हो, जो मायाजाल से सर्वथा दूर रहता हो जो खाली भूमि के ऊपर सोने वाला हो तथा बहुत ही कम इच्छा रखने वाला हो, एवं जो स्वामी रूप से एक स्थान में न रहकर बराबर विचरण शील हो और एक ही वस्त्र अपने शरीर के ऊपर रखने वाला हो। (५) काम से वशीभूत हुए साधारण सांसारिक लोग जिन रात्रियों का ऐश आराम में बिताते हैं उन्हीं रात्रियों को विद्वान भिक्षु सन्यासी को वन में रहकर बिताने का प्रयत्न करना चाहिए। (मत्स्य पु. पृ. ९४ अध्याय ४)

९—ब्रह्मवैवर्त पुराण की नीति

परमार्थ ज्ञान सबसे बड़ी चीज है

ऐश्वर्य धन विद्या और विक्रम (पिक्रम) इनमें से कोई भी परमार्थ ज्ञान की सोलहवीं कला (रुपए में एक आने) के भी बराबर नहीं है। (१।१३।७५)

सर्वरत्नों से बढ़कर धर्म है

सब रत्नों से बढ़कर रत्न सनातन धर्म है। (१।१३।७८)

जो सदा धर्म का पालन करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। (१-९-९२)

सत्य से परे कोई धर्म नहीं है। (१-११-१७)

कर्म का फल

संसार में शुभ हर्ष सुख दुःख भय शोक और अमंगल ये सब कर्मों के भोग स्वरूप

काल के द्वारा सयोजित होते हैं। (२।१७।५५) ससार के अन्दर सुख-दु ख-भय-शोक-हर्ष-मगल-सम्पत्ति और विपत्ति इत्यादि समस्त भोग्य विषयो का कारण एकमात्र कर्म ही है। बहु पुत्रता तथा वश हीनता का भी एक मात्र कारण कर्म ही को माना गया है। रूपवान् एव रोगवान् भी मनुष्य अपने कर्म से ही होता है। (२।४३।२८–२९) सुख-दु ख, भय, शोक और आनन्द ये पाँच प्रकार के कर्म के फल होते हैं। जिनमें सुख और हर्ष (आनन्द) ये दो अच्छे कर्म के फल हैं और इतर (दूसरे) पाप कर्म के फल हैं। (३।१२।२७) शुभाशुभ कर्म जन्य फल का भोग तो मनुष्य को इस लोक तथा परलोक में अवश्य ही करना होता है। (३।१३।२८) ससार रूपी दुस्तर समुद्र में माता-पिता, भ्राता आदि का समस्त सम्बन्ध कर्म निबन्धन हैं। अर्थात् कर्म के ऊपर आधारित एव कर्म प्रेरित हैं। (३।२८। ६०) इन्द्र भी अपने कर्म के द्वारा कीडे की योनि में जन्म लेता है और कीडा भी अपने पूर्व सचित कर्म के फल से इन्द्र योनि में जन्मता है। (३।१२।२५)

ससार में कौन किसका पुत्र है और कौन किसका पिता एव माता है। अपने द्वारा किए हुए कर्मो के आधार पर ही ससार में जीव का गमनागमन होता रहता है और कर्म के अनुसार ही प्राणी स्थान भेद से पैदा होता है, जैसे कोई प्राणी अपने कर्म के आधार पर योगी के घर जन्मता है तो दूसरा राजा के घर मे जन्म लेता है और कोई ब्राह्मण के यहाँ तो कोई क्षत्रिय के यहाँ, कोई वैश्य के यहाँ अथवा कोई शूद्र के यहाँ, इसी प्रकार कोई पक्षी योनि में जन्मता है तो कोई पशु आदि योनियो में। भगवान् कहते हैं कि ये समस्त प्राणी विषयो के अन्दर मेरी ही माया से विचरण करते हैं और अपने किसी बान्धव से कुछ काल के लिए विच्छेद हो जाने पर अथवा आत्मन्तिक शरीर त्यागात्मक विच्छेद हो जाने पर दु खी होते हैं। इसी प्रकार प्रजा (सन्तान) भूमि, धन आदि के विच्छेद में जो मरण से भी अधिक दु ख होता है वह मूर्ख ही को होता है न कि विद्वान् को। (४।७३।५–९) बिना भोग के कर्म का क्षय नही होता है, चाहे करोडों जन्म क्यों न बीत जायें। अत प्रारब्ध कर्म का शुभ अथवा अशुभ फल अवश्य ही भोगना पडता है। बिना भोग के कर्म की समाप्ति नही होती है। (२।७३।२६)

शरीर के त्याग-मात्र से कर्म भोग की निवृत्ति नहीं

जो दु खी लोग अपने दु ख से घबडा कर यह कहते हैं कि अब तो हमें मर जाना ही बेहतर है, सो उन लोगो के प्रति कहना है कि हे वत्स ! शरीर के परित्याग मात्र से ही यह कर्म भोगात्मक दु ख साक्षात्कार तुम्हारा दूर नही हो सकता है, अपितु यह प्रायश्चित से ही नष्ट हो सकेगा, इसमें कोई सन्देह नही है। (४।८१।५६)

ज्ञान से समस्त पापों का भस्मीकरण

जिस प्रकार प्रदीप्त हुई वह्नि सूखे हुए तृण काष्ठ आदि को भस्मीभूत कर डालती

है उसी प्रकार भगवान् विष्णु की आराधना से प्राप्त हुई शक्ति (ज्ञान शक्ति) समस्त पापों को भस्म कर डालती है। (४५९।१२६)

जाति द्रोह बहुत बड़ा पाप है

संसार में ब्रह्महत्या पर्यन्त जितने भी बड़े से बड़े पाप हैं, वे सब जाति द्रोहात्मक पाप की सोलहवीं कला के भी समान नहीं है। अर्थात् जाति द्रोह सबसे बड़ा पाप है। (२।१८।४४)

चार आश्रम

आवागमन रूपी दुःखमय संसार चक्र से छुटकारा प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् गृहस्थी बने। इसके बाद वानप्रस्थ आश्रम धारण कर तपस्वी बने। संसार से मुक्ति पाने का यही क्रम वेद में सुना गया है। (२४-८४)

गृहस्थ आश्रम की प्रशंसा

चारों प्रकार के आश्रमों में यह गृहस्थ आश्रम ही प्रधान तथा पुण्यशाली है और यह स्त्री पुत्र-पौत्र आदि मूर्तियों से युक्त कर जन्म जन्मान्तरीय तपस्या का फल है। (१।२३।८)

गृहस्थाश्रम बाधक भी है

पर दृष्टि से गृहस्थाश्रम को यदि कहा जाय तो यह एकमात्र दुःख ही का कारण है न कि सुख का। क्योंकि यह तपस्या स्वर्ग भक्ति तथा मुक्ति आदि सुख प्रदान करने वाले कर्मों का एकमात्र प्रतिबन्धक है। (१।२३।२)

माता-पिता और गुरु की सेवा

जो पुरुष अपने माता पिता की तथा विद्या एवं मंत्र प्रदान करने वाले गुरु की पालन पोषणात्मिका सेवा से सर्वथा वंचित रहते हैं वे अपना जीवन काल पर्यन्त अपवित्र रहते हैं। इसलिए सर्वप्रथम तो समस्त पूज्य में पूज्य बड़ा से बड़ा पिता ही है और उससे सौ गुना अधिक पूज्य माता है क्योंकि वह पहले तो गर्भ धारण करती है और बाद में वही पालन पोषण करती है। माता साक्षात् पृथ्वी स्वरूपा है और सबका हित चाहने वाली है इसलिए माता से बढ़कर इस पृथ्वी के ऊपर कोई दूसरा अपना प्रिय बन्धु नहीं है, माता से भी पूज्य गुरु है जो कि साक्षात् विद्या एवं मंत्र प्रदान करने वाला है। इसलिए गुरु से बढ़कर पूज्य संसार में दूसरा कोई नहीं है। (४।७२। -१७)

गुरु से द्वेष और निन्दा का फल

जो लोग अपने देवता तुल्य तथा हमेशा अपना इष्ट चाहने वाले गुरु की निन्दा एवं उनसे द्वेष करते हैं वे संसार में जब तक चन्द्रमा और सूर्य का अस्तित्व है तब तक के लिए अन्धकूप में रहकर कष्ट ही कष्ट भोगते रहते हैं। (४।३५।१४)

गुरु को पुत्र के समान शिष्य से प्रेम होना चाहिये

जो गुरु अपने शिष्यों के ऊपर अपने पुत्र के समान प्रेम नहीं करता है, एवं उन्हें हार्दिक आशीर्वाद प्रदान नहीं करता है, उस गुरू को ब्रह्महत्या का भागी बनना पड़ता है। (४।८३।१५)

हृदय का महत्व और ज्ञान

बातचीत में, ज्ञान से, स्वभाव में, चरित्र में, आचार में, व्यवहार में, मनुष्यों का हृदय पहिचान लिया जाता है। (२।६०।२१) जिनका जैसा हृदय होता है उनको वैसा ही फल होता है और जिनका जैसा पूर्व का पुण्य होता है अर्थात् जिन्होंने पूर्व जन्म में जैसा पुण्यकार्य किया है उनका वैसा ही हृदय हो जाता है। (२।६०।२२)

अन्नदान का महत्व

अन्नदान, से बढ़कर दूसरा दान न पूर्वकाल में था और न भविष्य में ही कोई हो सकेगा। इसके लिए किसी पात्र विशेष की भी परीक्षा आवश्यक नहीं है और न किसी काल विशेष का ही नियम मन्तव्य है। (२।२७।३)

पापियों का संग सर्वनाश का लक्षण

मोक्ष चाहने वाले पुरुष को पापी (दुष्ट) पुरुष का संग सर्वथा छोड़ देना चाहिए। इसलिए वह पापी पुरुष के साथ एक स्थान पर शयन, भोजन तथा रहना एवं साथ ही घूमना फिरना सब साथ छोड़ दे। क्योंकि ये सब उनके विनाश के लक्षण है। (४।७५।२६)

संसार में वास्तव में कोई किसी का प्रिय या अप्रिय नहीं है

तीनों लोकों में न कोई किसी का प्रिय या अप्रिय है। कार्यवश किसी समय भी कोई किसी का प्रिय हो जाता है और कोई अप्रिय। (४।६।३१)

आत्मार्थ ही सबसे प्रेम होता है

तीनो लोकों में आत्मा के सामने और कोई प्यारा नहीं है। आत्मा के लिए ही पति, पत्नी और बन्धुओं में स्नेह होता है। जब तक आत्मा में सम्बन्ध रहता है तभी तक स्नेह होता है (४।२१।३१-३८) इसलिए कि जिनका मन जिनमें लग जाता है वे ही उनके प्राणसम प्यारे हो जाते हैं। (४।२१।३७-३८)

श्रद्धानुरूप फल

तीर्थ में, अपने पति में, इष्टदेव में, गुरु में, मन्त्र तथा औषधि में, जैसी मनुष्य की श्रद्धा होती है वैसा ही उनसे फल प्राप्त होता है। (४।३९।३१)

स्त्री के बिना घर शून्य है

जिसके घर में न अपनी माता है और न आज्ञाकारिणी स्त्री ही है, उस व्यक्ति को वन में चला जाना चाहिए। क्योंकि उसके लिए जैसा वन है वैसा ही घर है। (२।-

५९।१२) जिस व्यक्ति का घर रुपए पैसे से तथा बन्धु बान्धवों से सर्वथा पूर्ण है परन्तु यदि प्रिया से विहीन है तो उसे जंगल में ही चला जाना चाहिए क्योंकि उसके लिए घर और जंगल दोनों ही समान हैं। (२।५९।१३) भार्या से रहित घर वन के ही समान है, इसलिए कि भार्या से युक्त घर ही वास्तव में घर कहलाता है। अतः गृहिणी ही घर रूप है। मिट्टी पत्थर अथवा मिला काष्ठ से विनिर्मित घर, घर नहीं। (२।५९।१४) जिस प्रकार मन्द अग्नि का प्रभाहीन सूर्य का एवं शोभा विहीन चन्द्रमा का भक्ति शून्य जीव का शरीर के बिना आत्मा का आधार के बिना आश्रित व्यक्ति का और बिना प्रकृति के सांख्यपुरुष का कोई विशेष अस्तित्व नहीं होता है उसी प्रकार स्त्री विहीन अर्थात् पुरुष अपना कोई विशेष महत्व तथा अस्तित्व नहीं रखता है। क्योंकि स्त्री विहीन पुरुष एक प्रकार से अपवित्र माना गया है कारण कि उसका श्रौत यज्ञादि पवित्र तथा सांस्कृतिक कार्यों में अधिकार नहीं है। (२।५९।१५-१६)

अच्छी स्त्री से सुख

जिसकी पत्नी सरल सुशील और पतिव्रता है उसके लिए यही स्वर्ग है और यही धर्म और मोक्ष है। जिसकी पत्नी पतिव्रता है वही मुक्त है वही सुखी है वही पवित्र है। (२।६६।६-१७)

स्त्री के लिए पति ही सर्वस्व है

जिस स्त्री को पति का सौभाग्य प्राप्त नहीं है, और सब पिता-माता भाई, पुत्र धन आदि का सौभाग्य उसे प्राप्त है, उसका पति जन्य शयन भोजन सम्बन्धी सुख न होने के नाते जीवन ही व्यर्थ है। जिस स्त्री का पति ही नहीं है उससे पुत्र धन रूप यौवन आदि से क्या लाभ है, जब कि सांसारिक सुख से वह सर्वथा विहीन है। जिस स्त्री की पति में भक्ति नहीं है वह पति भक्ति विहीन एवं पति धर्म विहीन स्त्री अपवित्र होने के नाते शास्त्रीय समस्त धर्मों के अधिकार से सर्वथा शून्य है। अर्थात् उस स्त्री का यज्ञ यज्ञादि शास्त्रीय किसी भी धर्म में अधिकार नहीं है। इसलिए स्त्री के वास्ते पति ही बन्धु है पति ही से उसकी गति हो सकती है, पति ही उसका भरण-पोषण करने वाला है, पति ही उसके लिए देवता है, पति ही उसका गुरु है, अर्थात् स्त्री के लिए गुरु से भी ऊँचा स्थान पति का है। माता-पिता भाई और पुत्र ये सब सिर्फ धन दे सकते हैं। पति सर्वस्व प्रदान करने वाला होता है। पति के महत्व को कोई भी महाभाग्यी पवित्र कुल में उत्पन्न हुई सुशील एवं अपने कुल की रक्षा तथा मर्यादा चाहने वाली स्त्री ही जान पाती है। (४।५७।७-१२) साध्वी पतिव्रता स्त्रियों के लिए पति ही बन्धुरूप है, पति ही देवता है, वही सबसे बड़ी सम्पत्ति है, और पति ही मूर्तिमान् सुखरूप है, तथा पति ही धर्म देने वाला सुख प्रीति एवं शान्ति प्रदान करने वाला है और वही उनका सम्मान करने के नाते मान्य है,

वही उनका अभिमान दूर करने वाला है अत ससार के अन्दर साध्वी स्त्रियो के लिए पति के समान कोई भी प्रिय वस्तु नही, पति ही भरण-पोषण करने के कारण भर्त्ता कहलाता है, पालन करने के कारण पति, शरीर का मालिक होने के कारण स्वामी, काम पूरा करने के कारण कान्त, सुख प्रदान करने के नाते वन्धु, प्रेम करने के नाते प्रिय, ऐश्वय प्रदान करने के नाते ईश्वर तथा ईश, प्राणेश होने से प्राणनाथ, सभोग करने के नाते रमण, और पुत्र भी पति के शुश्रावान करने के कारण ही अत्यन्त प्रिय माना गया है। इतना ही नही गुरू सेवा, देव सेवा, ब्राह्मण सेवा आदि सेवाओ से भी वढकर साध्वी स्त्री के लिए पति सेवा ही मानी गयी है। (२।४२।२१–३१) अच्छे कुल की स्त्रियाँ पति को ही वन्धु, गति, भर्ता और देवता समझती हैं। (१।६।५४)

पति सेवा ही स्त्री का प्रधान धर्म है

स्त्रियो के लिए पति ही गति है, प्राण है, सम्पदा है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन और ससार सागर का पुल है। पति ही स्त्रियों का ईश्वर है, व्रत है, और सनातन धर्म है। जो स्त्रियाँ स्वामी से विमुख होती हैं उनके सब कर्म वृथा हैं। सब तीर्थों में स्नान, सब यज्ञों की दक्षिणा, सब दान, पुण्य, व्रत, नियम, देव पूजा, उपवास (अनशन), सब तप पति के चरणो की सेवा के १६वें भाग के वरावर भी नही है। (१–९–६३–६७) ससार के अन्दर समस्त दान, यज्ञ, समस्त तीर्थों का सेवन सम्पूर्ण व्रत तथा तप, एव समस्त उपवास आदि, और सब धर्म तथा सत्य एव सम्पूर्ण देवताओ की पूजा, ये सब अपने स्वामी की सेवा के सोलहवी कला के भी समान नही हैं। (२।४६।३५–३६)

पतिव्रता का कर्त्तव्य

पतिव्रता स्त्री का कर्त्तव्य है कि पति जो भोजन करे वह भी हमेशा वही भोजन करे और वाहर के देवदर्शन, भ्रमण आदि कार्यो का सपादन भी पति के साथ ही करना चाहिए। अर्थात् पातिव्रत्यरूप सुन्दर व्रत को धारण करने वाली उस साध्वी पतिव्रता को एक क्षण के लिए भी अपने पति से दूर नही होना चाहिए तथा अपने पति को कभी भी उत्तर अर्थात् प्रत्युत्तर न करे और क्रोध में आकर पति यदि कुछ कह सुन भी दे, अथवा कभी यदि मार पीट भी दे तव भी पति के ऊपर उसको क्रुद्ध नही होना चाहिए। भूखे पति को अच्छी प्रकार भोजन करावे, निद्रा अवस्था में उसे कभी न जगावे, एव निद्रालु हुए उस अपने पति को कभी भी किसी कार्य के लिए प्रेरणा न करे। (४।८३।११५–१७७)

पतिव्रता का महत्व

पतिव्रता स्त्रियों के पातिव्रत धर्म का वह प्रभाव है जिसके बल के प्रभाव से उनके वेचारे अकिन्चन पति भी कर्मभोग से हमेशा के लिए वचित हो जाते हैं और उन कर्म एव कर्म भोगो से वञ्चित होकर उस अपनी पतिव्रता के साथ वैकुण्ठलोक मे आनन्द करते हैं।

पतिव्रता के पैरों में पृथ्वी के ऊपर होने वाले समस्त तीर्थ मौजूद हैं, समस्त मुनि एवं देवताओं का सम्पूर्ण तेज पतिव्रताओं के अन्दर मौजूद है। तपस्वी लोगों के तपोबल जन्य समस्त फल व्रती लोगों के व्रत जन्य समस्त फल एवं दाता लोगों के दान जन्य समस्त फल पतिव्रताओं के अन्दर मौजूद रहते हैं। यही कारण है कि स्वयं भगवान नारायण तथा भगवान् शंकर और जगत की रचना करने वाले ब्रह्मा एवं समस्त देवता लोग तथा मुनिगण भी इनके पातिव्रत धर्म के महत्व को जानते हुए इनसे हमेशा भयभीत बने रहते हैं। इतना ही नहीं पतिव्रताओं के पैरों की धूलि से पृथ्वी भी तुरन्त पवित्र हो जाती है। पतिव्रता स्त्री को प्रणाम करके पातकी पुरुष भी अपने पातक दोष से प्रभी तक हमेशा के लिए विनिर्मुक्त हो जाता है। वह महापुण्यवती पतिव्रता स्त्री अपने तेज से त्रैलोक्य को एक क्षण में भस्म कर सकती है। पतिव्रताओं के पातिव्रत धर्म का ही यह महत्व है कि उनके पति और पुत्र को भी देवताओं एवं भगवान् यमराज से किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता है। (२१–२६)

दुष्ट स्त्री से बढ़कर दुःखदायक और कुछ नहीं है

जिस घर के अन्दर स्त्री हमेशा रात-दिन पुरुष को डांट-डपट करती रहे पुरुष सर्वथा एवं सर्वदा स्त्री के वशीभूत रहे इस प्रकार के गृहस्थ पुरुषों का जीवन ही व्यर्थ है और ऐसे पुरुष को पद-पद पर अशुभ लक्षण ही दृष्टिगोचर होते रहते हैं। अत मुख दुष्टा बोलिदुष्टा तथा कलहदुष्टा स्त्री को अपने घर में स्थिति देखते हुए बुद्धिमान् मनुष्य का उचित है कि वह उस घर को छोड़कर जंगल अथवा वन में चला जाय। क्योंकि वन अथवा जंगल उस घर से लाख दरजे अच्छा है। इस प्रकार की दुष्टा स्त्री की अपेक्षा अग्नि में स्थिति हो जाना अच्छा है। दुष्टा स्त्री से उत्पन्न जन्य दुःख की अपेक्षा हिंसक जन्तुओं के सन्निधान में भी सुख ही सुख है। व्याधि रूपी ज्वाला विष रूपी ज्वाला दुष्टा स्त्री के मुख रूपी ज्वाला से बहुतर है। (२।६।५७–६२) संसार के अन्दर स्त्री लोगों के द्वारा वशीकृत अन्तःकरण वाले व्यक्तियों का ज्ञान तप, जप होम पूजा एवं विद्या सब सर्वथा निष्फल है। (२।१६।९२)

१६ प्रकार की माताएँ

गुरु की पत्नी राजा की पत्नी देवपत्नी (पार्वती लक्ष्मी आदि) तथा पुत्रवधू माता की माता पिता की माता शिष्य पत्नी भृत्य (नौकर) पत्नी मामी अपने पिता की धर्मपत्नी भ्रातृपत्नी सास बहिन लड़की गर्भ धात्री (दादा की माँ) और अपनी इष्ट देवी य पुरुष की सोलह माताएँ मानी गयी हैं। (५९।५५।५६)

रजस्वला स्त्री के स्वरूप और वर्जन का वर्णन

प्रथम दिन रजस्वला स्त्री चाण्डाली के समान होती है। दूसरे दिन म्लेच्छा

(यवनी), और तीसरे दिन धोबिन, फिर चौथे दिन वह पति के लिए शुद्ध मानी गयी है, न कि देव तथा पितृ कार्य में। क्योंकि चतुर्थ दिन वह रजस्वला स्त्री पति से अतिरिक्त औरों के लिए असत् शूद्रा के समान है। इसलिए प्रथम दिन रजस्वला स्त्री के पास जो पुरुष जाता है वह ब्रह्महत्या के चतुर्थ अंश का भागी होता है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। वह पुरुष देव पितृकार्य करने का अनधिकारी होता है। वह पुरुष संसार के अन्दर यशोविहीन होकर निन्दा का पात्र बन जाता है, जिससे कि वह अधम कोटि में परिगणित हो जाता है और दूसरे दिन जो पुरुष रजस्वला स्त्री के पास जाता है वह गोहत्या पाप का भागी होता है, जिससे वह आजीवन पितृ, ब्राह्मण और देवता इनके पूजन का अधिकारी नहीं होता है, ऐसा आंगिरस ऋषि का कथन है। तीसरे दिन जो पुरुष रजस्वला स्त्री के पास जाता है उसे भ्रूण हत्या जन्य फल का भागी बनना पड़ता है और वह भी पूर्ववत् देव, पितृ आदि कर्मों का अनाधिकारी माना गया है। (४।५९।११३–१२०)

स्त्रियों की चेष्टा के प्रतिक्रिया से पुरुष परीक्षण

जो पुरुष स्त्रियों के इशारे मात्र में उनके मन के भावों को जान कर उन पर कामोन्मत्त होकर उनसे संभोग करते हैं वे उस विषय में प्रथम श्रेणी के पुरुष हैं। और जो स्त्री के स्पष्ट कहने पर उनके साथ संभोग करते हैं वे मध्यम श्रेणी के हैं और जो बारम्बार कहने पर भी स्त्री से संभोग नहीं करते हैं वे नपुंसक हैं, केवल नाम मात्र के पुरुष उन्हें कहना चाहिए। गृहस्थ, तपस्वी तथा कामी पुरुष यदि कामार्त्त होकर उपस्थित हुई स्त्री के साथ संभोग नहीं करता है तो वह नष्टश्री और भ्रष्ट रूप होकर भ्रष्ट बुद्धि हो जाता है, तथा वह पुरुष स्त्रियों के ब्रह्म शाप से नपुंसकता को प्राप्त हो जाता है। उपस्थित स्त्री के त्यागने में महान् पाप होता है। (४।३३।३–७)

बलात्कार से स्त्री दूषित नहीं होती

जार पुरुष के द्वारा बलात्कार पूर्वक स्त्री के साथ संभोग करने पर भी स्त्री जार दोष से दूषित नहीं होती है। और जो स्त्री स्वेच्छा से पर पुरुष के साथ संभोग करती है वह स्त्री जार दोष से दूषित हो जाती है। (४।६२।५३)

जो स्त्रियाँ बलवान् पुरुषों के द्वारा अपहृत कर ली जाती हैं उनकी प्रायश्चित् के द्वारा शुद्धि हो जाती है। उनको इस प्रकार के अपहरण से संभोग जन्य पाप नहीं लगता है। किन्तु जो स्त्री कामातुर हुई अपने सुख के लिए पर पुरुष के साथ संभोग करती है वह प्रायश्चित् करने पर भी शुद्ध नहीं हो पाती है, पुरुष को उचित है कि ऐसी स्त्री को छोड़ दे। (२।६१।८७)

विधवा के लिए निषिद्ध कार्य

विधवा स्त्री को खटिया पर सोना, सवारी पर चढ़ना, केशों का श्रृंगार करना,

तथा शरीर में तेल साबुन आदि लगाना व यह कार्य नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह सब करने से वह नरक में जायगी और पति को नरक में ले जायगी। (अ८३।११-१२)

पुत्र-विहीन घर शून्य है

जिसके घर में लड़का नहीं है उसके घर में किसी भी प्रकार की शोभा नहीं है। (१।६।५)

पुत्र से पराजय की इच्छा

संसार के अन्दर मनुष्य सब से जय की इच्छा करे, परन्तु पुत्र से हमेशा पराजय ही चाहे। यद्यपि सब से प्रिय आत्मा है फिर भी पुत्र आत्मा से भी प्रिय है। (१।२अ२९)

अतिथि-महत्व

जिसके घर में अतिथि की पूजा होती है उसके घर में सब देवताओं की पूजा होती है। अतिथि लोग जिसके ऊपर प्रसन्न हैं उससे भगवान् प्रसन्न रहते हैं। समस्त तीर्थों में स्नान करने से तथा सम्पूर्ण दान से जो फल प्राप्त होता है समस्त व्रत और उपवासों से जो फल होता है सब यज्ञों में प्रदान की हुई दक्षिणा से एवं समस्त प्रकार की नित्य नैमित्तिक तपस्याओं से जो फल प्राप्त होता है वह अतिथि सेवा की सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं है। और अतिथि जिसके घर से आशा विहीन एवं अप्रसन्न होकर चला जाता है उस व्यक्ति के करोड़ों जन्मों के उपार्जित पुण्य निश्चित ही नष्ट हो जाते हैं। (१।अ।८७)

नाना प्रकार के वचन

साधु शासन सुनने में अच्छा लगने वाला सुन्दर वाक्य बोलता है जो कि बाद में असत्य और अहितकारक सिद्ध होता है। साधु कभी भी हितकारक वचन नहीं बोलता है। और दयालु धर्मशील व्यक्ति अत्यन्त प्रेम का तथा परिणाम में सुख प्रदान करने वाला वचन बोलता है और ऐसा ही वचन बोलने के लिए अपने बान्धव लोगों को शिक्षा देता है और वाणी को अच्छा लगने वाला अमृत के समान आनन्द देने वाला हमेशा सत्य एवं हित कारक वाक्य उत्तम पुरुष बोलते हैं। (अ४१।५४-५६)

राजाओं का कर्तव्य

राजाओं का कर्तव्य है कि हमेशा ब्राह्मणों का पूजन भगवान् का आराधन राज्य का पालन मुक्तहस्त से निर्भीकता सम्पादन तथा ब्राह्मणों को दान शरणागत की रक्षा दुःखी प्रजा का पुत्रवत् पालन शस्त्र और अस्त्रों के विषयों में निपुणता रण में कला कौशल तपस्या और धर्म कार्य इनका हमेशा प्रयत्नपूर्वक सम्पादन करे और विद्वानों से भरी हुई सभा के बीच में हमेशा नीतिशास्त्रज्ञ विद्वान् से विचार विमर्श करे और ऐसे विद्वानों का परिपालन करे। (अ८३।६८-७८)

दुढ़ापे से और रोग से बचे रहने के उपाय

नेत्रो को ठण्डे जल से धोना, व्यायाम करना, पैर के तलुवे में तेल मर्दन करना, कानो में तेल डालना, सिर में तेल की मालिश करना वुढापे और वीमारियों का नाश करने वाले हैं। जो लोग वसन्त ऋतु में भ्रमण करते हैं, चिरायते का सेवन करते हैं, खूब सोते हैं, और कभी-कभी वाला के साथ रमण करते हैं, उनके पास वुढापा नही आता। जो लोग गरमी के मौसम में कुये के ठण्डे जल म स्नान करते हैं, चन्दन के रस का सेवन करते हैं, ठडी वायु का मेवन करते हैं, उनके पास वुढापा नही आता। जो लोग वर्षा ऋतु में गरम जल से स्नान करते हैं, और वारिश का जल पीते हैं, एक ममय पर उचित और अल्प आहार करते हैं उनके पास वुढापा नही आता। जो शरद ऋतु में क्रोध नही करता, इधर-उधर भ्रमण नही करता, कुयें के जल में स्नान करता है और उपर्युक्त भोजन करता है, वुढापा उसके पास नही आता। जो हेमन्त ऋतु में कुएँ के जल में स्नान करता है, चिरायते का सेवन करता है, नए अन्न का गरम-गरम भोजन करता है वुढापा उसके पास नही आता है। जो शिशिर ऋतु में गरम कपडे, आग और नये और गरम अन्न का सेवन करते हैं, गरम जल से स्नान करते हैं, उनके पास वुढापा नही आता। तुरन्त का ताजा मास, नया अन्न, वाला स्त्री, क्षीर भाजन, और घृत का जो उपभोग करते हैं उनके पास वुढापा नही आता। भूख लगने पर अच्छा भोजन करने वालो, प्यास लगने पर जल पीने वालो और नित्य ताम्बूल सेवन करने वालो को वुढापा नही आता। जो नित्य दही, मट्ठा, मक्खन और गुड खाते हैं और सयम से रहते हैं, उनके पास वुढापा नही आता। (१।१६।३६–४५) अपने धर्म और आचार में लगे हुए, दीक्षा लिये हुए, हरि सेवा करने वाले, गुरू, देवता, और अतिथि की सेवा करने वाले, तपस्याओ में लगे हुए, व्रत और उपवास करने वाले, और तीर्थ स्थान पर रहने वाले को देखकर रोग इस प्रकार डरते हैं जैसे गरुड से सांप। इनके पास जरा (वुढापा) और व्याधि (रोग) नही फटकते। (१।१६।५३।५४–५५)

वुढ़ापा किन को आता है

सूखा मास खाने वालो की, वृद्ध स्त्री, निकलते सूय और कई दिन की रक्खी हुई (तरुण) दही सेवन करने वालो के पास वुढापा प्रसन्न होकर आता है। रात को जो दही खाते हैं, वेश्या और रजस्वला से जो भोग करते हैं उनके पास शीघ्र ही वुढापा अपने साथियों (वीमारियो) के साथ आता है। (१।१६।४६–४७) पाप ही से रोग होता है, पाप से ही वुढापा आता है। पाप से ही दीनता (गरीवी) आती है और पाप से ही भयकर शोक प्राप्त होता है। पापो की और व्याधियो (रोगों) की सदा से गाढी मित्रता है। पाप ही व्याधि और वुढापे के वीज हैं और पाप ही सब प्रकार के विघ्नो की जड है। (१।१६।५७।५०)

अध्याय १४

भारतीय दर्शनों की नीति

भारतीय दर्शन

दर्शन क्या है इसका विचार हम ऊपर कर चुके हैं यहाँ भारतीय दर्शनों की नीति की चर्चा करेंगे।

जैसा कि माधवाचार्य के सर्वदर्शन संग्रह से ज्ञात होता है प्राचीन भारत में अनेक दर्शन थे पर उनमें ९ दर्शन मुख्य हैं। इनके नाम ये हैं —१—न्याय जिसके प्रवर्तक गौतम थे २—वैशेषिक जिसके प्रवर्तक कणाद थे ३—सांख्य जिसके प्रवर्तक कपिल थे ४—योग जिसके प्रवर्तक पतञ्जलि थे ५—मीमांसा (पूर्व मीमांसा) जिसके प्रवर्तक जैमिनी थे ६—वेदान्त जिसके प्रवर्तक बादरायण थे ७—चार्वाक दर्शन जिसके प्रवर्तक बृहस्पति थे ८—जैन दर्शन जिसके प्रवर्तक महावीर थे और ९—बौद्ध दर्शन जिसके प्रवर्तक बुद्ध थे। दर्शन स्वतन्त्र और मौलिक विचार होने के कारण इन सब में जीवन और संसार के मूल तत्वों के सम्बन्ध में बहुत मतभेद हैं किन्तु नैतिक विचारों में केवल चार्वाक को छोड़ कर बहुत मतभेद नहीं है। शब्दों का ही मतभेद है। यह कहना कि भारत में दर्शनों का कब आरम्भ हुआ बहुत कठिन है। दर्शनों की परम्परा बहुत पुरानी है प्रत्येक दर्शन पर पुरातन प्रवर्तकों के ग्रन्थ (अधिकतर सूत्र रूप में) हैं उन पर पीछे आने वाले उनके अनुयायियों के भाष्य टीकायें और अनेक विवेचक ग्रन्थ हैं।

इन ९ दर्शनों को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है १—आस्तिक दर्शन २—नास्तिक दर्शन। प्रथम वर्ग में वे दर्शन आते हैं जो वेदों को परम प्रमाण मानते हैं वे हैं न्याय वैशेषिक सांख्य योग मीमांसा और वेदान्त। इनमें भी वेदों के अर्थ के सम्बन्ध में मतभेद हैं। दूसरे वर्ग में वे दर्शन आते हैं जो वेदों को प्रमाण नहीं मानते और उनका निराकरण भी करते हैं। वे हैं चार्वाक दर्शन जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन। चार्वाक दर्शन और सब भारतीय दर्शनों से इस बात में भिन्न है कि यह भौतिक शरीर और इस लोक की ही सत्ता में विश्वास करता है। वह न मन और न आत्मा के अलग अस्तित्व में विश्वास करता है न पुनर्जन्म परलोक और कर्मफल में। ईश्वर के सम्बन्ध में तो आस्तिक

और नास्तिक सभी दर्शनों मे विभिन्न मत हैं । कोई उसका सृष्टिकारक और चालक मानते हैं, कोई नही मानते। आत्मा के स्वरूप के भी विषय में सभी दर्शनो का मतभेद है। बौद्ध दर्शन तो आत्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार नही करता।

(१) चार्वाक दर्शन की नीति

चार्वाक मतानुसार शरीर से अतिरिक्त आत्मा नहीं है अत इस वर्तमान जीवन के पश्चात् कुछ भी नही। वह गुण और दोष पुण्य और पाप कुछ भी नही मानता, जो जन्मान्तर में जाकर सुख और दु ख के कारण बने। आत्मा का शरीर से पृथक कोई रूप नही है। मोक्ष भी कोई वस्तु नही है। जो लोग इन सब बातो का उपदेश करते है वे या तो स्वय ही इनको नही जानते, अथवा व्यक्तिगत लाभ के लिए इस उपदेश के द्वारा दूसरो को ठगते हैं। जीवन अथवा व्यक्तिगत लाभ के लिए इस उपदेश के द्वारा दूसरो को ठगते हैं। जीवन का एकमात्र यही उद्देश्य है कि शरीर रूप आत्मा को अन्न पान आदि के साथ इन्द्रिय सुख सम्पादन और यथा सम्भव दु ख निवारण से आनन्दित बनाया जाय। यह विश्वास अज्ञान मात्र है और बिल्कुल व्यर्थ है कि इस जन्म में तपस्या करके दूसरे जन्म में सुख उपाजन किया जा सकता है। अत यहाँ पर केवल वही हमारा कर्त्तव्य है जिससे वास्तव में इस लोक में और इस जीवन में सुख प्राप्त और दु खो की निवृत्ति हो सकें।

इस दार्शनिक सम्प्रदाय को नास्तिक सम्प्रदाय कहते हैं, क्योकि यह ससार के मूलभूत कारण हमारे पूर्व कृत कर्मो के अनुसार दु ख सुख के नियामक ईश्वर की सत्ता का ही केवल निराकरण नही करता बल्कि यह अप्रत्यक्षीभूत समस्त अध्यात्मिक सत्ता मात्र का निराकरण और तिरस्कार करता है। यह प्रकृति (स्वभाव) को ही सब वस्तुओं का कारण मानता है तथा अन्य सम्प्रदायो की भाँति अतीन्द्रिय अधर्म धर्म न तो जगत्गत किसी घटना का कारण है और न मानव जीवन की किसी घटना का। वे दूसरे सम्प्रदाय जो ईश्वर की सत्ता को समस्त जगत् का मूल कारण नही मानते, जैसे जैन और बौद्ध इस अर्थ में आस्तिक माने जा सकते हैं कि वे आस्तिक सम्प्रदायो की भाँति अतीन्द्रिय अध्यात्मिक तत्वों, धर्म, अधर्म, पुनर्जन्म तथा पूवजन्म का फल उत्तर जन्म मे होना और मोक्ष आदि को स्वीकार करते हैं । मधुसूदन अपने प्रस्थान भेद मे प्राचीन धार्मिक परम्परा के अनुसार जैन और बौद्ध दर्शनो को नास्तिक कहते हैं क्योकि ये सम्प्रदाय भेद के ऊपर आधारित नही हैं। इनके अनुसार 'नास्तिक वेद निन्दक'—वेद की निन्दा करने वाला ही नास्तिक है।

चार्वाक मत के नैतिक सिद्धान्त "चार्वाकर्षष्टि" नामक ग्रन्थ के अनुसार ये हैं— जब तक प्राणी जीये सुख से जीवे, अपने सुख के लिए यदि आवश्यक हो तो ऋण लेकर भी घी दूध पीवे, क्योकि भस्मीभूत हो जाने के बाद इस शरीर को पुन लौट कर आना नहीं

होता। अपनी स्त्री हो अथवा परायी स्त्री हो उसके साथ स्वेच्छा से विहार करे, तथा गुरु शिष्य परम्परा को अपना हित चाहने वाला सदा के लिये छोड़ दे। (५५।५६) अङ्गनाओं के आलिंगन से उत्पन्न होने वाला सुख ही पुरुषार्थ है तथा काँटे आदि की पीड़ा से उत्पन्न होने वाला दुःख ही नरक है। लोक सिद्ध राजा ही ईश्वर है। इससे अतिरिक्त संसार की उत्पत्ति नाश तथा पालन करने वाला ईश्वर दूसरा कोई नहीं है। (५८) सांसारिक विषयों से उत्पन्न होने वाला सुख-दुःख से युक्त है अतएव त्याज्य है यह मूर्खों का विचार है। अरे ! कौन ऐसा अपना हित चाहने वाला मनुष्य है जो तुष और छिलकों से युक्त सुन्दर उत्तम चावलों से परिपूर्ण ब्रीहियों को त्यागना चाहता हो। (५९)

(२) वैशेषिक दर्शन की नीति

वैशेषिक सूत्रकार (कणाद) अपने वैशेषिक सूत्रों के प्रारम्भ में अपने सम्प्रदाय का उद्देश्य 'अथातो धर्म व्याख्यास्याम' शब्दों द्वारा धर्म की व्याख्या बतलाते हैं। अर्थात् अब हम धर्म का निरूपण करेंगे। धर्म क्या है इसके उत्तर में वे कहते हैं। "यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि स धर्म।" अर्थात् धर्म वही है जिसके द्वारा ऐहिक समुन्नति (अभ्युदय) या पारलौकिक परमानन्द (निःश्रेयस) प्राप्त होते हैं। यहाँ अभ्युदय का अर्थ केवल सांसारिक सुख मात्र ही नहीं है स्वर्गीय आनन्द का भी उसमें समावेश हो जाता है। किन्तु ये सांसारिक तथा स्वर्गीय सुख विशुद्ध और नित्य न होने के कारण जीवन का परम लक्ष्य नहीं है। परम सुख की प्राप्ति तभी सम्भव है जब यह आत्मा जन्म मरण के चक्र से छूट जाय तथा उस अवस्था को प्राप्त कर ले जिसे हम मोक्ष अथवा अपवर्ग कहते हैं। यह अवस्था कैसे प्राप्त हो सकती है केवल धर्म के अभ्यास से यह कैसे जाना जा सकता है कि इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए किस धर्म का अभ्यास किया जाय? यह केवल वेद के द्वारा ही जाना जा सकता है। वेदों की प्रामाणिकता ईश्वर द्वारा उच्चारित होने के कारण है।

ईश्वर सर्वज्ञ है। वह समस्त वस्तुओं को जानता है। वह हमें कभी धोखा नहीं दे सकता। शंकर मिश्र ने अपने उपस्कार में इसी अभिप्राय को प्रकट किया है। किन्तु चन्द्रकान्त कृत भाष्य में यह विचार प्रकट किया गया है कि वेदों की प्रामाणिकता ही इसलिए है कि वेद धर्म का उपदेश करते हैं और धर्म सभी सम्प्रदायों द्वारा अभ्युदय तथा निःश्रेयस का साधन माना जाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वेद स्वतः प्रमाण हैं क्योंकि वेद धर्मातिरिक्त किसी वस्तु का भी उपदेश नहीं करते। पीछे के वैशेषिक सम्प्रदाय के अनुयायियों ने शंकर मिश्र की ही व्यवस्था स्वीकार की है यद्यपि कणाद ने अपने सूत्रों में कहीं भी ईश्वर का निर्देश नहीं किया है। वेद दो प्रकार के धर्मों का निर्देश करते हैं—प्रथम अभ्युदय अर्थात् सांसारिक तथा स्वर्गीय सुख के उपार्जन के लिए

अनुष्ठान किया जाने वाला धर्म जिसे प्रवर्तक अथवा 'प्रवृत्त लक्षणो धर्म' कहते हैं, दूसरा जो किसी प्रकार की वासना से न किया जाने वाला बल्कि व्यक्तिगत सुख की वासना का नियन्त्रण करने वाला धर्म, जिसे निर्वर्तक अथवा निवृत्ति लक्षण धर्म कहते हैं। यह धर्म परम पद को प्राप्त करने वाला होता है। क्या यह धर्म साक्षात् नःश्रेयस प्राप्त कराता है? इस प्रश्न के उत्तर मे कणाद का कहना है कि निःश्रेयस की प्राप्ति तो वास्तव में षट् पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से ही होती है। उनके यथार्थ ज्ञान का क्या तात्पर्य है।

वह ज्ञान यथार्थ है जो उन पदार्थों की समता और विषमता (सादृश्य विसादृश्य अथवा साधर्म्य-वैधर्म्य) की परीक्षा के द्वारा प्राप्त होता है जो आत्मा निवृत्ति लक्षण धर्म के अभ्यास से परिशुद्ध हो गया है, उसी में इस ज्ञान की उत्पत्ति होती है। आत्मा पूर्व में राग द्वेष, मोह, वासना आदि के प्रभाव से आक्रान्त रहती है और इन्ही राग द्वेषो के आवरण से यथार्थ ज्ञान आवृत रहता है। अतः इस प्रकार के धर्म का अभ्यास अज्ञान की निवृत्ति का साधन बन जाता है। किन्तु अज्ञान की चरम निवृत्ति यथार्थ ज्ञान अर्थात् पदार्थों के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान से ही होती है। इन षट् पदार्थों का तत्व ज्ञान मोक्ष अथवा अपवर्ग की प्राप्ति कैसे करा सकता है? यह आत्मा के यथार्थ स्वरूप तथा अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध का ज्ञान कराता है और यह उन कारणो का भी साक्षात्कार कराता है जो आत्मा के जन्मादि रूप, ससार तथा अनन्त दुःख का मूल कारण है। इस ज्ञान से आत्मा-ससार के प्रवर्तक इन कारणो के निरोध के लिए योगभ्यास का प्रयत्न करता है और इस निरोध के फलस्वरूप जीवन के बन्धन से चरम निवृत्ति हो जाती है।

(३) न्याय दर्शन की नीति

न्याय दर्शन के अनुसार भी, अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायो की भाँति, आत्मा का चरम कल्याण तथा उसकी प्राप्ति का सफल उपाय और उस उपाय के विभिन्न स्तर ही नीति के विषय कहे जा सकते हैं। न्याय और वैशेषिक में दोनो के कुछ अशो को छोड़ कर, विशेष समानता है। भेद केवल यही है कि न्याय उन्ही वस्तुओं का कुछ विस्तार से तथा भिन्न प्रणाली से प्रतिपादन करता है। न्याय के प्रारम्भ में प्रथम सूत्र में ही यह बतलाया गया है कि अपवर्ग (चरम विमुक्ति) ही सर्वोत्तम उपादेय वस्तु है। उसकी प्राप्ति प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से सम्भव है। प्रश्न यह है कि इन सोलह पदार्थों के ज्ञान से अपवर्ग की प्राप्ति कैसे हो सकती है? उत्तर है अज्ञान की निवृत्ति से। अज्ञान की निवृत्ति के क्या कारण हैं? इसके उत्तर में गौतम के दूसरे आन्हिक के प्रथम सूत्र में बतलाया जाता है कि अपवर्ग इस क्रम से प्राप्त हो सकता है मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति से दोषो की निवृत्ति हो जाती है, दोनो की निवृत्ति से प्रवृत्ति का अवरोध होता है। प्रवृत्ति के अवरोध से जन्म की समाप्ति हो जाती है और जन्म की समाप्ति से दुःख का

अभाव हो जाता है। दुःख का अत्यन्त अभाव होना अपवर्ग है।

उक्त सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए न्यायायिक इस प्रकार तर्क देते हैं कि प्रत्येक प्राणी दुःख और कष्ट से पूर्ण निवृत्ति चाहता है। यह जीवन दुःख और कष्ट से परिपूर्ण है यह सर्व मत सिद्ध है। जन्म मरण की परम्परा तथा कष्टों से व्याप्त होने के कारण जीवन ही दुःख है। अतः दुःखों की निवृत्ति तभी सम्भव है जब जीवन की निवृत्ति हो जाय। किन्तु प्रवृत्ति के रहते हुए जीवन की निवृत्ति असम्भव है। क्योंकि प्रवृत्ति हमें कर्मों की ओर प्रेरित करती है। धर्म-कर्म और अधर्म के उत्पादक हैं, और धर्म तथा अधर्म अपने फलों को अवश्य ही लाते हैं उनके भले-बुरे का उपभोग हमें दूसरे जन्म में करना पड़ता है।

स्वर्गीय जीवन भी इस सुख-दुःख परम्परा से रहित नहीं है। इन समस्त दुःख परम्पराओं का कारण प्रवृत्ति है और हम प्रवृत्ति का निवारण तभी हो सकता है जब हम प्रवृत्ति के कारणों को नष्ट कर दें। वे कारण राग द्वेष और मोह हैं जिन्हें हम दोष कहते हैं। इनकी निवृत्ति मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति से हो सकती है क्योंकि मिथ्या ज्ञान के कारण ही इनकी उत्पत्ति होती है। इन षोडश पदार्थों के मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति षोडश पदार्थों के सत्य ज्ञान से होती है। इसका प्रतिपादन गौतम ने चौथे अध्याय के द्वितीय आह्निक में इस प्रकार किया है—दोष के कारणों का तत्व ज्ञान हो जाने पर अहंकार की निवृत्ति हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि मिथ्या ज्ञान की उत्पत्ति अनात्मभूत वस्तुओं में आत्मभाव करने से होती है अर्थात् शरीर इन्द्रिय मन और बुद्धि आदि ही अनात्म पदार्थ हैं जिनमें हम आत्मा का अभेद अथवा तादात्म्य समझ लेते हैं और यही समस्त दोषों का कारण हो जाता है। जब एक मनुष्य अपने वास्तविक आत्मा के स्वरूप को समझ लेता है तब वह दोषों का भागी नहीं बनता है। आत्मा का यथार्थ ज्ञान उसको अन्य अनात्म वस्तुओं से पृथक करके जानने पर होता है। ये सभी वस्तुयें प्रमेय के अन्तर्गत आती हैं। किन्तु प्रमेय का यथार्थ ज्ञान तभी सम्भव है जब प्रमाणों का उचित उपयोग किया जाय। अतः षोडश पदार्थों के ज्ञान के लिए प्रमाणों का निरूपण आवश्यक हो जाता है। अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की भाँति गौतम भी चित्त शुद्धि को ही आत्मज्ञान का द्वार मानते हैं और यह चित्त शुद्धि सत्य पथ के अनुसरण से होती है। इस अनुसरण के लिए कुछ बाहरी तथा कुछ भीतरी अभ्यासों की आवश्यकता पड़ती है। धर्म के अभ्यास अधर्म के निरोध तथा आत्मसंयम के अभ्यास से ही चित्त शुद्ध होता है। शास्त्र प्रतिपादित यम नियम वाले योग का अभ्यास भी चित्त शुद्धि का एक उपाय है।

(४) सांख्य दर्शन की नीति

सांख्य दर्शन की नीति किसी एक जगह कारिका अथवा सूत्र में उपलब्ध नहीं होती उसके लिए हमें अनेक स्थलों की अनेक कारिकाओं का समन्वयात्मक तरह करना

पडता है। कारिकाओ के इसी समन्वयात्मक सग्रह मे ही हमको साख्य की समस्त नीति का सामान्य ज्ञान हो सकता है। सांख्य शास्त्र के अनुसार मुक्त और बद्ध दो प्रकार के पुरुप हैं। मुक्त पुरुप, शुद्ध चित्, नित्य और कूटस्थ है । वह कभी शरीर आदि बन्धनो से बद्ध पुरुपकी भाँति न फँसता है और न उनका उपभोग करता है। (का० ६३)

इसके विपरीत, बद्ध पुरुप जीवन मरण, दु ख सुख आदि का भागी बनता है क्योकि उसका शरीर के साथ अभेद सम्बन्ध हो जाता है शरीर भी स्थूल और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का है। मृत्यु इसी स्थूल शरीर की होती हैं और सूक्ष्म शरीर इस स्थूल की मृत्यु के पश्चात् भी रहता है। अत सूक्ष्म शरीर नियत अथवा (नित्य) कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति सृष्टि के आदि में हुई है और सृष्टि के विनाश काल तक इसकी सत्ता रहेगी। जब तक पुरुप का इससे सम्बन्ध विच्छेद नही हो जाता तब तक उसकी मुक्ति नही होती है। यह सूक्ष्म शरीर महत् (बुद्धितत्व) अहकार मन, इन्द्रिय तथा तन्मात्राओ का बना है। यह सूक्ष्म शरीर स्वय कार्य करने में अक्षम होता है अत कार्य सम्पादन के लिए यह स्थूल शरीर का आश्रय लेता है। (कारिका ३७–४०–४१)

सूक्ष्म शरीर से किस प्रकार का स्थूल शरीर बनेगा इसके लिए सूक्ष्म शरीर भूत कर्मो से प्रभावित होता है। भूतकाल के भले बुरे कर्म उस पर अपना भला बुरा सस्कार छोड जाते हैं । इन सस्कारो को साख्य की भाषा में भाव कहते हैं और इन्ही भावो का प्रभाव सूक्ष्म शरीर पर पडता है । सस्कारो का आश्रय बुद्धि है। किन्तु बुद्धि सूक्ष्म शरीर के अन्य अवयवो के बिना रह नही सकती है। अत ये अन्य अवयव भी सस्कारों से प्रभावित होते हैं। ये सस्कार आठ प्रकार के हैं—धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वय, अनैश्वर्य, ज्ञान और अज्ञान । इन सस्कारो के द्वारा बद्ध पुरुप में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन होते हैं। धर्म से सूक्ष्म शरीर और पुरुप दोनो बध कर मृत्यु के बाद ऊपर की ओर जाते हैं और स्वर्गीय जीवन प्राप्त करते हैं। अधर्म से वे नीचे की ओर जाते हैं तथा अधोयोनियो को प्राप्त होते हैं। ज्ञान से उसको मुक्ति मिलती है तथा अज्ञान से बन्धन। वैराग्य जब ज्ञान विरहित रहता है तब भी मुक्तावस्था के समान एक अवस्था प्राप्त करता है जिसे प्रकृति लय कहते हैं, किन्तु यह चरम लय अथवा मुक्ति नही होती। अवैराग्य से ससारिक वस्तुओ मे आसक्ति उत्पन्न होती है और जन्म-मरण की परम्परा चलती रहती है। ऐश्वर्य से समस्त वस्तुओ पर प्रभुत्व स्थापित हो जाता है तथा अनैश्वय मे शक्ति हीनता आती है। यही भावो का प्रभाव है जो प्रत्येक पुरुप के ऊपर पडता है। ये भाव प्राक् जन्म के कर्मो से सम्बद्ध रहते हैं। इन भावो मे प्रभावित सूक्ष्म शरीरों के अतिरिक्त प्रत्येक बद्ध पुरुप के लिए एक स्थूल शरीर भी रहता है। यही ससार का नियम है, इससे तब तक छुटकारा नही मिल सकता जब तक पुरुप अपने को मुक्ति प्राप्ति के योग्य नही

बना लेता। किन्तु वह अपने को मुक्ति प्राप्ति के योग्य कैसे बना सकता है क्योंकि वह स्वयं तो निष्क्रिय है? इस कार्य के लिए उसे प्रकृति का सहारा लेना पड़ता है। परन्तु प्रकृति पुरुष को सदा आत्मज्ञान से विमुख रखती है। वह सदा पुरुष के समक्ष दुःख और सुख रूपी भोगों को उपस्थित करती रहती है तब वह प्रकृति मुक्ति का कारण कैसे बन सकती है? सांख्य यह भी मानता है कि पुरुष को मुक्ति की ओर अग्रसर करने की भी सेवा प्रकृति की ही है। किन्तु इसके लिए प्रकृति पर कोई दबाव नहीं दिया जा सकता है।

यह अन्तिम सेवा प्रकृति कैसे करती है? मुक्ति का साधन है बुद्धि और पुरुष के भेद का ज्ञान होना। बद्ध पुरुष ने अनादि काल से प्राकृतिक बुद्धि और अपने में अभेद मान रक्खा है और यह अभेद रूप अज्ञान जीवन परम्परा के साथ साथ चलता रहता है। इस अज्ञान की समाप्ति पुरुष और बुद्धि को पृथक रूप से समझ लेने पर हो जाती है और यह विवेक दोनों के वास्तविक स्वभाव के ज्ञान से हो सकता है। यह ज्ञान पुरुष स्वयं प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि समस्त ज्ञान बुद्धि के परिणाम तथा धर्म पर निर्भर है। अतः बुद्धि के रूप में प्रकृति ही इस बोध को कराने के लिए पुरुष के सहायतार्थ अग्रसर होती है। प्रत्येक बुद्धि इस प्रकार के ज्ञान कराने में क्षम नहीं हो सकती। इस ज्ञान के उपार्जन की शक्ति अर्जन करने के लिए बुद्धि को स्वयं अपने को परिशुद्ध करना पड़ता है। इस चित्त शुद्धि के लिए निष्काम भाव से कर्म का अभ्यास करना चाहिए और यह निष्काम कर्म का अभ्यास तभी सम्भव है जब पुरुष रागद्वेष आदि से रहित हो। इस प्रकार से असंग अथवा योगदर्शन के निर्दिष्ट अभ्यास के करने से बुद्धि परम सात्विक अवस्था को प्राप्त कर लेती है और यह परम सात्विक अवस्था ही उसके आत्म-बोध का कारण बनती है। (का ११-१४)

इस पूर्ण रूप ज्ञान के प्राप्त करने पर मोक्ष कैसे मिल जाता है और यदि मोक्ष मिल जाता है तो उसका क्या स्वरूप है तथा मुक्त पुरुष का वास्तविक क्या स्वभाव होता है? बीसवीं कारिका में यह बताया गया है कि बद्ध पुरुष जो चेतना का आश्रय है प्रकृति के सम्बन्ध मात्र से प्रकृति के कर्तव्य को भूल से अपना कर्तव्य मानता है और अचेतन प्रकृति भी पुरुष के चैतन्य सम्बन्ध होने से झूठ ही अपने को चेतन समझता है। इसलिए जो कुछ प्रकृति करती है उसको पुरुष अपना मान लेता है। (का २)

बन्धावस्था का मूल कारण यही अज्ञान है जिससे हम प्रकृति और पुरुष में अभेद मान बैठे हैं। जीवन मरण का यह संसार चक्र जो अनन्त प्रकार के संस्कारों का उत्पादक होता है इसी अज्ञान का ही फल है। अतः वह ज्ञान जिससे मुक्ति मिलती है दोनों के पृथक स्वभाव का ज्ञान होना चाहिये। जब इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है तब वह अभेद भ्रम नहीं टिक पाता। तब पुरुष अपने को विशुद्ध चेतन समझता है तथा प्रकृति से

व्यापारो से उसे कोई प्रयोजन नही रहता। प्रकृति भी अपने में स्वत परिवर्तनो का कारण मात्र बन कर पृथक रहती है। अब इनके कर्मो का प्रभाव पुरुष पर न पड कर केवल उसी (बुद्धि) पर ही पडता है। मुक्ति का परिणाम यह होता है कि मुक्ति के पश्चात् पुरुष एक उदासीन कूटस्थ तटस्था तथा प्रकृति के कर्मो का दृष्टा मात्र रह जाता है। यह अवस्था जीवनमुक्ति की है। यह इस एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। मानो दो मित्र क और ख में अभेद हो गया है, अत जो कुछ एक करता है उसको दूसरा अपना कर्म समझ लेता है तथा दूसरा जो कुछ दुःख और कष्ट झेलता है पहला उसका अपने में अनुभव करने लगता है। किन्तु जिस दिन से वे इस प्रकार के सम्बन्ध का परित्याग कर देते हैं उस दिन से एक-कर्म करता है दूसरा उसका दर्शक मात्र रहता है तथा दूसरा कर्मो का फल भोगता है पहले को उससे कोई प्रयोजन नही रहता है। (का० ६५)

कैवल्य-मुक्ति तब प्राप्त होती है जब जीवनमुक्त अपने स्थूल शरीर का परित्याग-कर पुन सूक्ष्म शरीर का भी परित्याग कर देता है। इसी कैवल्य-मुक्ति के परम पद अथवा-नि श्रेयस कहा जाता है क्योंकि इस स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात आध्यात्मिक, आदि-दैविक और आदि-भौतिक त्रिविध दुःखों का ऐकान्तिक और आत्यान्तिक अभाव हो जाता है। (का० १,६८)

१ जब जीवनमुक्त पुरुष मुक्ति के उपयोगी आवश्यक तथा पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब वह कैवल्य मुक्ति न प्राप्त करके जीवित क्यो रहता है ?

इस प्रश्न का उत्तर कर्मवाद के उस सिद्धान्त को मानकर किया जाता है जिसमें कर्म तथा कर्मफल का विभाग इस प्रकार कर दिया जाता है—(क) प्रारब्ध कर्म वे कर्म हैं जिनको भोगने के लिए यह हमारा वर्तमान शरीर प्राप्त हुआ है। (ख) सचित कर्म कर्मो के उस भण्डार को कहते हैं, जो भावी जन्मो का कारण बनता है।

ज्ञान प्राप्त होने से सचित कर्म जल कर भस्म हो जाते हैं, जिससे भावी जन्मो का बीज समाप्त हो जाता है। प्रारब्ध कर्मो का भोग प्रारम्भ हो गया रहता है जो एक निश्चित सीमा पर जाकर स्वय समाप्त हो जाता है। अत उस निश्चित सीमा पर पहुँचने तक वह जीवन्मुक्त जीवित रहता है। (का० ६७)

२ पुरुष कैवल्य मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात भी नित्य होने के कारण अवश्य रहेगा तथा प्रकृति भी नित्य होने के कारण अवश्य रहेगी दोनो विभु पदार्थ हैं, अत उनका सयोग कैसे मिट सकेगा और यदि उनका सम्बन्ध नही मिलता है तो मुक्तावस्था कैसे प्राप्त होगी ?

उत्तर—दोनो का सम्बन्ध (सयोग) बना रहता है किन्तु अज्ञान मूलक जो अभेद था उसका नाश हो जाता है। अत अज्ञान के कारण प्रकृति तथा पुरुष में एक दूसरे

के कर्मों का जो प्रभाव पड़ता है वह बन्द हो जाता है। अज्ञान ही बन्धन का प्रधान कारण होता है। उसकी समाप्ति होते ही मुक्ति सम्पन्न हो जाती है। उसमें कोई विचार शेष नहीं रह जाता। (का ६६)

(५) योग दर्शन की नीति

योग शब्द की परिभाषा बताते हुए महर्षि पातञ्जलि ने 'योगश्चित्तवृत्ति निरोध' अर्थात् चित्त की वृत्तियों को निरोध करना योग है बतलाया है। इस योग की प्राप्ति के लिए उपाय स्वरूप आठ अंगों का वर्णन किया है। इन आठ अंगों को बहिरंग और अन्तरंग दो भागों में विभाजित किया जाता है। बहिरंग साधन के अन्तर्गत यम-नियम आसन प्राणायाम आते हैं तथा अन्तरंग साधन के भीतर प्रत्याहार, धारणा ध्यान तथा समाधि की गणना की गयी है। अतः हम देखते हैं कि योग शास्त्र में नीति विषयक विचार का बहुत अल्प स्थान रह जाता है उसका समस्त प्रयोजन चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके समाज से अपने को पृथक कर वैराग्य की साधना करने में ही समाप्त हो जाता है। और यही कारण है कि योग शास्त्र में समाज के स्तम्भ स्वरूप नीतिशास्त्र पर विचार ही नहीं किया गया है। यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करें तो यम और नियम को जो योग के बहिरंग साधन हैं नीति के भीतर ले सकते हैं क्योंकि नीति से केवल इन्हीं से ही सम्बन्धित है। अन्य साधनों से नीति का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिए यहाँ हम उन्हीं का वर्णन करते हैं—अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को यम कहते हैं।

(योग २-३) (१)

(१) अहिंसा-मनवाणी और शरीर से कभी किसी प्राणी को किसी प्रकार लेशमात्र भी दुःख न देना अहिंसा है।

(२) सत्य—इन्द्रिय तथा मन से प्रत्यक्ष देख कर, सुन कर या अनुमान करके जैसे अनुभव किया हो ठीक वैसा का वैसा ही भाव प्रकट करने के लिए प्रिय हितकर तथा दूसरे को उद्वेग न उत्पन्न करने वाले जो वचन बोले जाते हैं उनका नाम सत्य है।

(३) अस्तेय—किसी भी प्रकार से दूसरे के स्वत्व का अपहरण करना तथा अन्यायपूर्वक उसे अपना बना लेना अस्तेय कहलाता है।

(४) ब्रह्मचर्य—मन वाणी और शरीर से होने वाले सब प्रकार के मैथुनों का सब अवस्थाओं में सदा त्याग करके सब प्रकार से सदा वीर्य की रक्षा करना।

(५) अपरिग्रह—अपने स्वार्थ के लिए ममतापूर्वक धन सम्पत्ति और भोग सामग्री का कभी भी संचय न करना अपरिग्रह है।

ये यम यदि देश काल परिस्थिति विशेष में किए जाते हैं तब इन्हें लघु व्रत कहते हैं किन्तु जब देश काल परिस्थिति की सीमा को छोड़कर इनको सार्वभौम और

सर्वकालिक बना दिया जाता है तब इन्हे महाव्रत कहते हैं।

नियम—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरशरणागति, ये पांच नियम हैं। (२।३२)

(१) शौच—शरीर, वस्त्र, गृह, अन्न, पान आदि को पवित्र रखना शौच हैं।

(२) सन्तोष—कामना और तृष्णा हित होकर सभी परिस्थितियो में सदा एक सा रहना सन्तोष कहलाता है।

(३) तप—अपने वर्ण आश्रम परिस्थिति और योग्यता के अनुसार स्वधर्म का पालन करना और उसके पालन में शारीरिक या मानसिक कष्ट प्राप्त हो उसे सहर्ष सहन करना तप कहलाता है।

(४) स्वाध्याय—जिनसे अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का बोध हो सके ऐसे वेद शास्त्रादि का सदा अध्ययन करना स्वाध्याय हैं।

(५) ईश्वर प्रणिधान—ईश्वर के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण और प्रभाव आदि का श्रवण, मनन और कीर्तन करना तथा अपने समस्त कर्मों को ईश्वरार्पण बुद्धि से करना ईश्वर प्रणिधान् कहलाता है।

योगी का ध्येय यही था कि ससार के सभी विघ्नो से सुरक्षित रह कर ध्यान लगाता हुआ समाधि की अवस्था मे प्रवेश कर ले। अतएव उसे यम नियमो का पालन करना आवश्यक जान पडा। आज जब कि मनुष्य का ध्येय एक अच्छा नागरिक, सासारिक और सामाजिक व्यक्ति बन कर रहना है उसके लिए भी यम और नियमो का पालन करना अत्यन्त आवश्यक दिखायी पडता है। इसी कारण महात्मा गाधी ने जीवन में इनको अपनाया और उन पर चले।

(६) पूर्व मीमासा की नीति

अन्य आस्तिक दार्शनिक सिद्धान्तो के समान मीमासा दर्शन भी चरम मुक्ति को ही परम उपादेय मानता है। यह मुक्ति ऐहिक तथा पारलौकिक (स्वर्गीय) जीवन से परे की वस्तु है। मीमासक मुक्तावस्था को समस्त दु खो के अभाव स्वरूप मानता है उस समय किसी प्रकार का भावात्मक सुख नही होता। "मोक्ष सुख स्वरूप नही है दु ख का अभाव है।

इस सिद्धान्त में वह वेदान्त न्याय वैशेषिक तथा कुछ स्तर तक साख्य योग से भिन्न है। इस मुक्तावस्था मे आत्मा की स्थिति का वह इस प्रकार वर्णन करता है।

मुक्त आत्मा अपनी वास्तविक स्थिति में आ जाता है। मन, इन्द्रिय आदि शारीरिक अवयव होने के कारण नष्ट हो जाते हैं और सभी सवेदन आत्म-मन सयोग से ही उत्पन्न होने के कारण उस अवस्था में चेतना भी नही रहती और न किसी विषय का

ज्ञान ही रहता है। बिना ज्ञानेन्द्रियों के चेतन तथा जड़ किसी भी विषय का ज्ञान भी नहीं हो सकता। इस सिद्धान्त में मीमांसा और न्याय मत में समानता है। प्राणी अपने सावधान पुण्य और पापात्मक कर्मों के कारण ही जीवन मरण की परम्परा से छुटकारा नहीं पाता है। वह उपाय जिससे मुक्ति की प्राप्ति होती है न्याय और मीमांसा दोनों के मतों में प्रायः एक ही है। जीवन मरण की परम्परा के कारण प्रारब्ध शुभ और अशुभ कर्म ही होते हैं। जिन कर्मों के फल भोगने के लिए एक विशेष शरीर प्राप्त होता है उन कर्मों को प्रारब्ध कर्म कहा जाता है। प्रारब्ध कर्मों का विनाश अच्छे बुरे फलों के उपभोग से ही होता है इन फलों का निवारण आत्म-संयम तथा विद्या के द्वारा होता है।

मोक्ष के स्वरूप के विषय में प्रभाकर तथा कुमारिल भट्ट में मतभेद है। प्रभाकर समस्त ज्ञान चेतना सुख दुःख आदि का अभाव रूप मोक्ष मानते हैं किन्तु भट्ट मोक्षावस्था में दुःख का अत्यन्ताभाव मानते हैं पर सुख का अभाव नहीं मानते हैं।

(७) अद्वैत वेदान्त की नीति

अद्वैत वेदान्त के अनुसार प्रत्येक आत्मा अपनी वास्तविक स्थिति अथवा स्वरूप में ब्रह्म ही है अतः मानव जीवन का चरम तथा सर्वोत्तम लक्ष्य इसी यथार्थ सत्य का ज्ञान करना है। किन्तु यह ज्ञान तभी संभव है जब अपरोक्षानुभूति में ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाय। जब तक बुद्धि के व्यापारों के आधार पर हम इस तत्त्व का कथन करना चाहेंगे तब तक वह एक (अद्वैत) तत्त्व हमारे ज्ञान में नहीं आ सकता है क्योंकि बुद्धि व्यापार सदा द्वैत के पीछे लगा रहता है। इसलिए कहा जाता है कि 'ब्रह्मविद् ब्रह्म भवति' अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है। यदि आत्म-साक्षात्कार उस विशेष मनन से पहुँचती है किन्तु तर्क से नहीं। बुद्धि के द्वारा आत्मा और परमात्मा (ब्रह्म) का विश्वात्मक ज्ञान संभव नहीं है। यह विश्वात्मक बुद्धि के क्षेत्र से कुछ ऊपर उठ जाने पर सम्भव है। इस स्तर को हम अपरोक्षानुभूति का स्तर कहते हैं। यह प्रत्यक्ष अर्थात् इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष तथा मनोजन्य प्रत्यक्ष से बिल्कुल भिन्न वस्तु है। किन्तु इस स्थिति की प्राप्ति के लिए बुद्धि का एक नियमित क्रम है।

समस्त भारतीय दर्शनों के भीतर अद्वैत वेदान्त की एक यह विशेषता है कि यह पहले अधिकारी का निरूपण करता है। यह बतलाता है कि कौन व्यक्ति किन-किन विशेष गुणों से विशिष्ट होकर इस शास्त्र के अध्ययन की योग्यता प्राप्त कर सकता है। सर्वप्रथम यही विचार उठता है कि अमुक व्यक्ति इस शास्त्र का अधिकारी है या नहीं अधिकारी निर्णय बाह्य व्यवहारों के आधार पर नहीं किया जाता बल्कि मानसिक अवस्थाओं के आधार पर इसका निर्णय होता है। शंकराचार्य जी ने अपने ग्रन्थ उपदेश साहस्री में अधिकारी निरूपण करते हुए बतलाया है कि—

इन निम्नलिखित प्रकार के अधिकारी को ही यह अद्वैत विद्या प्रदान करनी चाहिये।

(क) प्रशान्त चित्तवाले को अर्थात् जिसका मन सभी प्रकार की वासनाओं से शान्त हो गया है, अब उसमें वासनायें नहीं उठती।

(ख) जितेन्द्रिय—अर्थात् जिसने ज्ञान इन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों पर पूर्ण अधिकार जमा लिया है। वह उन इन्द्रियों द्वारा लाये हुए विषयों की ओर उन्हे प्रवृत्त नहीं होने देता।

(ग) प्रहीण दोष—जिसके सभी दोष समाप्त हो गये हों।

(घ) यथोक्तकारी—अर्थात् जो यथोक्तकारी हो, जिस पथ का गुरू से उपदेश प्राप्त किया है, उसी पथ का अनुसरण करके चलने वाला हो।

(ङ) गुणान्वित—जो इस शास्त्र के अध्ययन के लिए आवश्यक गुण हैं उन गुणों से विशिष्ट होना चाहिए।

(च) अनुगन्ता—अर्थात् जो सदा अपने गुरू के उपदेश का अनुगमन करने वाला हो।

(छ) मुमुक्षु—अर्थात् जो सासारिक व्यवहारो से घबडा कर इनमे मुक्ति चाहता हो और उसके लिए ज्ञानमार्ग के अन्वेषण में तत्पर हो।

अधिकारी के विशेष गुणों का विशद् वर्णन वेदान्त सार मे मिलता है। गुणान्वित का वर्णन करते हुए वेदान्त सार के कर्ता उसको साधन चतुष्टय सम्पन्न कहते हैं। वे साधन क्या हैं? नित्यानित्य वस्तु विवेक, इहामुत्रार्थ फलभोग विराग, शमादि—शुभ दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व।

(अ) नित्यानित्य वस्तु विवेक—इस ससार में क्या नित्य है तथा क्या अनित्य है, इसका पृथक रूप से जानना अर्थात्, ससार मे जो अविनाशी तत्व हैं उसका ज्ञान, और जो क्षणिक हैं उनका ज्ञान होना नित्यानित्य वस्तु विवेक कहलाता है।

(आ) इहामुत्र फल भोग विराग—ऐहिक—अर्थात् इस ससार में होने वाले, सुखों की इच्छा से किसी काम को न करना। कर्मो को करना किन्तु उनको फलों की वासनाओं का परित्याग करके कर्मो को करना।

(इ) शमादिषट् सम्पत्ति—शम—आदि विशेष गुणों को धारण करना, जिन्हें अद्वैत वेदान्त षट् सम्पत्ति कहता है। (१) शम—अपने अद्वैत लक्ष्य से अतिरिक्त समस्त विषयो की ओर मन को हटाना। (२) दम—बाह्य विषयो के बाह्य इन्द्रियों को हटाना। (३) उपरति—अपने अद्वैत लक्ष्य के अतिरिक्त किसी भी विषय पर आसक्त न होना। (४) तितिक्षा—शान्तावस्था को विकल करने वाली घटनाओं को सहने का अभ्यास। (५) समाधान—अपने उद्देश्य पर मन को स्थिर करना। (६) श्रद्धा—अध्ययन के

विषय गुरु तथा उनके उपदेश पर विश्वास करना।

(ई) मुमुक्षा—मोक्ष प्राप्ति की तीव्र इच्छा।

जो मानव इन समस्त गुणों से सम्पन्न हो वही अद्वैत वेदान्त तत्व के अध्ययन का अधिकारी है। किन्तु इन गुणों की सत्ता मात्र से ही सब कुछ नहीं हो सकता। इन गुणों से सम्पन्न अधिकारी एक योग्य गुरु का अन्वेषण करे जो समस्त वेदों को उपनिषद तथा अर्थों के समेत जानता हो जो स्वयं ब्रह्म ज्ञान में तत्पर हो तथा जो ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर चुका हो। जब आचार्य प्राप्त हुए शिष्य के समस्त गुणों को समझ ले तब अध्यारोप और अपवाद प्रणाली के द्वारा उसे ब्रह्म ज्ञान का उपदेश करे।

अध्यारोप से यह ज्ञान कराया जाता है कि वास्तव में जो गुण जिस वस्तु का नहीं है, वह गुण उसमें मालूम पड़ता है। शंकराचार्य के शब्दों में इसे अध्यास कहते हैं। अध्यास का व्याख्यान शंकर ने अपने भाष्य में किया है। अध्यास का अर्थ है स्मृति की सहायता से अज्ञानवश जो वस्तु वहाँ नहीं है अर्थात् जो गुण जिस वस्तु में नहीं है बल्कि वह किसी अन्य वस्तु का गुण है उसका यदि वहाँ पर ज्ञान हो तो वह भ्रमात्मक ज्ञान अध्यास ज्ञान कहलायेगा और इस अध्यारोपित गुण को अध्यासित गुण कहा जायेगा। जो मान में आता है वह प्रस्तुत वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं होता। यह अध्यास या अध्यारोप हमारे अनुभव पर निर्भर होता है। हम अस्मद् प्रत्यय तथा युष्मद् प्रत्यय आत्म तथा अनात्म में परस्पर विपरीत धर्म का आरोप कर लेते हैं, जिसका कारण हमारा अज्ञान ही होता है। हम अपने अज्ञान के कारण आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न प्राप्त कर उस पर अनात्मा के गुणों का आरोप कर उसे अनात्मगुणों वाला समझने लगते हैं और अनात्म बुद्धि और मन पर जो वास्तव चेतन नहीं है (अचेतन है) चेतन आत्मा के गुणों का अध्यारोप कर उन्हें चेतन समझने लगते हैं। इस समस्त प्रपञ्च का कारण इसके यथार्थ स्वरूप का अविवेक है।

इस अविवेक को अविद्या कहते हैं जो केवल विद्या के ही द्वारा निवृत्त हो सकती है।

अद्वैत वेदान्त का कहना है कि जीव और ब्रह्म एक ही हैं और हमारे अध्ययन का चरम लक्ष्य यही है कि इस अभेद का हमें ज्ञान हो जाय। समस्त शास्त्रों का तात्पर्य भी इसी लक्ष्य को प्राप्त करना है। शंकर अध्यारोप का वर्णन करते हुए बताते हैं कि किस प्रकार हमारे सभी व्यावहारिक ज्ञान भ्रमात्मक होते हुए भी हमें यथार्थ प्रतीत होते हैं। यह अज्ञान जन्य अध्यारोप अपवाद प्रणाली से हटाया जा सकता है। किन्तु यह बात शीघ्र ही शिष्य की समझ में नहीं आ जाती। उसे गुरु के उपदेश को आत्मसात् करने का प्रयत्न करना पड़ता है। वे उत्तरोत्तर साधन निम्नलिखित हैं जिनसे साधन चतुष्टय सम्पन्न शिष्य उस

लक्ष्य के ज्ञान तक पहुँचता है—श्रवण, मनन, निदिध्यासन, और समाधि जिनकी व्याख्या सक्षेप में इस प्रकार की जाती है।

श्रवण—जिसका शाब्दिक अर्थ है सुनना। अर्थात् उस उपदेश को ग्रहण करना जो गुरु देता हो। वह वेदान्त का उपदेश है जिसमे अद्वैत की सत्यता प्रतिपादित रहती है और जीव तथा ब्रह्म की एकता का विशेष रूप मे निरूपण होता है।

मनन—जिसका शाब्दिक अर्थ है विचार करना—अर्थात् गुरु से श्रुत उपदेश पर सत् युक्तियो से विचार करना यह एक बौद्धिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा तत्व तक पहुँचा जा सकता है।

निदिध्यासन का शाब्दिक अर्थ है किसी एक विषय पर मन को बारबार स्थिर करना—अर्थात् वेदान्त के उपदेश मे श्रुत आत्म ब्रह्मकता, तथा मनन द्वारा निर्धारित ससार की अनित्यता के उपरान्त उसी अद्वैत तत्व को अविकल रूप से स्वीकार कर उसी पर मन की स्थिति करना।

मै ब्रह्म हूँ—तू ब्रह्म है—आत्मा ब्रह्म है—सब कुछ ही ब्रह्म है। इन महावाक्यो (अह ब्रह्मास्मि, तत्वमसि, अयमात्मा, ब्रह्म, सर्वखल्विद ब्रह्म) पर विचार करते हुए इनकी वास्तविकता पर मन को ठहराना।

समाधि—उक्त स्थितियो मे जाने हुए अद्वैत तत्व पर मन को लगा देना जिससे कि चित्त उस विषय के रूप में परिणत हो जाता है जिस पर वह लगाया जाता है। अर्थात् साधक के चित्त की वृत्ति ब्रह्माकार हो जाती है और त्रिपुटी (ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान) का लय हो जाता है। समाधि दो प्रकार की है, सविकल्प तथा निर्विकल्प, जिनको योग की भाषा में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। सविकल्प समाधि में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद शेष रहता है, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि मे यह भेद सर्वथा विलीन हो जाता है। एकाग्रता का यह सर्वोच्च स्तर है। यही त्रिपुटी का लय हो जाता है।

जो साधक इस समाधि की स्थिति को प्राप्त कर लेता है शास्त्रो में उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्त जीव ब्रह्म की एकता का ज्ञान प्राप्त कर अज्ञान को नष्ट कर देता है किन्तु अपने प्रारब्ध कर्मों के कारण इस प्राप्त शरीर के नाश तक जीवित रहता है। वह अनन्त जन्मो का सचित कर्म जिसका सस्कार मन पर पडता रहता है, ब्रह्मात्मक्य ज्ञान होते हुए अपने उपादान के कारण अज्ञान के साथ ही साथ भस्मसात् हो जाता है। यह साक्षात्कार बौद्धिक होता है पर अनुमान आदि के समान किसी माध्यम से यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होता किन्तु यह अपरोक्ष साक्षात्कार होता है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय की त्रिपुटी समाप्त हो जाती है। यह अपरोक्ष साक्षात्कार स्थूल चर्मेन्द्रिय प्रत्यक्ष से बिल्कुल भिन्न है। जीवनमुक्त समाधि से उठने पर ससार में रहने वाले मानव के समान जीवन यापन करता

हुआ सा प्रतीत होता है और उस जीवन में आये दुःख-सुख का अनुभव भी करता है किन्तु जीवन के प्रति जो उसकी धारणा रहती है, वह साधारण मानव की धारणा से सर्वथा परे होती है। वह समस्त वासनाओं तथा अहंकार आदि दोषों से सर्वथा शून्य हो जाता है। सुरेश्वराचार्य ने इसका वर्णन इस प्रकार से किया है।

जब प्रारब्ध कर्म और इसके फल समाप्त हो जाते हैं तब उस अवस्था का उदय होता है जिसमें मन की क्रिया समाप्त हो जाती है और मन भी विलीन हो जाता है। केवल आत्मा ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव करती हुई सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित रहती है। इस अवस्था को कैवल्य अथवा विदेह मुक्ति कहते हैं इसमें समस्त बन्धनों से छुटकारा मिल जाता है यह अवस्था ऐसी कोई वस्तु नहीं जो बुद्धि से उत्पन्न अथवा प्राप्त की जा सके। आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में सभी प्रकार के बन्धनों से रहित है। वह बुद्धि आदि से परे है। अतः बन्धन आदि उसके स्वभाव नहीं हैं। यह उसके अपने यथार्थस्वरूप का अज्ञान है।

ज्ञान के होते ही अविद्या के साथ-साथ सभी संचित कर्म समाप्त हो जाते हैं। संचित कर्म के साथ मन बुद्धि अहंकार आदि की निवृत्ति हो जाती है अतः पुनर्जन्म ग्रहण करने की कोई सम्भावना नहीं रह जाती इस अवस्था को कैवल्य मुक्ति कहा जाता है।

यहाँ पर यह निर्देश कर देना चाहिए कि अद्वैत वेदान्त मुक्ति के ज्ञान को आवश्यक मानता है किन्तु ज्ञान की भूमिका के लिए शास्त्र प्रतिपादित शुभ कर्मों के अनुष्ठान पर जोर देता है। क्योंकि कर्म चित्त शुद्धि के लिए परम आवश्यक है और चित्त के शुद्ध हो जाने पर बुद्धि तत्त्व में आत्मा का स्फुरण हो सकता है। कर्म स्वयं इस अवस्था को प्राप्त करने में क्षम नहीं होते।

अद्वैत वेदान्त केवल ज्ञान को ही मुक्ति का साधन मानता है। अतः ज्ञान कर्म समुच्चय से मुक्ति मानने वालों का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त को मान्य नहीं है। ईश्वराधन भी केवल बुद्धि की परिशुद्धि मात्र में सहायक होता है वह भी मुक्ति का साधक नहीं है।

(८) विशिष्टाद्वैत की नीति

रामानुज के अनुसार बन्धन का तात्पर्य है संसार में पुनः पुनः जीवन मरण प्राप्त करना तथा इस संसारिक जीवन दुःख तथा सुख का उपभोग करना। जीवन मरण दुःख-सुख का मूल कारण कर्म है जो अविद्या से उत्पन्न होता है। पर अविद्या स्वयं अनादि है। इस अनादि अविद्या के निवारण का केवल एक ही उपाय है। वह है ज्ञान। ज्ञान की प्राप्ति शुभ कर्मों अथवा उपासना द्वारा होती है। यह उपासना पाँच प्रकार की है—

(अ) अभिगमनम्—तीर्थ यात्रा के लिए जाकर तीर्थों में विष्णु के मन्दिर का दर्शन करना।

(आ) उपादान—विहित द्रव्य तथा सामग्रियों के साथ मूर्ति की पूजा करना।
(इ) इज्या—वेद विहित यज्ञों का सम्पादन करना।
(ई) स्वाध्याय—वेद तथा अन्य धार्मिक शास्त्रों का अध्ययन करना।
(उ) योग—वासुदेव भगवान् के ध्यान में विचार मग्न हो जाना।

उपासना की ये अवस्थाये जीवन को मोक्ष प्राप्ति के योग्य बना देती हैं किन्तु मुक्ति बिना वासुदेव भगवान् के अनुग्रह के मिल नही सकती है। इस अवस्था के प्राप्त कर लेने के बाद जीव स्वय ब्रह्म लोक में पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण आनन्द का अनुभव करता हुआ रहने लगता है। इस अवस्था के बाद पुन उसे जीवन मरण के चक्र में नही पडना पडता है। इसको सालोक्य मोक्ष के नाम से कहा जाता है। रामानुजाचार्य जीवन-मुक्ति को नही मानते। यावज्जीवन मोक्ष उनके विचार में असभव है।

(ई) द्वैत वेदान्त की नीति

मध्वाचार्य के द्वैत वेदान्त के मत में जीवन का चरम लक्ष्य नि श्रेयस की प्राप्ति है किन्तु इनके नि श्रेयस की अवस्था अन्य सम्प्रदायों की अवस्था से भिन्न है। इसमें न केवल दुखो का ही अभाव होता है बल्कि सुख की वासनाये भी समाप्त हो जाती हैं। यह अवस्था ज्ञान से उपलब्ध होती है परन्तु ज्ञान का स्वरूप जीवन और ईश्वर में अभेद स्थापन रूप नही है बल्कि भेद ज्ञान रूप है। ब्रह्म सेव्य तथा जीव सेवक रूप से जाना जाता है। इस भेद ज्ञान के लिए सेवा भक्ति आवश्यक है। यह सेवा (भक्ति) तीन प्रकार की है। अकुण, नमस्करण, तथा भजन।

(अ) अकण—शरीर मे विष्णु के अस्त्रों का चिन्ह बनाकर छापा लगाना जिससे उनकी सदा स्मृति हो सके।
(आ) नमस्करण—अर्थात् भगवद्सम्बन्धी नाम अपने बालकों का नाम रखना।
(ब) भजन—अनेक प्रकार से विष्णु की सेवा तथा गीता आदि का पाठ करना।

यह भक्ति पथ मानव को ज्ञान सम्प्राप्ति के योग्य बना देता है। यही ज्ञान मुक्ति (मोक्ष) का साधक बनता है, परन्तु मोक्ष तब तक प्राप्त नही किया जा सकता है जब तक भगवान् की कृपा न हो। भगवान् विष्णु भक्त की सेवा के आधार पर ही उसको ज्ञान प्रदान करते हैं तथा उसी के अनुरूप ही उसे सालोक्य अथवा सारूप्य मुक्ति भी प्राप्त होती है। इन स्थितियो के प्राप्त हो जाने पर भी भक्त भगवान् की सेवा करता रहता है। 'तत्वमसि' वाक्य का अर्थ भी ईश्वर सदृश होना ही है, ईश्वर मे मिलना अथवा अभेद्य हो जाना नही।

जैन दर्शन की नीति

जैन धर्म और दर्शन का भारत में कब आरम्भ हुआ यह कहना बहुत कठिन है।

पर यह तो निश्चित ही है, जैन धर्म बौद्ध धर्म से सर्वथा भिन्न है और महावीर, जो जैनियों के २४ तीर्थंकरों में से अन्तिम तीर्थंकर माने जाते हैं बुद्ध के समय में थे और बुद्ध से अवस्था में कुछ बड़े ही थे। जैनियों का प्रथम तीर्थंकर ऋषभ देव का वैदिक काल में होना माना जाता है। क्योंकि वेद में ऋषभदेव का नाम आता है। ऋषभदेव का भागवत और अग्नि पुराणों में वर्णन मिलता है और उनको भगवान विष्णु का अवतार भी माना गया है। जैन धर्म बहुत पुराना ही नहीं है अत्यन्त उदार भी है। इसके तीन दार्शनिक सिद्धान्त अनेकान्तवाद नयवाद और स्याद्वाद ऐसे हैं जिनकी एक नवीन रूप में आज भी भारत को ही नहीं समस्त संसार को आवश्यकता है।

अनेकान्तवाद का अर्थ है एकता में अनेकता का सिद्धान्त। प्रत्येक वस्तु या तत्व के अनेक रूप होते हैं, जैसे जगत के मूल में जो तत्व है उसमें ध्रुवता उत्पाद और व्यय (अर्थात् स्थिति उत्पत्ति और नाश) तीनों बातें होती हैं। परिवर्तन और स्थिरता दोनों ही साथ साथ रहते हैं। जब तक किसी पदार्थ को सब दृष्टिकोणों से न जान लिया जावे तब तक उसका पूरा ज्ञान नहीं होता। सब प्रकार से किसी पदार्थ के सब भावों को देख लेने पर ही उसका पूरा ज्ञान हो सकता है। किसी एक दृष्टि या भाव से देखने पर अधूरा या एकांगी ज्ञान रहता है। प्रत्येक पदार्थ वस्तु या घटना में अनेक अंशों का ज्ञान लेने और उन सब का ज्ञान प्राप्त करने के सिद्धान्त को ही अनेकान्तवाद कहते हैं।

जितनी दृष्टियों से किसी पदार्थ वस्तु या घटना को देखा जा सकता है उस विचार को नयवाद कहते हैं। नय तो वास्तव में अनेक हो सकते हैं पर जैनियों ने सात नय माने हैं। वे ये हैं—(१) नैगमनय—वह दृष्टि है जिसमें सामान्य और विशेष गुणों का भेद न करते हुए वस्तुओं का साधारण ज्ञान के आधार पर वर्णन किया जाता है। जैसे हम यह कहते हैं कि आत्मा जन्म लेती है और मरती है। (२) संग्रहनय—सामान्य या जाति का दृष्टिकोण है। इसके अनुसार विशेष भेदों को भूलकर केवल सामान्य गुणों पर ही ध्यान रक्खा जाता है। जैसे सब पदार्थ सत्तामात्र हैं। सब मनुष्य मनुष्य होने के कारण एक से ही हैं। (३) व्यवहारनय—में व्यक्तिगत भेदों का ध्यान रखकर बात-चीत या वर्णन किया जाता है सामान्यतया का विचार नहीं किया जाता। (४) ऋजुसूत्रनय—उस दृष्टिकोण को कहते हैं जो इस समय के गुणों या कर्मों को देखकर वस्तु के स्वरूप का निर्णय करता है। जैसे किसी व्यक्ति को चोरी करते हुए देखकर उसको सदा के लिए चोर समझ लिया जाये। या जैसे सूर्य को प्रातःकाल बड़ा देखकर उसको सदा ही बड़ा समझ लिया जावे। (५) शब्दनय—तब होता है जब वस्तुओं के नामों के शब्दार्थ लगा कर उनके सम्बन्ध में विचार करते हैं। जैसे किसी स्त्री का मीनाक्षी नाम हो तो उसको बड़ी-बड़ी आँखों वाली ही समझ लेना। पंडित नाम वाले को पंडित ही सम-

झना। (६) समभिरूढनय—वस्तुओं के नामों का अर्थ उनकी धातुओं और प्रत्ययों से लगाने वाले इस नय का प्रयोग करते हैं। जैसे मनुष्य विचार करने वाला प्राणी है क्योंकि वह मन् (विचार करना) धातु से बना है। (७) एवंभूतनय—के अनुसार शब्दों का बहुत विशिष्ट अर्थ लगाया जाता है, जैसे किसी पशु को जो वास्तव में गौ है खड़े रहने की स्थिति में इसलिए गौ नहीं कहना कि गौ का अर्थ तो चलने वाली वस्तु है। गच्छति इति गौ। खड़े रहने वाली वस्तु गौ कैसे हो सकती है।

जब मनुष्य सोचते, लिखते, या बोलते हैं तो किसी न किसी दृष्टिकोण से ऐसा करते हैं। जब दृष्टिकोण भिन्न होते हैं तो लोगों के निर्णय भी भिन्न ही होते हैं। मतभेद, वाद-विवाद और झगड़े भी इसी कारण से होते हैं कि दोनों पक्ष एक ही नय का प्रयोग नहीं कर रहे।

बुद्धिमान् को चाहिये कि वह यह समझता रहे कि एक ही विषय के सम्बन्ध में अनेक परस्पर विरोधी बातें कही जा सकती हैं क्योंकि सब वस्तुयें अनेकान्त हैं और मनुष्यों के दृष्टिकोण भी भिन्न हो सकते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिये जैन दार्शनिकों ने स्याद्वाद को जन्म दिया।

स्याद्वाद के दो अर्थ हो सकते हैं एक तो यह कि प्रत्येक विचार करने या बोलने वाले को यह समझ लेना चाहिये कि जो बात वह कह रहा है या सोच रहा है वह सापेक्षक, किसी एक दृष्टिकोण से, या किसी एक अन्त (अंग) के सम्बन्ध में है। इसलिए वह सर्वथा और पूर्णतया सत्य नहीं है। इसलिए उसको अपने कथन के साथ स्यात् (हो सकता है, शायद) का प्रयोग करना चाहिए। दूसरा इसका यह भी अर्थ है कि प्रत्येक वाक्य को कहते समय इसलिए स्यात् का प्रयोग करना चाहिए कि इस सम्बन्ध में दूसरे निर्णय भी हैं और उनको व्यक्त करने वाले और भी वाक्य हो सकते हैं, और कहे जा सकते हैं।

इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने सात प्रकार के वाक्य बताये हैं जो कि एक ही समय में एक ही वस्तु के सम्बन्ध में प्रयोग किए जा सकते हैं। इसको सप्तभंगी न्याय कहा जाता है। वे सात भंग ये हैं। (१) 'स्यादस्ति' शायद हो, जैसे इस पानी को किसी के लिये गरम कह सकते हैं, इसलिये यह पानी शायद गरम हो। (२) स्यान्नास्ति—स्याद न हो। इस पानी को किसी के लिए गरम नहीं कहा जा सकता हो। (३) स्यादस्ति नास्ति—यह पानी गरम भी है और नहीं भी है, क्योंकि वही पानी किसी के लिए गरम है तो किसी के लिए गरम नहीं है। (४) स्यादवक्तव्यम्—शायद इसका कथन ही नहीं हो सकता। जैसे पानी वास्तव में गरम है या ठण्डा है यह नहीं कहा जा सकता। (५) स्यादस्ति अवक्तव्यम् शायद है भी और अवक्तव्य भी है—जैसे शायद यह पानी किसी के लिए गरम है, पर स्वयं गरम है या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। (६) स्यान्नास्ति अवक्तव्यम् शायद नहीं

भी है और अवक्तव्य भी है—जैसे यह पानी किसी के लिए गरम नहीं है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि स्वयं गरम है या नही। (७) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यम्—है भी नहीं भी है और अवक्तव्य भी है। जैसे यह पानी गरम भी है (किसी के लिये) नहीं भी है (किसी के लिये) और स्वयं गरम है या नही यह नहीं कहा जा सकता।

जो व्यक्ति अनेकान्तवाद्, नयवाद और सप्तभंगी न्याय को भली-भांति जान लेगा वह भला क्यों किसी के साथ विवाद करेगा? हाँ वह यह प्रयत्न अवश्य ही करेगा कि वादी को यह बतलाये कि वह विषय के किस अन्त के सम्बन्ध में किस नय से और किस अंश में बोल रहा है ताकि वह यह समझ सके कि उसका सिद्धान्त सापेक्ष और पक्षपाती है सर्वथी अनैकान्त और सर्वथा निश्चित नहीं है।

जैन दर्शन ने सभी दर्शनों की आलोचना इस प्रकार से ही की है। नैतिक क्षेत्र में भी इसका प्रयोग किया गया है और यही कारण है कि जैनियों ने सब को जीने देने के सिद्धान्त अहिंसा पर बहुत जोर दिया है।

जैन दर्शन की एक विशेषता जिसका प्रभाव उसकी नीति पर भी पड़ता है वह है कि यह सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानता। संसार अनादि और अनन्त है। इसमें अनन्त जीवात्मायें हैं और अनक लोक भी हैं। अपने अपने कर्मों के अनुसार जीव भ्रमण करता है। कर्म का अर्थ जैन दर्शन में कर्म पुद्गल अर्थात् कर्मों के छोटे छोटे भौतिक कण (परमाणु) हैं जो जीवात्मा के साथ अनादि काल से इस प्रकार मिले हुए हैं जैसे लोहे के साथ उसका मैल मिला रहता है। यह मैल सजीव है और यही जीव के बन्धन और नीचे लोको में भटकने और जन्म मरण के कारण हैं। जब कर्म पुद्गलों से जीव अलग हो जाता है तो वह मुक्त होता है और हलका होकर ऊर्ध्व लोकों में जाकर सर्वज्ञ होकर नित्य आनन्द में रहता है। कर्म के परमाणुओं का जीव न प्रवेश होने का नाम आस्रव है। यह ही बन्ध का कारण है। सम्यक ज्ञान सम्यक दर्शन और सम्यक चरित्र से जीव की ओर कर्म परमाणुओं की गति रुक जाती है। इस रोक थाम को 'संवर' कहते हैं। कर्म पुद्गलों का बाहर से आना रुक जाने पर जब उसके भीतर से कर्म परमाणुओं का निकलना आरम्भ होता है उस दशा को 'निर्जरा' कहते हैं। जब सब कर्म परमाणुओं से जीवात्मा का विच्छेद होकर जीव शुद्ध निर्मल और आत्मरूप हो जाता है, तो इस अवस्था को मोक्ष कहते हैं। इसी को कैवल्य ज्ञान भी कहते हैं।

जैन साधना का अंग है अपने भीतर से सभी भौतिक परमाणुओं को धीरे धीरे निकाल कर अपने को इस प्रकार शुद्ध कर लेना जैसे कि भट्ठी में तपाकर लोहे को या सोने को शुद्ध किया जाता है।

इस साधना के तीन अंग हैं—सम्यक दर्शन सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र।

इनको जैन लोग त्रिरत्न कहते हैं।

इनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

सम्यक् दर्शन

आत्म तत्व का वास्तविक ज्ञान होना ही सम्यक् दर्शन कहलाता है। इसके आठ अग हैं—

१ नि शक—अपने अनुष्ठेय मार्ग मे किसी प्रकार की शका न होना।
२ निष्कास—उसे लौकिक सुख की इच्छा नही होनी चाहिए।
३ ग्लानि का अभाव किसी को हीन परिस्थितियो में देख खेद न करना।
४ कुपथ की प्रशसा न करना चाहिए।
५ स्वगुणो को बढाने का प्रयत्न करना चाहिए।
६ प्रयत्न से अपने को अथवा दूसरे को सन्मार्ग से गिरने से बचाना चाहिए।
७ अपने सहयोगी तथा धर्म से प्रेम रखना चाहिए।
८ मद नही करना चाहिए।

सम्यक ज्ञान

इसी अष्टविध सम्यक् दर्शन को भली प्रकार जानना ही सम्यक् ज्ञान कहलाता है।

सम्यक चरित्र

जैन सम्प्रदायानुसार गृहस्थ और मुनि दोनो को पाँच व्रतो का अनुष्ठान करना आवश्यक है। गृहस्थ द्वारा अनुष्ठित व्रतो को लघुव्रत (अणुव्रत) तथा मुनियो द्वारा अनुष्ठित व्रत को महाव्रत कहते हैं। वे पाँच व्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, (अचौर्य) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं। योगशास्त्र में इनको यम कहा गया है।

अहिंसा—भगवान महावीर ने अठारह धर्म स्थानो मे सबसे पहला स्थान अहिंसा का बतलाया है। सब जीवो के साथ सयम से व्यवहार रखना अहिंसा है। ससार में जितने भी प्राणी है उन सब को जान और अनजान में न स्वय मारना चाहिए और न दूसरो से मरवाना चाहिए। (महावीर वाणी पृ० १३)

हिंसा दो प्रकार की होती है—

१ द्रव्यहिंसा—जब अनजान में किसी जीव की हत्या हो जाती है।
२ भाव हिंसा—जब कष्ट देने की इच्छा से कष्ट पहुँचाया जाता है। यह चार प्रकार की होती है—सकल्पी—उद्योगी—आरम्भी और विरोधी।
१ सकल्पी—जान बूझकर किसी जीव को मारना, यथा कसाई का।
२ उद्योगी—युद्धादि में होने वाली हिंसा।

३ आरम्भी—भोजन आदि बनाने में हिंसा हो जाती है।
४ विरोधी—अपनी अथवा दूसरों की रक्षा के लिए जो हिंसा की जाती है।

गृहस्थों (श्रावकों) के लिए इस अहिंसा के अनुष्ठान को देश काल और परिस्थिति से सीमित करके अणुव्रत की संज्ञा दी जाती है और मुनियों के लिए इसका अनुष्ठान पूर्ण रूपेण बताया जाता है जिसे महाव्रत कहते हैं।

सत्य

अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरों के लिए क्रोध से अथवा भय से किसी भी प्रसंग पर दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाला असत्यवचन न स्वयं बोलना चाहिये और न दूसरों से बुलवाना चाहिए। अपने स्वार्थ के लिए पूछने पर पाप युक्त निरर्थक मर्मभेदक वचन कभी नहीं बोलना चाहिए।

अचौर्य (अस्तेय)

पदार्थ सचेतन हो अथवा अचेतन जिसके अधिकार में हो उससे बिना आज्ञा लिए लेना नहीं चाहिए। (महावीर वाणी पृ २५)

ब्रह्मचर्य

गृहस्थ के लिए ब्रह्मचर्य अणुव्रत को पालना चाहिए अर्थात् अपनी स्त्री मात्र के साथ काम वासनाओं की तृप्ति की इच्छा रखना चाहिए अन्य के साथ नहीं। किन्तु मुनि के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य है।

अपरिग्रह

सच्चा अपरिग्रही वही है जिसके पास कुछ भी नहीं है और जिसके चित्त में किसी चीज की चाह भी नहीं है।

श्रावक (गृहस्थ) के तीन भेद हैं—पाक्षिक-नैष्ठिक और साधक श्रावक।

१—पाक्षिक—को पाँच अणुव्रतों के साथ मांस मधु और मदिरा त्याग रूप आठ मूलगुणों का सतत अनुष्ठान करना चाहिए।

२—नैष्ठिक श्रावक—के ११ भेद हैं और ये सभी एक सीढ़ी के समान हैं जिससे मानव अध्यात्म की ओर बढ़ सके।

(१) दार्शनिक—जो आठ मूल गुणों में कोई दोष नहीं लगाता अन्य गुणों की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है तथा भरण पोषण के लिए उचित जीविका का आश्रय करता है।

(२) व्रतिक—जो शारीरिक भाव से व्रतों का अनुष्ठान करता है तथा अपने व्रतों को बढ़ाने के लिए सात शीलों का अनुष्ठान करता है दिग्व्रत देशव्रत अनर्थ दण्ड, विरति, सामयिक, प्रोषधोपवास उपभोग परिभोग परिमाण और अतिथि संविभाग।

(३) सामयिकी—उक्त व्रत प्रतिमाओ का अनुष्ठान जो प्रतिदिन शरीर वचन और मन से प्रात मव्यान्ह तथा सन्ध्या तीनो ममय करता है उसे सामयिकी कहते हैं।
(४) प्रोपधोयवामा—जो अभ्यास के लिए उपवास आदि करता है।
(५) सचित विरत—पहले के चार व्रत प्रतिमाओ को करने वाले, दयालु, हरे शाक आदि न खाने वाले, श्रावक को सचित विरत श्रावक कहा जाता है।
(६) दिवा मैथुन—विरत—जो दिन में किसी भी प्रकार मैथुन नही करता।
(७) ब्रह्मचारी—जो शरीर वचन, तथा मन से स्त्री के सयोग और सम्पर्क से विरत रहता है।
(८) आरम्भविरत—जव जीविका के साधन नौकरी व्यापार आदि को परित्याग कर देता है।
(९) परिग्रह विरत—जव चल अचल मम्पत्ति से अपना स्वत्व हटा लेता है।
(१०) अनुमति विरत—जो अपने लडके को कार्य के लिए अनुमति देना तक छोड देता है।
(११) उदिष्ट विरत—अपने लिए वनाये गए भोजन तक का भी जो परित्याग कर देता है, उसे उदिष्ट विरत कहते हैं।

३ साधक श्रावक

मरण काल उपस्थित होने पर शरीर से ममत्व हटा कर, भोजन आदि का परित्याग करके प्रेम पूर्वक ध्यान के द्वारा जो आत्मा की शोधन करता है उसे साधक कहते हैं। धर्म रक्षार्थ शरीर को भी परित्याग करना समुचित है।

इस प्रकार जैन श्रावक अपने विधि नियमो के साथ जीवन निर्वाह करता हुआ अन्त में शान्ति और निर्भयता के साथ मृत्यु का आलिंगन करके अपने मानव जीवन को सफल वनाता है।

मुनि का चरित्र

मुनि या साधु २८ मूल गुणो का पालन करते हैं। पच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) पाँच समिति (भोजन, शयन, गमन, मलमूत्र परित्याग के नियम) पाँचो इन्द्रियो को स्ववश रखना। छ आवश्यक वातें—

स्नान न करना, दन्तधावत न करना, पृथ्वी पर सोना, खडा होकर भोजन करना, नग्न रहना, केश लोच करना आदि २८ मूल गुणो का पालन प्रत्येक जैन साधु करता है।

वौद्ध नीति

आज से लगभग २५०० वर्ष पहले ५६७, ई० पू० में कपिलवस्तु नामक एक छोटे से शाक्य राजा शुद्धोदन के घर में माया देवी नामक रानी की कोख से, सिद्धार्थ नामक

३ आरम्भी—भोजन आदि बनाने में हिंसा हो जाती है।
४ विरोधी—अपनी अथवा दूसरा की रक्षा के लिए जो हिंसा की जाती है।

गृहस्थो (श्रावकों) के लिए इस अहिंसा के अनुष्ठान को देश काल और परिस्थिति से सीमित करके अणुव्रत की संज्ञा दी जाती है और मुनियो के लिए इसका अनुष्ठान पूर्ण रूपेण बताया जाता है जिसे महाव्रत कहते है।

सत्य

अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरो के लिए क्रोध मे अथवा भय से किसी भी प्रसंग पर दूसरे को पीड़ा पहुँचाने वाला असत्यवचन न स्वयं बोलना चाहिये और न दूसरों से बुलवाना चाहिए। अपने स्वार्थ के लिए पूछने पर पाप पूर्ण निरर्थक मर्मभेदक वचन कभी नहीं बोलना चाहिए।

अचौर्य (अस्तेय)

पदार्थ सचेतन हो अथवा अचेतन जिसके अधिकार में हो, उससे बिना आज्ञा लिए लेना नहीं चाहिए। (महावीर वाणी पृ २५)

ब्रह्मचर्य

गृहस्थ के लिए ब्रह्मचर्य अणुव्रत को पालना चाहिए अर्थात् अपनी स्त्री मात्र के साथ काम वासनाओं की तृप्ति की इच्छा रखना चाहिए अन्य के साथ नहीं। किन्तु मुनि के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य है।

अपरिग्रह

सच्चा अपरिग्रही वही है जिसके पास कुछ भी नहीं है और जिसके चित्त में किसी चीज की चाह भी नहीं है।

श्रावक (गृहस्थ) के तीन भेद है—पाक्षिक-नैष्ठिक और साधक श्रावक।

१—पाक्षिक—को पांच अणुव्रतों के साथ मांस मधु और मदिरा त्याग रूप आठ मूलगुणों का सतत अनुष्ठान करना चाहिए।

२—नैष्ठिक श्रावक—के ११ भेद है और ये सभी एक सीढ़ी के समान है जिससे मानव अध्यात्म की ओर बढ़ सके।

(१) दार्शनिक—जो आठ मूल गुणों में कोई दोष नहीं लगाता अन्य गुणों की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है तथा भरण पोषण के लिए उचित जीविका का आश्रयण करता है।

(२) व्रतिक—जो मानसिक भाव से व्रतों का अनुष्ठान करता है तथा अपने व्रतों को बढ़ाने के लिए सात शीलों का अनुष्ठान करता है जिनमें देशव्रत, अनर्थ दण्ड विरति, सामयिक प्रोषधोपवास उपभोग परिभोग परिमाण और अतिथि संविभाग।

(३) सामयिकी—उक्त व्रत प्रतिमाओ का अनुष्ठान जो प्रतिदिन शरीर वचन और मन से प्रात मध्यान्ह तथा सन्ध्या तीनो समय करता है उसे सामयिकी कहते हैं।
(४) प्रोपधोयवासा—जो अभ्यास के लिए उपवास आदि करता है।
(५) सचित विरत—पहले के चार व्रत प्रतिमाओ कोकरने वाले, दयालु, हरे शाक आदि न खाने वाले, श्रावक को सचित विरत श्रावक कहा जाता है।
(६) दिवा मैथुन—विरत—जो दिन में किसी भी प्रकार मैथुन नही करता।
(७) ब्रह्मचारी—जो शरीर वचन, तथा मन से स्त्री के सयोग और सम्पर्क से विरत रहता है।
(८) आरम्भविरत—जव जीविका के साधन नौकरी व्यापार आदि को परित्याग कर देता है।
(९) परिग्रह विरत—जव चल अचल सम्पत्ति से अपना स्वत्व हटा लेता है।
(१०) अनुमति विरत—जो अपने लडके को कार्य के लिए अनुमति देना तक छोड देता है।
(११) उदिष्ट विरत—अपने लिए बनाये गए भोजन तक का भी जो परित्याग कर देता है, उसे उदिष्ट विरत कहते हैं।

३ साधक श्रावक

मरण काल उपस्थित होने पर शरीर से ममत्व हटा कर, भोजन आदि का परित्याग करके प्रेम पूर्वक ध्यान के द्वारा जो आत्मा की शोधन करता है उसे साधक कहते हैं। धर्म रक्षार्थ शरीर को भी परित्याग करना समुचित है।

इस प्रकार जैन श्रावक अपने विधि नियमो के साथ जीवन निर्वाह करता हुआ अन्त में शान्ति और निर्भयता के साथ मृत्यु का आलिगन करके अपने मानव जीवन को सफल बनाता है।

मुनि का चरित्र

मुनि या साधु २८ मूल गुणो का पालन करते हैं। पच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) पाँच समिति (भोजन, शयन, गमन, मलमूत्र परित्याग के नियम) पाँचो इन्द्रियों को स्ववश रखना। छ आवश्यक बातें—

स्नान न करना, दन्तधावत न करना, पृथ्वी पर सोना, खडा होकर भोजन करना, नग्न रहना, केश लोच करना आदि २८ मूल गुणो का पालन प्रत्येक जैन साधु करता है।

बौद्ध नीति

आज से लगभग २५०० वर्ष पहले ५६७, ई० पू० में कपिलवस्तु नामक एक छोटे से शाक्य राजा शुद्धोदन के घर में माया देवी नामक रानी की कोख से, सिद्धार्थ नामक

राजकुमार ने जन्म लिया। उसने उस बौद्धमत की स्थापना की जिसके अनुयायी आज भू-मण्डल के अनेक देशों में रहने वाले तिब्बत लंका ब्रह्मा स्याम चीन जापान और कोरिया आदि पौर्वात्य देशों के व्यक्ति हैं। यद्यपि भारत में आज बौद्धों की संख्या बहुत कम है किन्तु प्राचीन भारत में एक समय ऐसा था जब इनकी संख्या अपार थी।

युवराज सिद्धार्थ बड़े प्यार और सुख में पले थे। सब ओर आनन्द की सामग्रियाँ उपस्थित रहती थीं और उनको दुःखदायक किसी वस्तु या परिस्थिति का अनुभव नहीं कराया जाता था क्योंकि किसी ज्योतिषी ने यह कह दिया था कि यह बालक या तो चक्रवर्ती राजा होगा या घर बार छोड़ कर सन्यासी हो जायगा।

होनहार होकर ही रही। एक दिन सिद्धार्थ ने जब कि उनका विवाह हो चुका था तथा उनकी पत्नी के गर्भ से एक बच्चा भी उत्पन्न हो चुका था नगर देखने की इच्छा प्रकट की। अन्य सुन्दर और रम्य वस्तुओं के साथ-साथ उन्होंने एक बहुत बूढ़े आदमी को झुक कर चलते हुए, एक रोग से पीड़ित को दुःख से चिल्लाते हुए, एक मृत व्यक्ति की लाश को श्मशान के लिए ले जाते हुए और एक सन्यासी को जिसने दुनिया का परित्याग कर दिया था प्रसन्नचित्त विचरते हुए देखा। पूछने पर उन्हें यह ज्ञात हुआ कि संसार में सभी को बुढ़ापा होता है। सभी कभी न कभी रोगी होते हैं, सभी मरते हैं और सभी को अनेक प्रकार के क्लेश और चिन्तायें होती हैं। इसी का नाम जीवन है। जीवन और मरण सुख दुःख प्रसन्नता और शोक ये सब सभी प्राणियों के अनुभव के विषय हैं। और संसार में कोई भी सर्वथा सुखी नहीं दिखायी पड़ता सिवाय उस व्यक्ति के जिसने संसार को त्याग दिया है। इस यात्रा से लौटने पर सिद्धार्थ को जीवन और संसार के प्रति इतनी ग्लानि हो गयी कि उनका मन घर में नहीं लगा। वे बराबर यही सोचते रहे कि ऐसे जीवन से क्या लाभ जिसका अन्त मरण में है। ऐसे सुख को प्राप्त करने से क्या लाभ जिसका परिणाम दुःख में हो। ऐसी जवानी किस काम की जो थोड़े ही समय में बुढ़ापे में बदल जाये? ऐसा जीवन क्या जिसमें सदा रोगों की सम्भावना तथा भय बना रहे। ऐसा ऐश्वर्य क्या जो सदा न रहे? इस देखभाल और विचार ने सिद्धार्थ के हृदय में ऐसा वैराग्य उत्पन्न किया कि वह अपने भावी राज्य को, सम्पत्ति को, महलों को, पिता को, सुन्दर पत्नी को, नन्हें बालक को और सभी इष्ट मित्रों को आधी रात के समय जब कि सारा संसार अन्धकार निद्रामग्न था छोड़ कर चुपके से घर और नगर से बाहर चल दिये और कुछ दूर पर जाकर राजकीय वेशभूषा को सदा के लिए त्याग कर सन्यासी के वेश में इस खोज में फिरने लगे कि संसार के दुःखों से किस प्रकार छूटें।

इधर उधर जीवन के लक्ष्य मार्ग की तलाश में जिसके द्वारा मनुष्य जीवन मरण बुढ़ापे शोक और दुःख आदि अवांछनीय गतियों से छुटकारा पा सके। अनेक असफल

माधन, योग और तपस्या आदि के करने से उनका शरीर बहुत कृश हो गया था। इतस्तत विचरते हुए वे गया के पास उस स्थान पर, जहाँ आज उनकी स्मृति में एक विशाल मन्दिर बना हुआ है और उसके पास एक पीपल का वृक्ष है, पहुँच कर जीवन, मरण, सुख, दु ख शोक, और इनसे निवृत्ति पाने के उपायो पर सतत चिन्ता करने लगे। एक दिन पीपल के वृक्ष के नीचे बैठे हुए विचार करते-करते उनको इस समस्या का हल सूझा, और ऐसे जीवन का एक चित्र उनके सामने आया, जिसमे, दु खो मे सर्वथा मुक्ति मिल जाय और इस जीवन के पश्चात पुर्नजन्म न हो। इस ज्ञान के प्राप्त होने पर वे बुद्ध कहलाये।

बुद्ध होकर वे वहाँ से इस विचार से लौटे कि अपने उन साथियो को, जो कि इस प्रकार के जीवन के मार्ग की खोज मे थे और जो इसको न जानकर अन्य असफल साधनो मे पड कर कष्ट पा रहे थे तथा जीवन बर्बाद कर रहे थे, इस ज्ञान का उपदेश दे। काशी के पास उस स्थान पर जो आज सारनाथ के नाम से प्रसिद्ध है, उन्होने अपने पुराने पाँच साथी साधुओं को, जो भिक्षा माँग कर अपनी जीवन यात्रा करते थे, प्रथम उपदेश सुनाया। कुछ दिनो पीछे उनके बहुत से अनुयायी हो गए। अनेक शिष्य भिक्षु बनकर उनके साथ रहने लगे। बुद्ध ४५ वर्ष में अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन तथा प्रचार करते हुए ८० वर्ष की वृद्धावस्था में कुशीनगर में निधन को प्राप्त हुए। उनके सभी उपदेश उस समय की जन साधारण में बोली और समझी जाने वाली भाषा पालि या प्राकृत में जो सस्कृत, भाषा का ही एक रूप थी, होते थे। इसलिए उनके उपदेश जनसाधारण की भी समझ में आ जाते थे और वे सरल भी होते थे। उनका व्यक्तित्व इतना उत्कृष्ट, आदरणीय, सरल, उदार और सब प्राणियो के प्रति सौजन्ययुक्त था कि सभी श्रोताओ को उनके वचनो पर श्रद्धा होती थी और वे उनके बतलाये हुए मार्ग का अनुसरण करने को उपस्थित हो जाते थे। अपने दीर्घकालीन जीवन में ही उन्होने अनन्त सख्या में अपने अनुयायी बनाये।

उनके मरने के ५०० वर्ष पश्चात् उनके अनुयायियो ने राजगृह में एक सभा करके उनके सभी उपदेशो का सग्रह कराकर उनको लिपिबद्ध कराया और पाली भाषा में एक विपुल साहित्य की रचना की। इस साहित्य का नाम त्रिपिटक है। इसके तीन भाग है—

प्रथम सूत्र पिटक जिसके ये पाँच मुख्य अग (निकाय) है—
१—दीघ निय, २—मज्झिम निकाय, ३—सयुक्त निकाय, ४—अगुत्तर निकाय, ५—खुद्दक निकाय।

द्वितीय विनयपिटक, जिसके पाँच भाग है—
१—महावग्ग, २—चुल्लवग्ग, ३—पाराजिक, ४—पाचितीय और परिवार।

तृतीय—अभिधम्मपिटक—जिसमें ये सात ग्रन्थ है—

१—धम्मसंगनी २—विभंग ३—धातुकथा ४—पुग्गल पञ्ञत्ति ५—कथावत्थु ६—यमक ७—पट्ठान ।

जैसे जैसे बुद्ध के उपदेशों का अधिकाधिक प्रचार होता गया और उनके अनुयायियों में अनेक प्रकार के विचारों आचारों और जातियों के लोग आते गये वैसे ही वैसे लोगों ने उन्हें भिन्न प्रकार से समझा और आज बौद्ध धर्म के अनुयायियों में इतने नाना प्रकार के पन्थ विचार और विश्वास हैं कि उनमें समता ढूंढ निकालना तथा उनका उल्लेख करना कठिन है। बुद्ध के बहुत से अनुयायी तो उनके उपदेशों से बहुत दूर चले जाकर भी अपने को बौद्ध ही कहते हैं। कुछ भी हो बुद्ध के नाम का आदर करने वाले और अपने को बौद्ध कहने वालों की आज संसार में बहुत बड़ी संख्या है। भारतवर्ष में भी जहाँ बौद्धों की संख्या कम हो गयी थी आज बौद्धमत का पुनरुद्धार हो रहा है। महाबोधि सभा और दूसरी अनेक संस्थायें बौद्ध धर्म की पुस्तकों का वर्तमान भाषाओं में अनुवाद करा रही हैं। जहाँ-तहाँ सेठ युगल किशोर बिड़ला जैसे भारतीय धनी लोग बौद्ध मन्दिरों और विहारों का पुनरुद्धार करा रहे हैं और विश्वविद्यालयों के कुछ स्नातक भी बौद्ध भिक्षु बन गए हैं, बौद्ध धर्म बौद्ध संस्कृति और बौद्ध साहित्य का उद्धार करने में संलग्न हैं। यहाँ हम बुद्ध के उपदेशों के आधार पर उनकी जीवन नीति का उल्लेख करने का प्रयत्न करते हैं जो प्राय सभी बौद्धों को मान्य है। ये उपदेश बुद्ध के पाली भाषा में दिए हुए उपदेशों के आधार पर हैं।

सबसे पहले जो उपदेश बुद्ध ने बनारस के पास ऋषिपतनमृगदाव में (सारनाथ मे) दिया था उसमें उन्होंने कहा था कि जो सम्यग्ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया है उसके अनुसार चार आर्य सत्य हैं—

१—दुःख सत्य—अर्थात् जीवन और जगत् में दुःख ही दुःख है।
२—दुःख समुदय सत्य—अर्थात् सब दुःखों का कारण है।
३—दुःख निरोध सत्य—अर्थात् दुःखों का निरोध हो सकता है।
४—दुःख निरोधमार्ग सत्य—अर्थात् दुःखों के निरोध का एक निश्चित मार्ग है। (म १४१)

संसार और जीवन मे दुःखों का साम्राज्य (प्रथम आर्य सत्य)

जीवन और संसार मे कई प्रकार के दुःख होते हैं, जैसे शरीर की पीड़ा बुढ़ापा, मरना मानसिक क्लेश चिन्ता और परेशानी इच्छाओं की पूर्ति न होने से निराशा आदि। बुद्ध ने अपने समस्त उपदेशों में जो शिक्षा दी है उसका सार यही है कि सांसारिक जीवन दुःखमय है। संसार और जीवन में दुःख ही दुःख है। दुःख से छुटकारा पाना ही मनुष्य का कर्तव्य है। दुःख का कारण हमारी अपनी ही अविद्या और तृष्णा है। अविद्या और तृष्णा को दूर करने पर सब दुःखों की निवृत्ति का इस जीवन में ही अनुभव

किया जा सकता है। अविद्या और तृष्णा के समाप्त हो जाने पर मनुष्य कर्मानसार पुन पुन जन्म और मरण के चक्कर मे छूट जाता है। बुद्ध ने आत्मा, ईश्वर, सृष्टि और मरण पश्चात् मुक्त जीवों के स्वरूप के विपय में वहुत कम चर्चा की है और उस प्रकार की चर्चा को व्यर्थ ही समझा है। जीवन मरण के चक्कर मे छूटने के लिए इन वातो का ज्ञान अनावश्यक है। उनका उपदेश यही है कि मनुष्य को जीवन, मरण और दु ख से छूटने का प्रयत्न करना चाहिए और सब वातें वृथा हैं। दु ख का कारण जान लेना तया उस कारण का निराकरण करके दु ख से मुक्त हो जाना ही वुद्ध के अनुसार मनुष्य का परम कर्त्तव्य है।

मनुष्य के व्यक्तित्व मे जो पाँच स्कन्व हैं, वे सभी क्षण-क्षण मे वदलने वाले नाशवान् और अनात्म हैं। अत वे भी दु ख, शोक, चिन्ता और खिन्नता का अनुभव कराने वाले हैं। वे पाँच स्कन्ध ये हैं—

१– रूप २—वेदना, ३—सज्ञा ४—ससार ५– विज्ञान।

जो कुछ दिखायी देने वाला है वह सब रूप के अन्तर्गत है। चारो महाभूतो-पृथ्वी धातु, जलधातु, अग्निधातु और वायु धातु के कारण से जो यह रूप (दिखायी देने वाला) स्कन्ध (शरीर) वना है उसे रूप उपादान स्कन्ध कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर जो ठोस पदार्थ हैं वह पृथ्वी धातु हैं, जो तरल पदार्थ है वह जल धातु है, जो गर्मी है वह अग्नि धातु है, जो वायु वाहर भीतर आने जाने वाली है वह वायु धातु है, इन्द्रियो (आँखादि) और रूप (विषयों) के सयोग से विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। ये विज्ञान कई प्रकार के हैं। आँख और रूप के सयोग से जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसे चक्षु विज्ञान कहते हैं। उसी प्रकार ज्ञान और शब्द के सयोग से जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसे श्रोत विज्ञान कहते हैं। नाक और गन्व के सयोग से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को घ्राण विज्ञान कहते हैं। शरीर और स्पर्श विपयो के सयोग से जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसे काय विज्ञान कहते हैं मन और धर्मो (मन के विपयों) के सयोग से जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसे मनोविज्ञान कहते हैं। (दी० २२)

हमारे समस्त ज्ञान में रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान इन्ही विपयो की प्रतीति होती है और किसी की नही। (म० २८) हमारे ज्ञान के जितने विपय—रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान हैं वे सव अनित्य हैं, दुखमय हैं और अनात्म हैं। जो अनात्म हैं वह न मेरा है और न मैं हूँ, और न मेरी आत्मा है। (म० २१–२)

भूत, वर्तमान और भविष्य में (सव कालों में होने वाले) वाहर और भीतर के स्थूल और सूक्ष्म, दूर और समीप रहने वाले सभी विपय और उनके ज्ञान (रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान) के सम्वन्ध मे यह कहा जा सकता है कि वह न मेरे हैं, न वे मैं हूँ और न वे मेरी आत्मा है। (स० ११–५) नदी के फेन की भाँति सव रूप

रिक्त तुच्छ और सारहीन है। (स २१-६)

संसार में चारों ओर दुःख की अग्नि प्रज्वलित हो रही है इसमें प्रसन्न होने और आनन्द पाने का कोई अवसर ही नहीं (ध ११)। प्रत्येक मनुष्य को यह सोचना और जान लेना चाहिए कि वह बूढ़ा होगा।

यह संसार अनादि प्रवाह वाला है, अविद्या और तृष्णा से संचालित है। इसमें भटकने वाले प्राणियों का कब आरम्भ हुआ इसका पता नहीं चलता।

हे भिक्षुओं! आपने भूतकाल में न जाने कितने दुःख हानियों और मरणों का कष्ट अनुभव किया है अब तो वैराग्य और मुक्ति को प्राप्त करो (सु १४-२)

दुःख कैसे उदय होता है (द्वितीय आर्य सत्य)

तृष्णा से दुःख उत्पन्न होता है, यह दूसरा आर्य सत्य है। तृष्णा का क्या कारण है? किसी वस्तु को प्रियकर समझना तृष्णा का कारण है जितने भी इन्द्रियों और मन के विषय हैं, उन्हें प्रिय और सुखदायी समझने से तृष्णा पैदा होती है और उन्हीं में अपना घर बनाती है। विषयों के रूप वेदना नाम संज्ञा संस्कार और विज्ञान सभी ऐसे हैं कि यदि वे प्रिय लगें तो उनके प्रति तृष्णा और अप्रिय लगें तो उनके प्रति घृणा हो जाती है। (दी २२) और यह तृष्णा ही सब जरामरण दुःख और शोकादि का कारण है। (म १८) तृष्णा या विषयों की कामना के कारण ही मनुष्य मन वाणी और शरीर से अनेक दुष्कर्म करता है और मरण के पश्चात् दुर्गति को प्राप्त होता है। (म १३) अपने कर्मों के भले-बुरे फलों से बचने के लिए तथा बचकर निकल भागने के लिए संसार में कोई भी स्थान नहीं है। (ध ९) ऐसा समय आ सकता है कि यह महापृथ्वी जल जाये तथा महासमुद्र सूख जाये पर ऐसा कभी समय नहीं है कि अविद्या और तृष्णा द्वारा प्रेरित भटकते हुए प्राणियों के दुःखों का अन्त हो जाये (स २१-१)

दुःख निरोध की सम्भावना (तृतीय आर्य सत्य)

बुद्ध का तीसरा आर्य सत्य यह है कि तृष्णा से विरक्त होने पर उसका निरोध त्याग या सर्वथा त्याग कर देने से उससे मुक्ति और अनासक्ति हो जाने से दुःख का निरोध हो सकता है। (दी २२) जो मनुष्य संसार और जीवन की प्रिय वस्तुओं और विषयों को रोग और दुःख का कारण समझ लेंगे वे ही तृष्णा को छोड़ सकेंगे। (स १२-७) तृष्णा के निरोध हो जाने पर उत्पत्ति जरा दुःख और मरण आदि की शृंखला दूर हो जाती है। (इ ६) रूप वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान के निरोध उपशम और अस्त हो जाने पर सभी दुःखों रोगों और जरा मरण का निरोध उपशम और अस्त हो जाता है। इन सब का शमन सब चित्तमलों का त्याग (स २१-३) सब तृष्णाओं का क्षय विराग और निरोध ही निर्वाण है शान्ति है और इसी में जीवन की श्रेष्ठता

है (अ० ३–३२)

जिसका मन राग द्वेष और मोह से मुक्त है उसको दुःख और चिन्ता नही होती। ऐसा आदमी जीते जी निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था का अनुभव प्रत्येक बुद्धिमान् कर सकता है।

जब मनुष्य का चित्त शान्त हो जाता है, वह सब बन्धनो से मुक्त हो जाता है, उसे और कुछ करना बाकी नही रहता और न वह अपने किसी किये पर पाश्चात्ताप ही करता है। उस स्थितप्रज्ञ को ससार के विषय नही हिला सकते, चाहे वे अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल। निर्वाण अवस्था में सब दुःखो का अन्त हो जाता है। उसमें जात, भूत, कृत आदि सभी अवस्थाओ का अभाव होता है। (३–८) वह ऐसा आयतन है, जो आधार रहित है, ससार रहित है, आलम्बन रहित है। उसमे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकार, विज्ञान, कुछ और नही, नाम और अनाम, सूर्य, चन्द्र लोक, परलोक, आने, जाने, ठहरने और गिरने आदि का अनुभव नही होता।

दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग (चतुर्थ आर्य सत्य)

बुद्ध ने अपने शिष्यो को यह उपदेश दिया कि सासारिक भोग विलासो के जीवन और शरीर को कष्ट देकर तपस्या का जीवन, दोनो ही उचित नही हैं। कामोपभोग का जीवन ग्राम्य, अशिष्ट, अनार्य और अनर्थकर है और शरीर को व्यर्थ कष्ट देकर तपस्या का जीवन भी दुःखमय, अनार्य और अनर्थकर है। इन दोनो को त्याग कर मध्य मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। निर्मल ज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति का एक ही मार्ग है और वह अष्टागिक है।

उसके ये आठ अग हैं—

१—सम्यक् दृष्टि, २—सम्यक् सकल्प, ३—सम्यक् वाणी, ४—सम्यक् कर्मान्त, ५—सम्यक् आजीविका, ६—सम्यक् व्यायाम, ७—सम्यक् स्मृति, ८—सम्यक् समाधि।

इनमें से प्रथम दो को **प्रज्ञा** कहते हैं। अगले तीन को **शील** और अन्तिम तीन को **समाधि** कहते हैं। इस मार्ग पर मनुष्य को अपने आप और अपने पुरुषार्थ से ही चलना पडता है, दूसरे का कोई सहारा नही हो सकता। (ध० १६)

सम्यक् दृष्टि

सम्यक् या सीधी दृष्टि का अर्थ है दुराचरण को पहचान लेना, दुराचरण के मूल कारण को पहचान लेना, सदाचरण को तथा सदाचरण के मूल कारण को पहचान लेना। **दुराचरण** यह है—१—शरीर से होने वाले—जीव हिंसा, चोरी, कामभोग सम्बन्धी दुराचार। २—वाणी से होने वाले —झूठ बोलना, चुगली करना, कठोर वचन बोलना, व्यर्थ बोलना। **मन से होने वाले**—लोभ, क्रोध, मिथ्या दृष्टि।

सभी दुराचारों के मूल कारण लोभ द्वेष और मोह (अर्थात्) मानसिक दुरा-चरण हैं (म १) इन दुराचरणों के विरुद्ध आचरण सदाचरण है, वह दस प्रकार का है—१—अहिंसा २—चोरी न करना (अस्तेय) ३—कामभोग सम्बन्धी मिथ्याचार न करना (ब्रह्मचर्य) ४—झूठ न बोलना (सत्य) ५—चुगली न करना (अनसूया) ६—कठोर वचन न बोलना ७—व्यर्थ न बोलना ८—अलोभ —अद्वेष १०—सम्यक् दृष्टि।

लोभ द्वेष और मोह का न होना सदाचरण का मूल कारण है। सम्यक् दृष्टि वाला वह है जो दुःख दुःख की उत्पत्ति दुःख के निरोध और दुःख के निरोध की ओर ले जाने वाले मार्ग को समझता है (म ९)

सम्यक् दृष्टि के लिए दार्शनिक समस्याओं की उलझन में पड़ने की आवश्यकता नहीं। बुद्ध ने उनको हल करने का उपदेश नहीं दिया—

"भिक्षुओ यदि कोई कहे कि मैं तब तक भगवान् (बुद्ध) के उपदेशों के अनुसार नहीं चलूँगा जब तक कि भगवान् मुझे यह न बता दें कि संसार शाश्वत है या अशाश्वत, संसार सान्त है या अनन्त। जीव वही है जो शरीर है या दूसरा है। मृत्यु के बाद तथागत रहते हैं या मृत्यु के बाद तथागत नहीं रहते तो भिक्षुओं ये बातें तो तथागत के द्वारा बिना कही ही रहेंगी और वह मनुष्य यों ही मर जायगा। (म २१–५)

बुद्ध के अनुसार सर्व दुःख निवृत्ति की अवस्था प्राप्त करने के लिए इस प्रकार की दार्शनिक उलझनों में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं है। "भिक्षुओं जैसे किसी आदमी को विष में बुझा हुआ तीर लगा हो उसके मित्र रिश्तेदार उसे तीर निकालने वाले वैद्य के पास ले जायें लेकिन वह कहे कि मैं तब तक तीर नहीं निकलवाऊँगा जब तक यह न जान लूँ कि किस आदमी ने मुझे यह तीर मारा है वह क्षत्रिय है ब्राह्मण है, वैश्य है, या शूद्र है अथवा वह कहे कि मैं तब तक यह तीर नहीं निकलवाऊँगा जब तक यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने मुझे यह तीर मारा है उसका अमुक नाम है, अमुक गोत्र है अथवा वह कहे मैं तब तक यह तीर नहीं निकलवाऊँगा जब तक कि यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने मुझे यह तीर मारा है वह लम्बा है छोटा या मँझले कद का है तो है भिक्षुओं उस आदमी को इन बातों का पता लगेगा ही नहीं और वह यों ही मर जायेगा। दार्शनिक समस्याओं पर मतभेद होने पर भी जीवन और संसार के सम्बन्ध में और उनके आधारभूत अन्तिम तत्त्वों के स्वरूप और सम्बन्ध पर मतभेद होते हुए भी इस पर क्या मतभेद हो सकता है कि संसार में जन्म जरा मृत्यु शोक, रोना पीटना दुखित होना चिन्तित होना घबड़ाना आदि वास्तविक अनुभव हैं, बुद्ध इन दुःखदायी अनुभवों से छुटकारा पाने का मार्ग ही बतलाते हैं।

"भिक्षुओं, संसार शाश्वत है, ऐसा मत रहने पर भी संसार अशाश्वत है ऐसा

मत रहने पर भी, ससार शान्त है, ऐसा मत रहने पर भी, जीव वही है जो शरीर है, ऐसा मत रहने पर भी, जीव दूसरा, शरीर दूसरा है, ऐसा मत रहने पर भी, मृत्यु के बाद तथागत रहते हैं, ऐसा मत रहने पर भी, जन्म, बुढापा, मृत्यु, शोक, रोना-पीटना, पीडित होना, चिन्तित होना, परेशान होना तो (हर हालत में) है ही और मैं इसी जन्म में जीते जी इन्ही सब के नाश का उपदेश देता हूँ। (म० ६३)

बुद्ध के अनुसार सभी दार्शनिक दृष्टियाँ दोषपूर्ण हैं उनमें मनुष्य को अपना समय नही लगाना चाहिए और उनमे से कोई अपनानी चाहिये। मनुष्य जीवन मे दुःख से निकल भागने का प्रयत्न ही परम पुरुषार्थ है। अन्तिम तत्वो, आत्मा, ईश्वर और परलोक आदि के विषय में कोई भी धारणा दोषहीन नही है। अतएव उनमें से किसी को अपनाना मूर्खता है। आत्मा के सम्बन्ध में ये छओ दृष्टियाँ (मत) अपनाने योग्य नही हैं—
१—मेरी आत्मा है, २—मेरी आत्मा नही है, ३—मैं आत्मा से आत्मा को पहचानता हूँ, ४—मैं अनात्मा से आत्मा को पहचानता हूँ, ५—जो आत्मा कहलाती हैं वह सब ही अच्छे बुरे कर्मो के फल को भोगने वाली है और ६—यह आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है, जैसा है वैसा ही सदैव रहेगी। इन मतो के झमेले में पडा हुआ व्यक्ति जो दुःख निरोध का उपाय नहीं करता वह कभी दुःख से मुक्त नही होता। (म० १) सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा और शीलव्रत परामर्श ये तीनो ही बहुत बडे बन्धन हैं। मनुष्यो को चाहिये कि सत्पुरुषो की सगत कर आर्य धर्म (दुःख निवृत्ति के मार्ग) को जाने और आर्य धम का अभ्यास करे, ऐसा करने से ही बन्धन कटते हैं, अन्यथा नही (म० २२)

बुद्ध की अपनी दृष्टि (मत) तो केवल यही है कि पाँचों स्कन्धों रूप, वेदना, नाम, सस्कार, और विज्ञान का समुदाय और अस्त (उत्पत्ति और विनाश) होता है। इसलिए वे सब दृष्टियो, मतो और मान्यताओ को अपनाने के अहकार और अभिमान से छूट गए। (म० ७२) उनके मत में सभी रूप, वेदना, नाम, सस्कार और विज्ञान अनित्य है, सभी दुःख रूप हैं, सभी अनात्म हैं। (अ० ३।१३४) ससार और जीवन में जितने विषय (धर्म) हैं वे सब आनात्म हैं। किसी को आत्मा समझ लेना उचित नही है। (अ० १-१५) जो कुछ भी अनित्य है, सकल्प है, प्रत्यय से उत्पन्न हुआ है, क्षय होने वाला है, व्यय होने वाला है। विराग को प्राप्त होने वाला है, निरोध को प्राप्त होने वाला है। भला उसको हम कैसे कहें कि वह मेरी आत्मा है। ऐसा कहने वाला अपने आप ही अपनी उत्पत्ति क्षय और विनाश का अनुभव करेगा भला यह कैसे सम्भव हो सकता है। (दी० १५) अतएव शरीर, वेदना, नाम, सस्कार, विज्ञान जो कि उत्पत्ति क्षय और विनाशवान् हैं सब मेरी आत्मा नही हो सकते। वेदना तीन प्रकार की है। सुख वेदना, दुःख वेदना, असुख अदुख वेदना ये तीनो उत्पत्ति, क्षय और विनाश होने वाली है। अतएव आत्मा

सभी दुराचारों के मूल कारण लोभ द्वेष और मोह (अर्थात्) मानसिक दुश्चरण हैं (म० १) इन दुराचरणों के विरुद्ध आचरण सदाचरण है यह इस प्रकार का है—
१—अहिंसा २—चोरी न करना (अस्तेय) ३—कामभोग सम्बन्धी मिथ्याचार न करना (ब्रह्मचर्य) ४—झूठ न बोलना (सत्य) ५—चुगली न करना (अनसूया) ६—कठोर वचन न बोलना, ७—व्यर्थ न बोलना ८—अलोभ ९—अद्वेष १०—सम्यक दृष्टि।

लोभ द्वेष और मोह का न होना सदाचरण का मूल कारण है। सम्यक दृष्टि वाला वह है जो दुःख दुःख की उत्पत्ति दुःख के निरोध और दुःख के निरोध की ओर ले जाने वाले मार्ग को समझता है (म ९)

सम्यक दृष्टि के लिए दार्शनिक समस्याओं की उलझन में पड़ने की आवश्यकता नहीं। बुद्ध ने उनको इस क्रम का उपदेश नहीं दिया—

"भिक्षुओ यदि कोई कहे कि मैं तब तक भगवान् (बुद्ध) के उपदेशों के अनुसार नहीं चलूँगा जब तक कि भगवान् मुझे यह न बता दें कि संसार शाश्वत है या अशाश्वत, संसार सान्त है या अनन्त। जीव वही है जो शरीर है या दूसरा है। मृत्यु के बाद तथागत रहते हैं या मृत्यु के बाद तथागत नहीं रहते तो भिक्षुओं, ये बातें तो तथागत के द्वारा बिना कही ही रहेंगी और वह मनुष्य यों ही मर जायेगा। (म २१—५)

बुद्ध के अनुसार सर्व दुःख निवृत्ति की अवस्था प्राप्त करने के लिए इस प्रकार की दार्शनिक उलझनों में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं है। "भिक्षुओं जैसे किसी आदमी को विष में बुझा हुआ तीर लगा हो उसके मित्र रिश्तेदार उसे तीर निकालने वाले वैद्य के पास ले जायें लेकिन वह कहे कि मैं तब तक तीर नहीं निकलवाऊँगा जब तक यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने मुझे यह तीर मारा है वह क्षत्रिय है ब्राह्मण है, वैश्य है या शूद्र है अथवा वह कहे कि मैं तब तक यह तीर नहीं निकलवाऊँगा जब तक यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने मुझे यह तीर मारा है उसका अमुक नाम है अमुक गोत्र है अथवा वह कहे मैं तब तक यह तीर नहीं निकलवाऊँगा जब तक कि यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने मुझे यह तीर मारा है वह लम्बा है छोटा या मँझले कद का है तो हे भिक्षुओं उस आदमी को इन बातों का पता लगेगा ही नहीं और वह यों ही मर जायेगा। दार्शनिक समस्याओं पर मतभेद होने पर भी जीवन और संसार के सम्बन्ध में और उनके आधारभूत अन्तिम तत्त्वों के स्वरूप और सम्बन्ध पर मतभेद होते हुए भी, इस पर क्या मतभेद हो सकता है कि संसार में जन्म जरा मृत्यु शोक, रोना पीटना, दुःखित होना-चिन्तित होना, घबराना आदि वास्तविक अनुभव हैं बुद्ध इन दुःखदायी अनुभवों से छुटकारा पाने का मार्ग ही बतलाते हैं।

"भिक्षुओं संसार शाश्वत है ऐसा मत रहने पर भी संसार अशाश्वत है ऐसा

मत रहने पर भी, ससार शान्त है, ऐसा मत रहने पर भी, जीव वही है जो शरीर है, ऐसा मत रहने पर भी, जीव दूसरा, शरीर दूसरा है, ऐसा मत रहने पर भी, मृत्यु के बाद तथागत रहते हैं, ऐसा मत रहने पर भी, जन्म, बुढापा, मृत्यु, शोक, रोना-पीटना, पीड़ित होना, चिन्तित होना, परेशान होना तो (हर हालत में) है ही और मैं इसी जन्म में जीते जी इन्ही सब के नाश का उपदेश देता हूँ। (म० ६३)

बुद्ध के अनुसार सभी दार्शनिक दृष्टियाँ दोषपूर्ण हैं उनमें मनुष्य को अपना समय नही लगाना चाहिए और उनमें से कोई अपनानी चाहिये। मनुष्य जीवन में दुःख से निकल भागने का प्रयत्न ही परम पुरुषार्थ है। अन्तिम तत्वो, आत्मा, ईश्वर और परलोक आदि के विषय में कोई भी धारणा दोषहीन नहीं है। अतएव उनमें से किसी को अपनाना मूर्खता है। आत्मा के सम्बन्ध में ये छओ दृष्टियाँ (मत) अपनाने योग्य नहीं हैं—१—मेरी आत्मा है, २—मेरी आत्मा नही है, ३—मैं आत्मा से आत्मा को पहचानता हूँ, ४—मैं अनात्मा से आत्मा को पहचानता हूँ, ५—जो आत्मा कहलाती हैं वह सब ही अच्छे बुरे कर्मो के फल को भोगने वाली है और ६—यह आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अपरिवर्तनशील हैं, जैसा है वैसा ही सदैव रहेगी। इन मतो के झमेले में पडा हुआ व्यक्ति जो दुःख निरोध का उपाय नही करता वह कभी दुःख से मुक्त नही होता। (म० १) सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा और शीलव्रत परामर्श ये तीनो ही बहुत बडे बन्धन हैं। मनुष्यो को चाहिये कि सत्पुरुषो की सगत कर आर्य धर्म (दुःख निवृत्ति के मार्ग) को जाने और आर्य धर्म का अभ्यास करे, ऐसा करने से ही बन्धन कटते हैं, अन्यथा नही (म० २२)

बुद्ध की अपनी दृष्टि (मत) तो केवल यही है कि पाँचों स्कन्धों रूप, वेदना, नाम, सस्कार, और विज्ञान का समुदाय और अस्त (उत्पत्ति और विनाश) होता है। इसलिए वे सब दृष्टियो, मतो और मान्यताओ को अपनाने के अहकार और अभिमान से छूट गए। (म० ७२) उनके मत में सभी रूप, वेदना, नाम, सस्कार और विज्ञान अनित्य है, सभी दुःख रूप हैं, सभी अनात्म हैं। (अ० ३।१३४) ससार और जीवन में जितने विषय (धर्म) हैं वे सब आनात्म हैं। किसी को आत्मा समझ लेना उचित नही है। (अ० १-१५) जो कुछ भी अनित्य है, सकल्प है, प्रत्यय से उत्पन्न हुआ है, क्षय होने वाला है, व्यय होने वाला है। विराग को प्राप्त होने वाला है, निरोध को प्राप्त होने वाला है। भला उसको हम कैसे कहें कि वह मेरी आत्मा है। ऐसा कहने वाला अपने आप ही अपनी उत्पत्ति क्षय और विनाश का अनुभव करेगा भला यह कैसे सम्भव हो सकता है। (दी० १५) अतएव शरीर, वेदना, नाम, सस्कार, विज्ञान जो कि उत्पत्ति क्षय और विनाशवान् हैं सब मेरी आत्मा नही हो सकते। वेदना तीन प्रकार की है। सुख वेदना, दुःख वेदना, असुख अदुख वेदना ये तीनो उत्पत्ति, क्षय और विनाश होने वाली है। अतएव आत्मा

नही हो सकती। (वी १५) मन की भी उत्पत्ति और निरोध होते है, अतएव वह भी आत्मा नही हो सकती। (म १४८) धर्म (मन के विषय) भी उत्पत्ति और नाश वाले है अतएव वे आत्मा नही हो सकते। मनोविज्ञान भी उत्पत्ति और निरोध युक्त होने से अनात्मा नही है। (म १४८) जितने भी भूत वर्तमान भविष्य के अन्दर, बाहर के स्थूल सूक्ष्म भले और बुरे दूर और समीप के रूप वेदना नाम संस्कार और विज्ञान है, वे सभी अनात्म है न वे मेरी आत्मा है और न वे मैं हूँ और न वे मेरे है, क्योकि मैं उनकी उत्पत्ति क्षय और विनाश का अनुभव करता हूँ। (म २१७)

भूतकाल के पदार्थ अब नही है भविष्यत् के अब नही है केवल वर्तमान काल के अनुभूत विषयो को कहा जा सकता है कि वे है जो है वे भी कारणवश है स्वत नही है। संसार में जो कुछ भी हो रहा है वह कार्य-कारण की शृंखला में बँधा हुआ है। (एक के होने से दूसरा होता है) कारण के न होने से कार्य भी नही होता है। इस सम्बन्ध में बुद्ध ने अपने प्रतीत्य समुत्पाद नामक सिद्धान्त का उपदेश दिया था वह इस प्रकार है—

अविद्या के होने से संस्कार, संस्कार के होने से विज्ञान विज्ञान के होने से नाम रूप नाम रूप होने से छ आयतन (षडायतन) छ आयतनो के होने से स्पर्श स्पर्श के होने से वेदना वेदना के होने से तृष्णा तृष्णा के होने से उपादान उपादान के होने से भव भव के होने से जन्म जन्म के होने से बुढ़ापा मरना शोक रोना-पीटना दुख मानसिक चिन्ता तथा परेशानी होती है। हे भिक्षुओं ! इसी को प्रतीत्य समुत्पाद कहते है।

अविद्या के सम्पूर्ण विराग से निरोध से संस्कारों का निरोध होता है। संस्कारों के निरोध से विज्ञान निरोध विज्ञान के निरोध से नामरूप का निरोध नामरूप के निरोध से छ आयतनो का निरोध छ आयतनों के निरोध से स्पर्श का निरोध स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध उपादान के निरोध से भव का निरोध भव के निरोध से जन्म का निरोध जन्म के निरोध से बुढ़ापे शोक, रोने-पीटने दुख मानसिक चिन्ता तथा परेशानी का निरोध होता है। इस प्रकार इस सारे के सारे दुख स्कन्धों का निरोध होता है। (म १) लोभ द्वेष मूढ़ता किए हुए कामो का फल हमें भुगतना पड़ता है और उन भुगतान के योग्य स्थानो मे हम जन्म लेना पड़ता है। (अ ३।११) जिन प्राणियो पर अविद्या का पर्दा पड़ा हुआ है जो तृष्णा के बन्धन में बँधे हुए है वे यहाँ-वहाँ आसक्त हो जाते है और इस कारण उनको बार-बार जन्म लेना पड़ता है। (म ४३) अविद्या के नाश और विद्या के उत्पन्न होने से तृष्णा के निरोध होने पर पुनर्जन्म नही होता। (म ४३) लोभ, द्वेष और मूढ़ता के नाश हो जाने पर उनसे उत्पन्न हुए, कर्मों का भी नाश हो जाता है।

(अ० ३-४३) बुद्ध का उपदेश यही है कि राग, द्वेष, मोह और पाप-कर्म सब का नाश हो। (अ० ७)

सम्यक् संकल्प

धर्मों में राग न होना (निष्काम), विकार रहित होना और हिंसा का न करना शुद्ध संकल्प है।

सम्यक् वाणी

झूठ बोलना छोड़कर सत्य बोलना, झूठी गवाही न देना, चुगली न करना, कठोर वाणी न बोलना, सम्यक् वाणी है। (अ० १०) किसी से वैर नहीं करना चाहिए, क्योंकि वैर से वैर शान्त नहीं होता है, (ध० १) आपस में मिलने पर या तो धार्मिक बातें करें या मौन रहे, (म० २६) बिना मतलब की बातें नहीं करनी चाहिए। (अ० ३-१)

सम्यक् कर्मान्त

जीव-हिंसा को छोड़ देना, किसी दूसरे की वस्तु को न चुराना, काम भोग, मिथ्याचार आदि को छोड़ देना, पर स्त्री गमन न करना आदि सम्यक् कर्म हैं। (अ० १०)

सम्यक् आजीविका

शुभ कार्यों द्वारा पैसा कमाना चाहिए। (दी० २२) शस्त्रों, जानवरों, माँस, मदिरा और विष का व्यापार करना अच्छी जीविका नहीं है। (अ० ५)

सम्यक् व्यायाम (प्रयत्न)

सम्यक् व्यायाम (प्रयत्न) का अर्थ होता है, ये चार प्रकार के अभ्यास हैं—

१—संयम प्रयत्न, (अर्थात् मन को वश में रखने का प्रयत्न जिसमें मन में पाप, भय और अकुशल विचार पैदा न हो) अपने मन को किसी बुरे विषय में न लगाना और सदा अच्छे विचारों में लगाना। (अ० ४)

२—ग्रहण प्रयत्न, काम, क्रोध, तृष्णा, हिंसा, द्वेष आदि के विचारों को मन से निकालना, बुरे विचारों को पूरे बल से दबाना। (म० २०)

३—भावना प्रयत्न, अच्छे और कुशल विचारों का अभ्यास।

४—अनुरक्षण प्रयत्न, अच्छी बातें जो चरित्र में आ गयी हैं, उनकी रक्षा करने का प्रयत्न, उनके कारणों की रक्षा का प्रयत्न। (अ० ४)

सम्यक् स्मृति

संसार में जागरूक, ज्ञानयुक्त, आँख खोलकर, होश में रहकर, लोभ और दौर्मनस्य से रहित होकर विचरण करना और सभी स्कन्धों में उत्पत्ति विनाश और क्षय का ज्ञान रखते हुए व्यवहार करना सम्यक् स्मृति कहलाता है। (द० २२) सम्यक् स्मृति का एक अंग कायानुस्मृति का अभ्यास है। कायानुस्मृति शरीर के सम्बन्ध में विचार

नहीं हो सकती। (दी १५) मन की भी उत्पत्ति और निरोध होते हैं, अतएव वह भी आत्मा नहीं हो सकती। (म १४८) धर्म (मन के विषय) भी उत्पत्ति और नाश वाले हैं अतएव वे आत्मा नहीं हो सकते। मनोविज्ञान भी उत्पत्ति और निरोध युक्त होने से अनात्मा नहीं है। (म १४८) जितने भी भूत वर्तमान भविष्य के अन्दर बाहर व स्थूल सूक्ष्म भले और बुरे दूर और समीप के रूप वेदना नाम संस्कार और विज्ञान हैं, वे सभी अनात्म हैं न वे मेरी आत्मा हैं और न वे मैं हूँ और न वे मेरे हैं, क्योंकि मैं उनकी उत्पत्ति क्षय और विनाश का अनुभव करता हूँ। (स २१७)

भूतकाल के पदार्थ अब नहीं हैं, भविष्यत् के अब नहीं हैं केवल वर्तमान काल के अनुभूत विषयों को कहा जा सकता है कि वे हैं जो हैं वे भी कारणवश हैं स्वतः नहीं हैं। संसार में जो कुछ भी हो रहा है वह कार्य-कारण की श्रृंखला में बँधा हुआ है। (एक के होने से दूसरा होता है) कारण के न होने से कार्य भी नहीं होता है। इस सम्बन्ध में बुद्ध ने अपने प्रतीत्य समुत्पाद नामक सिद्धान्त का उपदेश दिया था वह इस प्रकार है—

अविद्या के होने से संस्कार, संस्कार के होने से विज्ञान विज्ञान के होने से नाम रूप नाम रूप होने से छ आयतन (षडायतन) छ आयतनों के होने से स्पर्श स्पर्श के होने से वेदना वेदना के होने से तृष्णा तृष्णा के होने से उपादान उपादान के होने से भव भव के होने से जन्म जन्म के होने से बुढ़ापा मरना शोक रोना-पीटना दुःख मानसिक चिन्ता तथा परेशानी होती है । हे भिक्षुओं ! इसी को प्रतीत्य समुत्पाद कहते हैं।

अविद्या के सम्पूर्ण विराग से निरोध से संस्कारों का निरोध होता है। संस्कारों के निरोध से विज्ञान निरोध विज्ञान के निरोध से नामरूप का निरोध नामरूप के निरोध से छ आयतनों का निरोध छ आयतनों के निरोध से स्पर्श का निरोध स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध उपादान के निरोध से भव का निरोध भव के निरोध से जन्म का निरोध जन्म के निरोध से बुढ़ापे शोक रोना-पीटना दुःख मानसिक चिन्ता तथा परेशानी का निरोध होता है। इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख स्कन्धों का निरोध होता है। (म १) लोभ द्वेष मूढ़ता किए हुए कामों का फल हम भुगतना पड़ता है और उस भुगतने के योग्य स्थानों में हम जन्म लेना पड़ता है। (अ ३।११) जिन प्राणियों पर अविद्या का पर्दा पड़ा हुआ है जो तृष्णा के बन्धन में बँधे हुए हैं वे यहाँ-वहाँ आसक्त हो जाते हैं और इस कारण उनको बार-बार जन्म लेना पड़ता है। (म ४३) अविद्या के नाश और विद्या के उत्पन्न होने से तृष्णा के निरोध होने पर पुनर्जन्म नहीं होता। (म ४३) लोभ

 के नाश हो जाने पर उनसे उत्पन्न हुए, कर्मों का भी नाश हो जाता है।

करता कि वह क्या है कैसे बनी है और उसका क्या-क्या व्यापार है। कायानुस्मृति करने वाले को बहुत से लाभ होते हैं तथा बहुत सिद्धियाँ तथा ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। १—उदासी नहीं आती। २—भय परास्त नहीं करता। ३—सहनशीलता आती है। ४—चित्त में ध्यान करने का अभ्यास। ५—कई प्रकार की ऋद्धियाँ। ६—अलौकिक दूर और समीप के दैवी और मानुषी शब्दों का श्रवण। ७—दूसर व्यक्तियों की चित्त का ज्ञान। ८—पूर्व जन्मों का ज्ञान। ९—दिव्य चक्षु द्वारा सूक्ष्म घटनाओं, कर्मों की गति आदि का ज्ञान। १०—मुक्ति का साक्षात् दर्शन और मुक्तावस्था में विहार। (म ११९)

सम्यक स्मृति का दूसरा अंग है वेदनाओं को यथावत् जानना

इस अभ्यास को करने वाले को वेदनानुपस्सी कहते हैं। सुख वेदना दुःख वेदना असुख-अदुःख वेदना भोग पदार्थ युक्त सुख वेदना भोग पदार्थ रहित सुख वेदना भोग पदार्थ सहित दुःख वेदना भोग पदार्थ रहित अदुःख वेदना भोग पदार्थ युक्त असुख अदुःख वेदना भोग पदार्थ रहित अदुःख असुख वेदना अपने बाहर की वेदना तथा वेदनाओं की उत्पत्ति को वह भली भाँति जैसी की तैसी देखता है और उनको देख कर अपना ज्ञान बढ़ाता है अनाश्रित होकर विहार करता है और लोक में किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करता (अपनाता)।

तीसरा अंग सम्यक स्मृति का है चित्त का यथावत् अन्वीक्षण करना

इसका अभ्यासी चित्तानुपस्सी कहा जाता है।

चित्तानुपस्सी सरागचित्त को राग रहित चित्त को सद्वेष चित्त को द्वेष रहित चित्त को सम्मूढ़ चित्त को मूढ़ता रहित चित्त को स्थिर चित्त को चपल चित्त को महत्परिमाण चित्त को अल्पगत चित्त को एकाग्र चित्त को एकाग्रता रहित चित्त को विमुक्त चित्त को अविमुक्त चित्त को भीतरी चित्त को बाहरी चित्त को उसकी उत्पत्ति और लय को, जैसा है वैसा जानता है और उससे अपना ज्ञान और अपनी स्मृति बढ़ाता है और अनाश्रित होकर रहता है तथा किसी वस्तु को अपनी करके ग्रहण नहीं करता।

सम्यक् स्मृति का चौथा अभ्यास—धर्मों (मन के विषयों) को यथावत् जानना

ऐसा अभ्यास करने वाले को धर्मानुपस्सी कहते हैं। धर्मानुपस्सी वह है जो पाँच बन्धनों, कामुकता क्रोध आलस्य उद्धतपन शंकाओं (अनीहत कौहत्य मध्य विचि कित्सा) के अस्तित्व को न होने को उत्पत्ति को विनाश को यथावत् जानता है। छओं इन्द्रियों, उनके विषय और उनके संयोग का, उनके अस्तित्व न होने और नाश को यथावत् जानता है। वह स्मृति धर्म वीर्य प्रीति प्रश्रब्धि और उपेक्षा के अस्तित्व उत्पत्ति और नाश को भली भाँति जानता है और यथावत् समझता है। वह चार आर्य सत्यों (दुःख दुःख की उत्पत्ति दुःखनिरोध दुःखनिरोध के मार्ग) को यथावत् जानता है। इनसे सम्यक

में अपना ज्ञान वढाता है, ससार में अनाश्रित होकर विचरता है और किसी वस्तु को अपना करके नही मानता। इन चार अभ्यासो के करने वाले (कायानुपश्यी, वेदनानुपश्यी, चित्तानुपश्यी, धर्मानुपश्यी) थोडे ही समय में अर्हत्व और अनागामी पद को प्राप्त हो जाते हैं। (दी० २२)

सम्यक् समाधि

चित्त की एकाग्रता का नाम समाधि है। सम्यक् प्रयत्न और सम्यक् स्मति के अभ्यास से इसका उदय होता है। (म० ४४) सम्यक् समाधि का अनुभव करने वाला भिक्षु सदाचार से युक्त इन्द्रिय सयम करके, स्मृति और ज्ञान का अभ्यास करके, भोजनादि से निवृत्त होकर एकान्त स्थान पर रहता हुआ, पालथी मारकर, शरीर को सीवा करके वैठता है और चित्त को शान्त करता है।

समाधि का अभ्यास करने वाला भिक्षु, सांसारिक लोगो को छोड लोभ रहित चित्त वाला, क्रोवरहित चित्त वाला, आलस्य रहित स्मृति तथा ज्ञान से युक्त, उद्धतपन और पछतावे का परित्याग कर शान्तचित्त रहता है। उसके मन से सभी प्रकार के सन्देह दूर हो जाते हैं और वह चित्त के सभी क्लेशो, वन्धनो तथा वुरे विचारो से रहित होकर ध्यान की अवस्था में विचरता है। (म० २७) इस ध्यान की प्रयम अवस्था में स्थिर हो जाने से कामुकता, क्रोध, आलस्य, उद्धतपन, पछतावा तया मशय नष्ट हो जाते हैं। वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और चित्त की एकाग्रता रहती हैं। (म० ४३) द्वितीय अवस्था में वितर्क और विचारो का उपशम हो जाने से अन्दर की प्रसन्नता और एकाग्रता जिसमें न वितर्क है और न विचार प्रीति, सुखी रहते हैं।

इससे भी आगे चलकर तीसरी ध्यानावस्था वह है जिसमें वह प्रीति से भी विरक्त हो उपेक्षा का अनुभव करता है। वह स्मृति और ज्ञान से युक्त रहता हुआ सुख का ही अनुभव करता है।

इसके आगे चौथी ध्यान की अवस्था वह है कि जिसमें न दुःख होता है और न सुख होता है और न शुद्ध और निरपेक्ष स्मृति ही रहती है (म० २७) इस अवस्था में विचरने वाला भिक्षु सभी धर्मों (रूप, वेदना, नाम, सस्कार और विज्ञान) को अनित्य समझता है, दुःख समझता है, रोग ममझता है, पीडा समझता है, पाप समझता है, नष्ट होने वाला ममझता है, शून्य और अनात्म समझता है और अपने मन को उनकी ओर जाने से रोक लेता है तया मन को अनुभव की ओर ले जाता है, जो कि शान्त है, श्रेष्ठ है, सभी सस्कारों का शमन है, सभी चित्तमलो का त्याग है, तृष्णा का क्षय है, विराग स्वरूप, निरोव स्वरूप निर्वाण है, वह अनुभव प्राप्त करने पर उसके सभी आश्रयो का क्षय हो जाता है। यदि इसी जीवन में ही उसे निर्वाण न प्राप्त हुआ तो अयोनिज नामक देवयोनि में

उत्पन्न होकर वह निर्वाण प्राप्त करता है और इस लोक में लौटकर नहीं आता।

समवक समाधि का अभ्यासी भिक्षु सभी दिशाओं में सबके प्रति निर्वैर, निर्क्रोध मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा से युक्त रहता है। वह रूप वेदना संज्ञा, संस्कार और विज्ञान सभी धर्मों को अनित्य दुःख रोग पीड़ा शून्य पाप क्लेश नष्ट होने वाला शून्य और अनात्म समझता है और अपने मन को उनकी ओर से रोक कर उस अमृत तत्त्व की ओर ले जाता है जो कि शान्त श्रेष्ठ सभी संस्कारों का शमन है। सभी चित्तमलों का त्याग है। तृष्णा का क्षय है, विराग स्वरूप तथा निरोधस्वरूप निर्वाण है। यहाँ पहुँच कर सभी आस्रवों का नाश या क्षय हो जाता है।

वह सुख वेदना दुःख वेदना असुख-असुख वेदना का अनुभव करता है उसको अनित्य समझता है और अनासक्त रहकर ग्रहण करता है उनका आन्तरिक अभिनन्दन नहीं करता पर उनसे अलग रहकर उनका अभिनन्दन करता है।

वह संज्ञा असंज्ञा नसंज्ञा नासंज्ञा सभी के ज्ञान का निरोध करके संज्ञा की अनुभूति का निरोध कर लेता है। सभी संज्ञाओं का उपशम होना शान्ति है। वह मन विषय किसी के लिए भी न प्रयत्न करता है न इच्छा करता है और संसार में मैं और मेरा समझ कर किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करता अतएव उसको कोई परिताप भी नहीं होता और ऐसा अनुभव होता है कि जन्म मरण सब जाते रहे, और जो कुछ उसे करना था कर लिया कुछ भी करना शेष नहीं रहा।

जिस प्रकार तेल और बत्ती के रहने से दिया जलता रहता है और उनके समाप्त होने पर दिया बुझ जाता है उसी प्रकार अनासक्त रह कर अनुभव की गयी वे वेदनायें शरीर के छूटने पर अर्थात् मरने पर यहीं पर शान्त हो जाती हैं, पुनर्जन्म को देने वाली नहीं होतीं। (म ९) यह निर्वाण सत्य है और अचल है अक्षय है इसमें सभी उपाधियों का त्याग राग द्वेष और मोह का उपशम है। यही आर्य प्रज्ञा है, आर्य सत्य है आर्य त्याग है आर्य उपशम है। (म १४) यह अचल विमुक्ति जिसमें चित्त-शान्त हो जाता है जिसमें चित्त से विमुक्ति हो जाती है जीवन का असली उद्देश्य है। यही अन्तिम आदर्श है। (म २९)

बुद्ध की यह व्यावहारिक शिक्षा जब भारतवर्ष में और आसपास के देशों में फैल गयी तो यह अवश्यम्भावी ही था कि इसका सम्पर्क तर्क और विचार विनिमय दूसरे दार्शनिक और नैतिक मार्गों से जो भारत में उस समय प्रचलित थे। दूसरे मतों को और मार्गों के साथ आदान-प्रदान भी होना आवश्यक ही था। भारत में सभी दार्शनिक, धार्मिक और नैतिक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में थे और साधारण जनता में संस्कृत प्रमाणिक भाषा और संस्कृत में लिखे हुए ग्रन्थ प्रमाणिक समझे जाते थे। बौद्ध मत और मार्ग का प्रामाणिक

और विद्वानों में आदरणीय बनाने के लिये उनके अनुयायियों ने संस्कृत भाषा का आश्रय लिया और पाली भाषा को, जो संस्कृत भाषा का ही साधारण जनता में प्रयुक्त स्वरूप था, छोड़ कर शुद्ध संस्कृत भाषा में ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ किया और चूंकि बौद्ध मत का प्रचार साधारण जनता में बहुत था और बौद्ध धर्म का अवलम्बन बहुत से राजाओं ने कर लिया था, बौद्ध होना इस देश में सम्मान्य और आदरणीय हो गया था। बहुत से संस्कृत विद्वानों और दार्शनिकों ने जो सभी दर्शनों के निष्णात थे (अश्वघोष, दिङ्नाग, असंग, वसुबन्धु और नागार्जुन जैसे महान पंडितों) बौद्ध धर्म को अपनाया और उस पर संस्कृत भाषा में महान् उच्चकोटि के दार्शनिक ग्रन्थ लिखकर बौद्ध दर्शन का अर्थात्, बुद्ध के उपदेशों के आधार पर संसार और जीवन के मूल और अन्तिम प्रश्नों पर बौद्धिक रीति से विचार करके एक महान् और उत्कृष्ट बौद्ध दर्शन का, निर्माण किया, जिसका परिचय हमको अनेक संस्कृत ग्रन्थों में मिलता है। इस दर्शन में अनेक मत हैं जिसमें बौद्ध सिद्धान्तों के किसी न किसी अंग की विशेष तौर से और अधिक व्याख्या की गई है।

सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद, वैभाषिकवाद, शून्यवाद, आदि अनेक मतों का इस प्रकार उदय हुआ और उन पर बहुत उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे गए। साथ साथ ही एक नयी धार्मिक और नैतिक लहर देश में फैली जिसका नाम महायान बौद्ध धर्म पड़ा। इसका विशेष धार्मिक सिद्धान्त था बुद्ध को परम तत्व, जिसको अन्य दर्शनों में परमात्मा ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं, समझना और उनके प्रति उन्हीं सब भावों से प्रेरित होना जो भक्तों के मन में भगवान् के प्रति होते है। जो लोग बौद्ध नहीं थे और प्राचीन परम्परा को मानने वाले ब्रह्मवादी या ईश्वरवादी थे, उन्होंने भी बौद्धों की इस प्रवृत्ति का आह्वान किया और उनको ईश्वर के दस अवतारों में से एक मानकर बौद्धों के साथ एक धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक समझौता कर लिया।

महायान धर्म की नैतिक प्रवृत्ति यह थी कि आर्य सत्यों की अनुसार जीवन यापन करके जो निर्वाण पद प्राप्त होता है उसमें इस जीवन के पश्चात् प्रवेश न करके मनुष्य को यह चाहिए कि वह प्रबुद्ध रहता हुआ इस संसार में बार बार इसलिए जन्म ले, कि वह दूसरे प्राणियों को आर्य सत्यों का उपदेश देकर उनको निर्वाण के योग्य बनावे। इसलिए निर्वाण प्राप्त बुद्ध के स्थान पर बोधिसत्व बनना ही मानव का सर्वोच्च आदर्श बना।

ये सब विचार जब बौद्धधर्म और दर्शन में आने लगे तो भारत के अन्य धर्मों और दर्शनों में तथा बौद्ध धर्म तथा दर्शन में बहुत कम अन्तर रह गया। वेदान्त जो उपनिषदों की परम्परा पर आधारित है और महायान बौद्धमत जो बुद्ध के वचनों पर आधारित हैं, दोनों में इतनी समता हो गयी कि शंकराचार्य जो कि अद्वैत वेदान्त के महान् आचार्य थे, उनके आलोचकों ने प्रच्छन्न बौद्ध कहने में कठिनाई न समझी।

अमन विद्वान चार्ल्स पिम और अंग्रेज विद्वान होम्स ने अपनी पुस्तकों (The Doctrine of Buddha and The Creed of Buddha) में लिखा है कि बौद्ध शिक्षा में उप निषदों की शिक्षा में केवल इतना ही अन्तर है कि एक नेति नेति के मार्ग को ग्रहण करके यह बतलाता है कि संसार के सभी पदार्थ और विषय अनात्म हैं उनको मैं और 'मेरा' समझना अविद्या है मिथ्या है और दूसरा आत्मा को सब कुछ और अनन्त, शुद्ध, सत् चित् आनन्द ब्रह्म समझता है और अपने आपको कोई परिमित, अनित्य शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि अहंकार आदि समझना अविद्या मानता है। यहाँ पर हम महायान बौद्ध धर्म दर्शन और नीति के उन कतिपय सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं जो नैतिक जीवन पर अपना प्रभाव डालते हैं। ईश्वरवादियों ने ईश्वर के समान बुद्ध को समझ कर यह लिखा गया है कि—

तथागत यह घोषित करते हैं कि आनन्द! श्रद्धा उत्पन्न करो। योग करना चाहिए, जो मुझमें श्रद्धा रखते हैं, मैं उनको अपनाता हूँ वे जो मेरी शरण आते हैं, उनका मैं मित्रों की भाँति अपनाता हूँ मैं देवताओं का भी देवता हूँ मैं समस्त देवों में उत्तम हूँ। कोई देवता मेरे समान नहीं है मुझसे बढ़कर होने की तो बात ही क्या। (ललित विस्तार सूत्र में) सब प्रपञ्च के उपशम का नाम ही तत्व है। (लंकावतारसूत्र) बुद्धि की सारी कोटियों का तर्क से सारे पक्षों को अतिक्रमण करना और उनके पचड़े से छूटना ही शून्यता है। (प्रसन्न पद चन्द्रकीर्ति माध्यमिक वृत्ति) जो सब धर्मों का परमार्थ है जो तथता है वह सदा एक रस और नित्य है, उसी को विज्ञप्ति मात्र भी कहते हैं। (विंशिका कारिका २५) सर्वदा एकसा रहने से अविकृत रहने से इसे तथता कहते हैं, यही विज्ञप्ति मात्रता है। इस तथता को अनेक प्रकार से कहा गया है। (त्रिंशिका विज्ञप्ति भाष्य) शास्ता कुशल सुगत विमुक्ति काय महामुनि बुद्धि की समता और भगवान् बुद्ध इसके अनेक नाम हैं। (त्रिंशिकाभाष्य) तथता जो कि न शुद्ध है न अशुद्ध उसे शून्यता कहते हैं। (महायान सूत्रालंकार १–२।२१) बुद्धत्व समस्त क्लेशों से समस्त दुःख-रिपों से और जन्म मरण के भय से बचने का एकमात्र साधन है। बोधिसत्व प्राणियों की बोधिचित्तोत्पाद करता हुआ उनके हित में जितना तल्लीन रहता है, वैसा न तो माता-पिता अपने पुत्रों के हित में रहते हैं और न बन्धु अपने बन्धुओं के। (महा ९–७) (महा ०८–८)

धम्मपद की नैतिक शिक्षा

धम्मपद

जैसा ऊपर कहा जा चुका है भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त कर लेने के पश्चात् निर्वाण प्राप्ति पर्यन्त जो उपदेश दिए हैं उनका संग्रह त्रिपिटक नामक बौद्ध ग्रन्थों में किया गया है। ये ग्रन्थ पाली भाषा में हैं। त्रिपिटक ग्रन्थों के तीन मुख्य विभाग हैं सुत्त विनय और अभिधम्म। सुत्त पिटक के अन्तर्गत पाँच निकाय या ग्रन्थ हैं। उनमें

से एक खुद्दक निकाय कहलाता है। इस खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत १५ ग्रन्थ हैं, जिनमें से एक 'धम्म पद' है। धम्मपद में भगवान् बुद्ध के ४२३ प्रवचनों का २६ अध्यायों में संग्रह है। यह एक उच्चकोटि का नीति ग्रन्थ है। इसमें मनुस्मृति के कुछ श्लोक अक्षरशः पाली भाषा में मिलते हैं।

वैर भाव शान्त होने का उपाय

उसने मुझे डाटा फटकारा था, उसने मुझे उस समय मारा था, उसने मुझे जीत लिया, और उसने मुझे लूट लिया था, इस प्रकार की जो लोग मन में भावनाएँ बनाये रखते हैं, उनका वैर भाव कभी भी शान्त नहीं होता है। (१) उसने मुझे डाटा फटकारा था, और उसने मुझे उस समय मारा था, तथा उसने जीत लिया था, एवं उसने मुझे लूट लिया था, ऐसी भावनाएँ जिन लोगों के मन में जागृत नहीं होती हैं, उनके मन का वैर भाव शान्त हो जाता है। (४) वैर से कभी भी वैर शान्त नहीं होता है। बल्कि अवैर से अर्थात् अपने मन से स्वयं वैरभाव का परित्याग कर देने से ही दूसरे के मन का वैर भाव स्वयं शान्त हो जाया करता है, यही सनातन धर्म है। (५)

काम से पराजित कौन होता है

संसार को जो पुरुष शुभ अर्थात् सारयुक्त देखते हैं, तथा संसार को स्थिर समझकर उसमें निःसंकोच रूप से विहरण करते रहते हैं, इन्द्रियों के विषयों में जो असंयत रहते हैं, भोजन के तारतम्य से जो सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं, जो आलस्य सम्पन्न तथा पुरुषार्थ विहीन होते हैं, वे पुरुष कामदेव के द्वारा ऐसे नीचे गिरा दिए जाते हैं जैसे कि वायु के द्वारा दुर्बल वृक्ष। (७)

काम किसको पराजित नहीं कर सकता

जो पुरुष इस संसार को अशुभ अर्थात् तत्वविहीन देखते हैं, तथा इसे क्षणिक समझकर इसमें विहार करते हैं, और इन्द्रियों में जो अच्छी प्रकार संयत हैं, भोजन की मात्रा को जो अच्छी प्रकार जानने वाले हैं, जो श्रद्धा सम्पन्न एवं उद्योग शील हैं, उन्हें मार (कामदेव) कभी भी नहीं डिगा सकता है जिस प्रकार पर्वत को वायु कभी भी नहीं हिला सकता है। (८)

सार को कौन ग्रहण नहीं करता ?

जो पुरुष असार को सार, और सार को असार समझते हैं वे झूठे संकल्प विकल्पों के प्रपञ्च में पड़कर सार को प्राप्त ही नहीं कर पाते। (११)

आनन्द का अनुभव किसे होता है ?

पुण्यात्मा व्यक्ति इस लोक तथा परलोक, उभय लोकों में, मोद अर्थात् आनन्द करता है। वह आनन्द करने वाला पुरुष अपने कर्मों की विशुद्धता अर्थात् पवित्रता को

देखता हुआ नितान्त निरवच्छिन्न रूप से आनन्द मग्न रहता है। (१६)

पाप का परिणाम सन्ताप

पाप करने वाला पापात्मा पुरुष इस लोक में भी अपने पापकर्मजन्य सन्ताप से सन्तप्त रहता है और परलोक में जाकर भी वह मैंने कौन सा ऐसा पापकर्म किया है जिससे यह नीच योनि प्राप्त हुई अथवा जन्म मरण का बन्धन मेरे पीछे लगा" इस प्रकार से सन्ताप करता रहता है। इस तरह पापकारी पुरुष दोनों लोकों में जाकर सन्ताप ही करता रहता है। दुर्गति को प्राप्त हुआ वह व्यक्ति और भी अधिक सन्ताप से सतप्त होने लगता है। (१७)

पुण्य का परिणाम आनन्द

पुण्यात्मा पुरुष इस लोक तथा परलोक दोनों लोकों में आनन्द को प्राप्त होता है। मैंने कौन सा पुण्यकर्म किया है ऐसा सोचकर आनन्दमग्न हो जाता है। और सुगति को प्राप्त होकर और भी अत्यन्त अधिक आनन्द मग्न हो जाता है। (१८)

चित्त का दमन करना सुखावह है

जिसका निग्रह करना अत्यन्त ही कठिन है तथा जो लघु स्वभाव वाला है। जो जहाँ चाहता है वहीं झटपट चला जाता है। ऐसे चित्त का दमन करना सर्वथा अच्छा है क्योंकि दमन किया हुआ चित्त सुखावह होता है। (३५)

निर्भय कौन है ?

जिस व्यक्ति के चित्त में किसी प्रकार का राग नहीं, तथा द्वेष भी नहीं है उस पुण्य पाप विहीन जागृत पुरुष को किसी भी प्रकार का भय नहीं है। वह सर्वथा निर्भय है। (३९)

शुद्ध चित्त कल्याणकारी है

जिस व्यक्ति का हित माता-पिता अथवा अन्य भाई-बन्धु कोय नहीं कर सकते हैं, उसका उससे अधिक कल्याण सन्मार्ग में लगा हुआ चित्त करता है। (४३)

दूसरे के दोषों को नहीं देखना चाहिए

न तो कभी दूसरों (पर व्यक्तियों) के विरोधी वाक्यों को ध्यान में लावे और न उन दूसरे व्यक्तियों के कर्तव्याकर्तव्य के ऊपर ही ध्यान दे। मनुष्य को एकमात्र अपने ही कर्तव्याकर्तव्य को देखना चाहिए। (५)

कर्तव्य-विहीन पुरुष की वाणी व्यर्थ होती है

जैसे सुन्दर तथा वर्णयुक्त गन्ध शून्य पुष्प होता है उसी प्रकार कर्तव्य विहीन व्यक्ति के लिए सुभाषित वाणी सर्वथा निष्फल होती है। (५१)

ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिसे करके पछताना पड़े

साधु मनुष्य उस कार्य को कदापि न करे, जिस कार्य को करने बाद में सन्ताप हो।

जिस कार्य के फल को (विपाक को) अश्रुमुख होकर (उसे) भोगना पड़े। (६७) साधु (सज्जन) उसी कार्य को किया करते हैं जिस कार्य को करके उन्हे बाद मे पश्चात्ताप न हो। (६८) जब तक पाप का विपाक (फल) नही प्राप्त होता है तब तक बाल (मूर्ख) व्यक्ति उस पाप कर्म को मधु समान मानता है और जब उस पापकर्म का फल प्राप्त हो जाता है तब वह मूर्ख दु ख को प्राप्त करता है। (६९)

पाप का फल समय आने पर मिलता है

जिस प्रकार ताजा क्षीर (दूध) शीघ्र ही नही जम जाता है। उसी प्रकार पापकर्म का भी फल शीघ्र ही नही प्राप्त हो जाता है। ... वह पापकर्म भस्म से ढकी हुई आग के समान उस मूर्ख व्यक्ति को दहन करता हुआ (विपाक काल पर्यन्त) उसका पीछा करता ही रहता है। (७१)

सत्पुरुषो का साथ करे

पापकर्म करने वाले मित्र को न भजे अर्थात् उनका साथ न करे और न अधम पुरुषो का ही साथ करे। दूसरो का कल्याण करने वाले मित्रो का ही साथ करे। क्योकि हमेशा मनुष्य को उत्तम पुरुषो का ही साथ करना चाहिए। (७८)

ज्ञानी अपने सिद्धान्त पर दृढ़ और निर्विकार रहते है

जिस प्रकार ठोस पर्वत को वायु नही डगमगा सकती है। इसी प्रकार निन्दा तथा प्रशसा होने पर पण्डित लोग भी अपने सिद्धान्त से नही डिगते हैं। (८१) सत्पुरुष समस्त वस्तुओ को त्याग देते हैं। कारण कि सन्त लोग काम जन्य भोगो से निर्लिप्त रहते हैं। उन्हें सुख प्राप्त हो अथवा दु ख, पण्डित लोग ऊँच-नीच भावात्मक विकार का प्रदर्शन नही करते हैं। (८३)

प्राज्ञ के लक्षण

जिस व्यक्ति को अपने लिए अथवा दूसरे अपने इष्टजनो के लिए न पुत्र की इच्छा है, न धन की इच्छा है और न राज्य ही की इच्छा है, एव जो व्यक्ति अधर्म के द्वारा न समृद्धि ही चाहता है वही व्यक्ति शीलवाला प्रज्ञावाला, तथा धार्मिक होता है। (८४)

देवताओ को कौन प्रिय होता है

सारथी जिस प्रकार अश्वो का दमन कर देता है, उसी प्रकार जिस पुरुष की इन्द्रियाँ शान्त हो गयी हैं, उस निरहकार मनस्क तथा अनास्रव सन्त व्यक्ति की चाहना देवता लोग भी किया करते हैं। (९४)

अभिवादनशील और वृद्ध सेवी को क्या प्राप्त होता है ?

जो व्यक्ति अभिवादन शील है, तथा नित्य वृद्धो की सेवा करने वाला है, उसके आयु, वर्ण, सुख और बल, इन चार धर्मो की वृद्धि हमेशा होती रहती है। (१०९)

फल पाने पर पापी को पाप का पता चलता है

पापात्मा व्यक्ति भी पाप को अच्छा ही समझता है जब तक कि वह पाप का फल नहीं प्राप्त करता है और जब वह पाप का फल प्राप्त करता है तब उस पापी को पाप का स्वरूप दिखायी देने लगता है। (११९)

पाप के फल से कहीं भी नहीं बचा जाता

न अन्तरिक्ष (आकाश) में न समुद्र में न मध्य में न पर्वतों की विवर (कन्दराओं) में जगत् के अन्दर कोई भी ऐसी जगह नहीं जहाँ स्थित होकर मनुष्य पाप कर्मों के फल से मुक्त हो सके। (१२०)

मृत्यु से सभी डरते हैं अतएव किसी की हत्या नहीं करनी चाहिए

दण्ड से सभी त्रस्त हो जाते हैं तथा मृत्यु से भी सभी लोग डर जाते हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने समान ही सबको समझकर न उन्हें मारे, और न मारने की चेष्टा करे। (१२९)

किसी को कठोर वचन नहीं कहना चाहिए

किसी को भी परुष (कठोर) वचन मत बोलो बोलने पर तुम्हें भी कोई उसका प्रतिवाद करेगा जो प्रतिवाद सर्वथा दुःख कारक होता है। वही प्रतिवाद तुम्हें उस परुष वचन के बदले में प्रतिदण्ड रूप हो जाता है। (१३३)

पाप का फल

पाप कर्म करते हुए मूर्ख (बाल) उस पापकर्म को जान नहीं पाता है। परन्तु बाद में वह दुर्मेधा पुरुष उन कर्मों के कारण इस प्रकार ताप करता है जैसे अग्नि से दग्ध होने पर मनुष्य करता है। (१३६) जो व्यक्ति अदण्ड (दण्डयुक्त) व्यक्ति को दण्ड से कष्ट युक्त बनाता है तथा अदुष्ट (दोष रहित) व्यक्ति को दोष लगाता है वह व्यक्ति क्षिप्र (शीघ्र) ही इन दस बातों में से एक बात को अवश्य प्राप्त करता है।(१३७) (१) कठोर (परुष) वेदना (२) हानि (३) शरीर के अंग का भेदन (भंग होना) (४) कोई युक (भारी) बाधा होना (५) चित्त में विक्षेप (पागलपन) प्राप्त होना। (१३८) (६) राजा से दण्ड (७) दारुण निन्दा (८) ज्ञाति बन्धुओं का परिक्षय (विनाश) (९) भोगों का नाश, अथवा अग्नि (पावक) उसके स्थान को जलाता है और काया का परित्याग होने पर वह दुर्बुद्धि नरक को प्राप्त करता है। (१४)

आत्म नियंत्रण

जिस प्रकार नहर आदि को स्थानस्थान पर के जाने वाले लोग उसमें जल को ठीक स्थानस्थान पर ले जाते हैं, बाण बनाने वाले टेढ़े बाण को नमाकर ठीक कर देते हैं, और बढ़ई लोग टेढ़ी लकड़ी को नमा देते हैं, उसी प्रकार अच्छे व्रत वाले लोग अपना (कुमार्ग

की तरफ से) बराबर दमन करते रहते हैं। (१४५)

जीवन का पर्यवसान मृत्यु है

यह रूप हमेशा जीर्ण होने वाला है, रोगो का निधान, एव क्षणभगुर है। यह अपवित्र देह भी विनाशी है और जीवन का पर्यवसान मृत्यु है। (१४८)

आत्म नियन्त्रण, न कि पर उपदेश

प्रथम अपने ही को उचित काय में लगावे, इसके बाद दूसरे पर शासन करे अर्थात् तब दूसरे को उपदेश दे। इस प्रकार पण्डित लोग क्लेश नही पाते हैं। (१५८) अपने को (सर्वप्रथम) वैसा कर ले जैसा कि दूसरे के ऊपर वह अनुशासन करना चाहता है। इसलिए पहिले अपना दमन कर तब दूसरे का दमन करे। क्योंकि अपना ही दमन करना कठिन होता है। (१५९)

स्वार्थ मूल्य है

पर (दूसरे) के अर्थ (हित) के लिए अपने अर्थ की बहुत हानि नही करनी चाहिए। अपने अर्थ को समझकर पहले उसी के साधन मे लग जाय। (१६६)

मिथ्यावाद सब पापो का जड है

जो व्यक्ति सत्य धर्म का अतिक्रमण कर मिथ्यावादी बनता है, परलोक की चिन्ता मे शून्य, उस पुरुष के लिए फिर कोई पाप ही नही रह जाता है जो वह न कर सके। (१७६)

सच्चे ज्ञानियों का देवता भी आदर करते हैं

जो धीर व्यक्ति ज्ञान सलग्न है, तथा अत्यन्त उपशम (शान्त) स्वरूप निर्वाण में जो रत है, उन ज्ञानवृद्ध बुद्धो को देवता लोग भी चाहते हैं। (१८१)

बौद्ध उपदेश

सम्पूर्ण पापो को न करना, तथा पुण्यो का सचय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध रखना, यही बुद्धो का शासन (शिक्षा) है। (१८३)

जय-पराजय रहित व्यक्ति ही सुखी रहता है

विजय वैरभाव का प्रसव (उत्पत्ति) करती है और पराजित हुआ व्यक्ति दुःख भरी नीद में सोता है। तथा शान्त व्यक्ति जय पराजय का परित्याग कर सुख पूर्वक सोता है। (२०१)

राग-द्वेष और पन्च स्कन्धो की निवृत्ति सुख है

राग (प्रेम) के समान (कोई दूसरी) अग्नि नही है और द्वेष के समान कोई मल नहीं। पन्चस्कन्धो के समान और कोई दुःख नही, तथा शान्ति से बढ़कर और कोई सुख नहीं है। (२०२)

भय और शोक के कारण

प्रिय वस्तु से शोक उत्पन्न होता है, प्रिय वस्तु से भय उत्पन्न होता है। प्रिय वस्तु से

मुक्त व्यक्ति को शोक नहीं फिर भय तो है ही नहीं। प्रेम से शोक उत्पन्न होता है और प्रेम से ही भय उत्पन्न होता है। (२१२) प्रेम से मुक्त को शोक और भय कहाँ? (२१३) रति से ही शोक होता है रति से ही भय उत्पन्न होता है और रति से जो मुक्त है उसे शोक ही नहीं तो फिर भय कहाँ से। (२१४) काम से शोक उत्पन्न होता है तथा काम से ही भय उत्पन्न होता है और काम से जो मुक्त है उसे शोक ही नहीं तब फिर भय कहाँ से? (२१५) तृष्णा से शोक उत्पन्न होता है, और तृष्णा से ही भय उत्पन्न होता है। तृष्णा से जो मुक्त है उसे (जब कि) शोक ही नहीं तो भय कहाँ से? (२१६)

सर्वप्रिय कौन?

जो व्यक्ति शील तथा सम्यक्‌दृष्टि रूप दर्शन से सम्पन्न है और धर्म में स्थित तथा सत्यवादी है, तथा अपने काम को करने वाला है उस व्यक्ति को लोग प्रेम करते हैं। (२१७)

सबकी विजय के उपाय

अक्रोध से क्रोध को जीतना चाहिए और असाधु व्यक्ति को अपनी साधुता से जीतना चाहिये कंजूस को दान से जीतना चाहिए तथा असत्यवादी को सत्य से जीतना चाहिये। (२२१)

देव लोक पाने के उपाय

सच बोले क्रोध न करे थोड़ी भी याचना करने पर अवश्य दे। इन तीन बातों से मनुष्य देवता लोगों के पास पहुँच जाता है। (२२४)

मानसिक पाप से बचना चाहिए

मन के द्वारा होने वाले कोप से हमेशा बचा रहे मन में सर्वदा संयत रहे मानसिक दुराचार को छोड़कर मन के द्वारा सुन्दर आचरण करे। (२३३)

मैल

स्त्री का मैल दुराचार है देने वाले दानवीर का मैल कंजूसी है और पाप इस लोक तथा परलोक दोनों में मैल है। (२४२)

सुरापान द्वारा सर्वनाश

जो लोग शराब एवं शराब पान में अनुरक्त रहते हैं, वे लोग अपनी ही जड़ को खोदते हैं। जैसे ईंधन अग्नि में संयुक्त होकर अपना ही अस्तित्व मिटा देता है। (२४७)

राग, द्वेष मोह और तृष्णा की निन्दा

राग के समान कोई अग्नि नहीं है और द्वेष के समान कोई ग्रह नहीं है। मोह के समान कोई जाल नहीं है और तृष्णा के समान कोई नदी नहीं है। (२५१)

पण्डित के गुण

बहुत बोलने वाला व्यक्ति कोई पण्डित नहीं होता है। किन्तु क्षमाशील वैरभाव

रहित, एव अभय व्यक्ति ही पण्डित होता है, ऐसा कहा जाता है। (२५८)

स्थविर के गुण

जिस व्यक्ति के अन्दर सत्य, धम, अहिसा, सयम और दम है, वही व्यक्ति धीर तथा स्थविर कहा जाता है। (२६१)

अधिक के लिए स्वल्प का त्याग

मत्ता (स्वल्प) सुख के परित्याग से यदि विपुल सुख प्राप्त होता है तो धीर (बुद्धिमान्) व्यक्ति को चाहिए कि अधिक सुख की सभावना से स्वल्प सुख का त्याग कर दे। (२९०)

परदार सेवी मनुष्य की दुर्गति

परदार सेवी (परस्त्री गामी) प्रमत्त पुरुष की चार प्रकार की गतियाँ होती है १—अपुण्य लाभ अर्थात् पुण्यक्षय (पाप) २—सुख पूर्वक निद्रा का न आना, ३—लोक निन्दा, ४—नरक में वास (३०९) अथवा परदार सेवी व्यक्ति की ये चार गतियाँ होती हैं—१—अपुण्यलाभ, पापात्मिका गति, भीरू (भीत) पुरुष की स्त्री से स्वल्प रति, और राजा से (भारी) दण्ड प्राप्त करना। इसलिए मनुष्य को परदार का सेवन त्रिकाल में भी नही करना चाहिए। (३१०)

अधिक भोजी और आलसी व्यक्ति की गति

आलस्य सम्पन्न, अधिक खाने वाला, निद्रालु, तथा करवटें बदल बदल कर तद्रा मे शयन करने वाला, व्यक्ति अत्यन्त पुष्ट बडे भारी सूअर के समान बार बार गर्भ में जन्म लेता रहता है। (३२५)

सुखप्रद जीवन

जरा (वृद्धा अवस्था) पर्यन्त शील का पालन करना सुखकर है, श्रद्धा का स्थिर हो जाना सुखप्रद है, ज्ञान की प्राप्ति भी सुखकर है और पापो का न करना भी सुखकर है। (३३३)

स्वनियत्रण और सयम

मनुष्य अपने आप का अपने आप ही मालिक है, अपने आप ही अपनी गति का जिम्मेदार है। इसलिए जैसे बनिया अश्व (घोडे) को भद्र अर्थात् सयमी बनाता है वैसे ही मनुष्य अपने आप को सयमी बनावे। (३८०)

सच्चे ब्राह्मण के लक्षण

जिस व्यक्ति के मन में पार (चक्षु, श्रोत्र, नासिका, जिव्हा, तथा मन और शरीर) अपार (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द तथा धर्म) एव परापार (मैं तथा मेरा) भाव नही है, और जो निभय एव आसक्ति शून्य है उसको मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (३८५) जो व्यक्ति ध्यानी, रजोगुण रहित, अर्थात् निर्मल अन्त करण वाला, स्थिरासन, कृतकृत्य तथा आस्रव

रहित है एवं जिसने उत्तम अर्थ (निर्वाण) को प्राप्त कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (३८६) जिस व्यक्ति ने अपने पापों को धोकर बहा दिया है वह ब्राह्मण है। जो (सबके साथ) समान आचरण करने वाला है वह श्रमण है, ऐसा कहा जाता है। कारण कि उसने अपने चित्त के मलों को दूर कर दिया है। इसीलिये उसे प्रव्रजित कहते हैं। (३८८) ब्राह्मण के ऊपर कभी भी प्रहार नहीं करना चाहिए, और ब्राह्मण को भी इस प्रहार करने वाले के ऊपर कभी क्रोध नहीं करना चाहिए। इसलिए ब्राह्मण के मारने वाले को भी धिक्कार है और मारने वाले के ऊपर क्रोध करने वाले को भी धिक्कार है। (३८९) जिस व्यक्ति के शरीर, वाणी और मन के द्वारा कोई दुष्कृत्य (पाप) नहीं होता तथा जो व्यक्ति अपने इन तीनों स्थानों से संयम युक्त है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (३९१) न जटाओं से न गोत्र से न जन्म से मनुष्य ब्राह्मण होता है बल्कि जिसके चित्त में सत्य और धर्म है, जो शुचि अर्थात् पवित्रान्तःकरण है वही ब्राह्मण है। (३९३) जो मनुष्य (निर्दोष) व्यक्ति दूसरे की गाली वध बन्धन आदि सबको सहन करता है और जिसके पास क्षमाबल ही सेना रूपी बल है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (३९९) जो मनुष्य क्रोध नहीं करता है सदाचार व्रत सम्पन्न है, शीलवान् है, अनुत्सुक है, अर्थात् विषयों में होने वाले औत्सुक्य से सर्वथा शून्य एवं दान्त अर्थात् इन्द्रियों का हमेशा दमन करने वाला है और जिसका शरीर अन्तिम है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४) कमल के पत्ते के ऊपर गिरे हुए जल के समान तथा आरे की नोक के ऊपर गिरी हुई सरसों के समान जो व्यक्ति काम भोग भोगों में लिप्त नहीं होता है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४ १) जो व्यक्ति यहीं अर्थात् इसी जन्म में अपने दुःख के विनाश को जान जाता है तथा जिसने अपने पाप भार के बोझे को उतार कर फेंक दिया है, ऐसे आसक्ति विहीन पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४ २) जो व्यक्ति गम्भीर प्रज्ञा वाला मेधावी तथा मार्ग अमार्ग का जानने वाला है और उत्तम अर्थ (निर्वाण) को जिसने प्राप्त कर लिया है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४ ३) जो व्यक्ति दूसरे विरोधियों के विरोध करने पर भी स्वयं विरोध रहित है, जो दण्ड धारियों के समक्ष स्वयं दण्ड रहित है, संग्रह करने वालों में संग्रह रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४ ६) जिस व्यक्ति के चित्त से राग द्वेष मान म्रक्ष (ईर्ष्या) दूर हो गए हैं, तथा जिसका चित्त आरे के अग्रभाग पर गिरी हुई सरसों के समान निर्लिप्त है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४ ७) जो मनुष्य अकर्कश सार्थक, तथा सत्य वाणी बोलता है जिससे किसी का कुछ व्यथा न हो, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४ ८) जो व्यक्ति इस संसार के अन्दर दीर्घ ह्रस्व छोटी मोटी शुभ अशुभ बिना दी हुई किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं करता है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४ ९)

इस लोक तथा परलोक के विषयों की जिस व्यक्ति की आशाएँ (तृष्णाएँ) समाप्त

हो चुकी हैं, इस प्रकार के आशा रहित तथा आसक्ति शून्य व्यक्ति को मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४१०) जिसके चित्त में तृष्णा (आलय) नही रह गयी है, तथा जानकर अर्थात् ज्ञान प्राप्त करके जिसके चित्त की सपूर्ण सशयग्रथियाँ नष्ट हो गयी हैं, और जिसने अमृत पद (निर्वाण) को प्राप्त कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४११) जिस मनुष्य ने पुण्य और पाप इन दोनों का सम्बन्ध छोड दिया तथा जो शोक शून्य है, निर्मल तथा विशुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४१२) जिस व्यक्ति का चित्त चन्द्रमा के समान विमल, शुद्ध, स्वच्छ तथा निर्मल है, एव जिसकी जन्म जन्मान्तर की तृष्णा का परिक्षय (नाश) हो चुका है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४१३) जो व्यक्ति यहाँ काम जन्य भोगों को परित्याग कर बिना स्थान का, एव प्रव्रजित हो चुका है, एव जिसकी कामना और जन्म का क्षय हो गया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४१५) जो व्यक्ति यहाँ (इस ससार) में तृष्णा से रहित होकर बे घर तथा प्रव्रजित हो गया है, और जिसकी तृष्णा तथा जन्म अगाडी के लिए समाप्त हो चुका है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४१६) जो व्यक्ति मनुष्योचित योग (सम्बन्ध-बन्धन) को छोडकर ऊपर के दिव्य बन्धनों का भी परित्याग कर चुका है, तथा सब प्रकार के बन्धनो से शून्य है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४१७) जो रति (राग) अरति (द्वेष) को छोडकर शान्त स्वरूप तथा क्लेशात्मक उपाधि शून्य है, उस सर्व लोक विजयी वीर को मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४१८) जो प्राणियों की च्युति (मृत्यु), सत्ता (उत्पत्ति) और उपपत्ति (स्थिति) को सब प्रकार से जानता है, उस आसक्ति शून्य, सुगत (सुन्दर गतिवाले) बुद्ध को मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४१९) जिसकी गति को देवता, गन्धर्व, मनुष्य, नही जान पाते हैं, उस क्षीणाश्रव अर्हत् को मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४२०) जिसके पूर्व तथा पश्चात् और मध्य में कुछ भी नही है, एव जो अकिन्चन और दान आदान व्यवहार शून्य है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४२१) जो ऋषभ (उत्तम), पवर (श्रेष्ठ), विजेता, महर्षि वीर है, तथा जो अकम्प्य स्नातक एव बुद्ध (ज्ञानशील) है, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४२२) जो पूर्वकालीन निवास एव जन्म को जानता है और स्वर्ग तथा अपाय को जानता है (पस्सति) तथा जिसका पुनर्जन्म क्षीण हो चुका है, एव जो प्रज्ञापूर्ण मुनि स्वरूप है, जो अपना सब कुछ पूरा कर चुका है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (४२३)

सम्राट् अशोक के शिलालेखों में नीति की शिक्षा

सम्राट् अशोक विश्व इतिहास के महान् से महान् राजाओ में से एक हुए हैं। उन्होने ईसा के पूर्व सवत् २७३ (विक्रम के पूर्व सवत् २१६) से लेकर पूरे ४० वर्ष तक भारत के अधिकतर भाग पर सफलतापूर्वक राज्य किया। उसके राज्य में प्रजा को धार्मिक (नैतिक) और सुखी बनाने का अधिक से अधिक प्रबन्ध किया गया था। उसने ऐसे बहुत से कर्मचारी नियुक्त किए थे जिनका काम केवल यही था कि वे धर्म (नीति) का जनता में

प्रचार करें और यह देखें कि जनता राजसेवक और कर्मचारी नैतिक नियमों का पालन करते हैं या नहीं।

अपने राज्य में और पड़ोसी राज्यों में धर्म (नीति) का प्रचार करने के लिए अशोक ने शिलाओं और स्तम्भों पर अनेक धर्म उपदेशों को उस समय की जनसाधारण की भाषा में खुदवाया। इन ऐतिहासिक शिलालेखों से ज्ञात होता है कि अशोक ने अपनी पाकशाला में भी पशुओं का माँस पकना बन्द करा दिया था। शिकार खेलने की प्रथा बन्द कर दी थी। विहार (मृगया) यात्रा के स्थान पर उसने धर्मयात्रा की प्रथा का प्रारम्भ किया। इन धर्मयात्राओं में ब्राह्मण श्रमणों और वृद्ध लोगों का दर्शन कर उनको दान दिया जाता था और गाँवों में जाकर धर्म की शिक्षा दी जाती थी। अहिंसा के प्रचार के अतिरिक्त इन लेखों में माता-पिता गुरु और वृद्धों के आदर और सेवा का आदेश मिलता है और यह भी कहा गया है कि अपने से छोटों नौकरों और अन्य सभी मनुष्यों के साथ दया का बर्ताव करना चाहिए। सत्य भाषण पर भी बहुत जोर दिया गया है। कुछ लेखों में अशोक ने दूसरों के धार्मिक विश्वासों के साथ सहानुभूति रखने और उनका आदर करने का उपदेश दिया है धर्म के प्रचार को भी बहुत महत्व दिया है। यहाँ पर हम अशोक के शिलालेखों के हिन्दी अनुवाद से धर्म (नीति) सम्बन्धी उपदेशों का उद्धरण देकर यह दिखलाना चाहते हैं कि अशोक की धार्मिक (नैतिक) शिक्षा क्या थी।

उद्योग का महत्व

"यह अनुशासन लिखा गया है कि छोटे बड़े लोग उद्योग करें। (ब्रह्मगिरि का प्रथम लघु शिलालेख)

धर्म क्या है

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—'धर्म करना अच्छा है। यह धर्म क्या है "धर्म यही है कि पाप से दूर रहो बहुत से अच्छे काम करे। दया दान सत्य और शौच (पवित्रता) का पालन करे।" (द्वितीय स्तम्भलेख) धर्म की उन्नति धर्म का आचरण इसी में है कि दया दान सत्य शौच मृदुता और साधुता लोगों में बढ़े। (सप्तम स्तम्भलेख) "देवताओं के प्रिय इस तरह कहते हैं— माता और पिता की सेवा करनी चाहिए। (प्राणियों के) प्राणों का आदर दृढ़ता के साथ करना चाहिए (अर्थात्) जीव हिंसा न करनी चाहिए। सत्य बोलना चाहिए। (धर्म) के इन गुणों का प्रचार करना चाहिए। इसी प्रकार विद्यार्थियों को आचार्य की सेवा करनी चाहिए और अपने जाति भाइयों के प्रति उचित व्यवहार करना चाहिए। यही प्राचीन (धर्म की) रीति है। इससे आयु बढ़ती है और इसी के अनुसार मनुष्य को चलना चाहिए। (ब्रह्मगिरि का द्वितीय शिलालेख)

"धर्म यह है कि दास और सेवको से उचित व्यवहार किया जाय, माता और पिता की सेवा की जाय। मित्र, परिचित, रिश्तेदार, श्रमण और ब्राह्मणो को दान दिया जाय, और प्राणियो की हिंसा न की जाय।" (एकादश शिलालेख)

"देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी, राजा के धर्मानुशासन से प्राणियो की अहिंसा जीवो की रक्षा बन्धुओ का आदर, ब्राह्मणो और श्रमणो का आदर, माता-पिता की सेवा, तथा बूढो की सेवा बढ गयी है। धम का अनुशासन ही श्रेष्ठ काय है। (चतुर्थ शिलालेख)

"माता-पिता की सेवा करना, तथा मित्र, परिचित, स्वजातीय, ब्राह्मण और श्रमण को दान देना अच्छा है। थोडा व्यय करना और थोडा सचय करना अच्छा है। (द्वितीय शिलालेख)

"यहाँ (इस राज्य मे) कोई जीव मार कर होम न किया जाय। पहले देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला मे प्रतिदिन कई सहस्त्र जीव सूप बनाने के लिए मारे जाते थे पर अब मे जबकि यह धर्म लेख लिखा जा रहा है केवल तीन ही जीव मारे जाते हैं (अर्थात् दो मोर और एक मृग) पर मृग का मारा जाना नियत नही है। यह तीनो प्राणी भी भविष्य में न मारे जायेंगे। (प्रथम शिलालेख)

धर्मयात्रा—श्रमण और ब्राह्मणो का दर्शन करना और उन्हे दान देना, वृद्धों का दर्शन करना और उन्हें स्वर्ण दान देना, ग्रामवासियो के पास जाकर उन्हे उपदेश देना और धर्म विषयक विचार करना। (सप्तम शिलालेख)

सच्चा दान धर्मोपदेश देना है

देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—ऐसा कोई दान नही है जैसा धम का दान है। ऐसी कोई मित्रता नहीं है जैसी धर्म की मित्रता है। ऐसी कोई उदारता नहीं है जैसी धम की उदारता है। ऐसा कोई सम्बन्ध नही है जैसा धम का सम्बन्ध है। इसलिए पिता, पुत्र, भ्राता, स्वामी, मित्र, परिचित और कहाँ तक वहें पडोसियो को भी यह कहना चाहिए "यह पुण्य कर्म है, इसे करना चाहिए" जो इस प्रकार आचरण करता है (अर्थात् इस प्रकार धर्म दान करता है) वह इस लोक को भी सिद्ध करता है और परलोक में उस धम दान मे अनन्त पुण्य का भागी होता है। (एकादश शिलालेख)

सच्ची विजय

देवताओ के प्रिय यह इच्छा करते हैं कि सब प्राणी निरापद, सयमी, शान्त और प्रसन्न रहे। धर्म विजय ही देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी मुख्यतम विजय मानते हैं। धम विजय में जो आनन्द मिलता है वह बहुत प्रगाढ आनन्द है। पर वह आनन्द भी क्षुद्र वस्तु है। देवताओ के प्रिय पारलौकिक कल्याण को भारी वस्तु समझते हैं।

(त्रयोदश शिला लेख)

अन्य सम्प्रदायवालों के साथ मेल जोल

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा विविध दान और पूजा से गृहस्थ या सन्यासी सब सम्प्रदाय वालों का सत्कार करते हैं। किन्तु देवताओं के प्रिय दान या पूजा की इतनी परवाह नहीं करते जितनी इस बात की कि सब सम्प्रदायों के सार (तत्व) की वृद्धि हो। सम्प्रदायों के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है। पर उसकी जड़ वाक्संयम है। अर्थात् लोग केवल अपने सम्प्रदायों का आदर और बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करें। समवाय (मेल जोल) अच्छा है अर्थात् लोग एक दूसरे के धर्म को ध्यान देकर सुनें और उसकी सेवा करें। क्योंकि देवताओं के प्रिय राजा की इच्छा है कि सब सम्प्रदाय वाले बहुत विद्वान् और कल्याण का काम करने वाले हों। (द्वादश शिलालेख)

(इस अध्याय का आधार श्री जनार्दन भट्ट की पुस्तक अशोक के धर्म लेख है)

अध्याय १५

नीति ग्रन्थो की नीति

(१) विदुर नीति

भगवद्गीता की भाँति विदुरनीति भी महाभारत का एक अग है । मनुष्यो के प्रकार—ऋषियो का, नदियो का, महात्माओ के वशो का, तथा स्त्रियो के दुष्ट आचरण का उत्पत्ति स्थान अथवा सामर्थ्य नही जाना जा सकता है। (३।७२) वीर, विद्वान् और सेवा करने की कला जानने वाला, ये पुरुष सोने के फूलो वाली पृथ्वी से (सोनारूपी) फूल चुनते हैं। (३।७४) ऐसा मनुष्य जो न तो स्वय जीता जाता है और न दूसरे को जीतने की इच्छा ही करता है, और न वैर ही करता है, और न मारने वाले को बिना जवाब दिये ही रहता है, निन्दा और प्रशसा दोनो में एक समान रहता हुआ न तो शोक करता है और न प्रसन्न ही होता है, जो सब का कल्याण चाहता है, किसी के अमगल में चित्त नही लगाता है, तथा सत्यवादी, दयालु और जितेन्द्रिय है, वह उत्तम पुरुष कहा जाता है। (४।१५।१६) जो व्यथ सात्वना नही देता (बल्कि) देने की प्रतिज्ञा करके देता है और दूसरे की कमजोरी को जानता है वह मध्यम पुरुष कहा जाता है। (४।१७) कठिनाई से शासन को मानना, विकृत तथा लोकापवाद से दूषित न होना, क्रोध में आकर उपकार को भूल जाना, किसी का मित्र न होना, तथा दुष्ट चित्त वाला होना, ये अधम पुरुष के लक्षण हैं। (४।१८) मनुष्य, बल, सतत प्रयत्न, बुद्धि तथा पुरुषार्थ से अप्राप्त धन को प्राप्त कर लेता है किन्तु भली भाँति प्रशसा तथा उत्तम कुल वालो के चरित्र को नही पाता। (४।२१) धन आता और जाता रहता है उसकी चिन्ता नही करनी चाहिए, क्योंकि धनहीन पुरुष हीन नही होता, पर सदाचार से रहित पुरुष नष्ट हो जाता है। (४।३०) जो पुरुष सम्बन्ध न रहने पर भी मित्र की भाँति वर्ताव करता है, वही भाई, मित्र, अवलम्बन, तथा आश्रय है। (४–३८) शोक से कुछ (सुख आदि) मिलता नही (उल्टे) शरीर में जलन पैदा होती है तथा शत्रु प्रसन्न होते हैं, इसलिए शोक में चित्त न लगाइए। (४–४५) हे राजन्! भेदभाव रखने वाले लोगो के लिए विनाश के सिवा दूसरा कोई परिणाम नही है। (४–५७) भलीभाँति प्रतिष्ठित तथा दृढ़ वृक्ष

भी अकेला होने पर वायु द्वारा तने समेत क्षण भर में नष्ट किया जाता है। (४-१२) जैसे पवन अकेले वृक्ष को उखाड़ सकता है वैसे ही गुणों से युक्त होने पर भी अकेले उस आदमी को शत्रु नष्ट कर देने योग्य समझते हैं। (४-१४) जो मनुष्य दूसरे के साथ जैसा बर्ताव करता है दूसरे मनुष्य को भी उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए यही धर्म है। कपटी के साथ कपट का बर्ताव करना चाहिए तथा सज्जन के साथ सज्जन का बर्ताव करना चाहिए। (५-७) हे राजन्! अधिक अहंकार, बहुत बोलना महान् अपराध दान न देना क्रोध अपना ही पोषण करने की इच्छा तथा मित्र से विरोध ये ६ तेज तलवारें ही मनुष्यों की आयु को काटती हैं और ये ही मनुष्यों को मारती हैं, मृत्यु नहीं। (५-१०-११) हे राजन्! मीठे वचन बोलने वाले पुरुष तो सदा आसानी से मिल जाते हैं परन्तु कड़वे और हितकर वचन को कहने तथा सुनने वाला पुरुष कठिनाई से मिलता है। (५-१५) सारे कुल के हित के लिए एक व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए ग्राम भर के हित के लिए कुल को छोड़ देना चाहिए, देश के हित के लिए ग्राम को छोड़ देना चाहिए तथा आत्म-कल्याण के लिए सारी वसुधा को छोड़ देना चाहिए। (५-१७) आपत्ति में काम आने के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए, धन से स्त्री की रक्षा करनी चाहिए, तथा स्त्री और धन दोनों से अपनी रक्षा करनी चाहिए। (५-१८) हे तात! जो भलाई करने में लगे हुए भक्त नौकर पर कभी भी क्रोध नहीं करता ऐसे स्वामी में नौकर विश्वास रखते हैं, और विपत्ति पड़ने पर उसका साथ नहीं छोड़ते। (५-२२) जो आज्ञा पाने पर (स्वामी के) वचन का आदर नहीं करता (काम न) नियुक्त किए जाने पर उत्तर देता है बुद्धि का गर्व रखता है तथा (स्वामी की इच्छा के) विरुद्ध वचन बोलता है ऐसे नौकर को शीघ्र ही हटा देना चाहिए। (५-२१) बुद्धि कुलीनता विद्या इन्द्रियों का दमन वीरता मितभाषिता सामर्थ्य के अनुसार दान करना तथा उपकार को मानना ये आठ गुण पुरुष को प्रकाशित कर देते हैं। परिमित आहार करने वाले के पास ६ गुण आ जाते हैं। उसे स्वास्थ्य आयु बल सुख तथा निर्मल सन्तान की प्राप्ति होती है और यह पेटू है ऐसा कहकर कोई उसका उपहास नहीं करता। (५-३४) अकर्मण्य बहुत खाने वाले जनता के वैरी बहुत कपट करने वाले क्रूर, स्थान तथा समय के औचित्य को न जानने वाले तथा बुरे वेश वाले को घर में नहीं टिकाना चाहिए। (५-३५) हे राजन् पुरुषों में नित्य वर्तमान रहने वाले पाँच प्रकार के बल आप मुझसे सुन तथा समझ लीजिए। जो बाहुबल कहा जाता है वह सबसे छोटा बल है (उससे बड़ा) अच्छे मन्त्रियों की प्राप्ति रूप दूसरा बल कहा जाता है। बुद्धिमान् लोगों ने धन लाभ को तीसरा (अमात्यलाभ से बड़ा) बल बताया है। मनुष्य का जन्म सिद्ध बाप-दादों से मिला हुआ अभिजात बल (कुलीनत्व) नाम का चौथा (धन लाभ से बड़ा) बल कहा गया है। जिस बल के द्वारा इन सब बलों का संग्रह हो जाता है तथा जो सब

बलों में श्रेष्ठ है यह बुद्धि बल कहा जाता है। (५–५२–५५) कौन बुद्धिमान् पुरुष, स्त्रियों राजाओं, सर्पों, अपने पठित-पाठ स्वामी, शत्रु, भोगों, तथा आयु में विश्वास कर सकता है। (५–५७) बुद्धि रूपी बाण से मारे गये के लिए अच्छा करने वाले न तो जड़ी बूटियाँ न होम मन्त्र, न मांगलिक करने वाले अथर्ववेद में कहे गए (झाड़ फूंक) मन्त्र तथा उपाय, और न सिद्धि औषधियाँ ही हैं। (५–५८) विश्वास के अयोग्य पुरुष में विश्वास नहीं करना चाहिए तथा विश्वास के योग्य पुरुष में भी अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि विश्वास के कारण उत्पन्न हुआ भय जड़ को काट डालता है। (६–७) मनुष्य को ईर्ष्या रहित, स्त्री की रक्षा करने वाला, सम्पत्ति का बटवारा करने वाला, प्रिय बोलने वाला, तथा स्त्रियों के प्रति मधुर वचन बोलने वाला होना चाहिए। किन्तु स्त्रियों के वशवर्ती नहीं होना चाहिए। (६–१०) धर्म, अर्थ, तथा काम के कार्यों को करने की इच्छा करता हुआ उनके विषय में कुछ कहे नहीं, जब वे पूरे हो जायँ तभी उन्हे प्रकाशित करे। ऐसा करने से मन्त्र फूटता नहीं। (६–१६) जो पुरुष मोह वश निन्द्य कर्मों को करता है वह उन निन्द्य कर्मों के नष्ट हो जाने से जीवन से भी हाथ धो बैठता है। (६–२२) जिसकी प्रसन्नता तथा क्रोध दोनों बेकार हैं, ऐसे स्वामी को लोग उसी प्रकार नहीं चाहते हैं, जैसे नपुंसक पति को स्त्रियाँ। (६–३२) विद्या, सदाचार, आयु, बुद्धि, धन-युक्त तथा बड़े-बड़े लोगों का मूर्ख सदा अनादर करते हैं। (६–३४) नीच आचरण करने वाले, मूर्ख, गुणों में दोष निकालने वाले, धर्म रहित, कठोर वचन बोलने वाले, तथा क्रोध-शील मनुष्य को शीघ्र ही विपत्तियाँ घेर लेती हैं। प्रिय वचन कह कर दान देना, अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना, तथा अच्छी तरह प्रयुक्त किया गया वचन, ये प्राणियों को वश में कर लेते हैं। (६–३६) अप्रिय वचन न कहने वाला, कुशल, कृतज्ञ, तथा सरल राजा (या पुरुष) अल्प धन वाला हो जाने पर भी भृत्य, मित्र आदि सहायकों को पा जाता है। (६–३७) हे भारत! जिनके बिगड़ने में योग (अप्राप्त की प्राप्ति) तथा क्षेम (प्राप्ति की रक्षा) में गड़बड़ी हो जाती है ऐसे पुरुषों को देवता की भाँति सदा प्रसन्न रखना चाहिए। (६–४१) जो पुरुष आवश्यक कार्य को ही करने में लगे रहते हैं, अधिक (व्यर्थ) के करने में नहीं, उन्हीं को मैं पण्डित समझता हूँ, क्योंकि अधिक कार्य तो गौण या व्यर्थ होते हैं। (६–४४) हे भारत! बिना अवसर के बात करने वाले बृहस्पति की बुद्धि की भी अवहेलना की जाती है तथा उनका अपमान होता है। (७–२) दान देने से, प्रिय वचन बोलने से, तथा मन्त्र और धन के प्रभाव से, मनुष्य प्यारा होता है, और जो मनुष्य प्यारा है वह तो प्यारा है ही। शत्रु (गुणवान होने पर भी) सज्जन, बुद्धिमान अथवा विद्वान् नहीं माना जाता। जो आदमी अपने को अच्छा लगता है उसमें अच्छी ही बातें और जो अपने को अच्छा नहीं लगता उसमें बुरी ही बातें दिखलायी देती हैं। (७–४) जो दूसरों की निन्दा करने में

झूठ बोल कर हजार की हत्या करता है। (३–३३–३४) सोने के लिए झूठ बोल कर पैदा हुए और न पैदा हुए जीवो की हत्या करता है और भूमि के लिए झूठ बोल कर सब की हत्या कर डालता है। अत भूमि के लिए झूठ न बोले। देवता लोग चरवाहे की तरह डडा लेकर किसी की रक्षा नही करते, जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसे बुद्धि से युक्त कर देते हैं। (३–४०) कपट का व्यवहार करने वाले कपटी पुरुष का वेद भी उद्धार नही कर सकते। (३–४२) शराब पीना, झगडा, सघ से वैर, पति और पत्नी में वियोग, जाति के लोगो में फूट, राजा से द्रोह, स्त्री पुरुष का आपस में झगडा और जो मार्ग दूषित है इन सबको विद्वान वर्जित कहते हैं। (३–४३) मकान जलाने वाला, विष देने वाला, पति के रहते जार से उत्पन्न पुरुष, (कुण्ड) का अन्न खाने वाला, सोमरस (मदिरा) बेचने वाला, हथियार बनाने वाला, चुगुल खोर, मित्र से द्रोह करने वाला, पर स्त्री रमण करने वाला, गभ की हत्या करने वाला, गुरु स्त्री से दुर्व्यवहार करने वाला, ब्राह्मण होते हुए भी शराब पीने वाला, अत्यन्त उग्र स्वभाव वाला बुरे और टेढे रास्ते पर चलने वाला, दु खी को भी दु ख देने वाला ईश्वर को न मानने वाला, वेद की निन्दा करने वाला, अधिकार के बल से अन्यायपूर्वक प्रजा से धान्य आदि लेने वाला, पतित (सस्कार हीन) यम के समान क्रूर अथवा क्षुद्र, समर्थ होते हुए भी शरणागत को मारने वाला, ये सब ब्रह्म हत्या करने वाले के बराबर हैं (३–४६–४८) बुढापा-सौन्दर्य को आशा धैर्य को, मृत्यु प्राण को, असूया (गुणो में दोष ढूढ़ने का भाव) धर्माचरण को, क्रोध कान्ति को अथवा सम्पत्ति को, नीच की सेवा शील को, काम लज्जा को तथा अभिमान सब कुछ को नष्ट कर देता है। बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रिय दमन, विद्या, पराक्रम, व्यर्थ का बहुत न बोलना, सामर्थ्य के अनुसार दान देना तथा उपकार को मानना, ये आठ गुण पुरुष को सुशोभित करते हैं। (३–५२) यज्ञ, दान, अध्ययन तथा तपस्या, ये चार गुण सज्जनो में नित्य वतमान रहते हैं और सत्य बोलना, इन्द्रिय दमन, सरलता, तथा दयालुता, इन चार गुणो का सज्जन अनुसरण करते हैं। (३–५५) यज्ञ, वेदाध्ययन, दान, तपश्चर्या, सत्य, क्षमा, दया तथा लोभ का न होना। (सन्तोष) यह आठ प्रकार का धर्म का मार्ग कहा जाता है। (३–५६) वह सभा ही नही जहाँ वृद्ध लोग न हो वे वृद्ध ही नही जो धर्म की बात नही कहते, वह धर्म ही नही जिसमें सत्य नही है और वह सत्य ही नही जो कपट से युक्त हो। सत्य, सुन्दर, विनीत स्वरूप, अध्ययन, विद्या, कुलीनता, सदाचार, बल, धन, शूरता और अदभुत वाणी बोलना ये दस स्वर्ग के कारण हैं। (३–४७) बार-बार किए जाने पर पुण्य बुद्धि को बढ़ाता है। (३–६२) पुण्य करने वाला मनुष्य पवित्र कीर्ति होकर पवित्र लोक जाता है। इसलिए सावधान होकर पुरुष को पुण्य करना चाहिए। (३–६३) गुणो में दोष ढूंढने वाला, सर्प के समान मर्म स्थान में चोट पहुँ-

वाले वाला निष्ठुर (अप्रिय तथा कठोर बोलन वाला) बकारण वैर करने वाला तथा धूर्त मनुष्य पाप करता हुआ शीघ्र ही भारी कष्ट में पड़ता है। (१-६४) गुणों में दोष ढूंढने की वृत्ति से रहित तथा बुद्धिमान् मनुष्य सदा शुभ कर्मों को करता हुआ भारी कष्ट में नहीं पड़ता अर्थात् बहुत सुख पाता है तथा सभी जगह सुशोभित होता है। (१-६६) बुद्धिमान पुरुष ही धर्म और अर्थ को प्राप्त कर सुख की वृद्धि कर सकता है। अधर्म के द्वारा प्राप्त किए धन से जो बुराई छिपायी जाती है वह अन्त में खुल ही जाती है और उसके कारण से दूसरी बुराई भी खुल जाती है। (३-७) हे देवव्रत! मैंने यही उपदेश (विद्वानों से) भली भाँति सुना है कि धैर्य धारण करना (चित्त में) शान्ति रखना तथा सत्य और धर्म का अनुसरण करना चाहिये तथा शरीर के साथ ही हृदय के सभी अभिमान को हटा कर प्रिय तथा अप्रिय भाव को अपने से दूर करना चाहिए। (४-४) निन्दित होने पर भी (कभी दूसरे की) निन्दा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सहन करने वाले का क्रोध मात्र निन्दा करने वाले को जला देता है तथा उसके पुण्य को ले लेता है। (४-५) मनुष्य को दूसरे की निन्दा तथा अपमान करने वाला मित्र से द्रोह करने वाला नीच पुरुष की सेवा करने वाला घमंड रखने वाला तथा अशुद्ध आचरण करने वाला नहीं होना चाहिए तथा रूखी और क्रोध युक्त वाणी नहीं बोलनी चाहिए। (४-६) इस संसार में रूखे वचन पुरुषों के मर्म स्थल हड्डी चित्त तथा प्राण (तक) को जला देते हैं। इसलिए सन्ताप दायक रूखा वचन से धर्म-प्रिय पुरुष को सदा दूर रहना चाहिए। (४-७) सुख दुःख उत्पत्ति विनाश हानि लाभ जीवन मरण ये सभी एक के बाद दूसरे आते ही रहते हैं, इसलिए बुद्धिमान पुरुष को शोक नहीं करना चाहिए। (४-४०) हे पाप रहित! विद्या तप इन्द्रियों का निग्रह तथा लोभ का त्याग इन सब को छोड़ कर और किसी उपाय से शान्ति तुमको मिलती मुझे दिखाई नहीं देती। (४-५१) मोक्ष चाहने वाला पुरुष दान तथा वैराग्ययुक्त से मिलने वाले पुण्य में निरासक्त तथा स्नेह और कामना से अलग रह कर इस संसार में विचरता है। (४-५३) आपस में भेद भाव रखने वाले लोग न तो कभी धर्म का आचरण करते हैं और न कभी इस संसार में सुख तथा गौरव पाते हैं और न शान्ति ही उन्हें मिलती है। (४-६१) हे महाराज! रोग से न उत्पन्न होने वाला कड़वी सिर में पीड़ा उत्पन्न करने वाले पाप उत्पन्न करने वाले, कठोर तीखे बल सज्जनों के पीने तथा असज्जनों के न पीने योग्य क्रोध अथवा दैन्य को पी सौजिय और शान्त हो जाइये। (४-६८) बोलने से मौन रहना मौन रहने से सत्य बोलना सत्य बोलने से सत्य तथा प्रिय बोलना और उससे भी बढ़कर प्रिय तथा धर्म युक्त वचन बोलना श्रेष्ठ कहा जाता है। जिन-जिन विषयों से मनुष्य विमुख होता जाता है उन उन विषयों से छुटकारा पा जाने पर उसे लेश मात्र भी दुःख नहीं होता। (४-१४)

तप, दम, ब्राह्मणो का धन (वेदाध्ययन), यज्ञ क्रिया का अनुष्ठान, पवित्र (शास्त्रानुकूल) विवाह तथा अन्न का दान, ये सात गुण जिनमे स्थिर रूप से रहते हैं वे ही ऊँचे कुल हैं। (४–२३) जिनका आचरण कष्टकर तथा पितरो को दु ख देने वाला नही होता तथा जो प्रसन्न मन से धर्म का पालन करते हैं, जो अपने लिए विशेष कीर्ति की इच्छा करते हैं तथा जो असत्य का त्याग करते हैं वे ऊँचे कुल के है। (४–२४) (हमारे कुल में कोई भी) मित्र से द्रोह करने वाला, कपटी, असत्यवादी तथा पितरो, देवताओ और अतिथियो से पहले भोजन करने वाला नही होना चाहिए। (४–३२) हे भारत! विश्वास करने वाले पुरुष की स्त्री तथा गुरुपत्नी से सहवास करने वाला, शूद्रा का पति तथा शराब पीने वाला ब्राह्मण सभी लोगो पर व्यर्थ का हुकुम करने वाला, जीविका को नष्ट करने वाला, ब्राह्मणो से सेवा करानेवाला तथा शरण में आये हुए लोगो को मारने वाला, ये सब ब्रह्म-घाती के समान हैं। (५–१२–१३) जो काम सब प्राणियो के लिए हितकर तथा अपने को सुख देने वाला हो, उसी को ईश्वर को समर्पित करे क्योंकि वह कार्यों की सिद्धि की जड है (५–४०) उत्कृष्ट सिद्धि चाहने वाला मनुष्य पहले ही से धर्म करता रहे, क्योंकि जैसे स्वर्ग से अमृत अलग नही होता वैसे ही धर्म से अर्थ अलग नही होता। जिसका चित्त पाप से अलग है, तथा शुभ कृत्य में लगाया गया है उसे प्रकृति (अव्यक्त) और विकृति (महत् तत्वादि) रूप सारे ससार का रहस्य मालूम हो जाता है।

चतुर्विध पुरुषार्थ—जो पुरुष यथासमय धर्म, अर्थ और काम का सेवन करता है, वह इस लोक में तथा परलोक में धर्म, अर्थ और काम के सयोग को प्राप्त करता है। (५–५०) हे राजन! जो क्रोध तथा हर्ष के उठे हुए वेग को रोकता है तथा विपत्ति मे मोह को नही प्राप्त होता, उसे लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। (५–५१) शुभकर्मो का करना सुख देने वाला होता है तथा उनको न करना पछतावे में डालने वाला माना गया है। (६–२३) धैर्य, चित्त की शान्ति, इन्द्रियो को वश में करना, शुद्धता, दयालुता, प्रियवचन तथा मित्रो मे विरोध न रखना, ये सात गुण लक्ष्मी को बढ़ाने वाले हैं। (६–३८) जो पुरुष गरीब, दु खी तथा रोगी स्वजन पर अनुग्रह करता है, वह पुत्रो तथा पशुओ की बढती तथा अनन्त कल्याण को प्राप्त होता है। (७–१७) जब जीवन ही अनिश्चित है तो ऐसा काम ही नही शुरू करे जिसमे चारपाई पर पडकर सन्तप्त होना पडे। (७–२७) नम्रता को, अपयश को, पराक्रम कार्य की असिद्धि तथा दरिद्रता को, क्षमा क्रोध को, तथा सदाचार गुणहीनता को, सदा दूर करते हैं। जीवन्मुक्त पुरुष की भी उपस्थित इच्छा का परित्याग नही होता तो फिर कामासक्त पुरुष की कौन बात। (७–४४) मित्र नीच कुल का हो अथवा ऊँचे कुल का, यदि वह मर्यादा का उल्लघन नही करता, धर्म का इच्छुक तथा विनम्र और लज्जाशील है, तो वह सौ ऊँचे कुल वालो से अच्छा है (७–४६)

सब जीवों के साथ कोमलता का बर्ताव करना गुणों में दोष ढूंढने से दूर रहना क्षमा, धैर्य मित्रों का आदर, इन सबको बुद्धिमानों ने आयुवर्धक बताया है। (७–५२) मनुष्य कर्म मन तथा वचन से जिस कार्य का निरन्तर सेवन करता है वही कार्य उसे आकृष्ट कर लेता है इसलिए मनुष्य को हितकर कार्य करना चाहिए। (७–५५) मांगलिक वस्तु का स्पर्श चित्तवृत्ति को रोकना शास्त्र का श्रवण करना उद्योग सरलता तथा सज्जनों का नित्य दर्शन ये ऐश्वर्य को देने वाले हैं। (७–५६) असमर्थ तथा समर्थ पुरुष सदा धर्म रक्षा के लिए सबको क्षमा करे और जिस पुरुष के लिए लाभ और हानि दोनो समान है उसके लिए तो क्षमा सदा हित कर है। (७–५७) तपस्वियों का बल तपस्या वेद जानने वालों का बल वेद, दुष्टों का बल हिंसा तथा गुणवानों का बल क्षमा है। (७–६०) जल मूल फल दूध घी ब्राह्मण की इच्छा गुरु की आज्ञा तथा औषधि ये आठ व्रत को नष्ट नहीं करते। (७–७) जो काम अपने को अच्छा न लगे उसे दूसरों के प्रति न करे, संक्षेप में यही धर्म है इससे भिन्न धर्म स्वेच्छामूलक अर्थात् स्वकाम है। (७–७१) अक्रोध (क्षमा) से क्रोध को सज्जनता के व्यवहार से असज्जन को दान से कृपण को और झूठ को सत्य से जीतना चाहिए। (७–७२) गुरुजनों को नमस्कार करने वाले तथा नित्य वृद्धों की सेवा करने वाले पुरुष की कीर्ति आयु, यश तथा बल ये चारों बढ़ते हैं। यत्न से स्त्री को काम से स्त्रियों को ईंधन से आग को, तथा पीने से शराब को न जीते। अधर्म से कमाये हुए बहुत बड़े धन को पाकर भी जो उसे छोड़ देता है तथा उससे आकृष्ट नहीं होता वह पुरुष पुरानी केंचुली को छोड़ने वाले सांप की तरह सारी दुःखों को छोड़कर सुखपूर्वक रहता है। (८–२) गुणों में दोष देखना तो एक दम मृत्यु के समान है तथा कड़ा बोलना लक्ष्मी का नाशक है। गुरु की सेवा न करना जल्द बाजी करना तथा अपनी प्रशंसा ये तीन विद्या के शत्रु हैं। हे तात! कामभय तथा लोभ के वश या प्राण बचाने के लिए भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए यही एक अत्यन्त श्रेष्ठ सब से बड़े पवित्र पद है यह मैं आपसे कहता हूँ। (८–१२) मरे हुए पुरुष के धन को दूसरे लोग भोगते हैं, और उसके शरीर तथा धातुओं के चिड़ियां तथा आग खाती है। पुण्य और पाप से घिरा हुआ इन्हीं के साथ वह परलोक जाता है। (८–१६) आग में फेंके गए पुरुष के साथ उसका किया हुआ कर्म ही जाता है इसलिए पुरुष को धीरे धीरे यत्न के साथ धर्म ही का संग्रह करना चाहिए। (८–१८) हे भारत! आत्मा नदी है जिसमें पुण्य का घाट बना हुआ है, सत्य जल रूप से भरा है धैर्य किनारा तथा दया लहर है। इसमें स्नान करने वाला धर्मात्मा पुरुष पवित्र हो जाता है क्योंकि अन्तर लोभ रहित होना ही पवित्र आत्मा माना गया है। (८–२१) काम और क्रोध मगर से पूर्ण पञ्चेन्द्रिय रूपी जल वाली नदी में धैर्य की नाव पर चढ़कर, संसार में उत्पन्न

होने की कठिनता से निस्तार पाइए। काम वासना तथा उदर पूर्ति की धैर्य के द्वारा, हाथ पांव की आंख के द्वारा, आंख और कान की चित्त के द्वारा, तथा मन और वाणी की कर्म के द्वारा रक्षा करे। (८–२४)

अतिथि सत्कार—तृण, भूमि, जल तथा प्रिय वचन ये सज्जनो के घर में कभी नष्ट नही होते। अर्थात् सदा ही प्राप्त होते हैं। (४–३४) वीर पुरुष सज्जन अतिथि को आसन देकर, पुन पानी लाकर, उसके चरणो के धोने के वाद, कुशल पूछ कर, अपनी स्थिति को वतावे, तव देख भाल करके उसे भोजन देवे। (६–२) वेद मन्त्र जानने वाला पुरुष जिस मनुष्य के घर में लोभ, भय, अथवा कृपणता के कारण जल, मधुपर्क, अथवा गाय को, ग्रहण नही करता, उसके जीवन को श्रेष्ठ पुरुषो ने व्यर्थ कहा है। (६–३)

अतिथि के अयोग्य—वैश्य, हथियार वनाने वाले, ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट, चोर, क्रूर, शराबी, भ्रूण हत्या करने वाले, सेना से जीविका चलाने वाले, तथा वेद वेचने वाले, अर्थात् वेतन लेकर वेदो को पढाने वाले, अतिथि का अत्यन्त प्रिय होने पर भी, अतिथि सत्कार नहीं करना चाहिए। (६–४)

वानप्रस्थ—पुत्रो को उत्पन्न करके, उन्हे ऋण से मुक्त करके, तथा उनके लिए किसी जीविका का उपाय करके, तथा सभी कन्याओ को ठिकाने लगा कर, वनवासी होने की इच्छा करें। (५–३७)

भिक्षु (सन्यासी) के लक्षण—जो पुरुष क्रोध रहित, मिट्टी, पत्थर तथ सोने को समान समझने वाला, शोक रहित, सन्धि तथा विग्रह से रहित, निन्दा तथा प्रशसा से अलग, प्रिय और अप्रिय दोनो को तटस्थ की भांति छोडने वाला हो, वही भिक्षु (सन्यासी) है। (६–६)

अर्थ (लक्ष्मी)—दु ख से पीडित, असावधान, नास्तिक, आलसी, तपस्या के कष्ट को न सहने वाले, तथा उत्साह हीन पुरुषों के यहाँ लक्ष्मी नही रहती। (७–६१) अति श्रेष्ठ आचार वाले, वहुत दान देने वाले, अत्यत शूरता दिखाने वाले, वहुत वडा सकल्प करने वाले, तथा वुद्धि का गर्व रखने वाले के पास लक्ष्मी डर के मारे नही जाती हैं। (७–६३) (लक्ष्मी) न तो भारी गुणवानो के पास ही रहती है, और एक दम गुणहीन के ही पास रहती है। न तो वह गुणो को ही चाहती है और न गुण हीनता में ही अनुरक्त रहती है। पागल गाय की तरह अन्धी लक्ष्मी कदाचित् ही कही स्थिर रहती है। (७–६४) जो अर्थ अत्यन्त कष्ट, धर्म के उल्लघन अथवा शत्रु के सामने झुकने से मिले, उस धन में चित्त न लगाइए। (७–७५)

विद्यार्थी के दोष—आलस्य, मद, मोह, चपलता, गप्प, औधत्य, गर्व, तथा लोभ, ये सात सदा विद्यार्थियो के दोष समझे जाते हैं। (८–५) आराम चाहने वालो को विद्या

वहाँ से मिल सकती है, और विद्या चाहने वालों को आराम भी नहीं मिल सकता। अतः आराम चाहने वाले को विद्या का परित्याग तथा विद्या को चाहने वाले को आराम का परित्याग कर देना चाहिए। (८-१)

दैवप्राबल्य—मनुष्य असमर्थ है उसे ब्रह्मा ने ऐश्वर्य और अनैश्वर्य तथा जन्म और मृत्यु के विषय में सूत्र में बंधी हुई कठपुतली की भांति दैव के अधीन कर रखा है अतः आप कहें मैं सुनने के लिए तैयार हूँ। (७-१) प्रारब्ध का उल्लंघन किसी भी प्राणी के द्वारा नहीं किया जा सकता है। अतः मैं प्रारब्ध को ही अदृष्ट और पुरुषार्थ को निरर्थक मानता हूँ। (८-१२)

(२) भर्तृहरि के नीति शतक की नीति

भर्तृहरि का नीति शतक

नीतिशतक भर्तृहरि के तीन प्रख्यात शतकों—नीतिशतक शृंगार शतक और वैराग्य शतक में से एक है। भर्तृहरि व्याकरण के एक महान् पंडित शब्द ब्रह्म के दर्शन के महान व्याख्याता और जीवन कला के महान् ज्ञाता और कवि थे। सम्भवतः वे ७वीं शताब्दी में हुए थे कुछ विद्वानों के अनुसार वे ४थी या ५वीं शताब्दी में हुए थे।

व्यवहारकला—

अपने कुटुम्बियों में उदारता का व्यवहार, परिजनों पर दया दुर्जनों में शठता साधु जन के प्रति प्रीति, बड़े लोगों से क्षमा और स्त्रियों से धूर्तता इस प्रकार के व्यवहार करने की कला में जो निपुण हैं उन्हीं लोगों पर यह संसार स्थित है। (२२)

धीर-पुरुष—

जिस मनुष्य के चित्त को कामिनी के कटाक्ष रूपी बाण छेद न सकें जिसके मन को क्रोध रूपी अग्नि न सन्तप्त कर सके जिसके मन को नाना प्रकार के विषय लोभ पाशों में बाँध न सके वह धीर पुरुष सारे त्रैलोक्य को जीत सकता है। (१०७)

यशस्वी लोग—

पुण्य-कृत्य पुण्यात्मा एवं रस सिद्ध (पारद में भस्म से सिद्ध कर जो प्राप्त हुए) कवि (शृंगारादि रसों में सुप्रसिद्ध) वे जगत्प्रसिद्ध कवीश्वर (योगिराज एवं महाकवि) सबसे बढ़ हैं जिनके यश रूपी शरीर को जरा और मरण से भय नहीं है। (२४)

मानी पुरुष को सबके सामने दीन वचन नहीं बोलना चाहिए—

अरे मित्र चातक! थोड़ा सावधान होकर सुनो आकाश में बहुत प्रकार के मेघ रहते हैं। कोई तो वृष्टि से पृथ्वी को तर कर देते हैं और कोई व्यर्थ गर्जते ही हैं उनमें देने लेने को कुछ नहीं रहता, अतः जिस किसी मेघ के सामने तुम दीन वचन मत कहा करो, किन्तु नमस्कार कर ही माँगा करो। (५१)

मूर्ख का सग नहीं करना

मानी मनुष्य फूल के गुच्छे की भाँति दो ही प्रकार की वृत्तियो से जीवन व्यतीत करता है। या तो वह सबके सिर पर ही रहता है या फिर वन के ही किसी कोने मे सूख कर बिखर जाता है। (३३)

सिंह का बच्चा भी मदमत्त हाथियो को मारने दौडता है। तेजस्वियो का ऐसा स्वभाव ही होता है। तेज के लिए अवस्था कारण नही। (३८)

वन मे इधर उधर घूमने वाले जगली कोल-भील आदि के साथ पहाडो के बीहड स्थानो मे इधर-उधर मारे-मारे फिरना कही अच्छा है, परन्तु मूर्खो के साथ यदि इन्द्रपुरी मे भी रहना पडे तो वह अभीष्ट नही है, किन्तु कष्टप्रद ही है। (१४)

दुर्जन का सग नहीं करना

दुर्जन यदि विद्या आदि गुणो से अलकृत भी हो तो भी उसके साथ सम्बन्ध नही रखना चाहिए। अर्थात् उसका परित्याग कर देना चाहिए। (५३) जो खल लोगो मे प्रधान व उद्दण्ड हैं, जिसने अपनी पहली अवस्था मे बडे-बडे पाप कर्म करके उनसे ही अपनी जीविका चलायी है, पर इस समय भाग्यवश जिसे धन प्राप्त हो गया है और जो स्वभाव से ही गुण द्वेषी और नीच है ऐसे खल के दृष्टिगोचर होने मे किसने सुख पाया है? अर्थात् दुष्टो के चगुल में फस कर सभी कष्ट ही पाते हैं। (५१)

नाश के कारण

राजा अनुचित मन्त्रणा से नष्ट होता है, यति (सन्यासी) सग (स्त्री आदि की सगति) से, पुत्र लाड प्यार से, ब्राह्मण नही पढने से, कुल दुष्ट पुत्र से, सदाचार दुष्टो के ससर्ग से, लज्जा मदिरा पीने से, खेती न सम्भालने से, स्नेह ज्यादा परदेश मे रहने से, मित्रता बिना प्रेम या विश्वास के सम्पत्ति अविनय (उद्दण्डता) से, धन अतिदान या असावधानी से नष्ट हो जाता है। (४२)

बिना कारण वैर

घास खाकर जीने वाले मृग के, जल से जीने वाली मछली के, सन्तोष से निर्वाह करने वाले सज्जनो के, क्रमश व्याघ्र, धीवर और दुर्जन बिना कारण वैरी होते हैं। (६१)

विवेक-शून्य का अध पतन

जो विवेक से शून्य होता है उसका सैकडो प्रकार से अध पतन होता है। (१०)

दैव (पूर्व जन्म कृत कर्मा के फल) की प्रधानता

विधाता ने अपने अपने भाग्य मे जो थोडा या बहुत धन लिख दिया है, उसे मनुष्य

मस्तक में भी बैठा रहे तो भी प्राप्त करता है और सुमेरु पर्वत पर भी जो कि सोने और रत्नों का बना हुआ है उससे अधिक नहीं मिल सकता। अतः धैर्य धारण करो, और धनियों के आगे वृथा दीनता प्रकट न करो और देखो घड़ा चाहे कुएँ में भरो या समुद्र में बराबर ही जल लेता है अधिक नहीं। अतः भाग्यानुसार ही धन मिलता है, धन के लिए इधर उधर दौड़ना घबड़ाना वृथा है। (४७) निश्चय ही दैव प्रधान है। पुरुषार्थ तक कोई चीज नहीं है। अतः पुरुषार्थ को धिक्कार है अर्थात् दैव अनुकूल न हो तो भी पराक्रम व्यर्थ हो जाते हैं। (६७) जगत में युद्ध में शत्रु जल और अग्नि के बीच में महासागर में या पर्वत की चोटी पर भी सोते हुए असावधान संकट के स्थान में बैठे हुए मनुष्य की भी पुण्य (भाग्य) ही रक्षा करता है। (९७) जिस मनुष्य का पूर्व जन्मोपार्जित महान् पुण्य है उसके लिए और भयानक वन भी उत्तम नगर की तरह सुखप्रद हो जाता है। सभी लोग उसके लिए सज्जन हो जाते हैं, सम्पूर्ण पृथ्वी भी उसके लिए धन धान्य व रत्नों से परिपूर्ण हो जाती है। (१ २) चाहे जल में गोता लगावे चाहे सुमेरु पर्वत पर जावे युद्ध में शत्रुओं को जीते वाणिज्य करे, खेती व नौकरी करे, सब विद्या पढ़े सब कला कौशल सीखे अत्यन्त प्रयत्न करके अनन्त आकाश में पक्षी की तरह उड़ने लगे परन्तु जो नहीं होने वाला है, वह नहीं हो सकता और जो दैव वश होने को है उस किसी तरह से हटाया भी नहीं जा सकता। अर्थात् लाख प्रयत्न करने पर भी अभावी होता नहीं और भावी टलता नहीं। (१ १) जब फल कर्माधीन है तो फिर देवताओं और ब्रह्मा से क्या प्रयोजन है कर्म ही बड़ा है। अतः उनको ही हम प्रणाम करते हैं क्योंकि किए हुए कर्मों को ब्रह्मा भी नहीं मेट सकते। (७४) उस कर्म को नमस्कार है। (७५)

विचार और पुरुषार्थ

पण्डित को अच्छा या बुरा काम करने के पहले अच्छी तरह सोच विचार कर उस कार्य का परिणाम समझ लेना चाहिए। बिना विचार के जो काम किया जाता है उसका परिणाम मर्म स्थल में प्रविष्ट शल्य (भाले) की नोंक की तरह हृदय को जलाने वाला व मरणपर्यन्त विपत्ति को देने वाला होता है। (७७) मनुष्य का आलस्य से बढ़कर कोई शत्रु नहीं है और उद्योग से बढ़कर कोई मित्र नहीं है। उद्योग को करके मनुष्य कष्ट नहीं पाता है। (१) हे सज्जन यदि तुम उत्तम फल भोगना चाहते हो तो उस सत्कर्म का आश्रय करो जिससे दुष्ट लोग भी सज्जन बन जाते हैं, मूर्ख भी पण्डित हो जाते हैं, शत्रु मित्र बन जाते हैं परोक्ष वस्तु उसी क्षण प्रत्यक्ष हो जाती है विष भी अमृत हो जाता है। विघ्न बाधाओं से मुक्त नाना वृक्षों में विश्राम कर वृथा काल क्षेप मत करो। अर्थात् सत्कर्म के बिना सब गुण व्यर्थ है। (१) यद्यपि मनुष्यों को भाग्यानुसार ही फल मिलता है और बुद्धि भी प्रारब्ध के अनुसार ही होती है तथापि बुद्धिमान् मनुष्य को खूब सोच विचार कर ही

काम करना चाहिए। (८९)

नैतिक जीवन

किसी जीव को न सताना, न मारना, दूसरे के धन के हरण करने मे मन व शरीर को रोकना, सत्य बोलना, समय-समय पर यथा शक्ति दान देते रहना, स्त्रियो के सम्बन्ध में वार्तालाप न करना, लोभ के वेग को रोकना, गुरुजनो में विनय, सब प्राणियो पर दया रखना, यही सब शास्त्रो से अनुमोदित सकल जन साधारण धर्म का मार्ग है। (२६)

दुष्टो से कुछ भी न माँगना, बेचारे निर्धन मित्रो से भी कुछ न माँगना, धर्मानुमोदित जीविका का आश्रय करना, प्राण सकट उपस्थित होने पर भी पाप कर्म न करना, विपत्ति मे भी अपनी मनोवृत्ति को नीची नही करना, सन्मार्ग पर चलना, इस प्रकार के तलवार की धार की तरह कठिन इस व्रत का सज्जनो को न जाने किसने उपदेश दिया है? (२८) सम्भ्रम पूर्वक सत्कार करना, किसी का उपकार करके भी उसकी चर्चा तक नही करना, दूसरे के उपकार को सभा में सबके सामने कहना, धन सम्पत्ति पाकर भी घमण्ड न करना, दूसरो की जब बात चले तो उनके प्रति थोडा सा भी अनादर न दिखाना, इस प्रकार तलवार की धार की तरह कठिन इन नियमो का उपदेश, सज्जनो को किसने दिया है। (६४) ऐश्वर्य का भूषण सज्जनता है, पराक्रम का भूषण वाणी को रोकना (किसी को बुरी बात न कहना) है। ज्ञान का भूषण शान्ति, विद्या का विनय, धन का सत्पात्र में देना, तप का भूषण अक्रोध, सामर्थ्य व अधिकार का भूषण क्षमा, और धर्म का भूषण निश्चलता है और पूर्वोक्त सभी गुणो का भूषण शील है जो सभी सम्पत्तियो का मुख्य कारण है। (८३) जिसके अगो में सारे ससार की प्रियतम वस्तु शील विद्यमान रहता है उसके लिए अग्नि जल की तरह ठण्डी हो जाती है, समुद्र छोटी नहर की तरह सुतर हो जाता है, सुमेरु पर्वत छोटी शिला की भाँति सुगम हो जाता है, सिंह भी मृग की तरह शान्त हो जाता है, भयकर सर्प भी माला के सूत की तरह निश्चेष्ट हो जाता है, विष भी अमृत तुल्य हो जाता है। (१०९) सज्जनो की सगति बुद्धि की जडता को नाश करती है, वाणी को सत्य रस से खीचती है, मान को उन्नत करती है, पाप को दूर रखती है, चित्त को प्रसन्न करती है और देश देशान्तरो में कीर्ति को फैलाती है। अत बताओ सत्सगति मनुष्यो के लिए क्या नही करती। (२३) विपत्ति में धैर्य, अभ्युदय में क्षमा, सभा में वाक्पटुता युद्ध मे पराक्रम, यश की इच्छा, शास्त्रो में व्यसन, ये सब महात्माओ के स्वभाव सिद्ध गुण हैं। (६३) जो अप्रिय वचन के लिए दरिद्र हैं, प्रिय वचनो के धनी हैं, अपनी स्त्री मे ही सन्तुष्ट है, दूसरे की निन्दा से दूर रहते हैं, ऐसे महापुरुषो से यह पृथ्वी कही-कही अलकृत है। अर्थात् ऐसे महात्मा बहुत कम होते हैं। (१०५) मन, वचन व शरीर में पुण्य रूपी पवित्र अमृत से परिपूर्ण त्रैलोक्य को भी उपकार परम्परा से उपकृत

करने वाले परकीय गुणरूपी परमाणुओं को भी पर्वत के समान बड़ा बनाकर विकसित हुए अपने मन में प्रसन्न होने वाले सज्जन इस जगत में कितने हैं? अर्थात् बहुत थोड़े हैं। (७०) फलों के आगमन से वृक्ष भी नम्र हो जाते हैं, जल से भरने पर मेघ भी पृथ्वी की ओर नीचे आते हैं, समृद्धि में सज्जन लोग और भी नम्र हो जाते हैं। परोपकारियों का यह स्वभाव ही है। (७१) नम्रता व विनय से ही अपनी उन्नति करने वाले, दूसरों के कार्यों में पूर्ण पुरुषार्थ व उद्योग से प्रयत्न करते हुए अपने कार्यों को सिद्ध करने वाले, बुरे-बुरे शब्दों से निन्दा करने वाले व गाली देने वाले दुष्टों को भी क्षमा से ही पराजित करने वाले आश्चर्यजनक मनोहर ऊँची अवस्था के आचरण वाले, भारतीय सत्पुरुष किसके पूज्य नहीं अर्थात् सभी के पूज्य हैं। सज्जनों की संगति में इच्छा, दूसरों के गुणों में प्रेम, गुरुजनों में नम्रता, विद्या पढ़ने में लगन, अपनी स्त्री में अनुराग, लोकापवाद से भय, शिवजी की भक्ति, अपनी इन्द्रियों और मन को दमन करने की शक्ति, दुष्टों की संगति से दूर रहना, ये उत्तम गुण जिन पुरुषों में हैं उनको हमारा नमस्कार है अर्थात् वे धन्य हैं। ( )

सेवा धर्म

सेवक यदि कम बोलता है तो गूँगा कहा जाता है। बोलने में तेज हो तो बक्की व ज्यादा बोलने वाला कहा जाता है। पास में रहे तो धृष्ट, दूर रहे तो मूर्ख, क्षमा करने वाला हो तो डरपोक, न सहन करने वाला हो तो अकुलीन कहलाता है। इसलिए सेवा धर्म बड़ा ही कठिन है और योगियों की समझ से भी परे है। (५८)

धन का महत्व

जाति चाहे रसातल को चली जाय, गुण उससे भी और नीचे चले जायँ, सदाचार व शिष्टाचार पहाड़ पर से गिर कर समाप्त हो जाय, वंश आग में जल जाय, शूरता रूपी शत्रु पर चाहे वज्र गिरे पर हमें तो केवल एकमात्र धन चाहिए जिस धन के बिना ये समस्त गुणगण तृण के टुकड़े की तरह व्यर्थ हैं। (३९) मनुष्य की वह पहले हुए जो-जो इन्द्रियाँ थीं वे ही काम करने वाली इन्द्रियाँ अब भी हैं, वही नाम है, वही अकुण्ठित बुद्धि है, वही बोल चाल है, परन्तु धन की गर्मी से निकलते ही वह मनुष्य क्षण मात्र में दूसरा सा ही हो जाता है और उसकी मान-मर्यादा, बड़ाई, चतुराई सब चली जाती है यह बड़ा आश्चर्य है। (४) आजकल जिसके पास धन है वही कुलीन है, वही गुणज्ञ, भावुक है, वही वक्ता है, वही सुन्दर है क्योंकि सुवर्ण में ही आजकल सब गुणों का निवास है। (४१) धन की तीन दशायें होती हैं: दान व पुण्य में लगाना, भोग (खाने पीने पहनने) में खर्च होना और (चोर, राजा, अग्नि आदि से) नष्ट होना। जो मनुष्य धन को न देता है और न भोग करता है उसके धन की तीसरी गति होती है। अर्थात् वह धन

यों ही नष्ट हो जाता है। (४३)

भगवान् की कृपा का फल

संसार के समस्त कष्टों को दूर करने वाले अभीष्टप्रद भगवान् जब मनुष्यों पर प्रसन्न होते हैं, तभी सदाचारी पुत्र, सती साध्वी स्त्री, प्रसन्नमुख, दयालु स्वामी, स्नेही मित्र, निश्छलप्राय सेवक, सभी क्लेशों से रहित शान्त और प्रसन्न मन, सुन्दर रूप, स्थिर सम्पत्ति और विद्या से देदीप्यमान् चमकता हुआ मुख मण्डल, ये सब बातें मनुष्य को प्राप्त होती हैं। अर्थात् भगवान् की कृपा के बिना मनुष्य को विद्या, धन, सुख सम्पत्ति आदि नहीं मिलती है। (२५)

कृशता भी शोभायुक्त होती है

सुरत में मर्दित कामुकी नयी नवेली युवती स्त्री याचकों को देने से जिनका धर्म कम हो गया है ऐसे दातागण कृशता में भी शोभा प्राप्त करते हैं। (४४)

प्राप्त करने योग्य वस्तुयें

संसार में लाभ क्या है? गुणियों का संग। दुःख क्या है? मूर्खों का संग। हानि क्या है? समय का व्यर्थ खोना। चतुराई क्या है? धर्म के तत्व में मन लगाना। शूरवीरता क्या है? इन्द्रियों का विजय। प्रियतमा कौन होती है? जो पति की आज्ञा का पालन करती है। सच्चा धन क्या है? विद्या। सुख क्या है? परदेश न जाना। राज्य का सुख क्या है? आज्ञा का ठीक-ठीक पालन होना। (१०३)

सच्ची शोभा

कान की शोभा गुरु से सुने हुए वेद व शास्त्रों से है, कुण्डल से नहीं। हाथ की शोभा दान से है, कंकण से नहीं। दयालुओं के शरीर की शोभा परोपकार से है, चन्दन के लगाने से नहीं। (३)

विद्या ही सर्वश्रेष्ठ धन है

हे राजा लोगो—जो धन चोर को भी नहीं दिखायी देता है और अनिर्वचनीय सुख और आनन्द को सदा देता है, जो रात-दिन बाँटने पर भी बढ़ता ही है, कम नहीं होता, तथा जो प्रलय से भी नष्ट नहीं होता, ऐसा विद्या रूपी धन जिन विद्वानों के पास है उन विद्वानों के आगे अभिमान् व घमण्ड करना छोड़ दो, क्योंकि ऐसे विद्वानों के साथ कौन स्पर्धा कर सकता है। (४)

विद्या की महिमा

विद्या ही मनुष्य का श्रेष्ठ रूप है, विद्या ही गुप्त सुरक्षित धन है, विद्या ही भोग कीर्ति और सुख देने वाली है। अतः विद्या ही सब धनों में श्रेष्ठ है। परदेश में विद्या ही सहायक बन्धु है, विद्या ही परम देवता है। राजाओं के दरबार में विद्या ही पूजी जाती

है कम नहीं। अतः जो विद्या से रहित है वह साक्षात् पशु है। (२)

शुद्ध वाणी सर्वश्रेष्ठ भूषण है

एक संस्कृत वाणी ही मनुष्य को सदा भूषित करती है और भूषण तो नष्ट हो जाते हैं। किन्तु वाणी रूप भूषण सदा पास में ही रहता है। (१९)

सार्थक जीवन

इस परिवर्तनशील संसार में कौन नहीं मरता? और कौन नहीं जन्म लेता? परन्तु उसी का जन्म सार्थक है जिससे वंश समुन्नति को प्राप्त होता है। (१२)

मनुष्य के तीन सर्वश्रेष्ठ रत्न

जो पुत्र अपने सदाचार से पिता को प्रसन्न करे वही पुत्र है। जो पति का ही हित चाहती है वही सच्ची स्त्री है। जो मित्र समान रूप से सुख-दुःख में सहायक हो वही सच्चा मित्र है। ये तीनों रत्न भाग्य से ही इस संसार में पुण्यात्माओं को मिलते हैं। (६)

सच्ची सज्जनता का लक्षण

समृद्धि में सज्जन लोग और भी नम्र हो जाते हैं। (७१)

अभागत्व

जो मनुष्य इस कर्म-भूमि भारत को प्राप्त करके भी तप नहीं करता है वह महा अभागा है। (१)

राजनीति का स्वरूप

राजा की नीति वेश्या की तरह कभी सच्ची कभी झूठी कभी कठोर कभी प्रिय भाषण करने वाली, कभी सदय कभी हिंसा परायण कभी दयालु कभी महालोभी कभी उदार, भूरि व्यय करने वाली तथा प्रचुर आमदनी वाली होती है। अर्थात् राजनीति वेश्या की भाँति समय समय पर नाना रूप बदलती है। (४०)

मूर्खता का कोई इलाज नहीं

जैसे मृणाल तन्तु आदि से मत्त हाथी आदि को बाँधना असम्भव है, वैसे ही सदुपदेश द्वारा दुष्टों को रास्ते पर लाना भी सर्वथा असम्भव है। समस्त उपाधियों को दूर करने के लिए उपाय तो शास्त्रों में बताए गए हैं परन्तु मूर्खों की मूर्खता दूर करने के लिए तो औषधि संसार में नहीं है। (११)

मानव रूप में पशु

जो मनुष्य साहित्य संगीत तथा कला कौशल से हीन है वह सींग पूंछ के बिना भी निरा पशु ही है। (१)

दुर्जन के लक्षण

निर्दयता, विना प्रयोजन लडाई करना, पर धन और पर स्त्री पर मन चलाना, सज्जनो व बन्धु-बान्धवो से द्वेष रखना, यह सब दुष्टो का सहज स्वभाव है। (५२) दुर्जन लोग लज्जावान् सज्जनो मे जडता, व्रत उपवास आदि में ढोग व पाखण्ड, स्वच्छता मे रहने वालो में कपट, शूर मे निर्दयता, मुनि महात्माओ में मूर्खता व अन्ध भक्ति, मीठे बोलने वालो में दीनता, तेजस्वी में घमण्ड, अच्छे बोलने वालो में बकवादीपन, चुप रहने वाले में असामर्थ्य, ये दोप वताते हैं। अत सज्जनो का ऐसा कौन गुण है जिसे दुष्ट लोग कलकित न करते हो। (५४)

दोष और सद्गुण

यदि मनुष्य में लोभ है, तो और दुर्गुणो की क्या आवश्यकता है? यदि चुगली करना रूपी दोप है तो अन्य पापो की क्या आवश्यकता है? यदि सत्य है तो और तपस्याओ का क्या काम है। यदि मन शुद्ध हो तो गगा आदि तीर्थो का क्या काम है? यदि सज्जनता है तो और गुणो से क्या? यदि अच्छी प्रतिष्ठा है तो भूपणो की क्या आवश्यकता है? (५५) यदि अच्छी विद्या है तो धन का क्या काम है? यदि ससार में अपकीर्ति है तो मृत्यु में क्या असर है?

दुर्जन और सज्जन की मित्रता

दुष्टो की मित्रता सवेरे ही छाया की तरह पहले तो वडी होती है और धीरे-धीरे कम होती जाती है, परन्तु सज्जनो की मित्रता दोपहर के बाद की छाया की तरह पहले छोटी रहती है और पीछे वढने लगती है। (२)

नाना प्रकार के मनुष्य

जो मनुष्य अपने स्वाथ की भी उपेक्षा करके परहित कार्यों को मिद्ध करते हैं वे पुरुपो में श्रेष्ठ हैं। जो अपने स्वार्थ की उपेक्षा न करके पर कार्य को वनाने वाले हैं वे भी सज्जन पुरुप हैं, या वे मध्यम कोटि के सज्जन पुरुप हैं और जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरो के कार्य विगाडते हैं वे मनुष्यो में राक्षस हैं। परन्तु जो लोग विना जरूरत ही दूसरो के कार्य की हानि करते हैं वे कौन हैं। यह हम नही जानते हैं। (७५)

शुक्रनीति

महाभारत के शान्ति पर्व मे वतलाया गया है कि ब्रह्मा ने एक लाख अध्यायो में नीति शास्त्र की रचना की। उसको भगवान् शिव ने सक्षेप किया। भगवान् शिव के ग्रन्थ का सक्षेप इन्द्र ने किया और इन्द्र के ग्रन्थ का सक्षेप वृहस्पति ने किया और वृहस्पति के ग्रन्थ का सक्षेप शुक्राचाय ने किया। शुक्रनीति के उसी ग्रन्थ का सक्षिप्त सस्करण हो सकता है, जो कि पीछे किसी ने बना लिया हो।

नीति शास्त्र का उद्देश्य और प्रभाव

नीति शास्त्र समस्त वस्तु का उपकार करता तथा मर्यादा पालन है क्योंकि यह धर्म अर्थ काम और मोक्ष का दाता कहा जाता है। (१–५) समस्त शास्त्र विभिन्न मतों के अनुयायियों द्वारा रच गये हैं, वे केवल उनकी बुद्धि के विकास मात्र हैं उनसे व्यवहारियों का कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। (१–१) समस्त लोक व्यवहार की स्थिति बिना नीति शास्त्र के उसी प्रकार नहीं हो सकती जैसे देहधारियों के देह की स्थिति भोजन के बिना नहीं होती। (१–११) सब सम्मति से यह सिद्ध है कि नीति शास्त्र सभी के अभिकांक्षा (इष्ट वस्तु) का प्रदान करने वाला है इसलिए सब के स्वामी राजा को नीति की भी परमावश्यकता होती है। (१–१२)

आत्मरक्षा की प्रधानता

अपनी (भाग्य) आत्मा पुन प्राप्त नहीं होती और अन्य वस्तुयें सब फिर हो सकती हैं। इसलिए आत्मा की सबसे रक्षा करे क्योंकि यदि जीवित रहेगा तो सैकड़ों को देखेगा। (१–१८९) मारते हुए आततायी गुरू की भी हत्या करे। (१–१५७) समर्थ पुरुष आततायी के मारने से अपनी रक्षा करे क्योंकि वेद की आज्ञा से विद्वान् और ब्राह्मण होते हुए भी द्रोणाचार्य ने युद्ध किया। (४–११४९) ब्राह्मण आततायी हो तो वह शूद्र के समान है। अब आततायी की हत्या करने वाले को कोई दोष नहीं लगता। (४–११५) जो आततायी शस्त्र उठाकर आता है वह यदि याचक हो तो भी उसकी हत्या करनी चाहिए। उसको मारने से भ्रूण हत्या नहीं लगती है। (४–११५१) जो मनुष्य अपनी रक्षा की युक्ति न विचारे वह पशु से भी जड़ है। स्त्री भी चार पुरुष को छिपाने में छल करती है। (४–१२ १) अतः मनुष्य के साथ अवश्य छल करना चाहिए। (४–११) बलवान् मनुष्य के विरुद्ध न यथार्थ भी न कहे। देखे हुए को बिना देखे की तरह तथा सुने को बिना सुने की तरह कर दे। (१–१ २) हिंसा करने वाले की उपेक्षा न करे। शक्ति हो तो उसी क्षण उसका नाश करे। (१–२९) जब तक शत्रु अपने से बलवान् हो तब तक उसे अपने कन्धे पर ले चले पर जब उसका बल नष्ट हो जाय तो पत्थर पर पटके घड़े की भाँति उसे नष्ट कर दे। (१–२२१) जिस देश में राजा विख्यात हो वेद पाठी धनी हो और वैद्य आचारवान् हों, वहाँ एक दिन भी न रहे। (१–४२) जिस राजा के राज्य में नपुंसक स्त्री बालक अत्यन्त क्रोधी मूर्ख साहसी अधिकारी हों वहाँ एक दिन भी न रहे। (४३) जहाँ राजा अविवेकी हो समासद पक्षपात करते हो, विद्वान सन्मार्ग के परित्याग करने वाले हों, और गवाह झूठ बोलने हों वहाँ भी नहीं रहना चाहिए। (१–४४) जहाँ पर दुष्ट स्त्रियाँ और नीच मनुष्यों की प्रबलता हो वहाँ धन मान आस और जीवन की इच्छा न करे। (१–४५) जो गाँव अधर्म से सदा रत रहता हो नीतिहीन भीतर कहीं—

लोभी, अत्यन्त दण्डवाला हो, उस ग्राम का परित्याग कर दूसरी जगह निवास करे। (३-३०६) बुद्धिमान् मनुष्य स्त्री, बालक, रोग, दान, पशु, धन विद्याभ्यास और सज्जन सेवा की एक क्षण भी उपेक्षा न करे। (३-४१) माता, पिता, गुरु, स्वामी, भाई, पुत्र, और मित्र के साथ एक क्षण मात्र भी विरोध न करे और मन मे भी इनका अपकार न करे। (३-५०) अपने कुटुम्बियो के साथ विरोध न करे, तथा बलवान् से स्पर्धा न करे और स्त्री, बालक और वृद्ध से विवाद न करे। (३-५१) विश्वस्त का भी सदा अत्यन्त विश्वास न करे। पुत्र, भाई, स्त्री, मन्त्री तथा अधिकारी का भी विश्वास न करे। क्योकि धन, स्त्री और राज्य का लोभ सभी को अधिक रहता है। (३-७८) विद्या, वीरता, धन, कुल, बल इनसे कभी प्रमत्त न बने तथा अत्यन्त अभिमान न करे (३-८३) महत्व चाहने वाले मनुष्यो को, निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता ये ६ दोष छोड देना चाहिए। (३-५४) आयु, धन घर का छिद्र, मन्त्र, मैथुन, औषधि, दान, मान तथा अपमान इन नव वस्तुओ को भली प्रकार से गुप्त रक्खे। (३-१२४) प्रत्युत्थान (देखकर उठना) सन्मुख, गमन, आनन्द, हँसकर भाषण, उपकार और अपने अभिप्राय, से सदा जगत् को वश में करे। (३-४८) प्रेम, समीपवास, स्तुति, नमस्कार सेवा, कौशल कला, कथा, ज्ञान, आदर, नम्रता, शूरता, दान, विद्या आदि के द्वारा जगत् को वश में करे। (३-४७) ये वश में करने के उपाय दुर्जन के लिए निष्फल हो जाते हैं। (३-४८) दुष्टों का साथ छोड दे, अथवा यदि समर्थ हो तो दण्ड से उन्हे जीते। (३-४९) देशो का भ्रमण, राज सभा मे गमन, शास्त्र का चिन्तन, वेश्या का परिचय, विद्वान् की मित्रता, इनको आलस्य रहित होकर करे। (३-१२५-२६) सूण्डवालो नख (पन्जो) वालो, दन्तवालो, का दुर्जन को, नदियों का और स्त्रियो का विश्वास न करे। (३।१३७) भोजन करता हुआ मार्ग में न चले, हसता हुआ सम्भाषण न करे, नष्ट हुई वस्तु का शोक न करे, और अपने कृत्य का कथन न करे। (३-१३८) जिस पर शका हो उसके साथ, तथा नीच की सेवा का परित्याग करना चाहिए तथा किसी के सम्भाषण को कदाचित् भी छिपकर न सुने। (३-१३९) प्रेम और द्वेष विचार कर करे, और इन्हें करके परिवर्तित न करे। (३-२०९) किसी का उपकार या उपकार बिना विचारे न करे, क्योकि ये दोनो अनर्थकारी होते हैं। (३-२१०) अति क्रूरता, अति शठता, अति मृदुता, अति वाद, अत्यन्त कार्यों में आसक्ति, अत्यन्त आग्रह आदि नही करना चाहिए, क्योकि अति सब जगह नाश का कारण होता है। अत अति का परित्याग करना चाहिए। (३-२११) क्रूरता से मनुष्य उद्विग्न होता है, कृपणता से अति निन्दा को प्राप्त होता है, मृदु को कोई गिनता नही, और अत्यन्त वाद से अपमान होता है। (३-२१२) अत्यन्त दान से दरिद्रता, अत्यन्त लोभ से तिरस्कार, और अत्यन्त आग्रह से मनुष्य की निश्चय मूर्खता होती है। (३-२१३) कठोर वचन

से मित्र भी तत्काल शत्रु हो जाता है क्योंकि कठोर वचन के शल्य को मन से कोई नहीं उखाड़ सकता। (१–२२२) अति भोजन अति उपवास अति मैथुन अति परिश्रम, ये चारों मनुष्य के लिए शीघ्र बुढ़ापा लाती हैं और सम्पूर्ण विद्याओं और कलाओं का अभ्यास न करना जरा करने वाला होता है। (१–२९) स्तुति करने से देवता भी वश में हो जाते हैं तो मनुष्यों को क्या कहना। (१–२९१) कोई भी प्रत्यक्ष दुर्गुणों को नहीं कहता इसलिए अपने दुर्गुणों को लोक और शास्त्र से स्वयं विचारे। (१–२९१) और अपने दुर्गुणों को सुनकर न तो सन्तुष्ट हो और न क्रुद्ध हो (१–२९४) दूसरे के घर जाकर उसकी स्त्री को कभी न देखे। (१–१ ४) लोक के द्वारा या शास्त्र द्वारा त्याज्य कर्मों को जान कर बुद्धिमान् उनका परित्याग करे, तथा न्याय के समान प्रतीत होने वाले अन्याय की मन से भी चिन्ता न करे। (१–१४) राजा, देश कुल जाति इनके उत्तम धर्म में दोष न लगावे तथा सामर्थ्य रहने पर भी लौकिक आचरण का उल्लंघन न करे। (१—१२) कीड़े, चींटी इनको सदा अपने समान देख और अपकार करने योग्य शत्रु का भी उपकार ही करे। (१–९) दूसरे को अपना शत्रु तथा अपने को दूसरे का शत्रु प्रकाशित न करे। स्वामी का अपमान तथा स्नेह का अभाव भी प्रकट न करे। (१–१२)

पुरुषार्थ का महत्व

बुद्धिमान् तथा माननीय चरित्र वाले मनुष्य पुरुषार्थ को बड़ा मानते हैं और पुरुषार्थ करने में असमर्थ नपुंसक दैव की उपासना करते हैं। (१–४८) प्रारब्ध और पुरुषार्थ में ही समस्त जगत् प्रतिष्ठित है। पूर्व जन्म का किया कर्म प्रारब्ध (दैव) और इस जन्म का किया पुरुषार्थ रूप से है। अतः एक ही कर्म दो प्रकार से किया गया है।(१–४९) दुर्बल कर्म का प्रतिकार करने वाला सदा बलवान् होता है और कर्मों की सबलता दुर्बलता का ज्ञान, फल प्राप्ति से प्राप्त होता है अन्यथा नहीं। (१–५) जहाँ फल प्राप्ति का कारण प्रत्यक्ष नहीं दीखता वहाँ पूर्व जन्म में किए कर्म का फल उसे कहना चाहिये क्योंकि बिना कारण का कोई कार्य हो नहीं सकता। (१–५१)

दैव का प्रभाव

जब दैव अनुकूल रहता है तो स्वल्प क्रिया ही सफल होती है। (१–५०) दैव के प्रतिकूल रहने पर महान् भी सत्कर्म अनिष्ट फलदायक होता है। (१–५८) इस संसार में सुगति तथा दुर्गति का क्रम ही कारण है। पहले के कर्म प्रारब्ध कहलाते हैं, क्या कोई क्षण भर भी बिना कर्म रह सकता है। (१–१०)

धर्म महिमा

जो अपने धर्म में स्थित है वही इस लोक में तेजस्वी होता है। (१–२१) अपने धर्म के बिना सुख नहीं होता, तथा अपना धर्म ही परम तप है। तप स्वधर्म रूप है, अत

स्वधर्म उससे सदा बढ़ता है। (१–२४) धर्मज्ञ मनुष्य के देवता भी सेवक होते हैं, तो मनुष्य क्यों नही होंगे। (१–२५) धर्म के विना सुख नही हो सकता, अत धर्म में तत्पर रहना चाहिए (३–२) समस्त प्राणियों की अहिंसा परम धर्म है। (१–१५८) कीड़े, चींटी आदि को भी सदा अपने समान देखे तथा अपकार के योग्य शत्रु के साथ भी उपकार ही करे। (३–९) समस्त प्राणियो पर दया तथा मित्रता, दान और मधुर वाणी के समान वशीकरण और कोई तीनो लोक में नही है। (१–१७०) सत्य तथा परोपकार को अत्यन्त पुण्य कारण कहा जाता है। (२–२०४) समस्त पापो से हिंसा प्रवल है। तथा झूठ उससे भी अधिक प्रवल है। अत हिंसा और असत्य भाषण में रत नौकरो को न रखे। (२–२०५) विद्वान अनय से युक्त आजीविका की कभी चेष्टा न करे और जो जिस कार्य में नियुक्त हो उसी में तत्पर रहे। (२–२२७) हिंसा, चोरी, दुष्ट कर्म, चुगली, कठोरता, झूठ, भेद, वृथावचन, द्रोह चिन्ता और दृष्टि की विषमता ये दस प्रकार के पाप देह, वाणी और मन से होते हैं, अत इनका तीनो से परित्याग करे। (३–७–८) सम्पत्ति और विपत्ति में एक रस मन रक्खे, कार्य के कारण में ईर्ष्या करे, फल में नही। समय पर हित, मित यथार्थ और सुन्दर वचन वोले। (३–१०) धर्म का तत्व गहन है, अत सत्पुरुषों द्वारा आचरित धर्म और वेद स्मृति तथा पुराणों द्वारा प्रतिपादित कर्म ही पण्डित को करना चाहिए। (३–३८) दूसरे के धर्म का ग्रहण न करे और किसी से कभी द्रोह न करे। नीच कर्म और नीच गुण वाले पुरुषो और स्त्रियो के साथ एक आसन पर कभी न वैठे। (३–५३) कभी किसी का अहित न तो करे और न मन से सोचे। जिसके करने से तीनो काल में दृढ़ सुख मिले वही कार्य करे (३–१५३) मैं मृत्यु के मुख में वैठा हूँ, मेरी आयु एक क्षण भी नही है, ऐसा मान कर यथेष्ट दान धर्म करे। (३–२००) विना आचरण किए धर्म की हानि और अत्यन्त आचार से मूर्खता होती है। (३–२१४) मैं सबसे बडा हूँ मैं सबसे अधिक ज्ञानवान् हूँ और यही धर्म का तत्व है अन्य नही, बुद्धिमान ऐसा न माने। (३–२१५) अलकार, राज्य, पुरुषार्थ, विद्या, धन आदि से मनुष्य की वैसी शोभा नही होती जो सौजन्य (भलाई) रूप भूषण से होती है। (३–२२४) दुष्टो की हिंसा वेद प्रति पादित पशु की हिंसा की भाँति हिंसा नही मानी जाती है। (४–४७) कल्पित हो अथवा श्रुति के अनुसार हो, तथा जिसको लोको ने सिद्ध सत्य मान लिया हो, वह देश देश और कुल-कुल मे भिन्न होने के कारण देश धर्म कहलाता है। (४–३०५) जिसकी वहुत जन स्तुति करते हैं, वह धर्म है तथा जिसकी वहुत जन निन्दा करते हैं वह अधर्म है ही, क्योकि धर्म के गहन तत्व को कोई भी नही जान सकता है। (४–१२–८१)

अर्थ

गुणवान् होने पर भी निर्धन को स्त्री-पुत्र आदि त्याग देते हैं। इसलिए ससार के

है मित्र भी तत्काल शत्रु हो जाता है, क्योंकि कठोर वचन के शस्य को मन से कोई नहीं उखाड़ सकता। (१–२२२) अति भ्रमण अति उपवास अति मैथुन अति परिश्रम, ये वस्तुयें मनुष्य के लिए शीघ्र बुढ़ापा लाती हैं और सम्पूर्ण विद्याओं और कलाओं का अभ्यास न करना जरा करने वाला होता है। (१–२९) स्तुति करने से देवता भी वश में हो जाते हैं तो मनुष्यों को क्या कहना। (१–२९१) कोई भी प्रयत्न दुर्गुणों को नहीं करता इसलिए अपने दुर्गुणों को लोक और शास्त्र से स्वयं विचारे। (१–२९२) और अपने दुर्गुणों को सुनकर न तो सन्तुष्ट हो और न क्रुद्ध हो (१–२९४) दूसरे के घर जाकर उसकी स्त्री को कभी न देखे। (१–१ ४) लोक के द्वारा या शास्त्र द्वारा त्याज्य कर्मों को जान कर बुद्धिमान् उनका परित्याग करे तथा न्याय के समान प्रतीत होने वाले अन्याय की मन से भी चिन्ता न करे। (१–१४) राजा देश कुल जाति इनके उत्तम धर्म में दोष न लगावे तथा सामर्थ्य रहने पर भी लौकिक आचरण का उल्लंघन न करे। (१–१२) कौड़े चींटी इनको सदा अपने समान देखे और अपकार करने योग्य शत्रु का भी उपकार ही करे। (१–९) दूसरे को अपना शत्रु तथा अपने को दूसरे का शत्रु प्रकाशित न करे। स्वामी का अपमान तथा स्नेह का अभाव भी प्रकट न करे। (१–१२)

पुरुषार्थ का महत्व

बुद्धिमान् तथा माननीय चरित्र वाले मनुष्य पुरुषार्थ को बड़ा मानते हैं और पुरुषार्थ करने में असमर्थ नपुंसक दैव की उपासना करते हैं। (१–४८) प्रारब्ध और पुरुषार्थ में ही समस्त जगत् प्रतिष्ठित है। पूर्व जन्म का किया कर्म प्रारब्ध (दैव) और इस जन्म का किया पुरुषार्थ कम से है। अत: एक ही कर्म दो प्रकार से किया गया है। (१–४९) दुर्बल कर्म का प्रतिकार करने वाला तथा बलवान् होता है और कर्मों की सफलता दुर्बलता या बाल फल प्राप्ति से प्राप्त होता है अन्यथा नहीं। (१–५) जहां फल प्राप्ति का कारण प्रत्यक्ष नहीं दीखता वहां पूर्व जन्म में किए कर्म का फल उसे कहना चाहिये क्योंकि बिना कारण का कोई कार्य हो नहीं सकता। (१–५१)

दैव का प्रभाव

जब दैव अनुकूल रहता है तो स्वल्प क्रिया ही सफल होती है। (१–५७) दैव के प्रतिकूल रहने पर महान् भी सत्कर्म अनिष्ट फलदायक होता है। (१–५८) इस संसार में सुगति तथा दुर्गति का कर्म ही कारण है। पहले के कर्म प्रारब्ध कहलाते हैं, क्या कोई क्षण भर भी बिना कर्म रह सकता है। (१–१७)

धर्म महिमा

जो अपने धर्म में स्थित है वही इस लोक में तेजस्वी होता है। (१–२१) अपने धर्म के बिना सुख नहीं होता तथा अपना धर्म ही परम तप है। तप स्वधर्म रूप है, अत

स्वधर्म उससे सदा बढ़ता है। (१–२४) धर्मज्ञ मनुष्य के देवता भी सेवक होते हैं, तो मनुष्य क्यो नही होगे। (१–२५) धर्म के बिना सुख नही हो सकता, अत धर्म में तत्पर रहना चाहिए (३–२) समस्त प्राणियो की अहिंसा परम धर्म है। (१–१५८) कीडे, चींटी आदि को भी सदा अपने समान देखे तथा अपकार के योग्य शत्रु के साथ भी उपकार ही करे। (३–९) समस्त प्राणियो पर दया तथा मित्रता, दान और मधुर वाणी के समान वशीकरण और कोई तीनो लोक में नहीं है। (१–१७०) सत्य तथा परोपकार को अत्यन्त पुण्य कारण कहा जाता है। (२–२०४) समस्त पापो से हिंसा प्रबल है। तथा झूठ उससे भी अधिक प्रबल है। अत हिंसा और असत्य भाषण मे रत नौकरो को न रखे। (२–२०५) विद्वान अनर्थ से युक्त आजीविका की कभी चेष्टा न करे और जो जिस कार्य में नियुक्त हो उसी में तत्पर रहे। (२–२२७) हिंसा, चोरी, दुष्ट कर्म, चुगली, कठोरता, झूठ, भेद, वृथावचन, द्रोह चिन्ता और दृष्टि की विषमता ये दस प्रकार के पाप देह, वाणी और मन से होते हैं, अत इनका तीनो मे परित्याग करे। (३–७–८) सम्पत्ति और विपत्ति में एक रस मन रक्खे, कार्य के कारण में ईर्ष्या करे, फल में नही। समय पर हित, मित यथार्थ और सुन्दर वचन बोले। (३–१०) धर्म का तत्व गहन है, अत सत्पुरुषो द्वारा आचरित धर्म और वेद स्मृति तथा पुराणो द्वारा प्रतिपादित कर्म ही पण्डित को करना चाहिए। (३–३८) दूसरे के धर्म का ग्रहण न करे और किसी से कभी द्रोह न करे। नीच कर्म और नीच गुण वाले पुरुषो और स्त्रियो के साथ एक आसन पर कभी न बैठे। (३–५३) कभी किसी का अहित न तो करे और न मन से सोचे। जिसके करने से तीनो काल में दृढ सुख मिले वही कार्य करे (३–१५३) मैं मृत्यु के मुख में बैठा हूँ, मेरी आयु एक क्षण भी नहीं है, ऐसा मान कर यथेष्ट दान धर्म करे। (३–२००) विना आचरण किए धर्म की हानि और अत्यन्त आचार से मूर्खता होती है। (३–२१४) मैं सबसे बडा हूँ मैं सबसे अधिक ज्ञानवान् हूँ और यही धर्म का तत्व है अन्य नही, बुद्धिमान ऐसा न माने। (३–२१५) अलकार, राज्य, पुरुषार्थ, विद्या, धन आदि से मनुष्य की वैसी शोभा नही होती जो सौजन्य (भलाई) रूप भूषण मे होती है। (३–२२४) दुष्टो की हिंसा वेद प्रति पादित पशु की हिंसा की भाँति हिंसा नही मानी जाती है। (४–४७) कल्पित हो अथवा श्रुति के अनुसार हो, तथा जिसको लोको ने सिद्ध सत्य मान लिया हो, वह देश देश और कुल-कुल मे भिन्न होने के कारण देश धर्म कहलाता है। (४–३०५) जिसकी बहुत जन स्तुति करते हैं, वह धर्म है तथा जिसकी बहुत जन निन्दा करते हैं वह अधर्म है ही, क्योकि धर्म के गहन तत्व को कोई भी नही जान सकता है। (४–१२–८१)

अर्थ

गुणवान् होने पर भी निर्धन को स्त्री-पुत्र आदि त्याग देते हैं। इसलिए ससार के

व्यवहार के लिए धन ही सार माना जाता है। (१–१७१) मनुष्य अर्थ का दास होता है और अर्थ किसी का दास नहीं होता। अतः यत्न पूर्वक सदा अर्थ के लिए प्रयत्न करना चाहिए। (४–१२८३) जिस किसी वृत्ति के आश्रयण से धन हो उसी वृत्ति का आश्रयण करे। (१–१५८) माया के बिना मनुष्यों को महाधन नहीं मिल सकता। परधन के हरण किए बिना कोई महाधनी नहीं बन सकता और बिना माया किए वह धन अपनी इच्छानुसार नहीं मिल सकता है। (४–१२७७।७८) धनवान् मनुष्य के द्वार पर गुणवान् मनुष्य किंकर (नौकर) के समान बैठ रहते हैं। धनवान् मनुष्य के दोष-गुण और निर्धन के गुण दोष हो जाते हैं। सभी निर्धन की ही निन्दा करते हैं। (१–१७६।१८) मैं सौ वर्षों तक जीऊँगा और धन से आनन्द भोग करूँगा इस प्रकार भावना रख कर विद्या और धन का सदा संचय करे। (१–१७१।१७२) सभी जब तक धनवान् रहता है तब तक सभी उसकी सेवा करते हैं। (१–१७५) विद्या के अभिलाषी को क्षण और धन के अभिलाषी को कण का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए। गुरु की पुत्र तथा दान के लिए नित्य धन का अर्जन करना चाहिए। बिना इसके धन और कण से क्या लाभ। देते समय धन मित्रता का और लेते समय शत्रुता का कारण होता है। (१–१८०) लेखनी स्त्री धन और पुस्तक दूसरे को नहीं देनी चाहिए। यदि दूसरे के आधीन होने के बाद दैव से वे मिल भी जायें तो क्रम से भ्रष्ट नष्ट, और मसल किए हुए ही मिलते हैं। (१–२१७।२१२) बुद्धिमान् मनुष्य अभिमान वश कभी भी अल्प कारणवश बहुत धन का परित्याग तथा बहुत धन के व्यय से अल्प कार्य की सिद्धि न करे। (१–१२८।२१०) पण्डित को अधिक व्यय वाला काम नहीं करना चाहिए। उद्योगी मनुष्य उस छोटे काम को भी करे जिससे अधिक लाभ होता हो। (१–२५१) धन से धर्म काम और मोक्ष ये तीनों मनुष्य को प्राप्त होते हैं। (४–१२८४)

काम

समस्त प्राणियों की सभी प्रवृत्तियाँ सुख के लिये ही होती हैं। (१–१) परतन्त्रता में बड़ा दुःख और स्वतन्त्रता में बड़ा सुख नहीं है जो गृहस्थ अल्पभाषी और स्वतन्त्र होता है वह सदा सुखी रहता है। (१–३१) मृगया द्यूत स्त्री और मदिरापान ये मनुष्यों के व्यसन कहे जाते हैं। इन चारों का परित्याग करे तथा कहीं कहीं अविरक्त इनका उपभोग करे। (१–१५२) मूर्ख पुत्र विधवा कन्या क्रूरी स्त्री, दरिद्रता नीच की सेवा, भिन्न पर्यटन ये ६ सुख कारक नहीं होते हैं। (१–२१३।२१४) जो मनुष्य श्रेष्ठ, रूपवान् तथा विद्वान् अधिक बलवान होकर भी स्त्रियों की यथेष्ट कामना नहीं करता है वह सुख का भोगी नहीं होता। (१–२५) जो स्त्री की यथेष्ट कामना करता है उसके वश में स्त्री हो जाती है। (१–२५१) अत्यन्त दान तप तथा शप इस लोक में दरिद्रता के कारण

होते हैं। जिस काम में धर्म और अर्थ न हो वह काम निरर्थक होता है। (४-१०८०) अपने में अनुरक्त सुन्दर स्वरूप वाली सुवस्त्र वाली, प्रिय बोलने वाली, सुन्दर गुणों से युक्त और शुद्ध स्त्री के साथ शय्या पर रमण करे। (१-३७८) न तो इन्द्रियों को अधिक पीड़ा दे और न अधिक लालन करे, क्योंकि प्रमाद करने वाली इन्द्रियां बलात् मन को हर लेती है। (१-१४) समय पर हितकारी तथा प्रमित भोजन और विहार करे, यज्ञ के शेष को भोजन करे। (३-१०७) विहार, भोजन, मलमूत्र त्याग इनको सदैव एकान्त में करे। नित्य उद्यमी हो तथा युक्त से व्यायाम का अभ्यास करे। (३-१०८) पहले और पिछले पहर को छोड़कर रात्रि में सोना श्रेष्ठतर होता है। (३-१११) तरुणी स्त्री को स्वतन्त्र करके कहीं न जाय, युवती स्त्री अनर्थ का मूल होती है और यदि वह दूसरों के साथ हो तो कहना ही क्या है। (३-११५-११६)

वर्ण

इस जगत् में जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र म्लेच्छ नहीं होते किन्तु गुण और कर्म के भेद से होते हैं। (१-३८) समस्त जीव ब्रह्म से उत्पन्न होने मात्र से क्या ब्राह्मण हो सकते हैं वर्ण या पिता से ब्रह्म तेज की प्राप्ति नहीं होती है। (१-३९) ज्ञान कर्म देवता आदि की उपासना देवता के आराधना में तत्पर और शान्त, दान्त और दयालु जो मनुष्य है वही गुणो से ब्राह्मण होता है। (१-४०) जो मनुष्य लोक की रक्षा करने में चतुर, शूरवीर, दान्त, पराक्रमी और दुष्टों को दण्ड देने वाला होता है, वह क्षत्रिय कहलाता है। (१-४१) जो खरीद बिक्री में चतुर, व्यापार से जीवन निर्वाह करते वाले पशु रक्षा तथा खेती करने वाले होते हैं, उन्हे पृथ्वी पर वैश्य कहा जाता है। (१-४२) ब्राह्मण की सेवा और पूजन से तत्पर शूर-वीर, शान्त, जितेन्द्रिय हल, काष्ठ, तृण इनको ले जाने वाले जो नीच हैं, वे शूद्र कहलाते हैं। (१-४३) जो अविवेकी मनुष्य अपने धर्म के आचरण का परित्याग करने वाले हो, निर्दय और दूसरे को कष्ट देने वाले हो, चड और हिंसक हो, उन्हे म्लेच्छ कहा जाता है। (१-४५) यज्ञ करना, पढना, दान देना, ये द्विजातियों के कम है। प्रतिग्रह, यज्ञ कराना और पढाना, ये तीन कम ब्राह्मण के अधिक हैं। (४-२५७) सज्जनों की रक्षा, दुष्टों का नाश, अपने भाग को लेना, क्षत्रिय के और खेती, गोरक्षा तथा व्यापार वैश्यो के अधिक कर्म कहे गए हैं। (४-२५८) दान और सेवा आदि नीच कर्म शूद्र के कहे गए हैं। काम के भेद से नौकरी सबके लिए निन्दित कम मानी जाती है। (४-२५७) विभिन्न क्रियाओं के भेद से कला में भेद होता है और जो जिस कला का आश्रयण करते हैं उनकी जाति उसी कला के नाम पर रक्खी जाती है। (४-३०७) चौथा वर्ण होने के नाते शूद्र भी धम के योग्य है। वेद के मन्त्र स्वाहा, स्वधा, वषट्कार आदि में अधिकार न होने पर भी केवल पुराणोक्त नमोन्त मन्त्रों से ही शूद्र का कर्म होता

है। (४–१६८।१६९)

आश्रम

ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ यति (सन्यासी) क्रम से ये चार आश्रम बतलाये गए हैं। ये चारों आश्रम ब्राह्मणों के लिए तो सदा विहित हैं। सन्यास को छोड़कर शेष वैश्य और शूद्र के तीन आश्रम होते हैं। (४–२३९।३४) विद्या के लिए ब्रह्मचर्य। सबका पालन करने के लिये गृहस्थ। इन्द्रियों के दमन के लिए वानप्रस्थ और मोक्ष की सिद्धि के लिए सन्यास आश्रम है। (४–३४१)

ब्रह्मचर्य (विद्या)

विद्या धन सब से श्रेष्ठ धन है। यह समस्त अन्य धनों का मूल है। यह दान करने से नित्य बढ़ता है, भार करने वाला नहीं होता तथा इसे कोई भी नहीं ले सकता। (३–१७३।१७५) मैं सौ वर्ष तक जीऊँगा और धन से आनन्द का उपभोग करूँगा यह समझ कर सदा विद्या और धन का सञ्चय करना चाहिए। (३–१७३)

गृहस्थ

बुद्धिमान् मनुष्य के लिए जगत् के लोग ही समस्त कार्यों के लिए आचार्य हैं अतः लौकिक कार्यों की परीक्षा करने वाला लोक का ही अनुकरण करे। (३–११) जो मनुष्य स्त्री में अत्यन्त आसक्त नहीं होता उसी को स्त्री सुखदायक होती है क्योंकि गृह कार्य में उसके बिना अन्य कोई सहायक नहीं होता। (१–११४) अधिक मदिरा पीने वाले की बुद्धि का नाश हो जाता है। किन्तु समान मात्रा में पी हुई मदिरा प्रतिभा बुद्धि की विशदता (स्वच्छता) धीरता और चित्त के निश्चय को विस्तृत करती है। परन्तु विपरीत होने पर विनाश का कारण होती है। काम और क्रोध ये मदिरा से भी अधिक मद करने वाले होते हैं। अतः इनका यथोचित उपयोग करे। (१–११५।११६) साधक अभिमान छोड़कर, अच्छी विद्या मन्त्र औषधि तथा उत्तम स्त्री को यत्नपूर्वक नीच कुल से भी ग्रहण करे। (३–७१) नष्ट हुई वस्तु की उपेक्षा करे और प्राप्त वस्तु को ग्रहण करे। बालक तथा स्त्री को न अत्यन्त प्यार करे और न अत्यन्त ताड़ना ही दे। (३–९४) मित्र भाई और बन्धु की सेवा अपने समान मान कर करे, तथा घर पर आये हुए नीच अतिथि की भी यथा योग्य सदा पूजा करे। (३–१) अपनी शक्ति के अनुसार अन्न आदि देकर और कुशल प्रश्न पूछ कर उसकी सेवा करे। (३–१ १) बुद्धिमान् गृहस्थ युवती कन्या को तथा पति समेत बहन को अपने घर में न बसावे। यदि वे अनाथ हों तो उनका पालन करे। (३–१ ।१ २) मनुष्य शुभ अवसर पर उचित व्यय करे। अनवसर खर्च न करे। धन से अपनी शक्ति के अनुसार स्त्री पुत्र और मित्रों की रक्षा करे। (३–१८८) अहङ्कारी होकर पालन करने योग्य पुत्र आदि का भली भाँति पालन करना चाहिए। और धन के

बिना एक दिन भी व्यतीत नही करना चाहिए। (३–१९९) सुन्दर भार्या, अच्छी सन्तान, उत्तम विद्या, उत्तम धन, उत्तम मित्र, उत्तम दास और दासी, श्रेष्ठ देह, अच्छा घर, और श्रेष्ठ राजा, ये गृहस्थी के सुख के कारण हैं। इनके बिना सुख सम्भव नही। (३–२८१।१८२) जो मनुष्य धन सचय करना जानता है, और उस सचय की रक्षा भली प्रकार नहीं कर सकता, उससे परे कोई मूर्ख नही, क्योकि उसका सचय करना व्यर्थ होता है। जो मनुष्य एक के अधिकार वाले काम मे दो को अधिकृत करता है, तथा जिसके जीवित दो स्त्रियाँ हैं, और जो अतिविश्वास करता है उससे अधिक कोई मूर्ख नही। जो मनुष्य महालोभी हो, और जिसको हाव-भाव से स्त्रियो ने जीत लिया हो, और जो मनुष्य चोर, जार और हिंसक इनको साक्षी पूछे वह भी मूर्ख है। (४–१५१।१५२।१५३) कृपण के समान धन की रक्षा करे और विरक्त के समान समय पर खर्च करे तथा वस्तु को यथार्थत जानने के लिए सदैव स्वय यत्न करे। (४–१५४) शस्त्र अस्त्र के बिना शूरता, तथा स्त्री के बिना गृहस्थ जीवन निरर्थक हो जाते हैं। (४–१२८८)

सन्यासी

ये दो मनुष्य, योग युक्त सन्यासी, और युद्ध में सम्मुख मरा हुआ योद्धा, सूर्य मण्डल का भेदन करने वाले होते हैं। (४–११४८।११४९)

राजधर्म

जो राजा अपना तथा अपनी प्रजा का दोष देखता है वह उत्तम है। (४–६४) राजा प्रथम अपना, तब भृत्यो का तदनन्तर प्रजा का शरीर, वचन, मन तथा ससर्ग से नियमन करे। (४–६५) न तो युग का कोई दोष होता है, और न प्रजा का। समस्त दोष राजा के ही होते हैं। क्योकि जिस कार्य मे राजा प्रसन्न होता है, वही कार्य मनुष्य करते हैं। (४–५६) राजा की दी हुई शिक्षा लोभ से अथवा भय से प्रजा क्यो नही करेगी? (४–५७) जहाँ राजा पुण्यवान् होता है, वहाँ प्रजा भी धर्मिष्ठ होती है। जहाँ राजा पापी होता है, वहाँ मनुष्य भी अधर्म में तत्पर हो जाते हैं। (४–५८) पापी राजा के राज में न समय पर पानी बरसता है और न पृथ्वी में अधिक फल होते है। (४–५८) जब तक राजा धर्मशील रहता है तभी तक वह राजा होता है। अधर्मशील होने पर प्रजा नष्ट हो जाती है और राजा भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। (४–११०) देश के धर्म, जाति धर्म, तथा सनातन कुल धर्म, मुनियो के कहे नये या पुराने सभी धर्मो को राष्ट्र की रक्षा के लिए अच्छे राजा को यत्नपूर्वक धारण करना चाहिए। धर्म की स्थापना से राजा लक्ष्मी और कीर्ति प्राप्त करता है। (४–१५०।१५४) धर्म और अधर्म की प्रवृत्ति में राजा ही कारण होता है। (४–१२४०) जो राजा केवल दोपहर शयन करता है वह अत्यन्त सुख भोगता है। (१–३७९) अपने स्थान से भ्रष्ट दांत, केश, नख और राजा शोभा नही

पति वना ले। (३–२०।३–२।३–२१) अपने उक्त दुर्गुणो को छोडकर पुरुष वस्त्र, अन्न, भूषण, प्रीति और कोमल वाणी से अपनी शक्ति के अनुसार सदा स्त्रियों की रक्षा करे। (३–२२) एक पुरुष को दो स्त्रियाँ एक साथ नही रखना चाहिए। (३–१९१) दूसरे की स्त्री तथा कुलीन कन्या के दूषण से परामुख रहे। (१–३८४) इस प्रकार की स्त्री से जो वेश्या के समान निर्लज्ज, भावयुक्त, श्रृगार रस के तन्त्र की जानकार, सुन्दर अगो वाली, मनोरमा, नवयौवना, ऊँचे कठोर स्तनोवाली और हसने वाली हो। (२–१९०–१)

सज्जन दुर्जन

जो मनुष्य अपने करने योग्य और किये काम को नही कहता तथा अपनी स्त्री के कथन को विना अनुभव किये, सत्य नही मानता, वह उत्तम पुरुष है। (३–१६०) साधुओं के प्रति छोटा भी उपकार किया जाय तो वह महान् हो जाता है, परन्तु दुष्ट मनुष्य महान् उपकार को सरसो मे भी छोटा मानते हैं। (३–२१७।२७८)

स्त्री के विशेष कर्तव्य

देवता की पूजा स्त्री और शूद्र अपने पति की आज्ञा के विना न करे। पति से पृथक् स्त्रियो को धर्म, काम सम्वन्धी किसी विधि का विधान नही है। स्त्री पति से पहले उठकर, देह की शुद्धि करके, शय्या से वस्त्रो को उठावे और घर को शुद्ध करे।

मार्जन तथा लीपन के द्वारा अग्नि शाखा और आँगन को शुद्ध करे, तथा यज्ञ के चिकने पात्रो को गर्म जल से धोवे। उनको धोकर उन्हे यथा स्थान रक्खे तथा पात्रो को शुद्ध कर उनमें जल भर कर रक्खे। रसोई घर से समस्त पात्रो को वाहर निकाल कर धोवे तथा चूल्हे को मिट्टी से लीपकर अग्नि और ईधन उसमे रख दे। नियोग के पात्रो का, रस, अन्न और द्रव्य का स्मरण तथा प्रात काल के कामो को करके सास तथा श्वसुर को नमस्कार करे। सास-श्वसुर, माता-पिता, भाई, मातुल और वान्धवो ने जो वस्त्राभूषण दिए हो उन्हे ही धारण करे। मन, वचन और कर्म से शुद्ध, पति की आज्ञा माननेवाली, छाया के समान पीछे चलने वाली, तथा मित्र के समान हित करने वाली रहे। इष्ट कामो में स्त्री अपने पति की दासी के समान रहे। अन्न को सिद्ध करके पति को निवेदन कर, वैश्य देव से वचे हुए को कुटुम्व के मनुष्यो को खिलावे, पति को खिलाकर उसकी आज्ञा से शेष अन्न को खाये तथा भोजन के उपरान्त शेष दिन को आय और व्यय की चिन्ता में ही वितावे। प्रति साय, प्रति प्रात इसी प्रकार घर की शुद्धि करके और भोजन वनाकर भृत्यो समेत पति को खिलावे। आप अधिक न खाकर घर के नियमो का सम्पादन करे, भली प्रकार शय्या को विछा कर पति की सेवा करे। जव पति सो जाय तो आप भी उसके समीप, उसमें ही मन लगाकर सो जाय। नगी न सोवे, मतवाली न वने, काम का त्याग करे, तथा इन्द्रिया पर विजय प्राप्त करे। पति से उच्च स्वर मे तथा कठोर और अप्रिय

वचन न बोले किसी के साथ विवाद लड़ाई न करे और व्यर्थ न बोले। पति के धन में से बहुत खर्च न करे, धर्म तथा धन को नष्ट न करे, प्रमाद मद उन्माद, रोष ईर्ष्या तथा निन्दा न करे। चुगली हिंसा मोह अहंकार, अभिमान् नास्तिकता साहस चोरी और दम्भ इन सबको साध्वी स्त्री त्याग दे। इस प्रकार जो स्त्री परम देवता स्वरूप पति की सेवा करती है वह इस लोक में यश तथा मरने के पश्चात् पति लोक प्राप्त करती है।

यह स्त्रियों का नित्य कर्म बताया गया अब उन नैमित्तिक कर्मों को बताते हैं—

रजोदर्शन होने पर स्त्री सब का परित्याग कर ऐसे भीतर के घर में बैठे जहाँ कोई न देखे। एक वस्त्र पहिने स्नान तथा भूषण का परित्याग करे, भूमि में सोवे प्रमाद न करे, इस प्रकार तीन दिन व्यतीत करे। चौथे दिन सूर्योदय होने पर स्नान करे। तथा पति के मुख का दर्शन कर शुद्ध होवे। (४–१४७।१४५।१४७।१६ ।१५१।१५४।१५७। १६ ।१६१।१६२।१६३) स्त्री खेती तथा व्यापार के कामों में पति की सहायता करे। उत्तम नाना मीठा वचन जिस प्रकार अपना पति अपने अधीन रहे उसी प्रकार माया तथा नाना की क्रीड़ा के साथ स्त्री आचरण करे। क्योंकि पति के समान नाथ नहीं है और पति के समान सुख भी नहीं है सम्पूर्ण धन और सर्वस्व को छोड़कर स्त्री की शरण पति ही होता है। पिता भाई, पुत्र ये सभी मित (थोड़ा सा ही) देते हैं, पति ही अमितम् (अपरिमित) का दाता है। अत ऐसे अमित के दाता पति को कौन स्त्री नहीं पूजेगी।

कामन्दकीय नीतिसार

आचार्य कामन्दक ने ४   ई के लगभग नीतिसार नामक एक ग्रन्थ लिखा था जो कि आचार्य शुक्र के 'शुक्र नीतिसार' पर आधारित था। वर्तमान कामन्दकीय नीतिसार उसी ग्रन्थ का १०वीं शताब्दी में किया हुआ पुन संस्करण समझा जाता है।

यद्यपि कामन्दक का नीतिसार ग्रन्थ राजाओं के लिए ही लिखा गया है। इसमें भी सामान्य और जन-साधारण के लिए बहुत उपदेश मिलते हैं। हितोपदेश के लेखक ने इस ग्रन्थ से बहुत सी बातें ली हैं। यह ग्रन्थ बहुत प्राचीन तो नहीं परन्तु कब लिखा गया यह भी ठीक निश्चित नहीं है। इसका आधार कौटिल्य का अर्थ शास्त्र है।

राजा को धार्मिक होना चाहिए

राजा के लिए धार्मिक होना परम आवश्यक है अन्यथा राजा और राज्य दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए धर्म का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। कहा है—इसलिए राजा को चाहिए कि पहले धर्म का पालन करे फिर अर्थ का उपार्जन करे। धर्म से ही राज्य उन्नति करता है और उसका मीठा फल धन होता है। (१।१७)

धर्म अर्थ काम ये तीनों ही सेव्य हैं

धम से अर्थ, अर्थ से काम और काम से सुख होता है, जो युक्ति पूर्वक इन तीनो (धर्म, अथ, काम) का सेवन नही करता है, वह दो का नाश करके अपने आप को भी नष्ट कर बैठता है। (१।५१)

सामान्य धर्म

अहिंसा, प्रिय और तथ्य वाणी सत्य, शौच, दया और क्षमा ये सब वर्ण और आश्रम-वाला के लिए सामान्य धर्म हैं। (४–३२) इनके आधार पर चलने पर स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होते हैं। न चलने पर समाज नष्ट हो जाता है। जैसे कि—यह उपरोक्त धर्म समस्त वण तथा आश्रम वालो के लिए स्वग और मोक्ष का देने वाला है। इसके अभाव से समाज मे सांकर्य दोष उत्पन्न होकर समाज को नष्ट कर देता है। (४–३३)

चारो वर्णों के धर्म

ब्राह्मण के धर्म—विशुद्ध रीति स यज्ञ कराना, तथा विद्या पढाना और विशुद्ध आचरण सपन्न व्यक्ति से दान लेना, य तीनो व्यापार मुनियो ने ब्राह्मणो के बतलाये है। (४–१९)

क्षत्रिय के धर्म—प्राणियो की रक्षा करना तथा शस्त्र के द्वारा अपने जीवन काल पर्यन्त वृत्ति का निर्वाह करना यह क्षत्रियो का धर्म है (४–२०)

वैश्य के धम—पशुपालन, खेती, और वाणिज्य यह सब वैश्य की वृत्ति कही गयी है। (४–२०)

शूद्र का धर्म—क्रमश द्विजो की सेवा करना, शूद्र का धर्म बतलाया है तथा विशुद्ध वृत्ति से आजीविका करना, एव माली, बढई, लोहार आदि का और नाचने गाने आदि का काम भी शूद्रो का है। (४–२१)

सब द्विजो के सामान्य धर्म—शास्त्र के अनुसार यज्ञ करना, अध्ययन करना, दान देना, ये तीनो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनो) के धर्म हैं (४–१८)

आश्रम धर्म

ब्रह्मचारी के धर्म—गुरू के आश्रम में यावज्जीवन (जब तक पढ़ना हो) रहना, अग्नि की सेवा, विद्या का अभ्यास, भिक्षा से पेट भरना, तीन बार स्नान करना और गुरू के साथ आजीवन सम्बन्ध रखना। (४–२२)

गृहस्थ के धर्म—अग्नि होत्र करना, अपनी-अपनी विहित वृत्ति द्वारा जीविका चलाना, धर्म द्वारा विवाहित और स्वस्थ पत्नि के साथ पर्वो को छोडकर रति क्रिया। देव पितर, अतिथि की पूजा और दीन दु खियो के प्रति सहानुभूति। श्रुति स्मृति के अर्थ को जानकर उनके अनुसार चलना ही गृहस्थियो के धर्म हैं। (४–२६)

वानप्रस्थियों के धर्म—जटाधारण करना अग्निहोत्र करना भूमि पर सोना मृग छाला का पहनना निर्जन वन में रहना दूध मूल और नीवार (सूत्र) का खाना, दान न लेना, तीन बार स्नान करना (स्त्री के साथ रहते हुए भी) ब्रह्मचर्य का व्रत पालन करना देवताओं और अतिथियों की पूजा और सेवा करना ये वानप्रस्थियों के धर्म हैं। (४–२७।२८)।

सन्यासी के धर्म—सब आरम्भों (धर्म अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए नए कार्यों के आरम्भों) का त्याग भिक्षा द्वारा भोजन वृक्षों के नीचे रहना किसी से कोई वस्तु न लेना किसी से द्रोह न करना, सब प्राणियों को समान समझना, प्रिय और अप्रिय दोनों में समान (अनासक्ति) सुख-दु ख में हर्ष शोक आदि विकारों से रहित रहना बाहर अन्दर का शौच (पवित्रता) वाणी पर नियन्त्रण ब्रह्मचर्य सब इन्द्रियों के विषयों की ओर से वृत्ति खींच कर आत्मा और ध्यान का अभ्यास भावों की शुद्धि य सब सन्यासियों के धर्म हैं। (४–२९।४–१ ।४–११)

विषयों के दोष

शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इनमें से एक भी अधिक सेवन करने से नाश का कारण होता है। विष के समान विषय एक भी अधिक सेवन करने से मौत के बाद है तो जो पाँचों का अधिक सेवन करता है उसका कल्याण कैसे होगा? (१–४२।१–४८)

यथा समय और उचित मात्रा में विषयों का सेवन करना चाहिए

जितेन्द्रिय पुरुषों को विषयों को यथा समय सेवन करना चाहिए। पर उनमें तल्लीन न होना चाहिए। अर्थ का फल तो सुख ही है और यदि सुख भोग न किया जाय तो अर्थ का होना ही व्यर्थ है। (१–४९)

स्त्रियों के व्यसन के दोष

स्त्री के नाम मात्र से भी पुरुष को प्रसन्नता होती है और उसके मन में विकार उत्पन्न हो जाता है तब फिर यदि किसी विलास से उल्लसित मुख वाली स्त्री का दर्शन हो तो क्या कहना। ऐसी स्त्री जो काम कला में प्रवीण हो और मद-मस्त होकर मीठी वाणी बोलने वाली हो और जिसकी आँखों से प्रेम टपकता हो किस अनुरक्त पुरुष को आनन्द नहीं देती? अवश्य ही मुनि के मन म भी सुन्दर अंगों वाली स्त्री राग उत्पन्न कर देती है। और उसको प्रसन्न करके उसके मुख की शोभा को बढ़ाती है जिस प्रकार उदयकाल चन्द्रमा की शोभा को बढ़ा देता है। जैसा बढ़ता हुआ पानी पहाड़ को भी काट देता है वैसे ही मन को प्रसन्न करती हुई मन्द गति से चलती हुई स्त्री बड़े-बड़े लोगों (ऋषि मुनियों) के मन को चंचल कर देती है (१–५२।५३।५४।५५)

मनुष्य स्वभावत बुरा हैं दण्ड के भय से ही वह भला बनता है

दण्ड के अभाव में ममार में सर्व विनाशकारी मत्स्य न्याय (छोटी मछलियो का वडी मछलियो को खा लेना) प्रचलित हो जाये क्योकि ममार मे सभी एक दूमरे को खाने वाले हैं और यहाँ पर कोई भी नियम पालन नही करता। काम और लोभ के वलवान् होने के कारण यह जगत् विना किसी आधार के है। यह नरक वनने मे केवल राजा के दण्ड के कारण रुका हुआ है। यहाँ पर स्वभावत ही सव लोग दूमरो के धन और स्त्री के लोलुप है। माधुओ द्वारा सेवन किये हुए सनातन धर्म मार्ग पर केवल दण्ड के भय से स्थित किया जाता है। दण्ड के कारण ही प्राय मनुष्य नियमानुसार विपयो को प्राप्त करता है। नियम (कानून) के वश मे होने से ही मनुष्य दुलभ साधुवृत्ति वाला होता है। कुल स्त्री भी दण्ड के भय से ही कृश, विकल, रोगी, और निर्धन पति के साथ रहती है। (५।४०।४१।४२।४३)

सदाचार

मधुर वाणी, प्राणियो के ऊपर दया करना, गरीवो को कुछ देते रहना, दीन तथा शरणागत की रक्षा करना, अच्छे पुरुषो की सगत करना, माधु तथा हितकारक वचन वोलना, ये सव सत्पुरुषो के लक्षण हैं। (६।२) दु खी प्राणी के साथ स्वय तद्गत दु ख से दु खी होकर मनुष्य को अत्यन्त करुणा के साथ उन दीन दु खी व्यक्तियो का उद्धार करना चाहिये। (६।३) जो लोग दु ख के सागर मे डूबे हुए दीन तथा दु खी प्राणियो का उद्धार करते है, उन लोगो से अधिक सज्जन तथा सत्पुरुषव्रतधारी मनुष्य कम ही पाये जाते हैं। (६।४) इसीलिए दयालु होना यह समस्त प्राणियो का सर्वोत्कृष्ट धर्म माना गया है। (६।६) किसी भी कुल में उत्पन्न हुआ कौन व्यक्ति स्वल्प सुख के लोभ से लुब्ध होकर बिना विचार विमर्श करते हुए अपने से छोटे श्रेणी वालो को पीडित करेगा। (६।८) आधि-व्याधि से पीडित तथा आज अथवा कल विनष्ट होने वाले इस शरीर के लिए कौन विद्वान् पुरुष धर्म से शून्य अधर्म मार्ग का आचरण करेगा ? (६–९) जल के अन्दर वर्तमान जैसे चन्द्रमा का प्रतिविम्ब अस्थिर होता है, इसी प्रकार समस्त प्राणियो का जीवन भी हमेशा अनित्य ही होता है, ऐसा समझ कर मनुष्य को दूमरो का कल्याण ही करना चाहिए। (६।१२) मृगतृष्णा के समान क्षणभगुर इस ससार को जानकर अपने धर्म और सुख की रक्षा के लिए मज्जन पुरुषों की ही सगति करनी चाहिए। (६।१३) ग्रीष्मकालीन सूर्य की किरणो से मतप्त भयकर मरुस्थल के समान हृदय को पीडित करने वाली तथा आश्रय विहीन दुर्जन मनुष्य की सगति विलकुल छोड देनी चाहिए। (६।१६) सरल स्वभाव सम्पन्न विद्वान् व्यक्ति को प्राय विना कारण ही दुर्जन लोग विश्वास प्रदान कर तथा आत्मीयता का भाव प्रदर्शन कर उनके हृदय को शुष्क वृक्ष को दग्ध करने वाली अग्नि के समान

पण करते रहते हैं। (६।१७) मनुष्य को हमेशा दूसरे मनुष्यों के हृदय को आनन्द एवं प्रसन्नता प्रदान करने वाली वाणी ही बोलनी चाहिए। कारण कि आर्थिक सहायता प्रदान करने वाला भी व्यक्ति यदि कठोर वचन बोलता है तो उससे सुनने वाले के हृदय में दुःख ही होता है। (६।२१) कड़ी कटु वाणी और शस्त्र में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि जैसे तीर या हथियार प्रभृति शस्त्र मनुष्य को छेदन-भेदन कर डालते हैं उसी प्रकार शोक उद्वेग को उत्पन्न करने वाले वचन भी मनुष्य के हृदय को पर्याप्त आघात प्रत्याघात पहुँचाते हैं। (६।२५) सज्जन मनुष्यों एवं अपने सुहृद व्यक्तियों के प्रति जैसे मनुष्य प्रिय भाषण करता है उसी प्रकार दुष्ट व्यक्तियों के प्रति भी प्रिय भाषण ही करना चाहिये क्योंकि मयूर और कोयल की मीठी वाणी किसे प्रिय नहीं लगती है।(६–२६) मद से उन्मत्त हुए कोयल तथा मयूर की वाणी भी उस प्रकार मनुष्य के हृदय को आकृष्ट नहीं कर सकती है जिस प्रकार सज्जन तथा विद्वान् की वाणी। (६।२८) गुणों में प्रेम रखने वाले स्थिति सम्पन्न मद्यालु एवं दयालु व्यक्तियों का प्रिय वाणी बोलनी चाहिये तथा धार्मिक कार्य के लिए धन की सहायता भी करनी चाहिये। (६।२९) जो श्रीमान् लोग प्रिय भाषण करते हैं, तथा अपने घर आये हुए अतिथि एवं विद्वान का सत्कार और सम्मान करते हैं ऐसे आदर्श पुरुष मनुष्य के रूप में देवता ही हैं। (६।३)

व्यवहार निरूपण

अपने मित्र के साथ परम प्रेममय सद्भावना युक्त व्यवहार करे, और अपने बन्धु लोगों के साथ विश्वासपूर्वक व्यवहार करे, तथा स्त्री के साथ प्रेम का व्यवहार करे, और अपने नौकर के साथ दानात्मक व्यवहार करे, इसी प्रकार दूसरे बाह्य लोगों के साथ न औचित्य युक्त कुशलता पूर्ण व्यवहार करे अर्थात् इन पूर्वोक्त व्यवहारों के आधार पर ही पूर्वोक्त लोगों को अपने वश में करे। (६।३३)

महात्मा लोगों का स्वरूप

दूसरे के कार्यों की निन्दा न करना अपने धर्म की रक्षा करना दीन तथा अनाथों के ऊपर दया करना सर्वत्र मधुर वचन ही बोलना (६।३४) अपने अभिन्न मित्र का प्राणों के द्वारा भी उपकार करना घर में आए हुए लोगों के साथ प्रेम व्यवहार करना अपनी शक्ति के अनुसार गरीबों को कुछ देते रहना कटु वचनों को भी सहन करते रहना (६।३५) अपने ऐश्वर्य में किसी प्रकार का विकार न आने देना दूसरे के धन से ईर्ष्या न करना दूसरे के लिए दुःख-दायी वचन न बोलना कहीं झगड़ा-झंझट उपस्थित हो जाय पर मौन व्रत धारण कर लेना (६।३६) बन्धुओं के साथ अच्छा सम्बन्ध रखना मन वचन कर्म तथा शरीर के द्वारा सज्जन व्यक्तियों की सेवा करना एवं सज्जन व्यक्तियों के मनोनुकूल कार्य करना यह महात्माओं का स्वरूप है। (६।३७)

सनातन मार्ग ही इस लोक तथा परलोक के लिए श्रेयस्कर

सनातन धर्म मे अच्छी प्रकार रहने वाले गृहस्थ महात्माओ का यही श्रेयस्कर प्रधान मार्ग वतलाया है कि इस मार्ग में चलने वाला मनुष्य इस लोक मे तथा परलोक में सर्वदा विजयी होता है। (६।३८)

विशुद्ध जीवन ही श्रेयस्कर है

जिस प्रकार गगा जी का प्रवाह समुद्र में पहुँच कर समुद्र के ही रस वाला हो जाता है, उसी प्रकार दुष्ट का ससर्ग करने वाला विद्वान् व्यक्ति भी कुछ काल के वाद दुष्ट ही वन जाता है। अत उसे दुष्ट का ससर्ग नही करना चाहिए। (८।८) कष्ट पाने पर भी वुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन को विशुद्ध वनाये रहे, इस प्रकार वह व्यक्ति प्रशसा का पात्र वन जाता है, और इस लोक तथा परलोक से पतित नही होता है। प्रत्युत सभी लोको मे उसकी अक्षुण्ण कीर्ति बनी रहती है। (८।९)

सेवा करने योग्य स्वामी का स्वरूप

जिस प्रकार विन्ध्य पर्वत अपनी सजीवन वूटी आदि के द्वारा सज्जनो से सेवित तथा मनुष्य के लिए जीवन सिद्धि प्रदान करने वाला है उसी प्रकार सिद्धि को चाहने वाला व्यक्ति दूर से ही आते हुए व्यक्ति के हृदय की वात को अभिलक्ष्य करने वाले, स्थिर प्रकृति वाले, पुण्यात्मा, ख्यातनामा, सज्जनो के द्वारा सुसेवित तथा सर्वतोभावेने प्रशस-नीय स्वामी का आश्रय ग्रहण करें। वही कहा है। (१० पृ० ११३)

सेवा का महत्व

वुद्धिमान् पुरुष दुष्प्राप्य जिस-जिस वस्तु की इस लोक में इच्छा करता है सेवा के वल के आधार पर उसे वह वस्तु अवश्य प्राप्त हो जाती है। अत सेवा के लिए उद्योग अवश्य करना चाहिए। (११)

पात्र के लिए दान विधान

अपात्र के लिए दान कभी नही करना चाहिए, क्योंकि इसकी सत्पुरुषो ने निन्दा की है। कारण कि अपात्र के लिए दान देने पर कोप का क्षय हो जाता है। अत गुणी तथा विद्वान् के लिए अथवा गुणवत्ता एव विद्वत्ता इन दोनो से विशिष्ट के लिए दान देना चाहिए। यही दान यश तथा कल्याण का जनक होता है। (६५। पृ० १३१)

पात्र का सग्रह प्रकार

महामना अर्थात् उदारचेता पुरुष को चाहिये कि मातृ तथा पितृ दोनो कुलो की विशुद्धि युक्त तथा विद्या और शास्त्र से युक्त, एव शौय अर्थात् निर्भीकता मे विशिष्ट, सुशीलता से युक्त तथा पितृ पितामह आदि की परम्परा से युक्त उमर और अवस्था, इनसे युक्त पुरुष को जानकर ऐसे ही पुरुष स्वरूप पात्र का दान के लिये सग्रह अर्थात् अन्वेपण

करे। यही कहा है। (११) पृष्ठ वही।

चाणक्य नीति

नीतिकाव्य का बहुत पुराना ग्रन्थ "चाणक्य शतक" या चाणक्य नीति है समझत इसका लेखक वही चाणक्य है जो चन्द्रगुप्त मौर्य (४ ई पू) का प्रधान कौटिल्य नाम से प्रसिद्ध था और जिसने "अर्थशास्त्र" नामक विश्व विख्यात ग्रन्थ लिखा था। इसकी भाषा बड़ी सरल और सुन्दर है और इसमें जीवन के विविध विषयों पर थोड़े से शब्दों में स्मरण रखने वाली बातें बतलायी गयी हैं।

आत्मरक्षा की प्रधानता

आपत्ति के समय काम आने के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए, धन से स्त्री की रक्षा करे तथा स्त्री से और धन से सदा अपनी रक्षा करनी चाहिए। (१–६) नदियों का काठी तलवार आदि शस्त्र वालों का नाखून वाले जानवरों का सींग वाले पशुओं का स्त्रियों का और राजपरिवारों तथा राजकीय अफसरों का विश्वास नहीं करना चाहिए (१–१४) बुरे मित्र का विश्वास न करे, तथा मित्र का भी विश्वास न करे, क्योंकि सम्भव है कि किसी समय मित्र कुपित हो जाय तो वह सब भेद प्रकट कर दें। (२–६) मन से चिन्तित किए हुए काम को वचन से प्रकट न करे, मन्त्र की तरह उसकी रक्षा करे तथा गुप्त ही उस काम को कर डाले। (२–७) कुटुम्ब के निमित्त एक को छोड़ देना चाहिये गाँव के निमित्त कुटुम्ब को छोड़ देना चाहिए, देश के निमित्त गाँव का परित्याग और अपने लिए पृथ्वी का अर्थात् सब का परित्याग करना उचित है। (३–१) उपद्रव उठने पर, शत्रु के हमला करने पर, भारी अकाल पड़ने पर और दुष्ट लोगों के संग होने पर जो भाग जाता है वह जीता रहता है। (३–१७) जिस देश में न आदर हो न जीविका हो, न भाई बन्धु मिलें और न विद्या का लाभ हो उस देश में नहीं रहना चाहिए। (१–८) धनिक, वेद के जानने वाले ब्राह्मण राजा नदी वैद्य (या डाक्टर) ये पाँच जिस स्थान पर न मिलते हों वहाँ एक दिन भी नहीं रहना चाहिये। (१–९) जीविका भय लज्जा, कुशलता, दान परायणता ये पाँच जहाँ नहीं पाये जाते वहाँ के लोगों के साथ समागम न करे। (१–१) जो वास्तविकता (निश्चितता) का परित्याग कर अवास्तविकता (अनिश्चितता) के पीछे पड़ता है उसकी वास्तविकता भी नष्ट हो जाती है अवास्तविकता तो पहले से नष्ट है ही। (१–१३) जब तक यह देह स्वस्थ है तथा जब तक मृत्यु दूर है तब तक आत्म-कल्याण पुण्यादि करना चाहिए क्योंकि प्राण निकल जाने पर कोई क्या करेगा। (४–४) संसार के ताप (दुःख) से जलते हुए मनुष्यों के लिए विश्राम के कारण तीन हैं। सन्तान स्त्री, और सज्जनों की संगति। (४–१) गुणहीन का घर सूना है बन्धु रहित लोगों के लिए

दिशायें शून्य हैं, मूर्ख का हृदय शून्य होता है और दरिद्रता सर्व प्रकार से शून्य होती है। (४–१४) दयाहीन धर्म का परित्याग कर देना चाहिये, विद्याहीन गुरु का परित्याग कर देना चाहिए। क्रोध करने वाली स्त्री को छोड देना चाहिए तथा स्नेहहीन बन्धुओ का भी परित्याग कर देना चाहिये। (४–१६) कैसा समय है, कौन मित्र है, कौन देश है, कितना खर्च और कितनी आमदनी है, इन सब को बार-बार विचार करना चाहिए। (४–१८) मनुष्य के लिए राह चलना बुढापा है, घोडो के लिए बाँध कर रखना ही बुढापा है, स्त्रियो के लिए अमैथुन ही बुढापा है, और कपडो के लिए घाम ही बुढापा है। (४–१७) तब तक भय से डरना चाहिए जब तक भय नही आया है किन्तु आये हुए भय को देख कर तो नि शक होकर प्रहार करना चाहिए। (५–३) काम के समान दूसरी व्याधि नही है, अज्ञान के समान दूसरा शत्रु नही है, क्रोध के समान दूसरी अग्नि नही है तथा ज्ञान के समान दूसरा सुख नही है। (५–१२) राजा घूमने से पूजित होता है, ब्राह्मण की भी पूजा घर घर घूमने से होती है, योगी की पूजा भी घूमने से होती है (किन्तु) स्त्री घूमने से नष्ट हो जाती है। (६–४) आत्मा आप ही कर्म करता है, आप ही उसका फल भोगता है, आप ही ससार में भ्रमता है और आप ही उमसे मुक्त भी होता है। (६–७) लोभी को धन से वश में करे, हठी को हाथ जोडने से, मूर्ख को जिस प्रकार वह राजी हो उस प्रकार के व्यवहार करने से, तथा विद्वान् को यथार्थ बात मे अपने अनुकूल करें। (६–१२)

पशुओ पक्षियो से सीखने योग्य बातें

यह कहा जाता है कि सिंह से यह एक बात सीखे कि काम बडा हो या छोटा जिसे आदमी करना चाहता है उस काम को हर प्रकार के उपाय से करें। (६–१६) बगुले से यह एक बात सीखे कि इन्द्रियो को रोक कर देश, समय और बल को समझ कर सब कामो को कैसे साधा जाता है। (६–१७) उचित समय पर जागना, लडने को तैयार रहना, बन्धुओ को हिस्सा देना, और स्वय आक्रमण करके भोग करना, ये चार बातें मुर्गे से सीखनी चाहिए। (६–१८) छिप कर मैथुन करना, तथा चलना (शीघ्र उड जाना), समय पर लापरवाही न करना, तथा किसी का विश्वास न करना, ये पाँच बातें कौवे मे सीखनी चाहिये। (६–१७) बहुत खाना, थोडे से भी सन्तुष्ट हो जाना, गाढी नीद में मोना तथा झट जागना, मालिक से प्रेम रखना, तथा वीरता, ये छ गुण कुत्ते से सीखने चाहिये। खूब थक जाने पर भी बोझा ढोते रहना, गर्मी सर्दी का ध्यान न रखना, तथा सदा सन्तुष्ट रह कर विचरना, ये तीन गुण गदहे से सीखने चाहिए। (६–२१) जो मनुष्य इन बीस गुणो का आचरण करेगा वह सब कामो में अजेय होगा। (६–२२)

सामान्य उपदेश

गोपनीय

सम्पत्ति का नाश चित्त का सन्ताप घर का दुश्चरित्र वंचन (ठगा जाना) तथा अपमान इनको बुद्धिमान् प्रकट न करे। (७—१)

लज्जात्याग—रुपये पैसे और अनाज के लेन देन सब विद्याओं के संग्रह करने में और आहार तथा व्यवहार में जो लज्जा छोड़ देता है वह सुखी रहता है।(७—२)

सन्तोष का सुख—सन्तोष रूपी अमृत से तृप्त रहने वाले शान्त चित्त व्यक्तियों को आनन्द मिलता है वह सुख धन के पीछे इधर उधर भटककर भटकने वाले लोभियों को नहीं मिलता है। (७—३)

सन्तोष कहाँ करना और न करना—अपनी स्त्री भोजन और धन तीनों में सन्तोष करना चाहिए किन्तु अध्ययन जप और दान इन तीन में सन्तोष नहीं करना चाहिए। (७—४)

किसका बल क्या है—क्षत्रिय को अपनी भुजाओं का बल होता है ब्राह्मण ब्रह्म-ज्ञानी होने से बली होता है तथा स्त्रियों का सब से उत्तम बल सौन्दर्य तारुण्य और माधुर्य होता है। (७—११)

अधिक सरलता दोष है—बहुत सरल नहीं होना चाहिए, जाकर जंगल को देखो वहाँ जितने सीधे पेड़ होते हैं काट लिए जाते हैं और जितने टेढ़े मेढ़े रहते हैं। वहीं खड़े रहते हैं। (७—१२)

ज्ञान और व्यवहार दोनों आवश्यक—व्यवहार के बिना ज्ञान व्यर्थ है ज्ञान के बिना मनुष्य मृत तुल्य है। सेनापति के बिना सेना नष्ट हो जाती है और पति के बिना स्त्रियाँ नष्ट हो जाती हैं।(८—२)

दुःख के कारण—बुढ़ापे में स्त्री का मरना बन्धुओं के हाथ में गयी सम्पत्ति और दूसरों के अधीन भोजन ये तीन मनुष्यों के लिए विडम्बना अर्थात् दुःख के कारण हैं। (८—९)

मनुष्य के रूप में पशु—जिन लोगों के पास विद्या, तप दान शील गुण और धर्म इनमें से कोई भी नहीं है वे मर्त्यलोक में पृथ्वी के भार होकर मनुष्य के रूप में पशु ही घूम रहे हैं। (१०—७)

शोभा—दरिद्रता धीरता से शोभित होती है कुवस्त्र स्वच्छता से सुन्दर मालूम पड़ता है और कुरूपता सुशीलता से शोभित होती है। (—१४)

अपनी बुद्धि की आवश्यकता—जिसकी अपनी बुद्धि नहीं है उसको शास्त्र क्या करेगा जैसे दोनों आँखों से अन्धे के लिए शीशा क्या कर सकेगा (१०—९)

घी सबसे अधिक गुणवान्—खडे अन्न से दस गुना गुण पीसे अन्न में, पीसे अन्न से दश गुना गुण दूध में, दूध से आठ गुना गुण मास में, तथा मास से दश गुना गुण घी में होता है। (१०–१७) जिसके पास तेज है वही वलवान है, मोटे शरीर में कुछ भी विश्वास नही। (११–३)

मध्य भाव सर्वोत्तम—अत्यन्त समीप में रहने पर विनाश का कारण होते हैं तथा दूर रहने पर फल दायक नही होते। इसीलिए राजा, अग्नि, गुरू और स्त्री की सेवा मध्य मार्ग से करनी चाहिए। (१४–११)

युक्ति से सेवन—अग्नि, जल, स्त्री, मूर्ख, सर्प और राजवश इनकी सेवा सदा, पर युक्ति से करनी चाहिए क्योकि ये छ शीघ्र ही प्राण लेने वाले हैं। (१४–२१)

गोपनीय—अत्यन्त सिद्ध औषधि, धर्म, घर का भेद, मैथुन, कुभोजन, तथा अपमानपूर्ण वचन को बुद्धिमान प्रकट न करे। (१४–१७)

पण्डित लक्षण—प्रसग के अनुसार बात, प्रभाव के अनुसार प्रेम, और अपनी शक्ति के अनुसार क्रोध को जो जानता है वह पण्डित है (१४–१५)

दुष्ट के साथ व्यवहार—दुष्ट तथा कॉटा इन दोनो के लिए दो ही प्रकार के उपाय हैं एक तो जूते से मुख तोड देना और दूसरा दूर से ही परित्याग कर देना। (१५–३)

लक्ष्मी ह्रास—मैला कपडा पहनने वाले, दातो के मैल को न साफ करने वाले, अधिक भोजन करने वाले (पेटू), कटुवचन बोलने वाले, सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय सोने वाले को लक्ष्मी छोड देती है चाहे वे उसके पति साक्षात् विष्णु भगवान् ही क्यो न हो। (१५–४)

प्रतिष्ठानाश मृत्यु से बुरा—सम्मान नष्ट हो जानेवाले जीवन की अपेक्षा मृत्यु अच्छी है, प्राण छोडते समय क्षण भर के लिए दु:ख होता है किन्तु प्रतिष्ठा नष्ट होने पर प्रतिदिन कष्ट होता है। (१६१–१६)

विद्या और पैसा अपने पास रहने चाहिए—जो विद्या पुस्तको में ही रह जाती तथा जो धन दूसरो के हाथ में चला जाता है अवसर पडने पर न तो वह विद्या है और न वह धन है। (दोनो ही व्यर्थ हैं) (१६–२०)

जैसे को तैसा—उपकार करने वाले के साथ प्रति उपकार, तथा हिंसा करने वाले के साथ प्रतिहिंसा करनी चाहिए और दुष्टो के साथ दुष्टता करनी चाहिए, इससे दोष नही देखता हूँ। (१७–१२)

जगाने योग्य सात—सोते हुए विद्यार्थी, नौकर, राही, भूखा, भय विकल, भाण्डारी और ड्योढीदार इन सातो को जगा देना चाहिए। (७–६)

पुरुषार्थ चतुष्टय

धर्म अर्थ काम और मोक्ष इनमें जिस व्यक्ति के अन्दर एक भी न हो तो उसका मनुष्यों में जन्म लेने का फल केवल मरण ही है। (१–२)

धर्म

सत्य से पृथ्वी स्थिर है, सत्य से सूर्य तपता है सत्य से हवा बहती है तथा सत्य में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है। (५–१७) लक्ष्मी चलायमान है, प्राण चल है जीवन और घर अस्थिर है, इस चराचर संसार में एक धर्म ही स्थिर है। (५–२) वही जीता है जिसके पास गुण है तथा वही जीवित है जिसके पास धर्म है। गुण तथा धर्म से हीन मनुष्य का जीना बेकार है। (१४–१३) धर्म धन अन्न गुरुओं की बात तथा दवा को खूब अच्छी तरह से ग्रहण करना चाहिए अन्यथा उसका जीवन समाप्त प्राय है। (१४–१७) दुर्जन का साथ छोड़ो सज्जनों की संगति में रहो दिनरात पुण्य करो तथा संसार की अनित्यता को ध्यान में रखकर निरन्तर ईश्वर का स्मरण करो। (१४–२) जो ब्राह्मणों के खाने के उपरान्त शेष बचता है उसी का नाम भोजन है। मित्रता वही है जो दूसरे के साथ की जाती है बुद्धिमान वही है जो पाप नहीं करता। वही वास्तविक धर्म है जो ढोंग के बिना किया जाता है।

धर्म का महत्व—जिसके पास धन है उसी के सब मित्र हैं, धनवान् के ही बान्धव होते हैं, जिसके पास धन है वही संसार में मनुष्य गिना जाता है और जिसके पास सम्पत्ति है वही पण्डित कहलाता है। (१–५) बाघ तथा गिद्धाल हाथियों से भरा हुआ जंगल बल्कि अच्छा है जिसमें पेड़ के नीचे ही रहना पड़ता है पक्के फल खाने तथा किसी प्रकार से जल पीने के लिए मिल जाता है घास के बिस्तर पर ही सोना तथा वल्कल का ही कपड़ा पहनना पड़ता है किन्तु भाई बन्धुओं के बीच धनहीन होकर जीना उचित नहीं। (१०–१२) मित्र स्त्री नौकर, सुहृद् ये सभी धनहीनों का साथ छोड़ देते हैं, जिसके पास धन हो जाय लोग उसी का आश्रय लेते हैं इस संसार में मनुष्यों का बन्धु धन ही है। (१५–५)

अन्यायार्जित धन—अन्याय से कमाया हुआ धन दस वर्ष तक रहता है और ग्यारह वें साल के लगते ही वह धन के साथ नष्ट हो जाता है। (१५–६) जो धन अति दुःख उठाने धर्म का परित्याग करने और वैरियों के पाँव पड़ने से प्राप्त होता है वैसा धन मुझे नहीं चाहिए। (१६–११)

धन में तृप्ति का अभाव—धन जीवन स्त्री और भोजन में सभी प्राणी अतृप्त रहे हैं रहेंगे और रहते हैं। (१६–१३)

सुपात्र दान का महत्व—दान यज्ञ होम तथा बलि के कर्म सभी नष्ट हो जाते

हैं, परन्तु सुपात्र को दिया हुआ दान तथा सब प्रणियो को दिया हुआ अभयदान नष्ट नही होते हैं। (१६-१४)हे विचारशील, गणवानो को धन दीजिए, दूसरे किसी को मत दीजिये।

ससार में स्वर्गीय मनुष्यों के लक्षण—इस ससार में आने पर स्वर्ग निवासियो के चार चिन्ह इस शरीर में रहते हैं। दान परायणता, मीठी बोली, देवताओ की पूजा, और ब्राह्मणो को सन्तुष्ट रखना। (७-१६)

शौच—वाणी की शुद्धि, मन की शुद्धि, इन्द्रियो का सयम, सब प्राणियो पर दया, और पवित्रता ये परार्थियो (परमपद चाहने वालो) की शुद्धि है। (७-२०)

भाव का महत्व—देवता काष्ठ मे नही रहने, न पत्थर मे ही रहते हैं, और न मिट्टी की मूर्ति मे। यह निश्चय है कि देवता भाव मे रहते हैं, इसलिए भाव ही प्रधान कारण है।

मुक्ति के साधन—हे भाई यदि मुक्ति चाहते हो तो विषयो को विष के समान त्याग दो और सहनशीलता, सरलता, दया, पवित्रता, तथा सत्यता को अमत समझ कर पियो। (७-१)

किसी की गुप्त बातें प्रकट नहीं करनी चाहिए— जो नराधम आपस की गुप्त बातों का भेद खोलते हैं, वे ही बांबी में पडे हुए साँप की तरह नष्ट हो जाते हैं। (७-२)

कब किस शास्त्र का अध्ययन करें—प्रात काल जुये की कथा (अर्थात् महाभारत की कथा) से जिसमे जुआ की बुराई मालूम पडती है। दोपहर के समय स्त्री प्रसग (अर्थात् रामायण से) जिससे स्त्री की आसक्ति। और रात्री चोर की कथा (अर्थात् भागवत् जिससे श्री कृष्ण की मक्खन चोरी का वर्णन है) में बुद्धिमान आदमियो का समय व्यतीत होता है। (७-११)

देखभाल कर काम करना चाहिये—आँख से अच्छी तरह देख कर पैर रक्खें, वस्त्र से छान कर जल पीये, शास्त्र का मनन कर वचन बोले और मन को पवित्र कर आचरण करे। (१०-२)

विद्यार्थी को आराम नहीं चाहिये—जो सुख चाहता हो वह पढना लिखना छोड दे, और जो पढाना चाहता हो वह सुख का परित्याग कर दे, क्योकि सुख चाहने वाले को कहाँ विद्या और विद्या चाहने वाले को सुख वहाँ मिल सकता है। (१०-३)

मनुष्य रूप में मृग—जिन लोगो के पास न विद्या है, न तप है, न दान है, न शील, न गुण, और न धर्म, ही है वे मत्यलोक में पृथ्वी का भार होकर आदमी के रूप में पशु की भाँति फिरते हैं। (१०-७)

सार्वभौमता—जो भक्त लक्ष्मी को माता, भगवान् विष्णु को अपना पिता, और

भगवद् भक्तों को अपना बान्धव मानता है, उसके लिए तीनों लोक स्वदेश ही हैं। (१०–१४)

अनेक रहना चाहिये—नाना रंग के पक्षी एक वृक्ष पर आ बैठते हैं और प्रातः होने पर दसों दिशाओं में उड़ जाते हैं इसमें शोक करने की कौन सी बात है? (१०–१५)

कर्मों का फल—देह धारियों के अपने अपराध रूपी वृक्ष के परिपक्व रोग दुःख बन्धन और आपत्ति ये फल हैं। (१४–२)

विरक्तता मोक्ष का कारण—धार्मिक उपाख्यान में श्मशान में और व्याधि की अवस्था में मनुष्य को जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह यदि सदा बनी रहे तो कौन ऐसा है जो बन्धन से न छूट जाय? (१४–६)

सदाचारी सम्पत्ति का कारण—पश्चात्ताप करने पर जो बुद्धि मनुष्य में आती है वह यदि पश्चात्ताप वाले कार्य के प्रथम रहती तो कौन महासम्पत्ति पाली नहीं हो जाता। (१४–७)

दया सबसे बड़ा धर्म—जिसका चित्त समस्त प्राणियों पर दया की भावना से पिघल जाता है उसको ज्ञान मोक्ष जटा बढ़ाना तथा भस्म लेपने से क्या मतलब? (१५–१)

प्रिय वचन—प्रिय वचन को बोलने से समस्त प्राणी प्रसन्न रहते हैं अतः प्रिय वचन ही बोलना चाहिए। बोलने में भी क्या दरिद्रता है। (१६–७)

अतिथि के निरादर का महान् दोष—दूर से आये हुए, राह चलने से थके तथा निष्प्रयोजन घर पर उपस्थित अतिथि को छोड़ कर जो भर पेट खा लेता है वही चाण्डाल कहा जाता है। (१५–११)

आत्मज्ञान केवल विद्या से नहीं—चारों वेदों तथा अनेक शास्त्रों का अध्ययन करते हैं परन्तु आत्मा को उसी प्रकार नहीं जान पाते जैसे करछुल रसोई के स्वाद को नहीं जानती। (१५–१२)

असम्भव बातें—धन पाकर घमण्डी कौन नहीं हुआ? किस व्यभिचारी की आपत्तियाँ दूर हुईं? संसार में स्त्रियों से किसका हृदय खण्डित नहीं हुआ? राजा का प्रिय कौन हुआ? कौन काल के वश में न हुआ? किस याचक ने यश कमाया है? और दुष्टों के चक्कर में पड़कर संसार पथ में कुशलपूर्वक कौन गया है? (१६–४)

सद्वंश जात के लक्षण—अच्छे वंश में उत्पन्न व्यक्ति दरिद्र हो जाने पर भी शील आदि गुणों का परित्याग नहीं करता। (१६–१)

आत्मप्रशंसा की निन्दा—जिसके गुणों की प्रशंसा दूसरे लोग करते हैं वह निर्गुण होने पर गुणवान हो जाता है किन्तु अपने गुणों की स्वयं प्रशंसा करने वाला इन्द्र भी

हो तो नीच हो जाता है। (१६–१)

नीति मजरी के अनुसार वैदिक नीति

वेद और ब्राह्मणो मे केवल प्रार्थनायें, आज्ञाएँ यज्ञ, विधि और वर्णाश्रम सम्बन्धी नियम ही नही हैं, बल्कि बहुत सी कथाएँ और ऐतिहासिक घटनाओ के वर्णन और उपाख्यान भी हैं। वैदिक उपाख्यानो का क्या अर्थ और उद्देश्य है? वे ऐतिहासिक घटनाएँ हैं अथवा उनका कोई साकेतिक अर्थ है अथवा वे केवल नैतिक उपदेश के लिए कुछ कल्पित कहानियाँ हैं इन विषयो मे बहुत मतभेद हैं। मीमासको के अनुसार वेद का तात्पय किसी वास्तविक घटना अथवा वस्तु या तत्व का वर्णन नही है। जो इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं वे वेद के परम उद्देश्य को, जो कि मनुष्यो को यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त करता है, पुष्ट करने के लिए अर्थवाद मात्र हैं, जैसे कि कोई माँ अपने बच्चे को सुकर्म में प्रवृत करने के लिए किस्से कहानी सुनाकर उसके मन पर किसी काम को करने का महत्व बैठा देती है। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार वेद में कोई किस्सा कहानी, या ऐतिहासिक घटना का वर्णन नही है, वेद तो जीवन और जगत् सबन्धी सनातन सत्यो और नियमो का ही वर्णन करता है और मनुष्यो को तत्सबन्धी ज्ञान देकर जीवन को यथोचित रूप मे चलाने का उपदेश देता है। वे वैदिक उपाख्यानो का प्रतीकात्मक अर्थ ही लगाते हैं। पाश्चात्य विद्वान् वैदिक वणनो को पुरातन काल के मनुष्यो की जगत् और जीवन सम्बन्धी बाल कल्पनाएँ और आख्याएँ समझते हैं, और कहते है कि इस प्रकार की काल्पनिक आख्याएँ (Myths) सब देशो में पाई जाती हैं।

एक मध्यकालीन विचारक, द्याद्विवेद, ने अपने नीति-मजरी नामक ग्रन्थ मे इस विवाद मे न पडकर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि वैदिक आख्यानो से हमको क्या नैतिक शिक्षा मिलती है। हमने अभी तक, वेद के मन्त्रो और ब्राह्मणो के उपदेश से क्या नैतिक उपदेश मिलता है, इसका दिग्दर्शन कराया है। अब नीति-मजरी के अनुसार वैदिक उपाख्यानो से क्या शिक्षा मिलती है, इसका सक्षेप में उल्लेख करते हैं। यहाँ पर विस्तार भय के कारण आख्यायिकाओ का वर्णन न करके नीतिमजरीकार ने उसमें जो नैतिक उपदेश पाये है उनमें मे हम कुछ का ही उल्लेख करते हैं।

(ऋभुदेव की भाँति) जो पुत्र पिता को अपनी भक्ति से प्रसन्न करता है वह अत्यन्त शोभा को प्राप्त होता है। (९) माता-पिता ने यदि अपराध भी किया हो तो भी उनका त्याग न करके उनका आदर करना चाहिए। (११) हिंसा और क्रूरता के आचरण से विश्व को अपना शत्रु न बनावे। (१३) देवता लोगो को भी अपने शुभ और अशुभ कर्मो का फल भोगना पडता है। (१५) जो पुरुष निःस्पृह होकर

भगवद् भक्तों को अपना बान्धव मानता है, उसके लिए तीनों लोक स्वदेश ही हैं।
(१०–१४)

असंग रहना चाहिए—नाना रंग के पक्षी एक वृक्ष पर आ बैठते हैं और प्रात होने पर दसों दिशाओं में उड़ जाते हैं इसमें शोक करने की कौन सी बात है? (१०–१५)

कर्मों का फल—देह धारियों के अपने अपराध रूपी वृक्ष के दरिद्रता रोग, दुःख बन्धन और आपत्ति ये फल हैं। (१४–२)

विरक्तता मोक्ष का कारण—धार्मिक उपाख्यान में श्मशान में और व्याधि की अवस्था में मनुष्य को जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह यदि सदा बनी रहे तो कौन ऐसा है जो बन्धन से न छूट जाय? (१४–६)

समझदारी सम्पत्ति का कारण—पश्चात्ताप करने पर जो बुद्धि मनुष्य में आती है वह यदि पश्चात्ताप वाले कार्य के प्रथम रहती तो कौन महासम्पत्ति शाली नहीं हो जाता। (१४–७)

दया सबसे बड़ा धर्म—जिसका चित्त समस्त प्राणियों पर दया की भावना से पिघल जाता है उसको ज्ञान मोक्ष जटा बढ़ाना तथा भस्म लेपन से क्या मतलब?
(१५–१)

प्रिय वचन—प्रिय वचन को बोलने से समस्त प्राणी प्रसन्न रहते हैं अतः प्रिय वचन ही बोलना चाहिए। बोलने में भी क्या दरिद्रता है। (१५–७)

अतिथि के निरादर का महान् दोष—दूर से आये हुए, राह चलने से थके तथा निष्प्रयोजन घर पर उपस्थित अतिथि को छोड़ कर जो भर पेट खा लेता है वही चाण्डाल कहा जाता है। (१५–११)

आत्मज्ञान केवल विद्या से नहीं—चारों वेदों तथा अनेक शास्त्रों का अध्ययन करते हैं परन्तु आत्मा को उसी प्रकार नहीं जान पाते जैसे करछुल रसोई के स्वाद को नहीं जानती। (१५–१२)

असम्भव बातें—धन पाकर घमण्डी कौन नहीं हुआ? किस व्यभिचारी की आपत्तियाँ दूर हुईं? संसार में स्त्रियों से किसका हृदय खण्डित नहीं हुआ? राजा का प्रिय कौन हुआ? कौन काल के वश में न हुआ? किस याचक ने यश कमाया है? और दुष्टों के चक्कर में पड़कर संसार पथ में कुशलपूर्वक कौन बचा है? (१५–४)

सद्वंश जात के लक्षण—उत्तम वंश में उत्पन्न व्यक्ति दरिद्र हो जाने पर भी शील आदि गुणों का परित्याग नहीं करता। (१५–१)

आत्मप्रशंसा की निन्दा—जिसके गुणों की प्रशंसा दूसरे लोग करते हैं वह निर्गुण होने पर गुणवान् हो जाता है किन्तु अपने गुणों की स्वयं प्रशंसा करने वाला इन्द्र भी

हो तो नीच हो जाता है। (१६-१)

नीति मजरी के अनुसार वैदिक नीति

वेद और ब्राह्मणो में केवल प्रार्थनायें, आज्ञाएँ यज्ञ, विधि और वर्णाश्रम सम्वन्धी नियम ही नही हैं, वल्कि वहुत सी कथाएँ और ऐतिहासिक घटनाओ के वर्णन और उपाख्यान भी हैं। वैदिक उपाख्यानो का क्या अर्थ और उद्देश्य है? वे ऐतिहासिक घटनाएँ है अथवा उनका कोई साकेतिक अर्थ है अथवा वे केवल नैतिक उपदेश के लिए कुछ कल्पित कहानियाँ हैं इन विषयो मे वहुत मतभेद हैं। मीमासको के अनुसार वेद का तात्पय किसी वास्तविक घटना अथवा वस्तु या तत्व का वर्णन नही है। जो इम प्रकार के वर्णन मिलते हैं वे वेद के परम उद्देश्य को, जो कि मनुष्यो को यज्ञादि कर्मों मे प्रवृत्त करता है, पुष्ट करने के लिए अर्थवाद मात्र हैं, जैसे कि कोई माँ अपने वच्चे को सुकर्म में प्रवृत करने के लिए किस्से कहानी सुनाकर उसके मन पर किसी काम को करने का महत्व वैठा देती है। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार वेद में कोई किस्सा कहानी, या ऐतिहासिक घटना का वर्णन नही है, वेद तो जीवन और जगत् सवन्धी सनातन सत्यों और नियमो का ही वर्णन करता है और मनुष्यो को तत्सवन्वी ज्ञान देकर जीवन को यथोचित रूप से चलाने का उपदेश देता है। वे वैदिक उपाख्यानो का प्रतीकात्मक अथ ही लगाते हैं। पाश्चात्य विद्वान् वैदिक वर्णनो को पुरातन काल के मनुष्यो की जगत् और जीवन सम्वन्धी वाल कल्पनाएँ और आख्याएँ समझते हैं, और कहते है कि इस प्रकार की काल्पनिक आख्याएँ (Myths) सव देशो में पाई जाती हैं।

एक मध्यकालीन विचारक, द्याद्विवेद, ने अपने नीति-मजरी नामक ग्रन्थ में इस विवाद में न पडकर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि वैदिक आख्यानो से हमको क्या नैतिक शिक्षा मिलती है। हमने अभी तक, वेद के मन्त्रो और ब्राह्मणो के उपदेश से क्या नैतिक उपदेश मिलता है, इसका दिग्दर्शन कराया है। अव नीति-मजरी के अनुसार वैदिक उपाख्यानो से क्या शिक्षा मिलती है, इसका सक्षेप में उल्लेख करते हैं। यहाँ पर विस्तार भय के कारण आख्यायिकाओं का वर्णन न करके नीतिमजरीकार ने उसमे जो नैतिक उपदेश पाये है उनमें से हम कुछ का ही उल्लेख करते हं।

(ऋभुदेव की भाँति) जो पुत्र पिता को अपनी भक्ति से प्रसन्न करता है वह अत्यन्त शोभा को प्राप्त होता है। (९) माता-पिता ने यदि अपराध भी किया हो तो भी उनका त्याग न करके उनका आदर करना चाहिए। (११) हिंसा और क्रूरता के आचरण से विश्व को अपान शत्रु न वनावे। (१३) देवता लोगो को भी अपने शुभ और अशुभ कर्मों का फल भोगना पड़ता है। (१५) जो पुरुष निःस्पृह होकर

भगवद् भक्तों को अपना बान्धव मानना है उनके लिए तीनों लोक स्वदेश ही हैं। (१०–१४)

सर्तक रहना चाहिए—नाना रंग के पक्षी एक वृक्ष पर आ बैठते हैं और प्रातः होने पर दसों दिशाओं में उड़ जाते हैं इसमें शोक करने की कौन सी बात है? (१०–१५)

कर्मों का फल—देह धारियों के अपने अपराध रूपी वृक्ष के दरिद्रता, रोग, दुःख बन्धन और आपत्ति ये फल हैं। (१४–२)

विरक्तता मोक्ष का कारण—धार्मिक उपाख्यान में श्मशान में और व्याधि की अवस्था में मनुष्य को जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह यदि सदा बनी रहे तो कौन ऐसा है जो बन्धन से न छूट जाय? (१४–६)

[illegible] सम्पत्ति का कारण—पश्चात्ताप करने पर जो बुद्धि मनुष्य में आती है वह यदि पश्चात्ताप वाले कार्य के प्रथम रहती तो कौन महासम्पत्ति वाला नहीं हो जाता। (१४–७)

दया सबसे बड़ा धर्म—जिसका चित्त समस्त प्राणियों पर दया की भावना से पिघल जाता है उसका ज्ञान मोक्ष जटा बढ़ाना तथा भस्म लेपन से क्या मतलब? (१५–१)

प्रिय वचन—प्रिय वचन को बोलने से समस्त प्राणी प्रसन्न रहते हैं अतः प्रिय वचन ही बोलना चाहिए। बोलने में भी क्या दरिद्रता है। (१५–७)

अतिथि के तिरस्कर का महान् दोष—दूर से आए हुए, राह चलने से थके तथा निष्प्रयोजन घर पर उपस्थित अतिथि को छोड़ कर जो भर पेट खा लेता है वही चाण्डाल कहा जाता है। (१५–११)

आत्मज्ञान केवल विद्या से नहीं—चारों वेदों तथा अनेक शास्त्रों का अध्ययन करते हैं परन्तु आत्मा को उसी प्रकार नहीं जान पाते जैसे करछुल रसोई के स्वाद को नहीं जानती। (१५–१२)

असम्भव बातें—धन पाकर घमण्डी कौन नहीं हुआ? किस व्यभिचारी की आपत्तियाँ दूर हुईं? संसार में स्त्रियों से किसका हृदय खण्डित नहीं हुआ? राजा का प्रिय कौन हुआ? कौन काल के वश में न हुआ? किस याचक ने यश कमाया है? और दुष्टों के चक्कर में पड़कर संसार पथ में कुशलपूर्वक कौन गया है? (१५–४)

सद्वंश जात के लक्षण—अच्छे वंश में उत्पन्न व्यक्ति दरिद्र हो जाने पर भी शील आदि गुणों का परित्याग नहीं करता। (१५–१)

आत्मप्रशंसा की निन्दा—जिसके गुणों की प्रशंसा दूसरे लोग करते हैं वह निर्गुण होने पर गुणवान् हो जाता है किन्तु अपने गुणों की स्वयं प्रशंसा करने वाला इन्द्र भी

हो तो नीच हो जाता है। (१६-१)

नीति मजरी के अनुसार वैदिक नीति

वेद और ब्राह्मणों में केवल प्रार्थनायें, आज्ञाएँ यज्ञ, विधि और वर्णाश्रम सम्बन्धी नियम ही नहीं है, वल्कि वहुत सी कथाएँ और ऐतिहासिक घटनाओ के वर्णन और उपाख्यान भी हैं। वैदिक उपाख्याओ का क्या अर्थ और उद्देश्य है? वे ऐतिहासिक घटनाएँ है अथवा उनका कोई साकेतिक अर्थ है अथवा वे केवल नैतिक उपदेश के लिए कुछ कल्पित कहानियाँ हैं इन विषयो में वहुत मतभेद हैं। मीमासको के अनुसार वेद का तात्पय किसी वास्तविक घटना अथवा वस्तु या तत्व का वर्णन नही है। जो इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं वे वेद के परम उद्देश्य को, जो कि मनुष्यो को यज्ञादि कर्मो मे प्रवृत्त करता है, पुष्ट करने के लिए अर्थवाद मात्र हैं, जैसे कि कोई माँ अपने वच्चे को सुकर्म में प्रवृत करने के लिए किस्से कहानी सुनाकर उसके मन पर किसी काम को करने का महत्व बैठा देती है। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार वेद में कोई किस्सा कहानी, या ऐतिहासिक घटना का वर्णन नही है, वेद तो जीवन और जगत् सवन्धी सनातन सत्यो और नियमो का ही वर्णन करता है और मनुष्यों को तत्सवन्धी ज्ञान देकर जीवन को यथोचित रूप से चलाने का उपदेश देता है। वे वैदिक उपाख्यानो का प्रतीकात्मक अर्थ ही लगाते हैं। पाश्चात्य विद्वान् वैदिक वर्णनो को पुरातन काल के मनुष्यो की जगत् और जीवन सम्वन्धी वाल कल्पनाएँ और आख्याएँ समझते हैं, और कहते है कि इस प्रकार की काल्पनिक आख्याएँ (Myths) सब देशो में पाई जाती हैं।

एक मध्यकालीन विचारक, द्याद्विवेद, ने अपने नीति-मजरी नामक ग्रन्थ मे इस विवाद में न पडकर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि वैदिक आख्यानो से हमको क्या नैतिक शिक्षा मिलती है। हमने अभी तक, वेद के मत्रो और ब्राह्मणो के उपदेश से क्या नैतिक उपदेश मिलता है, इसका दिग्दर्शन कराया है। अब नीति-मजरी के अनुसार वैदिक उपाख्यानो से क्या शिक्षा मिलती है, इसका सक्षेप में उल्लेख करते हैं। यहाँ पर विस्तार भय के कारण आख्यायिकाओ का वणन न करके नीतिमजरीकार ने उसमें जो नैतिक उपदेश पाये है उनमें से हम कुछ का ही उल्लेख करते हैं।

(ऋभुदेव की भाँति) जो पुत्र पिता को अपनी भक्ति से प्रसन्न करता है वह अत्यन्त शोभा को प्राप्त होता है। (९) माता-पिता ने यदि अपराध भी किया हो तो भी उनका त्याग न करके उनका आदर करना चाहिए। (११) हिंसा और क्रूरता के आचरण से विश्व को अपना शत्रु न वनावे। (१३) देवता लोगो को भी अपने शुभ और अशुभ कर्मों का फल भोगना पडता है। (१५) जो पुरुष निःस्पृह होकर

दान देता है वह इन्द्र से भी महान् है (१८) जिसका मन पवित्र है उसकी सदा देवता लोग रक्षा करते हैं। (२) लोभ के कारण संसार में तत्वज्ञ भी मूर्ख बन जाते हैं। (२१) मरकर भी महात्मा लोग दूसरों को सुख देते हैं। (२२) दूसरों की पीड़ा को दूर करने में जो श्रम होता है उसी से सज्जनों को सुख मिलता है। (२३) सज्जन दूसरों के कार्य साधन के लिए अहत्य भी कर देते हैं। (२४) अपने हित के लिए मनुष्यों को अपना मन द्वेष से दूषित नहीं करना चाहिए। (२६) श्रम करने वाला अन्य भी भाई है और न करने वाला सहोदर भी शत्रु है (२८) अमर होने के लिए श्रुति स्मृति में कहा हुआ आचरण करना चाहिए। (२९) सज्जन लोग गुण हीन जीवों पर भी दया करते हैं। (४२) जो हित करने वाला है वह अन्य (गैर) भी पिता है, जो अहित करने वाला पिता है वह अपिता है। (४४) सत्य से ही विजय होती है इसलिए सत्य का आचरण करना चाहिए। (४५) निषिद्ध आचरण कर के भी मनस्वी अपने लोगों का कष्ट मिटाते हैं। (४७) पुरुषों को प्रिय स्त्रियों (प्रमिकाओं) का भी विश्वास नहीं करना चाहिए। (५) पुरुषों को अप्राप्त यौवन (Minor नाबालिग) स्त्रियों के साथ प्रसंग न करना चाहिए। (५२) जो पुरुष स्वयं धर्मात्मा है उसको चाहिए कि दूसरों को पाप से बचावे। (५५) धर्म के कामों को करने में देरी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि चित्त चंचल है और वह (संकल्प) नष्ट हो जाता है। (५८) अच्छे कुल में उत्पन्न हुई स्त्री और पतिव्रता भी भोग से वंचित होने पर निर्लज्ज हो जाती है। (५९) जिव्हा रूपी धनुष से छूटे हुए कठोर वचन रूपी बाणों को दूसरे पर न चलाओ। (६२) होशियार आदमी को चाहिए कि छोटे से छोटा बनकर भी कार्य साधन करे। (६७) लकड़ी और पत्थर आदि से घर नहीं बनता। जहाँ पत्नी हो वही घर होता है। जिनको महान् पुरुष मित्र रूप से स्वीकार कर लेते हैं वे भी महान् हो जाते हैं। (हंस और कुत्ता) (७) श्रेष्ठपद को प्राप्त होकर भी मनुष्य को धर्म की मर्यादा को नहीं छोड़ना चाहिए। (७१) अपने गुणों का बखान करके अपनी तारीफ नहीं करनी चाहिए। (७५) आत्मज्ञानियों को देहादि में आत्म बुद्धि नहीं करनी चाहिए अर्थात् इनको आत्मा नहीं समझना चाहिए। (७६) ऊँचे पद पर पहुँच कर भी पूज्य व्यक्तियों का अपमान नहीं करना चाहिए। (७८) यत्न न करने वाला धनी भी धनहीन हो जाता है और यत्न करने वाला निर्धन भी धनी हो जाता है। (८१) नाशवान् शरीर की रक्षा से क्या? रक्षा करनी चाहिये नष्ट न होने वाली कीर्ति की। (८२) पुरुषों में दान देने वाला श्रेष्ठ है क्योंकि वह जीवों की पीड़ा को हरता है। (८३) उत्तमशाली को गुणों का आदर करना चाहिए जाति का नहीं। (८४) अनामी वही स्त्री है जो पति की आज्ञानुसार चले। (८५) स्तुति करने से

अचेतन लकडियाँ भी प्रसन्न हो जाती हैं। (८७) जिसमें गुरु भक्ति होती है उसकी देवता सहायता करते हैं। (९१) दुश्मनो से वैर करके बुद्धिमान् को निःशक होकर नही रहना चाहिए। (९२) जो लोग दुखियो के दुःख को दूर करते हैं वे देवताओ के समान हैं। (९५) मनुष्यो मे वही चतुर है जो आय को देखकर व्यय करे। (९६) कुटुम्ब के भूख मे पीडित होने पर धर्म जानने वाला भी धर्म की परवाह न करे। (१०५) मित्रता बहुत स्नेह से और मित्रभाव से दृढ होती है। (१०६) धन से नही बल्कि गुण से आदमी महान् होता है। (१०८) चतुर आदमी को मिथ्यापवाद को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। (१०९) शुद्ध हृदय वाले छोटे भाईयो को ज्येष्ठ भाई को पालन करना चाहिए। (१११) स्त्रियो में स्त्री वही है जो पति के दुःखित होने पर दुःखित और प्रसन्न होने पर प्रसन्न होती है। (११४) अधर्म में बुद्धि होने पर मनुष्यो के लिए तृण भी वज्र हो जाता है। (११७) मनुष्यो का बडप्पन जाति से इतना नही होता जितना दान से होता है। (१२१) अपने ऐश्वर्य को कभी पुत्र के आधीन न करे। (कनीत की कहानी) (१२३) ब्राह्मण भिक्षा करके जीवित रह ले पर वाणिज्य करके नही। (१२७) अपना हित चाहने वाले पुरुष को, ब्राह्मण को नतमस्तक होकर प्रणाम करना चाहिए। (१३१) मित्रो को प्रसन्न करने के लिए भी दूसरो को क्लेश देने वाली पिशुनता न करे। (१३६) बडे आदमियो को भी ससार की अस्थिरता देखकर पाप नही करना चाहिए। (१३८) सुख चाहने वाले पति को भार्या के अनुसार रहना चाहिए। (१३९) जिनके घर में कुलीन स्त्रियाँ नही हैं उनके यहाँ पुत्र का होना व्यर्थ है। (१४१) सज्जन पुरूष भक्त लोगो द्वारा बहुत पीडित होने पर भी वत्सल होते हैं। (१४३) असज्जन पुरुषो की सगति से सज्जन में भी विकार आ जाता है। (१४५) प्रभु की स्वप्नवत् अस्थायी प्रसन्नता में विश्वास नही करना चाहिये। (१४८) आपत्काल उपस्थित होने पर भी सदा सत्य बोलना चाहिए। (१५०) विजय की आकाक्षा रखनेवाले सज्जनो को सदा अच्छे काम करने चाहिए। (१५४) वक्र, अतिक्रूर और लालची लोगो से प्रीति (मित्रता) का व्यवहार नही रखना चाहिये। (१५६) जिसका साथ सत्पुरुषो से होता है वह छोटा भी भाग्यवान् होता है। (१५७) माता-पिता, देवता और याचकों से बचा हुआ अन्न जो द्विज खाता है वह अमृत खाता है। (१५९) इन्द्राणी को भी सपत्नी द्वारा दिया गया दुःख असह्य होता है। (१६०)

सुभाषितरत्न भाण्डागार की सामान्य नीति

सुभाषित रत्न भाण्डागार

यह एक सस्कृत भाषा के अनेक प्रकार के काव्य ग्रन्थो से नीति-काव्य-नाटक,

चम्पू-नाटक-महाकाव्य-पुराण-इतिहास-आख्यायिका आदि से चुनी हुई सुन्दर उक्तियों का बहुत अच्छा संग्रह है। इसको श्री काशीनाथ पाण्डुरंग परब ने संग्रह किया था और वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पन्शीकर ने इसका पुनः संस्करण किया। इसका प्रकाशन तुकाराम जावजी ने अपने निर्णय सागर प्रेस बम्बई में १९११ में कराया था। इसमें राजप्रकरण के अन्तर्गत 'सामान्य नीति' का एक भाग है। इसमें नीति विषयक १ ५८ सुन्दर उक्तियों का संग्रह है। उनमें से २५ उक्तियों को चुनकर उनपर आधारित नैतिक विचारों को यहाँ पर लिखा गया है।

इस ग्रन्थ के अन्त में ही 'सुभाषित रत्न सम्भार मंजूषा' नाम के संस्कृत वाक्यों (कहावतों) का सुन्दर संग्रह है। उनमें से नीति सम्बन्धी कहावतों का चुनाव करके यहाँ हिन्दी में उनका अनुवाद किया गया है। इस अध्याय को पढ़कर पाठक को प्रायः सभी संस्कृत लेखकों के नैतिक विचारों का संक्षिप्त रूप से ज्ञान हो जायेगा। यह अध्याय प्राचीन भारतीय नैतिक विचारों का निचोड़ कहा जा सकता है।

सुभाषित रत्न भाण्डागार में सामान्य नीति

सन्मार्ग का अनुसरण

यदि सज्जनों के पथ का पूर्णतया अनुसरण नहीं हो पाता तो थोड़ा ही उसका अनुसरण करना चाहिए क्योंकि उस मार्ग पर लगा व्यक्ति भी दुःखी नहीं होता। (१)

स्वचरित्रावलोकन

प्रतिदिन प्रत्येक मनुष्य को अपने चरित्र का अवलोकन करके देखना चाहिए कि उसके चरित्र में क्या पशुओं के समान है और क्या सत्पुरुषों के। (८)

सज्जन सम्पर्क

सज्जनों के साथ बैठे, उनकी संगति करे, उनके ही साथ मिलना तथा विवाद भी करे। असज्जनों के साथ कुछ भी नहीं करना चाहिए। (३)

सुपात्र के पास सम्पत्ति आती है

अपने को सुपात्र बनाने का यत्न करो। योग्य पात्र बन जाने पर सब सम्पत्तियाँ स्वयं पास आ जाती हैं।

समय का उपयोग

बुद्धिमानों का समय गीत शास्त्रादि के विनोद में व्यतीत होता है किन्तु मूर्खों का समय निद्रा व्यसन और कलह में व्यतीत होता है। (२५)

युक्तियुक्त वचन ग्राह्य

बुद्धिमानों को चाहिए कि युक्ति-युक्त वचन बालक का कहा हुआ भी मान ले। (२५)

अप्रकाश्य बातें

सम्पत्ति का नाश, मन की पीड़ा, घर का दुश्चरित्र, ठगा जाना तथा अपमान, इनका प्रकाश बुद्धिमान को कभी नहीं करना चाहिए।

त्याज्य वस्तुएँ

बिना वृत्ति (रोजगार) वाला देश छोड़ देना चाहिए, उपद्रव से युक्त वृत्ति का भी परित्याग करना चाहिए। कपटी मित्र का परित्याग कर देना चाहिए। उस सम्पत्ति का त्याग कर देना चाहिए जिसमें प्राण का भय हो। (२९)

स्नेहहीन का त्याग

अपना भाई भी यदि स्नेह से हीन हो जाये तो उसे छोड़ देना चाहिए, अन्य की तो बात ही क्या? (३०)

कष्टदायक अंग भी त्याज्य

जिसके कारण शोक, दुःख या राग अथवा कष्ट हो जाये, या जिससे शूल हो, उस अंग का भी परित्याग कर देना चाहिए। (३२)

आत्महित के लिए सर्वत्याग

कुल के लिए एक का परित्याग कर देना चाहिए। ग्राम के लिए कुल का, तथा देश के लिए ग्राम का, और अपने लिए सारी पृथ्वी तक का परित्याग कर देना चाहिए। (३२)

कहाँ वास नहीं करना चाहिए

धनी, वैदिक, राजा, नदी और वैद्य, जहाँ ये पाँच न हों वहाँ एक दिन भी नहीं रहना चाहिए। (३४)

देखभाल कर स्थान बदलना चाहिए

दूसरी जगह का पूर्ण परीक्षण किये बिना पहले स्थान का परित्याग नहीं करना चाहिए।

किस राजा के राज में न रहे

बिना राजा के स्थान पर नहीं रहना चाहिए, जहाँ बालक राजा हो वहाँ भी नहीं रहना चाहिए। जहाँ स्त्री अथवा अनेक नायक हों वहाँ भी नहीं रहना चाहिए। (३६)

अकरणीय काम

सदा विवाद का परित्याग करना चाहिए, किसी के मर्म को आघात नहीं पहुँचाना चाहिए, स्वाध्याय के विरोधी सभी अर्थों का परित्याग कर देना चाहिए। (३७)

त्याज्य कर्म

प्राण का विनाश, चोरी, तथा पर स्त्री गमन, इन तीनों को सदा के लिए छोड़ देना

चाहिए। (३९)

जो करना है आज ही करे

कोई यह नही जानता कि कल क्या होगा। इसलिए जो कुछ कल करना हो उसे आज ही करना चाहिए। (४)

दोनों लोकों का हित सोचना चाहिए

इस मर्त्य देह मे विचार कर वही काम करना चाहिए जो दोनो लोकों में आनन्द दे। अन्य सभी कामो को छोड़ देना चाहिए। (४१)

परम धर्मार्थ काम मोक्ष

उपकार सर्वश्रेष्ठ धर्म है, निपुणता ही परम धन है। सुपात्र को दान देना सर्वश्रेष्ठ काम है तथा तृष्णा रहित दोनों ही परम मोक्ष है। (४८)

दान और अध्ययन थोड़ा-थोड़ा करने पर बहुत हो जाता है

सुरमे के पहाड़ का विनाश तथा वल्मीक (दीमक की बमी) का संचय देख कर प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि दान तथा अध्ययन मे अपने दिन को सार्थक बनावे। (४३)

परस्त्री गमन आयु को क्षीण करता है

पर स्त्री के पास नही जाना चाहिए चाहे वह स्त्री किसी बल की क्यों न हो। इसके समान आयु को नष्ट करने वाली कोई वस्तु तीनों लोको में नही है। (४४)

किसी स्त्री के साथ एकान्तवास नहीं करना चाहिए

अपनी माता बहन तथा कन्या के साथ भी एकान्त में नही बैठना चाहिए क्योंकि इन्द्रियाँ प्रबल होती है। वे विद्वान् को भी वश मे कर लेती है। (४५)

परम पवित्र जीवन

जो व्यक्ति पर स्त्री से पर द्रव्य से तथा पर द्रोह से दूर रहते हैं गंगा भी यह चाहती है कि वे कब आकर उसे पवित्र करें। (४६)

पाँच महापाप

ब्रह्म हत्या मदिरा पान चोरी गुरु स्त्री के साथ गमन ये महापाप कहे जाते हैं। तथा उनके करने वालों के संग रहना भी पचम महापाप है। (४७)

नरक में ले जाने वाले कर्म

स्त्री बालक स्वामी तथा मित्र की हत्या करने वाले को हत्यारे, विश्वास घातक, सुरा पीने वाले, ब्रह्म हत्यारे और चोर, ये सभी नरक में जाते हैं। (४८)

परेशानी की मौत मरने वाले

झूठी गवाही देने वाला झूठ बोलने वाला असत् उपदेश देने वाला और वेद की निन्दा करने वाला ये सब परेशान होकर मरते हैं। (४९)

तीनो लोको में सर्वोत्तम वशीकरण

सभी जीवो के प्रति दया तथा मित्रता, दान, और मधुर वाणी इनके समान त्रिलोकी मे कोई वशीकरण नहीं है। (५१)

मित्रता को भग करने वाले कारण

विवाद, धन का सम्बन्ध, मांगना, स्त्रियो के साथ सपर्क, आगे बढना मित्रता को भग करने के कारण होते हैं। (५२)

मित्र लक्षण

जो अपनी स्त्रियो को दिखला देता है, घर में भोजन कराता है, किसी प्रकार की शका नहीं रखता, सभी गुप्त बातो को बतला देता है, उससे बडा मित्र और कौन हो सकता है? (५३)

अपने ही कर्मों द्वारा उन्नति और अवनति

अपनी चेष्टाओ से ही मनुष्य उच्च अथवा नीच स्थान प्राप्त करता है। (६३)

इन्द्रियो का विश्वास नहीं करना चाहिए

जो प्रचण्ड तप मे लीन हो उनकी भी इन्द्रियो का विश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि विश्वामित्र ने भी उत्कण्ठा के साथ मेनका को कण्ठ मे लगा लिया था। (७१)

माता के साथ भी एकान्तवास न करना चाहिए

इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने वाले को चाहिए कि एकान्त मे माता के पास भी न रहे, क्योंकि पुत्र रूप मे पालित प्रद्युम्न भी शम्बर की स्त्री के साथ कामासक्त हो गए थे। (७३)

अपनी सम्पत्ति अपने जीते हुए पुत्र तक को भी सुपुर्द नहीं करना चाहिए

अपने जीते हुए पुत्र के भी हाथ अपना ऐश्वर्य समर्पण कभी भी नहीं करना चाहिए। पुत्र के हाथ में राज्य समर्पण करने के कारण ही धृतराष्ट्र तृण तुल्य हो गये थे। (७७)

अविश्वसनीय प्राणी

नदियो का, नखवाले और सीग वाले जन्तुओ का, शस्त्र लिए मनुष्य का, स्त्री तथा राजकुल का विश्वास नहीं करना चाहिए। (७९)

बुढापे के कारण

मनुष्यो के लिए चिन्ता ही बुढापा है। मार्ग का न चलना घोडो का बुढापा है, असम्भोग स्त्रियो के लिए बुढापा है। तथा धूप वस्त्रो के लिए बुढापा है। (८२)

प्रिय वचन सबको प्रसन्न करते हैं

प्रिय वाक्य की कृपा से भी सभी मनुष्य प्रसन्न हो जाते हैं। इसलिए सदा प्रिय वाक्य बोलने चाहिए। वचनो में भी क्यो दरिद्रता की जाये? (८३)

न्याय के मार्ग पर चलने वाले की सभी सहायता करते हैं

न्याय मार्ग के अनुसरण करने वाले की सहायता पशु पक्षी भी करते हैं और कुपथ चलने वाले की सहायता अपना भाई भी नहीं करता है। (८५)

जिह्वा (बोल) के ऊपर सब कुछ निर्भर है

जिह्वा के अग्रिम भाग पर लक्ष्मी मित्र तथा बन्धु बन्धन तथा मरण सभी वास करता है। (८७)

किस देश में वास नहीं करना चाहिए

जिस देश में न सम्मान हो न प्रेम हो न बन्धु हों और न विद्या का लाभ हो, उस देश में एक दिन भी नहीं रहना चाहिए। (८८)

सारे चले जाने की सम्भावना में आधा त्याग देना चाहिए

जहाँ सम्पूर्ण का नाश होने वाला हो वहाँ बुद्धिमान् आधे का परित्याग कर देते हैं और आधे से कार्य करते हैं, जिससे सम्पूर्ण का विनाश न हो सके। (९)

वे पाप जिनका कोई प्रायश्चित ही नहीं

मित्र के साथ द्रोह करने वाले कृतघ्न स्त्री हत्या करने वाले चुगलखोर, इन चारों को कोई प्रायश्चित नहीं है। (९२)

सुख और दुःख देने वाली बुद्धियाँ

अपनी बुद्धि सुख देने वाली होती है गुरु की बुद्धि विशेषतया सुख देने वाली होती है, दूसरे की बुद्धि विनाश करने वाली होती है। और स्त्री की बुद्धि प्रलय करने वाली होती है। (९४)

उत्तम पदार्थों को सब स्थानों से ग्रहण करना चाहिए

विष में से भी अमृत का ग्रहण अपवित्र वस्तु में से स्वर्ण का ग्रहण नीच से भी उत्तम विद्या का ग्रहण तथा खराब कुल से भी स्त्री रत्न का ग्रहण कर लेना चाहिए। (९६)

वश में करने के नाना उपाय

लोभी को धन से वश में करना चाहिए, क्रोधी को हाथ जोड़कर, मूर्ख को उसकी बात रखकर, तथा पण्डित को यथार्थ बात बतलाकर वश में करना चाहिए। (९७)

कब किसको पहिचाने

युद्ध में नौकर को दुःख में बन्धु को आपत्ति में मित्र को तथा सम्पत्ति के नाश होने पर स्त्री को पहचानना चाहिए। (९८)

दूर से ही त्याज्य प्राणी

नखी कुत्ता उन्मत्त हाथी बहुत बोलने वाली स्त्रियाँ राजपुत्र तथा दुर्जन को दूर से ही छोड़ देना चाहिए। (९९)

नमस्कार तक न करने योग्य मनुष्य

दूर रहने वाले को, जल के मध्य में स्थित व्यक्ति को, दौड़ते हुए को, धन से गर्वित को, क्रोधी और मद से उन्मत्त को नमस्कार भी नहीं करना चाहिए। (१००)

कभी सुखी न होने वाले मनुष्य

ये दो प्रकार के मनुष्य संसार में कभी सुखी नहीं हो सकते, एक वह जो धनहीन होने पर भी कामना करता है, और दूसरा वह जो शक्तिहीन होने पर भी क्रोध करता है। (१०६)

सदा स्वर्ग के ऊपर रहने वाले मनुष्य

ये दो पुरुष स्वर्ग के ऊपर ही रहते हैं एक जो समर्थ होकर भी क्षमा युक्त है, और दूसरा जो दरिद्र होते हुए भी दान करता है। (१०७)

मृत्यु लाने वाले कुछ कारण

दुष्ट स्त्री, मूर्ख मित्र, उत्तर देने वाला नौकर, सप वाले घर मे रहना, ये सभी मृत्यु लाने वाले हैं, इसमें संशय नहीं है। (१११)

निर्बल का कोई मित्र नहीं

वन को जलाते समय वायु उस अग्नि का मित्र हो जाता है, किन्तु वही वायु दीप का विनाश कर डालता है अर्थात् दुर्बल रहने पर कौन किसी का मित्र हो सकता है? (१२०)

बड़ी तपस्या के फल

खाने की सामग्री, तथा भोजन पचाने की क्षमता, रति की शक्ति और सुन्दर स्त्रियाँ, सम्पत्ति तथा दान की प्रवृत्ति, ये थोडी तपस्या के फल नहीं हैं। (१२१)

जीते हुए भी मृत

व्यास ने इन पाँच को जीते हुए भी मृत कहा है। दरिद्र, रोगी, मूर्ख, सदा विदेश में रहने वाला, तथा नित्य सेवक। (१२३)

मध्यभाव से सेवनीय

अत्यन्त सन्निकट होने से नाश हो जाता है, तथा अत्यन्त दूर होने पर कोई फल ही नहीं, इसलिए राजा, अग्नि, गुरू और स्त्री को मध्य मार्ग से सेवन करना चाहिए। (१२४)

उपद्रव न करने वाले की कोई पूजा नहीं करता

उपद्रव न करने वाले महान् की भी पूजा नहीं होती है, मनुष्य नाग की तो पूजा करते हैं किन्तु गरुड और हाथी की पूजा कोई नहीं करता। (१२९)

स्त्रीहीन घर शून्य

पुत्र, पौत्र, बन्धु, भृत्य आदि से सदा पूर्ण होने पर भी स्त्री के न रहने पर गृहस्थ का घर शून्य ही रहता है। (१३२)

नाश करने वाले

राज्य का विनाशक खराब मन्त्री होता है ग्राम को नाश करने वाला हाथी है शाला घर का विनाशक होता है तथा मामा सभी का विनाशक होता है। (१३७)

थोड़ी भी विस्तृत होने वाली वस्तुएँ

जल मे तैल दुष्ट मे रहस्य सुपात्र में दान और बुद्धिमान में शास्त्र यदि थोड़ा भी हो तो वस्तु की शक्ति के कारण वह स्वयं विस्तृत हो जाता है। (१३८)

सेवन से बढ़ने वाली वस्तुएँ

उद्योग कलह, खाज जुआ मद पर स्त्री आहार, मथुन और निद्रा ये भी सेवन से ही बढ़ते हैं। (१३९)

द्वेष के कारण

अपने प्रयोजन के सिद्ध होने पर स्वामी से विवाह हो जाने पर माता से तथा सन्तति पैदा हो जाने पर पति से और रोग छूट जाने पर वैद्य से द्वेष करते हैं। (१४)

पवित्र आचरण

भूमि में देखकर पैर रखना चाहिए, वस्त्र से छानकर जल पीना चाहिए, सत्य से पवित्र वाणी बोलना चाहिए तथा मन से पवित्र परस्पर व्यवहार करना चाहिए। (१४२)

स्त्री को स्वर्ग ले जाने वाला धर्म

स्त्रियों के लिए न तो यज्ञ है न व्रत है और न उपवास केवल पति की सेवा मात्र से वे वह स्वर्ग प्राप्त कर सकती हैं। (१४३)

स्त्री के लिए पति सेवा ही सब कुछ है

पति देवता है वही गुरु है वही धर्म और तीर्थ तथा व्रत भी वही है इसलिए सती स्त्रियाँ सभी का परित्याग कर केवल पति की ही सेवा करती हैं। (१४५)

संसार में सार वस्तुएँ

इस असार संसार में यही चार काशी का रहना सज्जनों की संगति गंगाजल और शंकर की सेवा सार है। (१४६)

सात दुर्लभ संस्कार

सम्पत्ति सरस्वती सत्य सन्तान सज्जन अनुग्रह, सत्ता सुकृत (सत्कर्म) तथा सम्भार (पूर्णता) सात सकार बड़े ही दुर्लभ हैं। (१५)

क्षणिक उपभोग की वस्तुएँ

बादल की छाया, खल की प्रीति नया अन्न स्त्रियाँ यौवन और धन कुछ क्षण ही के लिए उपभोग के योग्य होते हैं। (१५१)

सर्वत्र आदरणीय व्यक्ति

शूर, विद्वान और रूपवती स्त्रियाँ जहाँ कही जाती हैं, वही उनका आदर होता है। (१६३)

पाँच दुर्भर जकार

जामाता, जठर (पेट), जाया (स्त्री), जातवेदा (अग्नि) जलाशय ये पाँच जकार भरने पर भी नही भरते, ये अत्यत दुर्भर हैं। (१६९)

आदर्शता

वही सम्पत्ति है जो मद नही पैदा करे, वही सुखी है जिसने तृष्णा का परित्याग कर दिया, वही मित्र है जिस पर विश्वास हो और वही पुरुष है जिसने अपनी इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर ली है। (१७१)

सुलभता अनादर का कारण है

जो वस्तु आसानी से मिल सकती है उसका आदर नही होता। यही कारण है कि लोग अपनी स्त्री को छोड कर पर स्त्री के साथ रमण की वाञ्छा करते हैं। (१७२)

संसार लकीर का फकीर है

एक के कामो को देख कर दूसरा भी पाप कर्म करता है। ससार लकीर का फकीर है। कोई भी यथार्थ देखने वाला नहीं। (१७३)

विनाश के कारण

विद्या का नाश आलस्य से, स्त्री का विनाश दूसरे के हाथ में पडने से तथा क्षेत्र का विनाश अल्प बीज से और सेना का विनाश विना सेनापति के हो जाता है। (१७७)

एक ही वस्तु दृष्टा के अनुसार अनेक रूपवाली

एक ही वस्तु विभिन्न प्रकार मे देखी जाने के कारण तीन प्रकार की हो जाती है। जैसे एक ही स्त्री योगी के लिए कुणप (शव-मुर्दा) कामी के लिए कामिनी तथा कुत्ते के लिए मांस का पुञ्ज होती है। (१७९)

लक्ष्मी, कीर्ति विद्या और बुद्धि के वृद्धि के कारण

लक्ष्मी सदा सत्य के पीछे-पीछे चलती है। कीर्ति सदा त्याग का अनुसरण करती है। विद्या सदा अभ्यास के अनुसार होती है और वुद्धि सदा कर्म के अनुसार प्राप्त होती है। (१८८)

कलि के प्रभाव से विमुक्त

जिसका हृदय दया से पूर्ण, वचन सत्य से युक्त, शरीर दूसरे की भलाई में निरत है, उसका कलि भला क्या कर सकेगा? (१९२)

स्त्री को गौरवान्वित करने वाले पाँच प्रकार

पुत्र पैदा करने वाली पाक में कुशल पवित्र पतिव्रता पद्माक्षी (कमल के समान आँखों वाली) अर्थात् इन पाँच प्रकारों की स्त्री गौरव प्राप्त करती है। (१९४)

गोपनीय वस्तुयें

आयु, धन गृह का छेद, मन्त्र औषध मैथुन दान मान और अपमान इन सब को गोप्य रखना चाहिए। (१९७)

सुखी कौन ?

जो बिल्कुल मूर्ख है और जो बुद्धि से ऊपर उठ गया है ये दोनों तो संसार में सुखी होते है और मध्य वाले लोग सदा दुखी रहते है। (२ १)

गृहस्थी द्वारा रक्षणीय पंच

अतिथि बालक पत्नी जननी और पिता इन पाँच की रक्षा तो गृहस्थ को अवश्य करनी चाहिए और इनसे अतिरिक्त की रक्षा शक्ति के अनुसार। (२ ६)

साक्षर विपरीत होने पर राक्षस हो जाता है

सरस को उलट देने पर उसकी सरसता नहीं जाती किन्तु साक्षर के उलट देने पर वह राक्षस ही हो जाता है। (२ ९)

परनिन्दा न करना वशीकरण

यदि चाहते हो कि सारे संसार को एक ही कर्म से वश में कर लें तो दूसरे के अपवाद रूपी धान्य को चरने वाली वाणी रूपी गौ को रोक दो अर्थात् दूसरे की निन्दा न करो।(२१)

सुखी होने के उपाय

पापों का मूल कारण लोभ व्याधियों का मूल कारण रस (स्वाद आसक्ति) तथा शोक का मूल कारण इष्ट (इच्छा का विषय) है इसलिए तीनों का परित्याग करके ही सुखी हुआ जा सकता है। (२१४)

विद्यादान अन्नदान से श्रेष्ठ है

अन्नदान से भी श्रेष्ठ विद्यादान माना जाता है क्योंकि अन्न से तो एक क्षण के लिए ही तृप्ति होती है और विद्या से जीवन भर के लिए तृप्ति हो जाती है। (२१७)

दूसरों को न देने योग्य वस्तुएं

लेखनी पुस्तक तथा स्त्री दूसरे के हाथ में जाने पर लौट कर नहीं आती और यदि कहीं लौट कर आयी भी तो भ्रष्ट भ्रष्ट (मैली) और चुम्बित होकर ही आयेगी। (२२१)

मित्रता के लिए त्याज्य काम

यदि बहुत काल तक मित्रता चाहते हो तो तीन वस्तुओं को छोड़ दो। पहला

विवाद, दूसरा रुपयों का लेन-देन तथा (उसकी) स्त्री के साथ सम्भाषण। (२२७)

विषय विष से भी भयकर

विष और विषय में महान् अन्तर है क्योंकि विष खाने पर प्राण लेता है किन्तु विषय स्मरण करने मात्र से नष्ट कर देता है। (२३१)

क्षणिक वैराग्य

पुराण सुनने के बाद, श्मशान मे जाने के बाद और मैथुन करने के बाद जो बुद्धि मनुष्य को होती है वह यदि सदा रहे तो कौन बन्धनो से मुक्त नही हो सकता। (२३२)

ससार में दु ख के कारण

ससार में निर्धन दु खी है, उसमे भी दु खी वह है जो ऋण से लदा हुआ है, इन दोनो से दु खी रोगी है और इन सभी से दु खी वह है जिसकी स्त्री खराब है। (२४८)

विना शस्त्र ही वध

राजाओ की आज्ञा का उल्लघन, ब्राह्मणो की प्रतिष्ठा का खण्डन, स्त्रियो का पृथक सोना, इन तीनो को विना शस्त्र के ही वध कहा जाता है। (२४९)

अक्षय और अचौर्य निधियाँ

शील, शूरता, अनालस्य, पाण्डित्य और मित्र सग्रह ये पाँच चोरो द्वारा न हरण करने योग्य अक्षय निधि कहे जाते हैं। (२५३)

सच्चा ज्ञानी

जो अन्य स्त्री को माता के तुल्य, पर द्रव्य को लोष्ठ के समान तथा सभी जीवो को अपने समान समझता है वह पण्डित है। (२५४)

व्यर्थ हो जाने वाले गुण

गुण हीन का रूप व्यर्थ है, शील हीन का कुल व्यर्थ है, सिद्धि हीन की विद्या नष्ट हो जाती है और अभागे पुरुष का धन व्यर्थ हो जाता है। (२६०)

सर्वभिन्नता

प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि भिन्न होती है, प्रत्येक कुण्ड में नया जल रहता है, भिन्न-भिन्न जातियो का भिन्न-भिन्न व्यवहार होता है तथा प्रत्येक मुख से नयी वाणी निकलती है। (२६५)

प्रशसा का अवसर और पात्र

प्रत्यक्ष में गुरु की प्रशसा करनी चाहिये परोक्ष में मित्र तथा बन्धुओ की प्रशसा करनी चाहिए, कार्य की समाप्ति के बाद मृत्य की प्रशसा करनी चाहिये। स्त्री तथा पुत्र की कभी भी प्रशसा नही करनी चाहिए। (२७३)

कहाँ लज्जा त्याग गुणकर है

धन पैसे के लेन देन में विद्या के संग्रह में आहार तथा व्यवहार में लज्जा छोड़ कर व्यवहार करने वाला पुरुष सुखी होता है। (२७५)

वर्तमान में ही सम्बन्ध रखना चाहिए

बीते का शोक नहीं करना चाहिए और भविष्यत् की चिन्ता भी नहीं करनी चाहिए। जो वर्तमान है उसी से बुद्धिमान् अपना निर्वाह करते हैं। (२७७)

अपनी गति अपने ऊपर ही निर्भर है

आत्मा स्वयं कर्म करता है स्वयं उसका फल भोगता है। स्वयं संसार में घूमता है और स्वयं संसार से विमुक्त होता है। (२८१)

कौन शत्रु है

ऋण लेने वाला पिता शत्रु है व्यभिचारिणी माता शत्रु है अविनीत स्त्री शत्रु है, तथा मूर्ख पुत्र शत्रु है। (२५८)

काम क्रोध मोह और ज्ञान की उपमा

काम के समान रोग नहीं है मोह के समान शत्रु नहीं है क्रोध के समान अग्नि नहीं है तथा ज्ञान से परे सुख नहीं है। (२८६)

विविध मित्र

विदेश में विद्या ही मित्र है घर पर स्त्री मित्र है, रोगी का मित्र औषधि है और मरे हुए का मित्र धर्म है। (२८७)

असली भूषण

हाथ का भूषण दान कण्ठ का भूषण सत्य कान का भूषण शास्त्र है। अन्य भूषणों की क्या आवश्यकता। (२९१)

दुःख के भागी

ईर्ष्या करने वाला घृणा करने वाला असन्तोषी क्रोधी नित्य सन्देह करने वाला, दूसरे के भाग्य के भरोसे जीने वाला ये छः दुःख के भागी होते हैं। (२९५)

नया और पुराना

नया वस्त्र नया छाता नयी स्त्री नया घर, सभी जगह नए की प्रशंसा होती है किन्तु सेवक और अन्न (चावल) पुराने ही अच्छे होते हैं। (२९६)

कार्य सिद्ध ही अभीष्ट

अपमान को आगे रख कर तथा मान को पीछे करके बुद्धिमान् अपने कार्य को सिद्ध करे, क्योंकि कार्य का नाश करना ही मूर्खता है। (२९९))

क्या नहीं ?

कवि क्या नही देख लेते हैं, कौवे क्या नही खा लेते है, शराब पीने वाला क्या नही कह सकता है और स्त्रियां क्या नही कर सकती ह? (३०४)

प्रीति के लक्षण

देता है,बदले मे कुछ लेता है, रहस्यो को कहता और पूछता है, खाता तथा खिलाता है, यही छ प्रकार का प्रेम का लक्षण है। (३०६)

पुत्र के प्रति व्यवहार

पांच वर्ष तक प्यार करना चाहिये और दस वर्ष डाटना फटकारना चाहिए, किन्तु सोलह वष के हो जाने पर पुत्र को भी मित्र के समान मानना चाहिए। (३०८)

पर दुख से अनभिज्ञ

राजा, वेश्या, यम, अग्नि, मेहमान, बालक, याचक और ग्राम कण्टक ये आठो दूसरे के दुख को नही जानते। (३१२)

क्रोध निन्दा

सभी अनर्थो का मूल क्रोध है, क्रोध ही ससार का बन्धन है, क्रोध धम को नाश करने वाला है। इसलिए क्रोध का परित्याग करना चाहिए। (३१३)

कर्तव्य और अकर्त्तव्य के सामने प्राणों की परवाह नहीं करनी चाहिए

प्राण सकट में पडने पर भी अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए प्राण सकट पडने पर भी अकर्त्तव्य नही करना चाहिए। (३१७)

किनको खाली हाथ नहीं देखना

अग्नि होत्र, घर, खेत, मित्र, स्त्री, पुत्र, बालक, राजा, देवता और गुरू को खाली हाथ नही देखना चाहिए। (३१८)

आलसी को सुख नसीब नहीं होता

आलसी को विद्या कैसे प्राप्त हो सकती है, विद्याहीन को धन कैसे प्राप्त हो सकता है, धनहीन का मित्र कौन हो सकता है और मित्र हीन को सुख कैसे मिल सकता है। (३२०)

मित्र में भी विश्वास नहीं करना चाहिए

अमित्र पर तो विश्वास करना नही चाहिए। मित्र पर भी विश्वास नही करना चाहिए। क्योंकि कभी मित्र भी कुपित होकर सब रहस्यो को प्रकाशित कर सकता है। (३२३)

तीन मादक वस्तुएँ

स्त्री, मदिरा, लक्ष्मी ये तीनो मदिरा के ही रूप हैं। एक तो देखते ही मदमत्त बनाती है, दूसरी पीने पर, और तीसरी अत्यधिक सचय करने पर। (३२५)

पाँच माताएँ

राजा की स्त्री, गुरु की स्त्री, मित्र की स्त्री, पत्नी की माता और अपनी माता ये पाँचों माता ही कही गयी हैं। (१२६)

मर्दन करने से गुण बढ़ना

ईख, तिल, शूद्र, कामिनी, स्वर्ण, पृथ्वी, दधि, चन्दन और ताम्बूल इनका मर्दन करना गुण बढ़ाना है। (१२७)

व्यर्थ है

दूसरे के अधीन रहना काम का जीवन व्यर्थ है, पर स्त्री के साथ का सुख व्यर्थ है, दूसरे के घर में रहना, पराई सम्पत्ति व्यर्थ है और जो पुस्तक में विद्या है वह व्यर्थ है। (१२८)

प्रशंसा और निन्दा के फल

सम्मान न होने पर तपस्या की वृद्धि होती है और सम्मान होने पर तपस्या की हानि होती है। प्रशंसा होने पर पुण्य की हानि होती है और निन्दा से सद्गति होती है।

विजय के उपाय

सद्भाव से मित्र पर विजय प्राप्त करनी चाहिए और सद्भाव से ही बन्धुओं को जीतना चाहिए, स्त्री और सेवक को दान और प्रतिष्ठा द्वारा तथा अन्य लोगों को अपनी उदारता द्वारा जीतना चाहिए। (११६)

सन्तोष और असन्तोष के विषय

तीन विषयों में सदा सन्तोष करना चाहिये स्त्री, भोजन और धन में और दान, तपस्या तथा अध्ययन में कभी सन्तोष नहीं करना चाहिए। (११७)

पुत्र, भार्या, धर्म और असत्य का जीवन में स्थान

पुत्र से बड़ा लाभ नहीं, स्त्री से बढ़कर सुख नहीं, धर्म से बढ़ कर मित्र नहीं और असत्य से बढ़ कर पाप नहीं होता है। (११८)

अच्छे शील वाले शूद्र की भी पूजा करनी चाहिए

जो शील में अपने से बड़ा हो उसका आदर करना चाहिए, जो हीन हो उसकी पूजा नहीं करनी चाहिए। जो शूद्र भी धर्मज्ञ हो और अच्छी वृत्ति वाला हो उसकी भी पूजा करनी चाहिए। (११९)

शिष्य और पुत्र को समान मानना चाहिए

प्रभु के भी गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए तथा गुरु के भी दोषों की निन्दा करनी चाहिए। सदा सभी प्रकार से पुत्र और शिष्य को समान मानना चाहिए। (१४)

उचित योजन

अपनी कन्या को सुन्दर कुल से सम्बन्वित करावे, पुत्र को विद्या पढने में लगावे, शत्रु को आपत्ति में और इष्ट को धर्म में प्रवृत्त करावे। (३४१)

लालन या ताडन

लालन में अनेक दोष होते हैं और ताडन में अनेक गुण होते हैं। इसलिए पुत्र और शिष्य को ताडन करे लालन न करे। (३४३)

दुष्ट मित्र से पुन मित्रता करना भयावह है

एक बार दुष्ट हुए मित्र को जो पुन' मिलाना चाहता है वह अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होता है जैसे खच्चरी का गर्भ उसकी मृत्यु का कारण होता है। (३४५)

आत्मरक्षा ही प्रधान है

आपत्ति के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए, धन से स्त्री की रक्षा करनी चाहिए और अपनी रक्षा स्त्री और धन सभी से करनी चाहिए। (३४८)

वर्ज्य आचरण

पर स्त्री, पर धन, दूसरे की निन्दा, परिहास, गुरू के स्थान पर चचलता इन सबका परित्याग कर देना चाहिए।

योग्य पुरुष के लिए कुछ दुष्कर नहीं है

शरीर से निरपेक्ष, चतुर, व्यवसायी और बुद्धिमानी से काम करने वाले के लिए कुछ भी दुष्कर नही है। (३५२)

सम्पत्ति नाश के कारण

अत्यन्त दयावान् की, पद पद पर शका करने वाले की और दूसरे की निन्दा से डरने वाले की सम्पत्तियाँ भाग जाती हैं। (३५३)

उचित समय टल जाने पर काम बिगड जाता है

आदान, प्रदान, तथा क्रियमाण कर्म यदि जल्द न किए जायें तो इनका रस काल पी जाता है। (३५४)

थोडे के लिए अधिक का नाश नहीं करना चाहिए

थोडे के लिए अधिक का नाश न करना चाहिये, यही पाण्डित्य है कि थोडे के लिए अधिक का नाश न हो। (३५५)

सोच विचार कर काम करना चाहिए

इसको करने से मेरा क्या होगा, इसके न करने से मेरा क्या होगा, यह मन में विचार कर ही बुद्धिमान को अपना काम करना चाहिये अथवा काम का परित्याग करना चाहिए। (३५७)

पृथ्वी पर ही स्वर्ग का अनुभव

जिस आदमी का पुत्र सेवक और स्त्री उसके वश में हों, और (वस्तुओं के) अभाव में भी उसे सन्तोष हो, उसका पृथ्वी पर ही स्वर्ग है। (१७८)

शून्यता का अनुभव

मित्रहीन का जीवन शून्य है बन्धुहीन की दिशायें शून्य हैं पुत्रहीन का घर शून्य है और दरिद्र के लिए सब कुछ शून्य है। (१८७)

नाश से बचने के उपाय

कुलीन के साथ सम्पर्क पण्डित के साथ मित्रता और जाति के साथ मेल रखने वाले का विनाश नहीं होता। (१८९)

कष्ट की अवस्थायें

पराधीन, वृत्ति कष्टकर होती है बिना आश्रय का निवास दुष्कर होता है निर्धन का व्यवसाय कष्टकारक होता है और दरिद्रता सभी प्रकार के कष्ट देने वाली होती है। (१९)

निश्चित का ग्रहण और अनिश्चित का त्याग

जो निश्चित का परित्याग कर अनिश्चित का सेवन करता है उसके निश्चित भी विनष्ट हो जाते हैं अनिश्चित तो पहले ही से नहीं रहता। (१९४)

प्राणवर्द्धक वस्तुएं

ताजा मांस नया अन्न नयी स्त्री दूध का भोजन घी और गरम जल ये छः प्राण तत्काल लाभ वाले होते हैं। (१९६)

कुछ भी असंभव नहीं है

समर्थ के लिए भार क्या है? व्यवसायी के लिए क्या दूर है? विद्या वाले के लिए विदेश क्या है? और प्रिय बोलने वाले के लिए कौन सा दूसरा है। (४ ४)

इन्द्रियों का संयम सम्पदा का मार्ग है

इन्द्रियों का असंयम आपदाओं का मार्ग कहा गया है और इन्द्रियों पर विजय सम्पत्ति का मार्ग कहा गया है। अब आप जिस पथ पर चाहें चलें। (४ ५)

विद्या समान बन्धु नहीं इत्यादि

विद्या के समान कोई मित्र नहीं रोग के समान कोई शत्रु नहीं अपत्य के समान किसी से प्रेम नहीं और भाग्य के समान कोई बल नहीं है। (४ ६)

स्त्री पुरुष को अधिक समीप नहीं रहना चाहिए

स्त्री घी के घड़े के समान है और पुरुष तप्त अंगार के समान है इसलिए घी के घड़े और अग्नि को साथ नहीं रखना चाहिए। (४ ८)

स्त्री-पुरुष का तारतम्य

(पुरुषों की अपेक्षा) स्त्रियों का आहार दुगना, बुद्धि चौगुनी, व्यवसाय छ गुना और काम वासना आठ गुणी होती है। (४०९)

सन्तोष और लज्जा

असन्तोषी ब्राह्मण नष्ट हो जाता है, तथा सतोष करने से राजा नष्ट हो जाता है। लज्जा करने से गणिका नष्ट हो जाती है और लज्जाहीन होने से कुलीन स्त्री नष्ट हो जाती है। (४११)

धन और विद्या अपने पास होनी चाहिये

जो विद्या केवल पुस्तक में ही है और जो धन दूसरो के हाथ में है। समय आने पर न वह विद्या ही काम देती है और न वह धन ही काम आता है। (४१३)

मृतप्राय मनुष्य

जिसका खेत नदी के किनारे हो, स्त्री दूसरे को प्रिय हो और पुत्र विनयहीन हो, उसकी मृत्यु में कोई सशय नही है। (४१५)

नित्य आनन्द के कारण

सुन्दर फसल होने पर कृषक तथा रोगी व्यक्ति को सदा सुख ही रहता है, और जिस पत्नी और पति में प्रेम हो उस घर में नित्य आनन्द ही आनन्द है। (४१७)

विद्या धन और पुण्य का अवस्थानुसार अर्जन

जिसने प्रथम अवस्था में विद्या का अर्जन नही किया दूसरी में धन का अर्जन नही किया और तृतीय में पुण्य नही कमाया तो चौथी में वह क्या करेगा ? (४१९)

ये चीजें विषवत् हैं

रात्रि में घूमना विष है, राजा का अनुकूल होना विष है, दूसरे पर आसक्त रहने वाली स्त्री विष है, और अवहेलना करने पर रोग विषय हो जाता है। (४२२) अच्छी प्रकार न पडी हुई विद्या, अजीर्ण भोजन, दरिद्र की गोष्ठी विष है और वृद्ध पुरुष की तरुणी स्त्री विष है। (४२३)

धन और विद्या के उपार्जन के लिए अपने को अमर समझना चाहिए

अपने को अजर-अमर समझकर धन और विद्या का अर्जन करना चाहिए। शिर पर मृत्यु बैठी है, यह समझकर धर्म का आचरण करना चाहिए। (४२७)

अनिष्ट द्वारा इष्टसाधन का परिणाम अच्छा नहीं

अनिष्ट से इष्ट वस्तु होने पर भी परिणाम भला नही होता विष से मिला हुआ अमृत भी मृत्यु का कारण हो जाता है। (४३३)

सब प्राणियों पर दया

जिस प्रकार अपना प्राण प्रिय होता है उसी प्रकार समस्त प्राणियों को अपना अपना प्राण प्रिय होता है। इसीलिए अपने समान मान कर ही सज्जन लोग प्राणियों पर दया करते हैं। (४१)

विभूति प्राप्त करने के लिए क्या त्यागना

विभूति चाहने वाले व्यक्ति को निद्रा तन्द्रा भय क्रोध आलस्य दीर्घसूत्रता इन छः दोषों का परित्याग कर देना चाहिये (४४१)

सज्जनों के यहाँ इनकी कमी नहीं

बैठने के लिए आसन भूमि जल और विनयपूर्वक वाणी तथा सरलता से व्यवहार ये सज्जनों के घर में कभी घटते नहीं। (४४४)

जहाँ ये पाँच न हों वहाँ नहीं बसना चाहिए

लोक यात्रा भय लज्जा चतुरता त्यागशीलता ये पाँच जहाँ न रहें वहाँ निवास नहीं करना चाहिए।

ज्ञानी के लक्षण

पण्डित जन जो प्राप्त होने योग्य नहीं उसकी इच्छा नहीं रखते और जो नष्ट हो जाता है उसकी चिन्ता भी नहीं करते तथा आपत्ति आने पर नहीं घबड़ाते। (४९८)

जीवन में दुःख-सुख आते जाते ही रहते हैं

जब सुख आ जाये तो उसे भोगना चाहिए और दुःख आ पड़े तो उसे सहना चाहिए, दुःख और सुख चक्के की भाँति परिवर्तित होते रहते हैं। (४९९)

धन की प्राप्ति रक्षा और वृद्धि शुभ कामों में व्यय के लिए

जो प्राप्त नहीं उसकी प्राप्ति की इच्छा रखे जो प्राप्त हो गया हो उसकी रक्षा करे, और रक्षित को बढ़ावे और बढ़े हुए को तीर्थ में (शुभ कामों में) खर्च करे। (४९८)

स्वाधीनता से जीना ही जीवन की सफलता है

यही जीवन की सफलता है बिना किसी का भरोसा रख अपना निर्वाह हो। जो लोग पराधीन होकर भी अपने को जीवित समझते हैं तो मृत कौन कहलायेगा। (४०)

मूर्ख के लक्षण

जो बिना बुलाये जाता है बिना पूछे अधिक बोलता है और अपने ऊपर रखा को अन्य समझता है वह मूर्ख है। (४७१)

सौन्दर्य की सापेक्षता

स्वभाव से कोई वस्तु सुन्दर अथवा असुन्दर नहीं होती क्योंकि जो चीज जिसको अच्छी लगती है वह उसके लिए सुन्दर है और जो अच्छी नहीं लगती वह असुन्दर है।(४७७)

भावानुकूल व्यवहार चतुरता है

चतुर मनुष्य प्रत्येक मनुष्य के भाव के अनुसार ही उसके साथ व्यवहार कर उसको अपने वश में करे। (४७८)

ज्ञानी और मूर्ख में विशेष भेद

पण्डित नष्ट, मृत और बीती वस्तुओ की चिन्ता नहीं करता है। यही पण्डित और मूर्ख में भेद माना जाता है। (५१३)

स्वाभाविक द्वेष

मूर्ख लोग पण्डितो से, निर्धन धनियो से, पापी सदाचारियो से तथा कुलटायें सती स्त्रियो से द्वेष करती हैं। (५१८)

मित्र सग्रह की उपयोगिता

मित्रवान् व्यक्ति असाध्य कार्यों को भी सिद्ध कर लेता है इसलिए अपने समान ही मित्रो का सग्रह करना चाहिए। (५२३)

ब्रह्मघाती व्यभिचार

जो गुरु की कन्या, मित्र की स्त्री, स्वामी और सेवक की पत्नी के साथ रमण करता है वह ब्रह्मघाती कहा जाता है। (५३०)

सन्तोषी को लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती

जो मन्द बुद्धि वाला व्यक्ति थोडे से ही सतोष कर लेता है उस भाग्यहीन की आयी हुई लक्ष्मी भी चली जाती है। (५३२)

विवाह में किसका क्या इष्ट है

कन्या वर का वरण करती है, माता धन का, पिता ज्ञान (विद्या) का तथा बन्धु लोग अच्छा कुल चाहते हैं और अन्य लोग मिठाई ही चाहते हैं। (५४३)

अन्तकारी कारण

स्त्रियो के सुख का अन्त कलह से, मित्रता का अन्त कुवाक्य से, राष्ट्र का अन्त कुराज से और यश का अन्त कुकर्म से हो जाता है। (५४५)

बुरे के साथ बुराई में दोष नहीं

उपकार के बदले उपकार करे और हिंसा के बदले प्रतिहिंसा करे, दुष्ट के साथ दुष्टता करे, इसमें मैं दोष नही देखता हूँ। (५४६)

स्वर्ग जाने योग्य मनुष्य

जो मनुष्य सभी हिंसाओ से निवृत्त, सभी वस्तुओ को सहने वाले और सभी का आश्रय होते हैं वे ही स्वर्ग जाते हैं। (५४७)

मांस खाने में दोष

जो जिसका मांस खाता है उन दोनों के भेद को देखो एक तो एक क्षण के लिए प्रसन्नता पाता है और दूसरा प्राणों से वञ्चित हो जाता है। (५४८)

सभी के मित्र शत्रु और उदासीन होते हैं

मुनि भी यदि जंगल में जाकर अपना काम करता है तो उसके भी मित्र शत्रु और उदासीन हो ही जाते हैं। (५५४)

वर्तमान बातें

सम्पत्ति किसकी अचल रहती है और राजा किसका मित्र होता है? किसका शरीर स्थिर रहता है? और वेश्या किसकी पत्नी होती है? (५६१)

अनेक से वैर नहीं करना चाहिए

दुर्जन अथवा सज्जन कोई भी हो अनेक के साथ वैर नहीं करना चाहिए। फूले वाले सिंह को भी चिटियाँ खा जाती हैं। (५६५)

विजय के असम्भव उपाय

स्वप्न से निद्रा को न जीते और काम से स्त्री पर विजय न करे, ईंधन से अग्नि को न जीते और पान से मदिरा पर विजय पाये। (५७१)

स्त्रियों के लिए छः दोष

पान दुर्जन संसर्ग पति से विरह घूमना स्वप्न और अन्य के घर में रहना ये स्त्रियों के छः दोष हैं। (५७६)

भावानुसार देव दर्शन

देवता न तो काष्ठ में रहते हैं, और न पाषाण में किन्तु भाव में ही देवता रहते हैं। इसलिए भाव ही वहाँ कारण है। (५९६)

अन्यायोपार्जित धन दस वर्ष से अधिक नहीं रहता

अन्याय से उपार्जन किया हुआ धन दस वर्ष तक रहता है। ग्यारहवें में वह समूल नष्ट हो जाता है। (५९७)

संसार सागर पार करने के कुछ उपाय

जिनको भोजन तृप्ति के लिए, मैथुन सन्तान के लिये वाणी सत्य कहने के लिये है वे लोग संसार सागर को पार कर जाते हैं (५९८)

क्षमा, सन्तोष तृष्णा और दया

क्षमा के समान तपस्या नहीं सन्तोष से बढ़कर सुख नहीं तृष्णा के समान कोई व्याधि नहीं है और दया के समान कोई धर्म नहीं है। (६)

विषयों के भोग से कामना तृप्त नहीं होती, बढती ही रहती है

कभी भी कामना की तृप्ति उपभोग से नही हो सकती। जिस प्रकार अग्नि हवि से धधकती है उसी प्रकार विषय सेवन से काम की वृद्धि ही होती है। (६०९)

माता-पिता और गुरु की सेवा परम तप है

माता, पिता और आचार्य को सदा प्रसन्न रखना चाहिए। इन तीनो के तुष्ट हो जाने पर सभी तप समाप्त हो जाता है। (६१८)

अन्तरात्मा जिससे तुष्ट हो वह काम करना चाहिए

जिस कर्म के करने से अन्तरात्मा को परितोष हो उसे प्रयत्न से करना चाहिये और विपरीत का परित्याग कर देना चाहिए। (६२१)

अर्थ की पवित्रता (ईमानदारी) सब पवित्रताओ से श्रेष्ठ है

सभी शौचो में अर्थ की पवित्रता विशेष मानी जाती है जो अर्थ की पवित्रता रखता है, वही पवित्र है, मृतिका और जल की पवित्रता से काम नही चलता।

विद्या, सत्य, राग और त्याग

विद्या के समान नेत्र नही होता, सत्य के समान तप नही होता, राग के समान दुःख नही है और त्याग के समान सुख नही है। (६२४)

तृणसम चीजें

ब्रह्मवेत्ता के लिए स्वर्ग तृण के समान है शर को जीवन तृण के समान है, इन्द्रिय जीत के लिए स्त्री तृण के समान है, निस्पृह को जगत तृण के समान है। (६३३)

मन से किया हुआ पाप है, केवल शरीर से नहीं

मन से किया हुआ पाप ही पाप है शरीर से किया हुआ पाप पाप नही है। जिसने अपनी स्त्री का आलिंगन किया उसने अपनी लडकी का क्या आलिंगन नही किया? (६३५)

मित्रता को स्थिर रखने के उपाय

जो अधिक दिनो तक प्रेम का निर्वाह करना चाहता हो उसे विवाद, रुपये पैसे का सम्बन्ध और परोक्ष में स्त्री का दर्शन, ये तीनो काम नही करने चाहिए। (६४०)

सदा धन का उपार्जन रक्षण और वर्धन करते रहना चाहिए

अर्थ का उपार्जन, वर्धन और रक्षण करना चाहिए इसके बिना किये, खाते रहने पर सुमेरू पर्वत के समान धन राशि भी समाप्त हो सकती है। (६४१)

गुण, शील, सिद्धि ओर भोग की मुख्यता

गुण पूछो रूप नही, शील पूछो कुल नही, सिद्धि पूछो विद्या नहीं, भोग पूछो धन नही। (६४५) गुण रूप को विभूपित करता है, शील कुल को विभूपित करता है, सिद्धि

विद्या को विभूषित करती है और भोग धन को विभूषित करता है। (१४६) जिस मनुष्य को शील कुल और विद्या कुछ भी नहीं है कौन बुद्धिमान् उस व्यक्ति का विश्वास कर सकता है? (१४७)

बिल्ली राजा वेश्या और भिक्षु के साथ क्या प्रेम

बिल्ली के साथ क्या प्रेम? राजा के साथ प्रेम कैसा? वेश्या के साथ स्नेह कैसा? और भिक्षुक के साथ प्रेम कैसा? (१४८)

सबका भूषण शील है

धीर व्यक्तियों का भूषण विद्या है मन्त्रियों का भूषण राजा है। स्त्रियों का भूषण पति और शील सभी का भूषण है। (१४९)

असाध्य वस्तुयें

सिद्ध मन्त्र औषध (किया हुआ) धर्म घर का भेद मैथुन कुभक्षित और कुश्रुत इनको कभी भी प्रकाशित नहीं करना चाहिए। (१५६)

मनुष्य की सतत अतृप्ति

धन जीवन स्त्री और भोजन वृत्ति (राजद्वार) में मनुष्य अतृप्त रहते हैं और रहेंगे। (१५७)

असार से सार की प्राप्ति

वित्त से दान वाणी से सत्य जीवन से कीर्ति और धर्म शरीर से परोपकार इस प्रकार सभी असार वस्तुओं से सार की सिद्धि कर लेनी चाहिए। (१६२)

भावनानुसार सिद्धि होती है

देवता तीर्थ ब्राह्मण मन्त्र ज्योतिषी औषधि और गुरु में जिसकी जैसी भावना होती है उसको उसी प्रकार सिद्धि भी होती है। (१६८)

उपभोग से भोग की इच्छा शान्त नहीं होती

भोगी व्यक्ति की भोग की इच्छा उपभोग से कभी शान्त नहीं हो सकती। लवण के मिले हुए पानी पीने पर प्यास बुझती नहीं बढ़ती है। (१८५)

स्वाभाविक सुन्दर को सजावट की आवश्यकता नहीं

स्वभाव से सुन्दर वस्तु को संस्कार की अपेक्षा नहीं होती है। मोती रत्न को शाण पर घिसने की जरूरत नहीं होती है। (१९२)

अपने अपराधों के भागी फल

रोग शोक परिताप बन्धन और व्यसन ये अपने अपराध रूपी वृक्ष के फल ही मनुष्यों को प्राप्त होता है। (११९)

इनको प्रत्युत्तर नहीं देना चाहिए

बुद्धिमान् को राजा अर्थ के स्वामी, खजानची, बालक, वृद्ध, तपस्वी, विद्वान् स्त्री, मूर्ख और गुरु को उत्तर नही देना चाहिये। (७२०)

अति परिचय और बार-बार आने से अवज्ञा होती है

अत्यन्त परिचय होने से अवहेलना, तथा सदा जाने से अनादर होता है, प्रयाग के रहने वाले भी कुएँ पर स्नान करते हैं। (७२२)

माथे के दर्द

आज्ञा न मानने वाला सेवक, शठ मित्र, नहीं देने वाला स्वामी और उदण्ड स्त्री, ये चारों मस्तक के शूल ही हैं। (७२५)

मृत्यु के चार द्वार

अनुचित काम को करना, अपने आदमियों से विरोध, बलवान् से स्पर्धा, स्त्री का विश्वास, ये चार मृत्यु के द्वार कहे गए हैं। (७२९)

क्रूर, क्रूरता और क्रूरतन

क्रूर क्या। सर्प का हृदय और भी क्रूर क्या है स्त्री का हृदय सबसे क्रूर क्या है पति और पुत्र रहित स्त्री का हृदय (७५२)

पचलकार लक्षणी भार्या बड़े पुण्य से मिलती है

अनुकूल, सुन्दर अगोंवाली, अच्छे कुल में उत्पन्न, कुशल, विमल, सुन्दर स्वभाव वाली, सुशील। इन पाँच लकारों से युक्त स्त्री बड़े भाग्य के उदय होने पर ही मिलती है। (७५३)

परीक्षा की स्थितियाँ

आपत्ति में मित्र की परीक्षा, रणभूमि में वीर की परीक्षा, विनम्रता में वंश की परीक्षा और धन हीनता में स्त्री की परीक्षा होती है। (७५५)

धन से भी महान् ऐश्वर्यकारी पदार्थ

नीरोगता, विद्वत्ता, सज्जन के साथ मित्रता, बड़े कुल में जन्म स्वाधीनता, ये वस्तुएँ पुरुष में अर्थ के भी महान ऐश्वर्य उत्पन्न कर देती है। (७५७)

अवसरानुसार वाणी की शोभा

अवसर पर कहा हुआ सुभाषित भी मजाक के लिए हो जाता है। जिस प्रकार एकान्त में नवयुवती स्त्री के साथ रति के समय वेद पाठ हँसी के लिए होता है। अवसर पर कही हुई वाणी, गुणों से रहित पुरुष को सुशोभित करती है, जिस प्रकार रति के समय में भूषण का न रहना ही स्त्री के लिए भूषण है। (७५८)

विरलों के व्यवहार

विरले ही गुण को जानते हैं, विरले ही निर्धन के साथ प्रेम करते हैं, विरले ही दूसरे के कार्य में तत्पर होते हैं और विरले ही दूसरे के दुःख से दुःखी होते हैं। (७१७)

मन जिस पर लग जाये अच्छा लगता है

उसके लिए वही अच्छा है जिसमें जिसका मन लगा हुआ है। (७६१)

जीना ही मरना है

रोगी अधिक समय तक विदेश में रहने वाला दूसरे के अन्न को खाने वाला, दूसरे के घर में सोने वाला यदि जीता है तो उसका जीना ही मरण है और उसका मरना ही विश्राम है। (७६८)

धर्म सुख, स्नेह और ज्ञान का स्वरूप

धर्म क्या है। जीवों पर दया संसार म सुख क्या है निरोग रहना स्नेह क्या है? सद्भाव। और पाण्डित्य क्या है? सद्-असद् का विचार करना। (७६९)

संसार में दुर्लभ वस्तुएँ

मधुर वचन के साथ दान गर्वहीन ज्ञान क्षमायुक्त वीरता त्यागयुक्त धन, ये चार संसार मे बड़ी ही दुर्लभ हैं। (७७)

विनीत पुरुष धर्म अर्थ और यश प्राप्त करता है

मधुर व्यक्ति लक्ष्मी पथ का सेवन करने वाला स्वास्थ्य निरोग गुण उद्योगी पुरुष विद्या तथा विनीत पुरुष धर्म अर्थ और यश इन सभी को प्राप्त करता है। (७७४)

शक्ति को प्रकट न करने से अपमान होता है

जो शक्तिमान् अपनी शक्ति प्रकट नहीं करता उसका अपमान होता है। लकड़ी में रहने वाली अग्नि को सभी लाँघ सकते हैं, किन्तु जलती हुई अग्नि को कोई भी लाँघ नहीं सकता। (७७६)

महत्व को नाश करने वाले काम

आलस्य स्त्री की सेवा रोगी रहना जन्मभूमि के साथ वत्सलता सन्तोष भीरुता, ये छ महत्व के विनाशक हैं। (७ ४)

प्रत्येक को सदा अपना हित करना चाहिये

सदा अपनी भलाई करनी चाहिए बहुत कहने से क्या प्रयोजन है। संसार में ऐसा कोई उपाय नहीं है जो सभी व्यक्तियों को परितुष्ट कर सके। (८ ४)

मानव जीवन के छः गुण

नीरोगता, कर्ज का न होना परदेश में न रहना भय रहित जीवन और सज्जनों के साथ व्यवहार, ये छ मानव जीवन के गुण हैं। (८२४)

इनको कोई नहीं जानता

राजा का चित्त, कृपण का धन, दुर्जन का मनोरथ, स्त्रियों का चरित्र और पुरुष के भाग्य को दैव भी नही जानता। मनुष्य की तो बात ही क्या है। (८२९)

भूखा क्या पाप नहीं कर सकता

भूख से पीडित मनुष्य अपनी पुत्रवती स्त्री को भी त्याग देता है। भूख से पीडित सर्पणी को अपने अण्डो को खा जाती है, भूखा कौन सा पाप नही कर सकता। क्षीण मनुष्य करुणा मे हीन होते हैं।

आतुर को किसी बात की परवाह नहीं होती

अर्थ के लिए व्याकुल मनुष्य को न गुरू है और न भाई, काम से आतुर के लिए न भय है और न लज्जा, विद्या के आतुर के लिए न सुख है न निद्रा और भूख से पीडित के लिए न रुचि है और न समय। (८५४)

पांच झूठ पाप नहीं होते

विवाह के समय में, ऋतु के प्रयोग में (काम कला मे) प्राण के सकट आने पर, समस्त धन के अपहरण के समय और ब्राह्मण की रक्षा के लिए, झूठ वोलना चाहिये, इन पाँच झूठो में कोई पाप नही लगता। (८४६)

अपनी वस्तु नापसन्द होती है दूसरे की अच्छी लगती है

अपने यहाँ उत्पन्न गुणवान का भी उतना आदर नही होता जितना विदेश से होने वाले का, अपनी स्त्री अत्यन्त सुन्दरी भी हो तो भी लोग दूसरे की स्त्री पर आसक्त हो जाते हैं। (८५२)

महापुरुषों का मार्ग ही सुमार्ग है

श्रुतियाँ विभिन्न है, स्मृतियाँ विभिन्न हैं एक मुनि कोई नही जिसकी बात सभी के लिए प्रमाण हो, धर्म का तत्व हो तो गुफा में छिपा है श्रेष्ठजन जिस पथ से चलते हैं वही मार्ग है। (८५५)

नवयौवनकारी वस्तुएँ

मनुष्य को अर्थ (धन), स्त्रियों को पति, नदी को वर्षा, वृक्ष को वसन्त, प्रजा के लिए धर्म पालन करने वाला राजा, गए हुए यौवन को लौटा कर ला देते हैं। नवीन यौवन प्रदान करते हैं। (२६८)

बिना अग्नि शरीर को जलाने वाली वस्तुएँ

खराव ग्राम में निवास, खराव मनुष्य की सेवा, खराव भोजन, क्रोध मुखवाली स्त्री, मूर्ख पुत्र, विधवा कन्या, ये भी विना अग्नि के ही शरीर जला देते है। (८७६)

सब गुण स्वर्ण (धन) के आश्रित हैं

जैसे पक्षी वृक्ष का आश्रय लेते हैं नदियाँ समुद्र का आश्रय लेती हैं, स्त्रियाँ पति का आश्रय लेती हैं उसी प्रकार सभी गुण स्वर्ण का आश्रय लेते हैं। (८८१)

सभा और सभासदों को छल रहित सत्य का पालन करना चाहिए

वह सभा नहीं जिसमें वृद्ध नहीं हैं, वे वृद्ध नहीं जो धर्म नहीं कहते हैं वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य न हो वह सत्य नहीं जो छल से मिला हुआ न हो। (८८४)

घर तपोवन है

आसक्त पुरुष को वन में भी दोष होते हैं, और घर में भी पाँचों इन्द्रियों को निग्रह करने वाला तप करता है। राग रहित होकर अकुत्सित कर्म करने वाले को घर ही तपोवन है। (९ ५)

शोभा के उपाय

दरिद्रता धीरता से सुशोभित होती है कुरूपता शील से भूषित होती है कदन्न भोजन गरम करने के कारण अच्छा लगता है खराब वस्त्र स्वच्छ होने से सुन्दर होता है। (९११)

पुरुषों की परीक्षा

जिस प्रकार निघर्षण छेदन ताप और ताड़न इन चारों से सोने की परीक्षा होती है उसी प्रकार श्रुत विद्या शील कुल और कर्म इन चारों से पुरुष की परीक्षा होती है। (९१४)

इनकी समानता नहीं

माता के समान शरीर को पोषण करने वाला चिन्ता के समान शरीर को सुखाने वाला स्त्री के समान शरीर को सन्तुष्ट करने वाला और विद्या के समान शरीर का भूषण कुछ भी नहीं है। (९१३)

सच्चा स्वरूप

वही दीक्षित है जो सकल सत् को देखता है वही पण्डित है जो व्यसन से मुक्त है। वही तपस्वी है जो दूसरे के कष्ट से दुःखी होता है और वही धार्मिक है जो दूसरे के मर्म का भेद नहीं करता। (९१९)

धननाश की कहीं परवाह नहीं

कीर्तिकारक कर्म में मित्रों के समूह में प्रिय पत्नी के लिए, निर्धन बन्धु, स्त्रिय पक्ष में विवाह में दुःख में धन् के नाश में धन का नाश होने पर भी विद्वान इसकी गणना नहीं करता है। (१२)

त्याज्य स्त्री

विवाद करने वाली, अपने घर की ही वस्तुओ की चोरी करने वाली, दूसरे में आमक्त, विना स्वाद के भोजन वनाने वाली, क्रोध वाली, दूसरे के घर में रहने वाली, स्त्री यदि दस वच्चोकी माँ भी हो तो छोड दी जाती है। (९२१) अत्यन्त प्रचण्ड, सदा दु खी रहने वाली, विवाद करने वाली, दूसरे के घर जाने वाली, पति की निन्दा करने वाली, चोरिणी, स्त्री यदि दम पुत्र पुत्रियो की माता भी हो तो उनका परित्याग कर देना चाहिये। (९२२)

शीघ्र त्याज्य स्त्री

विखरी हुई केशवाली, विना विचारे काम करने वाली, पति के प्रतिकूल बोलने वाली, दूसरे के घर मे रहने वाली, लज्जा रहित स्त्री को शीघ्र घर छोड देना चाहिये। (९००)

गृहस्थ को छ दुर्गतियाँ

कुल में कलक, भोजन में कुअन्न, पुत्र, कुबुद्धि, घर में दरिद्रता शरीर में रोग, कलह चाहने वाली, स्त्री, ये छ गृहस्थ की दुर्गतियाँ कही जाती हैं। (९२३)

त्रिभुवन विजयी मनुष्य

मौन रहने वालो में जो मौनी है, गुणियो में गुणवान्, पण्डितो में पण्डित, गरीबो मे गरीव, सुखियो में सुखी, भोगियो में प्राप्त भोगी मूर्खों में मूर्ख, नवयुवतियो में नवयुवक, वक्ताओ मे श्रेष्ठ वक्ता और अवधूतो में अवधूत, रहने वाला पुरुष त्रिभुवन विजयी है और उसका जन्म धन्य है। (१०००)

वशीकरण के उपाय

मित्र को पवित्रता से, शत्रु को नीति और वल से, लोभी को धन से, स्वामी को कार्य से, ब्राह्मण को आदर से, स्त्री को प्रेम से वन्धुओ को शम से, गुरु को स्तुतियो से, मूर्ख को नमस्कार आदि से, कथा द्वारा वुद्धिमानो को, विद्या के द्वारा रसिक को, अनुराग और शील से सभी को वश में करना चाहिए। (१०१०)

भगवान् की कृपा से ये चीजें मिलती हैं

सच्चरित्र पुत्र, सती स्त्री, प्रसन्न स्वामी, स्नेही मित्र, अवचक परिवार, क्लेश रहित मन, सुन्दर आकार, स्थिर सम्पत्ति, विद्या से उज्जवल मुख आदि भगवान् के सन्तुष्ट होने पर ही प्राणियो को प्राप्त होते हैं। (१०२०)

ज्ञानी द्वारा त्याज्य

शराव पीने वाले वैद्य को, खराव पाठ करने वाले नट को, अपने स्वास्थ्य से हीन ब्राह्मण को, नपुंसक योद्धा को, वेगहीन घोडो को, मूर्ख सन्यासी को, कुमन्त्रियो से युक्त राजा

को उपद्रव से मुक्त देश को जवानी में मदमस्त तथा दूसरे में आसक्त स्त्री को, जो छोड़ देते हैं वही पण्डित है। (१ १२)

स्वार्थ बिना कोई किसी को प्यारा नहीं

पक्षी फल समाप्त होने पर वृक्ष का परित्याग कर देते हैं, सारस सूखे तालाब का त्याग कर देते हैं। द्रव्य हीन पुरुष को वेश्यायें छोड़ देती हैं, भ्रष्ट राजा को मन्त्री छोड़ देते हैं, बासी फूल को भ्रमर परित्याग कर देते हैं जले हुए वन को मृग छोड़ देते हैं। सभी मनुष्य अपने काम के लिए एक दूसरे को मानते हैं संसार में कौन किसका प्रिय है। (१ १३)

आदर्श स्वरूप

जो चन्द्रमा से शोभित तथा बादलों से रहित पूर्णिमा की रात्रि है वही तो रात्रि है, जो सुन्दरता और गुणों से युक्त तथा पति में प्रेम रखने वाली स्त्री है वही स्त्री है, जो गोविन्द के रस में प्रवाहित होने वाली है वही मधुरता मधुरता है और जो दोनों लोकों में सुख देने वाली होती है वही चतुरता है। (१ १७) वही स्नेही है जो अनुराग से निवारण करता है वही धर्म है जो निर्मल है वही स्त्री जो आज्ञाकारिणी है वही बुद्धिमान् है जो सज्जनों द्वारा पूजित होता है। वही लक्ष्मी है जो घमण्ड नहीं उत्पन्न करती, वही सुखी है जो तृष्णा से रहित हो वही मित्र है जो बनावटीपन न रखता हो वही पुरुष है जो इन्द्रियों से दुःखी नहीं होता है। (१ २१)

तीर्थ आदि का सच्चा रूप

तीर्थ क्या है ? भगवान के चरण कमलों की सेवा। रत्न क्या है ? सुन्दरमति। शास्त्र क्या है ? जिसके सुनने से द्वैत रूपी अन्धकार का उदय समाप्त होता है। मित्र क्या है ? निरन्तर उपकार करने वाला तत्वज्ञान है। शत्रु कौन है ? कष्ट देने में कुशल दुर्वासनाओं का समूह ही शत्रु है। (१ १८)

मानसिक गुण होने के आगे बाहरी उपकरणों की निरर्थकता

यदि लोभ है तो अन्य अवगुणों की क्या आवश्यकता ? यदि चुगलखोरी है तो अन्य पातकों की क्या जरूरत ? यदि सत्य है तो तप से क्या ? यदि पवित्र मन है तो तीर्थ से क्या काम ? यदि सज्जनता है तो गुणों की क्या जरूरत ? यदि अपनी ख्याति है तो भूषणों का क्या प्रयोजन ? यदि अच्छी विद्या है तो धन की क्या आवश्यकता ? और यदि अपयश है तो मृत्यु की भी कोई जरूरत नहीं। (१ १९)

नैतिक गुणों के होने हुये बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं

यदि क्षमा है तो कवच से क्या प्रयोजन ? यदि क्रोध है तो शत्रुओं की क्या आवश्यकता ? यदि शान्ति है तो अग्नि की क्या जरूरत ? यदि सुमित्र है तो दिव्य औषधियों की क्या आवश्यकता ? यदि दुर्जन है तो सर्पों की क्या जरूरत ? यदि प्रशंस-

नीय विद्या है, तो धन की क्या आवश्यकता ? यदि लज्जा है तो भूषणो की क्या आवश्यकता ? और यदि सुकविता है तो राज्य से क्या लाभ ? (१०१९)

सुन्दर युवती का सती रहना और निर्धन का पाप न करना आश्चर्यजनक है

यदि राजनीति में कुशल राजा धार्मिक हो जाता है तो इसमे कोई आश्चर्य नही, यदि वेद शास्त्र को जानने वाला ब्राह्मण पण्डित हो जाता है तो क्या आश्चर्य है ? आश्चर्य तो यह है कि रूप और यौवन से युक्त कामिनी सती हो, और यह भी आश्चर्य है निर्धन व्यक्ति कभी कुछ पाप न करे।

मनुष्य के आठ श्रेष्ठ गुण

स्त्रियो के साथ मधुरता, श्रेष्ठ मनुष्यो के साथ उदारता, शत्रुओ के साथ वीरता, गुरुजनो के साथ नम्रता, साधुओ के साथ धर्म-निष्ठता, मर्मज्ञ व्यक्तियों के साथ अनुकूल व्यवहार, पण्डितो में अनेक प्रकार की प्रतिष्ठा, पापियो के साथ शठता ये आठो मनुष्य के श्रेष्ठ गुण कहे जाते हैं। (१०३५)

(८) सस्कृत कहावतो में नैतिक शिक्षा

(सुभाषित रत्न खण्ड मन्जूषा से सकलित कुछ नैतिक कहावतो का अनुवाद)

१—सुकृति पुरुष स्वीकार किए हुए का पालन करते हैं।

२—विना समझे हठ से करने वाले प्राज्ञमानी (बुद्धिमान होने का अभिमान करने वाले) का विनाश होता है।

३—अजीर्ण होने पर भोजन भी विष हो जाता है।

४—अत्यधिक दान करने से राजा बलि बाँधा गया।

५—अत्यन्त परिचय होने से अवज्ञा तथा सदा आने जाने मे अपमान होता है।

६—अति सर्वत्र त्याज्य है।

७—अग के दोष से आदमी अदाता होता है।

८—अधर्म रूपी विष वृक्ष का फल स्वादिष्ट कैसे हो सकता है ?

९—दूसरे की स्त्री से प्रेम व्यवहार करना अनार्य का काम है।

१०—अनार्य के मार्ग का अनुसरण करने वाले का कल्याण कैसे हो सकता है ?

११—अनार्य की सगति से महात्मा के साथ विरोध भी अच्छा है।

१२—विना आश्रय प्राप्त किए पण्डित, स्त्री, तथा लता शोभित नही होते।

१३—दूसरे की स्त्री का गुणगान करना ठीक नही।

१४—अपनी पत्नी के अनुकूल होने पर भी नीच व्यक्ति पर स्त्री के साथ लम्पटता करते हैं।

१५—प्रेम के परवश होकर स्त्रियाँ क्या नही करती।

१६—प्रेम से अन्धे मन वाले लोग सद्विचार कैसे कर सकते हैं?

१७—सज्जनों के मार्ग का अनुसरण कर जो कुछ भी प्राप्त हो वही बहुत है।

१८—कुपथ चलने वाले का परित्याग उसका भाई भी कर देता है।

१९—जिनका चित्त विषय से ग्रस्त है उसके सर पर सदा ही आपत्ति मंडराती रहती है।

२०—पुत्रहीन पुरुष का घर शून्य है।

२१—समर्थ पुरुष भी अपनी शक्ति को न प्रकट करने पर तिरस्कार पाता है।

२२—वीर तथा व्यवसायी पुरुष के लिए अप्राप्य वस्तु कुछ भी नहीं।

२३—अस्पष्ट वक्ता घमण्डी होता है।

२४—मूर्ख का जीवन ही शून्य है।

२५—अविनयी पत्नी शत्रु है।

२६—जिस व्यक्ति का चित्त व्यवस्थित नहीं उसकी प्रसन्नता भी भयंकर होती है।

२७—दुराचार से मनुष्य मूर्ख हो जाता है।

२८—शीलहीनता से मनुष्य किसी प्रकार उन्नति नहीं करता।

२९—अच्छे पति के प्राप्त हो जाने के बाद कन्या की चिन्ता से पिता मुक्त हो जाता है।

३०—वही कल्याण का उपभोग करता है जो व्यसनों में नहीं फँसता।

३१—असज्जनों की मित्रता नदी किनारे के वृक्षों की छाया के समान दोष युक्त होती है।

३२—सम्भोग का न होना स्त्रियों के लिए बुढ़ापा है।

३३—उद्योग करने वाले वीर पुरुष बिना अर्थ की सिद्धि हुए नहीं रुकते।

३४—आचार ही सबसे पहला धर्म है।

३५—गुरुजनों की आज्ञा पर विचार नहीं करना चाहिए।

३६—अपनी ही बुद्धि सुख देने वाली होती है।

३७—अपने लिए पृथ्वी का भी परित्याग किया जाता है।

३८—बादलों की भाँति सज्जनों का संग्रह त्याग के लिए ही होता है।

३ —आपत्ति तथा संकट के समय बुद्धिमान् लोग उत्साह नहीं छोड़ते।

४०—आपत्ति की अवस्था में जिसकी बुद्धि काम करती हो वही वीर पुरुष है।

४१—आपत्ति आने पर भी कुलांगना अपने सतीत्व का परित्याग नहीं करती।

४२—उत्तम पुरुषों की सम्पत्ति का फल दुखियों का दुःख हरण करना है।

४३—क्या आरम्भ करके बिना समाप्त किए वीर पुरुष अपनी क्रियाओं का परि

त्याग करता है?

४४—कुटिल व्यक्तियों के प्रति निम्नता उचित नहीं।

४५—विद्या आलस्य से नष्ट हो जाती है।

४६—भोजन तथा व्यवहार में लज्जा का परित्याग करने वाला सुखी होता है

४७—इन्द्र भी यदि अपने गुणों का गान करे तो वह छोटा हो जाता है।

४८—दुष्ट मित्र को धर्म में प्रवृत्त करना चाहिये।

४९—चिन्ता का मूल अभिलषित पदार्थ हैं।

५०—स्त्री के लिए इस लोक तथा परलोक में उत्तम गति पति ही है।

५१—ईर्ष्या विवेक का शत्रु है।

५२—मनुष्य स्वभाव से उत्सव-प्रिय होता है।

५३—उत्तम पुरुष अपने प्रियजनों को आपत्ति में देखने का प्रयत्न नहीं करते।

५४—उत्साह ही धन है जिसका ऐसे वीर के हृदय में शोक प्रवेश नहीं कर पाता।

५५—उदार चरित्र वालों का तो जगत् के सब प्राणी कुटुम्ब हैं।

५६—लक्ष्मी स्वयं आकर उदार सत्वों को वरण करती है।

५७—उदार मनुष्य के लिए सम्पत्ति तृण के समान है।

५८—परमानन्द के उदय होने पर मैं तुम तथा जगत् का भाव शेष ही रहता।

५९—पुरुष का लक्षण ही उद्योग है।

६०—महान् व्यक्ति किसी का उपकार करके उसके लिए अड़चन पैदा नहीं करते।

६१—मूर्खों को उपदेश देना उनके क्रोध के लिए ही होता। शान्ति के लिए नहीं।

६२—सुकृत रूपी बीज यदि सुन्दर खेत में बोया जाता है तो उसका महान् फल होता है।

६३—कर्ज लेने वाला पिता शत्रु होता है।

६४—सम्पत्ति चित्त में विकार करने वाली होती है।

६५—स्त्रियाँ बडी कठोर होती हैं।

६६—एक एक दाने के द्वारा अर्थ, तथा एक एक क्षण के द्वारा विद्या का सचय करना चाहिए।

६७—सज्जन लोग कभी भी शोक के वशीभूत नहीं होते।

६८—कर्म की गति अत्यन्त रहस्यमय है।

६९—दरिद्रता कर्मों के दोष के कारण होती है।

७०—अभागे के लिए कल्प वृक्ष भी पलाश का वृक्ष बन जाता है।

७१—कष्टमय जीवन वाले निर्धन व्यक्ति की पत्नी भी परित्याग कर देती है।

७२—दूसरे के आश्रित रहना ही महान् कष्ट है।
७३—दूसरे के घर में रहना तथा दूसरे का अन्न खाना कष्ट से भी बड़ा कष्ट है।
७४—सज्जनों की संगति किसके उत्थान का कारण नहीं है?
७५—गुरु के शासन बिना यौवन उच्छृंखल नहीं हो जाता?
७६—प्रिय बोलने वाले को कौन दूसरा है?
७७—इस ब्रह्माण्ड में सभी से सम्मानित कौन व्यक्ति है?
७८—कौन बुद्धिमान वेश्याओं से प्रेम तथा बालू से तेल की इच्छा कर सकता है?
७९—रूपवाली स्त्री शत्रु होती है।
८०—काम और क्रोध दोनों मोक्ष द्वार के किवाड़ है।
८१—पुण्य कर्मों की इच्छा किसके कल्याण के लिए नहीं होती।
८२—काम के व्यसन रूपी वृक्ष की जड़ दुर्जन की संगति है।
८३—जो काम से आतुर व्यक्ति है उसको न भय होता है और न लज्जा होती है।
८४—कामी को विद्या कहाँ से हो सकती है।
८५—शरीर किसे प्यारा नहीं होता?
८६—समय पर थोड़ा भी असमय के बहुतों से श्रेष्ठ होता है।
८७—तीर्थ तथा सज्जनों का फल समय पर फलता है।
८८—अपने द्वार से बाहर होने पर स्त्री क्या क्या नहीं करती?
८९—यौवन तथा धन कुछ काल के लिए ही उपभोग के साधन रहते हैं।
९०—मूर्ख होकर जीने से क्या काम?
९१—स्त्रियाँ क्या नहीं कर सकती?
९२—मनस्वी को कौन सा कार्य सुकर नहीं है।
९३—पाप की समाप्ति कुकर्म मे है?
९४—चपल गृहणी के प्राप्त करने पर घर में सुख कहाँ?
९५—कुदेश में जाकर मन कैसे सभ्य हो सकता है?
९६—कुपुत्र से कुल का नाश होता है।
९७—कामियों को सुख कहाँ?
८९—राष्ट्र का नाश कुराजा को प्राप्त करके होता है?
९९—कुरूपता शील से शोभित होती है।
१००—समझदार व्यक्ति समय में कार्य को अभिव्यक्त नहीं करते।
१०१—यदि पति की भक्ति न हुई तो कुलवधू का क्या प्रयोजन?
१०२—चपल वस्त्र भी स्वच्छ होने पर शोभित होता है।

१०३—मित्रता की समाप्ति कुवाक्यो में है।

१०४—कृतघ्न लोगो का कल्याण नही होता।

१०५—अपने कार्य के सिद्ध होने पर सेवक स्वामी से द्वेष करता है।

१०६—दुर्वल के साथ कौन मित्रता चाहता है?

१०७—कृपा के बिना धर्म क्या है?

१०८—कुछ खिलाने पिलाने पर लोक में कौन वश में नही हो जाता?

१०९—राजा का प्रिय कौन होता है?

११०—सम्पत्ति को प्राप्त कर कौन घमण्डी नही होता?

१११—व्यसन में अन्धा मनुष्य कुमार्ग या सुमार्ग को नही देखता।

११२—अनर्थो का मूल क्रोध है।

११३—क्षमा के तुल्य तप नही।

११४—क्षीण मनुष्य दया हीन होता है।

११५—राजा राज्य के लिए पुत्र के स्नेह की परवाह नही करता।

११६—बीती की सोच नही करनी तथा किए हुए उपकार को याद नही रखना।

११७—बीती वात को शोच नही करनी चाहिये।

११८—लोक केवल अनुकरण करता है। कोई यथार्थ नही सोचता।

११९—गुण स्वरूप की शोभा बढाते हैं।

१२०—गुणी का गुण ही पूजा स्थान है, उसमें लिंग तथा वय का विचार नही किया जाता।

१२१—गुण हीन व्यक्ति वहुत बकवास करता है।

१२२—चाण्डाल के पास भी यदि अपार धन हो तो वह भी पूजित हो जाता है।

१२३—साधुओ के मन वचन तथा कर्म में एक रूपता रहती है।

१२४—मनुष्य के लिए चिन्ता ही बुढ़ापा है।

१२५—चिन्ता के समान शरीर को सुखाने वाला कुछ नही हैं।

१२६—सन्तान हो जाने पर स्त्री पति से द्वेष करने लगती है।

१२७—विभिन्न जातियो में विभिन्न प्रकार का आचार होता है।

१२८—जिस स्त्री का कोई जार होता है उसको पति शत्रु लगता है।

१२९—जिसने क्रोध को जीत लिया है वह सारे ससार में विजयी है।

१३०—क्रोध पर विजय पाने वाला कभी दुःखी नही होता।

१३१—जीव ही जीव का भोजन है।

१३२—ज्ञान ही शक्ति है।

१३३—सभी श्रेय तप के अधीन है। उसके लिए दूसरा उपाय नहीं।

१३४—सम्पत्तियाँ तप के अधीन होती हैं।

१३५—उसके लिए वही अच्छा है जिसमें जिसका मन लगता है।

१३६—कुल के लिए एक का परित्याग कर देना चाहिए।

१३७—तीनों लोकों में धर्म ही दीपक है।

१३८—मारने वाले को दया कैसे हो सकती है?

१३९—धीरता से ही दरिद्रता की शोभा होती है।

१४०—दुर्जन की कमायी हुई सम्पत्ति का उपभोग राजा तथा चोर करते हैं।

१४१—जिसने तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है वह कर्म जाल में नहीं फँसता।

१४२—जो शक्तिमान् है उसकी सहायता दैव भी करता है।

१४३—यदि ईश्वर की कृपा हो तो दोष भी गुण हो जाता है।

१४४—द्रव्य के द्वारा सभी वश में हो जाते हैं।

१४५—सभी का प्रयोजन धन ही है।

१४६—बुद्धिमान् को चाहिए कि परोपकार के लिए धन तथा प्राण दोनों का परित्याग कर दे।

१४७—लोभ धर्म का नाश करने वाला होता है।

१४८—धर्म का तत्त्व गुफा में छिपा रहता है।

१४९—धर्म सत्य से बढ़ता है।

१५०—जहाँ सत्य नहीं वह धर्म सत्य नहीं हो सकता।

१५१—सत्य में धर्म के साथ आचरण करने वाले का अनभ्युदय (पतन) नहीं हो सकता।

१५२—धर्म से रहित प्राणी पशु के समान है।

१५३—मरे हुए का मित्र धर्म ही है।

१५४—अच्छे प्रकार से न विचारा हुआ धर्म दोनों लोकों का नाश करता है।

१५५—उस आशा को धिक्कार है जो सब दोषों की उत्पत्ति भूमि है।

१५६—उद्योग रहित व्यक्ति के जीवन को धिक्कार है।

१५७—काम के समान कोई शत्रु नहीं है।

१५८—दैव से बड़ा बल नहीं है।

१५९—दया से बड़ा धर्म नहीं है।

१६०—रोग के समान अन्य कोई शत्रु नहीं है।

१६१—मैं नहीं जानता कि यह संसार अमृत मय है या विषमय है।

१३३—सभी श्रेय तप के अधीन है। उनके लिए दूसरा उपाय नहीं।
१३४—सम्पत्तियाँ तप के अधीन होती हैं।
१३५—उसके लिए वही अच्छा है जिसमें जिसका मन लगता है।
१३६—कुल के लिए एक का परित्याग कर देना चाहिए।
१३७—तीनों लोकों में धर्म ही दीपक है।
१३८—मारा जाने वाले को दया कैसे हो सकती है?
१३९—धीरता से ही वरिष्ठता की सीमा होती है।
१४०—दुर्जन की कमायी हुई सम्पत्ति का उपभोग राजा तथा चोर करते हैं।
१४१—जिसने तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है वह कर्म जाल में नहीं फंसता।
१४२—जो शक्तिमान् है उनकी सहायता दैव भी करता है।
१४३—यदि ईश्वर की कृपा हो तो दोष भी गुण हो जाता है।
१४४—द्रव्य के द्वारा सभी वश में हो जाते हैं।
१४५—सभी का प्रयोजन धन ही है।
१४६—बुद्धिमान् को चाहिए कि परोपकार के लिए धन तथा प्राण दोनों का परित्याग कर दे।
१४७—क्रोध धर्म का नाश करने वाला होता है।
१४८—धर्म का तत्त्व गुफा में छिपा रहता है।
१४९—धर्म सत्य से बढ़ता है।
१५०—जहाँ सत्य नहीं वह धर्म सत्य नहीं हो सकता।
१५१—अन्य में धर्म के साथ आचरण करने वाले का अभ्युदय (पतन) नहीं हो सकता।
१५२—धर्म से रहित प्राणी पशु के समान है।
१५३—मरे हुए का मित्र धर्म ही है।
१५४—अच्छे प्रकार से न विचारा हुआ धर्म दोनों लोकों का नाश करता है।
१५५—उस आशा को धिक्कार है जो सब दोषों की उत्पत्ति भूमि है।
१५६—उद्योग रहित व्यक्ति के जीवन को धिक्कार है।
१५७—काम के समान कोई शत्रु नहीं है।
१५८—दैव से बड़ा बल नहीं है।
१५९—दया से बड़ा धर्म नहीं है।
१६०—रोग के समान अन्य कोई शत्रु नहीं है।
१६१—मैं नहीं जानता कि यह संसार अमृत मय है या विषमय है।

१६२—ज्ञान से श्रेष्ठ चक्षु नहीं है।

१६३—सन्तोष से बड़ा सुख नहीं है।

१६४—दरिद्र व्यक्ति उतना दुःखी नहीं होता जितना कि धन क्षीण होने पर धनी होता है।

१६५—धन के समान मित्र नहीं होता।

१६६—धर्म से बड़ा मित्र नहीं है।

१६७—पुत्र से बढ़कर कोई लाभ नहीं होता।

१६८—स्त्री से बड़ा सुख (साधन) नहीं है।

१६९—बिना ज्ञान के विवेक नहीं होता।

१७०—वैराग्य से बड़ा भाग्य नहीं।

१७१—शान्ति से बड़ा सुख नहीं होता।

१७२—वेद से बड़ा कोई शास्त्र नहीं है।

१७३—चञ्चल चरित्र वाली स्त्री ऊँच-नीच नहीं देखती।

१७४—स्त्री को स्वतन्त्र नहीं होना चाहिए।

१७५—स्त्रियों में चपलता से अतिरिक्त स्नेह और उदारता नहीं होती।

१७६—अपने कल्याण की इच्छा करने वाले को स्वच्छन्द व्यवहार नहीं करना चाहिए।

१७७—किए उपकार को सज्जन नहीं भूलते।

१७८—क्षुद्र प्राणी परिग्रह की निरर्थकता को नहीं समझता।

१७९—अध्यवसायी के लिए कुछ दुष्कर नहीं है।

१८०—बिना ईर्ष्या के स्त्रियाँ नहीं रह सकती हैं।

१८१—सभी सब कुछ नहीं जानते।

१८२—अधर्म अधिक समय के लिए समृद्धि कर नहीं होता।

१८३—असत्य से बड़ा पाप कोई नहीं होता।

१८४—स्त्रियों का भूषण पति होता है।

१८५—स्त्रियाँ अपने समीपस्थ मनुष्यों को कलंकित कर देती हैं।

१८६—अन्य स्थान की परीक्षा किए बिना पहले स्थान का परित्याग नहीं करना चाहिए।

१८७—काम के समान कोई व्याधि नहीं है।

१८८—क्रोध के समान अग्नि नहीं है।

१८९—आत्मबल के सदृश बल नहीं है।

१९०—ज्ञान से श्रेष्ठ कोई सुख नहीं है।
१९१—तृष्णा के समान कोई व्याधि नहीं है।
१९२—बान्धव के सदृश कोई वस्तु प्रिय नहीं।
१९३—मोह के समान शत्रु नहीं है।
१९४—व्यसनी पुरुष के लिए कितना भी धन पर्याप्त नहीं।
१९५—महात्माओं के लिए अदेय कुछ नहीं।
१९६—द्रव्य हीन पुरुष को वेश्यायें त्याग देती हैं।
१९७—दरिद्रता सभी आपत्तियों का स्थान है।
१९८—निर्धन को सुख कहाँ?
१९९—जिसे किसी की आसक्ति नहीं उसके लिए घर ही तपोवन है।
२००—बुद्धिहीन व्यक्ति लोक में अपमानित होकर दुःखी होता है।
२०१—स्त्रियों म सपत्नी के प्रति ईर्ष्या स्वभाव सिद्ध है।
२०२—जिसको कोई वासना नहीं संसार उसके लिए तृणवत् है।
२०३—नीच का आश्रय बड़ों के अपमान का कारण होता है।
२०४—नीच ऊँच या अत्यन्त नीच आदि सभी उपायों से फल प्राप्त करना चाहिए।
२०५—नीच कहता है करता नहीं किन्तु साधु करता है कहता नहीं।
२०६—सभी गुण एक ही स्थान पर नहीं होते।
२०७—उचित वृत्ति का आश्रय लेना चाहिए।
२०८—धीर पुरुष उचित पथ से विचलित नहीं होते।
२०९—दूसरों के दुख से विरले ही दुखी होते हैं।
२१०—दूसरे की बुद्धि का विश्वास अपने विनाश के लिए होता है।
२११—शत्रु का नाश सबसे श्रेष्ठ काम कहा जाता है।
२१२—दूसरे की भलाई में निरत्तजन उत्तम स्वार्थ भी नहीं देखते हैं।
२१३—सैकड़ो यज्ञों से भी परोपकार का पुण्य प्राप्त नहीं हो सकता।
२१४—सज्जनों की विभूतियाँ परोपकार के लिए ही होती हैं।
२१५—यह शरीर परोपकार के लिए ही है।
२१६—दूसरे के उपदेश देते समय सभी पण्डित हो जाते हैं।
२१७—दूसरा भी हित चाहता हो तो वह बन्धु है।
२१८—सुपात्र हो जाने पर धन की प्राप्ति हो जाती है।
२१९—पाप के अनुसार ही फल होता है।
२२०—पाप के प्रभाव से ही नरक प्राप्त होता है।

२२१—पाप कर्म में निरत को किसी के वाक्य मे कैसे हित हो सकता है?
२२२—प्रत्येक व्यक्ति की मति भिन्न होती है।
२२३—मूर्खता पिता के दोष से होती है।
२२४—मोह रूपी मदिरा पीकर सारा जगत् उन्मत्त हो रहा है।
२२५—मूर्ख पुत्र शत्रु है।
२२६—स्त्री का प्रयोजन सन्तान पैदा करना ही है।
२२७—पुत्र हीन व्यक्ति का घर सूना रहता है।
२२८—जहाँ पुत्र से भी भय हो वहाँ सुख किस प्रकार हो सकता है।
२२९—विद्या पूर्व जन्म में अर्जित पुण्य से मिलती है।
२३०—बुद्धिमान् के पास ही बल होता है, मूर्ख के पास बल कहाँ?
२३१—स्त्रियाँ प्रत्युत्पन्न मति (तुरन्त बुद्धि) होती हैं।
२३२—श्रुति सबसे श्रेष्ठ प्रमाण है।
२३३—यौवन की सीमा सन्तान की उत्पत्ति है।
२३४—प्राणियो को अपनी खराब जन्म भूमि भी प्रिय होती है।
२३५—सेवक का व्रत अपने प्राणो से भी स्वामी की रक्षा करना है।
२३६—ससार में सास तथा बहू में प्रेम नही देखा जाता।
२३७—प्राय सज्जनो के आश्रय में रहकर भी दैव के अनुकूल ही फल मिलता है।
२३८—स्त्रियाँ प्राय स्वभाव से ही विषम तथा दुष्ट होती हैं।
२३९—प्रेम से अन्धा मनुष्य स्त्री की दु शीलता को नही देखता।
२४०—प्राय राजा, स्त्री, तथा लता जो समीप रहता है उसी पर अवलम्बित होती है।
२४१—सदाचारी मनुष्यो की विपत्तियाँ प्राय स्थायी नही होती।
२४२—प्राय जहाँ जहाँ भाग्यहीन मनुष्य जाता है वही वही आपदायें भी जाती हैं।
२४३—भाग्य के अनुसार ही फल होता है।
२४४—स्त्रियो की चित्त वृत्तियाँ चचल होती हैं।
२४५—बन्धु भी यदि बुराई करता हो तो शत्रु है।
२४६—मूर्ख का बल मौन रहना है।
२४७—जो थोडे सार वाला बहुत बातें करता है, वह बकवादी है।
२४८—पृथ्वी अनेक आश्चर्यो से भरी है।
२४९—बुद्धि कर्म के अनुसार होती है।
२५०—बुद्धि ही सबसे श्रेष्ठ मित्र है। पुरुषार्थ नही।

२५१—भूखा क्या पाप नहीं कर सकता?

२५२—साधु अपनी योग्यता कर्म से प्रकाशित करता है वस्त्र से नहीं।

२५३—बड़े लोग भक्ति से सन्तुष्ट होते हैं।

२५४—समय को समझने वाले राजा बेंत की वृत्ति धारण कर लेते हैं।

२५५—पति के अतिरिक्त सती स्त्रियों का कोई बन्धु नहीं है।

२५६—पति के पथ का अनुसरण करना स्त्रियों का परम धन है।

२५७—भवितव्यता बलवती होती है।

२५८—होनहार होकर ही रहती है यही कर्मों की गति है।

२५९—जिसका जो कर्म नहीं होता उसे वह करके विनष्ट हो जाता है।

२६०—उत्तम मित्र भाग्य से ही प्राप्त होता है।

२६१—घर में स्त्री ही मित्र है।

२६२—स्त्री से बढ़कर शरीर को शान्ति देने वाली कोई वस्तु नहीं है।

२६३—भार्या से हीन गृहस्थी का घर शून्य होता है।

२६४—संसार में सभी विभिन्न रुचि वाले होते हैं।

२६५—वीर पुरुषों की विपत्तियां भयभीत होकर दूर भाग जाती हैं।

२६६—मृग नयनी स्त्री भोग का रत्न है।

२६७—भोग से ही धन की शोभा होती है।

२६८—रमणी के बिना भोग्य क्या है?

२६९—बुद्धि बल से श्रेष्ठ होती है।

२७०—मदमद से जिसकी बुद्धि मूढ़ हो गयी है उसे विवेक कहाँ से होगा।

२७१—मदिरा पीने वाला सत्य कैसे कह सकता है।

२७२—मदिरा पीने वाले क्या क्या नहीं करते।

२७३—मन की पवित्रता से आचरण करना चाहिए।

२७४—विधाता की सृष्टि मधुर तथा विधुर का मिश्रण है।

२७५—मनुष्य का मन ही उसके बन्धन या मोक्ष का कारण होता है।

२७६—महात्माओं का मन और वचन तथा कर्म एक रूप होता है।

२७७—मनस्वी व्यक्ति जिसको अपने कार्य की सिद्धि करनी होती है न दुःख गिनता है और न सुख।

२७८—मरना देहधारियों का स्वभाव ही है।

२७ —किसी को मर्मभेदी वाक्य नहीं कहना चाहिए।

२८०—सत्पुरुष जिस पथ से चलते हैं वही मार्ग है।

२८१—हे माता लक्ष्मी ! तुम्हारी कृपा से दोष भी गुण हो जाते हैं।
२८२—थोड़ा तथा सार गर्भित होना ही सुवाणी की विशेषता है।
२८३—जो मूर्ख को समझाता है वही उसका शत्रु है।
२८४—मृत्यु सबके लिए समान है।
२८५—मौन रहने वाले से कलह नही होता।
२८६—जहाँ धर्म है वहाँ धन है।
२८७—जहाँ रूप है वही गुण रहते हैं।
२८८—जहाँ सम्पत्ति है वहाँ विनम्रता नही।
२८९—जैसा चित्त रहता है वैसी ही वाणी होती है, तथा जैसी वाणी होती है वैसी ही क्रिया होती है।
२९०—जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है।
२९१—अपनी शक्ति के अनुसार अतिथि की पूजा करना ही गृहस्थी का काम है।
२९२—जो जिसको अच्छा लगता है वही उसके लिए सुन्दर है।
२९३—यद्यपि उचित हो किन्तु लोक से विरुद्ध हो तो उसका आचरण नही करना चाहिए।
२९४—जो क्रिया करता है वही पण्डित होता है।
२९५—गौरव तभी तक है जब तक कुछ माँगा नही जाता।
२९६—अच्छे गुण वाले से माँग कर विफल होना भी अधम से माँग कर सफल होने से अच्छा है।
२९७—जो उचित मार्ग का अनुसरण करता है उसकी सहायता पशु पक्षी भी करते हैं।
२९८—जो जिसकी स्वाभाविक प्रकृति हो जाती है वह छोड़े नही छूटती।
२९९—जो दोनो लोको को देने वाली है वही चातुरी सच्ची चातुरी है।
३००—बुद्धिमान् को चाहिए कि वह, महान् अनुरोध वाद, क्या उचित है और क्या अनुचित है इसका पूर्ण विचार कर कहे।
३०१—चतुर व्यक्ति को बालक द्वारा कहा हुआ भी युक्ति युक्त वचन ग्रहण कर लेना चाहिए।
३०२—जिस किसी प्रकार से भी हो पुरुष प्रसिद्ध बने।
३०३—पूर्व जन्म में किए हुए पुण्य ही रक्षा करते हैं।
३०४—व्याधियो का मूल रस (स्वाद) है।
३०५—राजा, देवता तथा गुरू के पास खाली हाथ नही जाना चाहिए।
३०६—बड़े लोग भयभीत शत्रु पर भी दया करते हैं।

१०७—जिसके घर में लक्ष्मी वास करती है वही सारे संसार में मान्य होता है।

१०८—क्रोधी को धर्म से वश में करना चाहिए।

१०९—संसार में मूर्ख तथा पशु विवेक हीन होने के कारण दोनों ही समान हैं।

११०—लोभ पाप का कारण होता है।

१११—पापों का मूल ही लोभ है।

११२—अच्छे वचन कहने में भी क्यों कमी करे।

११३—सत्य वाणी का भूषण है।

११४—जिसके मन में आसक्ति है उसे वन में भी दोष घेर सकते हैं।

११५—दूसरे की स्त्री के पास जाने से नपुंसक हो जाना अच्छा है।

११६—प्राण त्याग देना उचित है किन्तु चुगलखोर के कथन में प्रेम रखना उचित नहीं।

११७—दूसरे के धन का आस्वादन करने की अपेक्षा भिक्षा माँग कर जीवन निर्वाह करना उचित है।

११८—मौन रहना उचित है किन्तु असत्य बोलना ठीक नहीं।

११९—जैसा समय हो उसके अनुकूल ही चतुर मनुष्य व्यवहार करते हैं।

१२०—जल को वस्त्र से छान कर पीना चाहिए।

१२१—हाथी के निकट आने पर मनुष्य के लिए विचार करना उचित नहीं।

१२२—स्त्रियों के कपट से चतुर भी ठगे जाते हैं।

१२३—विद्या से नम्रता आती है।

१२४—विदेश में विद्या ही मित्र है।

१२५—विद्या के समान शरीर का भूषण कुछ भी नहीं है।

१२६—विद्या सभी का भूषण होता है।

१२७—मूर्ख की विद्या भी निष्फल होती है।

१२८—विद्वान् की सब जगह पूजा होती है।

१२९—भाग्य बड़ा बलवान् होता है।

१३०—भाग्य के अनुसार ही बुद्धि चलती है।

१३१—विनय से पवित्रता प्राप्त होती है।

१३२—नाश के समय बुद्धि उलटी हो जाती है।

१३३—पण्डित स्त्री तथा लता बिना आश्रय के शोभित नहीं होते।

१३४—मूर्ख का विभूषण मौन होता है।

१३५—जिसे काम नहीं उसके लिए स्त्री तृणवत् है।

३३६—रमणियाँ सभी के लिए, सन्ध्या के समान, एक क्षण के लिए ही राग वाली होती हैं।

३३७—ज्ञान की धारा से सैंकड़ों बार धोये जाने के कारण सज्जनों का काम उन्हें कलुषित नहीं बनाता।

३३७—स्त्रियों पर विश्वास नहीं करना चाहिए।

३३९—कपटी मनुष्य पर विश्वास कहाँ।

३४०—ईश्वर की इच्छा से कहीं विष भी अमृत हो जाता है तथा अमृत भी विष हो जाता है।

३४१—किस विषयी को आपदायें छोड़ देती है।

३४२—वीर ही स्वामी होने योग्य होता है।

३४३—वृद्ध पुरुष के लिए नवयुवती विष है।

३४४—वेश्या को स्नेह कहाँ?

३४५—शत्रु के भी गुण की प्रशंसा तथा गुरु के भी दोष की निन्दा करनी चाहिए।

३४६—चन्द्रमुखी पलंग की शोभा (रत्न) है।

३४७—शरीर ही सर्वप्रथम धर्म का साधन है।

३४८—दुर्जन अपकार से ही रास्ते पर लाया जा सकता है, उपकार से नहीं।

३४९—शास्त्र से परम्परा बलवती होती है।

३५०—शील सर्वश्रेष्ठ भूषण है।

३५१—शील कुल को विभूषित करता है।

३५२—शील सभी मनुष्यों का भूषण है।

३५३—अच्छा कर्म करने वाला दुःखी नहीं होता।

३५४—वीर, कृतज्ञ तथा अच्छे मित्र वाले लोगों के पास लक्ष्मी स्वयं निवास करने जाती है।

३५५—ब्राह्मण विद्या से शोभित होता है।

३५६—शाला घर का विनाशक होता है।

३५७—बिना श्रद्धा के दान देना व्यर्थ है।

३५८—काल के लिए भगवान की कथा ही रत्न है।

३५९—काम का भूषण शास्त्र है।

३६०—शील से सब कुछ किया जा सकता है।

३६१—पुण्य से सभी कुछ हो सकता है।

३६२—विनय सभी गुणों का भूषण है।

१६३—सुन्दर गुण वाली स्त्री सभी सुखों की सीमा है।

१६४—सत्य ही की विजय होती है।

१६५—सत्य से परिमित वाणी बोलनी चाहिए।

१६६—वह सत्य नहीं जो छल से प्राप्त होता है।

१६७—सज्जनों के साथ ही बैठे उठे।

१६८—सज्जनों का ही साथ (संग) करना चाहिए।

१६९—सज्जनों के साथ ही विवाद तथा मित्रता करनी चाहिए।

१७०—वही धार्मिक है जो दूसरे के मर्म पर चोट नहीं पहुँचाता।

१७१—सन्तोष ही मनुष्य का सबसे बड़ा खजाना है।

१७२—सन्तोष के समान कुछ भी धन नहीं है।

१७३—समान शील और व्यसन वालों से मैत्र होता है।

१७४—प्रसिद्ध व्यक्ति की अपकीर्ति मरण से भी अधिक बढ़ कर है।

१७५—दरिद्रता के लिए सब कुछ शून्य है।

१७६—सभी कुछ सत्य पर प्रतिष्ठित है।

१७७—माया सर्वनाश का कारण होता है।

१७८—सभी गुण धन में रहते हैं।

१७९—लजाने वाली वेश्या नष्ट हो जाती है।

१८०—वही मित्र है जो दुःख में काम आवे।

१८१—निस्पृह व्यक्ति सदा सुख से रहता है।

१८२—प्रशंसा किसको प्रसन्न नहीं करती।

१८३—स्त्रियों के चरित्र तथा पुरुषों के भाग्य देव भी नहीं जानता।

१८४—पति विहीन स्त्रियाँ नष्ट हो जाती हैं।

१८५—जब स्त्री पुरुष के समान प्रभावशाली हो जाती है तो घर नष्ट हो जाता है।

१८६—स्त्री की बुद्धि नाश करने वाली होती है।

१८७—स्त्री अपने रूप से भारी हो जाती है।

१८८—अपने देश में पैदा हुए गुणवान् का भी अपमान होता है।

१८९—अपने धर्म में मर मिटना अच्छा है किन्तु दूसरे का धर्म भय का कारण होता है।

१९०—क्रिया के बिना ज्ञान नष्ट हो जाता है।

१९१—धन ही संसार में मनुष्य का बन्धु है।

अध्याय १६

पंचतंत्र और हितोपदेश की नीति

पचतंत्र और हितोपदेश

नीति की शिक्षा वच्चो और जन साधारण को कहानियो द्वारा दिए जाने की परि-पाटी शायद सवसे पहले भारतवर्ष में आरम्भ हुई थी। विशेषत पशु पक्षियो की कहानियो के द्वारा। भारतवर्ष की इस परिपाटी का अनुकरण पीछे चल कर दूसरे देशो के लेखको और उपदेशको ने किया और यहाँ की कहानियाँ दूसरे देशो मे अनुकरण और अनुवाद के रूप में गयी। इसोप की प्रसिद्ध कहानियाँ (Aesop's Fables) भारत के प्रसिद्ध उपदेशात्मक नैतिक कहानी ग्रन्थो का ही आभास है।

भारत में कहानियो द्वारा नीति का उपदेश देने वाले ग्रन्थो में पचतत्र और हितोपदेश वहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। पचतत्र वहुत पुराना ग्रन्थ है, यद्यपि इसका मूल सस्करण जिसके अनुवाद पहलवी, सीरियन और अरवी भाषाओ में हो चुके थे अभी तक सस्कृत में उपलब्ध नही हैं। यह ग्रन्थ ३०० ई० पू० के समय का माना जाता है। उसका वर्तमान और प्राप्त सस्करण ३०० ई० की रचना माना जाता है। कोई कोई विद्वान् तो विष्णु शर्मा रचित पचतत्र को ईसा की पाँचवी शताव्दी का रचा हुआ समझते हैं।

पचतत्र में प्राय सभी पूर्व कालीन नीति ग्रन्थो में से जीवनोपयोगी उपदेशो का सकलन करके और उनको पशु पक्षियो की रोचक और उव्दोधक कहानियो द्वारा सजीव बनाकर जीवन में उनके उचित प्रयोगो की शिक्षा दी गयी है।

पचतत्र का अनुकरण करने वाला और उसी के आधार पर रचा हुआ पशु पक्षियो की कहानियो द्वारा नीति का उपदेश देने वाला एक और ग्रन्थ, जो आजकल वहुत प्रचलित है, हितोपदेश है। उसको वगाल के राजा धवल चन्द्र के राजकवि नारायण पण्डित ने १४वी शताव्दी के आसपास रचा था।

यहाँ पर हम कहानियो को छोडकर पचतत्र और हितोपदेश की नैतिक शिक्षा का उल्लेख करते हैं।

(१) पचतंत्र की नैतिक शिक्षा

आत्मरक्षा प्रधान नीति —कुल के निमित्त एक को त्याग ग्राम के निमित्त कुल को देश के निमित्त ग्राम को और आत्मा के लिए पृथ्वी को ही त्याग दे। (१-१८९) विपत्ति के परिहारार्थ धन की रक्षा करे, धन से स्त्रियों की रक्षा करे और स्त्री तथा धन दोनों से अपनी रक्षा करे। (१-१८७) जिसकी चेष्टा जिसका कुल तथा पराक्रम न जाने यदि अपना मन्त्र चाहे तो बुद्धिमान मनुष्य उसका विश्वास न करे। (१-२८४) बुद्धिमान यदि शत्रु को अन्य उपाय से न मार सके, तो अपनी कन्या देकर भी उसका वध करे, क्योंकि शत्रु को मारने में कोई दोष नहीं लगता। (१-२७७) उचित कार्य अकार्य को न जानने वाले एवं कुमार्ग में प्रवृत्त गुरुजन को भी त्याग देना चाहिए। (१-११) जो शत्रु के पराक्रम को अच्छी तरह से न जान कर बैर आरम्भ करता है वह टिट्टिभ (टिटीहरी) द्वारा समुद्र की भांति पराजित होता है। (१-३१७) पराजय के भय से जो मनुष्य अपना स्थान छोड़ देता है यदि उन पुत्र से उसकी माता पुत्रवती है तो बन्ध्या कौन कही जायगी? (१-३४२) चाहे कैसी भी विपत्ति क्यों न हो बुद्धिमान सदा मित्र और बन्धु के हित के निमित्त यत्न करे। मनु का यह वचन है। (१-३४१) जो अपनी और शत्रु की शक्ति को बिना जाने उत्सुकता वश उसका सामना करता है वह अग्नि में पड़े पतंग की भांति नष्ट हो जाता है। (१-३५४) बहुत से दुर्बलों का समूह भी दुर्जय हो जाता है जिनकी से बनी रस्सी से हाथी भी बाँध लिए जाते हैं। (१-३४१) यदि सज्जन अपने स्थान पर किसी दुर्जन का प्रवेश करा देता है तो वह उन पर भी स्वयं चाहता हुआ उस सज्जन के नाश के लिए ही यत्न करने लगता है। अतः बुद्धिमानों को चाहिए कि वे अधमों का उच्च स्थान में प्रवेश न होने दें। यह सुना जाता है कि जार भी घर का मालिक बन बैठता है। (१-३९७) संसार में बुद्धिमानों के लिए कोई प्राणी अगम्य कोई स्थान अगम्य और कोई काम असाध्य नहीं है अतः वे अपनी बुद्धि को कार्य में लगावें। (१-४) महापुरुषों से स्पर्धा करने पर प्राप्त विपत्ति भी अच्छी होती है। (१-४ ४) नीच व्यक्ति भी बड़ों के द्वारा आश्रय को प्राप्त होकर आदरणीय बन जाता है। (१-४ ५) जहाँ बिना किसी कार्य कारण के बहुत आदर हो रहा हो उस स्थान पर अवश्य शंका करनी चाहिए क्योंकि वह अन्त में बुरे परिणाम वाला होता है। (१-४४०) बार-बार जिसके कर्म में विघ्न पड़ता हो जो जुआ खेलता हो और जो पराजित हो चुका है ऐसे लोगों से अपने मंगल की इच्छा रखने वाला पुरुष बातचीत करे। (१-४१८) जो भिखारी वृथा क्लेश देनेवाले मूर्ख और दुर्व्यसन में स्थित प्राणी से बात करता है वह पराभव को प्राप्त होता है। (१-४१९) उपदेश देने से मूर्ख कुपित ही होते हैं। शान्त नहीं होते। (१-४२) जैसे वैसे मनुष्य को उपदेश

नही देना चाहिए। (१–४२१) अनुचित स्थान में उपयुक्त पण्डित्यी क्या कर सकती है। (१–४२५) बुद्धिमान मनुष्य अपना थोडा धन भी किसी को न दिखावे, क्योंकि उसके दर्शन से मुनियो का मन भी चलायमान हो जाता है। (१–४३३) मक्खन की भाँति कोमल वाणी और निर्दय चित्त करके शत्रु को इस ढग से समझावे कि वह वश समेत विनष्ट हो जाय। (१–४४०) जिस देश या जिस स्थान में अपने पराक्रम से अनेक मार्गों को भागे उसी स्थान में ऐश्वर्यहीन होकर रहने वाला पुरुप नीच होता है। (१–४४४) पण्डित शत्रु भी अच्छा होता है किन्तु हितकारी मूर्ख भला नही होता। (१–४५१) पिता-भ्राता पुत्र, स्त्री या सुहृद कोई भी क्यो न हो यदि प्राणो का द्रोह करे तो उसे मारने में पातक नही लगता। (१–४५८) अति दयालु राजा, सब भक्षी ब्राह्मण, निर्लज्ज स्त्री, दुप्ट बुद्धि सहायक, प्रतिकूल भृत्य, असावधान अधिकारी और जो किये हुए उपकार को नही मानता, उसे त्याग देना चाहिए। (१–४५) बिना उपद्रव किये महान् की भी पूजा नही होती। अपनी शक्ति न प्रकट करने वाला समर्थ पुरुप भी तिरस्कृत हो जाता है काठ के भीतर रहने वाली अग्नि का सब कोई उलघन करता है जलती हुई आग का उलघन कोई नही करता। (१–३२) जिसका जिसका जो जो भाव है उस उस भाव से उसकी सेवा करता हुआ बुद्धिमान उसमें प्रविष्ट होकर शीघ्र उसे अपने वश में करले। (१–७४) स्वामी के चित्तनुसार चलना सेवको का सदाचार माना जाता है। निरन्तर उनके आशय के अनुसार चलने वाले मनुष्य राक्षसो को भी अपने वश मे कर लेते हैं। (१–७५) राजा के क्रोध में स्त्री के वचन, उनके प्रिय में प्रेम, उनके द्वेपवाले से द्वेप और उनके दान की प्रशसा मे विना मन्त्र के वशीकरण हैं। (१–७६) घर में उत्पन्न हुई भी उपकार करने वाली चुहिया मारने योग्य होती है और हितकारी विलाव को लोग भोजन देकर भी घर मे लाने की इच्छा करते हैं। (१–१०४) बृहस्पति ने कहा है कि राजा का जो अत्यन्त छोटा भी काय हो वह सभा में नही कहना चाहिए। (१–१०७) मन्त्र छ कानो में जाकर भेद को प्राप्त हो जाता है और चार कानो की बात स्थिर रहती है इस काणरण बुद्धिमान सब प्रकार से पटकर्ण को वर्जित कर दे अर्थात् मन्त्रणा को छ कानो मे न जाने दे। (१–१०८) किसी का विश्वास न करने वाले दुबल भी बलवानो से नही मरते और विश्वास करने से बलवान् भी दुर्बलो द्वारा मार डाले जाते हैं। (१–१२३) जो अपनी आयु, वृद्धि और सुख की इच्छा करता हो वह बुद्धिमान मनुष्य बृहस्पति पर भी विश्वास न करे। (१–१२४) अविश्वासी पर विश्वास न करे और विश्वासी पर भी अधिक विश्वास न करे। क्योंकि विश्वास से उत्पन्न भय प्राणी को समूल नप्ट कर देता है। (२–४५) अविश्वासी दुबल को भी बलवान् प्राणी नही बाँध सकता इसके विपरीत विश्वासी बलवान् भी दुर्बलो द्वारा बाँध लिये जाते हैं।

(२–४९) जो उपकार करने में समर्थ नहीं वह निर्लज्ज क्यों क्रोध करता है? (१–१४१) सम्मान से युक्त कुलीन और भक्ति में तत्पर, सेवक भी आजीविका न मिलने पर स्वामी का परित्याग कर देते हैं। (१–१६४) अपना हित की इच्छा करने वाले पुरुष को चाहिए कि उभरते हुए शत्रु की उपेक्षा न करे। श्रेष्ठ पुरुषों ने शत्रु तथा रोग को समान दुःखदायी कहा है। (१–२५७) उपेक्षा करने से क्षीण बलवाला शत्रु भी मदान्ध पुरुषों के प्रमाद वश पहले साध्य होकर भी बाद में व्याधि की भाँति असाध्य हो जाता है। (१–२५८) अति सूक्ष्म मार्ग से भीतर प्रवेश करके शत्रु का धीरे-धीरे नाश करे, जैसे जल का वेग धीरे-धीरे नाव को भरता है। (२–४४) जिह्वा के स्वाद के लालच में आसक्त अज्ञानियों का वध में रहने वाली मछलियों के समान अचिन्तित वध हो गया है। (२–१) रावण ने परस्त्री के अपहरण का दोष क्यों नहीं जाना? राम ने स्वर्ण मृग की असम्भवता क्यों नहीं समझी? युधिष्ठिर ने पासों के खेल का अनर्थ क्यों नहीं जाना? प्रायः विपत्ति के निकट आने पर मूढ़ मन हो जाने वालों की बुद्धि ही क्षीण हो जाती है। (२–४)

दण्डनीति का प्रयोग अन्तिम होना चाहिए

ब्रह्मा ने साम से लेकर दण्ड पर्यन्त नीतियाँ कही हैं। उन नीतियों में दण्ड पापी नीति है उसको सबसे पीछे काम में लाना चाहिए। (१–४ ८) जहाँ साम नीति से कार्य सिद्ध हो जाता हो वहाँ बुद्धिमान् दण्ड नीति का प्रयोग न करें। (१–४ ९) विज्ञ पुरुषों को पहले साम नीति का प्रयोग करना चाहिए, सामनीति से सिद्ध कार्य किसी विकार को नहीं प्राप्त होते। (१–४१) विशेष से फैला हुआ अन्धकार सामनीति से ही दूर होता है। (१–४११)

मित्रता से लाभ और मित्र के लक्षण

सर्वथा सम्पन्न होकर भी पण्डितों को बहुतेरे मित्र बनाना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार परिपूर्ण समुद्र भी चन्द्रोदय की अपेक्षा करता है। (२–२९) अन्य जाति का होकर भी जो दुःख में सहायता करे वही सच्चा मित्र होता है। अच्छे दिनों में तो सभी सबके मित्र होते हैं। (१–१६७) संकट के समय प्राणियों को वाणी मात्र की सहायता भी मित्र से अतिरिक्त अन्य कोई नहीं दे सकता। (२–१२) स्नेह से सम्पन्न तथा नेत्रों को आनन्द देने वाले मित्र महात्मा गृहस्थियों के घरों में नित्य नहीं आते। (२–१७) मित्रवान मनुष्य कठिन कार्यों को भी साध लेते हैं इसलिए लोगों को चाहिए कि अपने समान मित्र करें। (२–२८) जिनका धन और कुल समान हो उन्हीं में मित्रता और विवाह सम्बन्ध अच्छा होता है। बलवान् और कमजोर में यह सम्भव नहीं है। (२–१) जो मूढ़ तथा दुर्बुद्धि प्राणी अपने प्रतिकूल हीन वा अधिक सामर्थ्य वाले के साथ मैत्री करता है उसकी हँसाई होती है। (२–११) जो एक बार बिछुड़े मित्र के साथ सन्धि

करना चाहता है वह मानो मृत्यु को ग्रहण करता है जैसे खच्चरी मरने के लिए ही गर्भ धारण करती है। (२–३५) ईख के अग्रभाग से जैसे क्रमश रस विशेष होता जाता है वैसे ही सज्जनों की मित्रता होती है, किन्तु दुर्जनों की स्थिति इसके विपरीत होती है। (२–३७) प्रारम्भ में बहुत, फिर धीरे-धीरे न्यून, तथा पहले थोडी और फिर क्रमश बढती हुई दिन के पूर्वार्द्ध की भिन्न छाया की भाँति दुष्टों और सज्जनों की मित्रता होती है। (४०) मित्र-मित्र को देता है, उससे लेता है, गोप्य बातों को उससे बताता है और पूछता है, खाता तथा खिलाता है, यही प्रीति के लक्षण हैं। (२–५१) उपकार के बिना यहीं किसी की प्रीति नही होती। उपायाचित (मेरा यह काय सिद्ध होगा तो यह दूंगा) दान से देवता भी अभीष्ट वस्तु प्रदान करते हैं। (२–५२) ससार में जब तक दान दिया जाता है तभी तक प्रीति रहती है, बछडा दूध का अभाव देख कर माता को भी त्याग देता है। (२–५३) दान का महात्म तत्काल विश्वास दिलाने वाला होता है, देखो दान के प्रभाव से शत्रु तत्काल मित्र बन जाते हैं। (२–५४) कर्पूर मिश्रित चन्दन तथा हिम आदि शीतल पदार्थो से क्या वे सब मित्र के शरीर स्पर्श की सोलहवी कला की बराबरी नही कर सकते? (२–६१) अमृत के समान मीठे "मित्र" ये दो अक्षर किसके बनाये हैं जो आपित्ति के रक्षक, शोक सन्ताप नाशक, औषधि स्वरूप हैं। (२–६२) जिसका पराक्रम, कुल और व्यवहार ज्ञान न हो उसकी सगति न करे ऐसा बृहस्पति ने कहा है। (२–) विपत्ति का नाश करने के लिए पण्डित को अच्छे मित्र करने चाहिए जो मित्र विहीन होता है वह विपत्ति को पार नही कर सकता। (२–१८६) भय की प्राप्ति में रक्षा, प्रीति या विश्वास के पात्र "मित्र" ये रत्न रूपी दो अक्षर किसके बनाये हैं? (२–१९८) जो समक्ष विद्यमान को छोडकर अविद्यमान का पीछा करता है तो उसका निश्चित ध्रुव भी नष्ट हो जाता है और अध्रुव तो नष्ट रहता है। (२–१४७) जिसके साथ पहले विरोध हो चुका हो और बाद में मित्रता हो जाय तो उस पूर्व शत्रु का विश्वास नही करना चाहिए। (३–१)

शत्रु के प्रति नीति—जो उत्पन्न होते ही शत्रु और रोग को शान्त नही कर देता तो बाद में अति पुष्टाग होने पर भी वह उनके द्वारा मारा जाता है। (३–३) अक्षय लक्ष्मी की इच्छा करने वाला, बलवान् शत्रु के आक्रमण करने पर बेंत की वृत्ति का अवलम्बन करके नम्र बन जाय न कि सप की तरह चचल होकर लड पडे। (३–१२) बलवान् के साथ युद्ध करना ही चाहिए इसका कोई उदाहरण नही मिलता। (३–२२) उत्साह शक्ति से सम्पन्न क्षुद्र मनुष्य भी बडे शत्रु को मार डालता है (३–२८) जो शत्रु बल से अवध्य हो तो माया से उन्हें मारे। जैसे भीमसेन ने स्त्री रूप धारण करके कीचक को मारा था। (३–२९) जो बलवान् शत्रु को देख कर देश त्याग करता है वह युधिष्ठिर

के समान जीते ही भी पुन पृथ्वी को प्राप्त करता है। (१—४२) जो दुर्बल प्राणी अहंकार से प्रबल शत्रु के साथ युद्ध करता है वह उस शत्रु का मनोरथ पूर्ण करता हुआ अपना कुल-क्षय कर लेता है। (१—४३) यदि लघु जीव भी एकता प्राप्त कर लेते हैं तो वे बलवान् से भी नहीं बांधे जा सकते। जैसे एक स्थान में रहने वाले बहुतेरे वृक्ष प्रतिकूल वायु से सुरक्षित रहते हैं। (१—५१) समर्थ और तेजस्वी प्राणी भी यदि असहाय हो तो वह क्या कर सकता है। (१—५५) अपने पक्ष की एकता पुरुषों को विशेष कल्याण कारक होती है। (१—५६) १ भी शत्रु, कुमित्र और विशेष कर वेश्याओं का जो मित्र होता है वह मनुष्य जीवित नहीं बचता। (१—६२) सागर में टूटी नौका की तरह इन ६ का परित्याग करे: उत्तम वाक्य रहित आचार्य अध्ययन रहित पुरोहित रक्षा न करने वाला राजा अप्रिय वचन बोलने वाली भार्या ग्राम पति बनने की इच्छा करने वाले अहीर, तथा वनवास की इच्छा करने वाले नाऊ यह त्याज्य है। (१—७३।१२) राजा हँसते हुए और दुर्जन मान करते हुए मार डालते हैं। (१—८१) विष विहीन सर्प को भी बड़ा फन फैलाना चाहिए। विष हो या न हो फनाटोप भयकर होना चाहिए। (१—८५) बहुत का विरोध नहीं करना चाहिए जन समुदाय दुर्जय होता है। (१—१२३) बुद्धिमान को चाहिए कि वह अपनी समस्त सम्पत्ति बलवान् शत्रु को देकर अपने प्राणों की रक्षा करे। क्योंकि उसकी रक्षा करने से सब धन अपने आप हो जाते हैं। (१—१३१) अपमान को आगे और मान को पीछे करके बुद्धिमान अपना कार्य साधे क्योंकि स्वार्थ से भ्रष्ट होना मूर्खता है। (१—२४५) समय की प्रतीक्षा करता हुआ बुद्धिमान शत्रु को भी कन्धे पर ढोवे। (१—२५१) छोटे काम का भी बुद्धिमान् को अनादर नहीं करना चाहिए। मैं यह काम करने में समर्थ हूँ यह तो तुच्छ है बिना यत्न के ही साध्य है इस कार्य में क्या यत्न करना है? इस प्रकार कार्य की उपेक्षा करने वाले प्रमादी पुरुष विपत्ति के प्रसग पर सुलभ परिताप तथा दुःख को प्राप्त होते हैं। (१—२६१) जिसका कुल शील और आश्रम न समझ लिया हो उसके साथ सगति न करे ऐसा बृहस्पति ने कहा है। (४—२) सर्वनाश और प्राण का सशय हो जाने पर शत्रु को भी प्रणाम करके अपने प्राण और धन की रक्षा करें। (४—२२)

बुद्धिमानों के लक्षण—जो वस्तु खायी जा सके जो प्रशस्त हो जो खाकर पच जाय और जो पचने पर भी हित कारक हो आत्मकल्याण की इच्छा करने वाले को वही वस्तु खानी चाहिए। (४—२३) सर्वनाश का समय उपस्थित होने पर पण्डित जन आधे का परित्याग कर देते हैं और आधे से कार्य करते हैं। क्योंकि सर्वनाश बड़ा दुस्तर होता है। (४—२८) बुद्धिमान् मनुष्य थोड़े के लिए बहुत का नाश न करे यही समझदारी है कि थोड़ा देकर अधिक की रक्षा की जाय। (४—२९) इसी प्रकार निर्बल

हो जाने पर प्राणी शेष धन की भी रक्षा नही कर पाता। (४–३०) जो पाखण्डी अपना स्वार्थ त्याग कर सत्य वचन बोलता है वह दूसरे युधिष्ठिर के समान अवश्य ही अपने स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाता है। (४–४६) जहाँ साम और दाम नीति उपयोगी न सिद्ध हो वहाँ भेद नीति का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि प्राणियो को वश में करने का यह अचूक उपाय है। (४–७७) उत्तम को प्रणाम करके, वीर में भेद डालकर, नीच को कुछ देकर और समान बल वालो को युद्ध करके वश में करे। (४–७४) इसी प्रकार कुलीन मनुष्य दु ख में पड कर भी नीतिमार्ग का उल्लघन नही करते। (४–७५) उपकारी के साथ उपकार करे, हिंसा वाले के साथ हिंसा करे तथा दुष्ट के साथ दुष्टता करे इसमें कोई दोष नहीं देखता। (५–८५)

धर्म—जो उपकार करने वालों की भलाई करता है उसके उपकारिता में विशेषता ही क्या है किन्तु जो अपकारियो के प्रति साधुता का व्यवहार करता है सत्पुरुषो द्वारा वही साधु कहलाता है। (१–२७०) यहाँ आओ, यह सुन्दर आसन है, बहुत दिनो पर दिखायी दिये, कहाँ थे, क्या हाल है, तुम बहुत दुर्बल हो गये हो, कुशल तो है, हम तुम्हारे दर्शन से प्रसन्न हैं, नीच आदमी भी यदि आ जाता है तो सत्पुरुष ऐसा कहते हैं। स्मृतिकारो ने गृहस्थियो के लिए स्वर्ग देने वाला धर्म इसे कहा है। गौ, ब्राह्मण, स्वामी, स्त्री और स्थान के निमित्त जो लडकर प्राण त्याग करते हैं उनको सनातन लोको की प्राप्ति होती है। (१–२२६) निरपराध मनुष्य प्रसन्न मुख, हर्षित, स्पष्ट वचन बोलने वाला, क्रोध दृष्टि और धैर्य के साथ सभा के बीच में क्रोध से बोलता है। (१–२१३) अकस्मात् उपस्थित भी सज्जन का सग अक्षय फल देने वाला होता है। वह बारम्बार अभ्यास के कर्म की अपेक्षा नही करता। (१–१६२) जिसको विपत्ति में विषाद, सम्पत्ति में हर्ष और रण में भय नही होता उस त्रिभुवन तिलक स्वरूप किसी विरले ही पुत्र को माता उत्पन्न करती है। (१–११४) भय या हर्ष के प्राप्त होने पर जो विचार करता है और कोई काम बिना विचारे सहसा नही करता वह कभी सन्ताप को नही प्राप्त होता है।(१–११८) ऊँचे नीचे सचरण शील तथा लोगो के सन्ताप हरने वाले मेघ की तरह उपकारी सज्जन तो विरले ही होते हैं। (१–३०) वही जीवित हैं जिसके जीने से अनेक जीवित रहते हैं। (१–२३) जो अपने पर, न दूसरो पर, न बन्धुओ पर, न दीनों पर और न मनुष्यो पर दया करता है, मनुष्य लोक में उसके जीने का क्या फल है? यो तो कौआ भी चिरकाल तक जीता है और बलि खाता है। (१–२५) माता के यौवन हरने वाले उस पुरुष के जन्म से क्या लाभ जो अपने वश में ध्वजा की तरह नही लहराता? (१–२७) परिवर्तनशील ससार में कौन नही मरता और कौन नही उत्पन्न होता है? किन्तु वास्तव में वही जन्म लेने वाला गिना

जाता है जो अधिकाधिक धन से देदीप्यमान हों। (१–२८) जो भी ब्राह्मण के निमित्त अपने प्राण का परित्याग करता है, वह सूर्य के मण्डल को भेद कर परम उत्तम गति को प्राप्त करता है। (१–३५४) यज्ञशील यजमान और योगी भी उस गति को नहीं प्राप्त करते जिस गति को स्वामी के निमित्त प्राण त्याग करने वाले उत्तम सेवक प्राप्त करते हैं। (१–३२१) बुद्धिमान् कष्ट पा प्राप्त होने पर भी अभक्ष्य भक्षण न करे। (१–११७) गोदान भूमिदान और अन्नदान इतना प्रधान नहीं है, पण्डित लोग जितना प्रधान अभय प्रदान को मानते हैं। (१–१११) नष्ट, मृत और मारे हुए लोगों के लिए पण्डित जन शोक नहीं करते। यही पण्डितों और मूर्खों में अन्तर है। (१–१६१) इस संसार में जो मूढ़ अशोच्य के लिए शोक करता है वह दुःख पाकर दूसरे अनर्थों को भोगता है। (१–२६४) देशान्तरों में जाकर जिसने विविध प्रकार की भाषा और वेष आदि का ज्ञान नहीं प्राप्त किया पृथ्वी तल पर घूमते हुए उस पुरुष का जन्म निरर्थक है। (१–४१) विद्या धन और कारीगरी को मनुष्य तब तक अच्छी तरह से नहीं प्राप्त कर पाता जब तक वह प्रसन्न मन से देश देशान्तर की यात्रा नहीं करता। (१–४११) धर्म बुद्धि मनुष्य परस्त्री को माता के समान पराए धन को मिट्टी के समान तथा समस्त प्राणियों को अपने समान देखता है। (१–४१५) सूर्य चन्द्रमा, वायु अग्नि स्वर्ग भूमि जल हृदय यम दिन रात दोनों सन्ध्यायें और धर्म मनुष्य के वृत्त को जानते हैं। (१–४१७) बुद्धिमान उपाय तथा अपाय दोनों की चिन्ता करे। (१–४१०) अरे मूर्ख मृत्यु से क्यों डरता है? डरे जीवों को क्या मृत्यु छोड़ देती है। आज या सौ वर्ष के बाद प्राणियों की मृत्यु निश्चित ही है। (१–४५१) विश्वास का पात्र तथा धन हीन शत्रु भी यदि घर आ जाय तो उसको मारने से भी ब्राह्मणों की हत्या का पाप लगता है। (१–११२) युगली से स्नेह तथा स्त्री बात से आतुर व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं। (१–१११) गले का स्वर बदल जाना आकृति बिगड़ जाना नेत्र में चकाचौंध दीखना और तेज नष्ट हो जाना, ये बातें पाप करके अपने धर्म से सन्तप्त पुरुषों में दीखती हैं। (१–२१) पापी (अपराधी) लड़खड़ाते चरणों से चलता है उसका मुख विवर्ण हो जाता है माथे पर पसीना आ जाता है और बोलने में गद्गद वाणी मुँह से निकलती है। (१–२११) पापी मनुष्य सभा में जाता है तो उसकी दृष्टि नीची हो जाती है। इन चिन्हों से बुद्धिमान् यत्नपूर्वक इनको पहचाने। (१–२१२) ब्राह्मण का वध करके उसके योग्य विधेय प्रायश्चित करने से प्राणी शुद्ध हो जाता है पर मित्र द्रोही कभी शुद्ध नहीं होता। (१–२२९) जो मनुष्य किसी कारण कुपित हो वह उस कारण के नष्ट हो जाने पर शान्त हो जाता है किन्तु जो मनुष्य अकारण द्वेष करता हो उसको कोई कैसे प्रसन्न कर सकता है। (१–१ १) सब प्रकार के दुःख होने पर भी जिसकी बुद्धि क्षीण

नही होती तो उसके प्रभाव से वह नि सन्देह उस दु ख को पार कर जाता है। (मित्र सप्रातप्ति ६) महात्मा लोग सम्पत्ति और विपत्ति में एक रूप रहते हैं। (२–७) वडी श्रद्धा से देश काल पात्र के अनुसार विवेक शील व्यक्ति द्वारा सत्पात्र को जो कुछ भी दिया जाता है वह अनन्त फलदायक होता है। (२–८०) ससार में जो पुरुष गुरू कन्या, मित्र की पत्नी, स्वामी और सेवक की स्त्री इन के साथ दुराचार करता है उसे ब्रह्मघाती कहते हैं। (२–११६) जिस कर्म से अपयश हो, जिस कार्य से दुर्गति हो और जिस कर्म से स्वर्ग से भ्रष्ट होना पडे वह कर्म मनुष्य न करे। (२–११७) उपार्जन किये हुए धन का त्याग ही रक्षा है। (२–१६८) धन का दान तथा भोग तो करना चाहिए किन्तु उसका सचय नही करना चाहिए। (२–१६१) सर्प वायु पीते हैं किन्तु वे दुर्वल नही रहते। सूखे तृण खाकर ही वन के हाथी वली होते हैं, और मुनिजन कन्द और फल से समय विताते हैं, अत सन्तोष ही पुरुषो का परम निधान (खजाना) है। (२–१६४) सन्तोष रूपी अमृत मे तृप्त और शान्त चित्त वाले लोगो को जो सुख मिलता है वह धन के लोभ से इधर-उधर भटकने वाले पुरुषो को कहाँ मिलेगा ? (२–१७५) सन्तोष रूपी अमृत का पान करने से परम शान्ति प्राप्त होती है तथा असन्तोषी पुरुषो को निरन्तर दुःख मिलता रहता है। (२–१६५) मन के रोकने से सब इन्द्रियाँ रुक जाती हैं। (२–१६७) दान के सदृश दूसरी निधि नही है, लोभ से वढ़कर पृथ्वी में कोई शत्रु नही है, शील के समान कोई अलकार नही और सन्तोष के समान दूसरा कोई धन नही है। (२–१७१) देवता, ब्राह्मण और गुरु इनसे निरन्तर एक भाव से रहना चाहिए शेष सभी कृत्य द्वैधी भाव से करना चाहिए। (३–६३) ज्ञानी महात्माओ को सदा एक भाव से रहना चाहिए। (३–६४) शरीर अनित्य है, ऐश्वर्य सदा रहने वाला नही है, मृत्यु सदा निकट स्थित है अत केवल धर्म का सग्रह करना चाहिए। (३–७६) धर्म के विना जिसके दिन आते जाते रहते हैं वह लोहार की धौकनी की भाँति श्वास लेता हुआ भी नही जीता है। (३–७६) जैसे धान्यों में तुच्छ धान्य पुलका, पक्षियो में तुच्छ पक्षी पूर्ति का उसी प्रकार जो मनुष्य धर्म को प्रमाण मान कर तद्नुसार व्यवहार नही करता वह तुच्छ होता है। (३–७७) मनुष्य से धर्म अच्छा होता है। (३–१००) धर्म हीन पुरुष ठीक पशु के समान दूसरो के लिए ही है। (३–१०१) हे मनुष्यों ! अब हम तुम से सक्षेप में धर्म का तत्व कहते है। विस्तार से क्या लाभ। परोपकार पुण्य है और दूसरे को पीडा देना पाप है। (३–१०३) धर्म का सर्वस्व सुनकर मन में उसका धारण करलो, जिससे अपने को कष्ट हो दूसरो के प्रति वैसा काम न करो। (३–१०४) क्योकि महात्माओ ने अहिसा को प्रधान धर्म कहा है। जो हिंसक प्राणियो को भी मारता है वह निर्दयी होता है और वह नरक में जाता है इसके विपरीत जो अच्छे जीवो को मारता

है उसको क्या कहना (३-१ ६) वृक्षों को काटकर तथा पशुओं को मारकर, उनके खून का कीच करने से यदि स्वर्ग मिले तो नरक किन कर्मों से मिलेगा? (३-१ ७) मान, क्रोध लोभ या भय से जो मनुष्य उल्टा न्याय करता है वह घोर नरक को जाता है। (३-१ ८) पशु के विषय में झूठ बोलने में पाँच गौ के विषय में दस कन्या के विषय में सौ तथा पुरुष के विषय में मिथ्या कहने से सहस्र पुरुष की हत्या का पाप लगता है। (३-१ ७) पण्डित की सभा में किसी प्रकार परायी निन्दा नहीं करनी चाहिए। जो बात दूसरे को बुरी लगे वह सत्य हो तोभी उसे न कहे। (३-११५) साढ़े तीन करोड़ रोम मनुष्य के शरीर में हैं और पति का अनुगमन करने वाली स्त्री उतने समय तक स्वर्ग में निवास करती। (३-१८६) किसी विशेष फल वाले कार्य को यदि शीघ्र नहीं कर लिया जाता है तो विलम्ब रूपी काल उसका रस पी जाता है। भय उपस्थित होने पर जो जो मार्ग हितकारी उत्तम या अधम हो चतुराई तथा बुद्धि के साथ उस मार्ग का सेवन करना चाहिये। (३-२१४) नीति रूपी भूषण धारण करने वाले महात्माओं का यही महत्व है कि वे अति कष्टपूर्ण विपत्ति में भी अपना कार्य नहीं त्यागते। (३-२५१) ब्रह्मघाती शराबी चोर व्रतभंग करने वालों के लिए सत्पुरुषों के निष्कृति की युक्ति बतलायी है परन्तु कृतघ्न की निष्कृति का कोई उपाय नहीं है। (४-११) जो उपकारियों का उपकार करता है उसकी साधुता में क्या विशेषता है। जो अपकारियों पर दया करता है महात्माओं ने उसे ही साधु कहा है। (४-७२) यह कौतुक देखो कि जो अकेला, वृद्ध मूर्ख कपाली दिगम्बर (नग्न) है वह भी संसार में पूज्या के वशीभूत हो जाता है। (५-१५) यह अपना यह पराया यह धारणा ओछे हृदय वालों की होती है उदार चरित वाले के लिए तो सारी वसुधा अपना ही कुटुम्ब है। (५-३८) जो मित्र मित्र को आपत्ति में छोड़कर निष्ठुर हो जाता है वह कृतघ्न उस पाप से अवश्य नरक में जाता है। (५-८८) जो सदा पूछता, सुनता और मनन करता है उसकी बुद्धि उस प्रकार बढ़ती है जिस प्रकार सूर्य की किरणों से कमलिनी बढ़ती है। (५-७१) स्त्रियाँ प्रायः दुर्जनगम्य होती हैं राजा स्नेह रहित होता है, धन कृपण के पास रहता है और मेघ प्रायः पर्वत और दुर्ग पर ही बरसते हैं। (१-१ १) एक का कुत्सित कर्म देखकर दूसरे भी वैसा ही करने लगते हैं। क्योंकि संसार भेड़ो की चाल चलता है। परमार्थ की चाल नहीं चलता। (१-३०१)

बुढ़ापे की निन्दा—बूढ़े होने पर बाल दाँत नेत्र और कान सभी जीर्ण हो जाते हैं, किन्तु केवल तृष्णा तथा तरुण होती जाती है। (५-१६) सिर पर सफेद बालों की स्थिति पुरुषों के तिरस्कार का प्रधान कारण होती है। तरुणी स्त्री चाण्डाल के कूप तथा आरोपित अस्थि खण्ड के समान ऐसे पुरुष को त्याग कर दूर चली जाती है। (१-

१९३) शरीर में झुरियाँ पड गयी, गति हीन हो गयी, दांत नष्ट हो गए, दृष्टि घूमने लगी, रूप नष्ट हो गया, मुख से लार गिरने लगी, बन्धुजन उससे बात नही करते तथा पत्नी भी नही सुनती, बुढापे से तिरस्कृत को धिक्कार है। सबसे बडे कष्ट की बात तो यह है कि पुत्र भी उसका अपमान करता है। (३–१९४)

मनोवैज्ञानिक तथा स्वाभाविक आधार पर आश्रित नीति

पण्डित बिना कही बात का भी मतलब समझ लेते हैं क्योंकि दूसरे की चेष्टा का ज्ञान प्राप्त करना ही बुद्धि का फल है। खेद या प्रसन्नता को प्राप्त आकार, सकेत, गमन, क्रिया, भाषण, नेत्र और मुख के विकार से मन की बात जानी जाती है। (१–४४।१-४१) राजा निकट के ही मनुष्य को मानता है, चाहे वह विद्याहीन, अकुलीन, या सस्कार हीन ही क्यों न हो। प्राय राजा, स्त्री और लता जो समीपस्थ रहता है उसी को घेरती है। (१–३६) नित्य सिर से धारण किए और स्नेह से परिपालित केश भी तेल (स्नेह) के बिना रूखे हो जाते हैं तो नि स्नेह होने पर सेवक क्यों न हो? (१–७०) मनुष्य दिन में जो चाहता है, देखता है या करता है उसके अभ्यास वश स्वप्न में भी वही बोलता है तथा करता है। (१–१४४) अच्छा या बुरा जो भाव मनुष्य के हृदय में स्थित रहता है वह गुप्त बात भी स्वप्न के वाक्य अथवा मद से विदित हो जाती है। (१–१४५) मनुष्य जो असत्य बोलता है, असेव्य की सेवा करता है, या विदेश जाता है वह सब काम उदर ही के निमित्त होता है। (१–२७९) उपदेश से कोई किसी का स्वभाव नही बदल सकता। (१–२८०) मन से भी जो अपनी जाति का अनिष्ठ सोचता है वही अनिष्ठ उसको इस लोक और परलोक में होता है। (३२२) मैं राज-मान्य हूँ ऐसा जो मूर्ख मानता है, वह सीग रहित बैल तुल्य होता है। (३०२) मनुष्य पृथ्वी, समुद्र और पर्वत का भी अन्त पा लेते हैं किन्तु राजा के चित्त का अन्त आज तक कभी किसी ने नही पाया (१–१३६) राजा का हित करने वाला जन-साधारण से द्वेष का पात्र बनता है तथा देश का हित करने वाला राजाओं द्वारा त्याज्य होता है। इस विशाल विरोध के विद्यमान होने पर दोनों का कार्य साधक व्यक्ति दुर्लभ होता है। (१–१४२)

सेवा (नौकरी) की निन्दा—सेवकों की सम्पत्ति पराये अधीन रहती है, चित्त अशान्त रहता है तथा अपने जीवन में भी उनको अविश्वास रहता है। (१–२८६) सेवा से धन पाने की इच्छा करने वाले सेवकों ने जो किया है सो देखो। शरीर को जो स्वतन्त्रता थी सो भी इन मूर्खों ने नष्ट कर दी। (१–२८७) प्रथम तो जन्म ही दुःख के निमित्त होता है फिर दरिद्रता और उसमें भी सेवा वृत्ति। अहो कैसी दुःख की परम्परा है। (१–२८८) महाभारत में ये पांच प्रकार के प्राणी जीते हुए मरे सुने गये हैं, दरिद्र, रोगी, प्रवासी, मूर्ख और नित्य सेवक (१–२८९) उत्कण्ठित होने के कारण वह

स्वेच्छा से नहीं खाता जागता हुआ भी नहीं जागता तथा निःशंक वचन नहीं बोलता, ऐसी दशा में क्या सेवक भी जीता है? (१–२९) जिन्होंने सेवा को कुत्ते की वृत्ति कही है उनकी यह कल्पना मिथ्या है क्योंकि कुत्ता स्वच्छन्द फिरता है और सेवक पराधी आज्ञा से चलता फिरता है। (१–२९१) पृथ्वी पर शय्या ब्रह्मचर्य कृशता और स्वल्प भोजन इस तरह सेवक तथा यति की स्थिति समान होती है अन्तर केवल इतना ही है कि सेवक का काम पाप जन्य तथा यति का काम धर्म जन्य होता है। (२–२९२) बड़े मधुर गोल और मनोहर उस लड्डू से भी क्या लाभ जो कि सेवा करने से प्राप्त होता है। (१–२९४)

राजप्रिय सेवक के लक्षण

इस महत्त्व का जानने वाला जो सेवक पुकारने पर "जीव" (जी) ऐसा कहता है तथा बिना विचारे आज्ञा का सम्पादन करता है वही राजाओं का प्रिय होता है। (१–५४) प्रभु की प्रसन्नता से प्राप्त द्रव्य से जो सन्तोष करता है तथा उनके वस्त्रादि अपने अंगों में धारण करता है वही राजा का प्रिय होता है। (१–५५) जो सेवक अन्तःपुर में रहने वालों के साथ सलाह नहीं करता और न राजा की स्त्रियों से बात करता है वही राजा का प्रिय होता है। (१–५६) जुए को यमदूत के समान सुरा को विष के समान और स्त्रियों को विडंबनी आकारवाली देखता है वही राजा का प्रिय होता है। (१–५७) जो युद्ध काल में आगे-आगे चले नगर में पीछे-पीछे चले तथा महल में द्वार पर खड़ा रहे वही सेवक राजा का प्रिय होता है। (१–५८) मैं सदा प्रभु का प्रेम पात्र हूँ ऐसा विचार कर जो कठिनाइयों में भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता वही राजा का प्रिय होता है। (१–५७) जो राजा के द्वेषियों से द्वेष तथा प्रियजनों से प्रेम करता है वही राजा का प्रिय होता है। (१–६) जो प्रभु के कहने पर विरुद्ध उत्तर नहीं देता और समीप म उच्च स्वर से नहीं हँसता वही राजा का प्रिय होता है। (१–६१) जो निर्भय भाव से युद्ध भूमि को घर समझता है और परदेश को अपने नगर के समान मानता है वही राजा का प्रिय होता है। (१–६२) जो राजा की स्त्रियों की संगति नहीं करता तथा उनकी निन्दा और उनके साथ विवाद नहीं करता वही राजा का प्रिय होता है। (१–६३)

नीच पुरुषों के लक्षण

नीच दूसरे के कार्य को नष्ट करना ही जानता है सिद्ध करना नहीं जानता। (१–४११) दूसरे के दुःख से प्रसन्न दुष्ट अपने नाश को कुछ नहीं मानता। (१–४२८) इस जगत् में प्रायः छोटे कुल में उत्पन्न लोग कुलीनों की मनाये भाग्यवान् पुरुषों की कजूस दाताओं की दुष्टिक सीधे पुरुषों की निर्धन धनियों की कुरूप सुन्दरों की पापी धर्मात्माओं की और मूर्ख लोग विविध शास्त्र में निपुण पुरुषों की सदा निन्दा किया करते

हैं। (१–४७९) मूर्ख पण्डितो से द्वेष करते हैं, निर्धन धनवानों से, पापात्मा तपस्वियो से, और कुलटा कुलीन स्त्रियो से सदा द्वेष करती हैं। (१–४५०) काल हाथ फैलाकर दूर से ही सबको पकड लेता है। (२–२३) अज्ञान से आवृत्त चित्त वाले तथा अतिशय क्रोधी जीवो को किसी के गुणो से क्या प्रयोजन ? (२–३६)

कर्म फलभोग का नियम—जिस देश काल में जैसी अवस्था में जिसने जैसा शुभ या अशुभ कर्म किया है वह वैसा ही फल भोगता है। (२–८३) मनुष्यो का पुराना कर्म सोतो के साथ सोता है तथा चलतो के साथ चलता है इस प्रकार वह सदा आत्मा के साथ रहता है। (२–१३६) शरीर क्षणभगुर है, सम्पत्ति क्षण में नष्ट हो जाने वाली वस्तु है, और सभी प्राणियो का सयोग वियोगमय होता है। (२–१९५) जो मनुष्य पाप करता है अवश्य ही उसको अपनी आत्मा प्रिय नही है, क्योकि आत्मा के द्वारा किए पापो को आत्मा ही भोगता है। (१–१७४) जहाँ अपूज्य पूजे जाते हैं, और पूज्यो का निरादर होता है, वहाँ ये तीन उपद्रव होते हैं, दुर्भिक्ष, मरण और भय। (३–२०१) भूखा क्या पाप नही करता ? क्षीण मनुष्य निर्दय हो जाते हैं। (४–१६) सर्प, खल, और सभी प्रकार के दुष्ट चित्त वालो का अभिप्राय नही सिद्ध हो पाता इसी से यह ससार टिका हुआ है। (५–४७) मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, औषधि और गुरू इनमें जैसी जिसकी भावना रहती है उसे वैसी ही सिद्धि भी प्राप्त होती है। (५–१०७) इस लोक में शरीर धारियो को भलीभाँति किए हुए अपने कर्म का फल मिलता ही है। शुभ अथवा भाव से जो अर्जन किया है वह मिलेगा और जो होनहार होगा वह होगा ही। इसमें कुछ भी विचार करने की आवश्यकता नही है।

पुरुषार्थ का महत्व—दैव के विपरीत होने पर भी अपने दोष नष्ट करने के लिए तथा चित्त को ढाढस बधाने के लिए बुद्धिमान् को काम करना चाहिए। (१–३९१) अनागत विधाता अर्थात् अनुपस्थित कर्म को विचारने वाला और प्रत्युत्पन्नमति अर्थात् उपस्थित विपत्ति मे प्रतिकार में समर्थ, ये दोनो सुख और वृद्धि प्राप्त करते हैं और यद्भविष्य अर्थात् भाग्य के भरोसे रहने वाला विनष्ट हो जाता है। (१–३४७) जो नहीं होनहार है वह नही होता और जो होनहार है वह अवश्य होता है। जिसकी भवितव्यता नहीं होती वह हाथ पर रक्खा हुआ भी विनष्ट हो जाता है। (२–१०) विधाता के भी भय दिखाने से धैर्यशाली पुरुषो का धैर्य ध्वस नही होता है। (१–११३) उद्योगी पुरुष को सदा लक्ष्मी मिलती रहती है। प्रारब्ध देता है यह कायर कहते हैं। दैव को त्याग कर अपनी शक्ति पर पुरुषार्थ करने पर भी यदि सिद्धि न प्राप्त हो तो करने में कोई दोष है (१–२१७) इस ससार तथा समस्त ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, औषधि, अर्थ, सुमन्त्र तथा महात्माओ की बुद्धि के समक्ष उनमें से कुछ भी असाध्य नही है। (१–२१९) शत्रु

का दमन जितना उपाय से होता है उतना शस्त्र से नहीं हो सकता। उद्यम जानने वाला लघु शरीर का प्राणी भी बड़े बड़े वीरों से तिरस्कृत नहीं होता। (१–२११) जैसा एक हाथ से ताली नहीं बजती उसी प्रकार उद्यम त्यागने से कर्म फल नहीं प्राप्त होता। (२–११८) जैसे भोजन के समय प्राप्त अन्न भी उद्यम किए बिना किसी प्रकार मुख में प्रवेश नहीं कर सकता है। (२–११९) उद्यम से ही कार्य सिद्ध होता है केवल मनोरथ से नहीं। सोते हुए सिंह के मुख में स्वयं मृग नहीं प्रवेश कर जाते। (२–१४१) हे राजन्! उद्यम के बिना मनोरथ सिद्ध नहीं होते। जो होनहार है वह अवश्य होगा ऐसा कायर पुरुष कहते हैं। (१४२) अपनी शक्ति भर प्रयत्न करने पर भी जो कर्म सिद्ध न हो उससे पुरुष का तिरस्कार नहीं होता, क्योंकि वह पुरुषार्थ दैव से हत हो गया रहता है। (२–१४३) अरे यम! अब तक तूने जो अनिष्ट न किया हो तो भी कर के मैं सब सह लूँगा। (२–२ १) उत्साह शक्ति से सम्पन्न क्षुद्र मनुष्य भी बलवान शत्रु को मार डालता है। (१–२८)

दैव बलवत्व—सूर्य चन्द्र भी ग्रह से पीड़ित होते हैं। हाथी सर्प और पक्षी बन्धन में पड़ते हैं तथा बुद्धिमान् दरिद्र होते हैं, यह देख कर मुझे विश्वास होता है कि दैव बलवान् होता है। (२–२२) आयु, कर्म, विद्या धन और मरण ये पाँच वस्तुएँ प्राणी के गर्भ में ही गढ़ दी जाती हैं। (२–८१) पाश काटकर, कूटनीति की चालों से बचकर, पराक्रम से बन्धन को तोड़कर अपने निकट जारी और बढ़ती अग्नि शिखा से दूर जाकर तथा व्याधों के बाणों से बचकर भी एक मृग कूप में गिर गया। विधाता के रुष्ट होने पर भला पुरुषार्थ क्या कर सकता है। (२–९) जो शत्रु को मित्र बनाता है मित्र से द्वेष करता है तथा उसे मारता है शुभ को अशुभ और पाप को पुण्य मानता है वह पुरुष अपने भाग्य से ही नष्ट हो जाता है। (१–२१) मनुष्य जानता हुआ भी प्रारब्धवश निन्दित कर्म करता है। नहीं तो भला संसार में किसको निन्दित कर्म अच्छा लगता है। (४–१०) घाव के ऊपर बारम्बार चोट लगती है, धन के न रहने पर भूख बढ़ती है तथा आपत्ति में शत्रु बढ़ जाते हैं। विधाता के वाम होने पर मनुष्यों को यह सब कुछ देखना पड़ता है। (४–११) दैव अचिन्त्य और बलवान् होता है भाग्य के आगे पुरुषार्थ कोई वस्तु नहीं। (५–२१) दुष्ट दैव से नष्ट होकर महाबुद्धिमान् भी विनष्ट हो जाते हैं और स्वल्प बुद्धि वाले भी एक कुल में निरन्तर आनन्द प्राप्त करते हैं। (५–४४) अरक्षित वस्तु दैव से रक्षित होकर बच जाती है और सुरक्षित दैव द्वारा नष्ट हो जाती है वन में त्यागा हुआ अनाथ भी जी जाता है अनेक यत्न करने पर भी घर में नहीं जीता (५–४५)

अर्थ की निन्दा — धन पैदा करने में दुःख अर्जित धन की रक्षा करने में दुःख आने में दुःख और जाने में दुःख ऐसे कष्ट के आश्रय रूप धन को धिक्कार है। (१–१७४) जैसे मांस को जल में मछलियाँ पृथ्वी में हिंसक जीव और आकाश में पक्षी खाते हैं, वैसे ही

प्रकार धनवान सर्वत्र खाया जाता है। (२–१२५) मूर्ख मनुष्य धन के लिए जितना कष्ट सहता है मोक्ष की इच्छा वाला प्राणी यदि उसका शतांश भी परिश्रम करे तो मुक्त हो जाय। (२–१२८) दान भोग और नाश धन की तीन गतियाँ होती हैं। जो न देता है और न खाता है उसके धन की तृतीय गति (अर्थात् नाश) होती है। (२–१६२) सुख की आशा से जो मूर्ख धनादि मे आसक्त रहते हैं वे मानो गर्मी से तप्त होकर ठंडक पाने के लिए अग्नि का सेवन करते हैं। (२–१६३) धर्म करने के लिए जिसे धन पाने की इच्छा रहती है वह भी ठीक नही है, क्योंकि कीचड लगाकर धोने की अपेक्षा उसका न छूना ही अच्छा है। (२–१७०) जिसके पास धन नही होता उसका अच्छी तरह से सेवा किया हुआ स्वामी भी उससे द्वेष करता है, और उसके अच्छे बन्धु भी उसको शीघ्र छोड देते हैं, उसके गुण सुशोभित नही होते, उसके पुत्र भी उसका त्याग कर देते हैं, उसकी आपत्तियाँ भी बढ जाती हैं, अच्छे कुल में उत्पन्न हुई उसकी भार्या भी उसकी सेवा नही करती और मित्र भी उसके पास नही आते और न्याय द्वारा किया हुआ पुरुषार्थ भी उसके काम नही आता। (५–२४)

अर्थ प्रशंसा और दरिद्रता की निन्दा

धन की गर्मी मनुष्य के तेज को बढा देती है, और यदि उसका त्यागपूर्वक भोग हो तो फिर क्या कहना? (२–७१) धन से ही बलवान् होते है, और जो धनवान होता है वही पण्डित कहलाता है। जैसे दाँत हीन सर्प और मदहीन हाथी निस्तेज होते हैं उसी प्रकार धनहीन पुरुष नाम मात्र का पुरुष रह जाता है। (२–७३) अर्थ विहीन अल्प बुद्धि वाले पुरुष की समस्त क्रियायें नष्ट हो जाती हैं जैसे ग्रीष्म काल में क्षुद्र नदियाँ सूख जाती हैं। (२–७४) दरिद्र में यदि बहुतेरे गुण हों तो भी उनकी शोभा नही होती। जैसे सूर्य ससार को प्रकाश देता है वैसे ही लक्ष्मी गुणों को प्रकाशित करती है। (२–७६) प्रकृति से निर्धन मनुष्य उतना दुःखी नही होता जितना एक बार धनी होने के बाद निर्धन होकर दुःख में पडता है। (२–७६) प्रतापहीन दरिद्र से सदा सशक रहना चाहिये। उपकार करने को आया हुआ भी निर्धन को छोडकर चल देता है। (२–७७) निर्धन पुरुष की इच्छायें उठ उठ कर विलीन हो जाती हैं, जैसे विधवा स्त्री के स्तन उठ उठ कर अपने आप नष्ट हो जाते हैं। (२–१००) नित्य दुर्गति रूपी अन्धकार से आवृत प्राणी दिन के प्रकाश में आगे स्थित होता हुआ भी किसी को दिखायी नही पडता (२–१०१) दरिद्रता प्राणियो को परम दुःख देने और परम अपमान करने वाली होती है, जिसके कारण जीवित मनुष्य को ही उसके बन्धु मृतक के समान मानते हैं। (२–१०५) दरिद्रता से कलुषित मनुष्य पराभव के स्थान और विपत्ति के परम आश्रय को निरन्तर प्राप्त होता रहता है। (२–१०६) निर्धन से उसके बान्धव लज्जित होते तथा उससे अपना सम्बन्ध छिपाते हैं। बहुत कहने से क्या, जिसके पास कौडी नही होती उसके मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। (२–

(१ ७) जहाँ उत्साह से कार्य होता है जहाँ आलस्य हीनता होती है और जहाँ नीति और पराक्रम का संयोग रहता है वहाँ लक्ष्मी अचल रहती है। (-१४७) दुष्ट अकुलीन और दुर्जनों से सदा वर्जित भी धनी मनुष्य की लोक में सब लोग सेवा करते हैं। (२-१४९) सिंह तथा हाथियों से सेवित मनुष्यों से हीन तथा बहुत कंटकों से भरा वन अच्छा है, वृक्ष की शय्या और वल्कल वस्त्र धारण करना भी अच्छा है, परन्तु बन्धुओं के बीच धन हीन होकर जीना ठीक नहीं। जिन मनुष्यों के पास धन नहीं रहता तो अच्छी तरह सेवा करने से भी स्वामी उनका आदर नहीं करता बन्धु जन उनका त्याग देते हैं उनके गुण शोभित नहीं होते पुत्र नाम नहीं देते आपत्ति विस्तृत होती जाती है, सत्कुल में उत्पन्न भार्या भी उनकी सेवा नहीं करती और नीतिमार्ग तथा पौरुष से प्राप्त मित्र भी उनके पास नहीं आते। (५-२४) वे ही अविकल इन्द्रिय वही नाम वही अप्रतिहत बुद्धि और वही वचन (अर्थात् सब कुछ वही) है किन्तु धन की गर्मी से हीन होने पर वही पुरुष क्षण भर में बिल्कुल भिन्न हो जाता है यह बड़ी विचित्र बात है। (५-२१) धनी मनुष्य जो कुछ भी करता है वह सब प्रशंसा करने के ही योग्य होता है। (५-१) जिसके पास सम्पत्ति रहती है सभी उसी के दास होते हैं। (५-७) अच्छे कुलीन, चतुर, सुजन किन्तु निर्धन पुरुष को छोड़कर कुल चतुरता, और शील से हीन भी धनी पुरुष से लोग कल्पवृक्ष की तरह अनुराग करते हैं। (५-८) धनहीन का सुन्दर भवन भी भयंकर श्मशान की तरह सा मालूम पड़ता है। (५-९) धन के घट जाने पर बड़े बड़े बुद्धिमानों की बुद्धि भी नष्ट हो जाती है वह भी नमक तेल चावल ईंधन वस्त्र आदि जुटाने की चिन्ता में लगी रहती है। (५-५) शील पवित्रता, सहनशीलता, चतुराई, मधुरता और अच्छे कुल में जन्म ये सभी गुण वित्तहीन पुरुष को शोभा नहीं देते। (५-२) जब पुरुष धनहीन होता है तब मान दर्प विज्ञान विलास और बुद्धि ये समस्त गुण एक साथ नष्ट हो जाते हैं। (५-३) संसार में कोई भी वस्तु नहीं है जिसकी सिद्धि धन से न हो सके। अतः बुद्धिमान् को चाहिए कि यत्न से धन का उपार्जन करे। (१-२) जिसके पास अर्थ है उसी के सब मित्र हैं, उसी के सब बन्धु हैं। जिसके पास धन है वही लोक में पुरुष है और जिसके पास अर्थ है वही पण्डित है। (१-३) इस लोक में पराये भी धनियों के स्वजन बन जाते हैं, और दरिद्रों के अपने भी दुर्जन बन जाते हैं। (१-५) अपूज्य भी पूजित होता है अगम्य के निकट भी जाया जाता है, और वन्दना के अयोग्य पुरुष भी वन्दना के योग्य होता है, यह सब प्रभाव धन का ही है। (१-७) धन की इच्छा से प्राणी श्मशान का भी सेवन करता है और वही प्राणी अपने निर्धन पिता को भी छोड़ कर दूर चला जाता है। (१-७) वृद्ध पुरुषों में भी वे तरुण हैं जिनके पास धन है और जो धनहीन हैं वे युवावस्था में वृद्ध हो जाते हैं। (१-९)

स्त्री स्वभाव और चरित्र—स्त्रियाँ किसी के साथ बोलती हैं, किसी को विलास-पूर्वक देखती हैं, और हृदय में बैठे अन्य पुरुषों के विषय में विचार करती हैं। ऐसी दशा में स्त्रियों का कौन प्यारा हो सकता है? (१–१४६) अग्नि काष्ठ से, समुद्र नदियों से, काल सब प्राणियों से, तथा स्त्रियाँ पुरुषों से तृप्त नहीं होतीं। (१–१४८) एकान्त नहीं मिलता है, नारद इसी कारण स्त्रियों का सतीत्व रक्षित रहता है। (१–१४७) जो मूर्ख अज्ञानवश यह समझ लेता है कि अमुक स्त्री मुझ पर अनुरक्त है वह मनुष्य उसके वशीभूत होकर क्रीडा का पक्षी बन जाता है। (१–१५०) जो चतुर पुरुष स्त्रियों के साथ छोटी, बडी थोडी या बहुत बातें करता है वह सब प्रकार से लघुता को प्राप्त होता है। (१–१५१) जो स्त्री की प्रार्थना करता है, उससे गिर जाता है, और थोडी भी उसकी सेवा करता है वह उसकी इच्छा करने लगती है। (१–१५२) प्रेमी मनुष्यों के न चाहने से और परिजनों के भय से मर्यादा रहित स्त्रियाँ मर्यादा में रहती हैं। (१–१५३) स्त्रियों को कोई अगम्य नहीं है, और न उनमें वृद्ध तरुण अवस्था ही की चिन्ता है, और न कुरूप या रूपवान् की ही परख है। ये पुरुष मात्र के साथ भोग करती हैं। (१–१५४) स्त्रियाँ जैसे लाल रंग निचोड कर चरणों में लगाती हैं वैसे ही ये अपने अनुरागी, पुरुषों को निचोड कर चरणों में डाल लेती हैं। (१–१५६) स्त्रियों में काम शान्ति को किसने देखा या सुना है? (१–१५८) चौर्य रति की लालची स्त्रियाँ पलंग पर सोना, पति की अनुकूलता, तथा मनोहर शयन को भी तृण के समान तुच्छ समझती हैं। (१–१८५) कुलटाओं की लज्जा पति के साथ की क्रीडा को, और श्रृंगार अस्थियों को जलाते हैं। उसे मनोहर वचन कटु लगते हैं। बहुत रहने से क्या कोई भी कुलटा स्त्री पति से सन्तुष्ट नहीं होती (१–१८६) कुल का पतन, मनुष्यों की निन्दा, बन्धन और जीवन में सन्देह, ये सब विडम्बनायें परपुरुष में मन लगाने वाली कुलटा स्त्री स्वीकार कर लेती हैं। (१–१८७) मेघ से आच्छादित दिन में तथा पति के विदेश जाने पर व्यभिचारिणी स्त्रियों को बडा सुख होता है। (१–१८४) यदि दैव योग से कुरूप पुरुष भी एकान्त में प्राप्त हो जाय तो कुलटा स्त्री अपने सुन्दर पति का भी स्मरण नहीं करती। (१–१९२) जो शम्बर की माया है, जो नमुचि की माया है, बलि और कुम्भीनस की जो माया है वे सब मायायें स्त्रियों को विदित हैं। (१–१७४) ये हँसते हुए के साथ हँसती हैं, रोते के साथ रोती हैं, और समय पाकर अनुरक्त जन को प्रिय बना लेती हैं। (१–१९५) जो शास्त्र शुक्र और बृहस्पति जानते हैं वह शास्त्र स्त्री की बुद्धि से कुछ विशेष नहीं होता। अतः स्त्रियों की रक्षा भला कैसे हो सकती है। (१–१९६) जो स्त्रियाँ असत्य को सत्य और सत्य को असत्य कहती हैं। उनकी रक्षा इस संसार में धीर पुरुष कैसे कर सकते हैं। (१–१९७) ये सुन्दर मुख से मनोहर वचन बोलती हैं, किन्तु चित्त से तीक्ष्ण प्रहार करती हैं, स्त्रियों के मुख में मधु और

हृदय में हलाहल विष भरा रहता है। (१-१७७) सन्देहों का भवर, अविनय का भवन साहस का नगर, दोषों का स्थान, सैकड़ों कपटों का घर, अविश्वास का क्षेत्र बड़े बड़े पुरुषों द्वारा ग्रहण करने में असमर्थ और सब माया की पोटली स्त्री रूपी यन्त्र जो विष और अमृत से भरा है धर्मनाश के लिए इसे किसने बनाया है। (१-२ १) ये कार्य के निमित्त हँसती हैं और रोती हैं औरों को विश्वास दिलाकर भी स्वयं विश्वास नहीं करती। इस कारण कुल शील वाले मनुष्य के लिए श्मशान के घड़े की भाँति त्याज्य हैं। जब तक वे मनुष्य को अपने पर आसक्त नहीं जानती तब तक उसमें प्रेम करती हैं। बाद में उसे काम के वशीभूत जानकर माँस ग्रहण करने वाली मछली की तरह उसे उदरस्थ कर लेती है। (१-२ ४) झूठ साहस माया मूर्खता अतिलोभ अपवित्रता और निर्दयता ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष हैं। (१-२ ७) नदियों और नारियों का प्रभाव समान होता है। नदियों के कूल (किनारे) स्त्रियों के कुल के समान हैं नदियाँ जल से और स्त्रियाँ दोष से अपने कूल (किनारे) और कुल (वंश) को नष्ट करती हैं। (१-२२१) यदि अग्नि शीतल हो जाय चन्द्रमा गरम हो जाय और दुर्जन हितकारी बन जाय तो भले ही स्त्रियों के सतीत्व का विश्वास हो सके। (१-२ १) (१५-१) स्त्रियाँ पहले सोम गन्धर्व और अग्नि नाम वाले देवताओं से पहले भोगी जाती हैं। बाद में उन्हें मनुष्य भोगते हैं। इस कारण उनमें कोई दोष नहीं है। (१-२१) चन्द्रमा ने उनको पवित्रता गन्धर्वों ने शिक्षित वाणी और अग्नि ने सर्वांग पवित्रता दी है। अतः स्त्रियाँ सदा पाप रहित होती हैं। (१-२०१) जब ऋतुमती होने के पहले कन्या का विवाह करे आठ वर्ष की अवस्था में कन्या का विवाह प्रशंसनीय माना जाता है। (१-२१४) कन्या के ऋतुमती होने पर उसकी अनुमति से उसका दान करे। (१-२१६) कुल शील, सनाथता विद्या धन शरीर और अवस्था यह सात गुण विचार कर बुद्धिमान् कन्या दान दे। इसके अतिरिक्त अन्य बातों का विचार न करे। (१-२२) स्त्री को छोड़कर संसार में विष अमृत नाम की कोई वस्तु नहीं है जिसके संग से प्राणी जीता और वियोग से मर जाता है। (१-१४) स्त्रियों को भोजन वस्त्र ऋतुकाल में संगम तथा भूषणादि दे, परन्तु उनसे सलाह न पूछे। (५-११)

(२) हितोपदेश की नीति

आत्मरक्षा का महत्त्व और उसके साधन

धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारों की स्थिति का कारण प्राण है इसलिए जिसने प्राणों का नाश किया उसने किसका नाश नहीं किया ? और जिसने प्राणों की रक्षा की उसने किसकी रक्षा नहीं की ? (१-४१) जिसने भगवान् के द्वार की सेवा नहीं की सिंह के पुत्र को नहीं देखा, और कभी दीन वचन मुख से नहीं कहा ऐसे मनुष्य का जीवन धन्य है (१-१७०) मनुष्य जिस गुण से आजीविका प्राप्त करता है, तथा जिस गुण के कारण सज्जन

लोग इस जगत् में उसकी प्रशसा करते हैं, गुणी को ऐसे गुण की रक्षा करना तथा यत्नपूर्वक उसको बढाना चाहिए। (२।६५) दोनो युद्ध करने वालो की जीत निश्चय नही दीखती है इसलिए कभी भी युद्ध करने का यत्न नही करना चाहिए। (३।३७) साम, दाम और भेद को एक साथ अथवा पृथक पृथक प्रयोग में लाकर शत्रुओ को वश में करने का प्रयत्न करना चाहिए युद्ध का यत्न नही करना चाहिए। (वि० ४०) देवता, गुरू, गाय, राजा, ब्राह्मण, वालक, वृद्ध, आतुर इन पर क्रोध रोकना चाहिए। (३।१२०) जो मनुष्य स्नेह से अथवा उपकार से शत्रु का विश्वास करता है, वह सोये हुए के समान वृक्ष की फुनगी से गिर कर जागता है। अर्थात् आपत्ति में पडकर समझ पाता है। (४–७) विचार न करने वाले को उपाय वताना भूसी पीसने के ममान निरर्थक है, तथा नीच का उपकार करना धूलि में चिन्ह बनाने के समान है। (४–११) यदि नित्य, मलमूत्र भरे हुए शरीर से निर्मल और नित्य यश मिले तो क्या नही मिल गया? अर्थात् सव कुछ मिल गया। (१–४८) शरीर तथा गुणो में वडा अन्तर है। शरीर तक्षण में विनष्ट होने वाला है और गुण कल्प के अन्त तक रहने वाले हैं। (१–४७) पीठ पीछे काम विगाडने वाले और मुख पर मीठी मीठी वातें करने वाले मित्र को मुख पर दूध वाले विष के घडे के समान छोड देना चाहिए। (१–७७) दुष्ट मनुष्य प्रियवादी हो तो भी उसपर विश्वास न करना चाहिए। क्योंकि उसके जीभ के आगे मिठास और हृदय में हलाहल विष भरा रहता है। (१–८२) जिस देश में न सम्मान, न जीविका साधन, न भाई, और न विद्यालाभ ही हो उस देश को छोड देना चाहिए। (१–१०४) जीविका, अभय, लज्जा, सज्जनता तथा उदारता ये पाँच वाते जहाँ न हो वहाँ नही रहना चाहिए। (१–१०५) हे मित्र जहाँ ऋण देने वाला, वैद्य, वेदपाठी और सुन्दर जल से भरी नदी न हो वहाँ नही रहना चाहिए। (१–१६०) उदार पुरुष स्वेच्छा से प्राण त्याग कर सकता है किन्तु कृपणता को नही ग्रहण करता। (१–१३३) पुष्प के गुच्छे के समान मनस्वियों की दो ही गतियाँ होती हैं या तो वे सव के शिर पर रहते हैं अथवा वन में ही कुम्हला जाते हैं। (१–१३४) लोभी को धन देकर, अभिमानियो को हाथ जोडकर, मूर्ख को उसका मनोरथ पूरा करके, तथा पण्डित को सच कह कर, वश में करना चाहिये। (४–१०३) विनय से मित्र को, मीठी वातो से वान्धवो को, दान तथा मान से स्त्री और सेवको को, तथा चतुरता से अन्य सव लोगो को वश में करना चाहिए। (४–१०४) वुद्धिमान् पुरुष को अपने धन का नाश, मन का सन्ताप, घर का दुराचार ठगा जाना, और अपमान, इनको प्रकट नही करना चाहिए। (१–१३०) आयु, धन, घर का भेद, गुप्त वात, मैथुन, औषधि, तप, दान, और अपमान, इन वातों को यत्न से गुप्त रखना चाहिए। (१–१३१) आलस्य, स्त्री की सेवा, रोगी रहना, जन्मभूमि का स्नेह, सन्तोष और भीरुता, ये छ वातें उन्नति के वाधक हैं। (२–५)

निरुत्साही आनन्दरहित पराक्रमहीन तथा शत्रु को प्रसन्न करने वाले पुत्र को कोई सौभाग्य वती स्त्री जन्म न दे ? (२–७) बूरों की संगति से बचोगे और यदि बुद्धों की संगति में पड़ोगे तो मरोगे। (१–३ ७) संसार में अपना कल्याण चाहने वाले को निद्रा तन्द्रा भय आलस्य और दीर्घसूत्रता का परित्याग कर देना चाहिए। (१–३४) छोटी वस्तुओं का समूह भी कार्य साधन हो जाता है। (१–३५) अपने कुल के थोड़े मनुष्यों का समूह भी कल्याण करने वाला होता है। (१–३६) माता मित्र और पिता के स्वभाव से हित कारी होते हैं। अन्य लोग किसी कार्य अथवा किसी कारण से हित करने वाले होते हैं। (१–३८) जिसका कुल और स्वभाव अज्ञात हो उसको घर में कभी नहीं ठहराना चाहिए। (१–५७) तब से डरना चाहिए जब तक वह पास न आया हो परन्तु उसको पास आया देखकर यथा योग्य प्रतिकार करना चाहिए। (१–७२) आपत्ति में मित्र युद्ध में शूर, ऋण में सच्चा व्यवहार, निर्धनता में स्त्री और दुःख में भाई परखे जाते हैं। (१–७२) जो मनुष्य अपने हितकारी मित्रों का वचन नहीं सुनता है वह विपत्ति के समीप है तथा अपने शत्रुओं को प्रसन्न करने वाला है। (१–७४) पीठ पीछे बिगाड़ने वाला और मुख पर मीठी बात करने वाले मित्र को मुख पर दूध वाले विष के घड़े के समान छोड़ देना चाहिए। (१–७७) दुष्ट के साथ मित्रता और प्रीति कुछ भी न करे। क्योंकि गरम अंगार हाथ को जलाता है और ठंडा हाथ को काला कर देता है। (१–८) दुर्जन यदि विद्वान भी हो तो उसका परित्याग कर देना चाहिए। (१–८९) जो मनुष्य अधिक प्रयोजन से शत्रुओं और व्यभिचारिणी स्त्रियों पर विश्वास करता है वह अपने जीवन का अन्त ही करता है। (१–९१) निष्कपटता दानशीलता शूरता दुःख में समानता अनुकूलता प्रीति और सत्यता ये मित्र के गुण हैं। (१–९६) गुप्त बात को प्रकट करना धन आदि की याचना, कठोरता चित्त की चंचलता क्रोध झूठ और जूआ ये मित्र के दोष हैं। (१९८) बुद्धि मान एक पैर से चलता है और दूसरे से स्थिर रहता है इसलिए दूसरा निश्चित किए बिना पहला स्थान नहीं छोड़ना चाहिए। (१–१ २) थोड़ा थोड़ा पढ़कर पण्डिताई, धन देकर मैथुन पराये आसरे पर भोजन ये तीनों बातें मनुष्य के लिए व्यर्थ हैं। (१–१४) रोगी बहुत काल तक विदेश म रहने वाला दूसरे का अन्न खाने वाला तथा दूसरे के घर में सोने वाला इनका जीना ही मरण है और इनका मरना ही विश्राम है। (१–१४१) राजा कुल की बहू ब्राह्मण मन्त्री स्तन दाँत नख और मनुष्य अपने स्थान से अलग होने पर शोभा नहीं पाते हैं। (१–१७१) सिंह सज्जन पुरुष और हाथी ये स्थान छोड़कर जाते हैं किन्तु काक कायर और मृग में वहीं स्थान पर मृत्यु पाते हैं। (१–१७४)

अर्थ महिमा और अर्थ सम्बन्धी नीति

सर्जन संसार में सभी मनुष्य धन से ही तथा बलवान् होते हैं तथा राजाओं की प्रभुता

का जड भी धन ही होता है। (१–१२३) ससार में मनुष्य धन मे ही वलवान् होता है और धन से ही पण्डित होता है। (१–१२४) धन से हीन अल्प बुद्धि वाले मनुष्य के सब काम गरमी के दिन में छोटी नदियों के समान विगड जाते हैं। (१–१२५) ससार में जिसके पास धन है उस के सब मित्र हैं, उसी के सब बान्धव हैं, तथा जिसके पास धन है वही महान् पुरुप है, और वही महा पण्डित है। (१–१२६) सच्चे मित्र मे हीन और पुत्र से हीन का घर सूना है, मूर्ख की सब दिशायें सूनी है, अर्थात् मूर्खता के कारण कही आदर नही पाता, और दरिद्रता तो समस्त शून्यता का केन्द्र ही है, क्योंकि दरिद्र कभी कही सुख नहीं पाता।(१–१२७) वे ही विकार रहित इन्द्रियाँ हैं, वही नाम है वही निर्मल बुद्धि है, वही वाणी हैं, किन्तु धन की उष्णता से रहित वही मनुष्य क्षण भर में कुछ दूसरा ही हो जाता है। (१–१२९) जिसके पास बहुत सा धन है उस ब्रह्म घातक मनुष्य का भी सत्कार होता है और चन्द्रमा के समान निर्वल वश में उत्पन्न निर्धन पुरुप का अपमान होता है (२–३) जैसे युवती स्त्री बूढ़े पति को नही चाहती है वैसे ही लक्ष्मी भी निरुद्योगी, आलसी, भाग्य का भरोसा करने वाले, पुरुपार्थ मे हीन पुरुप को नही चाहती है। (२–४) जो मनुष्य थोडी भी सम्पत्ति से अपने को सुखी मान लेता है विधाता से कृतकृत्य मानकर उसकी सम्पत्ति को नही वढाता है। (२–६) अलब्ध धन को पाने की इच्छा करना, पाये हुए धन की चोरी आदि से रक्षा करना, रक्षा किए हुए धन को व्यापार आदि से वढाना, और वढे हुए धन को तीर्थ आदि उचित स्थानो पर दान करना चाहिए। (२–८) उसके धन से क्या जो न देता है और न खाता है। (२–९) धन के विना, अच्छे कुल और आचार से पुरुप आदर नही पाता है, क्योंकि धन हीन पुरुप को उसकी स्त्री भी छोड देती है तो दूसरो की वात ही क्या है? (२–९३) अधिक खर्च करना, धन की इच्छा न रखना, अन्याय से धन इकट्ठा करना, अन्याय से किसी का धन छीन लेना, और धन को दूर रखना, ये कोश के दोष माने जाते हैं। (२–९४) धन के लाभ को विना विचारे अपनी इच्छा से शीघ्र व्यय करने वाला कुवेर के समान धनवान् होने पर भी वह धनी अवश्य दरिद्र हो जाता है। (२–९५) जो मनुष्य अपने सुख को रोक कर धन सचय करने की इच्छा करता है वह दूसरो के लिए बोझा ढोने वाले मजदूर के समान केवल क्लेश का ही भागी है। (१–१५८) जो मनुष्य अपने धन को देवता, ब्राह्मण, बन्धु तथा अपने काय में नही लगाता उस कृपण का धन अग्नि, चोर और राजा के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। (१–१६०) दान, भोग, और नाश धन की तीन गतियाँ होती है। जो न देता है और न खाता है उसकी तृतीया गति ही होती है। (१–१६१) सचय नित्य करना चाहिए, किन्तु अत्यन्त सचय नही करना चाहिए। (१–१६४) जो कुछ दान करता है और खाता है वही धनी का धन है, नही तो मरने पर उसके धन और स्त्री से दूसरे लोग आनन्द उठाते हैं। (१–१६८) जो

निरुत्साही आनन्दरहित पराक्रमहीन तथा शत्रु को प्रसन्न करने वाले पुत्र को कोई सौभाग्यवती स्त्री जन्म न दे? (२–७) पुरुषों की संगति से बचाये और यदि दुष्टों की संगति में पड़ोगे तो मरोगे। (१–१७) संसार में अपना कल्याण चाहने वाले को निद्रा तन्द्रा भय आलस्य और दीर्घसूत्रता का परित्याग कर देना चाहिए। (१–१४) छोटी वस्तुओं का समूह भी कार्य साधन हो जाता है। (१–१५) अपने कुल के थोड़े मनुष्यों का समूह भी कल्याण करने वाला होता है। (१–११) माता मित्र और पिता के स्वभाव से हितकारी होते हैं। अन्य लोग किसी कार्य अथवा किसी कारण से हित करने वाले होते हैं। (१–१८) जिसका कुल और स्वभाव अज्ञात हो उसको घर में कभी नहीं ठहराना चाहिए। (१–५७) भय से तभी डरना चाहिए जब तक वह पास न आया हो परन्तु उसको पास आया देखकर यथा योग्य प्रतिकार करना चाहिए। (१–७२) आपत्ति में मित्र युद्ध में शूर, ऋण में सच्चा व्यवहार, निर्धनता में स्त्री और दुःख में भाई परखे जाते हैं। (१–७२) जो मनुष्य अपने हितकारी मित्रों का वचन नहीं सुनता है वह विपत्ति के समीप है तथा अपने शत्रुओं को प्रसन्न करने वाला है। (१–७४) पीठ पीछे बिगाड़ने वाला और मुख पर मीठी बात करने वाले मित्र को मुख पर दूध वाले विष के घड़े के समान छोड़ देना चाहिए। (१–७७) दुष्ट के साथ मित्रता और प्रीति कुछ भी न करे। क्योंकि गरम अंगार हाथ को जलाता है और ठंडा हाथ को काला कर देता है। (१–८) दुर्जन यदि विद्वान् भी हो तो उसका परित्याग कर देना चाहिए। (१–८९) जो मनुष्य अधिक प्रयोजन से शत्रुओं और व्यभिचारिणी स्त्रियों पर विश्वास करता है वह अपने जीवन का अन्त ही करता है। (१–९१) निष्कपटता दानशीलता शूरता दुःख में समानता अनुकूलता प्रीति और सत्यता ये मित्र के गुण हैं। (१–९९) गुप्त बात को प्रकट करना धन आदि की याचना कठोरता चित्त की चंचलता क्रोध झूठ और जुआ ये मित्र के दोष हैं। (१९८) बुद्धिमान्, एक पैर से चलता है और दूसरे से स्थिर रहता है इसलिए दूसरा निश्चित किए बिना पहला स्थान नहीं छोड़ना चाहिए। (१–१ २) थोड़ा जोग पढ़कर पण्डिताई, धन लेकर मैथुन पराये आसरे पर भोजन ये तीनों बातें मनुष्य के लिए व्यर्थ हैं।(१–१४) रोगी बहुत काल तक विदेश में रहने वाला दूसरे का अन्न खाने वाला, तथा दूसरे के घर में सोने वाला इनका जीना ही मरण है और इनका मरना ही विश्राम है। (१–१४१) राजा कुल की वधू, ब्राह्मण मन्त्री स्तन दाँत नख और मनुष्य अपने स्थान से अलग होने पर शोभा नहीं पाते हैं। (१–१०१) सिंह सज्जन पुरुष और हाथी ये स्थान छोड़कर जाते हैं किन्तु काक कायर और मृग ये उसी स्थान पर मृत्यु पाते हैं। (१–१०४)

अर्थ महिमा और अर्थ सम्बन्धी नीति

सर्वत्र संसार में सभी मनुष्य धन से ही सदा बलवान् होते हैं तथा राजाओं की प्रभुता

का जड भी धन ही होता है। (१–१२३) समार में मनुष्य धन से ही वलवान् होता है और धन से ही पण्डित होता है। (१–१२४) धन से हीन अल्प वुद्धि वाले मनुष्य के सव काम गरमी के दिन में छोटी नदियो के समान विगड जाते हैं। (१–१२५) ससार में जिसके पास धन है उम के सब मित्र हैं, उसी के सब वान्धव हैं, तथा जिसके पास धन है वही महान् पुरुप है, और वही महा पण्डित है। (१–१२६) सच्चे मित्र से हीन और पुत्र से हीन का घर सूना है, मूर्ख की सव दिशायें सूनी हैं, अर्थात् मूर्खता के कारण कही आदर नही पाता, और दरिद्रता तो समस्त शून्यता का केन्द्र ही है, क्योकि दरिद्र कभी कही सुख नही पाता। (१–१२७) वे ही विकार रहित इन्द्रियाँ हैं, वही नाम है वही निर्मल वुद्धि है, वही वाणी हैं, किन्तु धन की उष्णता से रहित वही मनुष्य क्षण भर में कुछ दूसरा ही हो जाता है। (१–१२९) जिसके पास वहुत सा धन है उस ब्रह्म घातक मनुष्य का भी मत्कार होता है और चन्द्रमा के समान निर्वल वश में उत्पन्न निर्धन पुरुप का अपमान होता है (२–३) जैसे युवती स्त्री वूढ़े पति को नही चाहती है वैसे ही लक्ष्मी भी निरुद्योगी, आलसी, भाग्य का भरोसा करने वाले, पुरुषार्थ से हीन पुरुष को नही चाहती है। (२–४) जो मनुष्य थोडी भी सम्पत्ति से अपने को सुखी मान लेता है विधाता से कृतकृत्य मानकर उसकी सम्पत्ति को नही वढाता है। (२–६) अलब्ध धन को पाने की इच्छा करना, पाये हुए धन की चोरी आदि से रक्षा करना, रक्षा किए हुए धन को व्यापार आदि से वढाना, और वढे हुए धन को तीर्थ आदि उचित स्थानो पर दान करना चाहिए। (२–८) उसके धन से क्या जो न देता है और न खाता है। (२–९) धन के विना, अच्छे कुल और आचार से पुरुप आदर नही पाता है, क्योकि धन हीन पुरुप को उसकी स्त्री भी छोड देती है तो दूसरो की बात ही क्या है? (२–९३) अधिक खर्च करना, धन की इच्छा न रखना, अन्याय से धन इकट्ठा करना, अन्याय से किसी का धन छीन लेना, और धन को दूर रखना, ये कोश के दोष माने जाते हैं। (२–९४) धन के लाभ को बिना विचारे अपनी इच्छा से शीघ्र व्यय करने वाला कुवेर के ममान धनवान् होने पर भी वह धनी अवश्य दरिद्र हो जाता है। (२–९५) जो मनुष्य अपने सुख को रोक कर धन सचय करने की इच्छा करता है वह दूसरो के लिए वोझा ढोने वाले मजदूर के समान केवल क्लेश का ही भागी है। (१–१५८) जो मनुष्य अपने धन को देवता, ब्राह्मण, वन्धु तथा अपने कार्य में नही लगाता उस कृपण का धन अग्नि, चोर और राजा के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। (१–१६०) दान, भोग, और नाश धन की तीन गतियाँ होती है। जो न देता है और न खाता है उसकी तृतीया गति ही होती है। (१–१६१) सचय नित्य करना चाहिए, किन्तु अत्यन्त सचय नही करना चाहिए। (१–१६४) जो कुछ दान करता है और खाता है वही धनी का धन है, नही तो मरने पर उसके धन और स्त्री से दूसरे लोग आनन्द उठाते हैं। (१–१६८) जो

गुणाओं को देते हों और नित्य खाते हों उसी धन को मैं तुम्हारा धन समझता हूँ और किसी दूसरे का है जिसका तुम केवल रक्षक मात्र हो। (१-१९९) जो धन कमाने में दुःख तथा आपत्तियों में सन्ताप देते हैं तथा अधिक बढ़ने पर मदान्ध कर देते हैं ऐसे धन कैसे सुखदायक हो सकते हैं। (१-१८६) निर्धनता से मनुष्य को लज्जा होती है लज्जा से पराक्रम नष्ट हो जाता है। पराक्रम न होने से अपमान होता है अपमान होने से दुःख पाता है दुःख से शोक करता है शोक से बुद्धिहीन हो जाता है और बुद्धि न होने से नाश हो जाता है। अहो! निर्धनता ही समस्त आपत्तियों का स्थान है। (१-१११) धन के लिए जिसको धन की इच्छा हो उसका धन की इच्छा न होना ही अच्छा है। क्योंकि कीचड़ को लगाकर उसको धोने की अपेक्षा उसको न छूना ही अच्छा है। (१-१८५) जैसे मांस को आकाश में पक्षी पृथ्वी पर हिंसक जीव तथा जल में मगर आदि खाते हैं उसी प्रकार धनवान् को ही सभी खाते हैं। (१-१८५१) धनवान् को राजा जल अग्नि चोर तथा अपने सम्बन्धियों का ऐसा भय बना रहता है जैसा कि प्राणियों को मृत्यु का। (१-१८७) धन पहले तो सुलभ नहीं और कहीं मिल भी जाय तो उसकी रक्षा बड़ी कठिनाई से होती है तथा मिले धन का नाश मृत्यु के समान है। इसलिए धन की कभी चिन्ता ही नहीं करनी चाहिए। (१-१८९)

धर्म विषयक विचार

आहार, निद्रा, भय, मैथुन ये पशुओं और मनुष्यों में समान हैं। केवल मनुष्यों में धर्म ही अधिक है। धर्म से हीन मनुष्य पशु के समान है। (२५) जिस मनुष्य में धर्म अर्थ काम मोक्ष एक भी न हों उसका जन्म निरर्थक है। (प्र २६) सुवर्ण के संग होने से जैसे काँच की मरकत मणि की शोभा हो जाती है वैसे सत्संग से मूर्ख भी चतुर हो जाता है। (प्र ४१) नीचों के साथ रहने से बुद्धि घट जाती है समान पुरुषों के साथ रहने से समान रहती है और अधिक बुद्धिमान् के साथ रहने से बढ़ जाती है। (४२) यज्ञ करना पढ़ना दान देना तप करना, सत्य धैर्य और क्षमा करना अलोभ ये धर्म के आठ मार्ग बताये गए हैं। (१-८) प्रार्थना के स्वीकार, दान सुख तथा दुःख शुभ और अशुभ में पुरुष को अपने जैसा दूसरे को समझ कर व्यवहार करना चाहिए। (१-१९) जो परस्त्री को माता समान दूसरे के धन को कंकड़ के समान तथा सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखता है वही पण्डित जानी है। (१-१४) यह देना है इस निस्पृह बुद्धि से जो दान अपने प्रति अनुपकारी को देश काल और पात्र का विचार कर के दिया जाता है वह दान सात्विक कहलाता है। (१-१६) लोभ के वशीभूत होकर लोग दुःख भोगते हैं। (१-२६) लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है, लोभ से काम उत्पन्न होता है, लोभ से मोह उत्पन्न होता है और लोभ से नाश भी होता है।

इसलिए लोभ ही पाप की जड है। (१–२७) जो मनुष्य सब प्रकार की हिंसा से रहित हैं, सब कुछ सह लेते हैं, और सभी को आश्रय देते हैं, वे स्वर्ग को जाते हैं। (१–६४) एक धर्म ही मित्र है जो मरने पर भी साथ जाता है अन्य सब वस्तुये शरीर के ही साथ नष्ट हो जाती हैं। (१–६५) जो प्राणी जिस समय जिस प्राणी का मास खाता है उन दोनो में अन्तर देखो। एक को तो केवल क्षणभर का सन्तोष होता है और दूसरे का प्राण सदा के लिए चला जाता है। (१–६६) हे पृथ्वी! जो मनुष्य उपकारी, विश्वासी, तथा भोले भाले के साथ छल करता है उसको तुम कैसे धारण करती हो? (१–७९) प्राणी तीन वर्ष, तीन मास, तीन पक्ष, अथवा तीन दिन में ही अपने अति उत्कट पाप या पुण्य का फल यही भोग लेता है। (१–८३) दूसरो को उपदेश देना सब मनुष्य को सहज है किन्तु अपने धर्म पर चलना किसी विरले महात्मा में होता है। (१–१०३) कमाये हुए धन का सत्पात्र को दान देना ही रक्षा है। (१–५६) उस धन से क्या लाभ जो न दिया जाता है और न खाया जाता है? उस बल से क्या लाभ जो शत्रुओं को नही सताता है, उस शास्त्र से क्या लाभ जो धर्म का आचरण नही सिखाता? उस व्यक्तित्व से क्या लाभ जो जितेन्द्रिय नही होता? (२–९) दान और भोग के बिना जिसके दिन जाते हैं वह लोहार की धौकनी के समान सांस लेता हुआ भी मृतक के समान है। (२–११) इस ससार में तृष्णा को त्याग देने पर कौन दरिद्र और कौन धनवान है और जिसने उसको अवसर दिया है उसके सिर पर दासता बैठी है। (१–१९०) महात्माओ का स्नेह जीवन पर्यन्त, क्रोध केवल क्षणमात्र के लिए और परित्याग आसक्ति रहित होता है। (१–१९२) पुरुष तभी तक अच्छे मार्ग में रहता है, तभी तक इन्द्रियो को वश में रखता है, तभी तक लज्जा रखता है, तभी तक नम्रता का सहारा लेता है, जब तक सुन्दर-सुन्दर स्त्रियो द्वारा, कान तक खींचे हुए धैर्य को नष्ट करने वाले, भौरूपी धनुष से छूटे हुए कटाक्ष रूपी बाण हृदय में नही लगते। (१–१९८) बल से बुद्धि अधिक बडी है। (२–८६) जिसके पास बुद्धि है उसी को बल प्राप्त है, निर्बुद्धि को बल नही होता। (२–१२२) मतवाला, असमर्थ, उन्मत्त, थका हुआ, क्रोधित, भूखा, लोभी, डरपोक, बिना विचारे करने वाला, और कामी, ये धर्म से अनभिज्ञ होते हैं। (४–५५) इस ससार में जितना श्रेष्ठ अभयदान है वैसा न तो भूमिदान, न सुवर्णदान, न गोदान, और न अन्नदान ही है। (४–५६) मनोरथो को देने वाले अश्वमेघ यज्ञ का जो फल होता है वही फल शरणागत की अच्छी तरह रक्षा करने से मिलता है। (४–५७) शरीर नाश के समीप है, सम्पत्तियाँ विपत्तियो का स्थान हैं, समागम के साथ वियोग है, उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुएँ नाश होने वाली हैं। (४–६४) यह शरीर प्रतिक्षण कट रहा है, किन्तु इसका नाश दिखायी नही पडता। (४–६५) यौवन, रूप, जीवन, द्रव्य का सचय, ऐश्वर्य तथा स्त्री पुत्रादि और प्रेमालाप सभी अनित्य हैं। अत

बुद्धिमान को इसमें मोह नहीं करना चाहिए। (४–६६) जैसे कोई पथिक मार्ग में छाया का आश्रय लेकर बैठ जाता है तथा विश्राम करके पुनः चल देता है वैसा ही प्राणियों का समागम भी है। (४–६७) मनुष्य मन को अच्छे लगने वाले जितने स्नेह सम्बन्धों को वह पूर्ण करता है उतने ही हृदय में शोक के भाले भी चुभते हैं। (४–६७) किसी भी प्राणी को जब बहुत काल तक अपने शरीर का ही साथ नहीं मिलता तो अन्य का साथ मिलेगा इसकी आशा क्या है? (४–७२) अपथ्य अर्थात् हित नहीं करने वाली भक्ष्य वस्तुओं के समान क्षणभर सुन्दर लगने वाले स्त्री पुत्रादि प्रियजनों के साथ मिलने का अन्त बड़ा कष्टदायक होता है। (४–७४) आसक्त पुरुषों को वन में काम आदि दोष होते हैं तथा घर में भी पाँचों इन्द्रियों को रोकना तप के समान है। जो अच्छे कर्म में प्रवृत्त है तथा आसक्ति रहित है उसके लिए घर भी तपोवन के समान है। (४–७१) किसी भी आश्रम में रहकर दुःखित होने पर भी धर्म का आचरण करे और सब प्राणियों पर समान स्नेह रखे केवल चिह्न (वेशभूषा वस्त्रादि) धर्म का कारण नहीं है। (४–८४) जिन मनुष्यों का भोजन शरीर निर्वाह के लिए, मैथुन सन्तान के लिए, और वाणी सत्य वचन बोलने के लिए है वे सब कठिनाइयों को पार कर जाते हैं। (४–८५) हे युधिष्ठिर, इन्द्रियों का संयम ही जिसका पुण्य तीर्थ है, सत्य ही जिसका जल है, शील जिसका किनारा है और दया ही जिसकी लहरियों की माला है ऐसी आत्मा रूपी नदी में स्नान करे, क्योंकि केवल पानी से ही अन्तरात्मा की शुद्धि नहीं होती। (४–८६) संसार में दुःख ही दुःख है सुख नहीं है। इस दुःख से ही दुःख सुख का भी अनुभव होता है। दुःखी मनुष्य के दुःख का प्रतिकार सुख ही कहलाता है। (४–८०) संग का सर्वथा त्याग करना चाहिए और वह यदि न छोड़ा जा सके तो सज्जनों के साथ संग करना चाहिए क्योंकि साधुओं का संग औषधि है। (४–८०) रति की इच्छा का सर्वथा त्याग करना चाहिए और यदि यह न छूट सके तो अपनी स्त्री के साथ ही रति करनी चाहिए, क्योंकि वही सचमुच उसकी औषधि है। (४–) मन का सन्ताप रोग तथा क्षुधादि से उत्पन्न हुए क्लेश इनसे आज या कल विनाश पाने वाले शरीर के लिए कौन सा मनुष्य धर्म रहित आचरण करेगा? (४–१२७) देहधारियों का देह पानी में दीखने वाले चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के समान चंचल है ऐसा जानकर सर्वदा कल्याण करने वाला आचरण करना चाहिए। (४–१२८) संसार को मृगतृष्णा के समान जान मधुर जानकर धन और सुख के लिए सज्जनों की संगति करनी चाहिए। (४–१९) हजारों अश्वमेध और सत्य तराजू पर रख कर तौले गए तो सहस्र अश्वमेध से भी सत्य का ही पलड़ा भारी रहा। (४–११) प्रिय वाणी सहित दान अहंकार रहित ज्ञान क्षमा युक्त शूरता और दानयुक्त धन ये चार बातें संसार में दुर्लभ हैं। (१–१६१) अल्प बुद्धि वाले ही अपना और पराये का भेद रखते हैं। किन्तु उदार चरित वालों का तो सारा

विश्व ही कुटुम्ब है। (१-७०) सज्जनो के मन, वचन और कर्म में एक ही बात रहती है। किन्तु दुर्जनो के मन मे दूसरी, वचन में दूसरी, और कर्म में दूसरी ही बात रहती है। (१-१०१) चुप रहना अच्छा है, पर मिथ्या वचन कहना अच्छा नही। परस्त्री के साथ गमन करने की अपेक्षा, नपुसक हो जाना अच्छा है। धूर्तो की बातो मे प्रेम करने की अपेक्षा प्राणो का परित्याग करना अच्छा है। दूसरे के धन से सुस्वादु भोजन की अपेक्षा भिक्षा माँग कर खाना अच्छा है। (१-१३७) जिसने आशा का परित्याग कर निराशा का सहारा ले लिया उसी ने पढा, उसी ने सुना, और उसी ने सब कुछ किया। (१-१४६) ससार में प्राणियो का धर्म क्या है। जीवो पर दया करना और सुख क्या है? निरोग रहना। स्नेह क्या है? सत्कारपूर्वक मिलना। तथा पण्डिताई क्या है? भला बुरा विचार कर काम करना। (१-१४७) धन चरणो की धूलि के समान है, यौवन पहाड की नदी के वेग के समान है, आयु चचल जल बिन्दु के समान चपल है, और जीवन फेन के समान है। इसलिए जो दुर्बुद्धि स्वर्ग के किवाड खोलने वाले धर्म को नही करता है वह पीछे बुढापे मे, शोक की अग्नि से पश्चाताप के साथ जलता है। (१-१५५)

अतिथि सत्कार

कुशा का आसन, बैठने की भूमि, जल, और चौथी सत्य मीठी बोली, ये चार वस्तुयें सज्जनो के घर मे कभी नही घटती। (१-६१) जिस घर से अतिथि विमुख होकर लौट जाता है वह अपना पाप उसको देकर तथा उसका पुण्य लेकर चला जाता है। (१-६२ उत्तम वर्ण के घर नीच वर्ण का भी अतिथि आवे तो उसका यथोचित् सत्कार करना चाहिए क्योकि अतिथि सर्वदेवमय है। (१-६३) बालक, वृद्ध या जवान कोई भी घर पर आ जाय तो उसका आदर सम्मान करना चाहिए क्योकि अभ्यागत सबका पूज्य है। (१-१०७) ब्राह्मणो के लिए अग्नि, सभी वर्णो के लिए ब्राह्मण, स्त्री के लिए पति, और सबके लिए अभ्यागत पूज्य होता है। (१-१०८)

काम चर्चा और स्त्री स्वभाव

जैसे पाले से मारे हुए का चित्त चन्द्रमा में और धूप मे तप्त का मन सूर्य में नही लगता वैसे ही स्त्रियो का मन शिथिल इन्द्रिय वाले पति में नही लगता। (१-११०) जब बाल सफेद हो गये तो पुरुष को काम की योग्यता कहाँ? जिन स्त्रियो का मन दूसरो में लगा है वे ऐसे पति को औषधि की भाँति मानती हैं। (१-१११) प्राणधारियो को धन और जीवन की बडी आशा होती है, किन्तु बुढे को तरुण ही स्त्री प्राणो से भी अधिक प्यारी होती है। (१-११२) बूढ़ा मनुष्य न तो विषयो को भोग सकता है और न छोड सकता है, जैसे दन्तहीन कुत्ता हड्डी को चबा नही सकता किन्तु जीभ से चाटता रहता है। (१-११३) स्वतन्त्रता से पिता के घर रहना, यात्रा आदि उत्सव में किसी

का सम, पुरुष के साथ गप्प लड़ाना नियम में न रहना विदेश में रहना व्यभिचारिणी स्त्रियों के सहवास में रहना बार-बार अपने चरित्र को खोना पति का बूढ़ा होना, ईर्ष्या करना और स्वामी का परदेश में रहना य स्त्रियों के नाश के कारण हैं।(१–११४) मद्यपान, दुष्ट लोगों का सहवास पति का विरह इधर-उधर घूमते रहना, दूसरे के घर में सोना, अथवा रहना य स्त्रियों के छ दोष हैं। (१–११५) हे नारद, (व्यभिचार के लिए) एकान्त स्थान समय और प्रार्थना करने वाला मनुष्य इनके अभाव में ही स्त्रियाँ पतिव्रता हो सकती हैं। (१–११६) स्त्रियों का कोई प्रिय अथवा अप्रिय नहीं है। जैसे वन में गायें नये नये घास खोजती हैं वैसे ही स्त्रियाँ भी नवीन पुरुष चाहती हैं। (१–११७) स्त्री घी के घड़े के समान है और पुरुष जलते हुए अंगार के समान है। इसलिए बुद्धिमान को चाहिए कि घी और अग्नि को साथ-साथ न रखें (१–११८) पुरुष को माता बहन और पुत्री के साथ भी एकान्त में नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं, वे जितेन्द्रियों को भी वश में कर लेती हैं। (१–११९) स्त्रियों को पति वश रखने के लिए न लज्जा न विनम्रता न चतुरता और न भय कारण हैं। किन्तु केवल प्रार्थना न होना ही कारण है। (१–१२) बचपन में पिता जवानी में पति बुढ़ापे में पुत्र रक्षा करता है। अत स्त्री कभी भी स्वतन्त्र रहने के योग्य नहीं। (१–१२१) जो शास्त्र शुक्राचार्य जानते हैं और जो शास्त्र बृहस्पति जानते हैं वह शास्त्र स्त्री की बुद्धि में स्वभाव से ही रहता है ।(१–१२२) जैसे काठ से अग्नि तृप्त नहीं होती उसी प्रकार पुरुषों से स्त्रियाँ तृप्त नहीं होती हैं। (२–११५) स्त्रियाँ न तो दान न प्रतिष्ठा, न सरलता न सेवा और न मन्त्र न शास्त्र किसी से भी वश में नहीं हो सकती। (२–११६) स्त्रियाँ सब गुणों से युक्त यशस्वी सुन्दर, कामशील बलवान तथा नवयुवक पति को छोड़कर शील और गुण से हीन दूसरे पुरुष के पास चली जाती हैं। (२–११७) स्त्री तृण आदि बिछी हुई भूमि पर यार के साथ जितना सुख पाती है उतना सुख मुलायम शैया पर पति के साथ सोकर नहीं पाती है। (२–११८) स्त्रियों का आहार द्विगुना, बुद्धि चौगुनी साहस छ गुना और उनका काम आठ गुना होता है।(२–११७)

उद्योग तथा पुरुषार्थ

उद्योग करने वाले पुरुष सिंह को लक्ष्मी मिलती है। दैव के देने से लक्ष्मी मिलती है यह कापुरुष कहते हैं। अत भाग्य का भरोसा छोड़कर यथा साध्य प्रयत्न करना चाहिए और यदि यत्न करने पर भी कार्य सिद्ध न हो तो दोष ही क्या है ? (प्र ११) जैसे एक पहिये से रथ नहीं चलता है वैसे ही बिना उद्योग से प्रारब्ध निरर्थक हो जाता है। (प्र १२) पूर्व जन्म में किये हुए कर्म का ही नाम दैव है। अत आलस्य का परित्याग कर कर्म करना चाहिए। (प्र ११) मनुष्य अपना किया हुआ कर्म प्राप्त करता

है। (प्र० ३४) केवल उद्योग से ही काय सिद्ध होता है, मनोरथों मे नही। (प्र० ३६) शास्त्र का अध्ययन करके भी मूर्ख हो जाते हैं। वही पण्डित है जो क्रिया करता है। (१-१७१) शास्त्र की विधि उद्योग से अल्प भी भयभीत होने वाले को कोई लाभ नही देती। (१-१७२) वीर और उद्योगी पुरुष को क्या स्वदेश और क्या विदेश, वह तो जिस देश में रहता है उसी को अपने भुजा के वल से जीत लेता है, जिस प्रकार दांत नख और पूंछ से प्रहार करने वाला सिंह जिस किसी वन में पहुँच जाता है वही मत्त हाथियो को मार कर अपनी प्यास बुझाता है। (१-१७५) सब सम्पत्तियां विवश होकर उद्योगी पुरुष के पास आती हैं। (१-१७६) उत्साही, आलस्यहीन, कार्य की रीति को जानने वाले, व्यसन मे अनासक्त, शूर, कृतज्ञ और अच्छे मित्रवाले के पास निवास करने के लिए लक्ष्मी आप ही आप चली जाती है। काजल को क्रमश घटते तथा वल्मीक को दिन-दिन वढते देखकर दान, अध्ययन तथा कर्म से दिन को सफल करना चाहिए। (२-१२) समर्थ के लिए क्या अधिक भार है तथा उद्योगी पुरुष के लिए क्या दूर है? (२-१३)

दैव

आयु, कर्म, धन, विद्या, और मृत्यु ये पाँच बातें मनुष्य को गर्भावस्था से ही प्राप्त हो जाती हैं। (प्र० २७) भाग्य में जो विधाता ने लिख दिया है उसको कौन मिटा सकता है? (१-२१) प्रारब्ध बहुत ही वलवान् है ऐसा मेरी समझ में आता है। (१-५१) जिस प्रकार देहधारियों को दुःख मिलते है वैसे ही सुख भी मिलते हैं। इसमें केवल प्रारब्ध ही वलवान् है ऐसा मानता हूँ। (१-१६६) आजीविका के लिए बहुत उद्योग नही करना चाहिए। वह तो विधाता ने निश्चय कर दिया है क्योंकि प्राणी के गर्भ से निकलते ही स्तनो मे दूध निकलने लगता है। (१-१८२) जिसने हसो को सफेद, तोतो को हरा और मोरो को विचित्र वनाया है वही तेरी आजीविका को भी देगा। (१-१८३) फल तो वही होता है जो विधि को अपेक्षित रहता है। (२-१४) अरक्षित भी दैव की रक्षा से वच जाता है और सुरक्षित भी दैव से नष्ट कर लिया जाता है। अनाथ वन में छोडा हुआ भी वच जाता है और लाखों प्रयत्न से घर में भी मरने वाला मर ही जाता है। (२-१८)

सामान्य नीति

हे राजन्! नित्य धन का लाभ, आरोग्य, प्रियतमा और मधुर भाषिणी स्त्री, आज्ञाकारी पुत्र, तथा धन का लाभ कराने वाली विद्या ये ससार में छ सुख हैं। (२० प्र०) अच्छी रीति से पका हुआ भोजन, विद्यावान् पुत्र, आज्ञाकारी स्त्री, सुसेवित राजा, सोचकर कहा हुआ वचन, और विचार कर किया हुआ काम, ये वहुत काल तक नही विगडते हैं। (१-२२) ईर्ष्या करने वाला, घृणा करने वाला, असन्तोषी, क्रोधी, सदा सन्देह

परग्रह वासी और पराये भरोसे पर जीने वाला, ये छः प्रकार के मनुष्य सदा दुखी रहते हैं। (१–२५) रोग शोक पश्चात्ताप बन्धन और आपत्ति ये आत्मा के अपराध रूपी वृक्ष के फल हैं। (१–४१) उत्सव में आपत्ति में अकाल में राज्य के बदलने समय, राजद्वार में तथा श्मशान में जो साथ देता है वह बन्धु है। (१–७१) जो गृहकार्य में कुशल पुत्रवती पति को प्राणों के समान मानने वाली और पतिव्रता है वही स्त्री भार्या है। (१–२) जिससे पति सन्तुष्ट न हो वह स्त्री भार्या नहीं कही जा सकती। क्योंकि स्त्रियों के पति के सन्तुष्ट हो जाने पर उन पर सभी देवता सन्तुष्ट हो जाते हैं। (१–२ १)

अध्याय १७

इस्लाम धर्म की अरब मे उत्पत्ति–उसकी नीति औ भारतीय नीति पर उसका प्रभाव

हजरत मुहम्मद का जन्म अरब देश के खुरेशी घराने में, जो मक्का के पुजारी थे, ५७० ई० में हुआ था। उनके पिता का देहान्त उनके जन्म से गया था। छ: वर्ष की अवस्था में उनकी माता का भी देहान्त हो गया। उन पोषण उनके चाचा अबु तालिब ने, जो कि अरबी भाषा के एक बडे कवि अ भक्त व्यक्ति थे, किया। आरम्भ से ही वे विचार शील और धार्मिक बालक थे मक्का से तीन मील पर हीरा पहाडी के नीचे बैठकर प्रार्थना किया करते लगाया करते थे। ५९५ में उनका विवाह एक अमीर घराने की स्त्री खादिजा उन्होंने नौकरी कर ली थी, हो गया। अरब के लोग मूर्ति पूजक थे, और व ताओ को मनाते थे और उनकी मूर्तियो की पूजा किया करते थे। उनको इस बा नही था कि भगवान् एक ही है, अनेक नहीं। ह० मुहम्मद का हीरा पहा बैठकर प्रार्थना करना और ध्यान लगाना बरावर जारी रहा और अब तो हो गया। एक दिन ६१० ई० में उन्हें जबरईल फरिश्ते का दर्शन हुआ और अल्लाह का नाम जपने को कहा। उस दिन से मोहम्मद ने एक अल्लाह के अ भक्ति का प्रचार करना आरम्भ किया। काबे (मन्दिर) में जाकर मूर्ति पूज प्रचार करने लगे।

आरम्भ में सिवाय उसकी पत्नी खादिजा के सब खुरैशी लोग उनके गये और उनको हर प्रकार मे तग करने लगे।। धीरे-धीरे उनके विचार मिलने लगे और जब ४० आदमी मूर्ति पूजा के विरुद्ध हो गये और मुहम् मानने लगे, तब उन्होंने अपने धर्म के तत्वो का प्रकार करना आरम्भ का एकान्त में बैठकर जबरईल फरिश्ते द्वारा अल्लाह से जो आदेश और

है। उनकी मुख्य निषेधात्मक नैतिक शिक्षा यह थी कि मूर्ति पूजा कुफ्र, (इस्लाम धर्म का त्याग अथवा विरोध) है। अपने धर्मभाई के विरुद्ध गवाही देना सूद लेना अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त दूसरी स्त्री के साथ व्यभिचार, जुआ खेलना, शराब आदि मादक वस्तुओं का प्रयोग पाप है, इनको करने वाले पर अल्लाह नाराज होते हैं और उनको नरक की आग में फेंक देते हैं। विध्यात्मक शिक्षा यह थी कि उनकी शिक्षाओं पर जिनको इस्लाम नाम दिया गया था चलने वाले सभी भाई हैं। उनमें आपस में चाहे वे किसी घराने देश या जाति में उत्पन्न हुए क्यों न हों आपस में भाई-बन्दी का सम्बन्ध होना चाहिए। उनमें कोई भेदभाव और छूआछूत नहीं होनी चाहिए। जो मुसलिम नहीं हैं वे ही गैर समझे जाने चाहिए, और सब मुसलमानों को प्रायः धर्म के कारण झगड़े और लड़ाई का अवसर पड़ने पर मिलकर उनका मुकाबला करना चाहिए।

मानव स्वभाव को भली भाँति जानते हुए, उन्होंने अपने अनुयायियों को एक समय चार विवाहित स्त्रियाँ और जितनों का कोई पालन पोषण कर सके उतनी रखैलियाँ रखने की आज्ञा दी। और पति को अपनी विवाहित पत्नी का यदि वह व्यभिचारिणी हो जावे तलाक देने की आज्ञा थी। तलाक देने के लिए केवल पति की गवाही ही पर्याप्त थी उस समय और देश के रिवाज के कारण उनके अनुयायी भी गुलाम (दास) रख सकते थे लेकिन उन्होंने इस रिवाज में इतना सुधार कर दिया कि दासियों के बाल-बच्चों के साथ वही बर्ताव होगा जो अपनी विवाहितों स्त्रियों से उत्पन्न बाल बच्चों के साथ कोई मनुष्य करता था।

उन्होंने आत्म-हत्या और दूसरे की हत्या को जब तक वह हत्या आक्रमण या हत्या का बदला लेने के लिए न हो पाप बतलाया।

जब कुरैशियों ने यह देखा कि मुहम्मद की शिक्षा और प्रचार के कारण उनकी शक्ति और प्रभाव कम होते जा रहे हैं तो उन्होंने ६२२ ई० में मुहम्मद और उनके अनुयायियों को मक्का से भगा दिया। यह सम्वत् इस्लाम के इतिहास में हिजरी कहलाता है और इस्लामी सम्वत् यहीं से प्रारम्भ होता है।

अपने अनुयायियों के साथ १३–१४ दिन की यात्रा करने पर मुहम्मद साहब मदीना पहुँचे। वहाँ के रहने वालों ने उनका स्वागत किया और वहाँ पर उन्होंने एक बड़ी सेना का इसलिए निर्माण किया कि वह मक्का के ऊपर विजय प्राप्त करके वहाँ के लोगों को अपने धर्म का अनुयायी बना सके। अब हजरत मुहम्मद एक शक्तिशाली और वीर योद्धा बन गये और जो लोग उनके अनुयायी (अर्थात् मुस्लिम) नहीं थे उनके खिलाफ उन्होंने अपना कदम उठाया। जो लोग एक अल्लाह को न माने और मुहम्मद साहब को उसका रसूल न मानें और जो उनको अपनी बात पर चल न दें, उनको उन्होंने

रिपु समझा, और उनपर विजय प्राप्त करके उनको अपने अनुयायी बनाना उन्होंने अपने जीवन का और मुस्लिम बिरादरी का परम पवित्र उद्देश्य समझा। हिजरी सम्वत् के प्रथम दस वर्ष तक मुहम्मद एक विजेता योद्धा के रूप में रहे। उन्होंने तलवार के बल पर अपने धर्म का प्रचार करके लोगो को मुस्लिम बना कर एक बलशाली और प्रवर्द्धन और प्रसरणशील बिरादरी का निर्माण किया, जिसमें आपस में घनिष्ट एकता और प्रेम और गैर मुस्लिमो पर विजय प्राप्त करके उनको मुस्लिम बनाने की दृढ प्रतिज्ञा, इच्छा, भावना, और प्रयत्न सजग हो उठे। इनके हमलो और लडाइयो में गैर मुस्लिमो के लिए दया और सहानुभूति का व्यवहार पाप समझा जाता था और रिपुओ को नृशसता मे मारना धर्म। प्रत्येक विजय के पश्चात् मार-काट और लूट-मार भी पाप समझा जाता था। इस प्रकार की लडाइयाँ जो कि अपने धर्म प्रचार के लिए लडी जाती थी पवित्र लडाइयाँ (जहाद) कहलाती थीं। जो लोग उनमें मर जाते थे वे शहीद और दूसरो को मारते थे वे गाजी कहलाते थे और दोनों को ही सवाब (पुण्य) मिलने का विश्वास था। विजय के पश्चात् लूटमार में जो कुछ सेना के सिपाहियो को प्राप्त होता था, चाहे वह धन-दौलत हो अथवा स्त्री-बच्चे हों, वह सब सिपाहियो की ही सम्पत्ति होती थी, जिसको और जिनको वे बाजार में बेच भी सकते थे। मदीने वालो का मक्के वालो से वैर होने के कारण, अरब के लोगो के लडाका और डकैत होने के कारण हज़रत मुहम्मद की सेना बहुत बडी और बलवती हो गई तथा उनको इसके द्वारा सब जगह विजय मिली। लडाइयो के जो कैदी होते थे स्थानाभाव के कारण उन सबको मार देना ही उचित समझा जाता था। स्त्रियों और बच्चो को बाजार में बेच दिया जाता था। अथवा उनमें से सुन्दर स्त्रियो को मसलमान बनाकर उनके साथ विवाह कर लिया जाता था। ६३० ई० में मुहम्मद साहब ने १०,००० की सेना लेकर मक्के पर विजय पायी। विजय पाते ही उन्होंने मक्के के मन्दिर की सब मूर्तियों को तोडा, केवल एक पवित्र पत्थर (जो कहा जाता है कि मन्दिर का एक शिव लिंग था, जिसको अब भी हज करने वाले यात्री चूमते हैं) छोडा और उसको दीवार में लगवा दिया।

हज़रत मोहम्मद साहब सदा गृहस्थ ही रहे। मक्के पर विजय के समय मुहम्मद साहब ६० वर्ष के थे। कहा जाता है कि उस समय तक उनके १० विवाह हो चुके थे। यह भी कहा जाता है कि वैध पत्नियो के अतिरिक्त हजरत मुहम्मद के घर में अनेक रखेलियाँ भी थी। सब पत्नियो में उनको खादिजा अधिक प्रिय थी और उसके मरने के पीछे आयशा, जिसकी १२ वर्ष की आयु में उन्होने उससे विवाह किया था।

अनेक अनुयायी और वे स्वय इस बात में विश्वास रखते थे कि समय-समय पर और विशेषत कठिनाइयो के समय में उनके पास अल्लाह से जबरईल फरिश्ते द्वारा

सदेश आते थे। उन सदेशों का नाम ही कुरान शरीफ है। कुछ दिनों के संघर्षों के पश्चात् मुहम्मद साहब सुरक्षित होकर अपने-अपने अनुयायियों पर राज्य करने लगे और सब ओर उनके पास भेंट आने लगीं। उन्होंने भी बहुत राजाओं को चिट्ठियाँ लिखी कि वे उनका धर्म मान लें और उनके द्वारा सुरक्षित हो जावें। अपने जीवन काल म उन्होंने इस्लाम को दृढ़ नींव पर स्थिर कर दिया। उनकी मृत्यु के पीछे जो इस्लाम ने १, वर्ष तक संसार के इतिहास में जो कुछ किया वह उनके ही विचारों और उनकी नीति के अनुसार था।

६३२ में उनकी मृत्यु मदीने में अपनी प्रिय पत्नी युवती आयशा की गोद म हुई।

इस्लाम का शास्त्र

कुरान जो कि अल्लाह के ही वाक्य हजरत मुहम्मद द्वारा मनुष्यों को प्राप्त हुए हैं, इस्लाम का मूलभूत और मुख्य शास्त्र है। हजरत मुहम्मद ने जो अपनी ओर से व्याख्यायें की हैं और उपदेश दिये हैं उनको हदीस कहते हैं। कुरान के वाक्यों को आयत कहते हैं और हदीस के वाक्यों को रवायत कहते हैं। इस्लाम का अर्थ है औ अल्लाह की मर्जी के आधीन रहना और मुस्लिम उसको कहते हैं जो सर्वथा अल्लाह की मर्जी के आधीन हो जावे।

इस्लाम का मूलमंत्र

इस्लाम का मूलमंत्र यह था—'ला इलाहइल्लिल्लाह मुहम्मद हो रसूलल्लाह' इसका अर्थ यह है कि अल्लाह के सिवाय दूसरा कोई देव नहीं है मुहम्मद अल्लाह का भेजा हुआ रसूल है।

इस मूल मंत्र को कलमा शरीफ और कलमा तय्यबा अर्थात् पवित्र मंत्र कहते हैं, कलमे का अर्थ है वाक्य और शरीफ और तय्यब का अर्थ है शुद्ध या पवित्र।

इस मूल मंत्र को दो नाम हैं। प्रथम नाम है 'ला इलाहा इल्लल्लाहो' जिसको 'कलमये-तौहीद' अर्थात् ईश्वर की एकता का मंत्र कहते हैं और दूसरा नाम 'मुहम्मदुररसूल अल्लाह' अर्थात् मुहम्मद ईश्वर का भेजा हुआ पैगम्बर है कलमये रसालत कहलाता है। तौहीद का अर्थ है एकत्व अर्थात् इस्लाम के अनुसार ईश्वर एक है अकेला है, अपने गुणों में किसी से भी साम्य नहीं रखता। उसके समान कोई दूसरा है ही नहीं। वह अकेला ही इस दुनिया का सृजन, पालन और नाश करने वाला है। उसको इन कामों के करने में किसी दूसरे देवता या तत्व की आवश्यकता नहीं है। वह अमर है और उसके सिवाय दूसरा कोई देव नहीं। केवल उस एक ईश्वर को मानना और उसकी कृपा के लिए केवल उसी की उपासना करनी चाहिए। दूसरे किसी देवता की

नही। उसने मनुष्यों को ज्ञान देने और सच्चा मार्ग बताने के लिए हजरत मुहम्मद साहब को अपना रसूल बनाकर भेजा है। उनके आने से पहले भी कुछ रसूल भेजे थे पर मुहम्मद साहब आखरी रसूल हैं। जिनपर ईश्वर की आज्ञाओं का समय-समय पर अल्हाम (आमन) होता रहता था। मुहम्मद साहब अल्लाह के बहुत आज्ञाकारी और प्रिय रसूल थे, उनके समान और दूसरा कोई पैगम्बर नही हुआ। मुहम्मद साहब ईश्वर का अवतार नही थे केवल ईश्वर के भेजे हुए उनके प्रिय आज्ञाकारी दास और सेवक थे। उनमे भगवान् के कोई गुण नही थे और न वे भगवान् के स्थान पर माने जा सकते हैं।

इस्लाम मूल मन्त्र के प्रथम भाग लाइलाहा इल्लल्लहा को भी दो भागो में विभक्त करके उसका अर्थ विशद रूप से समझाया जा सकता है। प्रथम भाग ला इलाहा—निषेधात्मक वाक्य (कमलये नफी) है जिसका अर्थ है कि अल्लाह के सिवाय विश्व भर के किसी और प्राणी को चाहे वह जितना बड़ा शक्तिशाली और गुणवान् क्यो न हो अल्लाह के समान अथवा उसके स्थान पर नही मानना चाहिए। उसके अतिरिक्त कोई देवता जगत् का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता, और विनाशकर्ता नही है। दूसरे भाग मे इल्लल्लाह को कल्मये इसवत अर्थात् विध्यात्मक वाक्य कहते हैं। इसके द्वारा यह बतलाया गया है कि अल्लाह ही सर्व शक्तिमान् है, उसके ही हाथ में जगत् को बनाने, बिगाडने, और कायम रखने की शक्ति है और केवल उसकी ही उपासना करना और उसकी आज्ञा पालन करना ही मनुष्य का धर्म है। जो व्यक्ति इस्लाम की इन चार बातो के ऊपर विश्वास करता है उसे मोमिन कहते है और जो इन पर विश्वास नही करता और इन इन्कार करता है उसे काफिर कहते हैं। विश्वास न करने का नाम कुफ्र है और विश्वास का नाम ईमान है।

कुफ्र और ईमान—प्रत्येक मनुष्य में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं एक तो जो कि हमको कुफ्र की ओर ले जाती है उनको नफ्से अम्मारा कहते हैं और दूसरी अच्छी प्रवृत्तियाँ जो हमको ईमान और खुदा की ओर ले जाती हैं उनको नफ्से लव्वामा कहते हैं। वे दोनो प्रवृत्तियाँ हम लोगो में बराबर रहती हैं और एक दूसरे में भेद जानने में मदद करती हैं। कुफ्र न हो तो ईमान की कदर नही होती।

कुफ्फार अर्थात् वे लोग जिनको कुफ्र होते हैं पाँच प्रकार के होते हैं—१—वे जो अल्लाह के अस्तित्व से इन्कार करते हैं। २—जो अल्लाह की एकता से इन्कार करते हैं। ३—वे जो अल्लाह के अस्तित्व और एकत्व में तो विश्वास करते हैं पर इस बात में विश्वास नही करते कि वह ससार में पैगम्बरो को भेजता है। । ४—वे जो इन तीनो बातो को नही मानते। ५—वे जो इन तीनो बातो को मानते हैं पर यह नही मानते कि हजरत मुहम्मद अल्लाह के भेजे हुए रसूल थे।

मोमिन (अर्थात् इस्लाम की सब बातों में विश्वास करने वाला) अल्लाह का दोस्त (मित्र) है और काफिर उसके दुश्मन हैं।

इस्लाम की नैतिक शिक्षा

इस्लाम के अनुसार मनुष्य इस दुनिया में एक ही बार उत्पन्न होता है और एक ही बार मरता है। मरने से पूर्व यदि उसने इस्लाम कबूल नहीं कर लिया और उस पर उसका विश्वास नहीं हो गया तो कयामत के दिन (प्रलय के समय) जब सब मुर्दे कब्रों में से उठाये जायेंगे और उनका न्याय किया जायेगा तो वह सदा के लिए नरक में जायगा। और जिन्होंने इस्लाम में विश्वास कर लिया था वे सब स्वर्ग (बहिश्त) में जायेंगे। ईश्वर (अल्लाह) ईमान लाने वालों के साथ सब प्रकार की मेहरबानी का बर्ताव करता है। उनकी रक्षा के लिए फरिश्तों को तैनात करता है।

अल्लाह ने मनुष्य को अपनी खिदमत के लिए मिट्टी से बनाया था। आदमी भले काम करने के लिए बनाया गया था पर इबलीस (शैतान) के बहकाने में आकर बुरे काम करने लगा। फिर भी अल्लाह उसकी मदद करता है और उसको अच्छे कामों के करने में प्रवृत्त करता रहता है। उसको ठीक रास्ता दिखाने के लिए ही अल्लाह ने कुरान शरीफ को भेजा है। वह जब अपनी मर्जी से चलता है तो वह लालच अभिमान, और नाना प्रकार के पाप करता है। यद्यपि अपने पापों के कारण वह (आदमी) स्वर्ग से गिरा दिया गया है तो भी खुदा ने उसे भुलाया नहीं है। उसका सबसे बड़ा पाप अल्लाह के सिवाय या साथ दूसरे देवों को मानना और अल्लाह के हुकुम (आज्ञा) को न मानना है। अल्लाह उनके ऊपर ही मेहरबान होता है जो पाप नहीं करते।

मनुष्य अपने पापों के कारण सदा के लिए नरक (दोज़ख) में जाता है। अल्लाह को मानने से और उसको प्रसन्न करने से मनुष्य नरक की अग्नि से बचकर अल्लाह का हो जाता है। उसका होकर वह सदा के लिये बहिश्त (स्वर्ग) में रहता है। यही इस्लाम के अनुसार मनुष्य की मुक्ति है अर्थात् सदा के लिए नरक से बचकर सदा के लिए स्वर्ग में रहना जहाँ कि सब प्रकार के भोग और सुख मिलते हैं। मुक्ति प्राप्त करने के लिए ईमान लाना ('विश्वास करना) पापों के लिए पश्चात्ताप करना, और माफी माँगना और नेक (शुभ) काम करना चाहिए। ईमान का अर्थ है उन सब बातों में विश्वास करना जो अल्लाह ने हजरत महम्मद के द्वारा मनुष्यों के लिए भेजी हैं। जो विश्वास करते हैं अन्तिम निर्णय के दिन अल्लाह (भगवान्) उन सब के कसूरों (अपराधों) को माफ (क्षमा) कर देगा और उनको अल्लाह अपना सदा के लिए बहिश्त (स्वर्ग) में रख लेगा। माफ (क्षमा) करना और न करना अल्लाह की अपनी मर्जी से होता है किसी और कारण से नहीं। कुरान शरीफ के अनुसार किसी काम में अति न करना अच्छी

वात है। औसत मिकदार (सीमित मात्रा) में आदमी को दया, कृपा आदि करनी चाहिए। दूसरो के साथ न्याय का व्यवहार करना, सच्ची गवाही देना, वादो को पूरा करना, सवर (सन्तोष) और धैर्य रखना अपने से वडो का कहना मानना, और उनका आदर सन्मान करना, सीमित सख्या में पत्नियो और रखेलियो को रखना ये सव नेक (शुभ) काम हैं।

इस्लाम के अनुयायियो के लिए ये पांच वातें आवश्यक हैं—

१—इस्लाम में विश्वास (ईमान) रखना और दूसरे लोगो को विश्वासी वनाना, चाहे शान्ति के उपायो से हो या शस्त्र के वल पर जवरदस्ती से हो।

२—दुआ, सलाम। प्रार्थना। नमाज पढना, जो दिन रात में कई वार नियत समयो पर होनी चाहिए। अल्लाह हर प्रार्थना को सुनता है। मूर्तियाँ नही सुन सकती, इसलिए किसी मूर्ति के सामने प्रार्थना करना कुफ्र (अक्षम्य पाप) है।

३—जकात अर्थात् गरीवो, मुहताजो, लावारिसो, मासूमो, सम्वन्धियो और मुसाफिरो को देना। अल्लाह प्रत्येक दान का दूना देता है।

४—रोजा (व्रत) रखना। रमजान के सारे महीने तक हर रोज रोजा रखना मुसलमान के लिए आवश्यक है।

५—हज (मक्के की यात्रा) और दूसरी छोटी छोटी यात्रायें। कावे में केवल मुसलमान का ही प्रवेश हो सकता है।

सदा के नरक से मुक्ति पाने के लिए अल्लाह की प्रसन्नता के लिए ये काम करने चाहिए—

१—पवित्र जीवन—जिसमें अमानिता, धैर्य, सन्तोष, सत्य, विनम्रता, दानशीलता, पश्चाताप, सज्जनता, क्षमा, विवेक शीलता और न्यायप्रियता का व्यवहार हो।

२—इस्लाम में विश्वास अर्थात् जो कुछ कुरान शरीफ में लिखा है उसको विना किसी सन्देह और अविश्वास के मान लेना और मनवाना। इस्लाम में विश्वास करने वालो को अपने विश्वासो में दृढ रहने के लिये और उनका प्रचार करने और दूसरो को मनवाने के लिए हर प्रकार से लडना चाहिए। ऐसा न करने से सदा के लिए नरक में जाना होता है और ऐसा करते हुए मर जाने पर स्वर्ग में इनाम मिलता है।

भारतीय नीति पर इस्लाम का प्रभाव

भारत में इस्लाम का प्रचार मुस्लिम आक्रमणकारियो और विजेताओ द्वारा तलवार के वल पर और नृशस व्यवहार द्वारा होनेके कारण उसका प्रभाव भारत के विचारों और जीवन पर इतना नही पडा जितना कि पडता। यदि इस्लाम भारत में प्रेम और सहृदय व्यवहार के साथ आया होता। मुस्लिमो के दुर्व्यवहार के कारण भारत की जनता को इस्लाम से द्वेष और चिढ हो गई थी, और उससे वचने और अलग रहने के कारण

उसकी नैतिक और धार्मिक शिक्षाओं से भारतीय जनता कोई भी लाभ न उठा सकी। बल्कि वह परम्परागत विचारों पर अधिक दृढ़ हो गयी और अपनी रूढ़ियों की प्राण देकर भी रक्षा करने लगी। फिर भी भारत के मध्यकालीन धर्म और नीति पर इस्लाम का कुछ तो प्रभाव अवश्य पड़ा विशेषतः मुगलों के राज्यकाल में जबकि मुसलमान बादशाहों ने प्रजा को लूटना मन्दिरों को तोड़ना और जबरदस्ती मुसलमान बनाना बन्द कर दिया था या छोड़ दिया था वह प्रभाव दो दिशाओं म विशेषतः व्यक्त हुआ एक ईश्वर की एकता और सर्वशक्तिमत्ता में अधिक विश्वास होकर उसके प्रति दृढ़ भक्ति की भावना में दूसरी जाति-पाँति के भेद-भाव को भुलाकर मानव मात्र के साथ प्रेम और सद्व्यवहार की प्रवृत्ति म। मध्यकालीन निर्गुण उपासक कबीर नानक दादू आदि सन्तों की शिक्षा इस प्रभाव का ही फल थी।

अध्याय १८

मध्यकालीन सन्तों की नैतिक शिक्षा

मध्यकालीन सन्तो की जीवन-कला और साधना

मुसलमानो के राज्य और आक्रमण और इस्लाम के प्रचण्ड प्रचार के मध्यकालीन युग ने जिन महान् आत्माओ को भारत में जन्म दिया, जिन्होने कि आत्मज्ञान, योगसाधना, और सदाचार की भावना को जागृत रक्खा, तथा भारत की साधारण जनता में इनका अक्षुण्ण रूप से प्रचार किया, और जिनका जीवन अपने विचारो अनुभवो तथा आदर्शों के अनुकूल रहा, जो साम्प्रदायिक झगडो, हिन्दू मुसलमानों के भेदभावो से ऊपर उठकर दोनो को पारस्परिक मेल मिलाप एव सद्व्यवहार सम्बन्धी शिक्षा प्रदान करते थे, जिन्होने भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा और नैतिक परम्परा को जीवित एव जागृत रखकर उसको अपने अनुभव, आचार और व्यवहार द्वारा पुष्ट किया, ऐसे महान् पुरुषो को मध्य-काल में सन्त नाम से पुकारा जाता है।

मध्यकालीन अन्धेर, अन्याय, जुल्म, लूटमार, और त्रास के युग में यदि प्रकाश की कोई रेखा भारतीय जनता को दिखायी पडती थी तो वह एकमात्र सन्तो के उपदेश तथा उनकी वाणी ही थी। इस प्रकार के महात्माओ को भारतमाता ने समय-समय पर सभी प्रान्तों में जन्म दिया था, दक्षिण, महाराष्ट्र, बगाल, पजाब, उत्तरप्रदेश और बिहार सभी प्रान्तो में सन्त हुए हैं, और उनकी सदुपदेशात्मिका वाणी भारत की अमूल्य निधि है। बडी ही प्रसन्नता की बात है कि आजकल उसके सकलन में बहुत से विद्वान् लगे हुए हैं और उन सन्तो के विषय में बहुत से उत्तम ग्रन्थों का प्रकाशन भी हो रहा है।

मध्यकालीन सन्तो में दो प्रकार के सन्त हुए हैं। एक सगुणोपासक और दूसरे निर्गुणोपासक। एक वे थे जो हिन्दू परम्परा और पौराणिक विचारधारा से अधिक प्रभावित थे तथा जिनकी साधना शास्त्रीय विचारो द्वारा हुई थी, और जिन्होने रामायण, महाभारत और पुराणो के आदर्श के अनुसार जीवन को ढालने का उपदेश दिया था। इस प्रकार के सन्तो में सन्त तुलसीदास सब से अधिक प्रभावशाली हो गए हैं। उनका रामचरित मानस

नामक ग्रन्थ मध्यकालीन अन्धेरे में दीपक का काम देता है। तुलसीदास सूरदास मीराबाई प्रभृति अनेक सन्त भगवान को निर्गुण जानते हुए भी उसके सगुण रूप की ही उपासना करते थे।

दूसरी उन सन्तों की श्रेणी थी जिनके ऊपर अद्वैत वेदान्त और इस्लाम का प्रभाव अधिक पड़ा था। वे भगवान् के निर्गुण रूप की उपासना करते थे और उसके सगुण रूप अवतारों, और देवी देवताओं की उपासना तथा मूर्तिपूजा के विरुद्ध थे। इन सन्तों में सबसे महान् और अग्रणी परमसंत कबीर थे। इसी श्रेणी के नानक और दादू प्रभृति अनेक सन्त हो गए हैं।

निर्गुणोपासक सन्तों के जीवन और उपदेश के प्रधान मूलतत्त्व

१—सन्त लोग संन्यास लेकर वन में नहीं रहा करते थे बल्कि वे संसार और अपने कुटुम्ब में रहकर ही परमार्थ साधन करते थे। इसके अतिरिक्त वे अपनी कौटुम्बिक स्थिति और वृत्ति के अनुसार ही कोई न कोई उद्योग करके अपना जीवनयापन करते तथा अपने कुटुम्ब का पालन करते थे। इस उद्योग से वे सत्य ईमानदारी तथा अहिंसा द्वारा केवल आवश्यकतानुसार धन प्राप्त करते थे और सन्तुष्ट होकर जीवन बिताते थे। किसी दूसरे व्यक्ति के ऊपर अपना और अपने कुटुम्ब का भार नहीं डालते थे। बहुत से मध्यकालीन सन्त साधारण और छोटे-छोटे कार्य जैसे रुई धुनना कपड़ा बुनना और कपड़े सीना तथा जूती गांठना आदि कार्य प्रसन्नता से करके आनन्दपूर्वक जीवन यापन करते थे। कोई भी सन्त अकर्मण्य नहीं था न साधन अवस्था में और न सिद्धावस्था में ही।

२—सन्तों का जीवन परोपकार के लिए ही होता था। अपने शरीर और अपनी सम्पत्ति द्वारा वे दूसरों की सेवा एवं मदद करना अपना धर्म समझते थे और यह सब करते रहने पर भी वे सर्वथा निरभिमान एवं निःस्वार्थमय रूपम ही देखने में आते थे। वे मानव सेवा को हरि सेवा समझते थे।

३—सन्तों के लिए सभी मनुष्य ही नहीं बल्कि सभी प्राणी भगवान् के रूप हैं। उनके मन में जाति पाँति का भेद भाव नहीं था। उनका मानस प्रेम गंगाजल के समान सबके प्रति एक सा था। वे सबके साथ सत्य अहिंसा ईमानदारी और साधुता का व्यवहार करते थे।

४—सन्त लोग जड़ पदार्थ काष्ठ, पाषाण आदि की मूर्तियों में ही भगवान् का स्वरूप नहीं देखते थे और न केवल मन्दिर और मस्जिद को ही भगवान् का पवित्र स्थान समझते थे। समस्त विश्व उनके लिए देवस्थान था,तथा समस्त प्राणी उनके लिए भगवान की प्रतिमायें थी। सन्तों के लिए रूप का इतना महत्त्व नहीं था जितना कि नाम का। अपना

नाम का ही, चाहे राम, हरि, नारायण, शंकर, गोविन्द, ओंकार जो भी हो, विशेष महत्व था और हमेशा चलते-फिरते बैठते-उठने उसी को जपते रहते थे। यही उनकी सर्वोत्तम कालयापन की रीति थी।

५—सन्तो के समय यापन का दूसरा तरीका था सत्संग। अपने आप भी वे लोग दूसरे सन्तो के पास बैठकर उनसे जीवन की गभीर समस्याओ पर वार्त्तालाप तथा विचार-विनिमय किया करते थे और साधारण मनुष्यो को अपने पास बैठाकर अपनी समस्याओ के ऊपर प्रकाश डालने का अवसर प्रदान किया करते थे।

६—ससार यात्रा किसी न किसी व्यवहार द्वारा करते रहने पर भी सदा हरि स्मरण करते हुए, जिज्ञासुओ को मिलने और बातचीत करने का अवसर देते हुए भी, सन्त लोग हमेशा ही उच्चतम आध्यात्मिक स्थिति में आरूढ रहते थे। इसीलिए जो बातें उनके मुंह से निकलती थी, वे ही साधारण लोगों की भाषा में ऊँची से ऊँची कोटि की कविता हो जाती थी। कपडा बुनने और जूता गांठने के समय भी कबीरदास तथा रैदास के मुँह से इस प्रकार कविता का स्राव होता रहता था जिस प्रकार गगोत्तरी से गगा का। सन्तो की सभी "वाणियाँ" जनभाषा में उच्चकोटि की कवितायें है।

७—सन्तो की शिक्षा में वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण, तथा नीतिशास्त्र, सभी ग्रन्थो में प्रतिपादित मानवधर्म, देशकाल, वर्ण आश्रम, जाति-पाँति, सम्प्रदाय आदि सभी भेदो से निरपेक्ष है। इसका लोक भाषा में बडा सुन्दर प्रतिपादन और समर्थन है। सन्तो की वाणियो ने ही मध्यकालीन युग में भारतीय सभ्यता और संस्कृति को जीवित रक्खा है तथा उसे अनुप्राणित किया है।

जिस प्रकार प्रयाग, काशी, और गगासागर के जल में वही पवित्रता है जो कि हरिद्वार और उससे ऊपर है, उसी प्रकार भारत के सन्तो की वाणियो में उसी पवित्र मानव-धर्म का आदेश मिलता है जो वेदों और उपनिषदो ने ससार को दिया था।

उत्तर भारत के मध्यकालीन सन्त

भारत में मध्यकाल का आरम्भ और अन्त कब हुआ इसका निर्णय करना कठिन है, पर मोटे हिसाब से यह कहा जा सकता है कि जब से मुसलमानो ने भारत पर आक्रमण करने आरम्भ किए और जब तक मुसलमानों की राज्य सत्ता भारत में रही तब तक का समय मध्यकालीन युग कहा जा सकता है। इस युग में भारत में अनेक लेखक और विचारक हुए जिन्होंने दर्शन और धर्म तथा योग और साधना पर सस्कृत और जन साधारण में प्रचलित भाषाओ में बहुत से ग्रन्थों की रचना की। जिन लोगों ने जन भाषा में रचनायें की और लोगो को जीवन कला के तत्वो का उपदेश दिया उन्हे मध्यकाल के आरम्भ में सिद्ध कहते थे और पीछे चलकर उनको सन्त कहने लगे। दक्षिण भारत मे

उनको आम्बार नाम से पुकारा जाता था। इस प्रकार से महात्मा जिन्होंने साधना करके जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त किया और दूसरे लोगों को भी उस मार्ग पर चलने का उपदेश दिया भारत में सभी प्रदेशों में हुए और उनमें से कुछ के उपदेश उनकी पवित्र वाणियों में मिलते हैं, जिनको मध्यकाल में ही उनके शिष्यों ने इकट्ठा करके अलग सम्प्रदायों की नींव डाली और जिनका अध्ययन और प्रकाशन आजकल जहाँ तहाँ भारत में हो रहा है। उन सिद्धों और सन्तों की वाणियों में जो नैतिक शिक्षा पाई जाती है उसका यहाँ पर दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया जा रहा है।

उत्तर भारत के सन्त

सिद्ध सरहपाद (७६८–८०६ ई)

इनका जन्म पूर्वी प्रदेश की किसी 'राज्ञी' नाम की नगरी के एक ब्राह्मण वंश में हुआ था। यह वज्रयानी मत के चौरासी सिद्धों में प्रथम सिद्ध माने जाते हैं। इनका मुख्य उपदेश यह था कि जिस क्षण मन शान्त (अस्त विलीन) हो जाता है उस समय जीव के सारे बन्धन टूट जाते हैं। उस समय एक ऐसी सहज समरस अवस्था का अनुभव होता है जिसमें कोई भेद भाव नहीं रहता। ब्राह्मण और शूद्र में समान भाव की दृष्टि हो जाती है। सब लोगों के साथ एक सा व्यवहार होने लगता है। उस अवस्था के प्राप्त करने के साधन पूजा-पाठ तीर्थ व्रतवास आदि नहीं हैं। दीपक जलाने नैवेद्य चढ़ाने और मंत्र पाठ करने से मुक्ति नहीं मिलती और न ध्यान करने से ही मुक्ति पद और सम-अवस्था प्राप्त होती है। मुक्ति तो आत्म ज्ञान (अपने स्वरूप को पूर्णतया जानने से होती है। आत्मा को पूर्णतया जानकर चित्त को स्थिर करके अपने स्वरूप में स्थित होने का प्रयत्न ही मुक्ति का साधन है।

सिद्ध तिल्लोपाद (१ वीं शताब्दी)

यह वज्रयानी चौरासी सिद्धों में एक प्रसिद्ध सिद्ध हुए हैं। इनका जन्म बिहार प्रदेश के किसी ब्राह्मण कुल में हुआ था।

इनका भी उपदेश प्राय निषेधात्मक ही था। मोक्ष प्राप्ति के लिए न मन्त्र जपने की आवश्यकता है और न दान करने की। पवित्र नदियों में और तीर्थ स्थानों पर स्नान और पूजा करने से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। मन्दिरों में जाकर देव पूजा करने से भी मोक्ष नहीं मिलता। सहज साधना (अर्थात् अपना असली और पूर्णरूप पहिचान कर चित्त शुद्धि) द्वारा उसमें स्थित होना ही मोक्ष के अनुभव करने का एकमात्र उपाय है। आत्मा का अन्तिम स्वरूप निरञ्जन शुद्ध स्वरूप 'शून्य' है। इसमें पहुँचकर पाप पुण्य का भाव नहीं रहता, सबके साथ समता का भाव आ जाता है। योगी सांसारिक विषयों के बीच में रहता हुआ और उनको भोगता हुआ भी बन्धन में नहीं पड़ता।

मुनीराम सिंह (११वीं शताब्दी)

यह एक जैन मुनि थे और शायद राजस्थान के रहने वाले थे। इनका भी उपदेश प्राय निषेधात्मक ही था। बाहर के देवालयो में जाकर देव मूर्त्तियो की पूजा की अपेक्षा अपने शरीर रूपी देवालय में आत्म देव की पूजा करना कही अधिक फलदायक है। तीर्थों में जाकर स्नान और पूजा आदि से कुछ नही मिलता। इन्द्रिय सुख को त्यागना मोक्ष साधन के लिए परम आवश्यक है। मोक्ष और विषय भोग दोनो एक साथ प्राप्त नही किए जा सकते। अपने पूर्ण और सर्वव्यापक रूप को जानकर उसमे स्थिर हो जाना ही मोक्ष का साधन है। मोक्षपद को प्राप्त करने के लिए समाधि लगाने और पूजा पाठ करने की आवश्यकता नही है। सर्वत्र और सब में अपने ही आत्मा का दर्शन करना और सभी भेदभावो से ऊपर उठ जाना मोक्ष का अनुभव करना है। इसको प्राप्त कर लेने पर सबके साथ समता का व्यवहार होने लगता है।

गुरू गोरखनाथ (१०–११ शताब्दी ई०)

गोरखनाथ एक महान् योगी और सिद्ध पुरुष हो गए हैं। इनके जन्म स्थान का कुछ पता नही। इनके गुरू का नाम मत्स्येन्द्र नाथ था। उनकी मुख्य शिक्षायें ये हैं—

योग करने वाले को रोग नही होता। योगी सबसे ऊँचा पद प्राप्त कर लेता है और ब्रह्मा, विष्णु, और शिव भी उसका सन्मान करते हैं। जो योगी बनना चाहे उसे काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहकार का त्याग, विषयो के भोग की इच्छा का त्याग, सासारिक तृष्णा का त्याग, सग का त्याग, द्वन्दो का त्याग, अधिक आहार और तन्द्रा का त्याग, पूजा पाठ, तीर्थ, व्रत, उपासना, जप आदि साधनो का त्याग, राज दरबार में जाने का त्याग, पर-निन्दा, मद्यपान, भगपान, मांस भक्षण का त्याग, चेले चांटे रखने और आश्रम बना कर बाग, बगीचे लगाने और कुयें आदि खोदने का त्याग, ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा का त्याग, तन्त्र, मन्त्र, मतमतान्तरो का त्याग, धोखे और पाखण्ड का त्याग, वन और पर्वतो में पर्यटन का त्याग करके एकान्त में वास करना चाहिए और यथोचित भिक्षा से अपना गुजारा करना चाहिए। मध्यमात्रा में भोजन और शयन करना चाहिए। आसन स्थिर करके प्राणो को स्थिर करना चाहिए, किसी प्रकार की अति किसी काम में नही करनी चाहिए, दया, दान करते रहना चाहिए। और सब साधनो और ध्यानो को छोडकर अपने भीतर ही अपने आत्मा का, जो कि अलख और निरन्जन परम पद है, ध्यान करना चाहिए। जब उसको आत्मानुभव होकर परम पद की प्राप्ति हो जाती है तो वह रोग और शोक और बुढापे से निर्मुक्त होकर योगी हो जाता है। तब वह रात-दिन उन्मनी अवस्था में रहता है। उसको कोई आशा और तृष्णा नही रहती, वह सब वाद-विवादो और मतो तथा धार्मिक भेदों से ऊपर उठ जाता है।

सन्त कबीर और उनकी शिक्षा

कबीर का जीवन (१३९८–१५१८)

मध्यकाल के निर्गुण उपासक सन्तों में कबीर का व्यक्तित्व और स्थान बहुत ऊँचा है। उनका प्रभाव भी पीछे होने वाले सन्तों पर बहुत पड़ा था और आज के युग में उनके विचारों का बहुत आदर होता है। उनके जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है, फिर भी कुछ बातें प्रायः सर्व सम्मत हैं। १३९८ ई॰ में काशी में लहरतारा नामक एक तालाब के पास एक नवजात शिशु को एक मुसलमान जुलाहे नीरू ने जो अपनी पत्नी नीमा को गौना करा कर साथ ला रहा था, पड़ा हुआ देखा। दोनों ने प्रसन्नतापूर्वक उसको उठा लिया और अपने घर लाकर उसका पालन-पोषण किया, और उसको अपने कुल का काम सिखा दिया जो उनकी पैतृक वृत्ति थी। बालक बड़ा होने पर बहुत विलक्षण निकला। आरम्भ से ही उसमें आध्यात्मिक जिज्ञासा और भगवत्प्राप्ति की उत्कण्ठा और धार्मिक तथा नैतिक जीवन बिताने की तीव्र लगन थी। रोटी कमाने के लिए कपड़ा बुनने का काम यद्यपि वह करते रहते हुए भी भगवान् के चिन्तन में रहा करते थे। बालकपन से ही उनको एक ऐसे आध्यात्मिक व्यक्ति की तलाश थी जिसको वे अपना गुरु बना सकें और उनसे दीक्षा और मन्त्र लेकर आध्यात्मिक साधना कर सकें। भगवान् की कृपा से उनको उनकी रुचि के अनुसार गुरु मिल गए। वे थे श्री स्वामी रामानन्द जी जो कि काशी में रहते थे और जात-पाँत और ऊँच-नीच के भेद से रहित भगवान् भक्ति की शिक्षा लोगों को दिया करते थे। कबीर ने अपने गुरु से जो शिक्षा पायी हो, पर अपने ही प्रयत्न और पुरुषार्थ से वे अपने आपको आध्यात्मिक अनुभव के ऊँचे से ऊँचे शिखर पर ले गए और मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष निर्वाण आत्मानुभव भगवत्साक्षात्कार को सिद्ध करके जीवन्मुक्त परमहंस या परम सन्त बन गए, और उस अवस्था पर स्थिर होकर संसार को आजन्मजीवन चेतावनी देते रहे। उनके उपदेश जनसाधारण की भाषा में और गीत में आकर कहे हुए पदों में होते थे। वे महान् उच्चकोटि के कवि थे। उनकी कविता साखी रमैनी, और सबद आदि के रूप में प्रकट हुई। दूर-दूर से उनके पास आकर लोग उनसे आशिष और दीक्षा लेते थे और उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही स्वतन्त्र अध्यात्मवाद का उपदेश दिया। उनके अनुसार भगवान् एक है सबके भीतर परमात्मारूप से जो निर्गुण निर्विकार और आनन्द स्वरूप है विराज रहा है। आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। संसार के सब प्राणी उसी से अभेद रूप हैं। उसका अनुभव अपने भीतर ही हो सकता है और उसको प्राप्त करने के लिए किसी बाहरी पूजा या नमाज की आवश्यकता नहीं है। अपने भीतर के ध्यान से उसका ज्ञान होता है।

वे १२० वर्ष जिये और मरने के पहले काशी छोड़कर मगहर चले गए। वहीं पर

अपना चोला छोड़ा। जिनके स्थान पर केवल फूलों का एक ढेर पाया गया था। उनको बाँट कर हिन्दू और मुसलमान शिष्यों ने अपनी-अपनी रीति से उनका अन्तिम संस्कार किया।

सन्तशिरोमणि परमसन्त कबीर साहब के नैतिक विचार

१—सत्य की खोज अपने निजी अनुभव के आधार पर होनी चाहिए, न कि शास्त्रों के आधार पर।

२—अपने अनुभव के आधार पर अपने ही विचारों द्वारा सत्य के स्वरूप का पता हो सकता है।

३—सत्य या तत्त्व का स्वरूप क्या है यह पूरा-पूरा जानना अत्यन्त ही कठिन है। जो जितना अपने अनुभव द्वारा जानता है उतना उसके लिए कहना कठिन है। अपने निजी अनुभव द्वारा जाने हुए सत्य के स्वरूप का भी वर्णन नहीं हो सकता।

४—सत्य का किसी विशेष रूप द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता है। कारण कि उसका न कोई नाम है और न रूप है। जितना वर्णन किया जाता है वह सब प्रतीकात्मक और लाक्षणिक है।

५—यद्यपि वह स्वयं निर्गुण और निराकार है तथा नाम और रूप से परे है, फिर भी यह समस्त नामरूपात्मक ब्रह्माण्डरूपी सृष्टि उसी की है और उसी के द्वारा संचालित तथा नियन्त्रित हो रही है। अतएव उसकी महिमा महान् है, जिसकी न कोई उपमा दी जा सकती है और न कोई वर्णन ही किया जा सकता है।

६—यह कहना अधिक उचित होगा कि सत्य अपने दोनों अनुभवगम्य स्वरूपों से अर्थात् आत्मतत्त्ववेत्ता पुरुष को जो आन्तरिक अनुभव में निर्गुण रूप से तथा विराट् रूप में जो सगुणरूप से प्रतीयमान होता है, परे है। और वह सर्वथा अविषय होने के नाते अनिर्वचनीय है।

७—यह समस्त दृश्यमान ब्रह्माण्ड उसका ही एक मात्र लीला प्रदर्शन रूप है जिसको कभी करता है, कभी नहीं करता है और करता हुआ भी अपने को व्यक्त नहीं करता है, बल्कि अपने को छिपाये रहता है, यह लीला भी उसके आनन्द का ही प्रकाश है।

८—वही परमतत्त्व पिण्ड देह और ब्रह्माण्ड इन सबमें गुप्त रूप से बैठा हुआ सब खेल खेल रहा है। वास्तव में वह उन देह आदि से सर्वथा असस्पृष्ट है।

९—समस्त सृष्टि मायामयी अर्थात् मायाकल्पित है। माया त्रिगुणात्मक तथा उस परमतत्त्व की इच्छा शक्ति रूप है। यह उस परमतत्त्व की इच्छारूपाशक्ति ही इस असत्य जगत् की कल्पना करती है।

१०—दृश्य ब्रह्माण्ड अर्थात सृष्टि का निर्माता होने के नाते वह इसका प्रभु भी है। इसलिए इसके अन्तर्गत सभी प्राणियों का न्याय और सहृदयता से प्रबन्ध

सन्त कबीर और उनकी शिक्षा

कबीर का जीवन (१३९८–१५१८)

मध्यकाल के निर्गुण उपासक सन्तों में कबीर का व्यक्तित्व और स्थान बहुत ऊँचा है। उनका प्रभाव भी पीछे होने वाले सन्तों पर बहुत बड़ा था और आज के युग में उनके विचारों का बहुत आदर होता है। उनके जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है, फिर भी कुछ बातें प्रायः सर्व सम्मत हैं। १३९८ में काशी में लहरतारा नामक एक तालाब के पास एक नवजात शिशु को एक मुसलमान जुलाहे नीरू ने जो अपनी पत्नी नीमा को गौना करा कर साथ ला रहा था पड़ा हुआ देखा। दोनों ने प्रसन्नतापूर्वक उसको उठा लिया और अपने घर लाकर उसका लालन-पोषण किया और उसको कपड़े बुनने का काम सिखा दिया जो उनकी पैतृक वृत्ति थी। बालक बड़ा होने पर बहुत विलक्षण निकला। आरम्भ से ही उसमें आध्यात्मिक जिज्ञासा और भगवत्प्राप्ति की उत्कण्ठा और धार्मिक तथा नैतिक जीवन बिताने की तीव्र लगन थी। रोटी कमाने के लिए कपड़ा बुनने का काम यथोचित रूप से करते रहते हुए भी भगवान् के चिन्तन में रहा करते थे। बाल्यकाल से ही उनको एक ऐसे आध्यात्मिक व्यक्ति की तलाश थी जिनको वे अपना गुरु बना सकें और उनसे दीक्षा और मन्त्र लेकर आध्यात्मिक साधना कर सकें। भगवान् की कृपा से उनको उनकी रुचि के अनुसार गुरु मिल गए। वे थे श्री स्वामी रामानन्द जी जो कि काशी में रहते थे और जाति-पाँति तथा ऊँच-नीच के भेद से रहित भगवान् भक्ति की शिक्षा लोगों को दिया करते थे। कबीर ने अपने गुरु से जो शिक्षा पायी हो पर अपने ही प्रयत्न और पुरुषार्थ से वे अपने आपको आध्यात्मिक अनुभव के ऊँचे से ऊँचे शिखर पर ले गये और मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष निर्वाण आत्मानुभव भगवत्साक्षात्कार को सिद्ध करके जीवन्मुक्त परमहंस या परम सन्त बन गए, और उस अवस्था पर स्थिर होकर संसार को आजन्मजीवन चेतावनी देते रहे। उनके उपदेश जनसाधारण की भाषा में भाव मौज में आकर कहे हुए पदों में होते थे। वे महान् उच्चकोटि के कवि थे। उनकी कविता साखी रमैनी और शब्द आदि के रूपों में प्रकट हुई। दूर-दूर से उनके पास आकर लोग उनसे आदेश और दीक्षा लेते थे और उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही समान अध्यात्मवाद का उपदेश दिया। उनके अनुसार भगवान् एक है सबके भीतर परमात्मारूप से जो निर्गुण निर्विकार और आनन्द स्वरूप है विराज रहा है। आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। संसार के सब प्राणी उसी के अनेक रूप हैं। उसका अनुभव अपने भीतर ही हो सकता है और उसको प्राप्त करने के लिए किसी बाहरी पूजा या नमाज की आवश्यकता नहीं है। अपने भीतर के ध्यान से उसका ज्ञान होता है।

वे १२० वर्ष जिये और मरने के पहिले काशी छोड़कर मगहर चले गए। वहीं पर

आत्मसाक्षात्कार होने लगता है।

१८—मन जब वस में आ जाता है और पवित्र होने लगता है, तब वह हमारा मित्र होकर हमको आत्मसाक्षात्कार करने में मदद करता है। सुरत के शब्द में लीन होने पर परमानन्द की प्राप्ति होती है।

१९—आत्मानुभूति में निरन्तर स्थित रहने का नाम सहज समाधि है। इसके प्राप्त हो जाने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है और फिर किसी भी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नही रह जाती है। मन शान्त होकर विलीन हो जाता है। या यो कहिये कि मन शुद्ध होकर आत्ममय बन जाता है और आत्मा परमात्मा बन जाता है।

२०—आत्मानुभव के स्थिर हो जाने पर जीवन की काया-पलट ही हो जाती है। सब ओर परमात्मा के सिवाय कुछ भी नही दिखायी देता। जीवन में किसी भी प्रकार का फिक्र और चिन्ता नही रह जाती है। लोक और वेद किसी का भी भय नही रह जाता है। उस समय मनुष्य शाहन्शाह से भी बडा हो जाता है।

२१—यही नहीं, बल्कि जीवन में एक नया उल्लास और प्रेम भाव उत्पन्न होकर स्थिर रहता है, और ऐसा भान होने लगता है कि अपने प्रियतम के साथ सदा के लिए मिलन हो गया। और प्रियतम के साथ मिलन हो जाने से आनन्द में विभोर हो जाता है।

२२—इस ज्ञानात्मक और भावात्मक सहज समाधि में सदा मग्न रहने वाले व्यक्ति का जीवन कर्मठ हो जाता है। वह आलस्यमय नही होता । योगवासिष्ठ के शब्दो मे 'महाकर्त्ता' हो जाता है। कबीर की भाषा में उसमें कथनी और करनी में कोई अन्तर ही नही रह जाता है। उसका जीवन दैविक हो जाता है। वह सब के साथ आत्मीयता का अनुभव करते हुए किसी के प्रति द्वेषभाव नहीं रखता। उसकी दृष्टि सम और सबके प्रति उसमें शीतलता रहती है।

२३—प्राचीनकाल में ऐसे लोगों को जीवन्मुक्त कहते थे। मध्यकाल में उनको सन्त नाम से पुकारते थे। सन्त लोग निर्वैर, निष्काम, निःस्वार्थ और ईश्वरभक्त, निर्लिप्त तथा अनासक्त एवं सबके साथ उपकारभाव के करने वाले होते थे। वे सदा धैर्यवान और शान्त रहते थे। उनको तृष्णा कभी नही जलाती थी। उनका नित्य का जीवन उनके गहरे अनुभव और उच्च तथा विस्तृत दृष्टि के सर्वथा अनुकूल होता था। वे सबको परमात्मा का स्वरूप समझकर सबके साथ भ्रातृत्व और प्रेम का बर्ताव करते थे। उनके जीवन में बाहरी रस्म रिवाजा और आडम्बरो का कोई महत्व नही था। मजहब अथवा सम्प्रदाय के भेदो से सब प्रेरित नही होते थे। उनके लिए हिन्दू मुसलमान समान थे। और जब कोई दूसरे पर जबरदस्ती करता था, तथा त्रास देता था तब वे दोनो ही को उनकी गल्तियाँ निष्पक्षभाव से समझाते थे। वे लोग पाखण्ड, मिथ्या बकवाद, छल, कपट और धूर्तता को

तथा पालन-पोषण भी करता है।

११—इस मायामय और असत्य संसार में जोकि काल्पनिक सत्य के ऊपर आधारित है, मनुष्य को किस प्रकार रहकर अपने अन्दर आत्मस्वरूप सत्य का अनुभव करना चाहिए, तथा आनन्दस्वरूप आत्मा की प्राप्ति करनी चाहिए और किस प्रकार इस भ्रम जाल से सदा के लिए स्वतन्त्र होना चाहिए यही शिक्षा कबीर साहब की मुख्य शिक्षा थी।

१२—हरि की माया बहुत ही भ्रामक है इसका प्रसार चारों ओर है। इससे छुटकारा प्राप्त करने के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ता है और जीवन के सामने एक अचल आदर्श रखकर आगे बढ़ना होता है।

१३—जो शक्ति ब्रह्माण्ड में माया रूप से फैली हुई है वही पिण्ड में मन रूप से प्रकट होती है। मन को स्थिर करना ही माया को वश में करना है। मन के ऊपर ही हमारे जीवन से सम्बन्धित सुख-दुःख और बन्धन तथा मोक्ष निर्भर है। परन्तु मन के अत्यन्त चंचल होने के कारण इस पर नियन्त्रण करना भी बहुत ही कठिन है।

१४—मन को स्थिर और वश में करने का उपाय कबीर साहब के मतानुसार 'सहज समाधि' है।

१५—मन की उस जिज्ञासात्मक तथा ध्यानात्मक वृत्ति जिसको कबीर साहब (सुरति) कहते हैं जब आत्मा (सत्य) की झलक पाकर क्षण भर के लिए स्थिर होकर उसके परमानन्द स्वरूप का आस्वादन करती है तब उसको क्षणभर के लिए अपने सद्स्वरूप का भान होता है। अभ्यास द्वारा सुरति को 'सति' (सत्य) में निरन्तर रूप से स्थिर करने का नाम ही सहज समाधि है।

१६—इसी सहज समाधि की प्राप्ति करने के लिए सबसे बड़ा साधन 'सुरति' है। मन की धारा या वृत्ति को गुरु द्वारा बतानी हुई युक्ति से अपने भीतर होने वाले शब्दों (अनहदनाद) के सुनने में लगा देना चाहिए। अनहदनाद में रत होने पर मन आत्माभिमुख होकर उसके आनन्द का अनुभव करता हुआ उसी में लीन हो जाता है, यही सहज समाधि है।

१७—मन को आत्मा की ओर ले जाने तथा उसमें स्थिर करने का दूसरा मार्ग कुण्डलिनी योग भी है। कुण्डलिनी शक्ति को जो मूलाधार में सुप्तावस्था में पड़ी है प्राणों द्वारा जगाकर ऊर्ध्वगामी बनाकर छः चक्रों को पार करके सहस्र चक्र में पहुँचाने से मन और आत्मा का सम्मेलन हो जाता है। ईडा और पिंगला दोनों नाड़ियों में चलने वाली प्राणवायु का दोनों के मिलन स्थान त्रिकुटी में पहुँचकर जब सुषुम्ना से मिलन होता है तब जीव प्रज्वलित होकर सब मन की बाह्य वृत्तियों को खींच कर लेता है और तब मन पूर्णरूप से शान्त हो जाता है तथा अनाहत ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है। तब उसमें मग्न होने पर

शेख फरीद (··· १५५२)

शेख फरीद, ख्वाजा शेख महमूद के पुत्र थे और उनका जन्म (सम्वत् ज्ञात नही) पाक पट्टन (अजोधन) में हुआ था। वे सूफी कुल और सूफी सम्प्रदाय में पले थे और उनका जीवन भी सूफी ढग का था। वे इतने ऊँचे दर्जे के सन्त थे कि गुरू नानक ने उनके स्थान पर जाकर उनसे मुलाकात की, और अनेक विपयो पर आध्यात्मिक चर्चा की थी। उन्होंने उच्चकोटि की आध्यात्मिक कविता हिन्दी भापा में की और अपनी रचनाओ का नाम 'सलोक' रक्खा। उनके कुछ उपदेश ये हैं—

अहिसा

अगर तू तेज अक्ल रखता है तो (दूसरों के विरुद्ध) काले अक्षर मत लिख अर्थात् दूसरो की वुराई करने में अपनी बुद्धि का प्रयोग नही करना चाहिए। अपना सिर झुकाकर गरीवो की ओर देखना चाहिए। अगर लोग तुझे मुक्का मारें तो भी तू उन्हे मत मार, उनके कदमो को चूम कर अपने घर चला आ।

विषयसुख का परिणाम दु ख है

जो घी चुपडी खाते हैं उन्हे वहुत दु ख उठाना पडता है। अर्थात् विपयभोगो का जीवन दु खदायी होता है। काटकर फेंक दे उस सर को जो मालिक के आगे नही झुकता।

सब संसार दु खी है

मै समझता था कि दु ख मुझे ही है, मगर दु ख तो सारी ही दुनिया को है। यह आग तो हर घर में लग रही है। प्रीतम तो तेरे अन्दर ही है।

भगवान् को बस में करने का मार्ग

दीनता वह शब्द है, धीरज वह गुण है, शील वह अनमोल मत्र है जिसके द्वारा ईश्वर वश में हो जाता है।

भगवान् के बिरले भक्त

जो वुद्धिमान् होते हुए भी सरल है, जो वलवान् होते हुए भी निर्वल है और जो अकिन्चन होते हुए भी अपना सर्वस्व दे डालते हैं, ऐसे लोग बिरले हैं।

सबसे मीठी बोली बोलो

एक भी अप्रिय बात मुंह से न निकाल, क्योकि सच्चा मालिक हर प्राणी के अन्दर है। किसी के दिल को तू मत दुखा क्योंकि हर दिल एक अनमोल रत्न है। अगर तू भगवान् का भक्त है तो किसी के भी दिल को न दुखा।

दादू दयाल (१५४४–१६०३)

कबीर की विचारधारा के अनुकरण करने वालो में दादू दयाल सब से बडे सन्त हो

मानमन्द करते थे तथा उनकी निन्दा भी करते थे। उनका समस्त जीवन तथा समस्त व्यवहार एवं सब कार्य सत्य और अहिंसा के आधार पर ही होता था। उनमें काम क्रोध मद लोभ मात्सर्य अहंकार न रहकर विश्वास धैर्य गम्भीर त्याग दान और प्रेम का प्रकाश होता था।

सन्त रैदास (रविदास)

कबीर के समकालीन और काशी के वासी तथा रामानन्द स्वामी के शिष्य एक उच्चकोटि के सन्त हो गए हैं। उनका जन्म चमार जाति में हुआ था। उनके पिता का नाम रग्घू तथा माता का नाम घुरबिनिया था। वे बहुत बड़े ईश्वर भक्त होते हुए जूते गाँठ कर अपनी रोजी कमाते थे। उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी थी और चित्तौड़ की रानी झाली उनकी शिष्य बन गयी थी। उनके भजन उच्चकोटि के भगवत्प्रेम से भरे हुए होते थे। कबीर की भाँति वे दूसरों के व्यवहार और विचारों की कटु आलोचना नहीं करते थे। उन्होंने कभी ख्याति और कीर्ति की इच्छा नहीं की। अन्तिम मरने से पहले उन्होंने अपने भक्तों को यह आदेश दिया था कि उनकी सब रचनाओं को उनके शव के साथ जला दिया जाय। आज जो उनके भजन प्राप्त हैं वे उनके मरने के पीछे उनके शिष्यों ने अपनी स्मृति से एकत्रित किए थे। उनके कुछ भजन ग्रन्थ साहब में भी मिलते हैं। उनके भजनों में अनन्य और मानसिक भक्ति के ही विचार पाए जाते हैं। वे बाहरी पूजा में विश्वास नहीं करते थे। उनके लिए जाति-पाँति का कोई बखेड़ा नहीं था। उनका सम्मान उच्च जाति वाले भी करते थे। उनके कुछ मार्मिक नैतिक उपदेश ये हैं—

राम के प्रेम का पथ कठिन है। इसमें कोई संगी-साथी नहीं होता। इस मार्ग पर अकेला ही चलना होता है। राम की पूजा के लिए कौन-सी वस्तु उपयुक्त है। कोई अनुपम फल और फूल और वस्तु नहीं मिलती जो भगवान् को अर्पण की जा सके। दूध तो बछड़े का जूठा, फूलों को भौंरों ने अशुद्ध कर दिया, गंगाजल को मछलियों ने अपवित्र कर दिया, चन्दन के ऊपर साँप लिपटे रहते हैं। विष और अमृत दोनों की उत्पत्ति एक ही स्थान (समुद्र) से हुई थी। इसलिए भगवान् के पूजा की लिए मानसिक पूजा होनी चाहिए जिसमें धूप-दीप आदि सभी पूजा की सामग्री मानसिक ही हो और मन के भीतर ही भगवान् के सूक्ष्म स्वरूप का दर्शन हो। भगवान् का और जीव का सम्बन्ध ऐसा होना चाहिए जैसा चन्दन और पानी का जिसके कारण वह दुर्गन्ध से सुवासित हो जाता है, जैसे मोर और मेघ का जिसको देखकर मोर आनन्द से विभोर हो उठता है, जैसा दीपक और बाती का जिसकी ज्योति से दीपक दिन रात रोशन होता रहता है, जैसे धागे और मोती का, सोने और सुहागे का और दास और स्वामी का।

की प्राप्ति होती है। अपने को मारे बिना खुदा नही मिलता।

३—सत्य की महिमा

भगवान् को सत्य प्रिय होता है। सत्य पर चलने वाला ही भगवान् का दर्शन पाता है। झूठे को भगवान् दर्शन नही देते।

४—छल, कपट का त्याग

जिसके हृदय में कपट होती है उसको भगवान् नहीं मिलते। आँख में धूल भरी हो तो कुछ नही दिखाई पडता। लोहे की नाव दरिया के पार नहीं ले जा सकती। विष खाकर कोई अमर नही हो सकता। अग्नि-गृह में प्रवेश करके सुख कहाँ? और कुयें में गिरे हुए का आकाश मे उडना कठिन है, वैसे ही जिसके दिल में कपट है वह भगवान् के दर्शन नही पा सकता।

५—राम को प्राप्त करने के साधन

राम का भजन, विषयो का त्याग, असत्य भाषण का त्याग, परनिन्दा का त्याग, दोषो को त्यागकर गुणो का ग्रहण, सबके प्रति वैर त्याग, सब को अपना आत्मा समझना, किसी को गैर न जानना, आत्माभिमान त्याग, समता, सत्य परायणता, विचार, निर्मलता, निर्लिप्तता, सबसे न्यारा रहना, नारी के प्रति मोह न होना, माया-मोह का त्याग, विषयों में वैराग्य, अधिक फैलावा न फैलाना, देह, घर और, परिवार में रहते हुए भी उनसे अलग (अनासक्त) रहना, "मैं" और "मेरे" का त्याग, मन, वचन और कर्म मे भगवान् को ही अपना समझना, मन और इन्द्रियो को वश में रखना, मिथ्या न बोलना, अपने अन्दर सदा राम का ही ध्यान रखना और भगवान् की निरन्तर सेवा।

६—हिन्दू मुसलमान का ईश्वर एक ही है

राम के सिवाय ससार में है ही और कौन? वही सबका स्वामी है, उसके यहाँ हिन्दू मुसलमान का कोई भेद नही है। अल्लाह और राम, राम और रहीम उसके ही नाम हैं। "मैं हिन्दू और तुरक को दो नही जानता।"

६—ईमानदारी

सच्चा लो, सच्चा दो, झूठा सौदा न करो। सच्चा कमाया हुआ रखो, झूठा त्याग दो। निर्मल रहो, निर्मल लो, निर्मल कहो, निर्मल दो, निर्मलता से इधर उधर न भटको। भगवान् के यहाँ मन का लेखा (हिसाब-किताब) रक्खा जाता है।

७—मन की पवित्रता के बिना भगवान् का दर्शन नहीं होता

जैसे साफ दर्पण में ही अपना मुख दिखाई देता है वैसे ही जिसका मन मैला है, वह भगवान् को नही देख सकता। मन में जिसके प्रति प्रीति होती है वही बाहर भीतर दिखाई पडती है। जैसा जिसका भाव होता है उसे वैसा ही दिखाई देता है।

गए हैं। उनका जन्म गुजरात के अहमदाबाद जिले में हुआ था और उनका देहावसान नराना या नारायण (जैपुर से डेढ़ मील) में हुआ था। कोई उनको नागर ब्राह्मण कुल में और कोई धुन्ने (धुनिया) जाति में जन्म लेने वाला बतलाते हैं और दोनों विचारों की समीक्षा और समन्वय इस विचार में हो जाता है कि कबीर साहब की भांति दादू भी किसी उच्च नागर ब्राह्मण की स्त्री की कोख से उत्पन्न हुआ बालक था जिसको किसी धुनिया ने पड़ा हुआ पाकर उठा लिया और पाला था। कुछ भी हो दादू छोटी अवस्था से ही आध्यात्मिक और धार्मिक प्रवृत्ति का बालक था। १२ वर्ष की अवस्था में ही वे भगवान् की तलाश में घर से बाहर निकल गए थे। किन्तु उनके पिता उनको ढूंढ कर वापिस ले आये और उनका विवाह भी उसने कर दिया। ७ वर्ष के पश्चात् फिर वे घर से निकल पड़े और साँभर में जाकर साधना करने लगे साथ-साथ ही वे रुई को धुनकर अपनी रोजी कमाते रहे। १२ वर्ष तक उन्होंने कबीर साहब के बतलाये हुए सहज योग का अभ्यास किया, और उसके द्वारा सिद्धि प्राप्त की। उनकी ख्याति उत्तर भारत के कोने-कोने में फैल गई और दूर-दूर से उनके पास लोग शिष्य बनने के लिए आने लगे। उनका व्यवहार सबके प्रति बहुत मृदु और वाणी बहुत मधुर थी। जो लोग उनके स्थान पर उनके दर्शन करने आते थे उनके साथ बिना किसी जाति पाँति धर्म सम्प्रदाय आदि भेद के उनका प्रेम का बर्ताव होता था। यहाँ तक जो उनके लिए बुरा करते और सोचते थे उनके लिए भी उनके हृदय में प्रेम और व्यवहार में क्षमा दया और करुणा थी। उनका जीवन बहुत सरल और पवित्र था। उनकी दया की कई कथायें बहुत विख्यात हैं जिनके कारण उनका नाम दादू दयाल पड़ गया था। १५८५ में मुगल बादशाह अकबर ने उनको फतेहपुर सीकरी में निमन्त्रित किया था और उनके साथ अनेक आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा की थी। दादू हिन्दी संस्कृत अरबी और फारसी के अच्छे जानने वाले थे। उनकी कविता में इन सब भाषाओं का मिश्रण है। उनके शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। सन्त रज्जबदास गरीब दास और सुन्दरदास उनके शिष्य थे। उनके दो लड़के गरीबदास और मस्कीन दास और भगिनी नानीबाई और माताबाई भी सन्त हो गए हैं। निर्गुण ईश्वर के उपासकों में सन्त दादू दयाल का स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी वाणी में नैतिकता का उपदेश कूट-कूट कर भरा है। उनके कुछ नैतिक उपदेशों का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

१—गर्व नहीं करना चाहिये

गर्व (अभिमान) नहीं करना चाहिए। गर्व से ही पतन और नाश होता है। गर्व करने वाले को भगवान् नहीं मिलते और नरक में वास होता है।

२—भगवान् की प्राप्ति के लिये अपने को बलि देना होता है

हरि प्राप्ति के लिए जो व्यक्ति अपना सिर देने को तैयार है उसी को परमपद

भगवान् से लौ लगावे।' 'न हम हिन्दू हैं और न मुसलमान, हम छ दर्शनो में से किसी के अनुयायी नही हैं। हम तो केवल रहमान के प्रेम में लगे हुए हैं।' हिन्दू और मुसलमान का अपना-अपना आचार व्यवहार है। पर सन्तों का मार्ग दोनो के बीच का मार्ग है। हिन्दू मन्दिर में पूजा करते हैं और मुसलमान मस्जिद में नमाज पढते हैं। सन्त लोग तो निरन्तर अलख से प्रीति करते हैं। सद्‌गुरू ने बतलाया है कि बाहर जाने की जरुरत नही है, अपने भीतर ही मन्दिर और मस्जिद है। वही सेवा और बन्दगी करो।

१५—सन्तोष और भगवान् पर विश्वास

जो कुछ राम ने रच रक्खा है वही धीरे-धीरे अपने आप ही होगा। मनुष्य नाहक कलप-कलप कर मरता है, और बेकाम दु खी होता है। दादू तो भगवान् से सन्तोष, सद्‌भाव, भक्ति, विश्वास, सन्तोप, सबर, और सत्य की भिक्षा माँगता है।

१६—शारीरिक तप से बढ़कर मन का मारण है

मन की वासना को न मारकर शरीर को कष्ट देने से क्या लाभ ? बाँभी के पीटने से क्या साँप मर जाता है?

१७—हिन्दू मुसलमान दोनो ही एक भगवान् के रूप हैं

हिन्दू और मुसलमान दोनो के अन्दर एक ही आत्मा है। दोनो के हाथ, पैर, कान, नाक एक से ही हैं। जिसके अग से ये दोनो उत्पन्न हुए हैं वही सब मे समाया हुआ है। सबके घर मे राम रहते हैं। सबमें एक ही आत्मा है, दूसरा कोई नही है, तब क्यो किसी को दु ख दिया जाये ?

१८—भगवान् घर के भीतर ही ह, बाहर उनको ढूढ़ना व्यर्थ है

कोई द्वारका जाता है, कोई काशी और कोई मथुरा। जिसको ढूंढने जाते हैं वह भगवान् तो घर के भीतर ही रहता है। जिसको जग ढूँढता है वह तो सबके घर मे ही बैठा है। केवल भ्रम का परदा पडा हुआ है जिसके कारण वह दिखाई नही पडता। जैसे कस्तूरी मृग के पेट में होती है पर वह उसकी बू की तलाश में सब ओर घूमता फिरता है, इसी प्रकार घर में बैठे हुए गोविन्द की तलाश में आदमी इधर-उधर डोलता है।

१९—साधु निन्दा का फल

जो दूसरो की निन्दा करता है वह वास्तव में दूसरो का उपकार ही करता है क्योकि अपने को वह मैला करके दूसरो को उजला ही करता है। जो सज्जनो की निन्दा करते हैं उनका घर द्वार समूल नष्ट हो जाता है, और न उनकी नींव पाती है और न धूल। उनका नाम और निशान तक मिट जाता है।

रज्जब जी (१५६७–१६८३)

रज्जब जी एक मुसलमान घराने में सागानेर में उत्पन्न हुए थे। वे विवाह करने

८—नरक में जाने के मार्ग

जो आदमी गरीबों को सताता है और दूसरों के ऊपर रौब जमाता है जिसके दिल मे दर्द नही है अपने शरीर के उपर अभिमान करता है भगवान् से प्रेम नही करता दूसरे के धन की ओर निगाह रखता है जो अपने को नही मारता दूसरों को मारता है जो जुल्म की कमाई खाता है वह काफिर दोजख (नरक) में जाता है।

९—सच्चा मुसलमान को स्वर्ग जाता है

सच्चा मोमिन (मुसलमान) वह है जो सबका मान रक्खे सब को सुख देवे किसी को कष्ट न दे मुर्दार (मास) नही खावे जीव हत्या न करे, तथा भगवान् की बन्दगी करता रहे जो सत्य का पालन करता है और दिल में सबर (सन्तोष) रखता है धर्म के मार्ग पर चलता है जिसका दिल मोम के समान कोमल होता है जो दूसरों को सताता नही हराम की कमाई नही खाता वह मोमिन (मुसलमान) स्वर्ग को जाता है।

१०—मूर्ति पूजा और तीर्थयात्रा की अनावश्यकता

जो कंकर-पत्थर की पूजा करते हैं वे अपना मूलधन भी खो देते हैं। जबकि भगवान् जो अलख है अपने अन्दर ही बसते हैं तो दूसरी जगह उनकी तलाश क्यों करे? घर के भीतर रहने वाले भगवान् को छोड़कर व्यर्थ ही कोई काशी कोई मथुरा और कोई द्वारका उसको ढूंढने जाते हैं।

११—सबका भगवान् एक ही है

सबके भगवान् एक ही हैं, पर पागलपन के कारण हरेक ने अपना-अपना भगवान् अलग अलग मान रखा है।

१२—असली काम और ईमान भगवान् का प्रेम है

वही ज्ञानी है, वही पंडित है, वही सच्चा है, वही (सती) यती है जिसका दिल भगवान् में लगा हुआ है। वही काजी वही मुल्ला वही मोमिन वही मुसलमान वही सयाना है जिसका दिल भगवान् मं लगा हुआ है।

१३—सत्संग की महिमा

सत्पपति के द्वारा परमपद की प्राप्ति आसानी से ही जाती है। सत्संग द्वारा दिल में भक्तप्रेम की उत्पत्ति होती है। जिस रस को मुनियों ने पाया है जिस रस का सुर, नर सभी वर्णन करते हैं वह भक्तप्रेम रस साधु संगति से सहज में ही प्राप्त हो जाता है।

१४—निष्पक्षता और मध्यमार्ग

सुख न घर में है और न वन में सुख तो सांई के पास रहने में है। 'हम उस देश के वासी है जहाँ उस-पलट नही होती। सदा एकसा रस रहता है । वह न दूर है और न नजदीक है। अपने आपको कुछ न कहावे न किसी से साथ रहे, निष्पक्ष होकर रहे और

भगवान् से लौ लगावे।' 'न हम हिन्दू हैं और न मुसलमान, हम छ दर्शनो में से किसी के अनुयायी नही हैं। हम तो केवल रहमान के प्रेम में लगे हुए हैं।' हिन्दू और मुसलमान का अपना-अपना आचार व्यवहार है। पर सन्तो का मार्ग दोनो के बीच का मार्ग है। हिन्दू मन्दिर में पूजा करते है और मुसलमान मस्जिद में नमाज पढते हैं। सन्त लोग तो निरन्तर अलख से प्रीति करते हैं। सद्गुरु ने बतलाया है कि बाहर जाने की जरुरत नही है, अपने भीतर ही मन्दिर और मस्जिद है। वही सेवा और बन्दगी करो।

१५—सन्तोष और भगवान् पर विश्वास

जो कुछ राम ने रच रक्खा है वही धीरे-धीरे अपने आप ही होगा। मनुष्य नाहक कलप-कलप कर मरता है, और बेकाम दु खी होता है। दादू तो भगवान् से सन्तोष, सद्भाव, भक्ति, विश्वास, सन्तोप, सबर, और सत्य की भिक्षा माँगता है।

१६—शारीरिक तप से बढकर मन का मारण है

मन की वासना को न मारकर शरीर को कष्ट देने से क्या लाभ? बाँभी के पीटने से क्या साँप मर जाता है?

१७—हिन्दू मुसलमान दोनो ही एक भगवान् के रूप हैं

हिन्दू और मुमलमान दोनो के अन्दर एक ही आत्मा है। दोनो के हाथ, पैर, कान, नाक एक से ही हैं। जिसके अग से ये दोनो उत्पन्न हुए हैं वही सब मे समाया हुआ है। सबके घर में राम रहते हैं। सबमें एक ही आत्मा है, दूसरा कोई नही है, तब क्यो किसी को दु ख दिया जाये?

१८—भगवान् घर के भीतर ही ह, बाहर उनको ढूढ़ना व्यर्थ है

कोई द्वारका जाता है, कोई काशी और कोई मथुरा। जिसको ढूंढ़ने जाते हैं वह भगवान् तो घर के भीतर ही रहता है। जिसको जग ढूँढता है वह तो सबके घर मे ही बैठा है। केवल भ्रम का परदा पडा हुआ है जिमके कारण वह दिखाई नही पडता। जैसे कस्तूरी मृग के पेट में होती है पर वह उसकी बू की तलाश मे सब ओर घूमता फिरता है, इसी प्रकार घर में बैठे हुए गोविन्द की तलाश में आदमी इधर-उधर डोलता है।

१९—साधु निन्दा का फल

जो दूसरो की निन्दा करता है वह वास्तव में दूसरो का उपकार ही करता है क्योकि अपने को वह मैला करके दूमरो को उजला ही करता है। जो सज्जनों की निन्दा करते हैं उनका घर द्वार समूल नष्ट हो जाता है, और न उनकी नींव पाती है और न मूल। उनका नाम और निशान तक मिट जाता है।

रज्जब जी (१५६७–१६८३)

रज्जब जी एक मुसलमान घराने में सागानेर में उत्पन्न हुए थे। वे विवाह करने

वेद और सन्त वाणी

वेद की वाणी तो कुएँ के जल के समान है जो कठिनाई से प्राप्त होता है। सन्तों की साखी सरोवर के जल के समान है जो सब को सरलता से प्राप्त हो जाता है।

वपनाजी

वपना जी का जन्म राजस्थान के नराणा गाँव में हुआ था जो साँभर से पाँच कोस दक्षिण में है। ये एक मीरासी (मुसलमान जाति जो गा बजाकर अपना गुजर करते थे) वंश में उत्पन्न हुए थे। इनके गुरु स्वामी दादू दयाल थे और ये गृहस्थ थे वेश में रहते थे। इनके नैतिक उपदेश ये हैं—

वेद का अपना अनुभव

वेद तो कागज पर लिखी हुई पुस्तकें हैं, उनमें ज्ञान प्राप्त नहीं होता। ज्ञान तो अपने ही अनुभव से प्राप्त होता है जैसे पक्षी अपने ही अनुमान से आकाश में उड़ता है।

ईश्वर की बहुमूल्यता

यदि सिर देकर भी भगवान् मिल जायें तो इस सौदे में टोटा नहीं है। नफे का ही यह सौदा है।

परमात्मा ही सबका मालिक है

एक परमात्मा ही अचल और अविनाशी है। सारी पृथ्वी उसी की है। अनन्त लोकों में उसकी ही दुहाई है। पृथ्वी किसी आदमी की नहीं है, उसकी है। सम्पत्ति की पूरी राशि ईश्वर को छोड़कर कण-कण क्यों इकट्ठा करता फिरे है?

भगवन्नाम की महिमा

कहने को तो सब कहते हैं पर संसार सागर से तारने के हेतु कोई नाव का काम नहीं करता। वेद, पुराण, अठ-सठ तीर्थ, जप, तप, नियम, धर्म, मेल-मिलाप, इनमें हरि नाम के समान न कोई हुआ, न होगा। दान-पुण्य को तराजू में रखकर तोला तो नाम के समान कोई नहीं होता। ९ खण्ड पृथ्वी को भी जोख लिया पर कुछ भी हरिनाम के समान नहीं है।

पूजा-पाठ से राम नहीं मिलते

देवता और मन्दिर सब ही माया के रूप हैं, इनसे राम नहीं मिलते। लोग इनके भ्रम में पड़कर वृथा ही जन्म गँवाते हैं।

कर्म के बन्धन से केवल भगवान् ही मुक्त कर सकते हैं

हे भगवान्! संसार में भ्रमण करते-करते तुम्हारी ही शरण में आया हूँ। तुम्हीं को लोग दीनदयाल और पतित पावन कहते हैं। तुम ही अनाथों के नाथ कहे जाते हो और कोई अगर बाँध लेता है तो दाम देकर मनुष्य छुटकारा पा लेता है, पर कर्म के बन्धन

से तुम ही बचा सकते हो।

वाजिद जी

वाजिद जी पठान वंश में उत्पन्न हुए। दादू दयाल के एक शिष्य थे। इनके जीवन के सम्बन्ध में इतना ही ज्ञात है कि वे अपने यौवन काल में एक शिकारी थे। एक बार शिकार करने जब निकले तो एक हरिणी उनको दिखलायी पड़ी। उसके ऊपर निशाना लगाकर तीर चलाने वाले ही थे कि उनके मन में करुणा का भाव उमड़ आया और तीर कमान फेंक कर गुरु की तलाश में निकल पड़े और दादू दयाल के शिष्य बन गये। उनकी वाणी बड़ी शिक्षाप्रद है। उनके कुछ उपदेश ये हैं—

दान का महत्त्व

सब के भीतर भगवान् है। किसी को इनकार नहीं करना चाहिए। जो भी गाँठ में हो दिल खोल कर दान देना चाहिए। धन तो वही है जो धन के मालिक भगवान् के काम आये वरना वह माया और बन्धन में फँसाने वाला है। जिसका (परमेश्वर का) वह है उसको सौंप कर क्यों सुख की नींद नहीं सोता ? खर्च करो और दो। धन को जमा करके क्या होगा ?

अन्नदान सर्वश्रेष्ठ पुण्य है

भूखे और दुर्बल को देखकर मुँह नहीं छिपाना चाहिए। यदि भगवान् ने पूरी रोटी दी है तो उसमें से आधी दीजिए। यदि आधी दी है तो उसमें से एक टुकड़ा दीजिए। अन्नदान के समान और कोई पुण्य नहीं है। जिसने नंगे को कपड़ा और भूखे को भोजन नहीं दिया वह स्वर्ग कहाँ से सुख पायेगा ? बिना दिए कुछ नहीं प्राप्त होता।

भगवन्नाम का जप ही कर्तव्य है

घड़ी-घड़ी पर जो घंटा बजता है वह पुकार-पुकार कर यह कहता है कि आयु बीती जा रही है। थोड़ी सी ही रह गई है अचेतन होकर मत सोओ जागो और हरि का नाम जपो।

जीव-हिंसा नहीं करनी चाहिए

साहब के दरबार में बकरा पुकार करेगा तो (बकरा खाने वाला) काजी पकड़ कर के लाया जायेगा और बकरा भगवान् से कहेगा कि इसने मेरा सिर काटा है अब इसका सिर काट कर राव-रंक का लेखा बराबर करिये।

अक्रोध

सद्गुरु की शरण में आकर गुस्से का त्याग कर देना चाहिए। कोई भी कुछ बुरा भला कहे तो उत्तर नहीं देना चाहिए। उत्तर देने से ही रार (झगड़ा) होता है और रार से दुःख होता है। जिस घर में क्रोध होता है वह घर नीच है। सबसे शीतल और सम्य

स्वभाव से बोलना चाहिये, अपने आप शीतल रहो और दूसरो को शीतल करो।

स्वामी सुन्दर दास—(१५९६–११८९)

दादू दयाल के अन्य शिष्यो में एक महान् शिष्य सुन्दरदास हो गये हैं। इनका जन्म पुराने जयपुर राज्य के अन्तर्गत चौसा में वैश्य कुल में हुआ था। जब सुन्दरदास जी ७ वर्ष की अवस्था में थे तो दादू दयाल चौसा आये थे। उनसे प्रभावित होकर सुन्दरदास उनके शिष्य बन गए। दादू ने उनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध कर दिया और ११ वर्ष की अवस्था में उनको विद्याभ्यास के लिये काशी भेज दिया। वहाँ उन्होने व्याकरण, साहित्य, और दर्शन की पूरी शिक्षा पाई, और हिन्दी में कविता करना आरम्भ कर दिया। काशी में वे असी घाट के पास रहा करते थे। काशी में विद्याभ्यास करके वे राजपूताना वापिस आये और फतेहपुर शेखावती में रहने लगे। वहाँ कई वर्ष रहकर उन्होने योगाभ्यास और तपस्या की, जिससे उनको सिद्धि प्राप्त हो गई और उनकी दूर-दूर तक प्रसिद्धि हो गई। सिद्ध होकर उन्होने भारतवर्ष की यात्रा की। रज्जब जी और बषना जी से उनकी बडी मित्रता थी। सुन्दरदास जी एक बहुत उच्चकोटि के सत थे। उनका जीवन भगवद् भजन, ईश्वर भक्ति और लिखने में ही अधिक बीतता था। वे अपने गहरे अनुभव के आधार पर लिखते थे। सन्तों में सबसे उच्चकोटि के वे कवि थे। अपने देह त्याग (जो सागानेर में हुआ) के पूर्व उन्होने अपने देहावसान पर कुछ साखियाँ लिखी। उनकी रचनाएँ बहुत सी हैं। उनकी भाषा सस्कृत और फारसी मिश्रित हिन्दी थी। उनके कुछ नैतिक उपदेश ये हैं—

कौटुम्बिक सम्बन्ध आकस्मिक है

कुटुम्ब के सब लोगो का ऐसा ही आकस्मिक और क्षणिक सम्बन्ध है जैसा जहाँ-तहाँ जाने वाले कुछ देर के लिए नाव में बैठे हुए लोगो का होता है। नदी के पार हो जाने पर कोई कही चला जाता है और कोई कही। या यो कह सकते हैं कि वह सम्बन्ध ऐसा है जैसा रात को किसी वृक्ष पर बैठकर एकत्रित होने वाले पक्षियो का सम्बन्ध है जो प्रात काल होते ही जहाँ-तहाँ उड जाते हैं।

दुर्जन की सगति दुःखदाई है

सब दुःखो को यदि तराजू में रखकर तोला जाये तो दुर्जन की सगति से प्राप्त होने वाला दु ख सबसे भारी निकलेगा।

स्त्री निन्दा

स्त्री विष की बेल है जिसमें पैर के नाखून से लेकर शिखा तक विकार भरा हुआ है।

मन को शीतलता से ही जगत् शीतल होता है

अपने मन में अगर आनन्द है तो सारा जगत् आनन्दमय प्रतीत होता है। मन के

आत्मानन्दित होने पर ही सभी दिशाओं में शीतल चान्दनी फैली हुई दिखाई पड़ती है।

सन्त की दुर्लभता

माता पिता भाई, बन्धु सुन्दर स्त्री पुत्र सभी आसानी से प्राप्त हो जाते हैं पर सन्त की संगति मिलनी दुर्लभ है।

सन्तों के लक्षण

सन्तों के हृदय में मद मत्सर और अहंकार का स्थान नहीं। किसी वस्तु या व्यक्ति के आने से उन्हें विशेष हर्ष और जाने से शोक नहीं होता। उनका हृदय शीतल और सुखी होता है और आंखों में भी शीतलता दिखाई पड़ती है। वे अमृत जैसे बोल बोलते हैं। वे समाधान, धीर, सत्यपरायण दयावान् और सन्तोषी होते हैं। उनमें ममता और क्रोध नहीं होते। उनके लिए घर और वन दोनों ही समान होते हैं और वे सदा उदासीन भाव से रहते हैं। उनको जीवन और मरण की आशा और भय नहीं रहते। उनको हर्ष और शोक नहीं होते न राग और द्वेष। उनके लिये घर और वन दोनों समान हैं। वे न किसी का ग्रहण करते हैं और न किसी का त्याग। उनकी वाणी हमेशा ज्ञानमयी होती है। न किसी से उनका राग और न किसी से विराग होता है। उनका हृदय सदा शीतल रहता है और वे सबको सुख देते हैं और सब जीवों पर दया करते हैं।

आत्मास्वाद के कारण बाह्य वस्तुओं में आसक्ति

यद्यपि अपना ही रूप चारों ओर फैला हुआ है तो भी अज्ञानवश जीव किसी को अपने अति निकट समझता है किसी को अपने से दूर समझता है किसी से प्रसन्न होता है और किसी पर क्रुद्ध होता है। जैसे कुत्ता सूखी हड्डी को चबाते हुए अपने ही मसूड़ों में से निकलते हुए लहू का स्वाद लेता हुआ अज्ञान से यह समझता है कि हड्डी में से स्वाद आ रहा है वैसे ही आनन्द रहित बाह्य वस्तुओं के ऊपर अपना ही आनन्द आरोपित करके मूर्ख अज्ञानवश यह समझता है कि बाह्य वस्तुओं से आनन्द प्राप्त हो रहा है।

आत्मानुभव

अपने अन्दर प्रवेश करके अपने दिल के भीतर ही गोता मारने से जगत का सृष्टि कर्ता अपने दिल में ही प्राप्त होता है।

भगवत्प्राप्ति का अमूल्य आनन्द

हरि रस (आत्मानन्द) तो इतना अनमोल पदार्थ है कि यदि अपना सिर काट कर हाथ पर रखकर निष्काम भाव से उसे देकर भी यह मिल जाये तो मँहगा सौदा नहीं है।

ब्रह्मानुभव वर्णनातीत है

वहाँ ध्यान ज्ञान और वचन की पहुंच नहीं है। उसको वर्णन करने में वेद

नियत होती है। जैसे नमक की पुतली समुद्र की थाह लेने को चले और उसी में विलीन हो जाये और थाह न पा सके, वही हाल ब्रह्मानुभव को वर्णन करने का प्रयत्न करने वाले का है। वह आनन्द मुख से नहीं कहा जाता, उसमे कोई द्वन्द्व नही होता। वह कहने की वस्तु नही, अनुभव करने की है। उसका स्वरूप कण्ठ तक आता है, मुख से बाहर नही निकलता।

हरि को प्राप्त करने का तरीका है सुमिरन

अपने मन की वृत्ति को समेटकर यदि मन, वचन, कर्म से भगवत् स्मरण में लीन हो जाये तो अवश्य ही हरि उसके आधीन हो जाते हैं। स्मरण में शील और सन्तोष है और स्मरण द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है।

राम का प्यारा कौन है

राम को वही प्यारा है जो कनक (रुपया पैसा) और कामिनी (स्त्री) का त्याग कर दे और इनके बन्धन में न पड़े। सबसे निर्वैर रहे, और किसी का दिल न दुखावे, सबसे शीतल वाणी बोले, और सबको प्रेमामृत रस पिलाये। या तो मौन रहे या हरिगुण गावे, संसार की भ्रम कथा से दूर रहे, पाँचो इन्द्रियो को वस में रक्खे, और मन को मन के नियन्त्रण में रक्खे। काम, क्रोध और लोभ को खोद-खोद कर हृदय से निकाल दो। चौथे पद (तुर्यावस्था) को जानकर उसमें लीन रहे।

ज्ञानी को कर्म का बन्धन नहीं होता

जिसके हृदय में ज्ञान उदय हो गया, वह कर्म के बन्धन में नहीं आता।

बाबा मलूक दास (१५७४–१६८२)

इलाहाबाद जिले के कड़ा गाँव में एक खत्री कुल में मलूकदास का जन्म हुआ था। बचपन से ही उनको साधुओ में बडी श्रद्धा थी और जो कुछ उनको घर में मिल जाता वही साधुओ को देते रहते थे। बडा होने पर अपने आप भी वे एक महान् सन्त और कवि हो गए। वे बहुधा जगन्नाथ जी का दर्शन करने पुरी जाया करते थे, और वही पर उनका देहान्त हुआ। उनका मार्ग भगवान् के प्रति पूर्णतया अपने को सौंप देना था। उनके कुछ नैतिक उपदेश ये हैं—

भगवान् को पाने के लिये सब क्रिया कर्म व्यर्थ हैं

सब क्रियायें, कर्म और आचार भ्रम मात्र हैं, और जगत् में फंसाने वाले हैं।

असली पूजा

प्रेम का पखावज हो, हृदय का एकतारा हो, मन को मगन होकर नचावे। यदि तेरे घर में प्रेम है तो तू व्यर्थ ही उसको कहकर क्यो सुनाता है। अन्तर्यामी ही हमारे अन्दर का भाव स्वयं जान लेता है।

आत्मानन्दित होने पर ही सभी दिशाओं में शीतल चाँदनी फैली हुई दिखाई पड़ती है।

सन्त की दुर्लभता

माता पिता भाई बन्धु, सुन्दर स्त्री पुत्र सभी आसानी से प्राप्त हो जाते हैं पर सन्त की संगति मिलनी दुर्लभ है।

सन्तों के लक्षण

सन्तों के हृदय में मद, मत्सर और अहङ्कार का स्थान नहीं। किसी वस्तु या व्यक्ति के आने से उन्हें विशेष हर्ष और जाने से शोक नहीं होता। उनका हृदय शीतल और सुखी होता है और आँखों में भी शीतलता दिखाई पड़ती है। वे अमृत जैसे बोल बोलते हैं। वे क्षमावान्, धीर, सत्यपरायण दयावान् और सन्तोषी होते हैं। उनमें ममता और क्रोध नहीं होते। उनके लिए घर और वन दोनों ही समान होते हैं और वे सदा उदासीन भाव से रहते हैं। उनको जीवन और मरण की आशा और भय नहीं रहते। उनको हर्ष और शोक नहीं होते न राग और द्वेष। उनके लिये घर और वन दोनों समान हैं। वे न किसी का ग्रहण करते हैं और न किसी का त्याग। उनकी वाणी हमेशा ज्ञानमयी होती है। न किसी से उनका राग और न किसी से विराग होता है। उनका हृदय सदा शीतल रहता है और वे सबको सुख देते हैं और सब जीवों पर दया करते हैं।

आत्माध्यास के कारण बाह्य वस्तुओं में आसक्ति

यद्यपि आत्मा ही सब चारों ओर फैला हुआ है तो भी अज्ञानवश जीव किसी को अपने अति निकट समझता है किसी को अपने से दूर समझता है किसी से प्रसन्न होता है और किसी पर क्रुद्ध होता है। जैसे कुत्ता सूखी हड्डी को चबाते हुए अपने ही मसूड़ों में से निकलते हुए लहू का स्वाद लेता हुआ अज्ञान से यह समझता है कि हड्डी में से स्वाद आ रहा है वैसे ही आनन्द रहित बाह्य वस्तुओं के ऊपर अपना ही आनन्द आरोपित करके मूर्ख अज्ञानवश यह समझता है कि बाह्य वस्तुओं से आनन्द प्राप्त हो रहा है।

आत्मानुभव

अपने अन्दर प्रवेश करके अपने दिल के भीतर ही गोता मारने से जगत का सृष्टि कर्ता अपने दिल में ही प्राप्त होता है।

आत्मप्राप्ति का अमूल्य आनन्द

हरि रस (आत्मानन्द) तो इतना अनमोल पदार्थ है कि यदि अपना सिर काट कर हाथ पर रखकर निश्चय भाव से उसे देकर भी यह मिल जाये तो मँहगा सौदा नहीं है।

ब्रह्मानुभव वर्णनातीत है

जहाँ ध्यान ज्ञान और वचन की गुँजाइश नहीं है। उसको वर्णन करने में वेद-

नियत होती है। जैसे नमक की पुतली समुद्र की थाह लेने को चले और उसी में विलीन हो जाये और थाह न पा सके, वही हाल ब्रह्मानुभव को वर्णन करने का प्रयत्न करने वाले का है। वह आनन्द मुख से नही कहा जाता, उसमे कोई द्वन्द्व नही होता। वह कहने की वस्तु नही, अनुभव करने की है। उसका स्वरूप कण्ठ तक आता है, मुख से बाहर नही निकलता।

हरि को प्राप्त करने का तरीका है सुमिरन

अपने मन की वृत्ति को समेटकर यदि मन, वचन, कर्म से भगवत् स्मरण में लीन हो जाये तो अवश्य ही हरि उसके आधीन हो जाते हैं। स्मरण में शील और सन्तोष है और स्मरण द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है।

राम का प्यारा कौन है

राम को वही प्यारा है जो कनक (रुपया पैसा) और कामिनी (स्त्री) का त्याग कर दे और इनके बन्धन में न पडे। सबसे निर्वैर रहे, और किसी का दिल न दुखावे, सबसे शीतल वाणी बोले, और सबको प्रेमामृत रस पिलाये। या तो मौन रहे या हरिगुण गावे, ससार की भ्रम कथा से दूर रहे, पाँचो इन्द्रियो को वस में रक्खे, और मन को मन के नियन्त्रण में रक्खे। काम, क्रोध और लोभ को खोद-खोद कर हृदय से निकाल दो। चौथे पद (तुर्यावस्था) को जानकर उसमे लीन रहे।

ज्ञानी को कर्म का बन्धन नहीं होता

जिसके हृदय में ज्ञान उदय हो गया, वह कर्म के बन्धन में नही आता।

बाबा मलूक दास (१५७४–१६८२)

इलाहाबाद जिले के कडा गाँव में एक खत्री कुल में मलूकदास का जन्म हुआ था। बचपन से ही उनको साधुओ में बडी श्रद्धा थी और जो कुछ उनको घर में मिल जाता वही साधुओ को देते रहते थे। बडा होने पर अपने आप भी वे एक महान् सन्त और कवि हो गए। वे बहुधा जगन्नाथ जी का दर्शन करने पुरी जाया करते थे, और वही पर उनका देहान्त हुआ। उनका मार्ग भगवान् के प्रति पूर्णतया अपने को सौप देना था। उनके कुछ नैतिक उपदेश ये हैं—

भगवान् को पाने के लिये सब क्रिया कर्म व्यर्थ है

सब क्रियायें, कर्म और आचार भ्रम मात्र हैं, और जगत् में फंसाने वाले हैं।

असली पूजा

प्रेम का पखावज हो, हृदय का एकतारा हो, मन को मगन होकर नचावे। यदि तेरे घर में प्रेम है तो तू व्यर्थ ही उसको कहकर क्यो सुनाता है। अन्तर्यामी ही हमारे अन्दर का भाव स्वयँ जान लेता है।

ईश्वर को प्राप्त करने पर मनुष्य ईश्वर हो जाता है

भगवान को साक्षात् करके मनुष्य स्वयं भगवान् हो जाता है और कोई परदा दोनो के बीच में नही रहता।

बाबा धरनीदास (१५५६)

बिहार राज्य के छपरा जिले के माझी नामक गाँव में एक कायस्थ कुल में इनका जन्म हुआ था। उनका परिवार एक कट्टर वैष्णव परिवार था। उनके पितामह बहुत धार्मिक थे। बड़ा होने पर वे माझी के राजा के दीवान नियुक्त हो गए थे किन्तु तीव्र वैराग्य के कारण उन्होंने नौकरी छोड दी। राजा ने उनको पेन्शन और जागीर देना चाहा पर उन्होंने वह भी नही स्वीकार की। उन्होंने अब अपना सब समय भगवान् के भजन में और लिखने में ही लगाया। वे सदा यही गाया करते थे। "एक धनी धन मेरा हो।" सत्यप्रकाश और प्रेमप्रकाश उनकी दो पुस्तकें बहुत विख्यात हैं। उनकी भाषा बहुत सरस और सरल है। उनके कुछ उपदेश ये हैं—

भगवान् ही मनुष्य का एक मात्र मित्र है

एक अल्लाह ही तेरा दोस्त है और सब बेगाने है। ऊँची-ऊँची बाँग देकर तू व्यर्थ पुकारता है। तेरे दिल का मालिक दूर नही है पर बिना मोहब्बत के दद के वह नही मिलता।

भगवान् सबके साक्षी है

जिससे छिपाकर पाप करता है वह तो घट के भीतर बैठा हुआ देख रहा है।

सबसे बड़ा दाता सद्गुरु है

केवल सद्गुरू ही सबसे अच्छा दाता है जो देने में हार नही मानता।

सबसे उत्तम खेती भक्ति है

सबसे अच्छी खेती भक्ति की है जिसकी पैदावार से मनुष्य निहाल हो जाता है। खरचने और खाने से वह खत्म नही होती और अकाल और दु ख की उसमें भावना नहीं है।

शुभ और अशुभ कर्मों से ही ऊँच-नीच

शुभ कर्म ही पार उतारते हैं। मद्य, माँस के सेवन करने वाले ब्राह्मण से भक्त चमार अच्छा है। माँस खाने वाला पापी ब्राह्मण डूब जाता है शूद्र भी यदि वैष्णव हो तो उसके चरणो को नमस्कार करना चाहिए।

कंचन और कामिनी

कामिनी बिजली जैसी और रुपया फाँसी जैसा है। दोनो से भगवान् की कृपा से ही मनुष्य बच सकता है।

जाने पड़ने लगता है।

गुरु ही केवल मार्ग दिखा सकता है

गुरु की शरण में रहकर उनसे मार्ग जानकर स्वयं साधना करो।

यारी साहब (१६६८–१७२३)

यारी साहब के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं है सिवाय इसके कि वे दिल्ली के एक मुसलमान सन्त थे। वे बावरी साहबा के प्रशिष्य और बीरू साहब के शिष्य थे। उनकी रचना रत्नावली के नाम से प्रसिद्ध है। उनका साधन मार्ग सहज योग और शब्द योग था। उनके कुछ उपदेश ये हैं—

अपने भीतर ही अपने स्वरूप का दर्शन करना चाहिये

अपने भीतर ही अपने स्वरूप का दर्शन करना चाहिये और कहीं चित्त नहीं लगाना चाहिये। भगवान् घर में ही मिलते हैं दूर जाने की जरूरत नहीं।

आत्म स्वरूप का वर्णन कठिन है

आत्म स्वरूप का वर्णन नहीं हो सकता। करोड़ों सूर्यों से भी अधिक उसका प्रकाश है। उसका रूप अगम और अगोचर है। वह बाहर और भीतर सब में व्याप्त है।

आत्मानुभव प्राप्त करने के उपाय

गुरु कृपा साधुओं का संग और बाहर से दृष्टि हटा कर अन्दर की ओर उलट देना ये ही उपाय हैं।

दूलन दास जी (१६६०–१७७८)

ये जगजीवन साहब के शिष्य थे। इनका जन्म लखनऊ जिले के एक समेसी नामक स्थान पर १६६ ई में हुआ था। कोटवा में अपने गुरु के पास बहुत दिन रहकर ये एक दूसरे ग्राम में जाकर रहने लगे थे और अन्त तक वहीं रहे। सदा गृहस्थ ही रहे। इनकी रचनायें अवधि और भोजपुरी में हैं जिनमें बहुत से फारसी के भी शब्द पाये जाते हैं।

उनके कुछ विचार ये हैं—

पारिवारिक सम्बन्ध नदी नाव संयोग है

हम सभी लोग राही हैं और एक नाव पर बैठे हुए हैं। नदी पार उतरने पर सब लोग इधर-उधर हो जाते हैं।

भगवत्प्राप्ति के साधन

भगवान् न योग और तप से मिलते हैं, न मूर्तियों के पूजने से न वे देवताओं के चरण धोने से मिलते न शरीर को तप द्वारा सताने से मिलते हैं। पण्डित लोग पढ़ पढ़कर थक गए। मुल्ला कुरान पढ़ पढ़कर थक गए। जोगी लोग भस्म रमा कर थक गए। जीव मारना छोड़ो। तीर्थों में स्नान करना छोड़ो। केवल भगवान् के नाम का स्मरण करो।

बिना गुरू के ज्ञान नहीं प्राप्त होता

कुछ भी उपाय कर लो, विना गुरू के ज्ञान प्राप्त नही होता। विना गुरू के वताये माला फेरने से जन्म निरर्थक जाता है।

भगवान् अपने पास ही है

यहाँ ढूंढा, वहाँ ढूंढा। पर कही नही मिला। मिला तो अपने ही पास मिला।

साधन

राम नाम की रसायन घोल कर पियो। राम नाम को जो निरन्तर रटते हैं, उनके हृदय में दीप जल जाता है और आत्मानुभव होने लगता है। नीची चितवन ऊँचा मन, और राम नाम की रट, इनसे हृदय का अन्धकार मिट जाता है और परम पद की प्राप्ति होती है।

दरिया साहब (बिहार वाले) (१६७४–१७८०)

एक ही समय में दो सत दरिया साहव के नाम से हो चुके हैं। एक विहार में, और दूसरे मारवाड में। विहार वाले दरिया साहव का जन्म आरा (शाहावाद) जिले के धरकन्धा नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता, जो कि उज्जैन से आये हुए क्षत्रिय थे, एक मुसलमान लडकी के प्रेम और उससे विवाह कर लेने के कारण मुसलमान हो गये थे। दरिया साहव का विवाह एक रसमती नामक कन्या से ९ वर्ष की उम्र में हो गया था। परम वैराग्य के कारण उन्होने १५ वर्ष की आयु में गृहस्थ का त्याग कर दिया था और सहज योग करके २० वर्ष की अवस्था में सिद्धि प्राप्त कर ली थी। ३० वर्ष की अवस्था में वे गुरू वनकर अपने पास आने वालो को शिष्य वनाने लगे थे। कवीर की नाईं वे मूर्त्ति पूजा, अवतार, तीर्थ यात्रा और वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध थे। उन्होने अपना एक सम्प्रदाय चलाया जिसके अनुयायियो के वहुत से रस्म व रिवाज मुसलमानो से मिलते जुलते हैं। उन्होने अपने आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर अनेक रचनायें की। उनकी भाषा हिन्दी थी। वे १०६ वर्ष जिये।

उनके कुछ उपदेश ये हैं—

ससार से विरक्ति

मनुष्य योनि वहुमूल्य है। वह वार-वार नही मिलती, यद्यपि वार-वार जन्म मरण होता रहता है। ससार की धन सम्पत्ति, हाथी घोडे, कोठी, महल और अटारी, माता, पिता, सुत, बन्धु और नारी इन सब को छोड कर मरना है। इनमें से कोई भी जीव के साथ नही जाता। मनुष्य जन्म पाकर भव सागर पार करने का प्रयत्न करना चाहिए क्योकि इसमें दारुण दुःख का अनुभव होता है। मनुष्य को अमरता और आनन्द प्राप्त करना चाहिए और उस पद को प्राप्त कर लेना चाहिये जिस पर पहुँच कर फिर ससार में

सब के भीतर राम है

सब घटों में राम ही विराजमान है। दूसरा यहाँ कोई नहीं देखना चाहिए।

निन्दक की भी प्रशंसा करनी चाहिए

कोई यदि तुम्हारी निन्दा करे तो भी तुम उसकी प्रशंसा करो। फिर इसका परिणाम देखो।

जगजीवन साहब (१६७०–१७६१)

जगजीवन साहब का जन्म उत्तर प्रदेश के बाराबंकी जिले के सरदहा गाँव के एक क्षत्रिय कुल में हुआ था। उनके पिता एक काश्तकार थे। बचपन में वे अपने मवेशियों को चराया करते थे पर जन्म से ही उनको आध्यात्मिक जुस्तजू थी। एक बार जहाँ वे अपने मवेशी चरा रहे थे वहाँ से कुछ साधु जा रहे थे। उनको चिलम पीने के लिये आग की आवश्यकता थी। उन्होंने बच्चे जगजीवन को गाँव से आग लाने को कहा। वह बच्चा घर जाकर केवल आग ही नहीं लाया बल्कि एक बर्तन में साधुओं के लिए दूध भी ले आया लेकिन दूध लाने की आज्ञा अपने पिता से नहीं ली थी। इसलिए उसके मन में इस बात की बड़ी चिन्ता थी कि पिताजी नाराज हो जायेंगे। जब वह घर वापिस आया तो उसने देखा कि घर में दूध उतना ही है जितना कि साधुओं को देने से पूर्व था उसको आश्चर्यजनक आश्चर्य हुआ और वह तुरन्त ही उन साधुओं की तलाश में निकला। कुछ दूर चलने पर वे मिल गए। कहा जाता है कि वे साधु बुल्ला साहब और गोविन्द साहब मशहूर सन्त थे। दर्शन करते वह उनके चरणों पर पड़ गया और उनका शिष्य हो गया। कुछ दिनों पीछे जगजीवन स्वयं एक उच्चकोटि के सन्त हो गए और सतनामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक बन गए। सदा ही गृहस्थ के वेष में रहे। उनके बहुत से अनुयायी और शिष्य बन गए। उनकी प्रतिष्ठा और ख्याति की ईर्ष्या गाँव वाले करने लगे। इसलिए उन्होंने अपने गाँव सरदहा को छोड़ दिया और उसी जिले (बाराबंकी) के कोटवा गाँव में जाकर रहने लगे। वहीं पर उनका देहान्त हुआ। उनकी बहुत सी रचनाएँ हैं। जगजीवन साहब की नैतिक शिक्षा यह है—

एक दिन यहाँ से सब कुछ छोड़ कर जाना है

जो पैदा होता है वह सब नष्ट होने वाला है। एक दिन सब को यहाँ से जाना है। सब चर और अचर, सूरज और चाँद आदि नष्ट होने वाले हैं। सिद्ध साधु मुनि गन्धर्व सब मिट्टी में मिल जाते हैं। ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर भी नाश होने वाले हैं, मनुष्य बेचारी का तो कहना ही क्या है। रानी और राजा भी एक दिन रथ घोड़े पालकी और सब समाज छोड़ कर यहाँ से चले जायेंगे।

तीर्थ व्रत आदि उपाय कुछ मदद नहीं करते

तीर्थ और व्रत की आशा तज कर सतनाम का जप करना चाहिए और गगन मण्डल का तमाशा देखना चाहिए। तीनो लोक माया के लोक हैं। चौथे लोक में आश को त्याग कर वास करिये।

साधना का मार्ग

एकान्त वास, तत्व का ध्यान, राग और नृत्य का त्याग, ससार की कथा चर्चा को न पढना न सुनना, बहुत न बोलना, अहकार और गुमान का त्याग, अपने भीतर ही अपने मन को मार कर शीतल और दीन रखना, भगवन्नाम का जप। न तीर्थ स्नान करे और न मूर्ति पूजे और इनमे कोई आशा न करे, ये सब भ्रम हैं। केवल गुरु की शरण में जावे। सत्सग को छोडकर और कही न जावे और सब कुछ छोडकर केवल गुरू की शरण में जाओ। प्रात काल स्नान करने से क्या होगा, कोई आचार पालन करने से क्या होगा, कठी माला पहनने से क्या होगा और तिलक लगाने से क्या होगा ? अन्न त्याग कर और केवल दू ध पीकर व्रत करने मे ही क्या होगा ? पच अग्नि तपाने से क्या होगा ? भस्म लगाने से क्या होगा ? धूनी रमाने से क्या ? मौन धारण करने से क्या होगा ? नमक त्यागने से क्या ? खडे या बैठे तप करने से क्या ? पढने और बकने और ज्ञान प्राप्त करने से क्या ? घर त्यागने और वन जाने से क्या मिलेगा ? सब ससार भूल में पडा हुआ है। जिसको ढूंढता है वह तो मन के गगन मडल में रहता है। उसके पाने के लिये अजपा जप ही एकमात्र उपाय है। विना प्रेम के सब साधन व्यर्थ हैं।

शब्द साधन

हृदय में शब्द बाण मारकर उसका छेदन करो और वही पर गगन मण्डल (शून्य अवस्था) में भगवान् के दर्शन करो।

नाम जप

नाम ही एक आधार है। नाम की नाव पर चढकर ही पार उतरा जा सकता है। अजपा जप करना चाहिए।

अपने भीतर ही रमे रहना

अपना शरीर ही सुहावना नगर है, इसके भीतर ही रमते रहने से सुख होता है।

अपना उद्धारक अपने आप बनना चाहिये

कोई भी सगी साथी मदद नही कर सकता। कोई दूसरा हमारा उद्धार नही कर सकता। औरो से आशा रखना व्यर्थ है। जो करना हो अपने आप करना चाहिए। अपने आप ही अपने भीतर प्रवेश करना चाहिए। अपने में समाने पर जगत् स्वप्न तुल्य

जाने पहने लगता है।

गुरु ही केवल मार्ग दिखा सकता है

गुरु की शरण में रहकर उनसे मार्ग जानकर स्वयं साधना करो।

यारी साहब (१६६८–१७२३)

यारी साहब के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं है सिवाय इसके कि वे दिल्ली के एक मुसलमान सन्त थे। वे बावरी साहबा के प्रशिष्य और बीरु साहब के शिष्य थे। उनकी रचना रत्नावली के नाम से प्रसिद्ध है। उनका साधन मार्ग सहज योग और शब्द योग था। उनके कुछ उपदेश ये हैं—

अपने भीतर ही अपने स्वरूप का दर्शन करना चाहिये

अपने भीतर ही अपने स्वरूप का दर्शन करना चाहिये और कहीं चित्त नहीं लगाना चाहिये। भगवान् घर में ही मिलते हैं दूर जाने की जरूरत नहीं।

आत्म स्वरूप का वर्णन कठिन है

आत्म स्वरूप का वर्णन नहीं हो सकता। करोड़ों सूर्यों से भी अधिक उसका प्रकाश है। उसका रूप अगम और अगोचर है। वह बाहर और भीतर सब में व्याप्त है।

आत्मानुभव प्राप्त करने के उपाय

गुरु कृपा साधुओं का संग और बाहर से दृष्टि हटा कर अन्दर की ओर लगा देना ये ही उपाय हैं।

दूलन दास जी (१६६०–१७७८)

वे जगजीवन साहब के शिष्य थे। उनका जन्म लखनऊ जिले के एक समेसी नामक स्थान पर १६६० ई० में हुआ था। कोटवा में अपने गुरु के पास बहुत दिन रहकर वे एक दूसरे ग्राम में जाकर रहने लगे थे और अन्त तक वहीं रहे। सदा गृहस्थ ही रहे। उनकी रचनायें अवधि और भोजपुरी में हैं जिनमें बहुत से फारसी के भी शब्द पाये जाते हैं।

उनके कुछ विचार ये हैं—

पारिवारिक सम्बन्ध नदी नाव संयोग है

हम सभी लोग राही हैं और एक नाव पर बैठे हुए हैं। नदी पार उतरने पर सब लोग इधर-उधर हो जाते हैं।

भगवत्प्राप्ति के अनुपाय

भगवान् न योग और जप से मिलते हैं, न मूर्तियों के पूजने से न वे देवताओं के चरण धोने से मिलते, न शरीर को तप द्वारा थकाने से मिलते हैं। पंडित लोग पढ़ पढ़कर थक गए। मुल्ला कुरान पढ़ पढ़कर थक गए। योगी लोग भस्म रमा कर थक गए। लोभ मान सब छोड़ो। तीर्थों में स्नान करना छोड़ो। केवल भगवान् के नाम का स्मरण करो।

बिना गुरू के ज्ञान नहीं प्राप्त होता

कुछ भी उपाय कर लो, बिना गुरू के ज्ञान प्राप्त नही होता। बिना गुरू के बताये माला फेरने से जन्म निरर्थक जाता है।

भगवान् अपने पास ही है

यहाँ ढूंढा, वहाँ ढूंढा। पर कही नही मिला। मिला तो अपने ही पास मिला।

साधन

राम नाम की रसायन घोल कर पियो। राम नाम को जो निरन्तर रटते हैं, उनके हृदय में दीप जल जाता है और आत्मानुभव होने लगता है। नीची चितवन ऊँचा मन, और राम नाम की रट, इनसे हृदय का अन्धकार मिट जाता है और परम पद की प्राप्ति होती है।

दरिया साहब (विहोर वाले) (१६७४–१७८०)

एक ही समय में दो संत दरिया साहब के नाम से हो चुके हैं। एक विहार में, और दूसरे मारवाड में। विहार वाले दरिया साहब का जन्म आरा (शाहाबाद) जिले के धरकन्धा नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता, जो कि उज्जैन से आये हुए क्षत्रिय थे, एक मुसलमान लडकी के प्रेम और उससे विवाह कर लेने के कारण मुसलमान हो गये थे। दरिया साहब का विवाह एक रसमती नामक कन्या से ९ वर्ष की उम्र में हो गया था। परम वैराग्य के कारण उन्होंने १५ वर्ष की आयु में गृहस्थ का त्याग कर दिया था और सहज योग करके २० वर्ष की अवस्था मे सिद्धि प्राप्त कर ली थी। ३० वर्ष की अवस्था में वे गुरू वनकर अपने पास आने वालो को शिष्य वनाने लगे थे। कवीर की नाईं वे मूर्त्ति पूजा, अवतार, तीर्थ यात्रा और वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध थे। उन्होंने अपना एक सम्प्रदाय चलाया जिसके अनुयायियो के बहुत से रस्म व रिवाज मुसलमानो से मिलते जुलते हैं। उन्होंने अपने आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर अनेक रचनायें की। उनकी भाषा हिन्दी थी। वे १०६ वर्ष जिये।

उनके कुछ उपदेश ये हैं—

ससार से विरक्ति

मनुष्य योनि बहुमूल्य है। वह वार-वार नही मिलती, यद्यपि वार-वार जन्म मरण होता रहता है। ससार की धन सम्पत्ति, हाथी घोडे, कोठी, महल और अटारी, माता, पिता, सुत, बन्धु और नारी इन सब को छोड कर मरना है। इनमें से कोई भी जीव के साथ नही जाता। मनुष्य जन्म पाकर भव सागर पार करने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि इसमें दारुण दुःख का अनुभव होता है। मनुष्य को अमरता और आनन्द प्राप्त करना चाहिए और उस पद को प्राप्त कर लेना चाहिये जिस पर पहुँच कर फिर ससार में

जाना नहीं होता।

भगवान् सब में है और सब भगवान् में है

'तुम सब में हो और सब तुम में हैं' यह बात सन्त लोग ही जानते हैं।

परमात्मा को प्राप्त करने के अनुपाय और उपाय

परमात्मा सब के पास ही है। लोग उसकी तलाश में वृथा ही इधर उधर भटकते फिरते हैं। कोई तीर्थ करते हैं कोई व्रत करते हैं। उसको पाने के लिए न तो तिलक की जरूरत है न जनेऊ की और न माला की और न वर्ण व्यवस्था के पालन करने की। मन के भीतर यदि मैल भरा हुआ है शरीर को धोने से क्या लाभ होता है। उसको प्राप्त करने के लिए तिलक, छाप और वस्त्र आदि बाह्य चिह्नों को धारण करने की आवश्यकता नहीं है। वेद आदि पुस्तकों को पढ़ने की आवश्यकता नहीं है।

भगवान् तो अपने भीतर ही है उसके बिना गुरु की बताई हुई युक्ति के कोई नहीं पा सकता। साधु संगति भजन और प्रेम नाम-जप उसको पाने में बहुत सहायता देते हैं। तत्त्व चिन्तन का तिलक सतनाम की छाप और ज्ञान के वस्त्र की आवश्यकता है। बाहर के देवता और पत्थर की मूर्तियों को पूजने और उनपर फूल पत्ती चढ़ाने के बजाय आत्म देव की पूजा करनी चाहिये। जो सगुण की बाह्य उपासना करते हैं वे आत्मघाती हैं। वे निर्गुण आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकते जो सब देवताओं (गणपति कमपति और ब्रह्मा आदि) से ऊपर, और सब लोकों (पृथ्वी स्वर्ग और पाताल) से परे है। उसका दर्शन केवल सद्गुरु की बताई हुई युक्ति से ही होता है। परमात्मा की पूजा का आधार निर्मल मन द्वारा नाम जपना है।

सन्त का कोई बाहरी चिन्ह नहीं होता

माला टोपी तिलक वेष भूषा, सन्तों की नहीं होती। उनका तो चिह्न केवल भगवान् के प्रति प्रेम मात्र है।

हिन्दू मुसलमान एक से हैं

हिन्दू और तुर्क में कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही अन्न पानी से जीवित रहते हैं। एक हिरनी खाता है तो दूसरा भी खाता है। दोनों में एकसा ही खून है। दोनों ही वाद विवाद व भ्रम जाल में फंसे हुए हैं।

सच्चा ब्राह्मण

ब्राह्मण तो वही है जो ब्रह्म को जानता है और उसके ध्यान में लीन रहता है, जिसके दिल में मोह मोह और तृष्णा नहीं होती।

मारवाड़ वाले दरिया साहब (१६७६–१७५८)

मारवाड़ वाले दरिया साहब का जन्म एक मुसलमान धुने के घर हुआ था। उनके

पिता का उनको ७ वर्ष की अवस्था मे देहान्त हो गया था। उनके नाना द्वारा उनका पालन-पोषण हुआ था। एक दादू पन्थी हिन्दू साधु, प्रेमजी के वे शिष्य थे। वे बीकानेर के किसी गाँव में रहा करते थे और शब्द योग का अभ्यास किया करते थे। उनकी शिक्षा यह थी—

बिना राम को पाये सुख नहीं प्राप्त होता

जिसने राम को पाया नही और जो राम के ध्यान में नही रहता उसका जन्म वृथा है। उसका जीव सुख दुःख के चाकर में रहता है और चौरासी लाख योनियो मे वह भ्रमण करता है। जिसने राम का ध्यान नही किया उसका जीवन पशुओ के जीवन जैसा है। हरि बिन जीवन दुःखी है और राम के साथ जीवन सुखी होता है।

राम (आत्मा) को प्राप्त करने के उपाय

सद्गुरु के द्वारा शब्द योग को जान कर उसका अभ्यास करना, राम नाम का निरन्तर स्मरण, अनहद वाणी का निरन्तर श्रवण, ब्रह्म (आत्मा) मे सुरत (चित्त-वृत्ति) को निरन्तर लगाये रखना, आदि।

आत्म प्राप्ति के अनुपाय

जप, तप, संयम और सदाचार, तीर्थयात्रा, दान, वर्णाश्रम व्यवस्था, षड्दर्शन, विचार, वाद-विवाद आदि सब व्यर्थ हैं, स्वप्न तुल्य मिथ्या है।

आत्म स्वरूप का संकेत

उस आत्म देश का सन्त लोग नाना प्रकार से संकेत करते हैं। कोई कहते है कि उसमें अमृत की वर्षा होती हैं। कोई कहते हैं उसमें सुन्दर कमल खिले रहते हैं। वहाँ पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि सूरज, चन्द्रमा नही है। न रात और दिन वहाँ है। पाप, पुण्य, सुख दुःख का अनुभव नही, काल और कर्म का राज्य नही। आँखो से वहाँ नही देखा जाता, कानो से सुना नहीं जाता। मन और बुद्धि की वहाँ पहुँच नही है। उसका वर्णन कैसे हो सकता है।

आत्मानुभव

"हमारी जाति ब्रह्म है। हमारे पिता राम हैं, हमारा घर शून्य में है, और अनहद में हम विश्राम करते है। हम मतवादी नही हैं। तत्ववादी हैं। संशय, मोह और भ्रम की रात समाप्त हो गई। प्रकाश का अनुभव हो गया। सब शत्रु मित्र हो गए, और राम राज्य स्थापित हो गया।

निर्गुण उपासना कड़ुवी पर गुणकारी है

मीठा खाने से रोग उत्पन्न होते हैं, पर सब लोग मीठा ही पसन्द करते हैं। निर्गुण उपासना नीम की नाईं कड़ुवी है पर परम गुणकारी है।

साधु के लक्षण

चाहे वह गृहस्थी है या सन्यासी साधु निष्कपट और निर्पक्ष होता है। उसका भीतर और बाहर एक सा होता है।

चरणदास जी (१७०३–१७८२)

राजस्थान के मेवात जिले के डेहरा नामक गाँव में एक बनिये के कुल में चरणदास जी का जन्म हुआ था। ७ वर्ष की आयु में ही आप घर छोड़कर भगवान् की तलाश में निकल पड़े थे। रास्ते में कहीं उनको उनके माता मिल गए। वे उनको पकड़ कर दिल्ली अपने घर पर ले आये। १२ वर्ष तक वे अपने माता के पास दिल्ली में रहे। १९ वर्ष की अवस्था में वे फिर भगवान् की तलाश में घर छोड़ कर जंगलों में चले गए। वहाँ वे अकेले बैठ कर भगवान् के विरह में रोया करते थे। उनको देखकर उस रास्ते से चले जाते हुए शुकताल (मुजफ्फरनगर) के एक साधु को उनके ऊपर दया आ गई और उसने उनको शब्द योग के अभ्यास करने का तरीका बतलाया। उसके अभ्यास से उनको सिद्धि प्राप्त हो गई। सिद्ध होकर वे दिल्ली लौट आये और वहाँ रहकर उन्होंने १४ वर्ष तक लोगों को शब्द योग सिखाया और सत्संग कराया। उन्होंने बहुत यात्रा की और बहुधा वे वृन्दावन जाया करते थे। यद्यपि वे निर्गुण पन्थी सन्त थे तो भी वे कृष्ण के भक्त थे। उनके कुछ नैतिक विचार ये हैं—

वैराग्य

क्षण-क्षण में शरीर बदलता है और क्षण-क्षण में आयु घटती रहती है। कितने ही देवी देवता मनाओ मौत से नहीं बचा जाता। जिसको मनुष्य अपना समझता है वे दुःख के समय पास नहीं आते। कोई सिसकता है कोई नाक चढ़ाता है और कोई पानी को नहीं देता। कुटुम्ब वालों का यह हाल देखकर मनुष्य को उनसे राग नहीं होना चाहिये। मनुष्य मुट्ठी बाँधकर जन्म लेता और खाली हाथ पसार कर यहाँ से चला जाता है। कोई भी साथ नहीं जाता।

सब दुःखों के दूर करने वाला अपने भीतर ही बसता है

चेतन रूप ईश्वर अपने भीतर ही रहता है वही सब भ्रम और दुःख मिटा सकता है। यदि थोड़ा सा प्रयत्न करके मनुष्य उसको ढूँढ ले तो अपने ही भीतर उसको पा लेता है।

आत्म प्राप्ति के दो साधन

गुरु का ध्यान और भगवान् के नाम का जप इनके भीतर ही सब योग यज्ञ तप दान अथवा भक्ति नियम और ज्ञान का समावेश हो जाता है। इन दो को छोड़कर और सब साधन ऐसे हैं जैसे नमक के बिना भोजन जिस धर्म में ये दो नहीं हैं उसको थोथा धर्म

जानना चाहिये।

व्यर्थ बकवाद की जगह अभ्यास करना चाहिये

कथनी जो थोथी है उसको त्यागो और रहनी और करनी का अभ्यास करो। बिना करनी के जो कथनी में ही रहते हैं वे पागल और बकवादी होते हैं।

असली ब्राह्मण

ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म को जाने, बाह्य दृष्टि का त्याग करके अन्तर्दृष्टि हो पाँचो इन्द्रियो का नियन्त्रण करे। झूठ न बोले, हृदय में दया रक्खे, आत्म-विद्या पढ़े और पढ़ावे परमात्मा के ध्यान में रहे, काम, क्रोध, मद और लोभ से रहित हो।

सच्चा फकीर (साधु)

सच्चा साधु वह है जिसके दिल में भगवान् का प्रेम हो और कुछ न चाहता हो। राजा और रंक को समान समझता हो, किसी से कुछ आशा न रखे, आठो पहर अपने में ही सिमटा रहे। किसी के प्रति वैर और प्रीति हृदय में न हो। किसी से वाद विवाद न करता हो, सदा अनहद नाद सुनता हो, या तो बोलता ही नही या केवल हरि कथा ही कहता हो, मिथ्या और कड़वा दुर्वचन कभी नही बोलता हो, जीवों पर दया और शील से सराबोर भरपूर हो, पाँचों इन्द्रियों को वश में रखता हो, मन के वश में नही हो, दुःख सुख दोनो से परे रहे और आनन्द से परिपूर्ण हो, जहाँ जावे वही स्थिर आसन से बैठे, माया रूपी पवन से झकोर न खावे ऐसे हरिजन (भगवान् के भक्त) भगवान् के प्यारे होते हैं।

मोक्ष के साधन

दया, नम्रता, दीनता, क्षमा, शील, सन्तोष, इनके साथ साथ यदि भगवान् का स्मरण करता रहे तो अवश्य ही मोक्ष पाता है। जो सांसारिक कार्यों के कारण जागता है वह ख्वार होता है। इन्द्रियो को बाहर से रोक कर मन में स्थिर करे, मन को बुद्धि में लीन करे और बुद्धि को हरि के ध्यान में लावे और उसी में लीन हो जावे। मोह बहुत दुःख देने वाला है उसको मार कर भगाना चाहिये। जगत् की प्रीति छोड कर वासना रहित हो जाना चाहिये। जगत् मे जल में कमल के समान रहना चाहिये, दाँतो के बीच में जिह्वा की नाईं रहना चाहिये। बिना नाम जप के तपस्या, योग, यज्ञ, आदि साधन फीके हैं। जो जीव रात्रि के पिछले पहर में जाग कर भगवान् मे चित्त लगा कर भजन करता है अवश्य ही वह मुक्त हो जाता है। रात्री के पहिले पहर मे तो सबही जागते हैं, दूसरे पहर में भोगी जागते हैं, तीसरे पहर में चोर जागते हैं और चौथे पहर में योगी। जब सब लोगों की रात होती है तब योगी लोग जागते हैं। जो हरिभक्त मे जागता है वह भव-सागर से पार हो जाता है। जहाँ चिन्ता होती है वहाँ ध्यान नही होता। जहाँ आशा होती है वहाँ परमार्थ की भावना नही होती। अभिमान नरक का मूल है और दीनता भक्ति की

मूल है। जब दिल मे प्रेम होता है तो मन स्थिर हो जाता है। प्रेम का प्याला वही पी सकता है जो अपने को मिटाने को तैयार रहे। जो तन और मन को भूल जाता है वही ध्यान लगा सकता है और वही हरि के पास पहुँचता है।

सहजोबाई (१६८३-१७६२)

महात्मा चरनदास के शिष्यों में स्त्रियाँ भी थी। उनमें से सहजोबाई बहुत उच्च कोटि की सन्त थी। उनका जन्म भी चरनदास जी के गाँव डेहरा जिला मेवात राजस्थान में वणिक कुल में हुआ था। वे सदा कुमारी (ब्रह्मचारिणी) ही रही और सदा अपने गुरु चरण दास जी की दिल्ली मे सेवा किया करती थी। उनके नैतिक विचार ये है—

गुरु की महिमा

गुरु हरि के समान है। हरि को भले ही त्याग दिया जाय गुरु को नहीं त्यागना चाहिए। गुरु ही सब भ्रमों के मिटाने वाले है। गुरु से कुछ नही छिपाना और गुरु से किसी प्रकार भी दुराव नही करना। परमेश्वर से भी गुरु बड़े है। गुरु ही जगत् की व्यथा से निकाल कर निर्वाण पद प्राप्त कराता है।

साधु के लक्षण

साधु वह है जो निर्द्वन्द्व निर्वैर, कामना रहित सन्तोषी निर्मल आशा रहित सदा ज्ञान मे रत ध्यान मे मग्न मान और बड़ाई की इच्छा न रखने वाला बोले तो हरि कथा कहे सोवे तो मग्न समाधि में पहुँच जावे जपे तो हरिनाम जपे निष्काम ईश्वर भक्त कनक और कामिनी को त्यागे मन मे किसी प्रकार का खेद न आने दे सदा प्रेम मे पगा रहे। अपने स्वरूप में रत रहे राव रंक में भेद न करे और समदर्शी हो असाधुओं के संग का त्याग करे आत्मा का ही संग करे योगरूपी आनन्द में मग्न रहे।

सच्चा सुख किसमें है

न तो धन सुत महल में सुख है और न राजा बनने में। तृष्णा रूपी रोग के शान्त होने पर ही सुख होता है।

सब कुछ ब्रह्म ही है

ब्रह्म के सम्बन्ध में है और नहीं दोनों नहीं कहे जा सकते। वह निराकार है पर सब आकार उसी के है। निर्गुण है पर सब गुण उसी के है। उसका कोई नाम नहीं पर सब नाम उसी के है उसका कोई रूप नही पर सब रूप उसी के है। वह प्रगट भी है और गुप्त भी है भक्तों के उद्धार के लिए वे निर्गुण से सगुण हो जाता है।

साधन

आलस्य और वादविवाद को छोड़ कर शरीर पर नियन्त्रण करे, चिन्ता स्तुति और निन्दा का त्याग करके आत्मा का अनुसन्धान करे क्षमा दया धीरज को धारण करे,

पाँचो इन्द्रियो को वश मे करके मन को मारे। झूठ का त्याग करके मदा सत्य बोले, चित्त को स्थिर करके इधर उधर न जाने दे, शरीर के जगत् में रहते हुए भी मन हरि में रहे, ससार के भोग विलास की तरफ से उदासीन रहे। हर हालत मे नख शिख शीतल रहे, निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करे और उसी को जानने का प्रयत्न करे, मीठे वचन बोले, सब में एकता और समता का भाव रक्खे। ज्ञान दृष्टि मे अपने भीतर देखे, सुरत को आत्मा में लगावे, पाँचो इन्द्रियो को मार कर मन को वश मे रक्खे, सन्तोष का दृढता से अभ्यास करे, अनहद नाद को सुने, पाप का त्याग और धर्म को ग्रहण करे, किसी से द्वेष न करे। होठो को बन्द करके हृदय के दुराव को त्याग कर हरि का स्मरण करे।

दयाबाई (१६९३–१७७३)

चरणदास की दूसरी विख्यात स्त्री शिष्या दयाबाई थी, उसका जन्म भी उसी गाँव के वैश्य कुल में हुआ था। वे भी सदा कुमारी और ब्रह्मचारिणी ही रही और अपने गुरू की सेवा करती रहो। उनकी वाणी बहुत उच्चकोटि की है। उनके नैतिक विचार भी सहजोबाई के जैसे ही हैं। एक दो बाते उनकी वाणी से यहाँ कही जाना अनुपयुक्त न होगा—

हरिभजन का फल

हरि (भगवान्) को भजते भजते आदमी हरि ही हो जाता है।

नैतिक गुण

दया, दान, और दीनता सर्वोत्कृष्ट नैतिक गुण हैं।

गुरू को भगवान का रूप मानना चाहिए

सद्गुरु ब्रह्मस्वरूप हैं, मनुष्य नहीं हैं। जो गुरू को भौतिक देह मात्र मानते हैं वे पशु के समान हैं।

पलटू साहब (ईसवी सन् की १८वी शताब्दी के अन्त मे)

पलटूसाहब का जन्म जलालपुर जिला फैजाबाद में हुआ था। जाति के ये बनिये थे।

पलटूसाहब की नैतिक शिक्षा—

सन्तों का जीवन

सन्तो का जन्म पर-उपकार के लिये ही होता है। वे जगत् को सन्मार्ग दिखाते हैं। वे भक्ति और ज्ञान का उपदेश देते हैं और नाम की महिमा बतलाते हैं। मनुष्यो मे आपस में प्रीति बढाते हैं। उनको कितने ही कठोर वचन कहो वे मीठी ही वाणी बोलते हैं। यद्यपि उनको अपने लिए कुछ नही चाहिए तो भी दूसरो के लिये बहुत दुःख सहते हैं।

मूल है। जब दिल में प्रेम होता है तो मन स्थिर हो जाता है। प्रेम का प्याला वही पी सकता है जो अपने को मिटाने को तैयार रहे। जो तन और मन को भूल जाता है वही ध्यान लगा सकता है और वही हरि के पास पहुँचता है।

सहजोबाई (१६८३-१७६३)

महात्मा चरणदास के शिष्यों में स्त्रियाँ भी थीं। उनमें से सहजोबाई बहुत उच्च कोटि की सन्त थी। उनका जन्म भी चरणदास जी के गाँव डेहरा जिला मेवात राजस्थान में बनिये कुल में हुआ था। वे सदा कुमारी (ब्रह्मचारिणी) ही रहीं और सदा अपने गुरु चरण दास जी की दिल्ली में सेवा किया करती थीं। उनके नैतिक विचार ये हैं—

गुरु की महिमा

गुरु हरि के समान है। हरि को भले ही त्याग दिया जाये गुरु को नहीं त्यागना चाहिये। गुरु ही सब भ्रमों के मिटाने वाले हैं। गुरु से कुछ नहीं छिपाना और गुरु से किसी प्रकार भी दुराव नहीं करना। परमेश्वर से भी गुरु बड़े हैं। गुरु ही जगत् की व्यथा से निकाल कर निर्वाण पद प्राप्त कराता है।

साधु के लक्षण

साधु वह है जो निर्द्वन्द्व निर्वैर कामना रहित सन्तोषी निर्मल आशा रहित, सदा ज्ञान में रत ध्यान में मग्न मान और बड़ाई की इच्छा न रखने वाला बोले तो हरि कथा कहे, सोवे तो शून्य समाधि में पहुँच जाये जपे तो हरिनाम जपे निष्काम, ईश्वर भक्त कनक और कामिनी को त्यागे मन में किसी प्रकार का खेद न आने दे सदा प्रेम में पगा रहे। अपने स्वरूप में रत रहे राव रंक में भेद न करे और समदर्शी हो असाधुओं के संग का त्याग करे, आत्मा का ही संग करे, ब्रह्मरूपी आनन्द में मग्न रहे।

सच्चा सुख किसमें है

न तो धन सुत महल में सुख है और न राजा बनने में। तृष्णा रूपी रोग के शान्त होने पर ही सुख होता है।

सब कुछ ब्रह्म ही है

ब्रह्म के सम्बन्ध में है और "नहीं" दोनों नहीं कहे जा सकते। वह निराकार है पर सब आकार उसी के हैं। निर्गुण है पर सब गुण उसी के हैं। उसका कोई नाम नहीं पर सब नाम उसी के हैं उसका कोई रूप नहीं पर सब उसी के हैं। वह प्रगट भी है और गुप्त भी है भक्तों के उद्धार के लिए वे निर्गुण से सगुण हो जाता है।

साधन

आलस्य और वादविवाद को छोड़ कर शरीर पर नियंत्रण करे, निन्दा स्तुति और निन्दा का त्याग करके धारणा का अभ्यास करे, क्षमा दया और धीरज को धारण करे,

पाँचों इन्द्रियों को वश में करके मन को मारे। झूठ का त्याग करके सदा सत्य बोले, चित्त को स्थिर रखे इधर उधर न जाने दे, शरीर से जगत् में रहते हुए भी मन हरि में रहे, संसार के भोग विलास की तरफ से उदासीन रहे। हर हालत में सब दिन शीतल रहे, निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करे और उसी को जानने का प्रयत्न करे, मीठे वचन बोले, सब में एकता और समता का भाव रखे। ज्ञान दृष्टि से अपने भीतर देखे, सुरत को आत्मा में लगावे, पाँचों इन्द्रियों का मार कर मन को वश में रखे, सन्तोष का दृढ़ता से अभ्यास करे, अनहद नाद को सुने, पाप का त्याग और धर्म को ग्रहण करे, किसी से द्वेष न करे। होठों को बन्द करके हृदय से दुराव को त्याग कर हरि का स्मरण करे।

दयाबाई (१६९३–१७७३)

चरणदास की दूसरी विख्यात स्त्री शिष्या दयाबाई थी, उसका जन्म भी उसी गाँव के वैश्य कुल में हुआ था। ये भी सदा कुमारी और ब्रह्मचारिणी ही रहीं और अपने गुरू की सेवा करती रहीं। उनकी वाणी बहुत उच्चकोटि की है। उनके नैतिक विचार भी सहजोबाई के जैसे ही हैं। एक दो बातें उनकी वाणी से यहाँ कही जाना अनुपयुक्त न होगा—

हरिभजन का फल

हरि (भगवान्) को भजते भजते आदमी हरि ही हो जाता है।

नैतिक गुण

दया, दान, और दीनता सर्वोत्कृष्ट नैतिक गुण हैं।

गुरू को भगवान का रूप मानना चाहिए

सद्गुरु ब्रह्मस्वरूप है, मनुष्य नहीं हैं। जो गुरू को भौतिक देह मात्र मानते हैं वे पशु के समान हैं।

पलटू साहब (ईसवी सन् की १८वी शताब्दी के अन्त मे)

पलटूसाहब का जन्म जलालपुर जिला फैजाबाद में हुआ था। जाति के ये बनिये थे।

पलटूसाहब की नैतिक शिक्षा—

सन्तों का जीवन

सन्तो का जन्म पर-उपकार के लिये ही होता है। वे जगत् को सन्मार्ग दिखाते हैं। वे भक्ति और ज्ञान का उपदेश देते हैं और नाम की महिमा बतलाते हैं। मनुष्यो में आपस में प्रीति बढाते हैं। उनको कितने ही कठोर वचन कहो वे मीठी ही वाणी बोलते है। यद्यपि उनको अपने लिए कुछ नही चाहिए तो भी दूसरो के लिये बहुत दुःख सहते हैं।

मूल है। जब चित्त में प्रेम होता है तो मन स्थिर हो जाता है। प्रेम का प्याला वही पी सकता है जो अपने को मिटाने को तैयार रहे। जो तन और मन को भूल जाता है वही *ध्यान लगा सकता है और वही हरि के पास पहुँचता है।*

सहजोबाई (१६८३-१७६३)

महात्मा चरणदास के शिष्यों में स्त्रियाँ भी थीं। उनमें से सहजोबाई बहुत उच्च कोटि की सन्त थीं। उनका जन्म भी चरणदास जी के गाँव डेहरा जिला मेवात राजस्थान में वनिक कुल में हुआ था। वे सदा कुमारी (ब्रह्मचारिणी) ही रहीं और सदा अपने गुरु चरण दास जी की दिल्ली में सेवा किया करती थीं। उनके नैतिक विचार ये हैं—

गुरु की महिमा

गुरु हरि के समान है। हरि को भले ही त्याग दिया जाय गुरु को नहीं त्यागना चाहिए। गुरु ही सब भ्रमों के मिटाने वाले हैं। गुरु से कुछ नहीं छिपाना और गुरु से किसी प्रकार का दुराव नहीं करना। परमेश्वर से भी गुरु बड़े हैं। गुरु ही जगत् की व्यथा से निकाल कर निर्वाण पद प्राप्त कराता है।

साधु के लक्षण

साधु वह है जो निर्द्वन्द्व निर्वैर, कामना रहित सन्तोषी निर्मल आशा रहित सदा नाम में रत, ध्यान में मग्न मान और बड़ाई की इच्छा न रखने वाला बोले तो हरि कथा कहे मौन हो तो शून्य समाधि में पहुँच जावे जपे तो हरिनाम जपे निष्काम ईश्वर मग्न कनक और कामिनी को त्याग मन में किसी प्रकार का मद न आने दे, सदा मन में पग रहे। अपने स्वरूप में रत रहे राव रंक में भेद न करे और समदर्शी हो मतानुओं के मत का त्याग करे आत्मा का ही संग करे, [illegible] आनन्द में मग्न रहे।

सच्चा सुख किसमें है

न तो राजा सुख महल में सुख है और न राजा बनने में। तृष्णा रूपी रोग के शान्त होने पर ही सुख होता है।

सब कुछ ब्रह्म ही है

ब्रह्म के सम्बन्ध में "है" और "नहीं" दोनों नहीं कहे जा सकते। वह निराकार है पर सब आकार उसी के हैं। निर्गुण है पर सब गुण उसी के हैं। उसका कोई नाम नहीं पर सब नाम उसी के हैं उसका कोई रूप नहीं पर सब उसी के हैं। वह अपार भी है और पार भी है भक्तों के उद्धार के लिए वे निर्गुण से सगुण हो जाता है।

साधन

आलस्य और वादविवाद को छोड़ कर शरीर पर नियंत्रण करे, विकलता स्तुति और निन्दा का त्याग करके धारणा का अभ्यास करे क्षमा दया धीरज को धारण करे,

पाँचो इन्द्रियो को वश में करके मन को मारे। झूठ का त्याग करके सदा सत्य बोले, चित्त को स्थिर करके इधर उधर न जाने दे, शरीर के जगत् मे रहते हुए भी मन हरि में रहे, ससार के भोग विलास की तरफ से उदासीन रहे। हर हालत मे नम्र शिष्य शीतल रहे, निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करे और उसी को जानने का प्रयत्न करे, मीठे वचन बोले, सब में एकता और ममता का भाव रक्खे। ज्ञान दृष्टि से अपने भीतर देखे, सुरत को आत्मा में लगावे, पाँचो इन्द्रियों को मार कर मन को वश मे रक्खे, सन्तोष का दृढता से अभ्यास करे, अनहद नाद को सुने, पाप का त्याग और धर्म को ग्रहण करे, किसी से द्वेष न करे। होठों को बन्द करके हृदय के दुराव को त्याग कर हरि का स्मरण करे।

दयाबाई (१६९३-१७७३)

चरणदास की दूसरी विख्यात स्त्री शिष्या दयाबाई थी, उसका जन्म भी उसी गाँव के वैश्य कुल में हुआ था। वे भी सदा कुमारी और ब्रह्मचारिणी ही रही और अपने गुरू की सेवा करती रही। उनकी वाणी बहुत उच्चकोटि की है। उनके नैतिक विचार भी सहजोबाई के जसे ही हैं। एक दो बातें उनकी वाणी से यहां कही जाना अनुपयुक्त न होगा—

हरिभजन का फल

हरि (भगवान्) को भजते भजते आदमी हरि ही हो जाता है।

नैतिक गुण

दया, दान, और दीनता सर्वोत्कृष्ट नैतिक गुण हैं।

गुरू को भगवान का रूप मानना चाहिए

सद्‌गुरु ब्रह्मस्वरूप हैं, मनुष्य नही हैं। जो गुरू को भौतिक देह मात्र मानते हैं वे पशु के समान हैं।

पलटू साहब (ईसवी सन् की १८वी शताब्दी के अन्त में)

पलटूसाहब का जन्म जलालपुर जिला फैजाबाद मे हुआ था। जाति के ये बनिये थे।

पलटूसाहब की नैतिक शिक्षा—

सन्तों का जीवन

सन्तो का जन्म पर-उपकार के लिये ही होता है। वे जगत् को सन्मार्ग दिखाते हैं। वे भक्ति और ज्ञान का उपदेश देते हैं और नाम की महिमा बतलाते हैं। मनुष्यो में आपस में प्रीति बढाते हैं। उनको कितने ही कठोर वचन कहो वे मीठी ही वाणी बोलते हैं। यद्यपि उनको अपने लिए कुछ नही चाहिए तो भी दूसरो के लिये बहुत दुःख सहते हैं।

नाम

भगवान् का नाम हृदय में चाँदना कर देता है।

ईश्वर का ध्यान करते करते ईश्वर हो जाता है

जिसका अपने पिया में ही हर वक्त ध्यान रहता है वह पिया रूप हो जाता है।

जीते जी ही मर जाना अमर होना है

जीते जी मर जाना चाहिए और शरीर के सम्बन्ध में कोई आशा नहीं रखनी चाहिए।

साधन

मन जब बहुत सूक्ष्म हो जाता है तो प्रीतम मिलते हैं। विनीत होकर रहना चाहिये और न किसी पक्ष को ग्रहण करे और न ऊँची बोली बोले। मान और बड़ाई को धूल में मिला देना चाहिए। कोई गाली भी दे जावे तो उसको क्षमा करके चुप रहना चाहिए। सब की बड़ाई करना पर अपने को छोटा समझना चाहिए। सब को प्रथम नमस्कार करना चाहिए।

ईश्वर अपने ही भीतर है

अपना पति पास सो रहा है और पति को ढूंढने बाहर जा रही है।

अनेक मार्ग हैं

नदी तो एक ही है पर घाट बहुत से हैं। मन्तव्य स्थान एक ही है पर वहाँ जाने के मार्ग अनेक हैं।

मूर्ति पूजा के बजाय दरिद्रनारायण की पूजा

आत्म देव को छोड़ कर लोग जल और पत्थरों को तो पूजते हैं पर उनके द्वार से साक्षात् भगवान् भूखा वापिस जाता है।

सबसे प्रेम करना चाहिये

मित्र और दुश्मन दोनों से प्रीति करनी चाहिए।

संसार स्वप्नवत् है

यह संसार रात का सपना और बाजीगर का खेल है।

सुरत शब्द योग

सुरत को डोर बान्धने से शब्द पकड़ा जायेगा।

मन की माला फेरना चाहिये

माला को फेंक दो मन मन में ही माला फेरो। मुंह से उच्चारण न करके मन द्वारा ही उच्चारण करना चाहिये।

कनक और कामिनी

कनक और कामिनी से जो बचे वही सच्चा मर्द है।

हिन्दू और मुसलमान दोनो एक से हैं

मुसलमान जिबह करके मारते हैं और हिन्दू झटके से। दोनो मुर्दार ही खाते हैं और मझधार में भटकते हैं। हिन्दू पूर्व की ओर मुसलमान पश्चिम की ओर देखते हैं। एक मन्दिर में और दूसरे मस्जिद में सिर मारते हैं।

ईश्वर भीतर बाहर सब जगह है

भगवान् सब के घर में है, पर मूर्ख तीर्थों में उनको ढूंढने जाते हैं। आंखें देखने के लिये बनी हैं, सब जगह भगवान को देखो।

ईश्वर एक ही है

सब जगह एक ही ईश्वर है। अनेक नहीं है।

संसार में प्रेम का विश्वासघात सदा होता है

इस संसार में कोई किसी का हित नहीं करता। जिसको प्रेम करो वही बैरी हो जाता है।

द्वेष का साम्राज्य

इस जगत् में सब एक दूसरे को देख-देख कर जलते हैं।

ईश्वर ही सब कामों का कर्ता है

कहने को तो सब यही कहते हैं कि पलटू करता है पर वास्तव में पलटू ने कुछ नहीं किया और न कुछ कर सकता है। सब कुछ ईश्वर ही करता है।

परोपकार

वृक्ष अपने फल नहीं खाते, नदी अपना जल नहीं पीती। दूसरों के हित के लिये ही सन्त लोग जीते हैं।

तुलसी साहब (१७६०–१८४२)

इनके जन्म स्थान का पता नहीं। वे हाथरस के पास एक जोगिया नामक गाँव में रहा करते थे। उनके कुछ नैतिक उपदेश ये हैं—

सन्त महिमा

भवसागर पार करने के लिए सन्त जहाज हैं।

ईश्वर अपने भीतर ही है

हमारा शरीर ही मन्दिर है जिसमें आत्म-देव भगवान् विराजमान है। "तेरा यार तेरा मन में है भाई"।

गुरु का महत्व

यद्यपि पिया हृदय के भीतर है पर बिना गुरू के उसे कौन दिखा सकता है?

अहिंसा

सब में आत्माराम है किसी जीव को नहीं मारना चाहिए।

सन्त तुलसीदास (१४९७—१६२३ ई०)

सन्त तुलसीदास का जन्म उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले के राजापुर गाँव में एक सरयूपारी ब्राह्मण आत्माराम के घर हुआ था। (यद्यपि इस बात पर भी मतभेद है) १२ महीने गर्भ में रहकर और पूरे बत्तीस दाँतों समेत मूल नक्षत्र में जन्म लेने के कारण उनको एक अशुभ शिशु समझा गया था और उनके उत्पन्न होने पर हर्ष नहीं मनाया गया था। यह भी कहा जाता है कि जन्म समय ही वे साधारण नवजात शिशुओं से बहुत बड़े थे और उत्पन्न होते ही रोने के बजाय उनके मुख से "राम" शब्द निकला था। उनके उत्पन्न होने के अगले दिन प्रातःकाल ही उनकी माता हुलसी का देहान्त हो गया और बालक तुलसी को चुनिया नाम की एक दासी के सुपुर्द कर दिया गया। वह उसको लेकर अपने मायके चली गई और वहीं उसका पालन-पोषण करने लगी। जब तुलसी ५½ वर्ष के थे तब चुनिया का भी देहान्त हो गया। तब एक बूढ़ी ब्राह्मणी ने उनका पालन-पोषण किया। एक नरहरि नाम के साधु ने उस बच्चे को देखकर यह समझा कि यह एक बहुत विलक्षण बालक है और उसने उसका नाम 'रामबोला' रख दिया क्योंकि उसने जन्म समय राम का उच्चारण किया। नरहरि जी उनको अयोध्या ले गए और वहाँ पर उनका यज्ञोपवीत कराकर उनको विद्याध्ययन कराना आरम्भ किया। विशेषतः उनको रामायण के श्लोकों का पाठ करना सिखाया। उनकी स्मृति और समझ (बुद्धि) बड़ी तीव्र थी। वे अपने गुरु के साथ सूकर क्षेत्र (सोरों) गए और वहाँ रहकर उन्होंने रामायण का अध्ययन किया। वहाँ से वे विद्याभ्यास के लिए काशी आ गये और काशी में पूरे १५ वर्ष रहकर उन्होंने शेष सनातन नामक गुरु से वेद वेदांग और अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। काशी में विद्या अध्ययन के पश्चात् वे अपने जन्मस्थान राजापुर आये। तब तक उनके घर और कुटुम्ब सभी नष्ट हो चुके थे। वे वहीं पर रहने लगे और भारद्वाज गोत्र की एक बहुत सुन्दर कन्या से विवाह कर लिया। उनको अपनी स्त्री से अत्यन्त प्रेम हो गया और सदा उसके प्रेम में ही रत रहने लगे। उनमें अनुराग इतना था उनका अलग होना उनको क्षण भर के लिए भी असह्य हो गया। एक दिन उनकी स्त्री का भाई उसको मैके के जाने के लिए आया और उसको अपने साथ लिवा ले गया। तुलसी का यह वियोग असह्य हो गया और प्रथम रात्रि को ही जब कि आँधी और वर्षा हो रही थी वे उससे मिलने के लिए उसके घर का चल दिए। अर्धरात्रि में जब वहाँ पहुँचे तो घर का द्वार बन्द किए हुए सब लोग गाढ़ निद्रा में सोये हुए थे। अन्धेरे में मकान की दीवार पर लटकते हुये साँप को रस्सी समझकर छत पर चढ़कर पत्नी के पास पहुँचे। उसको इनको अपने पिता के घर अर्धरात्रि में आये हुये पाकर बहुत लज्जा

लगी और उनके ऊपर कुछ क्रोध भी आया, जिसके आवेश में आकर उसने तुलसीदास को ताना मारकर यह कहा कि उसके हाडमांस के शरीर में उनकी जितनी प्रीति है यदि उतनी भगवान् में होती तो वजाय ससार के गढे में पडे रहने के उनका परम कल्याण हो जाता। तुलसीदास को ये वचन लग गये और चेतावनी मिली। वे तुरन्त ही वहाँ से लौट आये। घर आकर तुरन्त ही साधु होकर प्रयाग चले गये। साधु वनकर उन्होने भारत की कैलाश और मानसरोवर तक यात्रा की। कहा जाता है कि मानसरोवर के तीर पर उन्होने काक भुषुण्ड मुनि का दर्शन किया। यात्रा समाप्त करने पर वे काशी आये और यही रहकर उन्होने रामायण का कीर्तन आरम्भ कर दिया। कहा जाता है एक वार एक प्रेत ने उनसे प्रसन्न होकर उनको हनुमान जी के दर्शन करा दिये। हनुमानजी के द्वारा चित्रकूट में उन्हें वालक राम और लक्ष्मण के दर्शन हुये। दर्शन के पश्चात् काशी लौट कर उन्होने सस्कृत भाषा में भक्ति पदों की रचना करनी आरम्भ की। यह एक किम्वदन्ती है कि एक रात्री में स्वप्न में भगवान् शिव (विश्वनाथ) ने उनको आदेश दिया कि वे हिन्दी भापा में रामायण की रचना करें। वे इस सकल्प को लेकर अयोध्या गये और वही तपस्वी जीवन विताते हुये उन्होने २ वर्ष ७ महीने और २६ दिन के भीतर अपने अद्भुत ग्रन्य रामचरितमानस की रचना की। इस कार्य को समाप्त करके वे फिर काशी में लौट आये और मरण पर्यन्त काशी में रहे, और यहाँ रहकर अपने अनेक अमर ग्रन्थो, विशेपत विनय पत्रिका, की रचना की। रामचरितमानस में तुलसीदास जी ने भारतीय दर्शन, धर्म, नीति और जीवन के उच्चतम विचारो, सिद्धान्तो, और आदर्शों के समनन्वय के साथ मर्यादा पुरूषोत्तम राम के जीवन चरित्र के साथ-साथ इतना सुन्दर चित्रण किया है कि उसकी टक्कर का आज किमी भाषा में कोई दूसरा ग्रन्य नही है। रामचरितमानस ने हिन्दू धर्म। (सनातन वैदिक धर्म) को उस अन्धेरयुग में जीवित रक्खा और अव तक जन साधारण के वीच वह जीवित है, क्योकि आज भी भारतवर्प में रामचरित मानस सवसे अधिक पढा जाता है, इस महान् ग्रन्थ के आधार पर ही हम सन्त तुलसीदास जी के नैतिक विचारो का यहाँ दिग्दर्शन करते हैं।

तुलसीदास कृत रामचरितमानस के नैतिक विचार

ईश्वरेच्छा ही वलवती है

जो कुछ राम ने रच रक्खा है वही होगा। तर्क करके कौन शका वढ़ावे। (वाल० ५) ज्ञानी और मूढ़ कोई नही होता। जिसको रघुपति जव जैसा करते हैं वह उसी क्षण वैसा ही हो जाता है। (वाल० १२४) भगवान् की इच्छा वलवान् होती है। राम जो करना चाहते हैं वही होता है। उसको अन्यथा करने वाला कोई नही है। विधाता ने भाग्य में जो लिख दिया है उसको देवता, दानव, नर, और नाग कोई मिटा नही

सकता। (बाल ९८)

ईश्वर हम सब को नचाता है

कठपुतली की भाँति सभी को भगवान् नचाते रहते हैं। जैसे नट बन्दर को नचाता है उसी प्रकार भगवान् सभी को नचाते हैं। (किष्किन्धा ११,७)

विधि की दुर्बोधता तथा अपरिवर्तनशीलता

जैसी भवितव्यता रहती है उसी प्रकार की सहायता भी मिल जाती है। वह भावी अपने आप उसके पास नहीं आ जाती है किन्तु उसी को वहाँ ले जाती है (बाल १५९) होनिहार मिट नहीं सकती। (बाल १२४) जब जिसका भाग्य उलटा हो जाता है तो उसके लिये धूलि मेरु के समान पिता यमराज के समान और माला सर्प के समान हो जाते हैं। (बाल ७ ५) हृदय में हानि और ग्लानि मत मानो यह समझो कि काल की गति टारे नहीं टरती है। (अयो १५९) हानि लाभ जीवन मरण यश अपयश ये सब विधाता के हाथ में है। विधाता के कर्तव्य पर कुछ वश नहीं चलता (अयो २ १)

दैव निन्दा और पुरुषार्थ प्रशंसा

हे नाथ दैव का कौन भरोसा है। मन में क्रोध कीजिये और समुद्र को सुखा डालिये। यह दैव तो कायर के मन का एक आधार है। आलसी लोग ही दैव-दैव पुकारा करते हैं। (सु १०-१-४)

अपने ही शुभ और अशुभ कर्मों का फल मिलता है

ईश्वर भी प्राणियों के शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार ही फल देता है। कोई किसी को दुख और सुख देने वाला नहीं है। अपने कर्मों के अनुसार ही भोग होता है। जो बोता है वही काटता है, जो देता है सोई पाता है। (अयोध्या ६)

धार्मिक पुरुष के पास सुख सम्पत्ति आप से आप ही आती है

जैसे यद्यपि समुद्र को नदियों की कोई कामना नहीं है पर नदियाँ सागर में आती हैं ऐसे ही धर्म पालन करने वाले व्यक्ति के पास सब सम्पत्ति बिना बुलाए ही आती है। (बाल)

जहाँ धर्म होता है वहाँ विजय होती है

विजयदायक धर्मरथ की कल्पना

जिस रथ के शौर्य और धैर्य दो पहिये हों। सत्य और शील मजबूत ध्वजा और पताका हों बल विवेक दम और परोपकार चार घोड़े हों जो क्षमा दया और समता रूपी डोरी से जोड़े हुये हों, ईश्वर भजन चतुर सारथी हो वैराग्य ढाल और सन्तोष तलवार, दान फरसा (कुल्हाड़ा) और बुद्धि प्रचण्ड शक्ति श्रेष्ठ विज्ञान कड़ा धनुष हो,

निर्मल और अचल मन तरकश हो, शम, यम, और नियम नाना प्रकार के वाण हो, ब्राह्मण और गुरू का पूजन अभेद्य कवच हो, उसके समान विजय का दूसरा उपाय नही है। (लका काण्ड २८०)

शारीरिक और मानसिक अनुरूपता

कानो, लगडो और कुवडो को कुटिल और कुचाली समझना चाहिए, उनमें भी स्त्री, और खास कर दासी। (अयो० १५)

मनुष्य के तीन प्रवल शत्रु हैं

काम, क्रोध और लोभ मनुष्य के ऐसे प्रवल शत्रु हैं जोकि निमिष मात्र में ज्ञानी मुनियो के मन में भी क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं। (अरण्य०)

जीवन में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का साम्राज्य

नारद, शकर, ब्रह्मा और सनकादि जो आत्मतत्व के मर्मज्ञ और उसका उपदेश करने वाले, श्रेष्ठ ऋषि हैं, उनमें से भी किस-किस को मोह ने विवेक शून्य नही किया? जगत् में ऐसा कौन है जिसको काम ने न नचाया हो? तृष्णा ने किस को मतवाला नही वनाया। क्रोध ने किस के हृदय को नही जलाया? इस ससार में ऐसा कौन ज्ञानी, तवस्त्री, शूर वीर कवि, विद्वान् और गुणो का घाम है लोभ ने जिसकी विडम्वना न की हो? लक्ष्मी के मद ने किस को टेढा और प्रभुता ने किस को वहरा नही कर दिया? ऐसा कौन है जिसको मृगनयनी (युवती स्त्री) के नेत्र वाण न लगे हो? गुणो का किया हुआ सन्निपात किसे नही हुआ? ऐसा कोई नही है जिसे मान और मद ने अछूता छोडा हो। यौवन के ज्वर ने किसे आपे से वाहर नही किया है? ममता ने किसके यश का नाश नहीं किया? डाह ने किसको कलक नही लगाया? शोक रूपी पवन ने किसे नही हिला दिया? चिन्तारूपी साँपनी ने किसे नही खा लिया है? जगत् में ऐसा कौन है जिसे माया न व्यापी हो? मनोरथ कीडा है, शरीर लकडी है, ऐसा वैर्यवान कौन है जिसके शरीर में यह कीडा न लगा हो? पुत्र की, धन की और लोक प्रतिष्ठा की, इन तीन प्रवल इच्छाओ ने किस की वुद्धि को मलिन नही कर दिया? (उत्तर० ७०-७१) यह सव माया का वडा वलवान् परिवार है। यह अविनाशी जीव चार खानो और चौरासी लाख योनियो में चक्कर लगाता रहता है। माया की प्रेरणा से काल, कर्म, स्वभाव और गुण से घिरा हुआ यह सदा भटकता रहता है। (उत्तर० ४४)

भगवान् की माया ससार का अच्छाई और बुराई का मूल कारण है

ब्रह्मा ने इस ससार को गुण और दोषमय वनाया है। सन्तरूपी हस गुण रूपी दूध को ग्रहण करते हैं और दोपरूपी जल का परित्याग कर देते हैं। विधाता जव इस प्रकार का विवेक देते हैं तव दोपो को छोडकर मन गुणों में अनुरक्त होता है।

काल स्वभाव और कर्म की प्रबलता से भले लोग भी माया के वश में होकर कभी कभी भलाई से चूक जाते हैं। भगवान् के भक्त उस चूक को सुधार लेते हैं और दुख दोषों को मिटाकर निर्मल यश देते हैं। (बाल ६७)

वस्तुएं भावानुसार अच्छी और बुरी लगती हैं

शुभ अवसर तो सब कोई जानता ही है पर जिसके लिये हृदय में भाव है वही अच्छा लगता है। (बाल)

कुयोग और सुयोग से भी गुण बदल जाते हैं

ग्रह औषधि जल वायु, वस्त्र कुयोग सुयोग से कुवस्तु और सुवस्तु हो जाते हैं।

सत्य और अहिंसा की प्रशंसा

परहित

जिस प्रकार करोड़ों घुंघचियों का समूह पहाड़ के बराबर नहीं हो सकता उसी प्रकार समस्त पाप का समूह असत्य की बराबरी नहीं कर सकता। समस्त सुन्दर इतियों उसी प्रकार समस्त पाप का समूह असत्य की बराबरी नहीं कर सकता। समस्त सुन्दर और यश का मूल सत्य है जिसका महत्व वेद पुराण प्रतिपादित है तथा जिसका गान मनु ने भी किया है। वेद शास्त्र और पुराण बतलाते हैं कि सत्य के समान दूसरा कोई धर्म ही नहीं है। यह सदा से रघुकुल की रीति चली आ रही है कि प्राण भले ही चले जायें किन्तु वचन नहीं पलट सकता है। यशस्वी पुरुष को अपयश प्राप्त करना करोड़ों मृत्यु से अधिक दुख देने वाला होता है (अयो २८–९५–२८)

दूसरे की भलाई करने के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है और दूसरे को कष्ट देने के बराबर कोई दूसरा पाप भी नहीं है। मनुष्य का शरीर धारण करके भी जो दूसरों को कष्ट देते हैं वे लोग संसार के भयंकर कष्ट के भागी होते हैं। (उत्तर– ४२) सन्त लोग सदा उनकी प्रशंसा करते हैं जो दूसरे के हित के लिये अपना शरीर तक त्याग देते हैं। (बाल)

दूसरे का हित करने के समान कोई धर्म नहीं है। (आरण्य) मन वचन और कर्म से दूसरों का उपकार करना सन्तों का सहज स्वभाव है। (उत्तर)

बड़ों की आज्ञा पालन से जन्म सफल होता है

जो माता, पिता गुरु, स्वामी की आज्ञा को प्रसन्नता से पालन करते हैं उनका ही जीवन सफल है, नहीं तो जन्म वृथा ही जाता है। पिता की आज्ञा मानना सबसे बड़ा धर्म है।

जिसको पिता माता प्राणों के समान प्यारे हैं, उसके हाथ में चारों पदार्थ

(धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष) हैं। जो लोग उचित और अनुचित विचार त्याग कर पिता के वचनो का पालन करते हैं वे सुख और सुयश के पात्र होते हैं और वे स्वर्ग में जाकर वसते हैं।

सेवक का धर्म

चाहे कोई कितनी ही बुराई करे जो सेवक स्वामी का हित करता है वही सेवक है। सवसे कठिन सेवक का धर्म है। (अयो०) सर्वभाव से और सव छल-कपट त्याग कर स्वामी की सेवा करनी चाहिए। (किष्कि०)

सन्तोष विना शान्ति नहीं

सहज सन्तोप विना कोई विश्राम नही पा सकता जैसे विना जल के कोटि यत्न करने पर भी नाव नही चलती। (उत्तर०) विना सन्तोष के तृष्णा शान्त नही होती और तृष्णा के शान्त हुए विना स्वप्न में भी अक्षय शान्ति नही प्राप्त होती (उत्तर०)

जो राम-भक्ति में सहायक नहीं उस सम्पत्ति का क्या लाभ

जो सम्पत्ति, घर, सुख, मित्र, माता, पिता और भाई राम के चरणो के समीप जाने में सहायक न हो उनसे क्या लाभ ? उनका चला जाना ही अच्छा है। (अयोध्या०)

नरक को ले जाने वाले दोष

काम, क्रोध, लोभ और मद ये सब नरक के मार्ग हैं।

कल्याण का मार्ग पर-स्त्री-प्रेम त्याग

जो अपना कल्याण, सुयश, सुमति, सुभक्ति और नाना प्रकार के सुख चाहो तो परस्त्री के साथ सम्वन्ध न करो।

कन्या के समान

छोटे भाई की स्त्री, वहन, पुत्र की स्त्री, और कन्या ये चारो कन्या जैसी हैं। इनको जो कुदृष्टि से देखता है उसके मारने में पाप नही होता। (किष्किन्धा०)

शरणागत का त्याग पाप है

जो अपना अनहित समझकर शरण में आये का त्याग करते हैं वे मूर्ख और पापी हैं, उनको देखने से भी हानि होती है। (सुन्दर०)

इन नौ व्यक्तियो से विरोध नहीं करना चाहिये

शस्त्र वाले, मर्म जानने वाला, प्रभु, मूर्ख, धनी, वैद्य, कैदी, कवि, मन की वात को समझने वाला, इन नौ व्यक्तियो से विरोध करने में कल्याण नही होता (अरण्य०)

अपनी जाति में अपमान होना सबसे खराव है

यद्यपि ससार में नाना प्रकार के कठोर दुःख हैं फिर भी जाति में अपमान होना सवसे कठोर दुःख है।

तेजस्वी रिपु को अकेला होने पर भी मामूली न समझना चाहिए

तेजस्वी रिपु यदि अकेला भी हो तो उसको छोटा नहीं समझना चाहिए।

जो अधिकारी नहीं उसको सीख देना व्यर्थ है

मूढ़ से विनय, कुटिल से प्रीति, कृपण स्वभाव वाले से सुन्दर नीति की चर्चा, ममता में जो रत है उससे ज्ञान की वार्ता, बहुत लोभी को वैराग्य का उपदेश, क्रोधी को समता का उपदेश, कामी को हरि-कथा सुनाना, ऊसर भूमि में बीज बोना है।

अधिकारी लक्षण

जब कोई अधिकारी को पाते हैं तो महात्मा लोग उनसे गूढ़ तत्व को नहीं छिपाते। जिनको सत्संग प्रिय है, जो गुरु के चरणों में प्रीति रखते हैं और जिनका जीव नीति परायण है जिनको भगवान् प्राण से भी प्यारे हैं उनको भगवत्कथा सुनाई है। (भगवत्कथा)

मूर्ख को गुरु भी ज्ञान नहीं दे सकता।

यदि बादल अमृत की वर्षा भी करे तो भी बेंत न फलता है और न फूलता है, ऐसे ही यदि ब्रह्मा के समान भी गुरु मिल जाय तो मूर्ख को ज्ञान नहीं हो सकता। (लंका)

कुमित्र के लक्षण

जो सामने तो बना बनाकर मीठे वचन बोलता है और पीठ पीछे अनहित करता है, और मन में कुटिलता रखता है जिसका चित्त साँप की गति की भाँति है, ऐसे कुमित्र के त्यागने में ही भलाई है। (किष्किन्धा)

तीन प्रकार के मनुष्य

संसार में तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं। एक कहते ही हैं, दूसरे कहते भी और करते भी हैं, और तीसरे वे जो करते ही हैं कहते नहीं। (लंका)

आदर्श पुरुष

जिनको कामिनी के नयन बाण नहीं लगते जो क्रोध रूपी अंधेरी रात्रि में जागते हैं, जिनके गले में लोभ का फंदा नहीं पड़ा अर्थात् वह जो काम, क्रोध और लोभ के वश में नहीं है भगवान् के समान होता है।

आपत्ति काल में चार की परीक्षा

धीरज, धर्म, मित्र और नारी इनकी परीक्षा आपत्ति के समय पर ही होती है।

उपदेशों का कथन सरल पर आचरण कठिन है

दूसरों को उपदेश देने में चतुर तो बहुत लोग होते हैं, किन्तु उनका उचित

रूप से आचरण करने वाले विरले ही होते हैं। (लका ७८)

सगति का प्रभाव

बुरे सग से हानि और अच्छे सग से लाभ होता है यह बात लोक और वेद में है, और सभी लोग इसको जानते हैं। पवन के सग से धूल आकाश में चढ़ जाती है और वही नीच जल के सग से कीचड में मिल जाती है। साधु के घर के तोता मैना राम-राम कहते हैं और असाधु के घर के तोता गिन-गिन कर गालियाँ देते हैं। कुसग के कारण धुआँ कालिख कहलाता है और वही सुन्दर स्याही होकर पुराण लिखने के काम में आता है और वही धुआँ पवन, जल और अग्नि के सयोग से बादल बनकर जगत् को जीवन देने वाला बन जाता है। ग्रह, औषधि, जल, वायु और वस्तु ये सब भी कुसग और सुसग पाकर ससार में बुरे और भले पदार्थ हो जाते हैं। चतुर एव विचारशील पुरुष ही इस बात को जान पाते हैं। (बालकाण्ड० ७)

सत्सगति की महिमा

तभी समस्त सशय नष्ट होते हैं जब कुछ समय के लिये सन्तो का साथ किया जाता है। बिना सन्तो की सगति के भगवान् की कथा नही मिलती, और भगवान् की कथा के बिना मोह हट नही सकता, और मोह के हटे बिना ईश्वर के चरणो में विशुद्ध अनुराग नही होता। सन्तो के साथ के समान दूसरा कोई लाभ ससार में नही है। वेद और पुराण सभी कहते है कि बिना भगवान् की कृपा हुए सन्तो की सगति सभव नही है। बडे भाग्य से सन्तो की सगति मिलती है, जिससे बिना प्रयास किये ही ससार के बन्धन से छुटकारा मिल जाता है। सन्तो की सगति मोक्ष का, और कामी पुरुषो की सगति बन्धन का मार्ग है। बिना सत्सग के विवेक नही होता। सत्सग आनन्द और मगल की जड है, सब फलो को देने वाला और सब साधनो का फूल है। जैसे पारस को छूने पर लोहा भी सोना हो जाता है वैसे सत्सग से दुष्ट भी सुधर जाता है। (बालकाण्ड) अनुपम सुख के देने वाली भक्ति भी सत्सग के द्वारा ही मिलती है। (आरण्य)

सन्तों के लक्षण

सन्त वे हैं जो अपने आप दु ख सहकर भी दूसरो के दु खो को दूर करते हैं। (बाल०) जिन्होंने ६ विकारो (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, और मात्सर्य) पर विजय पा ली है, अचल, अकिंचन (जिनका अपना कुछ भी नही है) पवित्रात्मा, प्रसन्न रहने वाले, अमितज्ञान वाले, इच्छारहित, मित भोगी, सत्य परायण, कवि, पण्डित, और योगी, गुणो के समुद्र, ससार के दु खो से निर्मुक्त, सदेह रहित, भगवान् के सिवाय जिनको न शरीर प्यारा है और न घर, अपने गुण सुनने मे शर्माने वाले, और दूसरो के गुण सुनकर हर्षित

लोग भलाई ही करते हैं जबकि खल बुराई। (बालकाण्ड)

नीच आदमी ताड़न-तिरस्कार को ही मानता है

चाहे कितनो सिंचाई करो काटे बिना केला नहीं फलता। इसी प्रकार नीच लोग विनयपूर्वक व्यवहार को नहीं मानता केवल डाँटने पर नमता है।

अपने हित साधन के लिये नीच से भी मित्रता करनी चाहिए

अपना परमहित जानकर नीच (जाति वाले) से भी प्रीति करनी चाहिए। (उत्तर काण्ड)

खल के साथ न प्रेम न द्वेष करना चाहिए

खल (दुष्ट) व्यक्ति के प्रति उदासीन रहकर उससे इस प्रकार बचकर रहना चाहिये जैसे कुत्ते से। कवि कोविद ऐसी नीति बतलाते हैं (उत्तरकाण्ड) कि खल के साथ न लड़ाई करनी चाहिये और न मित्रता। खल के साथ रहकर किसको सुमति होती है? साँप और चूहे की भाँति खल बिना अपना कुछ भला हुए दूसरों का बुरा करते हैं। केतु ग्रह की भाँति दुष्ट हृदय वालों से जगत् को भय ही होता है।

संसार की असत्यता और अनित्यता

इस प्रपञ्च को ऐसा जानो जैसा स्वप्न। स्वप्न में भिखारी स्वर्ग का राजा हो जाता है और राजा भिखारी हो जाता है। जागने पर किसी को कुछ लाभ और हानि नहीं होती। (अयोध्या)

यह शरीर नाशवान है जीव नित्य है

पञ्चतत्व पृथ्वी जल अग्नि वायु और आकाश से बना हुआ यह अधम शरीर मृत्यु पश्चात् नहीं पड़ा रहता है पर जीव नित्य है इसके लिए क्या रोना? (किष्किन्धा)

उपदेश

अहंकार, ममता मद त्याग कर महामोह रूपी नींद से जागो। (लंका) बिना कारण के स्नेह करने वाले भगवान् करुणा करके कभी-कभी जीव को मनुष्य का शरीर देते हैं। यह मानव शरीर संसार सागर के पार करने के लिए नाव है और भगवान् की कृपा रूपी वायु अनुकूल है और सद्गुरु इस नाव के कर्णधार भी मिल जाते हैं। मानव जीवन में रहकर यदि जीव ने भवसागर को पार नहीं किया तो वह मन्द मति और कृतघ्न है और उसको आत्मघात करने वाले की गति प्राप्त होती है।

परमार्थ साधन

मानव देह की महिमा

मनुष्य का शरीर बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। सब शास्त्र यह कहते हैं कि यह देवताओं को भी दुर्लभ है। यह साधन का धाम है और मोक्ष का द्वार है जो इसको पाकर

अपना भविष्य नहीं सुधारता वह परलोक में दुःख पाता है और सिर धुन धुन कर पछताता है, और काल, कर्म और ईश्वरादि को मिथ्या ही दोष देता है। मनुष्य के शरीर से बढ़कर और कोई शरीर नहीं है, इसको प्राप्त करना सभी चर और अचर जीव चाहते हैं। यह नरक, स्वर्ग और मोक्ष की सीढ़ी है और ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का देने वाला है।

गुरु की आवश्यकता

चाहे कोई ब्रह्मा और शंकर के समान क्यों न हो, गुरु की मदद के बिना संसार पार नहीं किया जा सकता। (उत्तर०)

कलियुग में राम के नाम जपने और गुणगान करने मात्र से कल्याण होता है

कलियुग में केवल हरिगुण गाने से कोई भय और व्याधि नहीं होती। इसलिए कलियुग में यज्ञ, योग और ज्ञान की कुछ आवश्यकता नहीं। केवल राम के गुणों का गान करना ही पर्याप्त है। कलियुग के समान तो कोई युग ही नहीं, क्योंकि यदि श्रद्धापूर्वक राम के पवित्र गुणों का गान करता रहे तो बिना प्रयास ही भवसागर को पार कर लेता है। (उत्तर०) कलियुग में राम नाम और गंगाजल ये दो ही आधार हैं। (दोहावली)

हरि भजन ही भवसागर पार करने का एक मात्र उपाय

जल के मथने से भले ही घृत निकल आये, बालू से भले ही तेल प्राप्त हो जाये, पर हरिभजन के बिना भवसागर से पार होना असम्भव है। यह अटल सिद्धान्त है।

कलियुग में हरिनाम ही से सद्गति होती है

सतयुग, त्रेतायुग, द्वापर युग में क्रमशः पूजा, यज्ञ और योग से जो सद्गति प्राप्त होती थी वह कलियुग में लोग भगवान का नाम लेने से पा लेते हैं। कलियुग में हरिगुण गान करने से संसार की व्याधि नहीं व्यापती। कलियुग में न यज्ञ और न ज्ञान उचित साधन है। केवल राम के गुण गाना ही एक अचूक उपाय संसार से पार होने का है। इसमें कोई संशय नहीं। कलियुग में नाम का प्रताप प्रगट है। (उत्तर०)

रामनाम की महिमा

यद्यपि प्रभु के अनेक नाम हैं और उनका वेद में वर्णन है पर सब नामों से अधिक पापनाशक नाम राम ही है।

रामनाम से सब लोग तर जाते हैं

चाण्डाल, भील, खस, जन्म से ही मूर्ख, पतित, पापी, कोल, किरात भी राम-राम कहते हुए पवित्र और जगत में विख्यात हो गये हैं। यहाँ तक कि राम को उलटा 'मरा' 'मरा' कहते-कहते वाल्मीकि ब्रह्म के समान हो गये। यह जगद्विख्यात बात है।

कलियुग में कर्म, भक्ति, विवेक आदि और कोई अवलम्बन नहीं है, केवल रामनाम

लोग भलाई ही करते हैं यथा सज्जन करहीं। (बालकाण्ड)

नीच आदमी डाँट-फटकार को ही मानता है

चाहे कितनी सिंचाई करो काटे बिना केला नहीं फलता। इसी प्रकार नीच लोग विनयपूर्वक व्यवहार को नहीं मानता केवल डाँटने पर नमता है।

अपने हित साधन के लिये नीच से भी मित्रता करनी चाहिए

अपना परमहित जानकर नीच (जाति वाले) से भी प्रीति करनी चाहिए। (उत्तर काण्ड)

खल के साथ न प्रेम न द्वेष करना चाहिए

खल (दुष्ट) व्यक्ति के प्रति उदासीन रहकर उससे इस प्रकार बचकर रहना चाहिये जैसे कुत्ते से। कवि कोविद ऐसी नीति बतलाते हैं (उत्तरकाण्ड) कि खल के साथ न लड़ाई करनी चाहिये और न मित्रता। खल के साथ रहकर किसको सुमति होती है? साँप और चूहे की भाँति खल बिना अपना कुछ भला हुए दूसरों का बुरा करते हैं। केतु ग्रह की भाँति दुष्ट हृदय वालों से जगत् को भय ही होता है।

संसार की असत्यता और अनित्यता

इस प्रपञ्च को ऐसा जानो जैसा स्वप्न। स्वप्न में भिखारी स्वर्ग का राजा हो जाता है और राजा भिखारी हो जाता है। जागने पर किसी को कुछ लाभ और हानि नहीं होती। (अयोध्या)

यह शरीर नाशमान है जीव नित्य है

पञ्चतत्त्व पृथ्वी जल अग्नि वायु और आकाश से बना हुआ यह अधम शरीर मृत्यु पश्चात् यहीं पड़ा रहता है पर जीव नित्य है इसके लिए क्या रोना? (किष्किन्धा)

उद्बोधन

अहंकार, ममता मद त्याग कर महामोह रूपी नींद से जागो। (लंका) बिना कारण के स्नेह करने वाले भगवान् करुणा करके कभी-कभी जीव को मनुष्य का शरीर देते हैं। यह मानव शरीर संसार सागर के पार करने के लिए नाव है और भगवान् की कृपा रूपी वायु अनुकूल है और सद्गुरु इस नाव के कर्णधार भी मिल जाते हैं। मानव जीवन में रहकर यदि जीव ने भवसागर को पार नहीं किया तो वह मन्द मति और कृतघ्न है और उसको आत्मघात करने वाले की गति प्राप्त होती है।

परमार्थ साधन

मानव देह की महिमा

मनुष्य का शरीर बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। सब शास्त्र यह कहते हैं कि यह देवताओं को भी दुर्लभ है। यह साधन का धाम है और मोक्ष का द्वार है जो इसको पाकर

भगवान् को प्राण के समान प्यारा है। यह सारा विश्व भगवान् का उत्पन्न किया हुआ है, और सब प्राणियो पर भगवान् की बराबर दया रहती है, फिर भी उनमें जो अभिमान और माया को छोडकर मन, वचन और कर्म से भगवान् का भजन करते हैं वे भगवान् को परम प्रिय हैं। (उत्तर०)

राम की कृपा का फल

राम की कृपा जिसपर होती है उसके लिए विष अमृत हो जाता है, शत्रु मित्रता करने लगता है, समुद्र गौपद के समान हो जाता है, आग शीतल हो जाती है, भारी सुमेरु पर्वत कण के समान हो जाता है। (सुन्दरकाण्ड)

राम विमुख सुखी नहीं हो सकता

राम मे विमुख होकर कोई भी सुख नही पा सकता। (उत्तर०)

वर्णाश्रम धर्म

सोच उस ब्राह्मण को करनी चाहिये जो वेद नहीं जानता और अपना धर्म छोटकर विषयभोग में लीन रहता है। उस राजा को सोच करनी चाहिये जो नीति नही जानता और जिसको प्रजा प्राण के समान प्रिय न हो। उस वैश्य को सोच करना चाहिये जो धनवान् होकर भी कजूस है, और जो अतिथि सत्कार और शिव जी की भक्ति करने में कुशल नही है। उस शूद्र की सोच करनी चाहिये जो ब्राह्मण का अपमान करने वाला, बहुत बोलने वाला, मान बढाई चाहने वाला और ज्ञान का घमण्ड रखने वाला है। पुन उस स्त्री को सोच करनी चाहिये जो पति को छलने वाली कुटिल, कलहप्रिय, और स्वेच्छाचारिणी है। उस ब्रह्मचारी को सोच करनी चाहिये जो अपने ब्रह्मचर्य व्रत को छोड देता है और गुरु की आज्ञा के अनुसार नही चलता। उस गृहस्थ को सोच करनी चाहिये जो मोह वश कम मार्ग का त्याग कर देता है, उस सन्यासी को सोच करनी चाहिये जो दुनिया के प्रपञ्चो मे फंसा हुआ है और ज्ञान वैराग्य से हीन है। उस वानप्रस्थ की सोच करने योग्य है जिसको तपस्या छोडकर भोग अच्छे लगते हैं।

स्त्रियो का कर्तव्य

स्त्रियो का धर्म पतिदेव की सेवा से अतिरिक्त और कुछ नही है। माता पिता भ्राता और अन्य हितकारक सभी स्त्री को थोडा ही लाभ दे सकते हैं, पति ही अपार सुख और लाभ को देने वाला होता है। अत वह नारी अधम है जो पति की सेवा नही करती। धैर्य, धर्म, मित्र, और स्त्री इन चारो की परीक्षा आपत्तिकाल में ही की जाती है। वृद्ध, रोगी, मूर्ख, धनहीन, अन्धे, बहरे, क्रोधी और अत्यन्त गरीब पति का भी अपमान करने वाली स्त्रियां यमपुर मे नाना प्रकार के क्लेशो का अनुभव करती हैं। स्त्री के लिए एक ही धम, एक ही व्रत, और एक ही नेम है, कि वह शरीर मन और वचन से पति के चरणो में

ही एक आलम्बन है। रामनाम को चाहे जिस भाव से (सद्भाव कुभाव ईर्ष्या और आलस्य आदि में) जपो दसों दिशाओं में उससे मंगल ही होता है।

भक्ति से भगवान् प्राप्त होते हैं

भगवान् सर्वत्र समान रूप से व्यापक हैं किन्तु प्रेम से प्रकट होते हैं। भगवान् को केवल प्रेम ही पसन्द है।

नवधा भक्ति

१—सत्संग २—हरिकथा में प्रेम ३— गुरु के चरणों की सेवा ४—भगवद् गुण गान ५—भगवान् में दृढ़ विश्वास और उसके नाम का जप ६—दम शील विरक्ति धर्म कर्म सर्वत्र सदा सज्जनता का व्यवहार, ७—सबको ईश्वरमय देखना और सन्तों को भगवान से भी अधिक मानना ८—जो कुछ प्राप्त हो उसी में सन्तोष रखना और स्वप्न में भी दूसरों के दोष नहीं देखना और ९—सब मामों से सरल और छल रहित व्यवहार करना भगवान् के भरोसे रहकर न हर्ष और न विषाद का अनुभव करना।

मानव जीवन की सफलता। भगवद्भक्ति में

जन्म लेने का सबसे बड़ा फल यह है कि और सब कामों को छोड़कर राम का भजन करे। (किष्किन्धा) वही सर्वज्ञ गुणी पंडित दाता धर्मपरायण कुल चतुर नीतिनिपुण गुणधर श्रुति सिद्धान्तज्ञ कवि ज्ञानी और शूरवीर है जो छल-कपट छोड़कर भगवान् का भजन करता है।

भक्ति का आदर्श

कामी को जितना प्रेम स्त्री से और लोभी को जितना प्रेम पैसे से होता है उतना ही भक्त को भगवान् से होता है (उत्तर)

ज्ञान और भक्ति

ज्ञान का मार्ग तलवार की धार के समान है। इस मार्ग में गिरते देर नहीं लगती। जो इस मार्ग को निर्विघ्न निबाह ले जाता है वही कैवल्य रूप परम पद को प्राप्त करता है। सन्त पुराण वेद और शास्त्र (तन्त्रादि) सभी यह कहते हैं कि कैवल्य रूप परमपद अत्यन्त दुर्लभ है। किन्तु वही अत्यन्त दुर्लभ मुक्ति रामजी की भक्ति से बिना इच्छा किए है भी जबरदस्ती प्राप्त हो जाती है। (उत्तरकाण्ड ११९-२)

भक्ति बिना विश्वास के नहीं होती

बिना (ईश्वर में) विश्वास के भक्ति नहीं होती (उत्तर)

भगवान् को प्यारे लोग

भेद के अनुसार भगवान् को कोई प्रिय नहीं। भक्ति हीन ब्रह्मा भी सब जीवों के समान प्यारा है। किन्तु भक्ति वाला भले ही कितना भी नीच (नीच जाति का) हो

सच्चा सौदा

सत्य और मनोनिग्रह है।

सच्चा परिवार

क्षमा माता, सन्तोष पिता, सब मनुष्यो से प्रेम पुत्र, सत्य चचा, ईश्वर प्रेम भाई, धैर्य पुत्री, शान्ति साथी, विवेक शिष्य और सृष्टिकर्ता स्वामी, इस परिवार के बीच में रहने से ही सुख है और दूसरे सम्बन्ध सब दुखदाई हैं।

गुरू नानक ने नैतिकता को ही आध्यात्मिक उन्नति का सहायक साधन माना था।

अन्य सिक्ख गुरुओं की नैतिक शिक्षा

गुरु नानक के पश्चात् एक दूसरे के पीछे ९ और गुरू हुए जिनके नाम ये हैं— गुरू अगद (१५०४–१५५२), गुरू अमर दास (१४७९–१५७४) गुरू रामदास (१५३४–१५८१), गुरू अर्जुनदास (१५६३–१६०६), गुरू हरगोविन्द (१५९५–१६२९) गुरू हर राय (१६२९–१६६२) गुरु हर किशन (१९५६–१६६५), गुरू तेग बहादुर (१६६२–१६७५) और गुरू गोविन्द सिंह (१६६७–१७०९) अन्तिम गुरू, गोविन्द सिंह ने समय की प्रगति को देखते हुए आगे किसी व्यक्ति के गुरू होने का सिलसिला बन्द किया और यह आदेश दिया कि उनके पीछे से लेकर वह ग्रन्थ जिसमें सब गुरुओ के उपदेश और दूसरे महात्माओ और सन्तो के उपदेश भी सग्रहीत हैं वही सिक्खो का गुरू होगा, और उसका नाम गुरु ग्रन्थ साहब रक्खा गया। इस ग्रन्थ को गुरू अर्जुनदास (१५६३-१६०६) ने, जो पचम गुरू हो चुके हैं, सग्रह करना आरम्भ किया था और पीछे चलकर और गुरुओ की वाणी भी उसमें सम्मिलित होती चली आ रही थी। जैसे मुसलमानो के लिए कुरान शरीफ और ईसाइयो के लिए बाइबिल का महत्व है, उसी प्रकार सिक्खो के लिए गुरू ग्रन्थ साहब का बल्कि उनसे भी कही ज्यादा महत्व है। इस गुरू नानक से पूर्व के सन्त महात्माओ के भी वचन सग्रहीत हैं, यथा कबीर और नामदेव के सिक्खो की नैतिक शिक्षा भी इसी के आधार पर होती है। गुरू नानक की नैतिक शिक्षा का तो उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, अब यहाँ पर दो और गुरूओ, अर्जुन देव और तेग बहादुर की वाणियो में से कुछ नैतिक उपदेश का उल्लेख किया जाता है।

सच्चा वैष्णव

अर्जुन दास की वाणी में सच्चे वैष्णव का पवित्र धर्म यह है कि वह कर्म करते हुए भी निष्काम रहता है, और किसी फल की इच्छा नहीं करता। उसकी रुचि केवल भगवान की भक्ति और गुण कीर्तन म रहती है। वह मन में सदा गोपाल का स्मरण करता रहता है। सभी के उपर कृपालु होता है। अपने आप तो भक्ति में दृढ होता ही है दूसरो को भी भगवान् का नाम जपने का उपदेश करता है।

त्मिक विचारों की शिक्षा देना आरम्भ किया। उनका सर्वप्रथम चेला एक मुसलमान मीरासी मरदाना बना और वही उनके साथ उनकी सेवा करता हुआ घूमा। मरदाने के साथ उन्होंने उत्तर में कुरुक्षेत्र और हरिद्वार तक पूरब में काशी गया कामरूप और जगन्नाथपुरी तक दक्षिण में सिंहलद्वीप तक और पश्चिम में मुसलमानों के तीर्थ मक्का तक यात्रा की और जहाँ तहाँ अपने आध्यात्मिक और नैतिक विचारों का प्रचार किया।

नानक के मुख्य आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्त जिनका उन्होंने प्रचार किया ये थे—एक ईश्वरवाद—मानव मात्र के साथ भ्रातृभाव निर्गुण ईश्वर की अनन्य भक्ति मेहनत करके कमाना और गृहस्थ में रहते हुए आध्यात्मिक उन्नति करना मुक्ति पुरुषार्थों का मानना और बाहरी पूजा-पाठ और रस्म और रिवाजों का त्याग।

सिक्खों के गुरु ग्रन्थसाहब में महल्ला १ में उनकी वाणी का संग्रह है जिसमें जपुजी उनकी सर्वोत्तम रचना है। उनकी वाणी के आधार पर उनके कुछ नैतिक उपदेश ये हैं—

मनुष्य के कर्म उसके साथ जाते हैं। जैसा वह बोता है वैसा ही खाता है। प्रभु सत्य है, सुन्दर है और अन्दर में सदा आनन्द रूप से रहते हैं, जो प्रभु का नाम सुनता है उसकी आज्ञा के अनुसार चलता है, और अन्तःकरण से उसकी भक्ति करता है उसने सारे तीर्थों का स्नान कर लिया और अपने सब पापों को धो डाला। भगवान् का किया हुआ ही सब कुछ होता है। और कोई कुछ नहीं कर सकता।

जो कुछ भी किसी से मिलता है वह उसकी बख्शीश है और उसकी कृपा से वह मिलती है। खुदा ही हमारी आवश्यकताओं को जानता है किसे-किसे क्या-क्या देना है वह जानता है और वही-वही उसको वह देता है।

बन्धनों से छुटकारा भी उसी की मरजी से मिलता है। उसमें कोई दखल नहीं दे सकता। वह सबको उनके अपने-अपने कर्मों के अनुसार न्याय दे देता है। जो भाग्य में लिखा है वही होता है। वह ही होकर रहता है जो करतार करना चाहता है।

सही रास्ता उन्होंने ही पहचाना है जो अपने पसीने की कमाई खाते हैं और दूसरों को भी कुछ देते हैं।

सन्तोष शील संयम धैर्य बुद्धि आत्मज्ञान परमात्मा का भय तप प्रेमभाव, रामनाम, जप इनके बिना मुक्ति नहीं होती और न ईश्वर की कृपा के बिना ये सब होते हैं। नानक, सत्य सन्तोष और इन्द्रिय निग्रह इन चार में से किसी को भगवान् का नाम लेते हुए पालन करने से मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है।

असली खेती

शरीर खेत है शुभ कर्म बीज है, भगवान् का नाम पानी है, हृदय बोने वाला है, भगवान् अंकुर है।

सच्चा सौदा

सत्य और मनोनिग्रह है।

सच्चा परिवार

क्षमा माता, सन्तोष पिता, सब मनुष्यों से प्रेम पुत्र, सत्य चचा, ईश्वर प्रेम भाई, धैर्य पुत्री, शान्ति साथी, विवेक शिष्य और सृष्टिकर्ता स्वामी, इस परिवार के बीच में रहने से ही सुख है और दूसरे सम्बन्ध सब दुखदाई हैं।

गुरू नानक ने नैतिकता को ही आध्यात्मिक उन्नति का सहायक साधन माना था।

अन्य सिक्ख गुरुओं की नैतिक शिक्षा

गुरु नानक के पश्चात् एक दूसरे के पीछे ९ और गुरू हुए जिनके नाम ये हैं—गुरू अगद (१५०४–१५५२), गुरू अमर दास (१४७९–१५७४) गुरू रामदास (१५३४–१५८१), गुरू अर्जुनदास (१५६३–१६०६), गुरू हरगोविन्द (१५९५–१६२९) गुरू हर राय (१६२९–१६६२) गुरू हर किशन (१९५६–१६६५), गुरू तेग़ वहादुर (१६६२–१६७५) और गुरू गोविन्द सिंह (१६६७–१७०९) अन्तिम गुरू, गोविन्द सिंह ने समय की प्रगति को देखते हुए आगे किसी व्यक्ति के गुरू होने का सिलसिला वन्द किया और यह आदेश दिया कि उनके पीछे से लेकर वह ग्रन्थ जिसमें सब गुरुओं के उपदेश और दूसरे महात्माओं और सन्तो के उपदेश भी सग्रहीत हैं वही सिक्खो का गुरू होगा, और उसका नाम गुरू ग्रन्थ साहव रक्खा गया। इस ग्रन्थ को गुरू अर्जुनदास (१५६३-१६०६) ने, जो पचम गुरू हो चुके हैं, सग्रह करना आरम्भ किया था और पीछे चलकर और गुरुओ की वाणी भी उसमें सम्मिलित होती चली आ रही थी। जैसे मुसलमानो के लिए कुरान शरीफ और ईसाइयों के लिए वाइविल का महत्व है, उसी प्रकार सिक्खो के लिए गुरू ग्रन्थ साहब का वल्कि उनसे भी कही ज्यादा महत्व है। इस गुरू नानक से पूर्व के सन्त महात्माओ के भी वचन सग्रहीत हैं, यथा कबीर और नामदेव के सिक्खो की नैतिक शिक्षा भी इसी के आधार पर होती है। गुरू नानक की नैतिक शिक्षा का तो उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, अब यहाँ पर दो और गुरुओ, अर्जुन देव और तेग वहादुर की वाणियों में से कुछ नैतिक उपदेश का उल्लेख लिया जाता है।

सच्चा वैष्णव

अर्जुन दास की वाणी में सच्चे वैष्णव का पवित्र धर्म यह है कि वह कर्म करते हुए भी निष्काम रहता है, और किसी फल की इच्छा नही करता। उसकी रुचि केवल भगवान की भक्ति और गुण कीर्तन म रहती है। वह मन में सदा गोपाल का स्मरण करता रहता है। सभी के उपर कृपालु होता है। अपने आप तो भक्ति में दृढ होता ही है दूसरो को भी भगवान् का नाम जपने का उपदेश करता है।

गुरु तेग बहादुर की वाणी में से ये बातें यहाँ उल्लेखनीय हैं—

ईश्वर अपने भीतर ही है

पुष्प के भीतर जिस प्रकार गन्ध रहती है और शीशे के भीतर आकृति वैसे हरि सदा घट में रहता है। वहीं उसको ढूँढ़ना चाहिए। गुरु ने ज्ञान दिया है कि ईश्वर बाहर और भीतर सब जगह रहता है किन्तु अपने भीतर उसको ढूँढ़े और पहिचाने बिना नहीं मिलता। उसको ढूँढ़ने के लिये वन जाने की आवश्यकता नहीं है।

सच्ची साधना

मन से अभिमान का त्याग काम क्रोध का त्याग कभी दुर्जन की संगति नहीं करना मान-अपमान सुख-दुख दोनों को समान मानना हर्ष और शोक से दूर रहना स्तुति और निन्दा दोनों का त्याग ये बातें हैं तो कठिन पर इन्हीं से निर्वाण पद प्राप्त होता है।

सच्चा योगी

जो न किसी की निन्दा करता है और न स्तुति लोहे और सोने को एक सा समझता है, हर्ष और शोक से परे रहता है, उसे योगी कहना चाहिए। जो इस चंचल मन को जो दसों दिशाओं में घूमता है, अचल बना लेता है वह व्यक्ति मुक्त हो जाता है।

साधना

मन के मान का त्याग काम क्रोध और दुर्जन की संगति का त्याग सुख दुख मान अपमान दोनों को समान समझना हर्ष और शोक दोनों से परे रहना, स्तुति और निन्दा का त्याग निर्वाण पद की खोज यह सब बात कठिन हैं पर गुरु से इन्हीं का उपदेश मिला है।

मुक्त पुरुष के लक्षण

जिसको सुख दुख लोभ मोह और अभिमान छूने तक नहीं वह भगवान् का स्वरूप है। जिसको स्तुति की इच्छा नहीं और जो सोने और लोहे को समान समझते हैं उनको मुक्त जानो। जिसके मन में हर्ष और शोक नहीं है और जिसके लिये वैरी भी मित्र के समान है उनको मुक्त जानो। जिस प्राणी ने ममता, काम लोभ मोह और अहंकार को त्याग दिया वह भवसागर से आप तो पार हो गया ही है औरों को भी पार करा देता है।

महाराष्ट्र के मध्यकालीन सन्त और उनकी शिक्षा

ज्ञानदेव (१२७५–१२९६)

मध्यकाल में महाराष्ट्र देश के सर्वप्रथम सन्त ज्ञानदेव हुए हैं। उनका जन्म महाराष्ट्र देश के एक बहुत उच्च ब्राह्मण कुल में हुआ था। उनके पिता विट्ठल पन्त थोड़ी अवस्था में सन्यास लेकर काशी चले गए थे और वहाँ पर भी स्वामी रामानन्द के चेले हो गये थे। किन्तु जब स्वामी रामानन्द को यह ज्ञात हुआ कि विट्ठल पन्त अपनी स्त्री

की आज्ञा लिये बिना ही सन्यासी हो गए थे तो उन्होंने उनको घर वापिस कर दिया और पुन गृहस्थी बनाने का उपदेश दिया और उनकी पत्नी की कोख मे सन्त ज्ञानदेव का जन्म हुआ। ये केवल २१ वर्ष तक जिये, पर थे बडे विलक्षण पुरुष। उन्होंने बहुत थोडे समय में ही अनेक शास्त्रो का ज्ञान और आत्मानुभव प्राप्त करके अपनी १५ वर्ष की आयु में ही प्रसिद्ध ज्ञानेश्वरी नामक भगवद्गीता की टीका लिखी और कुछ समय के पश्चात् ही अपना दूसरा ग्रन्थ अमृतानुभव लिखा। अपने जीवन के अनुभव के आधार पर उन्होंने अनेक उपदेशात्मक अभग लिखे। उनका उपदेश ईश्वर की अनन्य भक्ति और उसके आदेशानुसार निष्काम कर्म करना ही था।

नामदेव (१२७०–१३५०)

नामदेव महाराष्ट्र के महान् सन्तो मे एक हो गए है। उनके कुछ पद्यो का सकलन गुरु ग्रन्थ साहब में है और परम सन्त कबीर साहब ने भी उनका जिक्र किया है। उनका जन्म एक छिपी घराने मे हुआ था। उनके नाना वामदेव एक बडे कृष्णभक्त थे, जिनका प्रभाव नामदेव के ऊपर भी पडा। बालकपन में नामदेव बहुत दुष्ट प्रकृति का बालक था। कुसग के कारण वह एक बडा डाकू बन गया था। डाकू रहते हुए उसने अनेक व्यक्तियो का वध किया था। एक बार एक मन्दिर में, जहाँ वे देवदर्शन करने गए थे, उन्होंने एक स्त्री को, जिसके पति को वे मार चुके थे, बहुत दुखी और विलाप करते हुए देखा। उनके मन पर बहुत गहरा प्रभाव पडा और उस दिन से वे साधु बन गए और भगवद्भक्ति में तल्लीन होकर पदों की रचना करने लगे। इनके ऊपर ज्ञानदेव का बहुत प्रभाव पडा था पर विशेषत उनका गुरु कोई नाथ पथी योगी खेचरनाथ था। उनके कुछ नैतिक उपदेश ये हैं—

यह ससार एक बाजार के समान है, यहाँ सब कोई व्यपार करने आये हैं। जो जैसा देता है वैसा ही पाता है। मूर्ख लोग नफा करने के बजाय और उलटा अपना मूल धन भी गवाकर यहाँ से चले जाते हैं। जो पर धन और पर स्त्री का त्याग करते हैं उनके पास भगवान् बसते हैं। जो नारायण को नही भजते उनके दर्शन नही करना चाहिए। जो मन में दूसरो के प्रति भेद भाव रखते हैं वे नर नही पशु हैं। किसकी पूजा की जाये। दूसरा तो कोई है ही नही। भगवान् सबके घट में मौजूद हैं। वह भगवान् मस्जिद और मन्दिर दोनो से उपर है।

एकनाथ (१५३३–१५९९)

एकनाथ का जन्म एक प्रसिद्ध महाराष्ट्र भक्त भानुदास के कुल में पैथाना नामक स्थान पर हुआ था। भानुदास उनके नाना थे। १२ वर्ष की अवस्था में उनको एक दृश्य दिखाई पडा जिसमे किसी ने उनसे कहा कि वे देवगढ़ जाकर जनार्दन स्वामी से

दीक्षा लें। वे गए और दीक्षा लेकर अपने गुरु के पास ६ वर्ष रहकर वे पैठाना लौट आये। एकनाथ जाति भेद में विश्वास नहीं करते थे और नीची जातियों में उत्पन्न हुए लोगों से बहुत प्रेम रखते थे। उन्होंने ज्ञानदेव की ज्ञानेश्वरी को प्रकाशित कराया और स्वयं भी श्रीमद्भगवद्गीता के चार श्लोकों पर अपनी व्याख्या लिखी। उनको कीर्तन का बहुत शौक था और प्रतिदिन कीर्तन किया करते थे। उनके अभंगों से पता चलता है कि उनको बहुत गहरा आध्यात्मिक अनुभव होता था। वे वेदान्त के अच्छे ज्ञाता थे और जन साधारण में उसका प्रचार किया करते थे।

सन्त तुकाराम

एक दुकानदार के पुत्र थे। एक समय अकाल पड़ने से उनका सर्वस्व यहाँ तक कि माता पिता और स्त्री नष्ट हो गए। जब उन्होंने दूसरा विवाह किया तो मुख दुष्टा और कलह दुष्टा स्त्री उनको मिली। यह उनको बहुत कष्ट देती थी। इन सब कारणों से उनको संसार और जीवन से वैराग्य हो गया और वे ज्ञानदेव नामदेव और एकनाथ के पदों (अभंगों) का अध्ययन करने लग और स्वयं भी सन्त हो गए। पर उनकी स्त्री हमेशा उनको तंग करती रही। जो भक्त और मित्र सन्त उनके पास आया करते थे यह उनको गालियाँ दिया करती थी। कहा जाता है कि उनको पंढरपुर वाले भगवान् विट्ठल के भी दर्शन हुए थे। उनकी कीर्ति की ईर्ष्या से कई लोगों ने उनको बहुत हानि भी पहुँचाई, किन्तु उन्होंने किसी का बुरा न चाहा और न किया। रामेश्वर भट्ट नामक एक व्यक्ति ने उनके रचे हुए सभी अभंगों की पाण्डुलिपि को इन्द्रायणी नदी में फेंक दिया था। उनको चेले-चाटे बनाने और धनी राजाओं से मिलने का व्यसन नहीं था। एक बार शिवाजी उनके पास आये और उन्होंने उनको अपना गुरु बनाना चाहा। पर तुकाराम जी ने शिवाजी को अपना चेला न बनाकर शिवाजी को दूसरे सन्त रामदास के पास भिजवा दिया। तुकाराम भगवान् के बहुत बड़े और अनन्य भक्त थे और अपना सारा समय भगवान् के गुण गान करने में बिताते थे।

रामदास

रामदास का जन्म १६ ८ में हुआ था। उनकी सौ वर्ष की अवस्था में ही उनके पिता का स्वर्गवास हो गया था। १० वर्ष की आयु में उन्होंने भगवान् की तलाश में घर छोड़ दिया और नासिक के पास टकली नामक स्थान पर तप किया और जब उनको सिद्धि प्राप्त हो गई तो १२ वर्ष तक उन्होंने देश में भ्रमण किया और अन्त में कृष्णा नदी के किनारे चाफल नामक स्थान पर रहने लग और वहाँ पर एक मन्दिर बनवाया। शिवाजी जब उनके पास गए तो उन्होंने उनको अपना शिष्य बना लिया। एक दूसरे के विचारों से दोनों अत्यन्त प्रभावित हुए। रामदास के विचार पूर्वकालीन महाराष्ट्र सन्तों से कुछ

भिन्न थे। पहिले सन्त संसार से अलग रह कर भगवान् की अनन्य भक्ति में रत रहते थे। रामदास जी आध्यात्मिक और भक्त जीवन बिताते हुए भी समाज के लोगों की समस्याओं में रुचि लेते थे और लोगों के दुःखों को दूर करने के उपाय सोचते रहते थे, और उनको सहायता देते थे। राजनीति में भी उनकी रुचि थी। जनता को संगठित करने के लिये उन्होंने महाराष्ट्र में जहाँ-तहाँ आश्रम और मन्दिरों का निर्माण कराया। वे और सन्तों की नाईं अभंग तो रचते ही थे पर उनका मुख्य ग्रन्थ दासबोध है जिसमें उन्होंने जीवन और समाज की अनेक गहन और जटिल समस्याओं पर प्रकाश डाला है।

ज्ञानदेव से लेकर रामदास तक होने वाले महाराष्ट्र के सन्तों ने दक्षिण पश्चिम भारत में आध्यात्मिक और नैतिक जीवन को जगाये रक्खा था। उन सब की मुख्य शिक्षायें ये थी —

१—प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी जाति में उत्पन्न हुआ हो, जहाँ और जब चाहे, भगवान् की प्राप्ति कर सकता है।

२—इसी जीवन में आध्यात्मिक अनुभव हो सकता है। वह अनुभव भ्रान्ति नही है बल्कि सत्य और वास्तविक होता है।

३—प्रत्येक प्राणी का अन्तस्तम रूप आध्यात्मिक ही है और वह प्रयत्न से उसका अनुभव कर सकता है।

४—भगवत्प्राप्ति अर्थात् आध्यात्मिक अनुभव नैतिक पवित्रता के बिना नही होती।

५—समाज के लिये सन्तो का होना उपयोगी है क्योकि उनके द्वारा ही लोगो को जीवन की परम आवश्यक और नैतिक शिक्षा मिलती है।

६—जीवन का परम और सर्वोपरि उद्देश्य अपने अन्तिम स्वरूप भगवान् को प्राप्त करके उस पर स्थिर हो जाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति यही और इसी जीवन में होनी चाहिए।

७—आत्मानुभव प्राप्त होने पर मनुष्य को ससार में इस प्रकार निर्लिप्त रहना चाहिए जैसे जल में कमल रहता है।

८—आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करने के लिये काम, क्रोध, मद, लोभ और अहकार आदि दोषो के उपर विजय पाना परम आवश्यक है।

९—आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करने के लिये एक पथ प्रदर्शक गुरू की आवश्यकता है। गुरू की कृपा से शीघ्र ही सिद्धि होती है।

१०—भगवत्प्राप्ति के लिये अनन्य भक्ति की परम आवश्यकता है। अहभाव त्याग और आत्मसमर्पण बिना भगवान् नही प्राप्त होते।

११—जब भगवान् की प्राप्ति हो जाती है और उनके साथ तादात्म्य का अनुभव हो जाता है तो भक्त सन्त बन जाता है।

१२—सन्तों का परम शान्ति और आनन्द का सदा ही अनुभव होता रहता है और वे दूसरों को यह अनुभव प्राप्त कराने के लिए ही संसार में जीते हैं।

अध्याय १६

ईसामसीह के नैतिक उपदेश—बाइबिल से

ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह लगभग २००० वर्ष पूर्व इसराईल देश में हुये थे। लोगों ने उनको क्रॉस पर लटका कर मार डाला था—उनके ये नैतिक उपदेश थे—

१—धन्य है वे लोग जो दीनात्मा हैं क्योंकि स्वर्ग उनके लिए ही है। २—धन्य हैं वे लोग जो पश्चात्ताप करते हैं। क्योंकि उनको सान्त्वना मिलेगी। ३—धन्य वे लोग जो मृदुस्वभाव वाले हैं, क्योंकि उनको ही पृथ्वी का भोग भोगना है। ४—धन्य हैं वे लोग जो धर्म के भूखे और प्यासे हैं, (अर्थात् जिनके हृदय में धर्म की जिज्ञासा है क्योंकि उनकी तृप्ति की जायगी। ५—धन्य हैं वे लोग जो दयावान् हैं। क्योंकि उनको ही अनुकम्पा प्राप्त होगी। ६—धन्य हैं वे लोग जिनका अन्तःकरण सर्वथा परिशुद्ध है, क्योंकि वे भगवान् का दर्शन करेंगे। ७—धन्य हैं शान्ति कराने वाले लोग, क्योंकि वे ही भगवान् के बालक कहलायेंगे। ८—धन्य है वे लोग जो धर्म के पालन करने के लिये सताये जाते हैं क्योंकि स्वर्ग उन्ही के लिये है। ९—तुमने यह प्राचीन उपदेश सुना है कि किसी की हत्या नही करनी चाहिये। और जो हत्या करेगा उसे दण्ड अवश्य मिलेगा। लेकिन मैं तो यह कहता हूँ कि जो किसी बंधु पर बिना कारण के क्रोध भी करता है, उसे भी दण्ड अवश्य ही मिलेगा और जो किसी अपने बन्धु को बिना कारण के धिक्कारता है, उसे भी दण्ड अवश्य ही मिलेगा, और जो किसी के लिये बिना कारण बुद्धू, मूर्ख आदि अपशब्दो का प्रयोग करता है उसे नरक की अग्नि में पड़ने का सर्वथा खतरा है। ७—यदि तुम यज्ञ की वेदी पर कुछ चढ़ाने आ रहे हो, और तुम्हे रास्ते में यह याद आ जावे कि तुम्हारा भाई किसी कारण तुमसे नाराज है तो तुम तुरन्त ही घर वापिस लौट जावो, और सर्व-प्रथम अपने भाई को प्रसन्न करने जाओ, इसके पश्चात् बेदी पर अपनी भेंट चढ़ाओ। ९—कचहरी पहुँचने के पहिले ही अपने विपक्षी के साथ शीघ्र ही समझौता कर लो वरना कहीं ऐसा न हो कि वह विपक्षी तुमको जज के हाथों में दे दे, और जज दारोगा के हाथो जेल भेज दे। ७—तुमने प्राचीनकालीन उपदेश सुने होंगे कि व्यभिचार करने से पाप लगता है, अतः व्यभिचार नही करना चाहिये। मैं तुमसे कहता हूँ कि जो कोई मनुष्य किसी भी

पर-स्त्री को काम वासना की दृष्टि से देखता है उसने अपने मन में तो उसके साथ व्यभि-चार कर ही लिया। ८—अगर तुम्हारी दाहिनी आँख तुमको दूषित करती है तो उसे निकाल कर फेंक दो। क्योंकि तुम्हारे लिये यह भला है कि तुम्हारे शरीर का एक अंग नष्ट भ्रष्ट हो जाय परन्तु उससे सारा तुम्हारा यह सब शरीर नरक में न डाला जावे। ९—यदि तुम्हारा दाहिना हाथ तुमको दूषित करता है तो उसे काटकर फेंक दो। क्योंकि तुम्हारे लिये यह अच्छा है कि तुम्हारा एक अंग अवश्य नष्ट हो जावे परन्तु उससे सब शरीर नष्ट न किया जाय। १०—यह कहा गया है कि जिसको अपनी पत्नी अपने से अलग करनी है उचित है कि उसे वह तलाक दे दे। किन्तु मैं कहता हूँ कि बिना व्यभि-चार दोष के यदि कोई अपनी पत्नी का त्याग करता है तो उसको वह व्यभिचारिणी बनाता है। ११—और उस त्यक्ता पत्नी के साथ जो विवाह करता है वह भी व्यभिचारी बनता है। मैं कहता हूँ कि कभी शपथ मत लो। स्वर्ग की शपथ मत लो क्योंकि यह भगवान् का सिंहा-सन है। पृथ्वी की शपथ मत लो क्योंकि भगवान् का पदासन है यरूसलम की शपथ न लो क्योंकि यह भगवान् का नगर है। अपने सिर की भी शपथ न लो क्योंकि तुम अपने में एक बाल को भी काला या सफेद नहीं कर सकते। अपने सब वार्तालाप में तुम्हारी हाँ या नहीं ही होना चाहिए। क्योंकि इससे अतिरिक्त और कुछ कहना पाप है। १२—तुमने पूर्व काल का उपदेश यह सुना है कि आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत। किन्तु मैं कहता हूँ कि तुम बुराई करने वालों का विरोध मत करो। जो कोई तुम्हारे एक गाल पर चपत (थप्पड़) मारे उसके आगे दूसरा गाल भी कर दो। यदि किसी विवाद में कोई व्यक्ति तुम्हारा कोट छीन ले तो उसको अपनी चादर भी दे दो। यदि कोई उसको जबरदस्ती एक कोस अपने साथ चलाय तो उसके साथ दो कोस चलो या तुमसे कुछ माँगे उसे दे दो। और जो कोई तुमसे उधार माँगे उसका देने से इनकार न करो। १३—तुमने लोगों को यह कहते सुना होगा कि अपने पड़ोसी से प्रेम करो अपने रिपुओं से द्वेष करो। पर मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम अपने रिपुओं से भी प्रेम करो जो तुम्हारी ताड़ना करते हैं उनको तुम आशीर्वाद दो जो तुमसे बैर करते हैं उनकी भी तुम भलाई करो और उनकी भलाई के लिए भगवान् से प्रार्थना करो जो तुमको सताते हैं। ऐसा इसलिए करना चाहिये कि तुम अपने स्वर्गीय पिता के बालक हो। वह तो भले और बुरे दोनों के लिये ही सूर्य उदय करता है न्यायी और अन्यायी दोनों के लिये ही वर्षा करता है। यदि तुम केवल उनसे ही साथ प्रेम का व्यवहार करते हो जो तुम्हारे साथ करते हैं तो इसमें क्या विशेषता है, ऐसा तो कर संग्रह करने वाले या होटल वाले भी किया करते हैं। यदि तुम अपने बन्धुओं को ही नमस्-कार करते हो तो क्या विशेषता है। क्या कर संग्रह करने वाले ऐसा नहीं करते। इसलिये अपने स्वर्गीय पिता के तुल्य तुम भी सब के साथ एक सा व्यवहार करके पूर्णता प्राप्त करो।

(मैथ्य द्वारा सग्रहीत उपदेश अध्याय ५) १४—जब तुम दान दो तो तुम्हारे बाँये हाथ को भी यह ज्ञान न हो कि दायाँ हाथ क्या देता है। तुम्हारा दान गुप्त होना चाहिये। तुम्हारा पिता परमेश्वर जो गुप्त रूप मे देख रहा है तुमको व्यक्त रूप से शुभ फल देगा। १५—तुमको जब प्रार्थना करनी हो तो किवाड बन्द करके अन्दर छिपकर प्रार्थना करो। तुम्हारा पिता परमेश्वर जो तुमको छिपकर देख रहा है तुमको व्यक्त रूप से शुभ फल देगा। १६—तुम्हारे माँगने से पहले तुम्हारा पिता परमेश्वर जानता है कि तुम्हे किस वस्तु की आवश्यकता है। उससे इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये—हे स्वर्गीय पिता आपका नाम पूजित है। आपका राज्य यहाँ पर आवे। जैसे स्वर्ग मे आपकी इच्छा पूरी होती है उसी प्रकार पृथ्वी पर भी आपकी इच्छा पूरी हो। आज की हमको रोटी दो। हमारे ऋणी पापो को इस प्रकार क्षमा कर दे जैसे हम अपने ऋण देने वालो को क्षमा कर देते हैं। हमको प्रलोभनो की ओर न ले जाओ। हमारी पाप से मुक्ति करो। क्योकि आपका ही राज्य है। आपकी ही शक्ति है और आपका ही सदा के लिये यश है। इसमें कोई सन्देह नही। १७—यदि तुम मनुष्यो के दोषो को क्षमा करो तो तुम्हारा स्वर्गीय पिता परमेश्वर तुम्हारे दोषो को क्षमा करेगा। यदि तुम मनुष्यो के दोषो को क्षमा नही करोगे तो तुम्हारा स्वर्गीय पिता तुम्हारे दोषो को भी नही क्षमा करेगा। १८—जब तुम व्रत करो तो सिवाय तुम्हारे पिता परमेश्वर के और किसी को उसका ज्ञान न हो। तुमको छिपकर परमात्मा देखता है और व्यक्त रूप से तुमको फल देता है। १९—पृथ्वी पर धन सचय न करो जहाँ कि उसे कीडे खाते हैं, उसमें मोरचा लग जाता है, और चोर उसको चुरा ले जाते हैं। अपना धन स्वर्ग मे सचय करो, जहाँ उसे न कीडे खायेंगे न मोरचा लगेगा और न चोर चुरा सकेंगे। जहाँ तुम्हारा धन होता है वहाँ तुम्हारा मन भी होता है। २०—कोई आदमी दो स्वामियो की सेवा नही कर सकता। क्योकि वह उनमें से एक से द्वेष करेगा और दूसरे से प्रेम, या एक में अनुरक्त रहे तो दूसरे से विरक्त। धन और ईश्वर दोनो की भक्ति एक साथ नही हो सकती। २१—इसलिए ही मै तुमसे कहता हूँ कि तुम अपने जीवन की कुछ भी चिन्ता न करो। इसकी भी चिन्ता न करो कि तुम क्या खाओगे, क्या पिओगे। अपने शरीर की भी चिन्ता न करो, न इसकी की क्या पहनोगे। क्या जीवन भोजन से बढकर नही है? क्या शरीर कपडे से बढकर नही है? आकाश मे पक्षियो को देखो। वे न बोते हैं और न काटते हैं और न खलियान में अन्न एकत्रित करते हैं। तो भी स्वर्गीय पिता परमेश्वर उनको खाने को देता है। क्या तुम उनसे बहुत कुछ अच्छे नही हो? तुममे कौन ऐसा है जो चाहते हुए भी अपने शरीर की आकार वृद्धि कर सके? कपडो की चिन्ता तो क्या करनी। देखो खेतो में खिले हुए पुष्पो को, कैसे वे बढ़ते हैं। वे कुछ भी श्रम नही करते और न सूत ही कातते हैं। तभी तो मैं तुमसे कहता हूँ कि सुलेमान बादशाह की भी वह शान

शाली पोशाक नहीं थी जैसी इन पुष्पों की है। यदि भगवान् मैदान के घास को जो कि आज खड़ा है और कल को भट्टी में झोंक दिया जावेगा विभूषित कर सकता है तो हे अविश्वासी, क्या तुम्हें कपड़ों से विभूषित नहीं कर सकता। अतएव इस बात की चिन्ता न करो कि हम क्या खायेंगे क्या पियेंगे या किससे अपना तन ढकेंगे। तुम्हारा स्वर्गस्थ पिता यह भली भाँति जानता है कि तुमको इन सब वस्तुओं की आवश्यकता है। २२—लेकिन पहले स्वर्ग के राज्य को प्राप्त करो और धार्मिक बनो। फिर ये सब वस्तुएँ (खाना पानी और कपड़ा) सब तुमको प्राप्त हो जायेंगी। २३—अपने लिए कल क्या होगा इसकी चिन्ता बिल्कुल ही न करो। कल अपनी चिन्ता अपने आप करेगा। आज के लिए आज की मुसीबतें काफी हैं। (मेथ्यू अध्याय २) २४—दूसरों के आचरण के ऊपर विचार न करो। नहीं तो तुम्हारे आचरण पर भी विचार किया जायेगा। जिस नाप से तुम दूसरों को नापो उसी नाप से तुम भी नापे जाओगे। तुम अपने बन्धु की आँख का जरा सा तुनका तो देखते हो परन्तु अपनी आँख में पड़े हुए लट्ठे को नहीं देखते। पहिले अपने आँखों में पड़े हुए लट्ठे को तो निकालो तब कहीं दूसरे की आँखो का तुनका निकाल सकोगे। २५—शुद्ध वस्तुओं को कुत्तों को मत दो और न मोतियों को सुअरों के सामने फेंको। वे उनका मर्दन करेंगे और तुम्हारा मुकाबला करके तुमको फाड़ डालेंगे। २६—जो माँगोगे मिलेगा। ढूंढो तो पाओगे। जो किवाड़ में धक्का मारता है उसके लिए द्वार खुलता है। क्योंकि जो कोई माँगता है उसको मिलता है। जो खोजता है वह पाता है। जो धक्का मारता है उसके लिये द्वार खुलता है। २७—जो तुम चाहते हो लोग तुम्हारे प्रति करें वह तुम दूसरों के प्रति करो। यह नियम है और यही मनीषियों ने बतलाया है। प्रभो! प्रभो! कहने वाले सभी लोग स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकते। केवल वे ही प्रवेश करेंगे जो मेरे पिता परमेश्वर की जो स्वर्ग में है, इच्छा के अनुसार चलेंगे। २८—यदि हृदय न परिवर्तन नहीं करोगे और बालकवत् नहीं बनोगे तो तुम स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकोगे। स्वर्ग के राज्य में वही सबसे बड़ा है जो अपने को छोटे बच्चे के समान विनम्र समझेगा। २९—यदि तुम पूर्णता को प्राप्त करना चाहते हो तो जाओ जो कुछ तुम्हारे पास है उसको बेच दो दीनों दरिद्रों को दे दो। तुमको स्वर्ग में सम्पत्ति मिलेगी आओ मेरे पीछे चलो। ३०—सुई की नाक में से ऊँट भले ही निकल जावे पर कोई धनी आदमी स्वर्ग के राज्य में नहीं प्रवेश कर सकता। ३१—पृथ्वी पर किसी को अपना पिता न कहो क्योंकि तुम्हारा एक पिता है जो स्वर्ग में रहता है। ३२—जो तुमसे सबसे बड़ा है वही तुम्हारी सेवा करेगा। ३३—जो अपने को बड़ा समझेगा वही अनादृत होगा। जो अपने को बहुत नीचा समझेगा वही बड़ा बनेगा। ३४—जो वस्तुएँ तुम चाहते हो उनके लिये भगवान् से प्रार्थना करो और विश्वास रखो

कि वे मिलेंगी ही तो वे तुमको अवश्य मिलेंगी। ३५—जब तुम प्रार्थना के लिये खड़े होते हो तो जो शिकायत तुम्हारे मन में दूसरे के प्रति है उसको यदि क्षमा कर दोगे तो भगवान् तुम्हारे दोषों को भी क्षमा कर देंगे। (सेंट मार्क अ० ८७) ३६—अपने शत्रुओं को प्यार करो। उनके प्रति भलाई करो जो तुमसे द्वेष रखते हैं। जो तुमको कोसते हैं तुम उनको आशीर्वाद दो। उनके लिये प्रार्थना करो जो तुमको घृणा की दृष्टि से देखते हैं और तुमसे काम निकालते हैं। अपने शत्रुओं से प्रेम करो, उनके साथ भलाई करो। उधार दो और वापसी की आशा न रखो।३७—तुमको भगवान् को, जो तुम्हारे प्रभु हैं, अपने पूर्ण हृदय से, पूर्ण आत्मा से, पूरी शक्ति से, पूर्ण मन से प्यार करना चाहिए। और अपने पड़ोसी को इस प्रकार प्यार करना चाहिए जैसे कि अपने आपको (ल्यूक १०) ३८—ऐसी कोई गुप्त बात नहीं है जो व्यक्त नहीं होगी। कोई बात छिपी हुई नहीं रह सकती। जो तुम अन्धेरे में बोलोगे वह प्रकाश में आयेगा और जो तुम किसी के कान में छिपकर बात करोगे वह खुल्लमखुल्ला लोगों की छत पर से सुनाई देगी। ३९—जो तुम्हारे शरीर की हत्या करते हैं उनसे मत डरो। शरीर की हत्या से वे और क्या अधिक कर सकते हैं? (ल्यूक १२।४०) पिता! उनको क्षमा कर देना क्योंकि वे नहीं समझते कि वे क्या कर रहे हैं।

ईसाई धर्म भारत के केरल प्रदेश में बहुत प्राचीन काल में आ गया और भारत में अंग्रेजी राज्य आने पर यह धर्म उनका राज्य धर्म होने के कारण और ईसाइयों के विशेष प्रचार के कारण भारत में गरीब जनता में, जिनकी दशा सुधारने का ईसाइयों ने बहुत प्रयत्न किया, फैला और भारत की नीति पर भी इसका कुछ प्रभाव पड़ा। भारत की नीति में जो दीन दु:खियों के उपर दया करने के उपदेश थे वे प्रकाश में आ गए और उससे वर्तमान काल में अस्पृश्यता निवारण में बहुत प्रोत्साहन मिला।

वाली पोशाक नहीं थी जैसी इन पुष्पों की है। यदि भगवान् मैदान के घास को जो कि आज खड़ा है और कल को भट्टी में झोंक दिया जायगा विभूषित कर सकता है तो हे अविश्वासी, क्या तुम्हें कपड़ों से विभूषित नहीं कर सकता। अतएव इस बात की चिन्ता न करो कि हम क्या खायेंगे क्या पियेंगे या किससे अपना तन ढकेंगे। तुम्हारा स्वर्गीय पिता यह भली-भांति जानता है कि तुमको इन सब वस्तुओं की आवश्यकता है। २२—लेकिन पहले स्वर्ग के राज्य को प्राप्त करो और धार्मिक बनो। फिर ये सब वस्तुएं (खाना पानी और कपड़ा) सब तुमको प्राप्त हो जायेंगी। २३—अपने लिए कल क्या होगा इसकी चिन्ता बिल्कुल ही न करो। कल अपनी चिन्ता अपने आप करेगा। आज के लिए आज की मुसीबतें काफी हैं। (मैथ्यू अध्याय २) २४— दूसरों के आचरण के ऊपर विचार न करो। नहीं तो तुम्हारे आचरण पर भी विचार किया जायगा। जिस नाप से तुम दूसरों को नापो उसी नाप से तुम भी नापे जाओगे। तुम अपने बन्धु की आँख का जरा सा कुचक तो देखते हो परन्तु अपनी आँख में पड़े हुए कट्ठे को नहीं देखते। पहिले अपनी आँखों में पड़े हुए कट्ठे को तो निकालो तब कहीं दूसरे की आँखों का कुचक निकाल सकोगे। २५—शुद्ध वस्तुओं को कुत्तों को मत दो और न मोतियों को सूअरों के सामने फेंको। वे उनका मर्दन करेंगे और तुम्हारा मुकाबला करके तुमको फाड़ डालेंगे। २६—जो माँगोगे मिलेगा। ढूँढो तो पाओगे। जो किवाड़ में धक्का मारता है उसके लिए द्वार खुलता है। क्योंकि जो कोई माँगता है उसको मिलता है। जो खोजता है वह पाता है। जो धक्का मारता है उसके लिए द्वार खुलता है। २७—जो तुम चाहते हो लोग तुम्हारे प्रति करें वह तुम दूसरों के प्रति करो। यह नियम है और यही मनीषियों ने बतलाया है। प्रभो! प्रभो! कहने वाले सभी लोग स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकते। केवल वे ही प्रवेश करेंगे जो मेरे पिता परमेश्वर की जो स्वर्ग में है, इच्छा के अनुसार चलेंगे। २८—यदि हृदय में परिवर्तन नहीं करोगे और बालकवत् नहीं बनोगे तो तुम स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकोगे। स्वर्ग के राज्य में वही सबसे बड़ा है जो अपने को और बच्चे के समान विनम्र समझेगा। २९—यदि तुम पूर्णता को प्राप्त करना चाहते हो तो जाओ जो कुछ तुम्हारे पास है उसको बेच दो दीनों दरिद्रों को दे दो। तुमको स्वर्ग में सम्पत्ति मिलेगी आओ मेरे पीछे चलो। ३०—सुई की नाक में से ऊँट भले ही निकल जावे पर कोई धनी आदमी स्वर्ग के राज्य में नहीं प्रवेश कर सकता। ३१—पृथ्वी पर किसी को अपना पिता न कहो क्योंकि तुम्हारा एक पिता है जो स्वर्ग में रहता है। ३२—जो तुममें सबसे बड़ा है वही तुम्हारी सेवा करेगा। ३३—जो अपने को बड़ा समझेगा वही अपमानित होगा। जो अपने को बहुत नीचा समझेगा वही बड़ा बनेगा। ३४—जो वस्तुएं तुम चाहते हो उनके लिये भगवान् से प्रार्थना करो और विश्वास रखो

कि वे मिलेंगी ही तो वे तुमको अवश्य मिलेंगी। ३५—जब तुम प्रार्थना के लिए खडे होते हो तो जो शिकायत तुम्हारे मन में दूसरे के प्रति है उसको यदि क्षमा कर दोगे तो भगवान् तुम्हारे दोषो को भी क्षमा कर देंगे। (सेंट मार्क [illegible]) ३६—अपने शत्रुओं को प्यार करो। उनके प्रति भलाई करो जो तुमसे द्वेष करते हैं। जो तुमको कोसते हैं तुम उनको आशीर्वाद दो। उनके लिये प्रार्थना करो जो तुमको घृणा की दृष्टि से देखते हैं और तुमसे काम निकालते हैं। अपने शत्रुओं से प्रेम करो, उनके साथ भलाई करो। उधार दो और वापसी की आशा न रखो।३७—तुमको भगवान् को, जो तुम्हारे प्रभु हैं, अपने पूर्ण हृदय से, पूर्ण आत्मा से, पूरी शक्ति से, पूर्ण मन से प्यार करना चाहिए। और अपने पडोसी को इस प्रकार प्यार करना चाहिए जैसे कि अपने आपको (ल्यूक १०) ३८—ऐसी कोई गुप्त बात नही है जो व्यक्त नही होगी। कोई बात छिपी हुई नही रह सकती। जो तुम अन्धेरे में बोलोगे वह प्रकाश में आयेगा और जो तुम किसी के कान में छिपकर बात करोगे वह खुल्लमखुल्ला लोगों की छत पर से सुनाई देगी। ३९—जो तुम्हारे शरीर की हत्या करते हैं उनसे मत डरो। शरीर की हत्या से वे और क्या अधिक कर सकते हैं? (ल्यूक १२।४०) पिता! उनको क्षमा कर देना क्योंकि वे नही समझते कि वे क्या कर रहे हैं।

ईसाई धर्म भारत के केरल प्रदेश में बहुत प्राचीन काल में आ गया और भारत में अंग्रेजी राज्य आने पर यह धर्म उनका राज्य धर्म होने के कारण और ईसाइयों के विशेष प्रचार के कारण भारत में गरीब जनता में, जिनकी दशा सुधारने का ईसाइयों ने बहुत प्रयत्न किया, फैला और भारत की नीति पर भी इसका कुछ प्रभाव पडा। भारत की नीति में जो दीन दुःखियो के उपर दया करने के उपदेश थे वे प्रकाश में आ गए और इससे वर्तमान काल में अस्पृश्यता निवारण में बहुत प्रोत्साहन मिला।

अध्याय २०

उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारकों के नैतिक विचार

भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित हो जाने पर यह स्वाभाविक ही था कि यहाँ की संस्कृति के ऊपर पाश्चात्य देशों की संस्कृति और विचारधारा का प्रभाव पड़े और तदनुसार इसमें परिवर्तन भी हो। अंग्रेजों के आने के साथ-साथ यहाँ पर ईसाई धर्म के प्रचारक भी आये और भारतीय रस्म व रिवाजों और धार्मिक विश्वासों की उन्होंने कटु और तार्किक आलोचनायें करके लोगों को ईसाई धर्म ग्रहण करने का केवल निमन्त्रण मात्र ही नहीं दिया बल्कि उसके लिए साम दाम दण्ड भेद और सभी साधनों का प्रयोग भी करना आरम्भ किया। भारत की जनता के लिये एक बड़ा सांस्कृतिक और धार्मिक संकट खड़ा हो गया। भारतीय समाज में ऐसे अनेक दोष आ गये थे जिनके कारण बहुत लोगों को दुख होता था और जिनके कारण हिन्दू धर्म समाज और संस्कृति की ओर लोगों को घृणा होती थी और सुखी और सम्पन्न होने की इच्छा से लोग अपना धर्म छोड़कर विदेशियों का धर्म ग्रहण करने को तैयार हो जाते थे। सती प्रथा बाल विवाह बाल वैधव्य और मृत पति की सम्पत्ति पर अनाधिकार और पुरुषों के समान शिक्षा न दी जाने के कारण स्त्रियां दुखी थीं। अस्पृश्यता अछूतता और सेवा वृत्ति की निन्दा के कारण गरीब लोग दुखी थे। धार्मिक कृत्यों, सामाजिक रस्म रिवाजों और अनेक प्रकार के धार्मिक विश्वासों के कारण धनी लोग दुखी थे। भारतीय समाज एक रुग्ण समाज हो गया था। भारतीय जीवन भार स्वरूप था और किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी। सब प्रकार की रूढ़ियों की शृंखला से लोग जकड़े थे। देश का बहुमुखी पतन हो चुका था। वेदों, उपनिषदों और गीता के उत्साहवर्धक सत्यमय और आनन्दात्मक उपदेशों और आदेशों के स्थान पर केवल पौराणिक कथाओं के ही पठन-पाठन और श्रवण और मन्दिरों में मूर्ति पूजा तक ही मनुष्यों का आध्यात्मिक जीवन रह गया था। ऐसे समय में यदि राजा राम मोहनराय महादेव गोविन्द रानाडे स्वामी दयानन्द सरस्वती स्वामी रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द जैसे सुधारक इस देश और हिन्दू समाज में जन्म लेते और यहाँ पर ऐनी बेसेन्ट जैसी थियो-सोफिस्ट न आतीं, और इस देश और समाज के सुधार का ये लोग प्रयत्न न करते तो आज

भारतवर्ष में हिन्दुत्त्व का नाम भी न रहता। सारी भारतीय जनता इस प्रकार ईसाई बन जाती जैसे कि पृथ्वी पर अन्य देशों की जनता बन गई है। जिस प्रकार आचार्यों ने भारत की जनता को बौद्ध होने से बचाया और सन्तों ने मुसलमान होने से, उसी प्रकार सुधारकों ने ईसाई होने से बचाया।

१९वीं शताब्दी में जिन व्यक्तियों और उनकी बनाई हुई संस्थाओं ने भारतीय जीवन और संस्कृति में सुधार किया और उसको पुनर्जीवन प्रदान किया उनके नाम ये हैं—

१—राजा राम मोहन राय और उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज बंगाल में। २—महादेव रानाडे और उनके द्वारा स्थापित प्रार्थना समाज महाराष्ट्र में। ३—स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज पंजाब और उत्तर प्रदेश में। ४—मिसेज एनी बेसेन्ट और उनके द्वारा स्थापित थियोसॉफिकल सोसाइटी मद्रास और बनारस में। ५—रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य विवेकानन्द और विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन बंगाल में आरम्भ होकर भारत ही नहीं पाश्चात्य देशों में भी।

इन सुधारकों और सुधार संस्थाओं के विचारों और कार्यों से वर्तमान भारतीय नैतिक दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिलती है।

राजा राम मोहन राय और ब्रह्म समाज

राजा राम मोहन राय का जन्म बंगाल के एक सम्भ्रान्त कुल में १७७२ ई० में हुआ था। उन्होंने संस्कृत, अंग्रेजी, अरबी और फारसी भाषाओं के द्वारा शिक्षा पाई थी और कुरान और बाइबिल का अच्छा अध्ययन किया था। इसका उनके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने तर्क के आधार पर विचार करना सीखा था। मूर्ति पूजा, बहुदेवतावाद और अनेक देवताओं की उपासना और पूजा से उन्हें घृणा थी। सती प्रथा, बहु विवाह और बाल वैधव्य से भी उन्हें द्वेष था। परन्तु उनका यह विश्वास था कि ये बातें शास्त्रों द्वारा अनुमोदित नहीं हैं। अतएव उन्हीं शास्त्रों के आधार पर उन्होंने इनका विरोध किया।

सबसे पहले उन्होंने मूर्तिपूजा के विरुद्ध अपने विचारों को प्रगट किया और बतलाया कि ईश्वर एक है और उसका कोई रूप नहीं है उसके सिवाय और किसी देवता की पूजा नहीं करनी चाहिए। उपनिषदों में से उन्होंने बहुत से उदाहरण देकर यह सिद्ध किया कि ईश्वर एक है और वह निराकार लेकिन सगुण है। जीव अनेक हैं और उनको ब्रह्म या ईश्वर समझना गलत है। ईश्वर के बिना सृष्टि और सृष्टि के बिना ईश्वर का होना निरर्थक है। उस ब्रह्म का अनुभव समाधि में हो सकता है। उपासना और ध्यान द्वारा समाधि का अनुभव हो सकता है। समाधि में भगवान् के अनन्त गुणों का ध्यान

अध्याय २०

उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारकों के नैतिक विचार

भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित हो जाने पर यह स्वाभाविक ही था कि यहाँ की संस्कृति के ऊपर पाश्चात्य देशों की संस्कृति और विचारधारा का प्रभाव पड़े और तदनुसार इसमें परिवर्तन भी हो। अंग्रेजों के आने के साथ-साथ यहाँ पर ईसाई धर्म के प्रचारक भी आए और भारतीय रस्म व रिवाजों और धार्मिक विश्वासों की उन्होंने कटु और तार्किक आलोचनायें करके लोगों को ईसाई धर्म ग्रहण करने का केवल निमन्त्रण मात्र ही नहीं दिया बल्कि उसके लिए साम दाम दण्ड भेद और सभी साधनों का प्रयोग भी करना चाहा और किया। भारत की जनता के लिये एक बड़ा सांस्कृतिक और धार्मिक संकट खड़ा हो गया। भारतीय समाज में ऐसे अनेक दोष आ गये थे जिनके कारण बहुत लोगों को दुःख होता था और जिनके कारण हिन्दू धर्म समाज और संस्कृति की ओर लोगों को घृणा होती थी और सुखी और सम्पन्न होने की इच्छा से लोग अपना धर्म छोड़कर क्रिश्चियनों का धर्म ग्रहण करने को तैयार हो जाते थे। सती प्रथा बाल विवाह बाल वैधव्य और मृत पति की सम्पत्ति पर अनाधिकार और पुरुषों के समान शिक्षा न दी जाने के कारण स्त्रियाँ दुःखी थीं। अस्पृश्यता, अछूतता और सेवा वृत्ति की निन्दा के कारण गरीब लोग दुःखी थे। धार्मिक कृत्यों सामाजिक रस्म रिवाजों और अनेक प्रकार के दम्भपूर्ण विश्वासों के कारण धनी लोग दुःखी थे। भारतीय समाज एक रुग्ण समाज हो गया था। भारतीय जीवन भार स्वरूप था और किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी। सब प्रकार की रूढ़ियों की शृंखला से लोग जकड़े थे। देश का बहुमुखी पतन हो चुका था। वेदों, उपनिषदों और गीता के उत्साहवर्धक सन्मार्ग और आनन्ददायक उपदेशों और आदेशों के स्थान पर केवल पौराणिक कथाओं से ही पठन-पाठन और श्रवण और मन्दिरों में मूर्ति पूजा तक ही मनुष्यों का आध्यात्मिक जीवन रह गया था। ऐसे समय में यदि राजा राम मोहनराय महादेव गोविन्द रानाडे स्वामी दयानन्द सरस्वती स्वामी रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द जैसे सुधारक इस देश और हिन्दू समाज में जन्म लेते और यहाँ पर एनी बेसेन्ट जैसी थियो-सोफिस्ट न आतीं, और इस देश और समाज के सुधार का ये लोग प्रयत्न न करते तो आज

का सम्पर्क हो सकता है। ध्यानावस्था में उनको ऐसा भान होने लगा था कि भगवान् बराबर उनको आदेश देते रहते हैं। उनका विचार यह भी था कि मनुष्य को बुद्धि से काम लेना चाहिये और जीवन में भगवत्-प्रेरणा और बुद्धि दोनो पयो के द्वारा चलना चाहिये।

महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर के अनुसार ब्रह्म धर्म के मूल तत्व ये हैं—

(१) सृष्टि से पूर्व एक भगवान् के सिवाय और कुछ नही था। हम जो कुछ सृष्टि में देखते हैं उसकी रचना उसने ही की हैं।

(२) भगवान् एक अनन्त, नित्य, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अद्वैत (अकेला) स्वतन्त्र-पूर्ण सत्ता है। वह सत् चित्त आनन्द है और उसके सामने कोई दूसरा नही है।

(३) इस जीवन में और उसके पश्चात् भी केवल प्रार्थना और उपासना द्वारा मनुष्य भगवान् को प्राप्त कर सकता है।

(४) सबसे बढकर प्रार्थना ऐसे कामो को करना है जिनसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। उनकी नैतिक धारणा और उपदेश इस प्रकार के थे—

आत्मा की शुद्धि और स्वास्थ्य के लिये स्वस्थ और शुद्ध मन की आवश्यकता है। स्वस्थ और शुद्ध मन के लिये शुद्ध और स्वस्थ शरीर की आवश्यकता है। आत्म शुद्धि के बिना भगवान् की प्राप्ति नही हो सकती। अशुद्ध मन पश्चाताप से शुद्ध किया जा सकता है। भगवान् की कृपा से पापी पाप से मुक्त हो सकता है। सांसारिक वैभव के प्रति मनुष्य को उदासीन रहना चाहिये। इसके पीछे पडकर आत्मा का पतन हो जाता है। जो लोग इसके पीछे पडते हैं वे सभी धार्मिक नही हो सकते और अधार्मिक मनुष्य भगवान् को प्राप्त नही कर सकता। भूमा में ही आनन्द है विषयो में नही। मनुष्य रूप का मनुष्यत्व धर्म में ही है। जिसका हृदय भगवान् में लगा हुआ है वही सुखी है और वही दुःख और शोक से मुक्त रहता है।

आत्मा शरीर से भिन्न है। मृत्यु के द्वारा शरीर का ही नाश होता है आत्मा का नही। प्रत्येक मृत्यु आत्मा को अधिक से अधिक पूर्ण बनाने में सहायक होती है। आत्मा की अनन्तपूर्णता ही मोक्ष है जो भगवान् की कृपा और प्रसन्नता से प्राप्त होता है। आत्मा भगवान् नही हो सकती।

केशवचन्द्र सेन

केशवचन्द सेन का जन्म कलकत्ते के एक सम्भ्रान्त कुल मे १८३८ ई० में हुआ था। बचपन से ही वे शीलवान और सदाचारी थे। मन, वचन, कर्म से उन्हें शठ मे घृणा थी और सत्य से प्रेम। १८५७ में वे ब्रह्मसमाज के सदस्य बन गये। उनके समाज में आने पर देवेन्द्रनाथ ठाकुर को बहुत हर्ष हुआ। ब्राह्म होते ही केशवचन्द्र सेन ने समाज के बहुमुखी सुधार का बडी तीव्रगति से कार्य आरम्भ कर दिया और २४ वर्ष तक सत्य की खोज तथा

यह भगवान् इस सृष्टि के उत्पादक और पालक हैं।

१८२ में उन्होंने ईसा मसीह के आध्यात्मिक और नैतिक उपदेशों का संग्रह करके एक पुस्तक लिखी।

उन्होंने ईसाइयों के साथ सम्पर्क बढ़ाया और उनके उपदेशों में जाने लगे। उनका यह विश्वास हो गया कि जो ईसा ने सिखाया था वही वेदों में भी लिखा है। उन्होंने इस बात की आवश्यकता समझी कि उदार शुद्ध विचारों के साथ जो लोग समझते हैं और उनपर चलना चाहते हैं उनका एक संगठन हो और सब मिल कर ईश्वर का चिन्तन और पूजन करें और देश में प्रचलित गलत रूढ़ियों से दूर रहकर उदार विचारों का और नियमों द्वारा जीवन यापन करें। इस विचार से १८२ में उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की।

ब्रह्म समाज का उद्देश्य सृष्टिकर्ता और पालनकर्ता केवल एक ईश्वर की उपासना करना अनेक देवताओं में विश्वास और उनकी पूजा और मूर्ति पूजा का विरोध करना था। अपने उपासना मन्दिर में किसी देवता आदि की तस्वीर को न रखना और दूसरे धर्मों के अनुयायियों को जो एक ईश्वर के उपासक हैं, जो मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं करते, जैसे ईसाई और मुसलमान उनका अपने ध्यान मन्दिर में प्रवेश करने ही न देना बल्कि उनको आमन्त्रित करना था। ब्रह्म समाजियों ने जाति प्रथा को मिटाने और स्त्री स्वतन्त्रता प्राप्त कराने का कार्य अपने कार्यक्रम में रखा और सती प्रथा को तो भारत से कानून द्वारा सब के लिये बन्द करा ही दिया। १८३३ में इंग्लैण्ड में उनकी मृत्यु हो गई।

महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर

राजा राम मोहन राय के पश्चात् ब्रह्म समाज की बागडोर महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर के हाथ में आई। उन्होंने समाज के सदस्यों के लिए सदाचारोपयुक्त नियमों को बनाया और उस पर लोगों को चलने को बाध्य किया। वे यद्यपि एक अमीर घराने में उत्पन्न हुए थे तथापि उनकी वृत्ति बहुत धार्मिक थी। उनको भगवान् को जानने की और पाने की उत्कट अभिलाषा थी। ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र को पढ़कर और उसका अर्थ समझ कर वे मुग्ध हो गए और ब्रह्म विद्या के परम भक्त हो गए। उपनिषदों के समझने और उनके अध्ययन के निमित्त उन्होंने एक 'तत्व बोधिनी' नामक सभा की स्थापना की। शंकर के मायावाद को वे नहीं मानते थे जिसके अनुसार यह संसार एक मिथ्या भ्रम है। वे ईश्वर और जीव की अलग सत्ता में विश्वास करते थे। जीवों को ईश्वर के उपासक ही मानते थे। उनके अनुसार जीव कभी ब्रह्म नहीं हो सकता। वे वेदों का महत्व उतना नहीं मानते थे जितना उपनिषदों का। उन्होंने उपनिषदों से कुछ मन्त्रों को चुनकर ब्रह्म धर्म की एक संहिता का निर्माण किया था।

उनका विश्वास था कि भगवान् सबके हृदयों में स्थित है और वहीं पर उनसे मनुष्य

बौद्ध, जैन, पारसी में मनुष्य के वर्तमान स्वरूप की निन्दा की गई है और इस स्वरूप का परिवर्तन किसी न किसी ऐसे रूप में करना ही जो उससे बहुत भिन्न है, जिसमें केवल ईश्वर सानिध्य सायुज्य या सारूप्य, साम्य अथवा ब्रह्म निर्वाण आदि और उन अवस्थाओं में अनुभूत परमानन्द, परम तृप्ति और परम शान्ति का रसास्वादन हो सके, मानव जीवन का लक्ष्य समझा गया है। संसार के सभी धर्मों में मानव तुच्छ और ईश्वर सब कुछ है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मानवता के महत्व को समझा, मानव जीवन के विविध पहलुओं का वर्णन, चित्रण और मनन किया। उसका महत्व बतलाया और किस प्रकार मानव जीवन सुखी और तृप्त हो सकता है, किस प्रकार मानव समाज आदर्श समाज और मानव आदर्श मानव हो सकता है, इस पर विचार किया तथा इस अवस्था को प्राप्त करने और कराने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपना सारा जीवन समाज कल्याण में ही लगाया। अपने महान् जीवन के ६७ वर्ष मानव को सच्चा मानव बनाने के प्रयत्न में लगाये। उनके विचारों और व्यक्तित्व पर उपनिषदों का बहुत प्रभाव पड़ा था। उन्होंने उपनिषदों के ब्रह्मवाद में एक नवीनता का सचार किया, जो किसी प्रकार सभी उपनिषदों के प्रतिकूल न होकर अनुकूल ही है।

वे ब्रह्मवादी थे, किन्तु उनका ब्रह्म जगत् से परे, निर्विकार निर्गुण, निराकार, और शुद्ध सच्चिदानन्द रूप नहीं था। जगत् और ब्रह्म का इस प्रकार का सम्बन्ध है जैसा कि किसी नर्तक का उसके नृत्य से, किसी गायक का उसके गान से, किसी कवि का उसकी कविता से। यह जगत् ब्रह्म का एक गीत है, नाटक है, नृत्य है और इस कविता, गीत, नृत्य अथवा नाटक में वह अपने को पूरे प्रेम, रुचि और लगन के साथ अधिक से अधिक व्यक्त करने, प्रगट करने और परिणत करने का प्रयत्न कर रहा है। हम सब ही उसकी इस लीला के पात्र हैं। हमें पूर्ण रूप से, तन, मन और हृदय से उसकी इस आनन्दमयी लीला को अधिक से अधिक पूर्ण और सफल बनाने में अपना सहयोग देना चाहिये। इस लीला को पूर्ण रूप से समझने और इसमें अनुस्यूत, अनुप्राणित और प्रविष्ट परमात्मा के साथ एकता का अनुभव करके आनन्द का अनुभव करना चाहिये। इस लीला में जो एकता, सामञ्जस्य और पूर्णता है उसका अनुभव हमारे जीवन में होना चाहिये। इस लीलामय जगत् में प्रत्येक वस्तु का महत्व है। प्रत्येक वस्तु सुन्दर और अर्थपूर्ण है। कण कण में लीलाधारी प्रभु अपने आपको पूर्णतया एक विशेष रूप और आकार में प्रगट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। गहरी दृष्टि से देखने और हृदय की भावनाओं के द्वारा अनुभव करने पर सब जगह वही दिखाई पड़ेंगे। ईश्वर से अतिरिक्त यहाँ कुछ है ही नहीं। उससे अलग होकर उसके किसी दूसरे रूपों से असामजस्य करके, अपने को सब कुछ समझ कर और दूसरे रूपों से विरोध करके और सबमें प्रगटित होने वाले अनन्त शक्ति और अनन्त रूपों वाले भगवान् को भूल कर अपना स्वार्थमय जीवन यापन करने में मानव

सर्वसम्मत थी —

(१) शास्त्रों के स्वतः प्रामाण्य में अविश्वास।
(२) अवतारों में अविश्वास।
(३) बहुदेववाद और मूर्ति-पूजा का विरोध।
(४) जाति-पाँति और वर्ण व्यवस्था का निराकरण।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

राजा राममोहनराय ने जिस ब्रह्मसमाज का बीज बोया था उसके परम और सुन्दर रूप थे कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर। रवीन्द्रनाथ ठाकुर भारत के इस युग के केवल महान् कवि ही नहीं थे बल्कि महान् नेता, उच्च कलाकार, मान्य दार्शनिक, महान् शिक्षक और सुधारक भी थे। वे भारत के गौरव थे। उनका सम्मान भारत तक ही सीमित न रहकर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त था। उनको जगद्विख्यात पुरस्कार 'नोबिल प्राइज' भी मिला था। वे ब्रह्मसमाज के महान् नेता और ब्राह्म धर्म के प्रवर्तक महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के सुपुत्र थे और जो आज भारतवर्ष में गुरुदेव के नाम से स्मरण किये जाते हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म कलकत्ता में १८६१ ई० में हुआ था। उनका पालन पोषण बहुत उच्चकोटि के धार्मिक और सांस्कृतिक वातावरण में हुआ। वे १३ वर्ष की आयु से ही कवितायें लिखने लग गये और १९४१ में देहावसान के समय तक पूरे ६० वर्ष कविता, कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि अनेक प्रकार की रचनायें करते रहे। अपने जीवन में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिये। वे कला क्षेत्र में अद्वितीय स्थान रखते थे। विविध कलाओं संगीत, नृत्य, नाटक और चित्रण आदि में वे दक्ष और मौलिक थे। शिक्षा पद्धति में नवीन और युगानुकूल प्रणाली के जन्मदाता थे। स्त्री स्वातन्त्र्य समाज और सह शिक्षा के अत्यन्त पक्षपाती थे। उनके द्वारा निर्मित किया हुआ शान्ति निकेतन आश्रम और स्थापित किया विश्व भारती विश्वविद्यालय सदा उनकी अमर कीर्ति के जीवित स्तम्भ के रूप में भारत को उनकी याद दिलाते रहेंगे।

अपनी समस्त कृतियों और अपने आचार तथा व्यवहार द्वारा उन्होंने मानव धर्म का ही उपदेश दिया है। उनके पूर्व अनन्त सर्वशक्तिमान्, सृष्टि पालक और संहारक ईश्वर अथवा ब्रह्म ही पर मनुष्य का ध्यान केन्द्रित रहता था। उसकी उपासना करना, उसके प्रति श्रद्धा और भक्ति द्वारा अपने सब भावों और इच्छाओं को समर्पण करके उसी को प्राप्त करना अथवा उससे तादात्म्य का अनुभव करना या उसमें लीन हो जाना ही मनुष्य जीवन का सर्वश्रेष्ठ ध्येय समझा जाता था। भारत के सभी ऋषि मुनि कवि आचार्य संत महात्मा मानव जीवन को तुच्छ समझकर इसकी सार्थकता केवल ईश्वर प्राप्ति, और मुक्ति के अनुभव में ही समझते रहे हैं। संसार के सभी धर्मों-ईसाई, मुसलमान

जब एक ही ब्रह्म की लीला है तो भला उसमें कौन गैर है। किससे मेरा सम्बन्ध नही है? सब सब से सम्बन्धित हैं। सब में एक ही प्राण और एक ही मन व्याप्त है। अनेकता के द्वारा एक ही तो अपने आप को व्यक्त कर रहा है। उपनिषद् का ऋषि भी कहता है कि ब्रह्म एक था उसने अनेक और सीमित होने का सकल्प किया था तभी तो सृष्टि हुई। जब इस अनन्त अनेकता में एक ही व्याप्त है तो विश्व बन्धुत्व ही हमारे जीवन का लक्ष्य और हमारे सब कामो का मूल प्रेरक होना चाहिये।

ससार में दुःख और शोक हैं। मृत्यु भी है। ये न होते तो सीमित मानव असीमित ब्रह्म बनने, परमानन्द की प्राप्ति करने का यत्न ही न करता। दुःख, शोक और मृत्यु का अनुभव तभी तक होता है जब तक कि मनुष्य के विचार, भावनायें और क्रियायें सीमित दृष्टि से होती हैं। असीम और अनन्त में तो इनका अभाव हो जाता है। जब हमारी दृष्टि विस्तृत और आध्यात्मिक होकर हम विश्व प्रेम से प्रेरित होकर जीवन यापन करते हैं तो दुःख, शोक और मृत्यु का अनुभव नही होता। उच्च नैतिक भावनाओ से प्रेरित होकर सबके हित के काम करने से आदमी दुःख और शोक से ऊँचे उठ जाता है। मौत तो हमारे लिये एक कमरे से दूसरे और अच्छे कमरे में जाने का द्वार ही है। विवाहिता लडकी का माता पिता को छोडकर पति के पास जाने का साधन मात्र अन्धेरा है। मृत्यु के द्वारा ही हम अनन्त पूर्णता की ओर बढते हैं। अनन्त की ओर दुःख, शोक और मृत्यु के द्वारा बढने में ही हमारी मोक्ष साधना है। मोक्ष का अर्थ हम लोगो के लिये सीमाओ से बाहर निकल कर अपने को असीमित और अनन्त परमानन्द रूप ब्रह्म में परिणत करना है। यह अनन्त के प्रेम द्वारा ही सिद्ध हो सकता है और वह प्रेम हमारी सभी जीवन क्रियाओ द्वारा व्यक्त होना चाहिये। हमारे सब काम अहभाव और क्षुद्र और सीमित और नश्वर उद्देश्यो से प्रेरित न होकर अनन्त के प्रेम से ही प्रेरित होने चाहिये।

मूर्ति पूजा जिसमें अनन्त को हम अत्यन्त सीमित रूप मे पूजते हैं मनुष्य को ऊपर नही उठा सकती। जब कि समस्त विश्व ही भगवान् का मूर्त स्वरूप है तो उसको एक प्रतिमा में ही सीमित करके उस प्रतिमा को ही सब कुछ समझ कर उसकी भक्ति करना अनुचित है। यद्यपि मूर्तिपूजक लोग कहते हैं कि मूर्तिपूजा साधना की सीढी का सबसे नीचा डण्डा है, इसके द्वारा मन को स्थिर किया जा सकता है और साधना मे आगे बढने पर इसका परित्याग किया जाता है तथापि यह देखने में आता है कि मूर्तिपूजक को अपनी कल्पित मूर्ति से इतना मोह और मग हो जाता है कि वह कभी भी उसको छोड कर आगे नही बढता।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ससार की सबसे बडी बौद्धिक देन है उनका मानव धर्म का विचार जिसका प्रतिपादन उन्होने अपने हिब्बर्ट व्याख्यानो (Hibbert Lectures) में किया था। उन्होने बतलाया कि मानव के रूप में ही हम लोग अनन्त ब्रह्म का दर्शन कर

का सर्वनाश ही सम्भव है। इस लीलामय जगत् का प्रत्येक अवयव सुन्दर, महत्व वाला विशिष्ट, अपनी सीमा के भीतर स्वतन्त्र और अपने दृष्टिकोण से सर्वोत्तम है। अपने विशेषत्व को पूर्णतया प्रगट करके ही वह इस लीला को सफलता में भागी बन सकता है। स्वगुण स्वधर्म और स्वकर्म का परित्याग करके और दूसरे अवयवों के रूप गुण और धर्म की नकल करके नहीं। जो जो कुछ है जहाँ है जैसा है उसी में भगवान् की लीला का भेद समझने का प्रयत्न करना चाहिये। किसी कविता के लिये जिस प्रकार उसके अन्तर्गत प्रत्येक शब्द का महत्व है किसी चित्र के लिए जिस प्रकार प्रत्येक रंग बिन्दु का महत्व है जिस प्रकार किसी नाटक में प्रत्येक पात्र और उसके प्रत्येक शब्द और क्रिया का महत्व है और किसी नृत्य में जिस प्रकार प्रत्येक हाव भाव और गति का महत्व है उसी प्रकार भगवान् के लिये सृष्टि के कणों का महत्व है। जिस प्रकार प्रत्येक शब्द बिन्दु, पात्र, हावभाव से समस्त कविता चित्र नाटक नृत्य के पूर्णत्व सौन्दर्य और आनन्द का प्रादुर्भाव होता है उसी प्रकार भगवान् इस सृष्टि में अपने प्रत्येक आविर्भूत रूप के द्वारा अपनी लीला कर रहे हैं।

इस सृष्टि-लीला में भगवान् का प्रयत्न यह है कि वह अनन्त और अपार होता हुआ भी अपने को अपने पूर्ण रूप से कैसे छोटे से छोटे और सीमित आकार में प्रकट करे, और प्रकटित आकारों का उद्देश्य और प्रयत्न यह है कि वे अपने सीमित और अणु रूप में ही किस प्रकार असीम अनन्त और ब्रह्म रूप का अनुभव करें। अणु और महान् कभी अलग तो हुये ही नहीं। महान् से महान् ब्रह्म अणु से अणु रूप में अपने को प्रकट करने का प्रयत्न कर रहा है और अणु से अणु जीव अपने को महान् से महान् ब्रह्म रूप में देखना चाहता है। यही बन्धन और मोक्ष सृष्टि विकास और लय का रहस्य है। मानव धर्म क्या है मानव को अपने मानवरूप में ब्रह्म के विशेष रूप का अनुभव करना और अपने का यथोचित ज्ञान कर्म और भावनाओं द्वारा अपने ब्रह्मत्व का अनुभव करके मानव रूप में अनन्त ब्रह्मत्व का प्रादुर्भाव करना ही मानव धर्म है। क्योंकि अनन्त ब्रह्म की सीमित होने की ओर प्रवृत्ति है और सीमित मानव की अनन्त होने की ओर प्रवृत्ति है। एक सीमित को प्यार करता है और दूसरा अनन्त को। दोनों में परस्पर प्रेम है। दोनों का मिलन मानव जीवन में होता है।

मानव जीवन में ही मनुष्य और ब्रह्म का मिलन होना चाहिये यहीं पर सीमित और असीमित का मेल होना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब कि मनुष्य अपने में अनन्त होने की प्रवृत्ति को जागृत करके अपने विचारों भावनाओं और क्रियाओं को अनन्त से अनुप्राणित करे अपनी और समाज की बनाई हुई झूठी सीमाओं को देश जाति, रंग सम्प्रदाय इन दीवारों को तोड़ कर अनन्त प्रेम से प्रेरित होकर केवल सब प्राणियों ही से नहीं बल्कि समस्त प्रकृति के साथ आत्मत्व और बन्धुत्व का व्यवहार करे। समस्त ब्रह्माण्ड

जब एक ही ब्रह्म की लीला है तो भला उसमें कौन गैर है। किससे मेरा सम्बन्ध नही है? सब सब से सम्बन्धित हैं। सब में एक ही प्राण और एक ही मन व्याप्त है। अनेकता के द्वारा एक ही तो अपने आप को व्यक्त कर रहा है। उपनिषद् का ऋषि भी कहता है कि ब्रह्म एक था उसने अनेक और सीमित होने का सकल्प किया था तभी तो सृष्टि हुई। जब इस अनन्त अनेकता में एक ही व्याप्त है तो विश्व बन्धुत्व ही हमारे जीवन का लक्ष्य और हमारे सब कामो का मूल प्रेरक होना चाहिये।

ससार में दुःख और शोक हैं। मृत्यु भी है। ये न होते तो सीमित मानव असीमित ब्रह्म बनने, परमानन्द की प्राप्ति करने का यत्न ही न करता। दुःख, शोक और मृत्यु का अनुभव तभी तक होता है जब तक कि मनुष्य के विचार, भावनायें और क्रियायें सीमित दृष्टि से होती हैं। असीम और अनन्त में तो इनका अभाव हो जाता है। जब हमारी दृष्टि विस्तृत और आध्यात्मिक होकर हम विश्व प्रेम से प्रेरित होकर जीवन यापन करते हैं तो दुःख, शोक और मृत्यु का अनुभव नही होता। उच्च नैतिक भावनाओ से प्रेरित होकर सबके हित के काम करने से आदमी दुःख और शोक से ऊँचे उठ जाता है। मौत तो हमारे लिये एक कमरे से दूसरे और अच्छे कमरे में जाने का द्वार ही है। विवाहिता लडकी का माता पिता को छोडकर पति के पास जाने का साधन मात्र अन्धेरा है। मृत्यु के द्वारा ही हम अनन्त पूर्णता की ओर बढ़ते हैं। अनन्त की ओर दुःख, शोक और मृत्यु के द्वारा बढने में ही हमारी मोक्ष साधना है। मोक्ष का अर्थ हम लोगों के लिये सीमाओ से बाहर निकल कर अपने को असीमित और अनन्त परमानन्द रूप ब्रह्म मे परिणत करना है। यह अनन्त के प्रेम द्वारा ही सिद्ध हो सकता है और वह प्रेम हमारी सभी जीवन क्रियाओ द्वारा व्यक्त होना चाहिये। हमारे सब काम अहभाव और क्षुद्र और सीमित और नश्वर उद्देश्यो से प्रेरित न होकर अनन्त के प्रेम से ही प्रेरित होने चाहिये।

मूर्ति पूजा जिसमें अनन्त को हम अत्यन्त सीमित रूप में पूजते हैं मनुष्य को ऊपर नही उठा सकती। जब कि समस्त विश्व ही भगवान् का मूर्त स्वरूप है तो उसको एक प्रतिमा मे ही सीमित करके उस प्रतिमा को ही सब कुछ समझ कर उसकी भक्ति करना अनुचित है। यद्यपि मूर्तिपूजक लोग कहते हैं कि मूर्तिपूजा साधना की सीढी का सबसे नीचा डण्डा है, इसके द्वारा मन को स्थिर किया जा सकता है और साधना में आगे बढने पर इसका परित्याग किया जाता है तथापि यह देखने में आता है कि मूर्तिपूजक को अपनी कल्पित मूर्ति से इतना मोह और सग हो जाता है कि वह कभी भी उसको छोड कर आगे नही बढ़ता।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ससार की सबसे बडी बौद्धिक देन है उनका मानव धर्म का विचार जिसका प्रतिपादन उन्होने अपने हिब्बर्ट व्याख्यानो (Hibbert Lectures) में किया था। उन्होने बतलाया कि मानव के रूप में ही हम लोग अनन्त ब्रह्म का दर्शन कर

सकते हैं। उसकी पूजा उपासना और भक्ति मानव प्रेम मानव हित मानव सेवा द्वारा ही की जा सकती है। उसकी सबसे उत्तम पूजा मानव जीवन को आनन्दमय सुन्दर और पवित्र बनाने का प्रयत्न है। मानव जीवन ब्रह्म का जीवन है। मानव जीवन में ब्रह्म ने अपने आप को प्रादुर्भूत किया है। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि हम इस *जीवन में ही ब्रह्म के दर्शनों का अनुभव करें। मानव ब्रह्म है और ब्रह्म मानव है दोनों—* सीमित और असीमित का अद्भुत प्रेमालिंगन मानव जीवन में हो रहा है। इसको समझकर इसका अनुभव करना और तदनुसार मनुष्यों का आचरण होना चाहिये। यही *मानव जीवन की पूर्णता है।*

मानव जीवन को ब्रह्ममय बनाने के लिये संसार को छोड़कर या किसी भी मानवी प्रवृत्ति या इच्छा का त्याग कर सन्यास लेने की आवश्यकता नहीं है। न सब कर्मों को त्याग कर निष्क्रिय होने की आवश्यकता ही है। यह संसार और मानव जीवन भगवान के आनन्द प्रेम और इच्छा द्वारा ही चल रहा है और मनुष्य के रूप में व्यक्त हो रहा है। तब इच्छा प्रेम और सुख साधन की क्रियाओं को छोड़कर मनुष्य का कल्याण कैसे होगा? मानव का धर्म यही है कि उसकी सब क्रियायें अहंकार और क्षुद्र स्वार्थ से प्रेरित न होकर मानव मात्र के हित से प्रेरित होनी चाहियें। मानव जीवन को ब्राह्मी जीवन बनाने में भगवान् के साथ सक्रिय सहयोग करना ही मानव का धर्म है। विश्वगत सब वस्तुओं, घटनाओं दृश्यों और मनुष्यों के साथ एकात्मता का ज्ञान उनके साथ एकात्मता का अनुभव और उससे प्रेरित विश्व प्रेम और तदनुसार सर्वहित का आचरण मानव धर्म है। प्रकृति, मनुष्य और भगवान् में कोई अन्तर और बाधा नहीं समझना और सब में सामञ्जस्य का अनुभव करना मनुष्य का कर्तव्य है मनुष्य की सबसे बड़ी साधना यही है कि वह विश्वगत प्रत्येक वस्तु में अनन्त पूर्ण और परमानन्द स्वरूप ब्रह्म का दर्शन करे, अनुभव करे और उसके प्रति प्रेम और श्रद्धा से अपने शुद्ध मन को पूर्णतया समर्पण करदे और तन्मय होकर जीवन को उसकी सेवा में ही लगा कर सार्थक करे।

महादेव गोविन्द रानाडे और प्रार्थना समाज

१८६४ ई० में बंगाल के ब्रह्म समाज के नेता केशवचन्द्र सेन बम्बई गये और वहां पर उन्होंने अपने विचारों का प्रचार किया। उसका बहुत प्रभाव पड़ा और उसके *फलस्वरूप बम्बई में एक 'प्रार्थना समाज' का संगठन हुआ जिसके चार उद्देश्य थे—* १—जाति व्यवस्था का निराकरण २—विधवा विवाह का प्रचार ३—स्त्री शिक्षा का प्रबन्ध बाल विवाह का विरोध और ४—एक निराकार भगवान् की उपासना।

इस समाज की प्रथम बैठक १८६८ ई० में हुई। इस समाज में सर्वाधिक कर्मठ व्यक्ति महादेव गोविन्द रानाडे थे। रानाडे बहुत समझदार देशभक्त और सुधारक थे।

उन्होंने प्रार्थना समाज की बगाल के ब्रह्म समाज से भिन्न प्रकार के साँचे में ढाल दिया। प्रार्थना समाज में सवर्ण हिन्दू और मूर्तिपूजक हिन्दू भी सम्मिलित हो सकते थे। इस समाज का उद्देश्य हिन्दू समाज का सुधार करना था न कि किसी दूसरे समाज का निर्माण। उन्होने जीवन भर स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह, बाल विवाह विरोध और जाति भेद निराकरण और शुद्ध भगवद् भक्ति का लेखो और व्याख्यानो द्वारा प्रसार किया। उनका विचार था कि हिन्दू समाज के वे सब दोष जिनको वे दूर करना चाहते थे उसमे प्राचीन वैदिक समय में नही थ, ये दोष पौराणिक काल में हमारे समाज में आ गये थे। उनके मतानुसार वर्तमान हिन्दू समाज में बहुत सी बुरी प्रथाओ के चलने के और भी अनेक कारण हैं जिनमें से मुख्य हैं भारत का दूसरे देशो से अलग अलग रहना, अपनी अन्तरात्मा के निर्णय को न मान कर बाहर की शक्तियो द्वारा जीवन का नियन्त्रण होना, जन्मज और वशज भेदो को महत्व देना, बुरे वर्ताव को सह लेना और इस लोक से विरक्ति तथा देवाधीनता। रानाडे का दृढ विचार था कि भारतवर्ष तभी उन्नति करेगा जब कि भारतीय अपने समाज में से इन दोषो को निकाल कर अपने जीवन और समाज को शुद्ध बना लेंगे।

श्री रामकृष्ण परमहस और उनके उपदेश

उन्नीसवी शताब्दी के भारत का वह सितारा जिसकी चमक आज भी दूर दूर तक पहुँच कर पृथ्वी मण्डल के कोने कोने तक प्रकाश पहुँचा रही है और जिसके नाम पर ससार में आज अनेक दीन दारद्र और रोगी व्यक्तियो को नि शुल्क सेवा हो रही है राम कृष्ण परमहस के नाम से प्रसिद्ध है। उनके जीवन और शिक्षाओ द्वारा भारत की सनातन और सर्वसमन्वयी विचारधारा और सस्कृति में जिसको पाश्चात्य ईसाई सभ्यता ही नही, उस सभ्यता में जिन महान् भारतीय सुधारको का लालन पालन हुआ था वे भी घृणा की दृष्टि से देखते थे, और जिसमें काट-छाँट करके और पाश्चात्य विचारो और आचार व्यवहार का सम्मिश्रण करके वे एक नया रूप देने का प्रयत्न कर रहे थे, अपने निजी और सर्वांगी स्वरूप में जाग्रत हो उठी। उनके प्रादुर्भाव ने भारत की हीन भावना को मिटाकर भारत को आध्यात्मिक, धार्मिक, और नैतिक जगत् का फिर एक बार गुरू बनने का अवसर दिया और उनसे प्रभावित होकर उनके शिष्यो ने भारतीय सस्कृति का सदेश पृथ्वी के कोने कोने तक पहुँचाया, जिसके फलस्वरूप और ससार के प्राय सभी देशो में श्री रामकृष्ण मिशन नामक सस्थायें वेदान्त के प्रचार का सुन्दर काम कर रही हैं।

श्री रामकृष्ण परमहस का बालकपन का नाम गदाधर था। उनका जन्म बगाल के हुगली जिले के एक गाँव में एक गरीब चट्टोपाध्याय ब्राह्मण कुल में १८३६ ई० में हुआ था। उनका भाई कलकत्ते के एक मन्दिर में पुजारी का काम करता था। जब गदाधर १७ वर्ष का था तो उसका भाई उसको अपने काम में सहायता करने के लिये कलकत्ते

के आया और कुछ काल बीतने पर कलकत्ते से चार मील पर गंगा के किनारे स्थित एक काली देवी के मंदिर में पूजा करने के लिए उनको नियुक्त करा दिया।

गदाधर एक सीधा-सादा अनपढ़ सरल और सात्विक स्वभाव का बालक लड़का था। जिस देवी की मूर्ति की पूजा करने को उनकी नियुक्ति हुई थी उसमें जीता-जागता साक्षात्कार करने उससे आमने सामने बात करने और उससे जीवन के प्रति आदेश प्राप्त करने की उनके मन में प्रबल आकांक्षा हुई और इतनी तीव्र हो गई कि "कार्यं साधयामि वा शरीरं पातयामि" ऐसा दृढ़ निश्चय कर लिया गया। जगज्जननी काली माँ की भक्ति, उनका प्रेम और उनसे साक्षात्कार करने की उत्कट इच्छा ने उनको पागल सा बना दिया। वे उस जिद्दी और हठी बालक की भाँति जो हर प्रकार के व्यवहार द्वारा माँ की कृपा को प्राप्त करना चाहता है, व्यवहार करने लगे। बहुधा माँ के न मिलने के कारण उनको बड़ा सन्ताप होता था। और घंटों तक रो-रोकर बेहोश हो जाते थे। कभी-कभी संस्कारजात विश्वास को ठेस लगती थी कि क्या ईश्वर या उसकी शक्ति माँ का कोई अस्तित्व भी है या नहीं? अथवा प्रस्थापित उसकी मूर्ति कुछ सुनती भी है या नहीं? कुछ काल के इसी मानसिक कष्टमय जीवन के पश्चात् उनको माँ के रूप में ही भगवान् ने दर्शन दिया और उनके जीवन में आध्यात्मिक स्फूर्ति जागृत हुई और साथ ही प्रतिमा पूजा का एक नया अध्याय आरम्भ हो गया। यद्यपि उनकी भगवान् साक्षात्कार की अभिलाषा और प्रयत्न बराबर चलते रहे और इस दिशा में उनको बहुत से अनुभव भी हुए, उनका जीवन श्रद्धा और विश्वास से ओत-प्रोत हो गया। इसके पश्चात् उन्होंने अपने देश में प्रचलित और अपने शास्त्रों में उपदिष्ट नाना प्रकार की साधनाओं द्वारा भगवान् के नाना रूपों में दर्शन करने का समय समय पर नित्य नवीन प्रयत्न किया। कभी तांत्रिक रीति से कभी रामभक्ति की रीति से कभी गोपियों के आत्मनिवेदन और आत्मसमर्पण की रीति से कभी राजयोगियों और हठ योगियों की रीति से और कभी श्री शंकराचार्य के द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद की रीति से कभी चैतन्य महाप्रभु की हरिकीर्तन की रीति से और कभी ईसाई रीति से। हर रीति के उसके तत्सम्बन्धित भाव पर सर्वसाधना और पूरा श्रम से चलकर और तथाकथित भगवान् के रूप का साक्षात्कार करके उन्होंने जीवन की वह अवस्था प्राप्त कर ली जिसपर आरूढ़ होकर मनुष्य के सब बन्धन दूर कर सब क्षुद्र और पक्षपात वाले विचार नष्ट होकर और परम उदारता का भाव जागकर वह जीवनमुक्त ही नहीं परमहंस हो गये। यह जीव की वह सर्वोच्च अवस्था है जिसमें उसके लिए कुछ भी हेय और उपादेय नहीं रहता और वह सबके साथ आत्मभाव का अनुभव करता हुआ अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। विचार सागर के लेखक ने ठीक कहा है "ब्रह्म नहि ब्रह्म भिन् ताकी वाणी मैन"।

अब रामकृष्ण परमहंस की वाणी से जो शब्द, उपदेश, दृष्टांत, कथा-कहानी निकलती थी वे वेद मंत्रों और उपनिषदों के उपदेशों और गीता के वाक्यों की नाई हृदयग्राही, मर्मस्पर्शी, सरल जीवन तथा जगत् के रहस्यों का उद्घाटन करने वाली और श्रोताओं के हृदय की गाँठ खोलने वाली, तथा उनके जीवन में एक अलौकिक उत्साह और प्रकाश लाने वाली होती थी। जो भी जिज्ञासु या साधक उनके पास आकर उनकी बातों को सुनता था वही कुछ लेकर जाता था। उनकी बातें इतनी सरल होती थी कि साधारण ज्ञान और बुद्धिवाला व्यक्ति भी उनको ग्रहण कर लेता था। पर वही बातें इतनी गहरी और युक्तिपूर्ण और रहस्यमय होती थी कि बड़े से बड़े साधक और विद्वान् को उनसे प्रकाश मिलता और उनकी बौद्धिक और आध्यात्मिक सन्तुष्टि हो जाती थी।

उनकी इस प्रकार की ख्याति दूर-दूर तक अन्य देशों में भी फैल गई थी। प्राय सभी धर्मों और सम्प्रदायों के अनुयायी उनके पास आकर उनसे कुछ न कुछ प्रकाश लेकर जाते थे। वे नवयुवक भी जो आधुनिक विज्ञान और पाश्चात्य दर्शनो के ज्ञान में निष्णात थे वे भी उनके विचारों और युक्तियों से प्रभावित होते थे। इस प्रकार के नवयुवको में से जो उनके साथ वार्तालाप और सत्संग में सबसे अधिक प्रभावित हुए और उनके शिष्य विवेकानन्द नाम से जगद्-विख्यात हुए और जिन्होंने उनका नाम योरुप और अमेरिका में प्रकाशित किया वे ही पहले नरेन्द्रनाथ दत्त नाम के कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक नास्तिक छात्रों में से थे। रामकृष्ण परमहंस तो पढना लिखना कुछ नही जानते थे और न उन्होंने कोई ग्रन्थ ही लिखा। केवल उनके शिष्यों ने उनके दिन प्रतिदिन के उपदेशो, वाक्यो, कथनों, वार्तालापों को संग्रह करके प्रकाशित किराया। उनके उपदेशो से लन्दनवासी मैक्समूलर भी इतना प्रभावित हुआ था कि उन्होंने श्री 'रामकृष्ण के कथन' नामक पुस्तक प्रकाशित की। उनके भारतीय शिष्यो द्वारा जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उनमें से उनके ही उपदेशो के सम्बन्ध में दो पुस्तकें सदा पठनीय और विचारणीय है—'श्री रामकृष्ण परमहंस के उपदेश' और 'रामकृष्ण परमहंस की कहावतें।'

अब यहाँ पर श्री रामकृष्ण परमहंस के कुछ आध्यात्मिक और नैतिक उपदेशो का उल्लेख करते हैं—

१—मनुष्य जीवन का एकमात्र और अन्तिम उद्देश्य ईश्वर साक्षात्कार और ब्रह्मतादात्म्य है।

२—संसार के जितने धर्म और साधन हैं सबका उद्देश्य मनुष्य को ईश्वर साक्षात्कार कराना है और सब धर्मों और साधनो द्वारा ईश्वर साक्षात्कार संभव है। मार्ग अनेक हैं पर गन्तव्य स्थान एक ही है।

३—ईश्वर के अनेक नाम और रूप होते हुए भी वह एक ही है और सब

नाम कर्मों द्वारा लोग उस तट पहुँच जाते हैं, यदि उनके भीतर ईश्वर प्राप्ति की तीव्र वासना और उत्कट प्रयत्न हो तब। ईश्वर प्राप्ति के मुख्य साधन जिनके अनक नाम और रूप हैं, प्रेम और प्रपत्ति हैं। ईश्वर को जब हम प्रेम से पुकारते हैं तो वह दौड़कर आता है।

४—ईश्वर का सबसे प्यारा नाम "माँ" है।

५—ईश्वर का दर्शन प्रत्येक क्षण प्रत्येक स्थान और प्रत्येक प्राणी में होना चाहिए। यह जगत् भी ईश्वर का ही व्यक्त रूप है। उसका अत्यन्त शान्त रूप भी है। वह शांत रूप और निर्विकार रूप में ब्रह्म है। माया ही सक्रिय रूप में ईश्वर है। हम उसको प्रेम से पुकारते हैं तो वह सुनता है। वह सगुण और निर्गुण सविशेष और निर्विशेष दोनों ही है। संसार में जो कुछ हो रहा है भगवान् की इच्छा से और उनके द्वारा सचालित ही रहा है। हम लोग तो उनके हाथ के खिलौना मात्र हैं। लेकिन भगवान् हमारे हृदय में भी विराजमान हैं। अतः हमारी इच्छायें और प्रयत्न भी उसकी ही हैं।

७—ईश्वर की सबसे अच्छी सेवा मनुष्यों की सेवा करना है।

८—कोई भी मनुष्य न भगवान् की सेवा कर सकता है और न मनुष्य की जब तक उसके हृदय में कामिनी और कंचन से विरक्ति नहीं होती। पहले भगवान् की कृपा प्राप्त कर के तब संसार की सेवा में लगना चाहिए और संसार की सेवा अपने किसी लाभ के उद्देश्य से नहीं करना चाहिए। भगवान् को प्रसन्न करने के लिये निष्काम भाव से अपने योग्य कर्तव्यों द्वारा करनी चाहिये।

९—भगवान् को जिस रूप में कोई श्रद्धा-भक्ति और प्रेम से पूजता है उसको पूजने देना चाहिये। जो जिस सम्प्रदाय का अनुकरण करता हो उसको करने देना चाहिये। दूसरों के विश्वासों, उपासनाओं आचार, व्यवहार की निन्दा नहीं करनी चाहिए। सबको अपने अपने मार्ग पर चलने देना चाहिए। क्योंकि सबको अपने-अपने मार्ग द्वारा भगवान् की प्राप्ति होती है।

१०—दुष्ट की दुष्टता के बदले में उसके साथ दुष्टता नहीं करनी चाहिए, पर उससे डरना भी नहीं चाहिए। वीरता के साथ उसका मुकाबला करके उसको भयभीत तो कर ही देना चाहिए। साँप यदि किसी को काटे नहीं और केवल उसके प्रति अपनी फुँकार ही प्रकट कर दे तो वह डर कर भाग जायेगा। दुष्टों से आत्मरक्षा करना आवश्यक है।

११—सेवा और शुभ कर्मों में भी आदमी को इतना निमग्न नहीं होना चाहिये कि वह भगवान् को भूल जाय और कर्मों के जाल में फँस जावे। कर्म तो साधन मात्र हैं। लक्ष्य तो भगवत् साक्षात्कार ही है।

१२—मनुष्य जो कुछ भी है और जो कुछ प्राप्त करता है वह उसके विश्वास, श्रद्धा और आशा का फल है। भगवान् तो कल्पवृक्ष के समान है। कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर आदमी जो मांगता है वही उसको मिल जाता है।

१३—भगवान् मे श्रद्धा, विश्वास और प्रार्थना मे जो मांगो वही मिल जाता है।

१४—मूर्तिपूजा के द्वारा मनुष्य अपने मन को स्थिर करके निराकार ब्रह्म पर भी स्थिर कर सकता है। मूर्त्त भगवान् की उपासना अमूर्त की उपासना के लिए अभ्यास है। जिस प्रकार पक्षियों के पख पानी मे गीले नही होते उसी प्रकार ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त सिद्ध पुरुष को ससार के सुख दु ख स्पर्श नहीं करते।

१५—जिस प्रकार बिना जमा हुआ दूध पानी मे मिल जाता है और दोनो का अलग करना कठिन होता है, लेकिन दही जम जाने पर पानी डालने पर भी पानी और दही अलग-अलग रहते हैं इसी प्रकार साधनावस्था में साधक के उपर कुसग का प्रभाव पडता है। सिद्ध होने पर कुछ नही पडता।

१६—भौंरा तभी तक भुनभुनाता है जब तक वह फल के पराग में पहुँच कर उसका रसास्वादन नही करता। रसास्वादन के समय वह शान्त होकर आनन्द में मस्त हो जाता है, इसी प्रकार जब तक भगवान् के साक्षात्कार का आनन्द नही प्राप्त होता साधक दूसरे के विचारों और साधनाओं के सम्बन्ध मे लडता झगडता है।

१७—बच्चा तभी तक खिलौने से खेलकर मन बहलाता है जब तक माता घर में प्रवेश नही करती। देखने पर सब खिलौने फेंक कर माता से चिपट जाता है। इसी प्रकार भगवान् का साक्षात्कार कर लेने पर ससार की वस्तुओ की वासनाएँ खत्म हो जाती हैं और उनमें कुछ रस नही रहता।

१८—यह न सोचो की जनक की नाई तुम भी ससार में रहते हुए सासारिक राग और द्वेषों से विमुक्त रहोगे। याद रक्खो कि अब तक ससार में एक ही जनक हुआ है, बहुत से नही।

१९—ज्ञानी वह है जो आम खाकर तृप्त होता है। मूर्ख वह है जो आम खाने से पहिले अनेक प्रकार की—किसका बाग है? कब लगा था? कितने पेड़ हैं?—जिज्ञासाएँ करता रहता है और अपना समय व्यर्थ के वाद-विवाद मे खोता है।

२०—जिस प्रकार अपरिचित स्थान पर जाकर वहाँ से किसी परिचित व्यक्ति के बनाये हुए मार्ग पर चलकर गन्तव्य स्थान को पहुँचता है, उसी प्रकार ईश्वर को प्राप्त करने के लिए भी ऐसे गुरू के बताये हुए मार्ग का आश्रय लेना चाहिए जिसने ईश्वर साक्षात्कार कर लिया हो।

२१—दूसरों को उपदेश देने और धन कमाने में अपनी शक्ति को बर्बाद करने से अच्छा यही है कि आप स्वयं भगवान् की प्राप्ति करें मुक्त हों और शान्ति का अनुभव करें। आपके पास स्वयं ही जब आप सिद्ध हो जायेंगे अनेक शिष्य आयेंगे। जब फूल खिलता है तो स्वयं ही भौंरे आकर मंडराते हैं।

२२—जिस प्रकार धान के बीज जमाने के लिए उसके चावल के ऊपर का छिलका भी आवश्यक है इसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति करने के लिये पूजा-पाठ और संस्कारों की भी आवश्यकता पड़ती है।

स्वामी विवेकानन्द

श्री रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों का देशान्तर में प्रचार स्वामी विवेकानन्द द्वारा तथा उनकी स्थापित की हुई संस्था श्री रामकृष्ण मिशन द्वारा हुआ। विवेकानन्द केवल एक प्रचारक ही नहीं थे वे एक मौलिक विचारक व्याख्याता और कर्मठ व्यक्ति भी थे। उन्होंने अपने अल्पकालीन जीवन में इतना काम किया जितना लोग पूरे जीवन में भी नहीं कर पाते। भारत और भारतीय संस्कृति का उनके द्वारा बहु सम्मान और यह गौरव प्राप्त हुआ कि पुनः संसार का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ और संसार ने आध्यात्मिक प्रकाश के लिये भारत की ओर देखना आरम्भ कर दिया। उन्होंने हिन्दुत्व और वेदान्त की संसार भर में यह दुन्दुभी बजाई कि इसको मूल धर्म और अध्यात्मवादी दर्शन समझने वाले संसार के व्यक्तियों को भी उसके ज्ञान के लिये जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उसे प्राप्त करने के लिए लालायित हो गये।

स्वामी विवेकानन्द का जन्म कलकत्ता में १८६३ ई० में हुआ। उनका बाल्यकाल का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। वे बड़े होनहार प्रतिभाशाली विचारशील, और परिश्रमी विद्यार्थी थे। अपने विद्यार्थी जीवन में उनको सत्य की खोज और ज्ञान प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा थी। पाश्चात्य साहित्य विज्ञान और दर्शन के अध्ययन का उन्हें शौक था। इसके अध्ययन और स्वतन्त्र विचार के कारण उनका ईश्वर के अस्तित्व में से विश्वास उठ गया था। उन्होंने जबकि दक्षिणेश्वर के मन्दिर के सन्त रामकृष्ण परमहंस की ख्याति सुनी तो उनके पास जाने लगे।

उनके प्रथम मिलन पर ही श्री रामकृष्ण को हार्दिक उल्लास हुआ और इनके ऊपर भी परमहंस देव का अपूर्व और अद्भुत प्रभाव पड़ा। प्रथम मिलन पर ही नरेन्द्र ने प्रथम प्रश्न यह पूछा "क्या आपने ईश्वर को देखा है? उत्तर मिला "हाँ? ऐसे ही देखा है जैसा कि मैं आपको देख रहा हूँ बल्कि इससे अधिक स्पष्टता और निश्चितता के साथ फिर परमहंस बोले "भगवान का साक्षात्कार हो सकता है। उससे इस प्रकार

वार्तालाप हो सकता है जिस प्रकार मेरा और तुम्हारा हो रहा है। पर यह तभी सभव है जबकि ईश्वर से मिलने की उतनी ही तीव्र अभिलाषा हो जितनी की बीवी-बच्चों, धन-सपत्ति के प्राप्त करने के लिये होती है। उतना ही उनके न प्राप्त होने पर रोये जितना इनके।"

फिर किसी समय पर उन्होंने कहा था कि यदि ईश्वर को प्राप्त करने की उतनी तीव्र इच्छा हो जाये, जितनी पानी में डूबते हुए मनुष्य को साँस लेने के लिये हवा की होती है, तो ईश्वर तुरन्त मिल जाये। माँ तब तक बालक के पास नही आती जब तक वह खिलौनो द्वारा खेलने मे उसको भूले रहता है पर जब वह उनको फेंककर माँ के लिये रोने लगता है तो माँ तुरन्त दौड आती है और बच्चे को गोदी में उठा लेती है और प्यार से उसका मुँह चूमती है।

नरेन्द्र दत्त के ऊपर इस प्रकार के उत्तर का अद्भुत् प्रभाव पडा और वे बराबर परमहस देव के पास आने लगे और उनके शिष्य बन गये। रामकृष्ण परमहस की विशेष कृपा उन्होंने प्राप्त की और उनको उनके स्पर्श में आने से आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हुई और उनके हृदय की ग्रन्थियाँ खुल गई। स्वानुभूतियो, उपदेशो, अध्ययन और विचारो द्वारा नरेन्द्र ने अपने को अपने गुरु देव के आदेश और सदेशो को ससार में फैलाने के लिये सन्नद्ध किया। अपने देहावसान के तीन दिन पूर्व गुरुदेव ने नरेन्द्र को समीप बुलाकर यह कहा "नरेन्द्र आज मैं अपना आध्यात्मिक सर्वस्व तुमको अर्पित करता हूं। अब तुम ससार में बहुत बडे काम करोगे।"

१८८६ में श्री गुरुदेव क देहावसान होने पर विवेकानन्द और परमहस देव के सभी शिष्यो को महाशोक हुआ और उन्होंने इकट्ठे होकर गुरुदेव के उपदेशो के महत्व की चर्चा की और उनका प्रचार करने का निश्चय किया। उनमें से कई सन्यास ग्रहण करके परिव्राजक बने और देश में घूम फिरकर गुरुदेव के विचारो का प्रचार करना आरम्भ किया। नरेन्द्र ने अपना नाम स्वामी विवेकानन्द रखा। गुरुदेव के मरने के पीछे दो साल तक स्वामी जी ने अपने आप को विश्व प्रचारक बनाने की तैयारी की और फिर पाँच साल तक भारत भर की महा कठिन पैदल यात्रा की और भिक्षा द्वारा अपने शरीर को कायम रखा। भारत के छोटे से छोटे दीन हीन किसान और श्रमिक से लेकर दीवानो और महाराजाओं से मिलकर भारत की समस्याओ को और भारत की सुप्त आध्यात्मिक शक्ति और सास्कृतिक एकता को समझा।

जिस समय भ्रमण करते-करते वे भारत के दक्षिणी कोने कन्याकुमारी में पहुँचे वहाँ पर समुद्रगत भारत की दृश्यमान अन्तिम चट्टान पर बैठकर विचार और ध्यान में मग्न हुये उस समय उन्होंने भारत की सर्वभाव मे सेवा करने और भारत के पुरातन

महत्व और गौरव को फिर स्थापित करने का दृढ़ संकल्प किया। उस समय उनको यह सूझा कि भारत के पतन का विशेष कारण उसकी गरीबी और अज्ञान की अनुभूतना है। उस दिन से विवेकानन्द ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर भारतीय समाज का उद्धार करने के लिये दृढ़ प्रयत्न करने का संकल्प किया और जब तक अत्यन्त परिश्रम करने आराम न मिलने और सब-तरह प्राप्त भोजन करने से उनका शरीर जर्जर होकर अल्पायु में ही क्षीण नहीं हो गया तब तक वे अधिक परिश्रम करते रहे। उनकी सेवाएँ बहुमुखी थीं, पर सब से मुख्य थीं —

(१) अमेरिका यूरोप आदि पाश्चात्य देशों में जाकर वेदान्त का प्रचार और भारत के उत्थान और स्वातन्त्र्य के लिये सहानुभूति प्राप्त करना।

(२) श्री रामकृष्ण मिशन का संगठन करना और देश और विदेशों में उसकी शाखाएँ खोलना प्रत्येक मिशन के साथ-साथ दीन दुखियों और रोगियों की सेवा करने के लिये रामकृष्ण सेवाश्रमों की स्थापना करना।

(३) योग और वेदान्त के तत्वों को समझाने के लिए जहाँ तहाँ व्याख्यान देना और पुस्तक लिखना।

(४) रामकृष्ण मिशनों और रामकृष्ण सेवाश्रमों में सेवा करने प्रचार करने और अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों की व्याख्या करने और इनके योग्य होने के लिये आध्यात्मिक साधना करने योग्य रामकृष्ण अद्वैताश्रमों की जहाँ-तहाँ स्थापना करना। इस प्रकार के बहुत व्यस्त जीवन के कारण अपने शरीर के स्वास्थ्य का नाश करके बल्कि यह कहना चाहिये कि अपने शरीर, मन और आत्मा को सारे धर्म देश सेवा की वेदी पर बलिदान करके केवल ३९ वर्ष की अवस्था में ही १९०२ में वे इस लोक से चल बसे। उन्होंने भारत हिन्दुत्व और दीन जनों की सेवा का ऐसा आदर्श स्थापित कर दिया जिसको पहुँचना विरले लोगों के लिये सम्भव है।

उनकी आध्यात्मिक धार्मिक और नैतिक शिक्षा वही थी जो हमको वेदों, उपनिषदों इतिहासों पुराणों और भगवद्गीता और योग के ग्रन्थों और दर्शनों में मिलती है और जिसकी पुष्टि रामकृष्ण परमहंस ने अपने अनुभव और उपदेशों द्वारा की थी विशेषता केवल इतनी है कि स्वामी विवेकानन्द ने अपने पुराने और सनातन सिद्धान्तों को इस आधुनिक रूप में संसार के सामने और विशेषतः भारतीयों के सामने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जो समयानुकूल हो जिसको पाश्चात्य देश वाले जिज्ञासु भी ग्रहण कर सकें और जो आधुनिक विज्ञान दर्शन और विचारों के विरुद्ध न होकर उनकी कमी को पूर्ण करे। उन्होंने जो हमारे नीति शास्त्र को बहुत बड़ी देन दी वह यह है कि भगवान का एक रूप दरिद्रनारायण भी है। उसको उस स्वरूप में सेवा करने से भी भगवान् की

प्राप्ति और उतनी ही आध्यात्मिक उन्नति होती है जितनी कि योग, ज्ञान, भक्ति, ध्यान और उपासना आदि साधनों से। दीन, दुखियो और रोगियो की निष्काम भाव और ईश्वरार्पण द्वारा सेवा करना भी बहुत बड़ा योग है। यह सेवायोग विवेकानन्द की भारत को बहुत बड़ी देन है। स्वामी विवेकानन्द की मुख्य नैतिक शिक्षा यह है—

(१) वेदान्त का ऊँचा से ऊँचा आदर्श ब्रह्म के साथ एक्य का अनुभव करना केवल जंगल में रहने वाले सन्यासियो के लिये ही नही है। इस आदर्श को साधारण गृहस्थो और श्रमिक भी अपने सामने रखकर और अपने साधारण सासारिक कामो को करता हुआ भी इस जीवन में प्राप्त कर सकता है। अपने सासारिक और व्यावहारिक कर्त्तव्यो का पालन करता हुआ मनुष्य भी ब्रह्म ज्ञानी और ब्रह्माभ्यासी हो सकता है।

(२) भगवान् इस जगत् से परे होते हुए भी इस जगत् में व्याप्त हैं और जगत् गत जितने नाम रूप हैं सब उसी के हैं। सब में वही प्रकट हो रहा है अतएव मनुष्यो को जो कि भगवान् का ही रूप है सेवा द्वारा भगवान् का साक्षात्कार हो सकता।

(३) जीव, ईश्वर, ब्रह्म में केवल अविद्या और ज्ञान के तारतम्य का ही भेद है। जीव व्यष्टि अभिमानी ब्रह्म है, ईश्वर ब्रह्माण्डाभिमानी सर्वव्याप्त और सबसे परे का अनुभव ब्रह्म है। ब्रह्मकार वृत्ति होने पर जीव अपने वास्तविक रूप, परब्रह्म, का अनुभव करने लगता है। अविद्या, अज्ञान अथवा माया केवल अपने स्वरूप को भूलने और अपने को अनन्त और परमानन्द रूप ब्रह्म न समझने का नाम है। जब हम अपने वास्तविक और पूर्ण स्वरूप का अनुभव करने लगते हैं तो हमारे लिये माया का अन्त हो जाता है।

(४) माया के परदे को हटाने के अनेक मार्ग हैं। सब मार्गों अर्थात् साधनाओ का उद्देश्य एक ही है, जीव का ईश्वर से मिलन और ऐक्य भाव। प्रत्येक जीव को अपनी परिस्थिति, स्वभाव, शक्ति, प्रवृत्ति और विश्वास के अनुसार जो साधना सुलभ हो उसके द्वारा ही वह ब्रह्म साक्षात्कार कर सकता है।

(५) मनुष्य का विचार, मन, और विश्वास और उसकी कल्पनायें ही उसको जो वह है उसको बनाने की जिम्मेदार हैं। जो अपने को जैसा बनाना चाहता है और कल्पित करता है, मानता है और समझता है वह वैसा ही हो जाता है। अपने को क्षुद्र जीव समझने से जीवत्व का और ईश्वर समझने से ईश्वरत्व का और ब्रह्म समझने से ब्रह्मत्व का अनुभव होने लगता है। मनुष्य की समस्त सीमायें समस्त बन्धन और समस्त परिस्थितियाँ उसकी स्वयं बनाई हुई हैं।

(६) निर्बलता, भय, और सन्देह आध्यात्मिक और सासारिक उन्नति के बाधक हैं। आत्म विश्वास और बल से रहित को आत्मज्ञान और मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकते।

कायरता पाप है। हम सब में अनन्त शक्ति सुप्तावस्था में वर्तमान है। उसको जगाओ, उठो और निर्भय हो जाओ। किसी से कभी भय न मानो।

(७) संसार के सब धर्म अपने-अपने देश युग और विशेष परिस्थितियों में और विशेष स्वभाव वाले व्यक्तियों के लिये उपयोगी और उचित हैं। किसी की निन्दा या अवहेलना नहीं करना चाहिये। जो जिस धर्म का अनुयायी है वह उसमें रहता हुआ ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। धर्म परिवर्तन करने की अथवा कराने की कोई आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है विचारों के उच्च और विशाल होने की और मानवमात्र के साथ प्रेम सद्भाव और सद्व्यवहार से वर्तन करने की।

(८) आधुनिक विज्ञान और अद्वैतवाद का विरोध नहीं है। अद्वैत विज्ञान से ऊपर और परे का ज्ञान और अनुभव है। विज्ञान को बिना किसी प्रकार की क्षति या हानि पहुँचाये अद्वैतवाद या वेदान्त का विज्ञान के साथ समन्वय हो सकता है और विज्ञान और अद्वैत का संगम हो सकता है।

(९) आध्यात्मिक, धार्मिक, और सांसारिक जीवन में कोई भेद नहीं होना चाहिये। भगवान् का दर्शन और ब्रह्म साक्षात्कार सन्यासी की झोंपड़ी और देव मन्दिरों में जैसे अच्छी तरह हो सकते हैं, वैसे ही कारखानों में विद्यालयों में खेतों में भी हो सकते हैं। सब प्रकार के ध्यान सब प्रकार की उपासनायें और सब प्रकार के कार्य और व्यवहारों के द्वारा भगवान् का साक्षात्कार हो सकता है क्योंकि ईश्वर और संसार, एक और अनेक निर्गुण और सगुण ब्रह्म और संसार, सब उसी एक सत्ता के रूप हैं। ऊँच-नीच, पवित्र अपवित्र आदि के भेद उसकी दृष्टि में नहीं हैं। प्रत्येक परिस्थिति और रूप में वह पूर्णतया वर्तमान है और प्रकट हो सकता है और हमको उसका अनुभव भी हो सकता है।

(१०) अपने गुण स्वभाव और परिस्थितियों के अनुसार कर्तव्यों को निष्काम भाव से करना और केवल कर्तव्य मात्र समझकर करना ईश्वर की उपासना और प्रार्थना है। आदर्श कर्म करने वाला वह है जिसके चित्त में कठिन से कठिन और अधिक से अधिक काम करते हुए और सब प्रकार की कठिनाइयों को सहते हुए भी शान्ति और उत्साह और सतत हार्दिक आनन्द का अनुभव होता रहे और अहंभाव का अनुभव न रहे। इस प्रकार से सांसारिक कर्मों को करना भी एक प्रकार का योग है जिसे कर्मयोग कहना चाहिये। कर्मयोग के द्वारा भी मनुष्य को वही सिद्धि प्राप्त होती है जो किसी भक्त को हो सकती है। निष्काम कर्म भी भगवान् की भक्ति ही है।

(११) इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान भी जोकि मनन चिन्तन और अनुभव द्वारा प्राप्त किया जाता है परमात्मा की भक्ति ही है। भक्ति और ज्ञान में कोई विशेष भेद नहीं

है। दोनो का फल एक ही होता है, ब्रह्म साक्षात्कारी भक्त अपने को भूलकर ईश्वर में जब लीन हो जाता है तब ईश्वरत्व को प्राप्त हो जाता है।

(१२) चाहे भक्ति द्वारा हो, चाहे ज्ञान द्वारा, चाहे निष्काम कर्म द्वारा और चाहे अष्टांग योग मार्ग के द्वारा, मनुष्य का उद्देश्य अपने सीमित क्षुद्र और स्वार्थी स्वरूप को भुलाकर, छोड कर, उससे ऊपर उठकर सर्व व्यापक ब्रह्म के साथ ज्ञान, भावना, और क्रियाओ में एकता, तादात्म्यकता का अनुभव करना ही होना चाहिए। जब तक इस लक्ष्य की सिद्धि नही होती जीव को दुःख, शोक, भय, और जन्म-मरण का अनुभव होता ही रहेगा।

(१३) इस युग में, स्वामी विवेकानन्द के अनुसार त्याग और सेवा ब्रह्म साक्षात्कार के दो मुख्य साधन हैं।

(१४) त्याग सन्यास लेकर भी किया जा सकता है और गृहस्थी रहते हुए भी, किन्तु सन्यासी अधिक त्याग और सेवा कर सकता है। अतएव स्वामी जी ने रामकृष्ण मिशन, रामकृष्ण सेवाश्रम, और अद्वैताश्रमों को चलाने के लिये आधुनिक प्रकार के सन्यास लेने की प्रथा चलाई। उनके मिशन के सन्यासी का कर्त्तव्य है कि वे ब्रह्म ज्ञान में आरूढ़ होकर निष्काम भक्ति भाव से निष्काम सेवा द्वारा अपना और ससार का कल्याण करें। स्वतत्र होकर ससार भर में विचरण करते हुए व्यावहारिक वेदान्त का प्रचार करें। ये सन्यासी भिक्षु बन कर दूसरे के अधीन न रहे और उनको भोजन, वस्त्र, और मार्ग व्यय की बाधा न हो, इसलिये उन्होने श्री रामकृष्ण मिशन का आधुनिक रीति से सगठन किया। उनका यह विचार था कि भूखा, नगा और दरिद्र मनुष्य न भगवान् का ध्यान कर सकता है और न उसका साक्षात्कार। उसका आत्मभाव शरीर से ऊपर नही उठ सकता।

स्वामी रामतीर्थ का व्यावहारिक वेदान्त

केवल ३३ वर्ष के जीवन में स्वामी रामतीर्थ ने उपनिषदो, भगवद्गीता और योग-वासिष्ठ में प्रतिपादित अद्वैत को आधुनिक रूप देकर व्यावहारिक वेदान्त बनाने और उसका भारतवर्ष तथा विदेशो में, बिना किसी सस्था एव सगठन के बनाये, प्रचार करने का जो अद्भुत् और सराहनीय कार्य किया है वह भारत के सास्कृतिक इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। उन्होने अपने जीवन में ब्राह्मी दृष्टि, ब्रह्म भावना, ब्राह्मी स्थिति, और ब्राह्मी क्रिया की सिद्धि करके अपने जीवन और उपदेशों से यह दिखला दिया कि किस प्रकार आधुनिक युग में भी मनुष्य अपने जीवन में परमानन्दमयी जीवन्मुक्ति का अनुभव कर सकता है। उन्होंने वेदान्त को केवल सन्यासियो तक सीमित रहने वाली विद्या न रहने देकर जीवन को सुखी, सफल, समृद्ध और आनन्दमय बनाने वाले विज्ञान तथा दर्शन का रूप देकर लोकप्रिय बनाया।

स्वामी रामतीर्थ का जन्म का अर्थात् बालपन का नाम 'तीरथराम' था। उनका जन्म पश्चिमी पंजाब के जिले 'गुजरानवाला' के एक छोटे से गाँव मुरालीवाला में एक निर्धन ब्राह्मण कुल में १८७१ ई में हुआ था। बचपन से बालक विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न था और आध्यात्मिक विषयों में उनकी अत्यन्त ही रुचि थी। प्रारम्भ से ही उनकी शिक्षा उर्दू और फारसी भाषा भी साहित्य के माध्यम से हुई थी। गाँव की शिक्षा समाप्त करने पर वे 'गुजरानवाला' शहर के हाई स्कूल में भरती हो गये। यहाँ पर वे अपने पिता के एक मित्र भक्त (भगत) धन्नाराम की देख रेख में रहते थे और भगत धन्नाराम जी की भक्ति का उन पर बहुत ही प्रभाव पड़ा। हाई स्कूल परीक्षा पास हो जाने के पश्चात उनके पिता उन्हें आगे नहीं पढ़ाना चाहते थे इसके अतिरिक्त उनका विवाह भी छोटी ही अवस्था में हो चुका था। फिर भी वे लाहौर के मिशन कालेज में पढ़ने चले गये। यहाँ पर उन्होंने रहकर बड़ी-बड़ी आर्थिक कठिनाइयों का सामना करते हुए विद्याभ्यास किया। यद्यपि उनके लिये संस्कृत पढ़ना अत्यन्त ही कठिन था फिर भी संस्कृत बी ए में एक ऐच्छिक विषय लेकर पढ़ी। १८९१ में जब वे १९ वर्ष के थे पंजाब विश्वविद्यालय में बी ए परीक्षा में सर्वोत्तम पास हुए और साठ रुपये मासिक छात्रवृत्ति पाई। १८९५ में गणित विषय में एम ए० परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास कर वे तुरन्त ही अमेरिकन मिशन स्कूल स्यालकोट में अध्यापक नियुक्त हो गए। १८९६ में वे फोरमैन क्रिश्चियन कालिज लाहौर में गणित के प्रोफेसर हो गए और कुछ दिन बाद ओरियन्टल कालिज लाहौर में रीडर के पद पर नियुक्त हो गये।

अपने विद्यार्थी काल में तथा अध्यापन काल में वे बराबर भारतीय एवं पाश्चात्य देशों के दर्शनों का अध्ययन करते रहे और उपनिषद् ब्रह्मसूत्र भगवद्गीता तथा योगवाशिष्ठ आदि अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों में उनका गहरा प्रवेश ही नहीं हो गया था अपितु उनके दृष्टिकोण को उन्होंने अपनाकर अपना जीवन तदनुसार ऐसा बना लिया था कि अब उनके लिये अध्यापक और गृहस्थी बने रहकर संकुचित और सीमित जीवन बिताना दुर्लभ हो गया। उनकी स्वतन्त्र विचार सम्पन्न आत्मा अब सब बन्धनों से विनिर्मुक्त होकर सारी प्रकृति और समस्त ब्रह्माण्ड तथा सब प्राणियों एवं मनुष्यों के साथ तादात्म्य का अनुभव करने लगी। उन्होंने जुलाई १९ में अध्यापन कार्य से त्यागपत्र दे दिया और वानप्रस्थी बनकर हिमालय चले गए। इसके अगिमवर्ष ही १९ १ में सन्यास ग्रहण करके गोसाईं तीरथराम से वे स्वामी रामतीर्थ हो गये।

१९ १ से लेकर १९ ६ तक लगभग पाँच वर्ष उनका जीवन आधुनिक युग के उपयुक्त सन्यासी का था। इस स्वल्प समय में उन्होंने भारत और संसार को अपना उचित जीवन व्याख्यानों, लेखों और उपदेशों द्वारा प्रदान किया। यह संसार की एक बहुमूल्य

सम्पत्ति थी। उनके द्वारा न जाने कितने नवयुवको को प्रेरणा तथा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, तथा प्राप्त होता रहेगा। उनकी शिक्षा में प्राचीनता होते हुए भी अत्यन्त नवीनता थी। भारत की उस समय की पराधीनता की बेडियाँ तोडने के लिये एक नया आदेश और प्रेरणा थी। वे इन थोडे समय के बीच अढाई वर्ष तक जापान, अमेरिका, योरोप आदि विदेशो में भी गये, और वहाँ पर अपने अद्भुत व्यक्तित्व और उपदेशों द्वारा उन्होने वेदान्त सिद्धान्तो का प्रचार किया तथा भारत में वेदान्त को आधुनिक युग के अनुरूप व्यावहारिकता का रूप दिया। उनके व्यक्तित्व में आकर्षण था, लेखनी मे बल था, और वाणी में जादू था। इनके बल पर ही उन्होंने पाँच वर्ष में वह कार्य करके दिखाया जो बहुत से कार्यकर्त्ता ५० वर्षो में भी नही कर सकते हैं।

स्वामी रामतीर्थ की मुख्य शिक्षाएँ ये हैं—

(१) किसी धर्म, समाज, दर्शन, या उपदेश में विश्वास करने के पूर्व उसकी बौद्धिक एव अनुभाविक परीक्षा कर लेनी चाहिये। एकदम अन्धा बनकर किसी बात को नही मानना चाहिये, वह कितनी ही पुरानी तथा कितनी ही नयी क्यो न हो, एव कितने ही महान् अथवा मान्यतम व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित क्यो न हो, उसको माननेवालो की सख्या चाहे कितनी ही अधिक क्यो न हो। युक्तियुक्त तथा अनुभव के आधार पर प्रमाणित किए हुए सिद्धान्तो को ही मानना चाहिये। शास्त्रो और महापुरुषो का अन्धे होकर एकमात्र विश्वास नही करने लग जाना चाहिये।

(२) भारतवर्ष को पुराने और असामयिक शास्त्रो के उपर निर्भर रहने के कारण बहुत हानि हुई है। अपने आप अपनी समस्याओं को अपनी बुद्धि के द्वारा अपने अनुभव के आधार पर हल न करने के कारण ही भारत में बौद्धिक विकास नही हो पाया है। यही एकमात्र कारण है कि भारत स्वतन्त्र विचार करने वाले दूसरे देशो से हमेशा पिछडता रहा। इसलिये स्वयँ सोचना सीखो और स्वय अपनी समस्याओ को सुलझाना सीखो तथ. अपने स्वरूप को ध्यान से देखना सीखो। उससे दयनीय कौन व्यक्ति या जाति होगी जिसने अपना भविष्य भूत की ओर कर दिया, और जो भूत को ही सदा अपने सामने रखता है।

(३) ससार में सब कुछ परिवर्तनशील है, प्रत्येक युग के आदर्श, धर्म, नैतिक विचार और कर्त्तव्य मार्ग बराबर परिवर्तित होते रहते हैं। वैदिककाल का कर्मकाण्ड इस युग में सर्वथा अनुपयुक्त है। हमें आज यज्ञशालाओं की आवश्यकता नही है, बल्कि हमें तो लेबोरेट्रियो (प्रयोगशाला) और वर्कशापो तथा फैक्ट्रियो की आवश्यकता है। वही समाज उन्नत और सुखी होता है जो सदा अपने परिस्थितियो एव आवश्यकताओ के अनुसार अपने आचार और व्यवहार को तथा अपने खान-पान और पहनावे को बदलता रहता है।

(४) भारत को जहाँ उपनिषदों के ऋषियों द्वारा प्राप्त तथा अनुभूत ब्रह्मविद्या की जरूरत है वहाँ अमेरिका और जापान द्वारा प्राप्त एवं आविष्कृत वैज्ञानिक विद्याओं और यन्त्रों की भी उतनी आवश्यकता है। इस युग में भारत विज्ञान में आगे बढ़े हुए दूसरे देशों का अनुकरण किये बिना एवं उनसे सीखे बिना उन्नति नहीं कर सकता है। आध्यात्मिकता और सांसारिक उन्नति में विरोध नहीं है दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। बल्कि यह कहना चाहिए कि सांसारिक उन्नति इस बात की द्योतक है कि आध्यात्मिक स्तर ऊँचा है। आध्यात्मिक उन्नति किये बिना जापान और अमेरिका इतने उन्नत नहीं हो सकते थे जितने वे हो गये हैं।

(५) आध्यात्मिकता का अर्थ अकर्मण्यता आलस्य और वसुरवाद नहीं है। आध्यात्मिकता संसार से पृथक्त्व से कायरियों से तथा जीवन के अनेक आवश्यक कार्यों के क्षेत्र से बाहर जाकर प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है। उस वेदान्त से क्या लाभ तथा उसकी क्या आवश्यकता है जिसका उपयोग जीवन में न हो सके जिसके द्वारा जीवन उन्नत एवं सुखी तथा प्रसन्न न हो। यदि वेदान्त हमें सुखी नहीं बनाता है और न सुख पूर्वक रहने ही देता है तो ऐसे वेदान्त को दूर फेंक दो आपकी दुकान, बही किसान अध्ययन का कमरा भोजनालय शिवालय तथा आपका विद्यालय यदि वेदान्त के मन्दिर नहीं हैं तो और कौन सा मन्दिर होगा। यही तो वे देवस्थान हैं जहाँ सत्य का ज्ञान और अनुभव होना चाहिए।

वेदान्त केवल विचार और विश्वास करने का और पुस्तकों में उसे बन्द रहने देने का नाम नहीं है उसका तो जीवन में अभ्यास होना चाहिए।

स्वामी रामतीर्थ के सिद्धान्तानुसार वेदान्त शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य का नाम है। वेदान्त हमारे सब झूठे बन्धनों और राग द्वेषों के घेरों को तोड़कर सबके साथ एकता और प्रेम का नाम है। वेदान्त आपको तपस्वी और संसार से घृणा करने वाला नहीं बनाता है। वेदान्त निराशावाद नहीं है। वेदान्त पूर्ण आशावाद है। वेदान्त आप में स्फूर्ति और बल का संचार करता है। व्यावहारिक वेदान्त की परिभाषा स्वामी जी ने इस प्रकार की है। "उन्नति कराने वाला और आगे बढ़ाने वाला परिश्रम न कि सड़ाने वाला आलस्य सक्रिय होने का आनन्द न कि कामों से घबराहट, मन की शान्ति न कि सन्दिग्ध अमित चिन्ता संगठन न कि विघटन आवश्यक सुधार न कि कड़ कुरीतियाँ वास्तविक और ठोस भावनाएँ न कि कच्ची मीठी भावनाएँ घटनाओं पर परीक्षा न कि वास्तविक तथ्य वास्तविक तर्क न कि मृत लेखकों के प्रमाण जीता जागता अनुभव न कि जीवन हीन वचन यह है व्यावहारिक वेदान्त।

(६) प्रत्येक मनुष्य ब्रह्म ही है, और उसमें पूर्ण ब्रह्म की सब शक्तियाँ गुप्त रूप

मे वर्तमान हैं। वह जो चाहे हो सकता है और जो चाहे प्राप्त कर सकता है। प्रकृति उसकी दासी है। यह सारा संसार हमारे ही मन की कल्पना है। हम अपने भाग्य के निर्माता हैं। हमारी सब इच्छा किसी न किसी समय पूरी होती हैं। कभी-कभी वे ऐसे समय पर पूरी होती हैं जबकि उनको उनके पूरे होने से दुःख होता है। मृत्यु भी हमारी इच्छाओं का ही फल होती है। हमारी इच्छाओं में विरोध होने के कारण हमको दुःख होता है। यदि हमारी सब इच्छाओं में समन्वय हो तो हमारा जीवन सुखी हो सकता है। इच्छापूर्ति का एक विशेष नियम यह है कि जब तक इच्छा अपने तीव्र रूप में वर्तमान रहती है वह पूरी नहीं होती। जब उससे विरक्ति होने लगती है और हम उसको त्यागकर उससे उपर उठ जाते हैं तब वह पूरी होती है। जब हम संसार की वस्तुओं के पीछे पड़ते हैं तो वे हमसे दूर आगे-आगे भागती हैं। और जब हम स्वयं उनसे मुंह फेर लेते हैं तो वे हमारे पीछे हमको पकड़ने के लिये दौड़ती हैं।

"भागती फिरती थी दुनियाँ जब तलब करते थे हम।
अब मह जो उससे मोड़ा वह बकरार आने को है।।
जो कुछ नहीं चाहता उसी को सब कुछ मिलता है।"

(७) सांसारिक हो अथवा आध्यात्मिक, सफलता प्राप्त करने के लिये मनुष्य को ये बातें करनी चाहिए—

(१) सतत और सोत्साह परिश्रम जिसमें अपने आपे को भी ध्यान न रहे। (२) स्वार्थ रहित बलिदान और कार्य के लिये आत्मत्याग। (३) प्रेम से कार्य में प्रेरित होना। (४) प्रसन्नचित्त रहकर काम करना। (५) निर्भीकता से कार्य करना। (६) स्वावलम्बन अर्थात् अपने ही भरोसे पर अपनी बुद्धि लगाकर कार्य करना। (७) मन, वचन और कर्म की पवित्रता अर्थात् कर्म द्वारा तुच्छ उद्देश्य की पूर्ति न करके ऊँचे आदर्शों की भावना करना।

(८) त्रिशूल का अटल नियम। जीवन का यह एक सबसे बड़ा और अटल नियम है कि जब हम किसी सीमित विचार, वस्तु या प्राणी के मोह में अटक कर उसको ही सर्वस्व समझने लगत हैं, अपनी तथा संसार की अनन्तता और बहुलता से आँख मीचकर किसी एक स्थान पर अटक जाते हैं तो भगवान् हमारे उपर कृपाकर हमको मोह से जगाने के लिये हमारे हृदय में उस वस्तु का वियोग रूपी त्रिशूल को घोंकते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि हमारी मोह निद्रा टूट जाती है, और हम अपने असली स्वरूप तथा वास्तविक उद्देश्य को जानने का प्रयत्न करते हैं। सब कुछ त्याग देने पर ही सब कुछ प्राप्त होता है।सब प्राप्य वस्तुओं का मूल्य चुकाना पड़ता है। भगवान् को पाने के लिये "अहं" को मिटाना पड़ता है।

(४) भारत को जहाँ उपनिषदों के ऋषियों द्वारा प्राप्त तथा अनुभूत ब्रह्मविद्या की जरूरत है वहीं अमेरिका और जापान द्वारा प्राप्त एवं आविष्कृत वैज्ञानिक विद्याओं और यन्त्रों की भी उतनी आवश्यकता है। इस युग में भारत विज्ञान में आगे बढ़े हुए दूसरे देशों का अनुकरण किये बिना एवं उनसे सीखे बिना उन्नति नहीं कर सकता है। आध्यात्मिकता और सांसारिक उन्नति में विरोध नहीं है दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। बल्कि यह कहना चाहिए कि सांसारिक उन्नति इस बात की द्योतक है कि आध्यात्मिक स्तर ऊँचा है। आध्यात्मिक उन्नति किए बिना जापान और अमेरिका इतने उन्नत नहीं हो सकते थे जितने वे हो गये हैं।

(५) आध्यात्मिकता का अर्थ अकर्मण्यता आलस्य और अनुत्साह नहीं है। आध्यात्मिकता संसार से गृहस्थ से कार्यक्रमों से तथा जीवन के अनेक आवश्यक कार्यों के क्षेत्र से बाहर जाकर प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है। उस वेदान्त से क्या लाभ तथा उसकी क्या आवश्यकता है जिसका उपयोग जीवन में न हो सके जिसके द्वारा जीवन उन्नत एवं सुखी तथा प्रसन्न न हो। यदि वेदान्त हमें सुखी नहीं बनाता है और न सुख पूर्वक रहने ही देता है तो ऐसे वेदान्त को दूर फेंक दो आपको दुकान आपकी दिवसार अध्ययन का कमरा भोजनालय शिवालय तथा आपका विश्रामालय यदि वेदान्त के मन्दिर नहीं हैं तो और कौन सा मन्दिर होगा। यही तो वे देवस्थान हैं जहाँ सत्य का ज्ञान और अनुभव होना चाहिए।

वेदान्त केवल विचार और विश्वास करने का और पुस्तकों में उसे बन्द रखने देने का नाम नहीं है उसका तो जीवन में अभ्यास होना चाहिए।

स्वामी रामतीर्थ के सिद्धान्तानुसार वेदान्त शारीरिक मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य का नाम है। वेदान्त हमारे सब झूठे बन्धनों और राग द्वेषों के बेड़ी को तोड़कर सबके साथ एकता और प्रेम का नाम है। वेदान्त आपको तपस्वी और संसार से घृणा करने वाला नहीं बनाता है। वेदान्त निराशावाद नहीं है। वेदान्त पूर्ण आशावाद है। वेदान्त आप में स्फूर्ति और बल का संचार करता है। व्यावहारिक वेदान्त की परिभाषा स्वामी जी ने इस प्रकार की है। "उन्नति कराने वाला और आगे बढ़ाने वाला परिश्रम न कि सड़ाने वाला आलस्य, सक्रिय होने का आनन्द न कि अर्थों से घबराहट, मन की शान्ति न कि सन्देह जनित चिन्ता संगठन न कि विघटन आवश्यक सुधार न कि कड़ कुरीतियाँ वास्तविक और ठोस भावनायें न कि वृथा मीठी बकवाद घटनाओं पर कविता न कि काल्पनिक गप्प वास्तविक तर्क न कि मृत लेखकों के प्रमाण जीता जागता अनुभव न कि जीवन हीन वचन यह है व्यावहारिक वेदान्त।"

(६) प्रत्येक मनुष्य ब्रह्म ही है, और उसमें पूर्ण ब्रह्म की सब शक्तियाँ सुप्त रूप

स्वामी दयानन्द सरस्वती की नैतिक शिक्षा

उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय सुधारकों में स्वामी दयानन्द सरस्वती (आर्य समाज के संस्थापक) सर्वाधिक प्रभावशाली सुधारक थे। उनका विद्वानों और जन साधारण दोनों पर ही बहुत प्रभाव पड़ा। इनका विशेष कारण यह था कि वे संस्कृत के, विशेषत वेदों के महान् विद्वान् थे। उन्होंने उत्तर भारत में बहुत भ्रमण किया। यत्र तत्र पंडितों से शास्त्रार्थ किया। जनसाधारण में पुस्तकों और व्याख्यानों द्वारा स्वसिद्धान्तों का प्रचार किया, आर्य समाज की स्थापना द्वारा उसके उपदेशकों से देश में जागृति करायी। हिन्दू जनता पर उनका विशेष प्रभाव इन कारण भी पड़ा कि उनके ऊपर इस्लाम और ईसाई धर्म का कोई प्रभाव न था और न उन्होंने हिन्दुओं के परम मान्य ग्रन्थ वेदों का तिरस्कार ही किया जोकि ईसाई और मुसलमान बहुधा किया करते थे। उनके ऊपर पाश्चात्य सभ्यता और वेश भूषा का भी प्रभाव न था। वास्तव में वे इन प्रवृत्तियों के विरोधी थे। उन्होंने इस्लाम और ईसाई धर्मों का खण्डन किया। वेदों को ईश्वर प्रदत्त ज्ञान स्वरूप माना और सिद्ध किया कि वेद सभी सद् विद्याओं के श्रोत हैं। पाश्चात्य सभ्यता और वेश भूषा के विरुद्ध उन्होंने विशुद्ध भारतीय सभ्यता और संस्कृति का समर्थन किया और भारतीयों को प्राचीन वैदिक कालीन आर्यों की सभ्यता और संस्कृति का अनुकरण करने के लिये उपदेश प्रदान किया। भारत की आत्मा को उन्होंने जगाकर उसके अन्दर इतनी चेतावनी तथा उत्साह और स्वाभिमान भर दिया कि जिससे भारतीयों के जीवन में फिर से एक बार जान आ गई, और भारत का धर्म और दर्शन तथा आचार सम्बन्धित समस्त व्यवहार अपने पैरों के ऊपर खड़ा होने लग गया।

स्वामी दयानन्द का जन्म काठियावाड के एक ब्राह्मण वंश में १८२४ ई० में हुआ था। इस वंश में शिवभक्ति तथा शिवार्चन सम्बन्धी परम्परा थी। बालक का नाम मूलशंकर रखा गया था। १८३७ की शिवरात्रि को जबकि बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ बालक मूलशंकर ने शिवरात्रि का व्रत तथा जागरण किया तो देखता क्या है कि एक चूहा भगवान् शंकर की मूर्ति के पास रक्खा हुआ प्रसाद खा रहा है और उसके ऊपर चढ़कर उस पर चढ़े हुए दूध को चाट रहा है। उनकी बुद्धि में इस दृश्य से बहुत अधिक खलबली पैदा हो गयी, और उन्हें इस प्रकार का सन्देह होने लगा कि पत्थर की जड मूर्ति, जोकि चूहे को भी नहीं रोक सकती, कैसे मनुष्य को एक इष्टदेव के रूप में पूज्य हो सकती है तथा कैसे वह मनुष्यों की मनः कामनाओं को पूर्ण कर सकती है। उसी समय से उनके मन में मूर्ति पूजा के विरुद्ध एक महती भावना जागृत हुई और ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को जानने की विशेष उत्कण्ठा उत्पन्न हो गई।

२१ वर्ष की अवस्था में उन्होंने सच्चा ज्ञान प्राप्त करने तथा योग सीखने के लिये

(९) जब तक हम भगवान को प्राप्त नहीं कर लेते जब तक अपने ब्रह्मत्व का अनुभव नहीं कर लेते और उसपर आरूढ़ नहीं हो जाते तब तक हमको चैन नहीं हो सकता है। दुःख और शोक का जीवन में होना इसका संकेत है कि हमने अभी तक अपने वास्तविक रूप को अपने ब्रह्मत्व को, नहीं प्राप्त किया। ब्रह्म साक्षात्कार अर्थात् ब्रह्म विषयक अनुभव के बिना मनुष्य को सुख और चैन कहां? सुख और शान्ति तो आत्मानुभव में ही हो सकती है। सीमित में सुख नहीं भूमा में ही सुख और परम आनन्द है। सीमित विषयों के उपभोग में सुख और दुःख बराबर है तथा दोनों साथ-साथ रहते हैं। आत्मानुभव कर लेने पर आनन्द ही आनन्द है। जीवन और मरण का चक्र तभी तक है जब तक मनुष्य ब्राह्मी स्थिति पर आरूढ़ नहीं हो जाता है।

(१०) ब्रह्मज्ञानी मनुष्य सब प्राणियों की और वस्तुओं के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। वह सबकी भलाई चाहता है, सबकी सेवा करता है। वह समस्त ब्रह्माण्ड को अपना ही शरीर समझता है और सबके साथ प्रेम से रहता है।

(११) सबसे बड़ा सुधार अपना सुधार है। संसार और समाज को सुधारने के बजाय यदि आदमी अपना ही सुधार कर ले तो बहुत अच्छा है। संसार तो जैसा है वैसा ही रहेगा। इसमें जितना सुधार होगा उतना ही बिगाड़ भी होगा। जितना भोग विलास बढ़ेगा उतना ही दुःख भी। बुद्ध आये कृष्ण आये ईसामसीह आये परन्तु संसार की वही हालत है जो उनसे पहिले थी। मनुष्य अपने आपको सुधार कर ही संसार से ऊपर उठ सकता है।

(१२) आत्मानुभव प्राप्त करने के साधन क्या हैं? ज्ञान, भावना और कर्म द्वारा अपने शरीर भाव और अहं-भाव से ऊपर उठकर अपने ब्रह्मत्व में स्थित हो जाने का अभ्यास करना। ऐसा यह अभ्यास अनेक रूप से हो सकता है। सर्वत्याग अहंभाव का त्याग आत्म समर्पण और ब्रह्म-भावना आदि। "अपने आपको भगवान् समझो और तुम भगवान् हो। प्राणायाम के साथ इस भावना का निदर्शन करने से यह धनै-धनैः दृढ़ और स्थिर हो जाती है। ध्यान और प्राणायाम तभी हो सकते हैं जब कि इन्द्रिय- दम और सात्त्विक भोजन किया जावे।

(१३) आत्मानुभव की सिद्धि हो जाने पर मनुष्य जीवनमुक्त होकर संसार में रहता है। जीवन्मुक्त सदा प्रसन्न और निश्चिन्त रहकर सूर्य चन्द्रमा और तारागणों की नाईं सत्य कर्म करता रहता है और समस्त ब्रह्माण्ड के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। वह जन्म मरण दुःख और शोक से परे हो जाता है। वह संसार के सब बादशाहों से भी अधिक सुखी और प्रसन्न होकर अपने को शाहनशाह समझता है और जगत् को आनन्द से प्रसादित करता है।

और व्यवहारो का खण्डनात्मक विवेचन भी इसी ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ के अन्त में "स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश" के अन्तर्गत स्वामी दयानन्द ने अपने धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक और सामाजिक विचारो का, जिनको वे वेदो पर आधारित तथा वेदानुकूल समझते थे, दिग्दर्शन किया है।

अपने विचारो का उल्लेख करने से पूर्व उन्होने लिखा है कि 'मेरा कोई नवीन कल्पना के आधार पर मत मतान्तर चलाने का लेश मात्र भी उद्देश्य नही है, किन्तु जो सत्य है उसी को मानना तथा मनवाना और जो असत्य है उसको छोडना तथा छुडवाना ही मुझे अभीष्ट है।'

स्वामीजी के प्रमुख विचार ये हैं

वेद (केवल ऋक्-यजु, साम, और अथर्व सम्बन्धित मन्त्र सहिताएँ ही) ईश्वर के वाक्य हैं। उनमें किसी प्रकार का दोष या भ्रान्ति नही है और वे स्वतः प्रमाण हैं। उनके प्रामाण्यनिश्चयार्थ किसी प्रत्यक्षादि प्रमाण की आवश्यकता नही है और सब शास्त्र—ब्राह्मण, अग, उपाग तथा शाखायें—वेदो के अनुयायी हैं, स्वय प्रमाण नही हैं। वेदानुकूल होने के नाते ही उनका प्रमाण्य है। वेद सिद्धान्त विरोधी वाक्य उनके यहाँ सर्वथा अप्रमाण हैं। इसीलिये पुराणादिको के प्रामाण्य का उन्होने सर्वदा अनगीकार किया है।

स्वामीजी ने वेद सिद्धान्त सम्मत ईश्वर को माना है, जिसके ब्रह्म, परमात्मा आदि नाम हैं, जो सच्चिदानन्द आदि लक्षणो से सम्पन्न है, जिसके गुण, कर्म तथा स्वरूप आदि नितान्त पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान् दयालु, न्यायकारी है, तथा इस समस्त सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता एव सहर्त्ता है, जो समस्त जीवो को उनके कर्मानुसार सत्य तथा न्यायपूर्वक फल देने वाला है। उसी को पक्षपात रहित न्यायकर्त्ता परम पिता परमेश्वर माना है।

जीव अनादि तथा अजर अमर आत्मा है, जो पूर्वजन्मकृत कर्मानुसार ही इच्छा, राग, द्वेष, ज्ञान, सुख दुःख आदि से प्रेरित होकर अपने अदृष्ट से सम्बन्धित समस्त जगत् एव सम्पूर्ण जागतिक पदार्थों का अनुभव सर्वदा करता रहता है। जीव अल्पज्ञ होने के नाते सीमित ज्ञानवाला है। वह ईश्वर के समान सर्वज्ञ नही है। ईश्वर प्रदत्त ज्ञान को उसे हमेशा अपेक्षा रहती है, जोकि जीव को ईश्वर के वाक्य स्वरूप वेदो द्वारा प्राप्त होता है। यद्यपि ईश्वर और जीव अपने विभिन्न गुणो के द्वारा भिन्न-भिन्न सत्तावाले हैं फिर भी वे दोनो एक दूसरे से अलग नही हैं, ईश्वर समस्त जीवो के अन्दर विराजमान है।

ससार में ईश्वर और जीवो के अतिरिक्त ससार एव ससार के अन्दर वर्त्तमान समस्त पदार्थों का उपादान कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी मानी गयी है जोकि ईश्वर

घर का परित्याग कर दिया। इधर-उधर बहुत से स्थानों पर गये और बहुत से साधु महात्माओं से मिलकर उनसे ज्ञान प्राप्त किया और योग सीखा।

स्वामी पूर्णानन्दजी से उन्होंने सन्यास लिया और उसके पश्चात् ही उनका नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती पड़ा। १८६ में मथुरा के स्वामी विरजानन्द जी के पास जाकर उन्होंने शास्त्रों का गहन अध्ययन किया और साथ ही स्वामी विरजानन्द जी से क्रान्तिकारी विचारों को भी ग्रहण किया। इन्हीं को उन्होंने अपना वास्तविक गुरु माना था तथा इनसे ही चार वर्ष तक शिक्षा प्राप्त कर अपने विचारों को सुदृढ़ कर यह आदेश प्राप्त किया कि जिससे उन्होंने अपना समस्त जीवन देश सेवा में वेदों और सत् शास्त्रों के प्रचार में तथा हिन्दुओं में प्रचलित सामाजिक कुरीतियों और अधार्मिक प्रथाओं को दूर करने में लगा दिया। अपने जीवन के शेष २ वर्ष तक स्वामी दयानन्द न अपने शरीर, मन तथा आत्मा के सभी शक्तियों के साथ गुरु के आदेश का यथावत् पालन किया। देश में अन्दर बहुत बड़ी जागृति पैदा कर, अपने से उपदिष्ट मार्ग पर चलने वाले आर्य समाज और उसे चलाने वाले महान् तथा योग्य देशभक्तों को एवं उनके विचारों का प्रचार करने वाले वेदवेत्ता पण्डितों को यहीं छोड़कर इस संसार से वे १८८१ में हमेशा के लिये विदा हो गये।

उनके जीवन और विचारों की एक महान् विशेषता यह थी कि जो कुछ उनके विचार तथा उपदेश थे वे सब वेदों और तदनुकूल शास्त्रों के आधार पर ही थे। न उन्होंने स्वतन्त्र बुद्धिवाद की शरण ली और न पाश्चात्य विज्ञान तथा दर्शन की। वे अंग्रेजी भाषा तक भी नहीं जानते थे और न उन्होंने जानने की कोई आवश्यकता ही समझी। वे एक मात्र अपौरुषेय एवं ईश्वरकृत वेद ही को सब ज्ञानों समस्त विद्याओं तथा सम्पूर्ण शिक्षाओं का स्रोत बतलाया करते थे और कहा करते था कि वेदाध्ययन तथा वेद की शिक्षा पर चलना ही मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य है, एवं यही श्रेयस्कर मार्ग है। उनके लिखे हुए यद्यपि बहुत से ग्रन्थ हैं तथापि उनमें तीन ग्रन्थ प्रमुख हैं—(१) ऋग्वेद भाष्य और ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका जिसमें उन्होंने वेदों का महत्व तथा वेदों का स्वतः प्रमाण्य का अच्छी प्रकार विवेचन किया। (२) दूसरा ग्रन्थ है संस्कार पद्धति। इसके अन्दर उन्होंने आर्यों के जीवनकालीन समस्त संस्कारों का निरूपण किया है जिनके द्वारा मानवजीवन उत्कृष्ट जीवन बनता है। (३) उनका तीसरा ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश है जोकि उन्होंने जन साधारण के लिये लिखा था। इस ग्रन्थ में उन्होंने जीवन के लिये धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चार प्रकार के पुरुषार्थों की आवश्यकता, व्याख्या तथा वेद एवं वेदानुकूल शास्त्रों के आधार पर इन विषयों के सम्बन्ध में फैली हुई असत्य धारणाओं का निराकरण किया है। भारत एवं भारत से अन्य सभी धर्मों, रिवाजों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों

और व्यवहारो का खण्डनात्मक विवेचन भी इसी ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ के अन्त में "स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश" के अन्तर्गत स्वामी दयानन्द ने अपने धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक और सामाजिक विचारो का, जिनको वे वेदो पर आधारित तथा वेदानुकूल समझते थे, दिग्दर्शन किया है।

अपने विचारो का उल्लेख करने से पूर्व उन्होने लिखा है कि 'मेरा कोई नवीन कल्पना के आधार पर मत मतान्तर चलाने का लेश मात्र भी उद्देश्य नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसी को मानना तथा मनवाना और जो असत्य है उसको छोडना तथा छुडवाना ही मुझे अभीष्ट है।'

स्वामीजी के प्रमुख विचार ये हैं

वेद (केवल ऋक्-यजु, साम, और अथर्व सम्बन्धित मंत्र संहिताएँ ही) ईश्वर के वाक्य हैं। उनमें किसी प्रकार का दोष या भ्रान्ति नही है और वे स्वत प्रमाण हैं। उनके प्रामाण्यनिश्चयार्थ किसी प्रत्यक्षादि प्रमाण की आवश्यकता नही है और सब शास्त्र—ब्राह्मण, अंग, उपांग तथा शाखायें—वेदो के अनुयायी हैं, स्वय प्रमाण नही हैं। वेदानुकूल होने के नाते ही उनका प्रामाण्य है। वेद सिद्धान्त विरोधी वाक्य उनके यहाँ सर्वथा अप्रमाण हैं। इसीलिये पुराणादिको के प्रामाण्य का उन्होने सर्वदा अनंगीकार किया है।

स्वामीजी ने वेद सिद्धान्त सम्मत ईश्वर को माना है, जिसके ब्रह्म, परमात्मा आदि नाम हैं, जो सच्चिदानन्द आदि लक्षणो से सम्पन्न है, जिसके गुण, कर्म तथा स्वरूप आदि नितान्त पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान् दयालु, न्यायकारी है, तथा इस समस्त सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता एव संहर्त्ता है, जो समस्त जीवो को उनके कर्मानुसार सत्य तथा न्यायपूर्वक फल देने वाला है। उसी को पक्षपात रहित न्यायकर्त्ता परम पिता परमेश्वर माना है।

जीव अनादि तथा अजर अमर आत्मा है, जो पूर्वजन्मकृत कर्मानुसार ही इच्छा, राग, द्वेष, ज्ञान, सुख दुःख आदि से प्रेरित होकर अपने अदृष्ट से सम्बन्धित समस्त जगत् एव सम्पूर्ण जागतिक पदार्थों का अनुभव सर्वदा करता रहता है। जीव अल्पज्ञ होने के नाते सीमित ज्ञानवाला है। वह ईश्वर के समान सर्वज्ञ नही है। ईश्वर प्रदत्त ज्ञान की उसे हमेशा अपेक्षा रहती है, जोकि जीव को ईश्वर के वाक्य स्वरूप वेदो द्वारा प्राप्त होता है। यद्यपि ईश्वर और जीव अपने विभिन्न गुणो के द्वारा भिन्न-भिन्न सत्तावाले हैं फिर भी वे दोनों एक दूसरे से अलग नहीं हैं, ईश्वर समस्त जीवो के अन्दर विराजमान है।

संसार में ईश्वर और जीवो के अतिरिक्त संसार एव संसार के अन्दर वर्त्तमान समस्त पदार्थों का उपादान कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी मानी गयी है जोकि ईश्वर

और जीव के समान अनादि और अनन्त है। ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीनों एक दूसरे से गुणों और सत्ता में सर्वथा भिन्न हैं ईश्वर प्रकृति के द्वारा ही जगत् की रचना करता है, जगत् को रचने में ईश्वर में स्वाभिमान शक्ति है। जीव अपने अज्ञान के कारण ही अनुचित पापकर्म करता रहता है और अज्ञान के कारण ही वह बन्धन-ग्रस्त होता है जिस बन्धन से छूटने के लिये वह ईश्वर को भूलकर दूसरे जीवों और प्राकृतिक वस्तुओं की उपासना करता है। तथा विषय भोगों में फँसकर अनेक प्रकार के दुःख भोगता है यही उसका बन्धन है। ईश्वर की भक्ति तथा उपासना करके ही जीव कुछ काल के लिये सांसारिक सुख-दुःखों एवं जन्म-मरण आदि बाधाओं से मुक्त होकर ईश्वर के स्वरूप का आनन्द लेता है। प्रत्येक जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है परन्तु उसका फल भोगने में पर (ईश्वर) तन्त्र है। स्वर्ग नरक कहीं संसार से बाहर अन्यत्र नहीं है। पुण्यों के स्वरूप अधिक सुख का भोग स्वर्ग है और पापों के फलस्वरूप अधिक दुःखों का उपभोग नरक है। जीव मरने के पश्चात् कहीं दूसरे लोक अर्थात् स्वर्ग नरक इन्द्रलोक या पितृलोक आदि परलोकों में नहीं जाता है अपितु इस शरीर को छोड़कर तुरन्त दूसरे किसी पर्याप्त शरीर में ही प्रवेश कर लेता है जिससे कि वह अपने पूर्वजन्मार्जित पुण्य-पापों को भोगता है और आगे के लिए कर्म करता है।

धर्म अर्थ काम, मोक्ष ये जीवन के चार उद्देश्य हैं। जीव का कर्तव्य अर्थात् धर्म यह है कि वह ईश्वर की आज्ञा का जो कि वेदों द्वारा प्राप्त होती है मन वचन कर्म से सदा आदरपूर्वक पालन करे। अर्थात् मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म के दस लक्षणों द्वारा ईश्वर की आज्ञा पालन करे। जो पक्षपात रहित न्यायाचरण सत्य भाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको 'धर्म' और पक्षपात सहित अन्यायाचरण मिथ्या भाषणादि ईश्वराज्ञा भंग वेद विरुद्ध है उसको "अधर्म" कहते हैं। वेद के उपदेशों के आधार पर अपनी जीवन यात्रा करे। धर्मानुसार धन कमावे। अधर्म से कमाया हुआ अर्थ अनर्थकारी होता है। धार्मिक रीति से कमाये हुए धन के द्वारा प्राप्त और धर्म के नियमों द्वारा भोगोपभोग ही सच्चा काम है। और मोक्ष शुभकर्मों तथा ईश्वर उपासना द्वारा कुछ काल के लिये जन्म-मरण के चक्र से निवृत्त होकर ईश्वर की आनन्दस्वरूपता का अनुभव करना है।

मनुष्य समाज को अच्छी प्रकार चलाने के लिये वेद में वर्ण आश्रम आदि की व्यवस्था की है। वर्ण का निर्णय जन्म द्वारा नहीं, कर्मों द्वारा होना चाहिये। एक ही जीवन में वर्ण कर्मानुसार बदला जा सकता है। इस प्रकार केवल गुणों और कर्मों के आधार पर व्यक्तियों के वर्ण-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र का निश्चय होता है।

धर्म अर्थ, काम मोक्ष इनकी यथोचित रूप से साधना करने के लिये और मनुष्य

तया निःश्रेयस प्राप्त करने के लिये मनुष्य को चार आश्रमो में अपना जीवन विभक्त करना चाहिये। वे चार आश्रम ये हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास।

देव, असुर और पिशाच कौन हैं? इस प्रश्न का उत्तर स्वामी जी ने दिया कि ज्ञानियो और विद्वानो को देव कहते हैं और उनकी सेवा करना तथा उनका आदर एव सम्मान करना ही देवपूजा है। माता, पिता, गुरू तथा न्यायकारी राजा धार्मिक लोग पतिव्रत पत्निव्रत वाले स्त्री पुरुषो का आदर करना चाहिये यह भी देव पूजा है।

जो लोग अज्ञानी, मूर्ख और मूढ हैं उन्हे 'असुर' कहते हैं। उन्हे ही पापी और दुष्ट भी कहते हैं तथा जो लोग गन्दे स्वभाव और रहन-सहन वाले हैं उनको "पिशाच" कहते हैं।

स्त्री और पुरुष का ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् एक दूसरे की अनुमति से ही वेद और शास्त्रो की आज्ञा के आधार पर विवाह होकर गृहस्थाश्रम का पालन होना चाहिये। बालकपन में विवाह करना सर्वथा निषिद्ध है। विवाह होने पर पति पत्नी का सम्बन्ध अविच्छेद्य हो जाता है। हाँ पति के मरने के पश्चात् यदि नि सन्तान विधवा पत्नी सन्तान की इच्छा करे तो विधिपूर्वक नियोग द्वारा दूसरे अपने समीपवर्ती सम्बन्धी देवर आदि से गर्भवती होकर सन्तानोत्पत्ति कर सकती है। सधवा स्त्री भी सन्तान रहित होने पर और पति के सन्तानोत्पत्ति करने की शक्ति से हीन होने पर नियोग द्वारा दूसरे पुरुष से गर्भाधान करवाकर सन्तानोत्पत्ति कर सकती है। नियोग का प्रयोग सामान्यत नही होना चाहिए।

ईश्वर पूजा, शुभकर्म, ब्रह्मचर्य द्वारा सद्ज्ञान की प्राप्ति विद्वानो और ज्ञानियो का सत्सग, मनकी पवित्रता आदि ही मोक्ष नामक अन्तिम पुरुषार्द्ध के उपाय हैं। ईश्वर पूजा के अग हैं—ईश्वर स्तुति, ईश्वर प्रार्थना और ईश्वरोपासना। स्तुति का अर्थ है—ईश्वर में ध्यान लगाकर उससे प्रेम करने के लिये उसके अनुपम गुणो का गान करना। प्रार्थना का अर्थ है—ईश्वर से ज्ञान और कृपा की माँग करना। उपासना का अर्थ है ईश्वर का ध्यान करना, अपने हृदय में वर्त्तमान ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव करना और योग मार्ग द्वारा उसका उपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेना।

प्रारब्ध से पुरुपार्थ बडा है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य अपने पुरुपार्थ द्वारा अपने को अपनी वर्त्तमान स्थिति से ऊँचा उठा सकता है, जिसमे कि वह अपने पूर्व जन्म के कर्मो के कारण उत्पन्न हुआ है।

मनुष्य की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये जो-जो धार्मिक कार्य समय-समय पर जीवन काल में किये जाते हैं उन्हें सस्कार कहते हैं। गर्भाधान सस्कार से लेकर मृतक सस्कार पर्यन्त सोलह सस्कार किये जाने चाहिये। मरण

के पश्चात् मृत प्राणी के लिये कुछ नहीं करना चाहिए क्योंकि वह दूसरे शरीर में जाकर यहाँ से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता। प्रत्येक आर्य को प्राकृतिक जगत् और वातावरण की शुद्धि के लिए तथा संसार के समस्त प्राणियों के कल्याण के निमित्त अग्निहोत्र (हवन) आदि वैदिक कर्म प्रतिदिन करना चाहिए।

तीर्थ का अर्थ है—पवित्र करने वाले आचरण और वे मनुष्य जिनके आचरण सर्वथा पवित्र हों। जो लोग यम और नियम का पालन करते हैं वे ही तीर्थ हैं और इनका पालन करना ही तीर्थ करना है। किसी स्थान विशेष नदी विशेष अथवा मन्दिर आदि को तीर्थ कह देना और उनके दर्शन करने के लिये वहाँ जाना तीर्थयात्रा नहीं है।

जो लोग इस प्रकार से वेदों की शिक्षा पर चलते हैं वे ही आर्य कहलाते हैं। लोगों को इस प्रकार की शिक्षा पर चलाने के लिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने १८७५ में 'आर्य समाज' की स्थापना की। कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी भी देश का किसी वर्ण का किसी जाति का तथा किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न हो जो आर्य समाज के नियमों को मानना स्वीकार करे और उनको पालन करने की प्रतिज्ञा करे वह आर्य समाज का सदस्य हो सकता है।

यह जानना परमावश्यक है कि एक निराकार ईश्वर के अतिरिक्त किसी भी देवता या अवतार, राम कृष्ण प्रभृति की अथवा किसी मूर्ति वगैरह की उपासना तथा पूजा नहीं करनी चाहिए और दूसरी बात यह भी जाननी चाहिये कि वेद ही समस्त विद्याओं का स्रोत है, और वही ईश्वर की वाणी है, अतः वेदाध्ययन करना वेदानुकूल चलना तथा वेद ही का प्रचार करना आर्यमात्र का धर्म है। केवल भारतीय तथा हिन्दू धर्म के हिन्दू ही नहीं अपितु मुसलमान ईसाई, यहूदी एवं शूद्र आदि के स्त्री पुरुष आर्य समाज में सम्मिलित होकर अपने को आर्य कहला सकते हैं। जो लोग अपने पूर्व धर्म को छोड़कर आर्य अथवा हिन्दू बनना चाहें उनकी वैदिक अग्निहोत्र द्वारा शुद्धि की जा सकती है।

आर्य समाज के ये १० दस नियम हैं—

(१) सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है। (२) ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप निराकार, सर्वशक्तिमान् न्यायकारी दयालु, अजन्मा अनन्त निर्विकार, अनादि अनुपम सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी चाहिये। (३) वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है। (४) सत्य ग्रहण करने और असत्य छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये। (५) सब कार्य धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये। (६) संसार का उपकार

करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक [illegible] सामाजिक उन्नति करना। (७) सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य [illegible] (८) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि होनी चाहिये। (९) [illegible] ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये। किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति [illegible] चाहिये। (१०) सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व हितकारी [illegible] परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

श्रीमती एनी बेसेन्ट और थियोसोफिकल सोसाइटी के नैतिक सिद्धान्त

उन्नीसवीं शताब्दी की भारतीय आध्यात्मिक, धार्मिक और [illegible] केवल भारतीय सुधारकों, विचारकों और प्रचारकों ने अतिरिक्त [illegible] प्रशंसनीय और चिरस्मरणीय काम किया। उनमें से श्रीमती एनी बेसेन्ट [illegible] परि है। उन्होंने यद्यपि विदेश (इंगलैन्ड) में जन्म लिया था और [illegible] पाश्चात्य सभ्यता के वातावरण में वे पली थी तो भी अपने स्वतन्त्र [illegible] सतत प्रयत्न, अध्ययन, आध्यात्मिक प्रवृत्तियों, योगाभ्यास, सत्संग और [illegible] उनके हृदय में एक अद्भुत् जाग्रति उत्पन्न हो गई थी, जिससे [illegible] जगत् के गहरे से गहरे और सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों में उनका प्रवेश हो गया था। [illegible] महिला मैडम ब्लेवेत्स्की और एक अमेरिकन सज्जन कर्नल आलकाट द्वारा [illegible] विद्या के अध्ययन करने के उद्देश्य से बनी हुई थियोसोफिकल सोसाईटी की, [illegible] शाखा आडयार (मद्रास) में स्थापित हुई थी, सदस्या और प्रचारक भी [illegible] वेसेन्ट भारत में १६ नवम्बर १८९३ ई० में आई। उस समय उनकी अवस्था [illegible] आने से पूर्व ही उनके हृदय में भारत और हिन्दुत्व के प्रति बहुत प्रेम और श्रद्धा थी। [illegible] दृढ़ विश्वास था कि वे अपने पूर्व जन्म में भारतीय थी। अपने जीवन के शेष [illegible] (१९३३ तक जब उनका शरीर समाप्त हुआ) तक उन्होंने भारत में रह कर भा[illegible] वेश भूषा, आचार, व्यवहार का पालन करते हुए अनेक प्रकार की (धार्मिक, सामा[illegible] शैक्षिक, राजनैतिक) सेवायें की जिनको भारतवर्ष कभी भूल नहीं सकता।

अपनी अनुपम प्रतिभा, अध्ययन और विचारों द्वारा जिन आध्यात्मिक, [illegible] और नैतिक सिद्धान्तों का उन्होंने प्रतिपादन, समर्थन और प्रचार किया वे भा[illegible] परम्परागत विचारों, विश्वासों और प्रथाओं की प्रबल पुष्टि करते हैं। उन्होंने [illegible] बौद्धिक युक्तियों, और वैज्ञानिक प्रमाणों द्वारा हिन्दू सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही नहीं [illegible] बल्कि उनको परिष्कृत करने और आधुनिक समय के अनुकूल रूप देने का प्रयत्न भी [illegible] भारतीय ज्ञान और संस्कृति को पाश्चात्य देशों में प्रिय बनाने और भारतीयों के [illegible] उनके प्रति श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न कराने और अभिमान के साथ उसको ग्रहण क[illegible]

श्रीमती एनी बेसेन्ट एक बहुत बड़ा कारण थीं। उनके द्वारा भारतीय ज्ञान भण्डार का बहुत दिनों से बन्द और मोरचा खाया हुआ द्वार खुला और संसार के लोगों ने उसका महत्व समझा। उनकी प्रथम पुस्तक Ancient Wisdom (प्राचीन प्रज्ञा) में उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और सैकड़ों लेखों पुस्तकों और व्याख्यानों द्वारा अपने उन सिद्धान्तों का पुन: पुन: प्रतिपादन और पुष्टि की। उनके सब सिद्धान्तों का यहाँ पर दिग्दर्शन मात्र कराना भी सम्भव नहीं है तो भी उनमें से कुछ का संकेत मात्र करा दिया जाता है।

(१) न यह शरीर और न यह ब्रह्माण्ड केवल भौतिक है। इस दृश्यमान भौतिकता के पीछे और भीतर अनेक स्तर हैं। जिनको प्राण मन बुद्धि प्रज्ञा और आनन्द आदि नाम दे सकते हैं। प्रत्येक भीतरी स्तर बाहरी स्तर से अधिक सूक्ष्म, शक्तिशाली, और व्यापक प्रभाववाला है तथा बाहरी स्तरों का नियमन करता है और अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उनका सृजन परिवर्तन और निर्माण करता है।

(२) जो समस्त ब्रह्माण्ड के विशाल रूप में विद्यमान है वही पिण्ड के छोटे रूप में भी वर्तमान है। वह सच्चिदानन्दमयी सत्ता ब्रह्म है जिसके आधार पर समस्त ब्रह्माण्ड स्थित है और जो पूर्ण रूप से ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्याप्त है और उसके बाहर भी। अतएव प्रत्येक जीव में अनन्त ब्रह्म बनने की अथवा अपने ब्रह्मत्व को अनुभव करने की चिर अभिलाषा है।

(३) जिस प्रक्रिया द्वारा अनन्त ब्रह्म अणु से अणु रूप में अपने को प्रकट करता है अथवा शुद्ध चित्त सत्ता अपने को अनेक स्तरों द्वारा भौतिक रूप में प्रकट करती है और जिस प्रक्रिया द्वारा अणु महान् बनता तथा भौतिकता शुद्ध चित्त स्वरूप में परिणत होती है उन दोनों प्रक्रियाओं को जो एक दूसरी की विरुद्ध दिशाओं में होती हैं, विकास कहते हैं। इस विकास का पूर्ण ज्ञान यौगिक प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

(४) ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म स्तरों में जिनको लोक भी कह सकते हैं, इस भौतिक सृष्टि से कहीं सुन्दर और अद्भुत सृष्टियाँ और उनके प्राणी हैं। उनका शुद्ध ज्ञान और बल हम लोगों से कहीं अधिक है। उनमें से कुछ को समस्त ब्रह्माण्ड के रहस्यों का ज्ञान है और समय-समय पर उस ज्ञान भण्डार में से आवश्यकतानुसार हमको कुछ ज्ञान विशेष मनुष्यों द्वारा जो उस लोक से आकर मृत्यु लोक में उसका प्रचार करने के लिये जन्म लेते हैं, प्राप्त होता रहता है। उस आध्यात्मिक और धार्मिक ज्ञान की अनन्त निधि में से ही हमको यह ज्ञान प्राप्त हुआ जोकि वेदों महावीर और बुद्ध के उपदेशों, कुरान, इन्जील और तौरेत आदि में वर्णित है।

(५) अतएव संसार के विभिन्न देश काल और परिस्थितियों में प्रकट हुए सब

धार्मिक शास्त्र एक ही धर्म थियोसोफी (ब्रह्म विद्या) का अनेक रूपो में प्रतिपादन करते हैं। उनमें समन्वय करना चाहिए और सबके प्रति श्रद्धा और आदर का भाव होना चाहिए। उस ब्रह्म विद्या को पूर्ण रूप से जानने वाले सिद्ध लोग (Masters) अब भी सूक्ष्म लोको में मौजूद हैं। उनको हम सूक्ष्म और दिव्य दृष्टि प्राप्त कर लेने पर, प्रेम तथा सात्विक जिज्ञासा से प्रेरित होकर, देख सकते हैं। उनसे वार्तालाप कर सकते हैं, उनसे उपदेश और आदेश भी प्राप्त कर सकते हैं।

(६) मनुष्य केवल भौतिक शरीर ही न होने के कारण, भौतिक शरीर की मौत हो जाने पर मनुष्य का नाश नही होता। वह कुछ काल के लिये पहले सूक्ष्म लोको में अपने कर्म, वासना और जिज्ञासाओ के कारण रह कर फिर किसी भौतिक शरीर में अपनी प्रवृत्तियो और अपने पूर्व जन्म के कर्मो के अनुसार पुन जन्म ले लेता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त कोरी कल्पना ही नही है, बल्कि वास्तविक घटनाओ का अटल नियम है जिसका ज्ञान दिव्य दृष्टि प्राप्त किए ब्रह्म-विज्ञो को यौगिक प्रत्यक्ष द्वारा हो जाता है और हुआ है। बुद्ध भगवान् को अपने अनेक पूर्व जन्मो का स्मरण था। आज भी अनेक बालको के उदाहरण प्राप्त हैं जिन्हे पूर्व जन्मो का स्मरण हो जाता है।

(७) कर्म फल का नियम उसी प्रकार अटल और वास्तविक है जिस प्रकार ससार का कोई भी विज्ञान द्वारा निर्धारित और निश्चित नियम। सभी मनुष्यो की शुभाशुभ कर्मानुसार गति होती है और तदनुसार ही परलोक प्राप्ति और इस लोक में जन्म होता है। प्रत्येक इच्छा, भावना और क्रिया का नियमित परिणाम होता है तथा उसके अनुसार हमारे कारण, सूक्ष्म, और स्थूल शरीरो पर प्रभाव पडता है और उनमें परिवर्तन होता रहता है। उन परिवर्तनो के अनुकूल वातावरण में हमारा दूसरा भौतिक जन्म होता है। जो कुछ सुख, दु ख, धन, सम्पत्ति, सन्तति और ख्याति हमको मिलती है वे सब हमारे व्यक्तित्व की योग्यता के अनुसार न्यायपूर्वक हमको प्राप्त होती हैं, क्योंकि इस ससार को न्यायपूर्वक और पक्षपात रहित चलाने वाले और सूक्ष्म जगत् में रहकर इसका प्रबन्ध कराने वाले अनेक देवी देवता हैं।

(८) प्रत्येक मनुष्य का भविष्य पूर्णतया उसके ही हाथ में है। वह अपनी इच्छा, भावना, विश्वास और प्रयत्न द्वारा जो चाहे बन सकता है, जिस लोक में चाहे प्रवेश कर सकता है। कोई भी देवी देवता ही नही, भगवान् और ब्रह्म भी बन सकता है। बन्धन और मुक्ति, अज्ञान और ज्ञान सब उसके अपने हाथ में हैं। ससार की समस्त शक्तियाँ उसके अपने विकास करने में सहायक होती हैं। ससार में ऐसी भी परिस्थितियाँ और शक्तियाँ हैं जो उसको, यदि वह बुरा बनना चाहे तो, उसको जगाने के उद्देश्य से, पतन की ओर ले जाती हैं।

(९) जिन नियमों का पालन करने से या जिस मार्ग पर चलने से मनुष्य का आध्यात्मिक और मानसिक विकास होता है, शारीरिक स्वास्थ्य बढ़ता है बुद्धि सूक्ष्म तथा निर्मल होती है अच्छे एवं ऊँचे लोकों में प्रवेश होता है भावी जन्म में अच्छे कुल और परिस्थितियों में उत्पत्ति होती है और जिनसे सच्चा सुख एवं शान्ति प्राप्त होती है वे सब धर्म कहलाते हैं। उनके अनुसार चलने से पुण्य होता है और प्रतिकूल चलने से पाप। संसार के सभी धर्म शास्त्रों ने प्रायः एक से ही सामान्य धर्मों का उपदेश दिया है। सब धर्मों का सार यही है कि परोपकार(पर सेवा) से पुण्य होता है और पर-पीड़न से पाप। दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा अपने साथ दूसरों से कराने की इच्छा रहती है और जो दूसरों के द्वारा अपने लिये किया जाना अच्छा नहीं लगता उसको दूसरों के प्रति कदापि नहीं करना चाहिए। यह धर्म और नीति का मूल तत्त्व है।

(१) संसार के सभी मनुष्यों को अपना बन्धु समझकर उनके साथ प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए। विश्व बन्धुत्व की भावना को दृढ़ करके उसके आधार पर व्यवहार करना चाहिए।

(११) मानव जीवन का उद्देश्य ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर लेना है। उस ओर हमारी नैसर्गिक प्रवृत्ति तो है ही और संसार के विकास के नियमों के अनुसार हम धीरे धीरे जन्म जन्मान्तरों और लोक लोकान्तरों के त्याग और कटु अनुभवों के द्वारा उन्नति करते हुए कभी न कभी तो ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करेंगे ही किन्तु अपने विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति शम, दम तितिक्षा उपरति श्रद्धा समाधान और उत्कट आध्यात्मिक अभिलाषा, मुमुक्षा, एवं जिज्ञासा द्वारा अपने विकास की गति को तीव्र कर सकते हैं। जो गति हमको प्राकृतिक रीति से अनन्त काल में प्राप्त होगी उसे शीघ्रता से प्राप्त करके सिद्ध हो सकते हैं। इस रीति से योग द्वारा प्राप्त किये साधन बहुत सहायक होते हैं। ध्यान, ज्ञान, शुभ निष्काम कर्म और ईश्वर भक्ति सभी इस मार्ग पर हमारे सहायक होते हैं।

अध्याय २१

बीसवीं शताब्दी के नेताओं की नीति

श्री अरविन्द का योग

श्री अरविन्द का जन्म कलकत्ते में १८७२ में सम्पन्न घराने में हुआ था। केवल सात वर्ष की अवस्था में ही वे शिक्षा प्राप्त करने के लिये इग्लैंड भेज दिए गए थे और इंग्लिश, ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच, जर्मन, और इटैलियन आदि अनेक योरुपीय भाषाएँ सीखे और बहुत उच्च शिक्षा प्राप्त कर २० वर्ष की अवस्था में भारत लौटे। भारत में बडौदा राज्य में १८९३ से १९०६ तक विभिन्न भागो में नौकरी की। बडौदा रहते हुए आपने सस्कृत और भारतीय भाषाएँ सीखी और भारतीय सस्कृति, धर्म और दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया। वग विभाजन के विरुद्ध राजनैतिक आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिये आपने बडौदा राज्य की नौकरी छोड दी और कलकत्ता आकर राजनैतिक आन्दोलन के उग्र नेता बन गये। चार वर्ष तक लोकमान्य बालगगाधर तिलक और विपिन चन्द्र पाल के साथ गरम दल विचार वाले आन्दोलन का नेतृत्व नि:स्वार्थ और त्याग भाव से किया। 'वन्देमातरम्' 'कर्म योगिन्' और 'धर्म' नाम के राजनैतिक पत्रो का सम्पादन किया। इसके लिये वे पकडे भी गये और बहुत दिन तक हवालात में भी रहे। अलीपुर जेल की हवालात में उनको भगवान् श्री कृष्ण के साक्षात् दर्शन होने का अनुभव हुआ और उनसे उनको एक नया कार्य आरम्भ करने का आदेश मिलने का अनुभव हुआ। १९१० में राजनैतिक कार्य क्षेत्र को छोडकर अग्रेजी भारत की सीमा से बाहर निकल कर फ्रेंच भारत के पाण्डीचेरी नामक नगर में जाकर रहने लगे।

यहाँ पर एक फ्रेंच सज्जन और उनकी स्त्री की सहायता से उन्होंने श्री अरविन्द आश्रम की स्थापना की और यहाँ से १९१४ में 'आर्य' नामक एक अग्रेजी भाषा का मासिक पत्र निकालना आरम्भ कर दिया। इस पत्र में धारावाही रूप से उनके वेद, उपनिषद्, गीता, योग, भारतीय जागृति, और दैवी जीवन आदि विषयो पर बहुत गम्भीर और मननशील लेख निकले, जो कि पीछे पुस्तको के आकार में छपे। इन पुस्तकों के प्रकाशित हो जाने पर श्री अरविन्द की ख्याति भारत में ही नही बल्कि पृथ्वी मडल पर हो गई और

आज उनको योगीराज अरविन्द के रूप में संसार के सभी पढ़े लिखे लोग जानते हैं। उनके आश्रम में लोग जाते हैं और उनके दर्शन और योग के ऊपर अनेक पुस्तकें और डाक्टरेट की उपाधि के लिए निबन्ध लिखे जाते हैं।

१९२६ में श्री अरविन्द ने योगाभ्यास के लिये एकान्तवास करना आरम्भ कर दिया और वर्ष में एक दो बार दूर-दूर से आये भक्तों और अनुयायियों को दर्शन देने के अतिरिक्त लोगों से मिलना जुलना और कहीं आना जाना बिल्कुल बन्द कर दिया। केवल पत्र व्यवहार द्वारा शिक्षा देते रहे। इस एकान्तवास में उन्होंने योग और ध्यान में ही अधिकतर समय व्यतीत किया। समय-समय पर और विशेष अवसरों पर भारत और संसार को यथोचित सन्देश देते रहे। १९५ में वे वृद्ध और नश्वर शरीर का त्याग कर परलोक को चले गये।

श्री अरविन्द के लेखों और पुस्तकों में भारतीय धर्म दर्शन संस्कृति और योग का जितना गहरा विस्तृत और समन्वयात्मक अनुशीलन और मौलिक विचार मिलता है उतना किसी और दूसरे भारतीय अथवा विदेशी लेखक के ग्रन्थों में नहीं मिलता यद्यपि उनकी शैली जन साधारण के लिए आकर्षक और रुचिकर नहीं है। क्यों न हो वे प्राचीन नवीन प्राच्य पाश्चात्य धर्म दर्शन नीति मनोविज्ञान और भौतिक विज्ञान के प्रकाण्ड ज्ञाता होने के अतिरिक्त अनुभवी योगी और स्वतन्त्र विचारक भी थे। उन्होंने भारत की अमर आत्मा और उसकी वर्तमान अवस्था को खूब समझ लिया था। भारत के प्राचीनतम साहित्य वेद से लेकर अर्वाचीनतम वैज्ञानिक साहित्य का उनको ज्ञान था। मानव जीवन के गहनतम स्तरों में योग द्वारा प्रवेश करके उन्होंने मानव जीवन के रहस्य और उद्देश्यों को समझने का प्रयत्न किया था।

उनका दार्शनिक विचार इस सब ज्ञान और अनुभव के आधार पर निर्मित हुआ था और वह आज भारत की बहुमूल्य आध्यात्मिक सम्पत्ति है। इसमें भारतीय संस्कृति की सभी धाराओं और प्रवृत्तियों का समन्वय पाया जाता है जिसमें सभी को उचित स्थान प्राप्त है।

वेद के प्रति श्री अरविन्द की वही भावना है जो कि सदा से हिन्दुओं की रहती आई है और जिसको स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पुनः जागृत और सजीव किया। यह आस्था आजकल पाश्चात्य और तदनुसार वर्तमान वैदिक विद्वानों की आस्था के सर्वथा विरुद्ध है। उनके अनुसार वेदों में ऐतिहासिक और काल्पनिक कथायें और विभिन्न देवों की उपासनाएँ मात्र नहीं हैं। उन सबके बहुत गहरे आध्यात्मिक अर्थ और रहस्य हैं। उनमें जीवन और जगत् की उत्पत्ति विकास और उद्देश्यों की प्रतीकों और संकेतों द्वारा अनुपम व्याख्या है जिसकी मामूली झलक प्राचीन उपनिषदों, छान्दोग्य,

बृहदारण्यक, तैतीय, ऐतरेय, और ईश उपनिषदो में मिलती हैं।

उनकी बहुमूल्य दार्शनिक देन यह है कि संसार और जीवन में समन्वय का ध्यान में रखकर मनुष्य को अपने दार्शनिक विचारो का निर्माण और अपने जीवन का संचालन करना चाहिये। जिन दार्शनिको ने संसार को एकांगी दृष्टि से देखा है और जीवन की एकांगी उन्नति ही की है उनका दर्शन और जीवन अधूरा ही रहा है। इसलिए दर्शन और योग (जीवन कला) पूर्ण होने चाहिये। ईश्वर और जगत्, त्याग और भोग, आत्मा और परमात्मा, प्रकृति का कर्म प्रवाह,सत्ता और विकास, एक और अनेक, विद्या और अविद्या, ज्ञान और कर्म, जन्म और मोक्ष, इनका हमारे दार्शनिक सिद्धान्त और जीवन मे पूर्ण समन्वय होना चाहिये। श्री अरविन्द के अनुसार भगवद्गीता में (Essays on the Gita) इन सब बातो का एक बहुत अच्छा समन्वय किया गया है। संसार और जीवन के सब विरोधी भावो को एक दूसरे के सहायक और पूरक बतलाकर उन्होंने सर्वांगपूर्ण साधना का उपदेश दिया। उनके लेखो में कर्म, ज्ञान, भक्ति प्रपत्ति और ध्यान में, जीव, ईश्वर और प्रकृति में, व्यक्ति और समाज में, जीवन और मुक्ति में, संग्राम और शान्ति में, बाहर और भीतर में इस लोक और परलोक में, आसुरी और दैवी प्रकृति में भेद, समन्वय और समन्वय करने का उस समय के ज्ञान के अनुसार बहुत सुन्दर प्रयत्न है। इसी प्रकार भारतीय और पाश्चात्य दर्शन, धर्म और विज्ञान के प्रकाश में, और आधुनिक युग की परिस्थितियो में, मनुष्य का जीवन दर्शन और साधना क्या होनी चाहिये इनका बहुत सराहनीय यत्न श्री अरविन्द ने किया। उनका दर्शन पूर्ण दर्शन और उनकी साधना पूर्ण साधना कहलाती है।

उनकी मुख्य शिक्षा यह है कि मनुष्य को संसार में रहते हुए ही मोक्ष प्राप्त करना है न कि इसको त्याग करके। मनुष्य की पूर्णता और निःश्रेयस इसी बात में है कि वह अपने को सर्वभाव से उस महान् शक्ति को सौंपकर जो इस संसार को चला रही है, उसको उसके कार्य में सहयोग दे। उसके आदेश के अनुसार ही कार्य करे। अपने जीवन का अलग कोई उद्देश्य न रख कर अपने लिये कुछ न चाह कर और माँग कर अपने को उसके प्रति पूर्णतया समर्पित कर दे और उसका केवल एक निमित्त कारण मात्र बन कर उसकी इच्छानुसार ही चले, रहे और करे।

उनका प्रमुख ग्रन्थ दिव्य जीवन है। उसमें उन्होंने अपने दर्शन और योग का विस्तृत प्रतिपादन किया है। उसमें उन्होंने उस अद्वैतवाद का खण्डन किया है जो संसार और जीवो को मिथ्या बतलाकर केवल एक निर्गुण और निर्विशेष ब्रह्म का, जो सत्ता मात्र है प्रतिपादन करता है। उनके अनुसार शिव और शक्ति, ब्रह्म, ईश्वर, जीव, जगत् सभी सत्य हैं, और सभी का अपना महत्व है। ब्रह्म अपनी शक्ति को साथ लेकर अपने

संकल्प द्वारा ही सृष्टि की उत्पत्ति करता है और विनाश करता है और उसके हृदय में तथा संसार में समष्टि चेतना जिसको श्री अरविन्द प्रायः 'अतिमानस' (Super Mind) की संज्ञा देते हैं, पर कहीं-कहीं 'सत्य की चेतना' 'आध्यात्मिक चेतना' 'मूल प्रत्यय' 'सृजनात्मक शक्ति' 'ज्ञान' 'विज्ञान' और 'अमरत्व' आदि भी कहते हैं। यह चेतना ब्रह्म और जगत् के बीच का पुल है। ब्रह्म स्वयं तो अद्वितीय सत्ता है पर हम लोगों को सत् चित और आनन्द तीन प्रकार से ज्ञात होता है। निष्क्रिय और सक्रिय ब्रह्म एक ही ब्रह्म के दो रूप हैं और एक दूसरे से अभिन्न हैं। सृष्टि क्या है केवल ब्रह्म की आत्माभिव्यक्ति है। अपनी शक्ति और आनन्द के कारण पूर्ण ब्रह्म ही बिना किसी ह्रास के अपने को सृष्टि और तत्पश्चात् प्राणियों और व्यक्तियों के रूप में व्यक्त करता है। उसकी स्वाभाविक इच्छा अपने को रूपान्तर में रखने की अपने को सीमित देखने और करने की, और अपने किसी अंश मात्र प्रदेश मात्र में अधिक ध्यान देने की और दूसरों की ओर न ध्यान देने की प्रवृत्ति में प्रकट करके सृष्टि करती है और क्रमशः अपने पूर्ण रूप को ढकते और सीमित करते हुए, बुद्धि (पर मन) अहंकार, मन प्राण और भौतिक पदार्थों और शरीर के रूप में सीमित करती है। सृष्टि का अर्थ है ब्रह्म का अपनी शक्ति द्वारा क्रमशः अपने रूप को छिपाना और सीमित रूपों को धारण करना। इस क्रिया को श्री अरविन्द अवरोहण (उतार) अर्थात् परमात्मा का संसार में सीमित रूप में अवतरण कहते हैं। अवतरण का ठीक उलटा है आरोहण अथवा ऊपर की ओर चढ़ाव अर्थात् सीमित जीवात्मा से क्रमशः ऊँची स्थिति मुक्तावस्था को प्राप्त करना। यह आरोहण समष्टि और व्यष्टि दोनों में होता है।

व्यक्ति का सच्चिदानन्द ब्रह्म की ओर यत्न द्वारा आरोहण योग कहलाता है। इस योग की साधना क्रमशः सृष्टि में सच्चिदानन्द से भौतिकता की ओर अवरोहण के ठीक उलटी प्रकार की है। समष्टि जगत् में भी भौतिकता का सच्चिदानन्द की ओर आरोहण सच्चिदानन्द से भौतिकता की ओर अवतरण का उल्टा है। केवल एक ही विशेषता है कि आरोहण में जितना व्यक्ति ऊपर चढ़ता है उतना ही भगवान् नीचे उतरता है और रास्ते में ही दोनों का मिलन होता है। व्यक्ति और भगवान् के आरोहण और अवरोहण का संगम अति मानस के स्तर पर होता है। यही नहीं अति मानस भी और भौतिक क्षेत्र पर इसलिये उतरता है कि भौतिकता और मानसिकता का विकास हो। श्री अरविन्द को समष्टि जगत् में यह होता दिखाई पड़ा। व्यक्ति और समष्टि दोनों का आरोहण में नीचे के स्तरों को छोड़कर और उनसे परे जाकर विकास नहीं होता बल्कि नीचे के स्तरों का भी परिवर्तन होता है। शरीर, प्राण मन और बुद्धि को त्याग कर और इनसे परे जाकर मोक्ष सिद्धि अथवा सच्चिदानन्द का अनुभव नहीं होना चाहिये बल्कि इनका ऐसा रूप

परिवर्तन हो जाये कि इनके द्वारा और इनके रहते हुए ही सच्चिदानन्द ब्रह्म का अनुभव होने लगे। अर्थात् व्यक्ति की चेतना का विकास इतना हो जाय कि यह इस भौतिक जगत् में और भौतिक शरीर में ही पूर्णता का अनुभव करने लगे। ऐसी स्थिति प्राप्त होने में मानव को कई भूमिकाओ में होकर ऊपर चढना होता है। वे हैं उच्च मन (Higher Mind) प्रबुद्ध मन (Illumined Mind) प्रज्ञात मन (Intensive Mind) और समष्टि का मन (Over Mind) जब कोई व्यक्ति इन भूमिकाओ को पार करके ब्रह्माण्डी मन (Super Mind) के साथ तादात्म्य का अनुभव करके उसमें आरूढ हो जाता है तब वह ज्ञानी, प्रबुद्ध, प्राज्ञ, अथवा पूर्ण ज्ञानी (Gnostic Being) कहलाता है, जिसको पूर्व कालीन आचार्यों ने जीवनमुक्त और बौद्धो ने बोधिसत्व के नामो से सकीर्तित किया है। प्रबुद्ध (Gnostic) व्यक्तियो के ये लक्षण हैं—

१—प्रबुद्ध व्यक्ति के शरीर, प्राण और मन और आत्मा में पूर्ण सामजस्य होता है। अन्तर्द्वन्द नहीं होता। उसका व्यक्तित्व समाहित (Integrated) होता है।

२—प्रबुद्ध के सभी कार्य अति मानस की दृष्टि से और अतिमानस के स्तर से होते है, व्यक्ति की दृष्टि से नही।

३—व्यक्तित्व रहते हुए भी प्रबुद्ध का अहकार और अहभाव नष्ट हो जाते हैं। उसके सब विचार, भावनायें और कार्य समष्टि के लाभ की दृष्टि से होते हैं।

४—प्रबुद्ध व्यक्ति में व्यक्तित्व-चेतना रहते हुए भी समष्टि और अति मानस की चेतना प्रबुद्ध रहती है।

५—अति मानसिक स्तर पर पहुँचने पर प्रबुद्ध व्यक्ति में अनेक प्रकार की सिद्धियो का प्रादुर्भाव होने लगता है।

६—प्रबुद्ध व्यक्ति को अपने लिए कुछ विशेष कार्य नही रहता। वह समाज और जगत् के लिये कल्याणकारी कामो में ही लगा रहता है और ससार में दैवीसपद्, दैवी जीवन और दैवी राज्य स्थापित करने के लिये वह सदा प्रयत्नशील रहता है।

७—प्रबुद्ध व्यक्ति दैवी स्तर पर सोचता है, कार्य करता है और भावुकता का अनुभव करता है, भौतिक और साधारण मानसिक दृष्टि से नही।

प्रबुद्ध कराने वाले पूर्ण योग के साधन का क्रम इस प्रकार है—

प्रथम—भगवान् को पूर्णतया आत्मसमर्पण। अर्थात् अपने लिये कोई इच्छा और आकाक्षा न रखकर, अपने शरीर, जीवन, मन, बुद्धि को भगवान् के हाथो में सौंपकर उनकी सेवा में, और उनकी इच्छा के अनुसार इनका प्रयोग करे। भगवान् के हाथो में अपने को पूरी तरह सौंपकर यह धारणा हो कि भगवान् और उनकी भौतिक शक्ति

संकल्प द्वारा ही सृष्टि की उत्पत्ति करता है और विकास करता है और उसके हृदय में तथा संसार में समष्टि चेतना जिसको श्री अरविन्द प्रायः 'अतिमानस' (Super Mind) की संज्ञा देते हैं, पर कहीं-कहीं सत्य की चेतना' 'आध्यात्मिक चेतना' 'मूल प्रत्यय' 'सृजनात्मक शक्ति' 'ज्ञान' 'विज्ञान' और 'अमरत्व' आदि भी कहते हैं। यह चेतना ब्रह्म और जगत् के बीच का पुल है। ब्रह्म स्वयं तो असीमित सत्ता है पर हम लोगों को सत् चित और आनन्द तीन प्रकार से ज्ञात होता है। निष्क्रिय और सक्रिय ब्रह्म एक ही ब्रह्म के दो रूप हैं और एक दूसरे से अभिन्न हैं। सृष्टि क्या है केवल ब्रह्म की आत्माभिव्यक्ति है। अपनी शक्ति और आनन्द के कारण पूर्ण ब्रह्म ही बिना किसी ह्रास के अपने को सृष्टि और तद्गत प्राणियों और व्यक्तियों के रूप में व्यक्त करता है। उसकी स्वाभाविक इच्छा अपने को रूपान्तर में रखने की अपने को सीमित देखने और करने की और अपने किसी अंश मात्र विशेष भाग में अधिक ध्यान देने की और दूसरों की ओर से ध्यान हटा लेने की प्रवृत्ति में प्रकट करके सृष्टि करती है और क्रमशः अपने पूर्ण रूप को ढकते और सीमित करते हुए, बुद्धि (पर मन) अहंकार, मन प्राण और भौतिक पदार्थों और शरीर के रूप में सीमित करती है। सृष्टि का अर्थ है ब्रह्म का अपनी शक्ति द्वारा क्रमशः अपने रूप को छिपाना और सीमित रूपों को धारण करना। इस क्रिया को श्री अरविन्द अवरोहण (उतार) अर्थात् परमात्मा का संसार म सीमित रूप में अवतरण कहते हैं। अवतरण का ठीक उल्टा है आरोहण अथवा ऊपर की ओर चढ़ाव अर्थात् सीमित जीवन से क्रमशः ब्राह्मी स्थिति अमृतावस्था को प्राप्त करना। यह आरोहण समष्टि और व्यष्टि दोनों में होता है।

व्यक्ति का सच्चिदानन्द ब्रह्म की ओर यत्न द्वारा आरोहण योग कहलाता है। इस योग की साधना क्रमशः सृष्टि में सच्चिदानन्द से भौतिकता की ओर अवरोहण के ठीक उल्टी प्रकार का है। समष्टि जगत् म भी भौतिकता का सच्चिदानन्द की ओर आरोहण सच्चिदानन्द से भौतिकता की ओर अवतरण का उल्टा है। केवल एक ही विशेषता है कि आरोहण में जितना व्यक्ति ऊपर चढ़ता है उतना ही भगवान् नीचे उतरता है और रास्ते में ही दोनों का मिलन होता है। व्यक्ति और भगवान् के आरोहण और अवरोहण का संगम अति मानस के स्तर पर होता है। यही नहीं अति मानस भी और भौतिक क्षेत्र पर इसलिए उतरता है कि भौतिकता और मानसिकता का विकास हो। श्री अरविन्द को समष्टि जगत् में यह होता दिखाई पड़ा। व्यक्ति और समष्टि दोनों का आरोहण में नीचे के स्तरों को छोड़कर और उनसे परे जाकर मिलन नहीं होता बल्कि नीचे के स्तरों का भी परिवर्तन होता है। शरीर, प्राण मन और बुद्धि को त्याग कर और इनसे परे जाकर मुक्ति अथवा सच्चिदानन्द का अनुभव नहीं होना चाहिए बल्कि इनका ऐसा रूप

परिवर्तन हो जाये कि इनके द्वारा और इनके रहते हुए ही सच्चिदानन्द ब्रह्म का अनुभव होने लगे। अर्थात् व्यक्ति की चेतना का विकास इतना हो जाय कि वह इस भौतिक जगत् में और भौतिक शरीर में ही पूर्णता का अनुभव करने लगे। ऐसी स्थिति प्राप्त होने में मानव को कई भूमिकाओं में होकर ऊपर चढ़ना होता है। वे हैं उच्च मन (Higher Mind) प्रबुद्ध मन (Illumined Mind) प्रज्ञात मन (Intensive Mind) और समष्टि का मन (Over Mind) जब कोई व्यक्ति इन भूमिकाओं को पार करके ब्रह्माण्डी मन (Super Mind) के साथ तादात्म्य का अनुभव करके उसमें आरूढ़ हो जाता है तब वह ज्ञानी, प्रबुद्ध, प्राज्ञ, अथवा पूर्ण ज्ञानी (Gnostic Being) कहलाता है, जिसको पूर्व कालीन आचार्यों ने जीवनमुक्त और बौद्धों ने बोधिसत्व के नामों से संकेतित किया है। प्रबुद्ध (Gnostic) व्यक्तियों के ये लक्षण हैं—

१—प्रबुद्ध व्यक्ति के शरीर, प्राण और मन और आत्मा में पूर्ण सामंजस्य होता है। अन्तर्द्वन्द नहीं होता। उसका व्यक्तित्व समाहित (Integrated) होता है।

२—प्रबुद्ध के सभी कार्य अति मानस की दृष्टि से और अतिमानस के स्तर से होते हैं, व्यक्ति की दृष्टि से नहीं।

३—व्यक्तित्व रहते हुए भी प्रबुद्ध का अहंकार और अहंभाव नष्ट हो जाते हैं। उसके सब विचार, भावनायें और कार्य समष्टि के लाभ की दृष्टि से होते हैं।

४—प्रबुद्ध व्यक्ति में व्यक्तित्व-चेतना रहते हुए भी समष्टि और अति मानस की चेतना प्रबुद्ध रहती है।

५—अति मानसिक स्तर पर पहुँचने पर प्रबुद्ध व्यक्ति में अनेक प्रकार की सिद्धियों का प्रादुर्भाव होने लगता है।

६—प्रबुद्ध व्यक्ति को अपने लिए कुछ विशेष कार्य नहीं रहता। वह समाज और जगत् के लिये कल्याणकारी कामों में ही लगा रहता है और संसार में दैवीसंपद्, दैवी जीवन और दैवी राज्य स्थापित करने के लिये वह सदा प्रयत्नशील रहता है।

७—प्रबुद्ध व्यक्ति दैवी स्तर पर सोचता है, कार्य करता है और भावुकता का अनुभव करता है, भौतिक और साधारण मानसिक दृष्टि से नहीं।

प्रबुद्ध कराने वाले पूर्ण योग के साधन का क्रम इस प्रकार है—

प्रथम—भगवान् को पूर्णतया आत्मसमर्पण। अर्थात् अपने लिये कोई इच्छा और आकांक्षा न रखकर, अपने शरीर, जीवन, मन, बुद्धि को भगवान् के हाथों में सौंपकर उनकी सेवा में, और उनकी इच्छा के अनुसार इनका प्रयोग करे। भगवान् के हाथों में अपने को पूरी तरह सौंपकर यह धारणा हो कि भगवान् और उनकी भौतिक शक्ति

हमारा कल्याण करती है। उसी को अपने आप सौंपकर उससे ही अपने आरोहण की प्रार्थना करता रहे। दूसरी बात जो करनी है वह अपने को द्रष्टा मात्र बनाकर, तटस्थ होकर, यह देखते रहना है भगवान् की शक्ति हमारे जीवन को किस प्रकार परिवर्तित करती है और हमारी प्रकृति का किस प्रकार संस्कार करती है। तीसरी बात जो करनी है वह यह है कि संसार के सभी रूपों में भगवान् को देखने का अभ्यास। सृष्टि को भगवान् का ही प्रकाश और विस्तार समझ कर प्रत्येक वस्तु, प्राणी और घटना में भगवत्दर्शन होना चाहिये।

जब इस प्रकार के योग द्वारा भूमण्डल पर अधिक लोग प्रवृत्त हो जायेंगे तो भगवान् का अवतार होकर यह जगत् दिव्य और दैवी बन जायेगा और जो दोष इसमें इस समय दिखाई पड़ रहे हैं वे नहीं रहेंगे।

भारत के महान् नेता महात्मा गाँधी

उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारकों और विचारकों ने भारत की सोई हुई आत्मा को जगाया उसमें स्वतन्त्र होकर जीने की उत्कट इच्छा उत्पन्न की और अपने खोये हुए प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त करने का आदर्श उसके सामने रक्खा। देश की गिरी हुई दशा को सुधारने के अनेक प्रकार के प्रयत्न होने लगे जिनमें हमारी राजनैतिक परतंत्रता बाधक होती दिखाई पड़ी। परतंत्रता की बेड़ियों को काटने के लिए अनेक प्रयत्न होने लगे लेकिन बेड़ियाँ बहुत मोटी और शिकंजा बहुत मजबूत था। उनको काटना और शिकंजे को तोड़ना बहुत कठिन काम था। अन्धाधुन्ध सोच-विचार कर भी अनेक प्रकार के प्रयत्न किये जाने लगे पर कहीं सफलता दिखाई न पड़ी। २०वीं शताब्दी के प्रथम भाग का भारत का इतिहास उसके स्वतन्त्रता के लिये व्यग्र होकर छटपटाने का इतिहास है। इसमें भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के अनेक हिंसात्मक छुटपुट विद्रोह, सविनय प्रार्थना विदेशों में प्रचार और सहायता की माँग आदि अनेक विफल प्रयत्न किए। इस समय भारत को एक ऐसे नेता की आवश्यकता थी जो कि उसकी अनेक दिशाओं में बिखरी हुई शक्तियों को एकत्रित करके किसी एक ऐसे मार्ग पर ले चले जो सीधा स्वतन्त्रता की ओर भारत को ले जा सके। भारत की यह प्रबल माँग पूरी हुई, और उसको यथा समय मोहन दास करम चन्द गान्धी नामक भारत सुपुत्र के रूप में मिला जिनका नाम पीछे महात्मा गाँधी पड़ा और जो आज स्वतन्त्र भारत के पिता कहलाते हैं।

गाँधी जी न अपने नेतृत्व में एक नवीन मार्ग पर भारत को चलाकर केवल उसको स्वतन्त्र ही नहीं कराया बल्कि उसके और संसार के सामने समस्त जीवन और समाज की कठिन से कठिन समस्याओं को सुलझाने का एक नवीन साधन भी रख दिया। उन्होंने जीवन और समाज को सुखी और सम्पन्न बनाने के नियम भी संसार को दिये।

भारतीय नीति शास्त्र मे महात्मा गांधी का बहुत उच्च स्थान है। उनका प्रभाव ससार भर में दिन पर दिन अधिक होता जा रहा है, सम्भव है कि भविष्य में मानव जाति उनके ही सिद्धान्तो को मानकर उनका ही अनुकरण करने लगे।

भारतवर्ष तथा पृथ्वी के अन्य देशो में भी पूर्वकाल में उच्च से उच्च नैतिक नियमो के उपदेश हो चुके हैं। मनुष्य, पशु न बन कर देवता बन जाये, एक क्षुद्र जीव से अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर या ब्रह्म बन जाये, इस जीवन में ही जीवन्मुक्त होकर जल में कमलवत् निर्लिप्त और उदासीन होकर परम आनन्द से निमग्न रहे और विदेहजनक की नाई मिथिला के जलने पर भी, उसके मन में उद्वेग और अशान्ति न हो। (**दग्धायामपि मिथिलाया न मे दह्यते ते क्वचित्**) रिपुओ, चोरो, डाकुओ, कातिलो में भी भगवान् का अस्तित्व समझ कर उनसे घृणा न करे, अथवा उनको प्रेम की दृष्टि से देख सके और जो कोट छीन रहा हो उसे चादर भी दे दे, और जो एक गाल पर चपत मार रहा हो उसके सामने चपत खाने के लिये दूसरा गाल भी कर दे, अपने सर्वस्व को, यहाँ तक कि शरीर तक को भी, दूसरो के हित के लिये अर्पण कर दे, अपने अहभाव को पूर्णतया मिटा कर, निरभिमान्, निर्मम, निर्मोह रहकर जीवित रह सके, अपने कर्त्तव्यो को निष्काम भावना से करता रहे, और उनके शुभ अशुभ कर्मो को भगवान् को अर्पण कर दे, सब में अपने को, अपने में सबको देखे, ससार की सबही वस्तुओ, सब प्राणियो को भगवान् का स्वरूप समझ कर उनसे प्रेम करे, और किसी से भी घृणा और द्वेष न करे—इन सब बातो की शिक्षा और उनके उपदेश तथा उन पर चलने वालो के उदाहरण तो ससार के नीति शास्त्रो में भरे पडे है पर महात्मा गांधी ने जो एक अद्भुत देन दी है, वह बीज रूप से तो भले ही कही मिलती हो किन्तु अपने पूर्ण और विशाल रूप से कही नही मिलती, अतएव भारत के ही नहीं ससार भर के नीति शास्त्र और विशेषत सामाजिक नीति शास्त्र में उनका अनुपम स्थान है। उनकी नैतिक शास्त्र को विशेष और मौलिक देन है—अहिंसात्मक सत्याग्रह।

अहिंसात्मक सत्याग्रह में तीन मुख्य बातें हैं—अहिंसा, सत्य और आग्रह। आग्रह का शाब्दिक अर्थ है ग्रहण, पकड, आक्रमण, सकल्प, प्रगाढ अनुराग, या किसी वस्तु को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा। सत्य का शाब्दिक अर्थ है—यथार्थ, ठीक, वास्तविक आदि। अहिंसा का शब्दार्थ है—किसी भी प्राणी को न मारना, अर्थात् मनसा वाचा कर्मणा किसी भी जीव को न सताना, एवं अपने उचित उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये उचित साधनो का प्रयोग करना।

गांधी जी ने आग्रह शब्द का अर्थ अधिक व्यापक बनाकर इसके अर्थ में अडे रहना, डटे रहना, मुकाबला करना, लडना आदि क्रियायें भी सन्निविष्ट कर दी हैं। अंग्रेजी भाषा में Resistance (रोकना, विरोध करना—मुकाबला) का जो अर्थ है उसका भी

संग्रह कर लिया है। आग्रह से गाँधी जी का अर्थ है कि दृढ़ होकर वीरता से मुकाबला करना अर्थात् दृढ़तापूर्वक वीरता से तब तक लगे रहना जब तक उस कार्य में सफलता न प्राप्त हो जाए। किस बात के लिये? सत्य के लिये। अर्थात् सच्चे और उचित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये। मुकाबला किसका करना है? उन सब शक्तियों का कुरीतियों का कुप्रथाओं का एवं कुविश्वासों का तथा बुराइयों का जिनके कारण सत्य और न्यायोचित एवं निष्पक्ष हितों की हानि हो रही हो तथा उनको संपादन करने के मार्ग में रुकावट हो रही हो। इस मुकाबले को करने में उन पुरानी रीतियों का अनुसरण नहीं होता जिसमें दूसरों के साथ अस्त्र द्वारा लड़कर, उनको मार कर अपने उद्देश्य की सिद्धि करना ध्येय था। अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिये किसी प्राणी को सताना सत्य और न्याय का गला घोंटना है। कारण कि सत्य और न्याय तो यह है कि प्रत्येक प्राणी को संसार में जीने का अधिकार है। उचित तो यह है कि यदि वह बुरा है सत्य का विरोधी है और उससे दूसरों को हानि पहुँच रही है तो उसको प्रेम तथा अपने निःस्वार्थ एवं पवित्र व्यवहार से उचित मार्ग का ज्ञान कराकर उस पर चलने की प्रेरणा दी जाय। किसी मनुष्य से घृणा तथा द्वेष न करते हुए उसकी बुराइयों को ही उसे समझाकर रास्ते पर लाना चाहिए। गाँधी जी ने अहिंसा का अर्थ केवल नकारात्मक (निषेधात्मक) ही नहीं ग्रहण किया अर्थात् केवल इतना ही नहीं कि मनसा वाचा कर्मणा किसी भी प्राणी को सताना नहीं बल्कि उन्होंने अहिंसा शब्द का भावात्मक अर्थात् प्रेम परहितैषिता सज्जनता विनम्रता मैत्रि करुणा उदारता भी लिया है। इस प्रकार अहिंसा शब्द को भावात्मक तथा निषेधात्मक दोनों अर्थों की एक-वाक्यता के आधार पर अहिंसात्मक सत्याग्रह का एक बहुत व्यापक अर्थ हो जाता है जो जीवन के लिये एक नए मार्ग का द्योतक बन जाता है। इसका अर्थ यह हो गया कि जिस बात को हम उचित न्यायपूर्ण सर्वहितकारी समझते हैं उसको प्राप्त करने में हम दृढ़ प्रतिज्ञ होकर उन शक्तियों का और बुराइयों का जो पूर्वोक्त लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक हैं डटकर मुकाबला करें और इस प्रकार का व्यवहार करते हुये हम मन से वचन से कर्म से किसी भी प्राणी को दुःख अथवा हानि न पहुँचावें और हमारा पूर्ण व्यवहार सज्जनता विनम्रता सौहार्द्य प्रेम तथा न्याय के अनुकूल हो। दूसरों को कष्ट देने के बजाय हम स्वयं सब कष्ट सहने को तैयार रहें और उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सहन करते हुए बुराइयों का मुकाबला करते चलें। इस मुकाबले में यदि हमारा प्राण भी चला जाय तो भी परवाह न करें। सत्याग्रही के हृदय में दो विश्वास दृढ़ होने चाहियें। एक तो यह कि संसार की देख रेख करने वाला और सत्य के मार्ग पर चलने वालों को उत्साह और शक्ति देने वाला ईश्वर है और वह हम सबको हमारे कर्मों का फल अवश्य देता है और वह निराकार तथा अदृश्य होते हुए भी हमारे

सामने सत्य के रूप में ही प्रकट होता है। दूसरा यह है कि हम अमर हैं अर्थात् मौत हमारे अस्तित्व को नही मिटा सकती है। अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा ही हमारे जीवन का उत्तरोत्तर विकास होता है, और इसी के द्वारा हम पूर्णता को प्राप्त होते हैं।

आग्रह के दो प्रकार होते हैं—एक निषेधात्मक और दूसरा विधेयात्मक। निषेधात्मक रूप है बुराई के साथ असहयोग। अर्थात् बुराई जिन-जिन कार्यों के द्वारा फैलती हो उनमे किसी प्रकार का भी योगदान न देना। किसी बुरे काम में योगदान देना अथवा भय, लालच, प्रमाद तथा आलस्य प्रभृति कारणो के आधार पर बुरे कार्यों में सम्मिलित होना अथवा उनके प्रभाव में आ जाना मात्र ही बुराई को बल देना है।

बुराई का सब प्रकार से तिरस्कार करना और उसके चगुल में न फँसना ही उसके साथ असहयोग सत्याग्रह का विधेयात्मक अग हैं। सक्रिय विरोध (Active Resistance) बुराई में न सम्मिलित होना और उससे अलग रहकर जीवन बिताना ही जीवन, ससार और समाज से बुराई को दूर करने में पर्याप्त साधन नही हैं। हर प्रकार से उसका विरोध करना चाहिए। उसके विरुद्ध अच्छाई का पक्ष लेकर उसका प्रचार करना, उसका समर्थन करना, और उसके लिये शक्तियो का सगठन करना चाहिए, और नैतिक नियमो का पालन करते हुए सच्चाई के पक्ष को स्थापित करने के समस्त उचित साधनो का प्रयोग करना चाहिए। किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये, चाहे वह कितना ही अच्छा और कितना ही श्रेयस्कर क्यो न हो, अनुचित साधनो, अर्थात् बेईमानी, धोखेबाजी, मार-काट आदि का प्रयोग नही होना चाहिए। अपने मनुष्योचित शील और सदाचार को नही त्यागना चाहिए। सत्याग्रह सग्राम में जो कुछ भी किया जाय, चाहे वह निषेधात्मक हो या विधेयात्मक, वह खुल्लमखुल्ला किया जाय। जिसके प्रति किया जाय वह उसे बतलाकर किया जाय। उसे ही नही बल्कि ससार को बतलाकर किया जाय। ईश्वर से प्रार्थना करके तथा ईश्वर से आज्ञा एवं शक्ति प्राप्त करते हुए किया जाय और उसे कर्तव्य समझकर किया जाय।

सत्याग्रही में ये दस बातें होनी परमावश्यक हैं—

१—ईश्वर की सत्ता और उसके न्याय में पूर्ण विश्वास।

२—मनुष्य के आन्तरिक भलेपन में विश्वास।

३—सत्याग्रहकालीन आपत्ति उपस्थित होने पर भी अनन्त धैर्य धारण।

४—यहाँ तक कि सर्वत्याग के लिये, प्राण त्याग के लिये भी, प्रस्तुत रहना।

५—सर्वदा निर्भीकता।

६—किसी को भी जबर्दस्ती से अपने मत का अनुयायी न बनाना।

७—यदि कोई गलती हो जाय तो उसे मान लेना चाहिए तथा उस गलती के विषय

में दुराग्रह अथवा क्रोध किया जाय।

८—अपने विरोधी के प्रति भी क्रोध न करना बल्कि प्रेम का बर्ताव करना।

९—शिष्टता से पेश आना और मधुर भाषा का प्रयोग करना।

१०—विरोधी के साथ सदा समझौता करने के लिये उद्यत रहना यदि समझौते में सत्य और न्याय की थोड़ी सी भी विजय होती है तो समझौता कर लेना। इस प्रकार का सत्याग्रह वैयक्तिक रूप से ही नहीं बल्कि सामूहिक रूप से भी किया जा सकता है। इसके द्वारा राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र की व्यापक बुराइयाँ भी दूर करके संसार में रामराज्य (Kingdom of God or Kingdom of Heaven) स्थापित किया जा सकता है।

यह महात्मा गांधी की संसार को विशेष और अमर देन है। उन्होंने इसका प्रयोग भारतीय जीवन के अनेक क्षेत्रों में किया और उसके द्वारा बुराइयों को दूर करने में सफलता प्राप्त करके संसार को एक नये अमोघ नैतिक और मानवोचित शास्त्र की अनुपम देन दी। आज इस शास्त्र का प्रयोग भारत में ही नहीं बल्कि दुनिया के दूसरे देशों तथा समाजों में भी होने लगा है। भारत को ब्रिटिश शासन से मुक्ति इसी साधन के प्रयोग से प्राप्त हुई है।

सामूहिक सत्याग्रह वैयक्तिक सत्याग्रह से अधिक कठिन और भयावह है क्योंकि समुदाय में वे नैतिक गुण और वह नैतिक व्यवहार होना जिसकी सत्याग्रह के लिये नितान्त आवश्यकता है सब प्राप्त नहीं है। इसको एक ही नहीं अनेक सच्चे सत्याग्रही नेताओं की आवश्यकता होती है। उसमें सम्मिलित होने वाले सभी व्यक्तियों को बौद्धिक तथा व्यावहारिक शिक्षा दी जानी चाहिए। इसके लिये आश्रमों की आवश्यकता है जहाँ पर रह कर सत्याग्रह करने वाले के लिये जिन जिन गुणों और व्यवहारों की आवश्यकता है, उनको प्राप्त करना तथा उनका अभ्यास करना होता है। इन आश्रमों में रहकर मनुष्य सत्याग्रह का सच्चा या निर्भीक सिपाही बन जाता है और जीवन भर वह सत्य का पक्ष तथा असत्य का विरोध करता है।

योग शास्त्र के महर्षि पतञ्जलि ने जिन यम नियमों को अष्टांग योग की सीढ़ी के प्रथम दो अङ्ग बतलाया है उनके व्रतों का माहात्म्य महात्मा गांधी ने सब लोगों का विशेषतः सत्याग्रहियों को बतला दिया है। उनका उपदेश केवल वाचिक नहीं था। उन्होंने अपने जीवन में सभी यम और नियमों का पालन किया था।

वे यम नियम ये हैं—अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह—ये यम हैं। और शौच सन्तोष तप (तितिक्षा और कठिन परिश्रम) स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान ये नियम हैं। गांधी जी का समस्त जीवन इन यम नियमों के पूर्णतया पालन करने का प्रयत्न था। इन दस नियमों में से उन्होंने सत्य और अहिंसा को मुख्य मानकर जीवन और समाज

के सभी क्षेत्रो में इनका पालन करना परमावश्यक वतलाया है। यही महात्मा गान्धी की नैतिक शिक्षा का निचोड है।

उनकी दृष्टि में सब मनुष्यो के समान अधिकार हैं। सब धर्म आदरणीय हैं। और स्त्री तथा पुरुष दोनो का समान आदर होना चाहिये। दोनो को उन्नति करने के समान साधन होने चाहिये। समस्त प्राणियो पर दया करनी चाहिये। अस्पृश्यता, समाज का एक महान् रोग हैं। सब जाति के आदमियो में परस्पर प्रेम खान पान और विवाह आदि सम्बन्ध होने चाहिये। सत्य का पालन और स्वाधीनता की रक्षा तथा न्याय की स्थापना करने में कायरता, पलायन द्वारा शरीर की रक्षा, एवं वीरता की हिंसा में से एक का वरण यदि करना हो तो हिंसा कायरता से उत्तम है। ईश प्रार्थना वल देती है। अपनी आवश्यकताओ में से अधिक वस्तुओ का सग्रह नही करना चाहिये। कम से कम सामग्री एकत्रित करनी चाहिये। सुशीलता के सहित आचार-विचार ऊँचे और जीवन सादा होना चाहिये। स्वदेशी वस्तुओ का प्रयोग करना और उनकी उत्पत्ति में प्रोत्साहन देना चाहिये। स्वदेशी वस्तु वह है जो अपने सपीप से समीप स्थान पर और ममीप से समीप रहने वाले व्यक्तियो द्वारा वनाई जाय। हमारा वेश स्वदेशी हो, हमारी भाषा स्वदेशी हो, हमारा धर्म भी स्वदेशी ही होना चाहिये। परन्तु विदेशी धर्म का तिरस्कार और उससे घृणा नही होनी चाहिये। सव मनुष्यो को भगवान् का स्वरूप समझकर सवका आदर तथा सम्मान करना चाहिये। दीन-दु खी और रोगी तथा पीडित मनुष्यो एवं इतर प्राणियो की सेवा करनी, उनका कष्ट निवारण करना ही सव से वडी ईश्वरोपासना है। असली विष्णु भक्त वही है जो सदाचारी और सवके हित में रत, एवं सवकी पीडा से पीडित होकर उसको दूर करने के प्रयत्न में लगा रहे। सभी कामो को जिनके द्वारा कोई व्यक्ति समाज सेवा करता है और समाज उसके उस कार्य के वदले में जीवन निर्वाह की सामग्री देता है, समान अदार होना चाहिये। किसी भी वृत्ति को तुच्छ समझकर उसका निरादर नही करना चाहिये। भगी जिस कार्य को करता है वह भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि वेद पढना तथा पढाना है।

गाँधी जी का समस्त जीवन इन वातो पर चलने, इनका प्रचार करने और इनके उपर प्रयोग करने में ही वीता और उनको अपने सव उद्देश्यो को पूरा करने में पूण सफलता मिली। यद्यपि१८५७ से लेकर भारत की स्वतत्र कराने का प्रयत्न चल रहा था और भारत को स्वतत्र होने में और भी अनेक कारण थे, फिर भी भारत के स्वतत्र होने का समस्त श्रेय महात्मा गाँवी ही को प्राप्त है, जिस कारण वे आज स्वतत्र भारत के पिता कहलाये जाते हैं।

यद्यपि उनका सामूहिक सत्याग्रह आदर्श अहिंसात्मक सत्याग्रह नही हो सका

तथापि स्वतन्त्रता प्राप्त करने और किसी भी क्षेत्र में न्याय कराने और उचित अधिकारों को प्राप्त करने का आज मानव समाज में इससे अच्छा और कोई मार्ग दिखाई नहीं देता है। हिंसात्मक युद्ध से मानव जाति को बहुत हानि होती है और लड़ने वाले दोनों पक्षों में से किसी का भी पूर्ण लाभ नहीं होता है। जो प्राप्त होता है उसका मूल्य बहुत अधिक देना पड़ता है। अहिंसात्मक सत्याग्रह के द्वारा विजय प्राप्त होने में विजेता और पराजित दोनों में सद्‌भावना और मैत्री का उदय होता है, और दोनों ही इससे लाभान्वित होते हैं।

महात्मा गाँधी का जन्म काठियावाड़ के एक सम्भ्रान्त हिन्दू परिवार में १८६९ ई में हुआ था। उनकी माता बहुत धार्मिक थी और बालक मोहन दास न उनसे बहुत कुछ सीखा था। उनकी उच्च शिक्षा इंग्लैण्ड में हुई थी वहाँ से वे बैरिस्टर बनकर दक्षिणी अफ्रीका में बैरिस्ट्री करने लग गये थे। अपनी ईमानदारी नेकनीयती तथा हमदर्दी के कारण उनकी समाज में बहुत अधिक ख्याति हुई तथा धन भी प्राप्त हुआ था किन्तु थोड़ी ही अवस्था में उनको सांसारिक भोग-विलास और रुपए-पैसे से विरक्ति हो गयी थी और उन्होंने अपने आपको तन मन धन से समाज सेवा और राजनैतिक कार्य तथा अनेक प्रकार आतंकों से लोगों की रक्षा करते हुये दीन-दुखियों के दुःख को दूर करने तथा भारत को स्वतंत्र कराने एवं संसार के अहिंसात्मक सत्याग्रह के एक नए मार्ग की देन में लगा दिया और जीवन के अन्तिम क्षण तक मानव जाति ही की नहीं प्राणी मात्र की सेवा करते रहे। उनके जीवन की घटनाओं से प्रायः सभी पाठक परिचित होंगे। इसलिये इस विषय का यहाँ विशेष रूप से उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। नीचे हम कतिपय लेखों तथा उपदेशों से संकलित वाक्यों का उद्धरण करते हुए उनके नैतिक विचारों का दिग्दर्शन कराते हैं।

गाँधी जी की वाणी

सत्य

सत्य अखण्ड है, सर्वव्यापक है। सत्य ही ईश्वर है और ईश्वर ही सत्य है। सत्य में अहिंसा का समावेश हो जाता है। (गाँधी वाणी पृ १२)

सत्य की परिभाषा

निर्मल अन्तःकरण को जिस समय जो प्रतीत हो वही सत्य है। जिसके अन्धकार का आत्यन्तिक नाश हो गया है वह सत्य की मूर्ति है। मैं सत्य को ही परमेश्वर मानता हूँ। (गाँधी वाणी पृष्ठ १६)

सत्य का पथ

सत्यमय बनाने के लिये अहिंसा ही एक मार्ग है। राजमार्ग है। सत्य का सम्पूर्ण दर्शन सम्पूर्ण अहिंसा के अभाव में असम्भव है। (गाँधी वाणी पृ १९)

सत्य का फल

सत्य के पालन में ही शक्ति है। सत्य ही सत्य का पुरस्कार है, सत्य गोपनीयता से घृणा करता है। (गां० वा० पृ० १८)

अहिंसा

पूर्ण अहिंसा का अर्थ है प्राणी मात्र के प्रति दुर्भाव का पूर्ण अभाव। अहिंसा एक महाव्रत है। वह तलवार की धार पर चलने से भी कठिन है। मेरे लिये सत्य से बढ़कर कोई धर्म नही, और अहिंसा से बढकर कोई कर्त्तव्य नही है। दूसरो के लिये प्राणार्पण करना प्रेम की पराकाष्ठा है, उसका दूसरा नाम है अहिंसा।

मनुष्य ने ससार में प्रचण्ड से प्रचण्ड अस्त्र शस्त्र बनाये हैं, उनसे भी प्रचण्ड इस अहिंसा की शक्ति है।

पूर्ण अहिंसक गुफा मे बैठा हुआ भी सारे जगत् को हिला सकता है। तीव्र हिंसा का प्रतिकार तीव्र अहिंसा से हो सकता है (२५) सारा ससार अहिंसा पर उसी प्रकार से कायम है जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण से पृथ्वी अपनी स्थिति में बनी हुई है। (३१) सत्य और अहिंसा व्यक्तिगत आचार के ही नियम नही हैं, वे समुदाय, जाति और राष्ट्र की नीति भी हो सकते हैं। (३१) अहिंसा सामाजिक चीज है, व्यक्तिगत चीज नही हैं। (३२) भारत यदि अहिंसा को गंवा देता है तो सारे ससार की अन्तिम आशा पर पानी फिर जाता है। (३३)

अहिंसा की साधना

मानसिक अहिंसा की स्थिति को प्राप्त करने के लिये काफी कठिन अभ्यास की ज़रूरत है। मन, वाचा और शरीर में जब उचित सामन्जस्य हो तभी सिद्धावस्था प्राप्त होती है। वह तो हृदय का सर्वोत्कृष्ट गुण है और साधना से ही प्राप्त होता है। (गां० वा० २५)

यह धम तिलक लगाने या गगा स्नान करने का नही किन्तु अहिंसा और सत्य आचरण का है। अहिंसा परम धर्म है और सत्य के सिवा दूसरा कोई धर्म नही। इसमें वाछनीय सभी अर्थ और काम आ जाते हैं। (गां० वा० पृ० ३६)

पहले तो सकल्प कर लेना चाहिए कि असत्य और हिंसा के द्वारा कितना भी लाभ हो वह त्याज्य है क्योकि वह लाभ लाभ नही हानि रूप ही होगा।

सयम हमारे अस्तित्व का मूल मन्त्र है। सर्वोच्च पूर्णता की प्राप्ति सर्वोच्च सयम के बिना सभव नही है। इस प्रकार कष्ट सहना मानव जाति का बैज (पहिचान, लक्षण) है। (गां० वा० पृ० ३८)

अहिंसा मानव जाति का नियम है, जैसे हिंसा पशु जाति का। शक्ति का अनुभव

करते हुए अहिंसा का पालन करे। मैं जनता से कोई ऐसी बात करने को नहीं कहता जिसे मैं अपने जीवन में बार-बार आजमा न चुका होऊँ (गाँ वा पृ १९)

जहाँ सिर्फ कायरता और हिंसा के बीच किसी एक के चुनाव की बात हो वहाँ मैं हिंसा के पक्ष में राय दूँगा। (गाँ वा पृ ४)

मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से असीम गुनी ऊँची चीज है। क्षमा दण्ड से अधिक पुरुषोचित है। क्षमा वीरस्य भूषणम्। (गाँ वा पृ ४)

शक्ति शारीरिक क्षमता से उत्पन्न नहीं होती। वह अजेय संकल्प से उत्पन्न होती है।

अहिंसा का अर्थ ईश्वर पर भरोसा रखना है। (गाँ वा ४१)

दुनिया को एक सन्देश देना है, उसे अच्छा बनकर योरोप की नकल नहीं करनी है। मेरा धर्म भौगोलिक सीमाओं में बँधा हुआ नहीं है। (गाँ वा ४१)

अहिंसा द्वारा जिसे मैं हिन्दू धर्म का मूल समझता हूँ भारत की सेवा के लिये अपना जीवन अर्पित कर चुका हूँ।

अहिंसा मेरी प्रत्येक प्रवृत्ति की जड़ है। (गाँ वा ४१)

उदारता तो अहिंसा का लक्षण है।

अहिंसा में हार जैसी कोई चीज नहीं है। हिंसा के अन्त में तो निश्चित हार है। (गाँ वा ४४)

अहिंसा श्रद्धा और अनुभव की वस्तु है। वह सीमा से आगे तर्क की वस्तु नहीं है। (गाँ वा ४२)

अहिंसा परम श्रेष्ठ मानव धर्म है। पशुबल से वह अनन्तगुना महान् और उच्च है। (गाँ वा ४२)

अन्ततोगत्वा वह उन लोगों को कुछ लाभ नहीं पहुँचा सकती जिनकी उस प्रेम रूपी परमेश्वर में सजीव श्रद्धा नहीं है। (गाँ वा पृ ४३)

आत्मसम्मान के अतिरिक्त अपना सर्वस्व गँवाने के लिये तैयार रहना चाहिये। (गाँ वा पृ ४३)

जितना वह व्यक्ति के लिये धर्म है उतना वह राष्ट्रों के लिये भी धर्म है। (गाँ वा पृ ४३)

जहाँ मैं (अहंकार) नहीं है वहाँ हिंसा नहीं। (गाँ वा पृ ४३)

उदारता तो अहिंसा का लक्षण है। (गाँ वा पृ ४४)

अहिंसा का ठीक तरह से पालन किया जाय तो वह आत्मा को पोषण देती है। (गाँ वा पृ ४५)

अहिंसा का स्वभाव ही यह है कि वह दौड़-दौड़कर हिंसा के मुंह में चली जाय। (गाँ० वा० पृ० ४५)

परस्पर विश्वास और सरल चित्त से दूसरों की बात समझ लेने की तैयारी, यही अहिंसा का राजमार्ग है। (गाँ० वा० पृ० ४५)

अहिंसा का लक्षण तो सीधे हिंसा के मुख में दौड़ जाना है। (गाँ० वा० पृ० ४५)

अहिंसा डरपोक का शस्त्र नहीं है। वीरों का धर्म है। (गाँ० वा० पृ० ४५)

सच्ची अहिंसा आने के बाद आपकी वाणी से, आपके आचार से, व्यवहार से अमृत झरने लगेगा। (गाँ० वा० पृ० ४५)

सम्पूर्ण आत्म-शुद्धि के प्रयत्न में मर मिटना, यह अहिंसा की शर्त है। (गाँ० वा०४५)

मारना या नामर्दों के साथ भाग खड़ा होना, इनमें मारने का हिंसा का, रास्ता पसन्द करो। (गाँ० वा० पृ० ४९)

अहिंसा क्षमा वीर का लक्षण है। (गाँ० वा० पृ० ४९)

कायरता कभी धर्म हो ही नहीं सकता। (गाँ० वा० पृ० ४८)

आत्मबल के सामने तलवार का बल तृणवत् है। (गाँ० वा० पृ० ४९)

औरों की रक्षा के लिये अपनी जान दे दो और दूसरे को मारने के लिये हाथ तक न उठाओ। (गाँ० वा० पृ० ४८)

हिंसा करने का पूरा सामर्थ्य रखते हुए भी जो हिंसा नहीं करता वही अहिंसा धर्म के पालन में समर्थ होता है। जो मनुष्य स्वेच्छा से अथवा प्रेम भाव से किसी की हिंसा नहीं करता वही अहिंसा धर्म का पालन करता है। (गाँ० वा० पृ० ४९)

अहिंसा का अर्थ है प्रेम, दया, क्षमा।

यह वीरता शरीर की नहीं बल्कि हृदय की है।

कायरता तो सब प्रकार की शक्ति का अभाव है।

अहिंसा का दूसरा नाम है क्षमा की परिसीमा। क्षमा तो वीर पुरुष का भूषण है। अभय के बिना अहिंसा नहीं हो सकती। (४९)

एक हिंसा का उपासक अहिंसक बन सकता है परन्तु एक कायर से तो कभी अहिंसक बनने की आशा ही नहीं की जा सकती। (गाँ० वा० पृ० ५०)

जहाँ नामर्द बसते हैं वहाँ बदमाश तो होंगे ही। (गाँ० वा० पृ० ५०)

अहिंसा और कायरता परस्पर विरोधी शब्द हैं। (गाँ० वा० पृ० ५०)

सम्पूर्ण अहिंसा उच्चतम वीरता है।

भीतरी से भीतरी विचारों में से भी अहिंसा को निकाल देना चाहिये। (गाँ वा पृ ५२)

हमारे दिल में मारने वालों के लिये दया होनी चाहिये। वे अज्ञानी हैं इसलिये हम ईश्वर से प्रार्थना करेंगे कि वह उन्हें ज्ञान दे।

हृदय से दया के उद्गार निकलेंगे।

सच्चे दिल से हम उन पर दया करेंगे।

अहिंसा में इतनी शक्ति है कि वह विरोधियों को मित्र बना लेती है।

जीवन मृत्यु की शय्या है।

जीवन का स्वाद लेने के लिये हमें जीवन के लोभ का त्याग कर देना चाहिये।

अहिंसा के विविध पहलू

असहयोग की अपेक्षा अहिंसा अधिक महत्वपूर्ण है।

जहाँ दया नहीं वहाँ अहिंसा नहीं अतः यो कह सकते हैं कि जिसमें जितनी दया है उतनी ही अहिंसा है। (गाँ वा पृ ५७)

विचार रहित अहिंसा तो होनी ही नहीं चाहिये। (गाँ वा पृ ५७)

मांसाहारी सत्याग्रही हो सकता है। (गाँ वा पृ ५७)

यह भावना का विषय है सिर्फ बाहरी आचार का नहीं।

अहिंसक आदमी का कोई दुश्मन नहीं होता। (गाँ वा पृ ५७)

मेरा उद्देश्य दुष्टता का मानसिक और इसीलिये नैतिक प्रतिकार है।

बन्धुत्व केवल मनुष्यमात्र से नहीं किन्तु प्राणिमात्र से होना चाहिए। हम अपने दुश्मन से भी प्रेम करने के लिये तैयार न होंगे तो हमारा बन्धुत्व निरा ढोंग होगा। (गाँ वा पृ ५८)

अहिंसा में भय को स्थान नहीं है। (गाँ वा पृ ५८)

अहिंसा का पुजारी एक ईश्वर का भय रक्खे और दूसरे सब भयों को जीत ले। (गाँ वा पृ ५८)

ईश्वर

ईश्वर निश्चय ही एक है। ईश्वर न काबा में है न काशी में वह तो घट-घट में व्याप्त है, हर दिल में मौजूद है। (गाँ वा पृ ५८)

मेरा ईश्वर तो मेरा सत्य और प्रेम है। (गाँ वा पृ ६५)

ईश्वर अन्तरात्मा ही है। (गाँ वा पृ ६५)

वह हृदय को देखने वाला है। (गाँ वा पृ ६५)

वह हममें व्याप्त है और फिर भी हमसे परे है। (गाँ वा पृ ६५)

वह बडा रहमदिल है। वह सबमे बडा ज़ालिम है। (गाँ० वा० पृ० ६५)

वह एक है और अनेक है। वह बुद्धि से परे है। मेरी श्रद्धा बुद्धि से भी इतनी अधिक आगे दौडती है कि मै समस्त ससार का विरोध होने पर भी यही कहूँगा कि ईश्वर है। वह है ही है। (गाँ० वा० पृ० ६६)

ईश्वर प्रकाश है। वह प्रेम है। वह आत्म समर्पण के विना मन्तुष्ट नही होता। एक जीवित शक्ति है जो कभी नही वदलती। ईश्वर जीवन है, सत्य है, प्रकाश है, वह प्रेम है, वह परम मगल है। (६५–६६)

राम नाम की महिमा

मैं ससार में यदि व्यभिचारी होने से बचा हूँ तो राम नाम की वदौलत। (गाँ० वा० पृ० ६९)

जब-जब मुझ पर विकट प्रसग आये हैं मैंने राम नाम लिया है और मैं बच गया हूँ। (६७)

ईश्वरीय नियमो का पालन ही ईश्वर की जय है।

जो शक्ति राम नाम में मानी गयी है उसके बारे में मुझे कोई शक नही है। (गाँ० वा० पृ० ७३)

मेरे पास राम नाम के सिवा कोई ताकत नही है। वही मेरा एक आसरा है। हम अपनी असमर्थता खूब समझ लेते हैं और सब कुछ छोडकर ईश्वर पर भरोसा करते हैं तो उसी भावना का फल प्रार्थना है।

प्रार्थना या भजन जीभ से नहीं हृदय से होता है। (गाँ० वा० ७३)

मूल कण्ठ नही बल्कि हृदय है। प्रार्थना तभी प्रार्थना है जब वह अपने आप हृदय से निकलती है। (गाँ० वा० ७५)

ससार का ज्ञानमय त्याग ही मोक्ष प्राप्ति है। हृदय गुफा ही सच्ची गुफा है। (गाँ० वा० पृ० ७५)

मृत्यु

मौत ईश्वर की अमर देन है। छिप कर उसमें शिव दर्शन करना ही सच्ची यात्रा है। (गाँ० वा० पृ० ७५)

मानव जीवन का लक्ष्य

मनुष्य जीवन का लक्ष्य आत्मदर्शन है और उसकी सिद्धि का मुख्य एवम् एकमात्र उपाय पारमार्थिक भाव से जीवमात्र की सेवा करना है, उसमें तन्मयता तथा अद्वैत के दर्शन करना है। (गाँ० वा० पृ० ७५)

अन्तरात्मा का जागरण

अन्तरात्मा तो अभ्यास से जागृत होती है। सत्य का साक्षात्कार ही अन्तर्नाद है। (गां वा पृ ७५)

आत्म शान्ति का उपाय

साधु जीवन से ही आत्म-शान्ति की प्राप्ति सम्भव है। यही इहलोक और परलोक दोनो का साधन है। (गां वा पृ ७५)

सब कुछ हमारे अन्दर ह

स्वर्ग और पृथ्वी सब हमारे अन्दर है। (गां वा पृ ७५)

आशावाद

आशावाद आस्तिकता है केवल नास्तिक ही निराशावादी बन सकता है। (गां वा पृ ८१)

श्रद्धा का अर्थ

श्रद्धा का अर्थ है आत्म-विश्वास और आत्म-विश्वास का अर्थ है ईश्वर पर विश्वास। (गां वा पृ ८१)

जो बुद्धि का विषय है वह श्रद्धा का विषय कदापि नही हो सकता। (गां वा पृ ८१)

जो श्रद्धा अनुभव की भी अपेक्षा नही रखती वही सच्ची श्रद्धा है।

जो बातें बुद्धि से परे है उन्ही के लिये श्रद्धा का उपयोग है। बुद्धिबल से हृदय बल सहस्रश अधिक है। (गां वा पृ ८५)

प्रेम तत्त्व

प्रेम कभी दावा नही करता वह तो हमेशा देता है। (गां वा पृ ८५)

शुद्ध प्रेम

शुद्ध प्रेम के लिये दुनिया में कोई बात असम्भव नहीं है। (गां वा पृ ८५)

तपस्या की महत्ता

ऐसी कोई चीज नही है जिसे तपस्या के जरिये इन्सान पा न सके। (गां वा पृ ८५)

संकल्प

मनुष्य का सकल्प हृदय रूपी समुद्र में उछाल मारती हुई तरगो से बचाने वाली प्रचण्ड शक्ति है। (गां वा पृ ८५)

व्रत

व्रत बन्धन से पृथक रहकर मनुष्य मोह में पड़ता है। (गां वा पृ ८५)

प्रतिज्ञा का महत्व

प्रतिज्ञा हीन जीवन बिना नीव का घर है। प्रतिज्ञा न लेने का अर्थ है अनिश्चित या डांवाडोल रहना। (गाँ० वा० पृ० ८५)

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन, वचन और काया से समस्त इन्द्रियो का सयम। मनुष्य स्वेच्छा से अपने को अकुश में रक्खे। (९५)

विषय मात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। जो अपनी शक्ति का किसी भी रूप में क्षय होने देता है उसमें उस शक्ति का होना असम्भव है। (गाँ० वा० पृ० ९९)

अस्वाद

किसी वस्तु को स्वाद के लिये चखना व्रत का भग है। (गाँ० वा० पृ० ९९)

अस्तेय

जिस चीज की हमें जरूरत नही है उसे जिसके अधिकार में वह हो उसके पास से उसकी आज्ञा लेकर भी लेना चोरी है। (गाँ० वा० पृ० ९९)

अपरिग्रह

ज्यों-ज्यो परिग्रह घटाइये त्यो-त्यों सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढता है, सेवा-शक्ति बढती है। वास्तव में परिग्रह मानसिक वस्तु है। (गाँ० वा० पृ० ९९)

नम्रता

नम्रता का अर्थ है अहम् भाव का आत्यन्तिक क्षय। (गाँ० वा० पृ० ९९)

आलस्य

जो समय का नाश करता है वह सत्य, अहिंसा और सेवा का भी नाश करता है। आलस्य एक प्रकार की हिंसा है। (गाँ० वा० पृ० ९९)

सन्तोष में ही सुख है

जिन्दगी की जरूरत को बढाने से मनुष्य आचार विचार में पीछे रह जाता है। सन्तोप में ही मनुष्य को सुख मिलता है। (गाँ० वा० पृ० १००)

त्याग

प्रेम जिस न्याय को प्रदान करता है वह त्याग है, और कानून जिस न्याय को प्रदान करता है वह है सजा। (गाँ० वा० पृ० १००)

क्षमा का रहस्य

यह क्षमा जब दया के रूप में बदलती है, प्रेम का रूप धारण करती है, तभी यह शुद्ध क्षमा होती है। (गाँ० वा० पृ० १००)

मृत्यु-शोक मिथ्या है

पुत्र मरे या पति मरे उसका शोक मिथ्या है और अज्ञान है। (गाँ वा पृ १)

इंद्रिय संयम

इन्द्रिय उपभोग धर्म नहीं है इन्द्रिय दमन धर्म है। सिवाय संयम के मेरे तुम्हारे या अन्य किसी के पास कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है। (गाँ वा पृ १ ५)

संयमहीन जीवन

इन्द्रियों को निरंकुश छोड़ देने वाले का जीवन कर्णधार-हीन नाव के समान है। जो निश्चय ही पहली चट्टान से टकरा कर चूर चूर हो जायगी। (गाँ वा पृ १२)

समाज व्यवस्था

बिना व्यवस्था या विधान के किसी समाज का संगठन नहीं किया जा सकता है। (गाँ वा पृ १२५)

भूल सुधार

भूल करना मानव का स्वभाव है। की हुई भूल को मान लेना और इस तरह आचरण रखना कि जिससे वह भूल फिर न होने पाय यह मर्दानगी है। (गाँ वा पृ १२५)

धर्म की व्यापकता

व्यक्ति अथवा समाज धर्म से जीवित रहते हैं और अधर्म से नष्ट होते हैं। धर्म जिन्दगी के हर एक साँस के साथ अमल में लाने की चीज है। एक धम दूसरे धम का पूरक है। (गाँ वा प १२५)

हिन्दू धर्म

यदि मझे हिन्दू धर्म का कुछ भी ज्ञान है तो यह समावेशक व्यापक, तथा धर्म ज्ञान और परिस्थिति के अनुरूप नवीन रूप धारण करने वाला है। हिन्दू धर्म की खूबी उसकी सर्वव्यापकता और सर्व संग्रहकर्ता है। हिन्दू धम जीवित धर्म है हिन्दू वह है जो ईश्वर म विश्वास रखता है।

ब्राह्मण धर्म हिन्दू धर्म का दूसरा नाम है

ब्राह्मण धर्म का अर्थ है ब्रह्मज्ञान। इसीलिए ब्राह्मण धर्म उस ज्ञान का नाम है जिसके द्वारा मनुष्य को ईश्वर-दर्शन या आत्मदर्शन होता है। (गाँ वा पृ १२९)

वर्ण धर्म

वर्ण धर्म मनुष्य का जीवन धम है। मै जन्मना वर्ण विभाग में विश्वास रखता हूँ। वर्ण असल में धर्म है अधिकार नहीं। इसलिये वर्ण का अस्तित्व केवल सेवा के

लिये है, स्वार्थ के लिये नही। (गाँ० वा० पृ० १२९)

भागवत धर्म

हृदय-परिवर्तन एक मात्र भागवत धर्म से ही हो सकता है। (गाँ० वा० पृ० १३०)

अस्पृश्यता

अस्पृश्यता से हिन्दू धर्म चौपट हो रहा है। अस्पृश्यता के साथ संग्राम एक धार्मिक संग्राम है।

आचार का महत्व

बिना आचार के कोरा बौद्धिक ज्ञान वैसा ही है जैसा कि खुशबूदार मसाला लगाया हुआ मुर्दा। (गाँ० वा० पृ० १४५)

सत्याग्रह

इसका मूल अर्थ सत्य को ग्रहण करना है। विरोधी को पीड़ा देकर नही बल्कि स्वयं कष्ट उठाकर सत्य की रक्षा करना। पुरुष स्त्रियाँ और बच्चे सब इस पर अमल कर सकते हैं। यह शक्ति हिंसा या सब प्रकार के अत्याचार और अनीति के लिये ठीक वही काम करती है जो प्रकाश अन्धकार के प्रति करता है। (गाँ० वा० पृ० १४५)

सत्याग्रही और विनय

विनय सत्याग्रह का सबसे कठिन अंश है। (गाँ० वा० पृ० १४५)

सत्याग्रही की आवश्यक योग्यताएँ

१—ईश्वर में उसकी सजीव श्रद्धा होनी चाहिये, क्योंकि वही उसका आधार है।

२—वह सत्य और अहिंसा को धर्म मानता हो तथा मनुष्य स्वभाव की सुप्त सात्विकता में विश्वास रखता हो।

३—वह चरित्रवान् हो और अपने लक्ष्य के लिये जान माल कुरबान करने के लिये तैयार हो।

४—वह खादीधारी हो और कातता हो।

५—वह निर्व्यसनी हो।

६—अनुशासन के नियमो का पालन करने में सदा तत्पर रहता हो।

७—उसे जेल के नियमो का पालन करना चाहिये। (गाँ० वा० पृ० १५५)

असहयोग

असहयोग अनुशासन और उत्सर्ग का कार्य है और इसमें विरोधी विचारो के प्रति धैर्य और आदर रखने की आवश्यकता पडती है। इसमें क्रोध पर काबू रखना पडता है। अगर हम अपने क्रोध पर काबू रख सके तो उसमें ऐसी शक्ति पैदा हो सकती है जो दुनिया को हिला दे। असहयोग में प्राप्त परिणाम दण्ड देना नहीं बल्कि न्याय प्राप्त

करता है। (गाँ वा पृ १६४)

मुँह से बुरे वचन न निकालो आँखों से बुरी बातें न देखो और कानों से गन्दी बातें न सुनो।

असहयोग का यही रहस्य है। (गाँ वा पृ १६४)

सर्वोदय

उपयोगितावादी के सिद्धान्त में स्वयं अपनी आहुति दे देने की गुञ्जाइश बिल्कुल नहीं लेकिन अहवादी तो अपना भी बलिदान कर देगा।

पैसा आदमी को रंक बनाता है। (गाँ वा पृ १६४)

आर्थिक संगठन

अर्थ व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि उसमें बिना खाने और कपड़े के कोई भी रहने न पावे। चन्द आदमियों में धन का केन्द्रित हो जाना तथा जनता का बेकार होना एक महान् सामाजिक अपराध या रोग है। (गा वा पृ २)

राजनैतिक आदर्श

राष्ट्र के प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रीय जीवन को नियमित करने की शक्ति का ही नाम राजनैतिक सत्ता है। सबसे बढ़िया सरकार वह है कि जो कम शासन करती है। (गाँ वा पृ २)

नीतिपूर्ण राजनीति

धर्मविहीन राजनीति कोई चीज नहीं है। नीतिशून्य राजनीति सर्वथा त्याज्य है। (गाँ वा पृ १ ५)

सच्चा स्वराज्य

सच्चा स्वराज्य तो अपने मन पर राज्य है। उसकी कुंजी सत्याग्रह आत्मबल और दया-बल है।

स्त्री

स्त्री सहन शक्ति की साक्षात प्रतिमूर्ति है, धैर्य का अवतार है। स्त्री की श्रद्धा के साथ पुरुष की श्रद्धा की कोई तुलना नहीं हो सकती। स्त्री अहिंसा की मूर्ति है। शान्ति धर्म सीखाने का काम भगवान् ने स्त्री को ही दिया है उसको भिन्न समझना चाहिये। (गाँ वा पृ २२)

कृत्रिम सन्तति निग्रह

सन्तति निग्रह के कृत्रिम साधनों से देश के युवकों की ऐसी हानि कर रहे हैं जिसकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। यह बच्चों का बाजा तो रौंदेगा पर स्त्री और पुरुष दोनों की स्त्री की अपेक्षा पुरुष की अधिक जीवन शक्ति को चूस लेगा। (गाँ वा पृ २२)

आजकल की लडकियां

आजकल की लडकी को भी तो अनेक मजनुओं की लैला वनना प्रिय है। (गाँ० वा० पृ० २२०)

हिन्दू विधवा

हिन्दू विधवा दुःख की प्रतिमा है। वैधव्य हिन्दू धर्म का शृंगार है। धर्म का भूषण वैराग्य है, वैभव नहीं। (गाँ० वा० पृ० २२०)

बाल विधवा

बाल विधवाओ का अस्तित्व हिन्दू धर्म के ऊपर एक कलंक है। (गाँ० वा० पृ० २२०)

पंडित जवाहरलाल नेहरू का अन्तर्राष्ट्रीय पचशील

महात्मा गान्धी के ही नही, भारत के नैतिक दृष्टिकोण को अपनाकर, भारत के नैतिक आदर्श को भूमण्डल पर स्थापित करने का अनवरत, अथक और दृढ प्रयत्न करने वाले सत्यप्रिय, अहिंसोपासक, निर्भीक, वीर तथा मानवता के उद्धारक और शान्ति के पुजारी, भारत के श्रेष्ठतम सुपूत पंडित जवाहरलाल नेहरू भारत के नीति प्रवर्तको में आधुनिकतम नीति प्रवर्तक हैं। उनकी गणना भारत के महान् से महान् नीति प्रवर्तको में की जा सकती है। उनको नीति के क्षेत्र में उच्च से उच्चकोटि में रक्खा जा सकता है। उन्होंने भारत के नैतिक आदर्श को भूमण्डलस्थ मानव जाति का आदर्श बनाने का अत्यन्त सराहनीय प्रयत्न किया है और अभी भी कर रहे हैं तथा इसमें उनको आशातीत सफलता मिली है। भारत का नैतिक आदर्श सदा से यह रहा है—

"सब लोग सुखी हो, सब लोग स्वस्थ और निरोग रहे। सब लोग दूसरो की भलाई में भलाई देखें, किसी को भी किसी प्रकार का दुःख न हो। सब लोगो की कठिनाइयां दूर हो, सब कोई सब जगह भलाई देखें। सब लोगो को सद्बुद्धि प्राप्त हो, सब लोग सब जगह आनन्द से रहे। दुर्जन सज्जन बनें, सज्जन लोग शान्ति से रहे, शान्ति द्वारा बन्धनो से मुक्त हो तथा जो बन्धनो से मुक्त हो गये हो वे दूसरो को स्वतन्त्र कराने का प्रयत्न करें। 'यह व्यक्ति अपना है और यह गैर है' इस प्रकार की धारणा छोटे दिल वालो की हुआ करती हैं। उदारशील व्यक्तियो के लिये तो सारी पृथ्वी के लोग एक कुटुम्ब के समान हैं। 'यह मेरा बन्धु है, यह मेरा बन्धु नही है' इस प्रकार की धारणा तो छोटे दिलवालो की होती हैं। उदार चरित्र व्यक्तियो के लिये तो सब भेदो के परदे उठ जाते हैं। सब प्राणियो को मुझे मित्र की आँख से अर्थात् (मित्र भाव से) देखना चाहिये। मुझे सबको मित्र की आँख से देखना चाहिये। हम सभी को सब प्राणियो को मित्र की आँख से देखना चाहिये। युक्ति युक्त बात तो बालक की भी मान लेनी चाहिये पर युक्तिहीन बात ब्रह्मा की भी नही

माननी चाहिये। जो शास्त्र (विज्ञान) युक्तियुक्त हैं और ज्ञान की वृद्धि करते हैं वे यदि मनुष्य के बनाये हुए हों तो भी उन्हें पढ़ना चाहिये। और जो विपरीत प्रकार के हैं, अर्थात् जो युक्तियुक्त नहीं हैं और ज्ञान की वृद्धि भी नहीं करते उनको त्याग के पुजारियों को कभी नहीं पढ़ना चाहिये। त्याग देना चाहिये। जिस प्रकार यात्री लोग अपने मार्ग की प्रशंसा करते हैं उसी प्रकार नाना प्रकार के मतों और मार्गों का प्रतिपादन करने वाले विभिन्न देश और कालों में उत्पन्न हुए मार्गों की प्रशंसा करते हैं, तथा अपनी दृष्टि से उन्हें श्रेष्ठ समझते हैं। सत्य के अज्ञान के कारण विपरीत ज्ञान के कारण नाना प्रकार के मार्गों द्वारा उन्नति की इच्छा करने वाले आपस में व्यर्थ विवाद करते हैं। वास्तव में जिस मार्ग पर चलने से जिसकी उन्नति होती हो और जिस पर चले बिना उसका काम न चले उसको उसी मार्ग पर चलना चाहिये। दूसरों का मार्ग न उसके लिये शोभा देता है, न सुख देता है और न उसके हित का साधक ही है और न शुभ फल देने वाला ही है।

"इस संसार में सब दुःखों से छुटकारा पाने के लिये अपने पुरुषार्थ को छोड़कर कोई उपाय नहीं है। जो कठिन परिश्रम को त्याग कर दैव के आधीन ही रहते हैं वे अपने शत्रु हैं तथा धर्म अर्थ और काम को नष्ट कर देते हैं।

"जो व्यवहार अपने प्रतिकूल जान पड़ता हो उसको दूसरों के साथ कभी भी नहीं करना चाहिये।"

भारतवर्ष ने जो मनुष्य के लिये जीवन्मुक्त का आदर्श स्थापित किया है नेहरू उसके मूर्त स्वरूप हैं जीवन्मुक्तों के बहुत से लक्षण उनमें दिखाई पड़ते हैं वसिष्ठ के अनुसार जीवन्मुक्त के कुछ लक्षण ये हैं—

"जीवन्मुक्त पुरुष न रसिक होता है और न नीरस। वह वीतराग होकर भी राग युक्त दिखाई पड़ता है और संसार की वस्तुओं की इच्छा न करता हुआ संसार में विचरता है। जीवन्मुक्त लोग दूसरों के मन की बात समझने वाले, मधुर आचरण करने वाले प्रिय और उचित करने वाले उचित और अनुचित कर्मों में विवेक करने वाले और सब में निरचय करने वाले होते हैं। उनका आचरण किसी को दुःख देने के लिए नहीं होता वे सबके बन्धु और अच्छे नागरिक की नाईं व्यवहार करते हैं। बाहर से तो वे काम करते दिखाई देते हैं पर हृदय में वे सब प्रकार से शीतल और शान्त रहते हैं। वे वर्णों के धर्म आश्रमों और शास्त्रों की नियमबद्धता से इस प्रकार मुक्त होकर संसार से बाहर हो जाते हैं जैसे सिंह पिंजरे से। जीवन्मुक्त पुरुष न किसी से डरता है और न दीनता प्रकट करता है और न किसी अवसर पर विषण्ण होता है। पहाड़ की भाँति वह सम, स्वस्थ मन, शान्त और धीर रहता है। परिस्थितियों के अनुसार अनासक्त मन से दूसरे प्राणियों

के साथ व्यवहार करता है। भलो के प्रति भक्तोचित तथा शठो के प्रति शठोचित व्यवहार करता है। वह बालको में बालक, वृद्धो में वृद्ध, धीरो में धीर, युवको में युवक के समान व्यवहार करता है। वह दु खियो को देखकर दु खी होता है। वह भोगों के पीछे नहीं पडता, जो भोग विलास विना प्रयत्न किए प्राप्त होते हैं उन सबका असक्त मन होकर लीला भाव से इस प्रकार भोग करता है जिस प्रकार आँख दृश्यो को। ऐसे तत्वज्ञानी के वल, बुद्धि और तेज, दिन पर दिन, इस प्रकार बढते रहते हैं जिस प्रकार वसन्त ऋतु में वृक्ष में सौन्दर्य आदि गुण बढ़ते हैं। (योगवासिष्ठ)

जितना भी नेहरू के विचारो, जीवन और व्यवहार का अध्ययन किया जाय उससे यही जान पडता है कि नेहरू भारत के आदर्शों को भली भाँति समझते हैं और उनका इस युग में ससार भर में प्रचार करना चाहते हैं, क्योकि वे समझते हैं कि उनके अनुसार चलने से ही भारत और ससार का कल्याण हो सकता है। ये आदर्श हैं विचार स्वातन्त्र्य, साधन स्वातत्र्य, विश्व बन्धुत्व, विश्व मैत्री, समता, पर दु खानुदर्शन, तथा उसके निवारण का प्रयत्न, सबके सुख की भावना, भीतर और बाहर, देश में, और भूमण्डल पर शान्ति का साम्राज्य, सत्य की खोज तथा अहिंसा का व्यवहार। इन आदर्शों और नियमो के विरुद्ध जो-जो विचार, भावनायें और आचार भारत में फैल गए हैं उनसे नेहरू को बहुत घृणा है और उनका उन्मूलन करने के लिये उन्होंने जीवन भर प्रयत्न किया है। वे ससार के सब लोगो को स्वतन्त्र, सुखी, परस्पर मेल से रहने वाले, परस्पर सहयोग और सहानुभूति से जीवन को समृद्ध और सुखी बनाने के लिए अत्यन्त प्रयत्नशील देखना चाहते हैं। वे सग्राम के विरोधी हैं, क्योकि उनकी धारणा है कि सग्राम से जीतने और हारने वाले दोनो की ही हानि होती है तथा ससार की सभ्यता और सस्कृति का नाश हो जाता है। वे प्रत्येक झगडे को परस्पर बातचीत करके और पक्ष विपक्ष को भली भाँति समझकर कुछ लेन या देन करके तय करना चाहते हैं। उनके मत में समझौते से बढकर दूसरा कोई मार्ग ससार में शान्ति फैलाने का नही है। आजकल जबकि युद्ध समबन्धी शस्त्र और अस्त्र बहुत भयानक और विनाशकारी बनते जा रहे हैं उनके प्रयोग का अवसर न आने देना ही बुद्धिमानी है। अन्यथा उनके प्रयोग द्वारा मानव जाति का सर्वनाश तथा आज तक की गयी मानव जाति की उन्नति की पूर्णतया समाप्ति हो जायेगी। वे चाहते हैं कि विज्ञान ने जो प्रकृति और जीवन के सम्बन्ध में बहुत ज्ञान प्राप्त कर लिया है और उस ज्ञान के आधार पर अद्भुत तथा चमत्कारिक यत्रो का निर्माण कर लिया है, और अधिक से अधिक अन्न उत्पादन की विधियाँ जान ली हैं, उनका प्रयोग मनुष्यो के सुख और उत्थान के लिये होना चाहिये। जो विज्ञान में उन्नतशील देश हैं, और जिनके पास धन, सम्पत्ति और साधन अधिक हैं वे अवनत देशो के उत्थान को सहायता दें। भारत में वे विज्ञान, व्यवहारिक विज्ञान, वैज्ञानिक रीति और वैज्ञानिक

दृष्टिकोण का अधिक से अधिक प्रचार और प्रसार चाहते हैं। और चाहते हैं कि भारतीयों की सभी अवैज्ञानिक असामयिक और अनपयुक्त धारणाएँ, विश्वास और रीति रिवाज समाप्त हो जायें तथा भारतीय लोग इस युग में रहना सीखें। अब प्राचीन काल के ही साहित्य दर्शन धर्म संस्थाओं और आचार, व्यवहार का ही राग न अलापते रहें। वे चाहते हैं कि भारत में ऊँच-नीच जाति सम्प्रदाय भाषा प्रदेश योनि (स्त्री-पुरुष) धन-सम्पत्ति आदि के भेद मिटाकर सबको समान अधिकार मिलें। सब लोगों को पूरा भोजन पर्याप्त वस्त्र अच्छा मकान स्वास्थ्य के साधन शिक्षा प्राप्त करने तथा जीवनोपाजन की सुविधायें प्राप्त हों। तथा सभी लोग सहानुभूति और सहयोग से काम करते हुए देश को उन्नत बनायें। बड़ से बड़े उद्योग जिनके द्वारा बड़-बड़ उत्पादन अपने देश में ही बन सकें और साथ-साथ छोटी-छोटी दस्तकारियाँ भी फैलें। वे दुनियां में कोई मतलबी नहीं चाहते। और न किसी गुट में सम्मिलित होकर दूसरे गुटवालों से वैर ही करना चाहते हैं। वे सब देशों से मैत्री रखकर सबकी सहायता से अपने देश की उन्नति करना चाहते हैं। लड़ाई झगड़े से भारत को दूर रखना चाहते हैं।

संसार के सब राष्ट्रों को शान्ति से रहने के लिये और संसार में किसी दो राष्ट्रों या दो गुटों में लड़ाई न होने पावे इसके लिये उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय पंचशील की कल्पना की और उस पर केवल भारत को ही नहीं बल्कि संसार के सब राष्ट्रों को चलने के लिये अत्यन्त परिश्रम कर रहे हैं। पंचशील के मूल तत्व ये हैं—

१—प्रत्येक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र की सीमाओं और प्रभुत्व का आदर करना चाहिए। उनमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

२—किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र पर हमला नहीं करना चाहिए।

३—किसी राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

४—दूसरे राष्ट्रों को अपने समान समझकर सबके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे अपना और दूसरों का भला हो।

५—सभी राष्ट्रों को अपनी आन्तरिक समस्याओं को अपनी-अपनी स्वतन्त्र प्रणाली से सुलझाते हुए एक दूसरे के साथ शान्ति और मेल से रहना चाहिए, यह सह-अस्तित्व कहलाता है।

यदि इन नियमों पर संसार के सभी राष्ट्र चलने लगें तथा परस्पर विवादों को शान्तिपूर्वक बैठकर आपस में तय कर लिया करें तो लड़ाई सदा के लिये बन्द हो जाय। यह पण्डित नेहरू की अन्तर्राष्ट्रीय नीति है।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू का जीवन वृत्तान्त संसार के लिये एक खुली पुस्तक है

प्राय सभी लोग उनको जानते हैं। अतएव यहाँ पर उनके जीवन के सम्बन्ध मे कुछ नही लिखा गया है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि भारत के ही नही ससार के इस महापुरुष का जन्म १४ नवम्बर सन् १८८९ मे इलाहाबाद में हुआ था।

नेहरू की नीति

(इनके व्याख्यानों और लेखों से कुछ उद्धरण)

एक नये समाज की रचना

हमारी आर्थिक तथा सामाजिक नीति असामयिक हो गयी है और इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम उन्हे वह रूप दें जिससे वे हमारे समाज के भौतिक और आध्यात्मिक सुख के प्रसार में सहायक हो सकें। हमें प्रयत्नपूर्वक एक समाज शास्त्र का निर्माण करना है जो हमारे समाज मे ऐसा मौलिक परिवर्तन लावे, जिससे व्यक्तिगत लाभ, व्यक्तिगत लोभ, का स्थान न रहे तथा जिसके द्वारा समाज में राजनैतिक और आर्थिक शक्ति का उचित विभाजन भी हो जाय। हम लोगो का लक्ष्य एक वर्गहीन समाज के निर्माण की ओर होना चाहिये। जो परस्पर सहयोग से बने तथा जिसमें सभी को समान अवसर मिल सके। इसको प्राप्त करने का अर्थ यह है कि हम एक शान्तिमय प्रजातान्त्रिक पथ का अनुसरण करें।

एक नवीन सामाजिक क्रम जिसमें वेगारी, दरिद्रता, वेकारी तथा अन्याय न हो। (अ० १०५) (Speeches of Nehru 1949 to 1953)

भारतीय परराष्ट्र नीति

इस नीति का मुख्य उद्देश्य है—शान्ति का आश्रयण, किन्तु किसी प्रधान शक्ति का या शक्ति समूह का आश्रय लेकर नही, अपितु प्रत्येक विवादास्पद विषय के लिये व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आधार पर, व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए जातीय विभेद तथा कमी, रोग, मूर्खता आदि को मिटाते हटाते हुए, जो आज ससार के अधिकाश जनसख्या मे फैले हुए हैं। (उप० पृ० ३९८)

भारत की आत्मा

भारत भौगोलिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से एक है सास्कृतिक दृष्टि से अनेकता में अनुरूपता एकता है एक विरोध-राशि का अदृश्य दृढ तन्तु मे गुम्फन हुआ है। अनेक वार के आघात से भी उसकी आत्मा का पतन नही हुआ है और वह सदा से अजेय वनी हुई है। समय-समय पर इसने ऐसे महापुरुषो तथा वीरांगनाओ को जन्म दिया है जो पुरानी परिपाटी को चलाते आ रहे हैं तथा उसको तात्कालिक परिवर्तन के अनुकूल वनाते गए हैं। यह भारत की पुरानी प्रथा रही है कि वह नई सस्कृतिया का स्वागत करती रही है तथा उसे आत्मसात् करती गयी है। यह आज परमावश्यक है क्योकि आज हम कल के जगत् में जा रहे हैं जहाँ

राष्ट्रीय संस्कृति मानव जाति की अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति में मिली हुई है। जहाँ कहीं मिले वहीं से हमें बुद्धिमत्ता ज्ञान मिलना तथा सामीप्य को अपनाना चाहिए और सामाजिक कार्य में हम उनका सहयोग करें किन्तु हम दूसरे के प्रभाव का आश्रित न बनें। इस प्रकार हम सच्चे भारतीय सच्चे एशियाई रहकर सच्चे अन्तर्राष्ट्रीय तथा संसार के नागरिक बन सकते हैं। आजकी अन्तर्राष्ट्रीयता में हमें अपना कर्तव्य पालन करना पड़ेगा और इस कार्य के लिये यात्रा करना दूसरों से मिलना उनसे सीखना तथा उन्हें समझना चाहिए। किन्तु वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीयता बिना मूल या आधार के नहीं है इसको राष्ट्रीय संस्कृति पर उदित होना है और केवल स्वतन्त्रता समता और वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीयता पर फल फूल सकता है। (The Discovery of India p.578)

घृणा और अस्त्र—जीवन यात्रा को घृणा और हिंसा के निषेध पर चलाना अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि ये शक्ति का नाश करती हैं विचार शक्ति को सीमित और संकुचित करती हैं और सत्य के दर्शन में प्रतिरोध करती हैं। (वही पृ ७९)

भारत की भविष्य सांस्कृतिक नीति—आज भारत अपनी प्राचीन अन्ध विश्वास-पूर्ण परम्पराओं तथा पाश्चात्य तुच्छ अनुकरणों के बीच में लटका हुआ है। इन किसी में भी इसे शान्ति और उत्थान की आशा नहीं दीखती। यह स्पष्ट है कि इसको अपनी संकुचित सीमा से आगे जाकर वर्तमान संसार के प्रत्येक क्षेत्र में अपना पूर्ण कर्तव्य पालन करना है। यह भी उतना ही स्पष्ट है कि किसी भी वास्तविक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उत्थान का जन्म अनुकरण के आधार पर नहीं हो सकता है। सच्ची संस्कृति को संसार के प्रत्येक कोने से उत्तेजना लेनी पड़ेगी किन्तु इसे अपने घर में ही समाश्रयण के आधार पर फलना फूलना पड़ेगा। कला और साहित्य निर्जीव हो जाते हैं यदि वे सदा ही विदेशी मॉडल का अनुकरण करते रहें। हम मानवमात्र की दृष्टि से विचार करें संस्कृति को प्राचीनता की शिला पर प्रतिष्ठित करें परन्तु नवीन मार्ग भी निश्चित रहें। (वही पृ ५०९)

भारतीय समाज रचना—यदि किसी समाज को दृढ़ और उन्नतिशील दोनों ही बनना हो तो उसे सुदृढ़ नियमों के आधार प्रतिष्ठित होना पड़ेगा तथा एक क्रियाशील दृष्टिकोण रखना पड़ेगा। दोनों ही आवश्यक हैं। क्रियात्मक दृष्टिकोण के बिना समाज और विनाश की सम्भावना है बिना दृढ़ आधार के उसमें अपूर्णता तथा विनाश संभव है।

भारत में अति प्राचीनकाल से ही उन शाश्वत नियमों की खोज होती रही है जिनमें अपरिवर्तनशील सामान्य विशेष नियम प्राप्त हो सकें और क्रियात्मक दृष्टिकोण भी विद्यमान है। जिसमें जीवन की व्याख्या तथा परिवर्तनशील जगत् का विचार है। इन दो स्तम्भों पर एक दृढ़ सांस्कृतिक भवन का निर्माण हुआ था यद्यपि घोर अवरोध शिक्षा सुरक्षा और शान्ति के पुनर्जीवन पर ही रहा अन्त समय में इसका क्रियात्मक

पहलू क्षीण होने लगा और सत्य त्रिवर्ग के नाम पर सामाजिक स्तर अत्यन्त दृढ़ और अपरिवर्तनशील होता गया। वास्तविक दृष्टिकोण से यह पूर्ण रूपेण अपरिवर्तनीय नहीं था, इसमें धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ किन्तु इसके पीछे हमारा आदर्श और आशय ढांचा अपरिवर्तनशील बना रहा। विभिन्न जातियों द्वारा सुरक्षित सामूहिक विचारधारा, संयुक्त परिवार ग्रामों का जातीय स्वशासन आदि प्रधान स्तम्भ थे और ये सभी जीवित रहे, क्योंकि अनेक दोषों के होने पर भी ये मानव जीवन के समाज की मुख्य आवश्यकताओं को पूरा करते थे। उन्होंने प्रत्येक समूह को सुरक्षा और स्थिरता प्रदान की है और सामूहिक स्वतन्त्रता की धारणा भी।

भारतीय सभ्यता अपने लक्ष्य से आगे बढ़ चुकी है जिसके कारण भूत में इतने कार्य सम्पादित हुए हैं और उनमें सभी अच्छाइयां थी किन्तु वे आज के लिये महत्वपूर्ण न रह गयी। (वही पृ० ५१८–१९)

हमारा आज का आदर्श—हमको मानव जाति के भीतर वह स्तर प्राप्त करना है और आज की मानवीय सफलता के साथ-साथ चलना है जो भूत की अपेक्षा आज अधिक ही उत्तेजक है, यह जानते हुए कि आज यह राष्ट्रीयता की सीमा तथा पुराने विभागों को पार कर मानव मात्र के लिये बन गया है। हमें सत्य चाहिये, सुन्दरता और स्वतन्त्रता की चाह प्राप्त करनी चाहिये जो जीवन को महत्व प्रदान करती है और उस क्रियात्मक पहलू को समृद्ध बनाती है, साहस को शक्ति प्रदान करती है, जो हमें हमारी जाति को भेंट करता है, जो भूतकाल में अपने भवनों का निर्माण दृढ़ और स्थायी शिला पर करते थे। हम लोग अति प्राचीन हैं, स्मृति हमें मानव इतिहास के पहले स्तर पर खींच ले जाती है। हम लोगों को फिर बच्चा बनना है आज के रागों के साथ वर्तमान के अनुत्तरदायी आत्मा और नवयौवन के आनन्द के साथ तथा इसके भविष्य की श्रद्धा के साथ। (वही पृ० ५२३)

सत्य और इसका प्रत्यक्षीकरण

यदि सत्य वास्तव में परमार्थ है तो इसे नित्य, अविनाशी, अपरिवर्तनशील होना चाहिये। किन्तु वह निःसीम, अनन्त, अपरिवर्तनशील सत्य, परिवर्तनशील अनित्य और सीमित मानव बुद्धि के द्वारा पूर्णरूपेण ग्रहीत नहीं हो सकता है। वह केवल इसके अल्पतम पहलू को ही ग्रहण कर सकता है, जो काल और देश में सीमित है और मस्तिष्क के विकास तथा उस काल के शब्दावलियों से बंधा है। मस्तिष्क का जैसे-जैसे विकास होता गया, इसका क्षेत्र बढ़ता गया वैसे-वैसे इसकी शब्दावलियों में परिवर्तन हुआ। नये-नये संकेत को सत्य की अभिव्यक्ति के लिये आश्रय लिया गया। और सत्य का नया स्वरूप हमारे समक्ष आया, फिर भी इसकी सीमा हमारी दृष्टि से बाहर ही है इसलिये सत्य की खोज तथा नवीनीकरण सदा चलता रहेगा जिससे कि मानव इसे समझ सके और मानव-जीवन

की वृद्धि और विकास के क्रम में यह जीवित रह सके। तभी मानवता के साथ यह जीवित सत्य कहा जा सकेगा और उन आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगा जिसकी जरूरत है तथा वर्तमान और भविष्य का पथ प्रदर्शक बन सकेगा। (वही पृ ५२१)

यदि सत्य का कोई पहलू मृत के विचारों द्वारा प्रस्तावित कर दिया गया है तो वह अपना विकास बन्द कर देता है तथा मानव की परिवर्तनशील आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता है। इसके दूसरे पहलू छिपे हैं और परिवर्तनशील जगत् के प्रश्नों के उत्तर देने में यह असमर्थ हो जाता है। अब यह क्रियात्मक न रहकर रूढ़ बन गया यह जीवित प्रवृत्ति न रहकर मृत विचार बन गया और केवल जिज्ञासा तथा मानव मस्तिष्क के विकास का बाधक बन गया। यह सत्य है कि सम्भवतः भूतकाल में जब इसका जन्म हुआ और भाषा तथा शब्दों के आवरण में आवृत हुआ जितना समझा गया था उतना इस समय नहीं समझा जा रहा है। इसके सन्दर्भ में भेद हो गया मानसिक वातावरण बदल गया नये सामाजिक अभ्यासों और प्रथाओं का प्रादुर्भाव हुआ और प्राचीन लेखों को समझना तथा उसके भीतर से उसका सार निकालना प्राय दुष्कर हो गया। (वही पृ ५२१)

धर्म —मानवता के विकास में धर्मों ने बड़ी सहायता प्रदान की है उन्होंने महत्वपूर्ण स्तरों का अन्वेषण किया तथा उन नियमों का निर्देश भी जो मानव जीवन के पथ-प्रदर्शक बने। किन्तु अपनी सभी अच्छाइयों के होते हुए भी उन्होंने सत्य को बन्दी बनाने का भी प्रयास किया एक नए तुले रूप में जकड़ और अभ्यास को प्रोत्साहित किया जो शीघ्र ही अपना मौलिक महत्व खो बैठा और केवल एक दिनचर्या मात्र शेष रही। विचार जिज्ञासा को प्रोत्साहित करने के स्थान पर धर्मों ने प्रकृति को स्थापित धर्मस्थानों के तथा विस्तृत सामाजिक नियमों के समक्ष आत्मसमर्पण का दर्शन सिखलाया। परलोक के प्रतिबिम्बित के ऊपर विश्वास ने सारे सामाजिक उत्तरदायित्व को कम कर दिया भावना तथा भक्ति न तर्क विचार और अन्वेषण का स्थान ग्रहण कर लिया। धर्म ने यद्यपि अनन्त मानव के लिये सुख और शान्ति लाने का प्रयास किया और इसके मूल्य पर सामाजिक निर्माण भी किया किन्तु ऐसी धारणा को जन्म दिया जो समाज को भीतर से बाँधे और संपूर्ण बनाये। (वही पृ ५२४)

दर्शन—दर्शन ने इन अनेक छोटी-बड़ी त्रुटियों की अवहेलना कर विचार, तर्क तथा अन्वेषण को प्रोत्साहित किया। किन्तु यह काल्पनिक भवन में रहने लगा जो जीवन और जीवन की प्रतिदिन की समस्याओं से अत्यन्त पृथक था। इसका सम्पूर्ण ध्यान परम तत्व की ओर लगा था जो मानव के जीवन से अपना सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ था। तर्क और युक्ति (प्रतिभा) इसके पथ प्रदर्शक थे जो इसकी अनेक दिशाओं में बहुत दूर तक ले गये। किन्तु यह तर्क अधिकांश में मस्तिष्क की उपज था और यथार्थता उससे

कोई सम्बन्ध न रहा। (वही पृ० ५२४)

विज्ञान—विज्ञान परम उद्देश्य का परित्याग कर वास्तविक घटनाओ में ही भटका रहा। इसने ससार को आगे कुदा कर बढाया, एक उज्जवल सभ्यता की स्थापना की, ज्ञान के विकास के लिये अनेक द्वार ढूंढ निकाले, और मानव शक्ति को इस प्रकार का सहयोग प्रदान किया कि पहले पहल ऐसा जान पडा कि मानव भौतिक वातावरण पर सफलता और विजय प्राप्त कर लेगा। तो भी उसमे कुछ मौलिक कमी या जीवन तत्व की कमी दीख पडती है। वहाँ परम उद्देश्य का ज्ञान नही है, और तात्कालिक उद्देश्य का भी ठिकाना नही। क्योकि विज्ञान जीवन के उद्देश्य के विषय में पूर्ण मूक है और न तो मानव को इतना शक्तिशाली ही बना सका जिससे वह प्रकृति पर अधिकार प्राप्त कर अपने पर भी अधिकार प्राप्त कर ले। और जिस पिशाच को इसने जन्म दिया है वह इधर-उधर दौड रहा है।

विज्ञान के विकास की सीमा दीख नही पडती। यदि इसको इसी प्रकार बढने का अवसर मिलता गया और यह निरीक्षण की वैज्ञानिक प्रक्रिया मानव अनुभव के प्रत्येक क्षेत्र में नही लगायी जा सकती वह हमारे चारो ओर फैले हुए अज्ञात महासागर को पार नही कर सकता। दर्शन की सहायता लेकर वह इस अज्ञात सागर में कुछ आगे बढ सकता है। और जब विज्ञान और दर्शन दोनो असफल हैं तो निरीक्षण के उस मार्ग पर हमें निर्भर रहना पडेगा जो हमारे पर विद्यमान हैं क्योकि एक निश्चित ठहराव दिखलाई पडता है जिसके आगे आज की बुद्धि का तर्क नही बढ़ सकता। (वही पृ० ५२५)

आज के जीवन में विज्ञान की आवश्यकता

तर्क और वैज्ञानिक प्रक्रिया की त्रुटियो को जानकर भी हमें अपनी पूर्ण शक्ति से इनको पकडना ही पडेगा क्योकि बिना दृढ आधार मिति के हम किसी प्रकार के तत्व या यथार्थता को नही पकड सकते। यह उत्तम है कि हम सत्य के अश को ही समझें और उसे जीवन में चरितार्थ करे, अपेक्षा इसकी कि हम रहस्य भेदन के लिय निरर्थक प्रयास करे और कुछ भी समझ न पावें। आज सभी देश और सभी व्यक्तियो के लियें विज्ञान का प्रयोग अत्याज और आवश्यक है, किन्तु इस प्रयोग से कुछ और आधक की भी जरूरत है। यह विज्ञान की पहुँच, उसकी साहसपूर्ण तथा समालोचनात्मक धारणा है कि सत्य और नये ज्ञान की खोज की जाय और बिना परीक्षण के किसी चीज को स्वीकार न किया जाय, नये प्रमाणो के आधार पर पुरानी धारणाओ को गलत सिद्ध किया गया। यथार्थ घटनाओ के दर्शन पर विश्वास करना न कि पूर्व सस्थापित सिद्धान्त पर मस्तिष्क को कठिन अनुशासन के भीतर रखना—ये सभी केवल विज्ञान के प्रयोग के लिये ही आवश्यक नही है किन्तु जीवन के लिये और जीवन की अनेक समस्याओ के लिये। विज्ञान की पहुँच तथा धारणा,

जीवन के मार्ग सोचने की ग्रक्रिया अपने मित्रों के साथ सम्बन्ध करने के उपाय हैं, और होने चाहिये। वैज्ञानिक धारणा उस पथ का निर्देश करती है जिस पर मानव को चलना है। यह एक स्वतन्त्र मानव की धारणा है। (वही पृ ५२५) विज्ञान भावात्मक ज्ञान के रूप में व्यवहार करता है किन्तु जो धारणा इससे उत्पन्न होगी वह इससे भी आगे जायेगी। पुस्तकान्वित धर्म ने जिस धारणा को उत्पन्न किया है वह विज्ञान की धारणा से बिल्कुल ही प्रतिकूल है। यह संकीर्णता असहायता भय, अन्धविश्वास भावना और अपूर्णता को जन्म देता है। यह मानव मस्तिष्क को पराधीन बनाता है और पराधीनता तथा परतन्त्रता की धारणा उत्पन्न करता है। (वही पृ ५२६)

धार्मिक विश्वास—वाल्टेयर ने कहा है कि यदि ईश्वर न भी हो तो भी यह आवश्यक है कि हम उसकी खोज करें कदाचित् यह सत्य है और सचमुच में मानव मस्तिष्क तथा ही कुछ ऐसी धारणाओं को रखता है जो मस्तिष्क के विकास के साथ विकसित हुई रहती हैं किन्तु इसके विपरीत भी पक्ष हो सकता है कि यदि ईश्वर हो भी तो भी मनुष्य को उसके तरफ देखने और उस पर विश्वास करने की कोई जरूरत नहीं। पारलौकिक शक्ति पर अधिक विश्वास करना मानव को सदा आत्म-निर्भरता और आत्म-विश्वास से दूर भगाता है तथा उसकी शक्ति और खोज को कुण्ठित बनाता है। तो भी कुछ आध्यात्म पर विश्वास करना आवश्यक प्रतीत होता है तथा नैतिकता आदर्शवादिता आदि को प्रश्रय देना नितान्त जरूरी है, इसके बिना हमारे जीवन का लंगर, उद्देश्य और लक्ष्य स्थिर न हो सकेगा। हम चाहे ईश्वर में विश्वास करें अथवा न करें किन्तु यह असम्भव है कि हम किसी चीज में विश्वास न करें, चाहे उसे हम जीवन शक्ति या प्राण शक्ति कहें जो जड़ में वृद्धि, वृद्धि और विकास का कारण बनता है या किसी अन्य नाम से पुकारें वह उतना ही सत्य है जितना मृत्यु के विपरीत जीवन सत्य है (पृ ५२६) चरम सत्य अब भी मानव की पहुँच के बाहर है और सदा इस प्रकार ही बना रहेगा। (वही पृ ५२६) इसलिये विज्ञान की पहुँच और ढंग को दर्शन के साथ सम्मिलित कर तथा जो हमारी शक्ति से परे है उस पर आदर की भावना रखकर ही हमें जीवन का सामना करना चाहिए। (वही पृ ५२७)

भारतीय दृष्टिकोण तथा वर्तमान युग—प्राचीनतम भारतीय विचारधारा के मौलिक आधार आज की अभिव्यक्ति से मिलकर वैज्ञानिक पहुँच और दृष्टिकोण के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीयता में उचित रूप से समन्वित हो सकता है। इसकी आधारशिला निर्भीकतापूर्ण सत्य की खोज मानव की सम्बद्धता प्रत्येक जीवित के भीतर अविशेष व्यक्तिगत तथा जातीय स्वतन्त्र और सहकारी विकास आदि है। (वही पृ ५२८)

हमारी अन्तर्राष्ट्रीय नीति

हम किसी शक्तिशाली गुट में न मिलें, और प्रत्येक देश के साथ सहयोग और मैत्री

भावना को बढ़ाने का प्रयत्न करें। (Speeches of Nehru 1949 to 1953) हम लोगों को यह कभी नही भूलना चाहिये कि जो लोग दूसरो पर अधिक झुके रहते है वे स्वय दुर्बल और असहाय हो जाते हैं। (वही पृ० ८) हम नही चाहते हैं कि किसी भी देश के आभ्यान्तरिक मामले मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप करें, प्रत्येक देश अपने अनुसार अपने आन्तरिक कार्यों को करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हैं। (वही पृ० ९) ससार अनेक प्रकार की विचित्रिता और भेद से भरा हुआ है। किसी को भी अपने सोचने और करने के ढग को दूसरे पर नहीं लादना चाहिए। (वही पृ० ९)।

उपाय तथा लक्ष्य

अच्छे मार्ग पर चलकर हानि उठाना बुरे मार्ग से लाभ उठाने से कही बढ़कर है। जिस उद्देश्य के लिये गलत मार्ग का आश्रयण करना पडता हो वह कदापि अच्छा नहीं हो सकता। यदि सन्देहास्पद मार्ग का अवलम्ब लिया जाता है तो लक्ष्य के औचित्य का कोई अर्थ नहीं रहता है। (वही पृ० २४) केवल यही आवश्यक नही कि हम बडे लक्ष्य के लिये आतुर रहे, यह भी उतना हो आवश्यक है कि हमको उस लक्ष्य के लिये उचित मार्ग का आश्रय लेना चाहिए। (वही पृ० २९)

कर्तव्य और अधिकार

हम लोग अपने अधिकार और सुविधाओ की मांग करते रहते हैं, किन्तु अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व को याद रखना उससे कही अधिक आवश्यक है। (वही पृ० २५)

अन्य धारणाओं को समझना

जहाँ विचार विभेद हो वहाँ यह आवश्यक है कि अन्तिम निर्णय के करने पूर्व हम अन्य विचारो को भी सुनें और समझें। (वही पृ० २७)

बल प्रयोग पर आक्षेप

यदि अच्छे कार्य के लिय भी हम बल प्रयोग करें तो यह नि सन्देह विनाश में ही परिणत होगा। यदि हम शस्त्र ग्रहण करते हैं तो दूसरे भी अवश्य ग्रहण करेंगे और तब कौन जानता है कि किसका शस्त्र अन्त में सफल होगा। (वही पृ० ३४)

बुद्धि की स्थिरता पर आक्षेप

हम जितना सकीर्ण राष्ट्रीय दृष्टिकोण को जो हमें यह सोचने के लिये बाध्य करता है कि हमसे अधिक कोई बुद्धिमान् नही है और हमको किसी से कुछ सीखना नहीं है, नापसन्द करते हैं उतना अन्य किसी चीज को नही। इस प्रकार की धारणा एक स्थिर स्थिति का निर्देश है और कोई वस्तु जब स्थिर हो जाती है तो प्रवाह हीनता के आने के कारण धीरे-धीरे विनाश की ओर बढने लगती है। हमें अपने मस्तिष्क के द्वार को सदा खुला रखना है जिससे जो भी ज्ञान और सन्देश हमें प्राप्त होने वाले हैं, प्राप्त हो सकें। हम

संसार के प्रत्येक भाग के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करने के लिए हैं। हमें संसार के सभी देशों को आमन्त्रित करना है जिससे वे हमारी बातें सीखें और अपनी बात सिखा सकें। हमें बैरिस्टरी की जरूरत नहीं। (पृ ७)

समानता नहीं अपितु समान अवसर

हम सभी व्यक्तियों को समान नहीं बना सकते तो भी कम से कम हम उन्हें समान अवसर तो दे ही सकते हैं। (पृ ९) आज का हमारा सबसे बड़ा उत्तरदायित्व प्रत्येक बालक लड़का या लड़की को समान अवसर देना है। (वही पृ ११)।

एक वर्गहीन समाज

हमारी आर्थिक तथा सामाजिक नीति असामयिक हो गयी है और इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम उन्हें वह रूप दें जिससे वे हमारे देश के प्रत्येक व्यक्ति के लिये भौतिक और आध्यात्मिक सुख में सहायक बन सकें। हमें प्रयासपूर्वक एक ऐसे समाज शास्त्र का निर्माण करना है जो हमारे समाज में एक ऐसा मौलिक परिवर्तन लावे जिसके कारण व्यक्तिगत लाभ और व्यक्तिगत लोभ की धारणाओं का अन्त हो जाय तथा जिसके द्वारा समाज म राजनैतिक और आर्थिक शक्ति का उचित विभाजन भी हो जाय। हम लोगो का लक्ष्य एक वर्गविहीन समाज की ओर होना चाहिये जो प्रत्येक के सहयोग से तथा प्रत्येक को समान अवसर देते हुए बने। इसको प्राप्त करने का तात्पर्य यही होगा कि हम लोग एक शान्तिमय प्रजातान्त्रिक पथका अनुसरण करें। (पृ १ १ वही)

'एक नवीन सामाजिक व्यवस्था जो बकारी दरिद्रता और बेमारी से रहित होगा। (वही पृ १ ६)

जीवन गतिशील है

जीवन चाहे वह व्यक्ति का हो समूह का हो राष्ट्र का हो या समाज का ही वास्तव म गतिशील परिवर्तनशील और बढ़ने वाली चीज है। इसकी गतिशील वृद्धि किसी भी रुकावट को भ्रष्ट और समाप्त करती है। (वही पृ १६९)

मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकता तथा संस्कृति

तुम किसी उच्चतम संस्कृति की उड़ान की कल्पना नहीं कर सकते जहाँ मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। (वही पृ १७४)

वर्तमान युग में विचार की आवश्यकता

आज का युग भौतिक जीवन को प्रोत्साहन नहीं देता और यदि भौतिक जीवन को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता तो अवश्य ही सभ्यता भ्रष्ट हो जाएगी जाति भ्रष्ट हो जायेगी और अन्त में दोनों किसी अज्ञात स्थिति में टकरा जायेंगे या मूर्छित होकर

वही हो जायेंगे, जो अन्य जातियाँ तथा सम्यताएँ हुई हैं। (वही प० ३८७)

प्रजातान्त्रिक पथ

प्रजातन्त्र का मार्ग, विवाद, बहस, प्रोत्साहन तथा अन्त में निणय और निर्णय को स्वीकार करना है चाहे वह निर्णय भले ही हमारे लाभ के विरुद्ध हो अन्यथा विशाल लाठी और विशालतम की चलती चलेगी और वह प्रजातान्त्रिक ढग नही रहेगा। (वही-पृ० १७८)

तर्क से महानुभूति अच्छी

किसी भी निर्णय के लिये हम लोगो को मैत्री भावना को तार्किक निर्णय की अपेक्षा अधिक महत्व देना चाहिए, क्योकि तर्क मैत्री भावना का बहुत ही दुर्बल परिपूरक है। हम लोगो को तर्क की अपेक्षा सहानुभूति रखना नितान्त आवश्यक है।

(वही पृ० १८०)

उपाय तथा उपेय

जितना ही मै बूढा होता जाता हूँ मैं इसको समझता हूँ कि जो कार्य होता है या किया जाता है उसकी अपेक्षा उसके करन के ढग का वहुत अधिक महत्व है, उपाय उपेय से महत्वपूर्ण है। मै विश्वास करता हूँ कि यदि तुम कोई गलत पथ से कुछ लाभ कर लेते हो तो भी अन्त भला नहीं हो सकता। (वही पृ० २०२)

सबसे पृथक रहना अनुचित

हम लोग ससार में विलकुल पृथक नही रह सकते, प्रत्येक वस्तु से पृथक रहकर अपने सकुचित रूप से अपने जीवन को कभी चला नही सकते। (वही पृ० २४३)

ससार में शान्ति नितान्त आवश्यक है

हमारी सवसे वडी चाह और परम आवश्यकता शान्ति बनाये रखने की है, क्योंकि इसके विना हमारी सभी योजनाएँ और भावी दृष्टि तितर-वितर हो जाएगी। सचमुच जब तक शान्ति की रक्षा नही रहेगी, ससार छिन्न-भिन्न हो जायेगा। (वही पृ० २५१)

पन्चशील

यदि ये सिद्धान्त (परस्पर सम्पूर्ण भूभाग तथा आधिपत्य के प्रति आदर, परस्पर आक्रमकता का न होना, परस्पर आन्तरिक कार्यों में हस्तक्षेप न करना, समानता और समान लाभ, और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व) सभी देशो के परस्पर सम्बन्ध के लिये स्वीकार कर लिय जाते, तव सचमुच ही तनाव नही रहता और निश्चय ही युद्ध विराम हो जाता। यदि तुम सहास्तित्व को हटा देते हो तो अन्य विकल्प युद्ध ही शेष रहता है और सारे ससार का विनाश। (वही पृ० २७३)

संसार के प्रत्येक भाग के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करने के लिए हैं। हमें संसार के सभी वर्गों को आमन्त्रित करना है जिससे वे हमारी बातें सीखें और अपनी बात सिखा सकें। हमें बैरिस्टरों की जरूरत नहीं। (पृ० ७)

समानता नहीं अपितु समान अवसर

हम सभी व्यक्तियों को समान नहीं बना सकते तो भी कम से कम हम उन्हें समान अवसर तो दे ही सकते हैं। (पृ ९) आज का हमारा सबसे बड़ा उत्तरदायित्व प्रत्येक बालक लड़का या लड़की को समान अवसर देना है। (वही पृ ११)।

एक वर्गहीन समाज

हमारी आर्थिक तथा सामाजिक नीति असामयिक हो गयी है और इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम उन्हें यह रूप दें जिससे वे हमारे देश के प्रत्येक व्यक्ति के लिये भौतिक और आध्यात्मिक सुख में सहायक बन सकें। हमें प्रयासपूर्वक एक ऐसे समाज शास्त्र का निर्माण करना है जो हमारे समाज में एक ऐसा मौलिक परिवर्तन लावे जिसके कारण व्यक्तिगत लाभ और व्यक्तिगत लोभ की धारणाओं का अन्त हो जाय तथा जिसके द्वारा समाज में राजनैतिक और आर्थिक शक्ति का उचित विभाजन भी हो जाय। हम लोगों का लक्ष्य एक वर्गविहीन समाज की ओर होना चाहिये जो प्रत्येक के सहयोग से तथा प्रत्येक को समान अवसर देते हुए बने। इसको प्राप्त करने का तात्पर्य यही होगा कि हम लोग एक शान्तिमय प्रजातान्त्रिक पथका अनुसरण करें। (पृ ११ वही)

'एक नवीन सामाजिक व्यवस्था जो बेकारी दरिद्रता और बेमारी से रहित होगा। (वही पृ १६)

जीवन गतिशील है

जीवन चाहे वह व्यक्ति का हो समूह का हो राष्ट्र का हो या समाज का हो, वास्तव में गतिशील परिवर्तनशील और बढ़ने वाली चीज है। इसकी गतिशीलता किसी भी रुकावट को भ्रष्ट और समाप्त करती है। (वही पृ १५९)

मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकता तथा संस्कृति

हम किसी उच्चतम संस्कृति की उड़ान की कल्पना नहीं कर सकते जहाँ मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। (वही पृ १७४)

वर्तमान युग में विचार की आवश्यकता

आज का युग बौद्धिक जीवन को प्रोत्साहन नहीं देता और यदि बौद्धिक जीवन को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता तो अवश्य ही सभ्यता भ्रष्ट हो जाएगी शान्ति भ्रष्ट हो जायेगी और अन्त में दोनों किसी अज्ञात स्थिति में टकरा जायेंगे या मूर्छित होकर

वही हो जायेंगे, जो अन्य जातियाँ तथा सभ्यताएँ हुई है। (वही पृ० ३८७)

प्रजातान्त्रिक पथ

प्रजातन्त्र का मार्ग, विवाद, बहस, प्रोत्साहन तथा अन्त में निर्णय और निर्णय को स्वीकार करना है चाहे वह निर्णय भले ही हमारे लाभ के विरुद्ध हो अन्यथा विशाल लाठी और विशालतम की चलती चलेगी और वह प्रजातान्त्रिक ढग नही रहेगा। (वही-पृ० १७८)

तर्क से सहानुभूति अच्छी

किसी भी निर्णय के लिये हम लोगो को मैत्री भावना को तार्किक निर्णय की अपेक्षा अधिक महत्व देना चाहिए, क्योकि तर्क मैत्री भावना का बहुत ही दुर्बल परिपूरक है। हम लोगो को तर्क की अपेक्षा सहानुभूति रखना नितान्त आवश्यक है।

(वही पृ० १८०)

उपाय तथा उपेय

जितना ही मैं बूढ़ा होता जाता हूँ मैं इसको समझता हूँ कि जो कार्य होता है या किया जाता है उसकी अपेक्षा उसके करने के ढग का बहुत अधिक महत्व है, उपाय उपेय से महत्वपूर्ण है। मै विश्वास करता हूँ कि यदि तुम कोई गलत पथ से कुछ लाभ कर लेते हो तो भी अन्त भला नही हो सकता। (वही पृ० २०२)

सबसे पृथक रहना अनुचित

हम लोग ससार म बिलकुल पृथक नही रह सकते, प्रत्येक वस्तु से पृथक रहकर अपने सकुचित रूप से अपने जीवन को कभी चला नही सकते। (वही पृ० २४३)

ससार में शान्ति नितान्त आवश्यक है

हमारी सबसे बडी चाह और परम आवश्यकता शान्ति बनाये रखने की है, क्योकि इसके बिना हमारी सभी योजनाएँ और भावी दृष्टि तितर-बितर हो जाएगी। सचमुच जब तक शान्ति की रक्षा नही रहेगी, ससार छिन्न-भिन्न हो जायेगा। (वही पृ० २५१)

पन्चशील

यदि ये सिद्धान्त (परस्पर सम्पूर्ण भूभाग तथा आधिपत्य के प्रति आदर, परस्पर आक्रमकता का न होना, परस्पर आन्तरिक कार्यों मे हस्तक्षेप न करना, समानता और समान लाभ, और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व) सभी देशो के परस्पर सम्बन्ध के लिये स्वीकार कर लिये जाते, तब सचमुच ही तनाव नही रहता और निश्चय ही युद्ध विराम हो जाता। यदि तुम सहास्तित्व को हटा देते हो तो अन्य विकल्प युद्ध ही शेष रहता है और सारे ससार का विनाश। (वही पृ० २७३)

किसी देश का अनुकरण उचित नहीं

उस समय भारत के प्रति मुझे बहुत कम श्रद्धा और आदर रहेगा जब यह आँख बन्द कर, अमेरिका के ढंग रूस के ढंग चीन या ब्रिटेन के ढंग का अनुकरण करेगा। इसका यह अर्थ नहीं कि हम अमेरिका अथवा ब्रिटेन के ढंग का आदर नहीं करते। मैं यह कहता हूँ कि हम लोगों को अपने विचार के अनुसार अपना कार्य करना चाहिए। (वही पृ २७६) प्रत्येक राष्ट्र अपनी मूल भावनाओं से व्यवस्थित रहता है और अपने अनुभव पर चलकर एक अपना व्यक्तित्व रखता है। वह किसी के आधिपत्य में अपना उत्थान नहीं कर सकता। देश तभी उत्थान कर सकते हैं जब वे अपनी शक्ति का विकास करते हैं, और आत्म-विश्वास तथा अपने सम्पूर्ण भूभाग की रक्षा करते हैं हम सभी को दूसरों से सीखना है हम अकेले नहीं रह सकते हैं, किन्तु यह ज्ञान तब फलीभूत नहीं हो सकता है जब यह हमारे ऊपर लादा जाय। (वही पृ १ २) (Extracts from the Speeches translated by the author)

सन्त विनोबा भावे की सर्वोदय नीति

महात्मा गान्धी के अनेक अनुयायियों और शिष्यों में से ऐसे दो महान् शिष्य हैं जिन्होंने गान्धी विचारधारा को आगे बढ़ाया है और उसके आधार पर व्यावहारिक जीवन को नैतिक आदर्शों और नियमों पर प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया है। उनके नाम हैं सन्त विनोबा भावे और पण्डित जवाहरलाल नेहरू। एक हैं तपस्वी और सन्यासी और दूसरे स्वतन्त्र भारत के कर्णधार, प्रधानमन्त्री नेहरू। नेहरू ने गान्धी विचारधारा के आधार पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक और आर्थिक और सामाजिक जीवन के निर्माण करने का और विनोबा जी ने भारतीय वैयक्तिक, सार्वजनिक और सामाजिक जीवन को भारत की नैतिक परम्परा के आधार पर पुनः सगठित करने का प्रयत्न किया है। जवाहर लाल की ससार को सबसे बड़ी देन है पञ्चशील और दान यज्ञ भावे की देन है। दोनों का ही उद्देश्य है ससार में अहिंसात्मक शान्तिमय जीवन को स्थापित करना।

यहाँ पर हम तपोधन सन्त विनोबा भावे के नैतिक सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न करेंगे और उसके पश्चात् प्रधान मंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू के।

विनोबा भावे का जन्म ११ सितम्बर १८९५ को महाराष्ट्र के गागोदा नामक स्थान पर नरहर पन्त की पत्नी रखुबाई की कोख से हुआ था। उनकी माँ बहुत समझदार, आस्तिक, दानशील दयावान्, धार्मिक और सन्तोषी स्त्री थी। भावे के ऊपर उनकी बहुत गहरी छाप पड़ी थी। विनोबा का ईश्वर में और रामनाम की असीम शक्ति में जो दृढ़ विश्वास है वह उनकी माता की शिक्षा का फल है। वे सदा कहा करती थी कि जो राम नाम जपता है, ईश्वर पर विश्वास रखता है, वह निर्भय हो जाता है। ईश्वर का ही रूप समझकर वह

प्रत्येक मांगने वालो के गुण दोष न देखकर यथाशक्ति दान दिया करती थी और रोज किसी हट्ठे-कट्टे भिखारी को दान देने पर और विनोवा की आपत्ति करने पर उत्तर दिया करती थीं "मै पात्र और अपात्र की बात सोचती ही नही, मै तो उसे (भिखारी को) भगवान् मानकर जो कुछ होता है दे देती हूं।" वे बहुधा कहा करती थी 'अधिक चीजो की इच्छा करने से सुख नही मिलता। सच्चा सुख तो सयम में है। हमको केवल पेट भर भोजन तथा आवश्यक वस्त्र के अलावा और अधिक चीजो की इच्छा नही करनी चाहिए।" "देश भक्ति ही ईश्वर की भक्ति है परन्तु फिर भी ईश्वर भक्ति उसके साथ होना चाहिये।"

१९०३ में विद्योपाजन के लिये विनोवा बडौदा आये। विद्यार्थी जीवन में वे बडी सादगी मे रहते थे। कठिन परिश्रम करने में और खुली हवा में लम्बा भ्रमण करने का उनको शौक था। सस्कृत और गणित में उनकी बहुत रुचि थी। अधिक से अधिक पुस्तकें पढने के कारण उनके नेत्र दुर्बल हो गये थे। स्कूल की पढाई समाप्त कर लेने पर जब वे कालेज में आये तो उनको एक ओर तो दर्शन ग्रन्थो के पढने का शौक हुआ और दूसरी ओर वे देश प्रेम की लहर के प्रभाव में आ गये। एक ओर आध्यात्मिक साधना उनको आकृष्ट कर रही थी और दूसरी ओर देशभक्ति। शिक्षा पाकर नौकरी करने मे उन्हे घृणा हो गई थी। इण्टर की परीक्षा पास करन से पहिले ही पढना छोडकर १९१६ में काशी की ओर प्रस्थान किया और काशी में ज्ञानोपासना आरम्भ की। काशी आने के पूर्व ही उन्होंने अपने सब सार्टिफिकेट जला दिये और काशी में रहते हुए सासारिक जीवन और विषय भोगो से इतना वैराग्य हो गया कि उन्होंने अपने स्वलिखित सब लेखो और गीतो के बण्डल को गगा में फेंक दिये। केवल आध्यात्मिक साधना को ही अपना उद्देश्य बनाया और काशी में कार्य मे लगना चाहो तो यहां रहो। मुझे उससे बहुत खुशी होगी।" आश्रम में रहकर विनोवा ने अधिक से अधिक परिश्रम किया और बिना किसी से बोले चाले अपना कार्य पूरी लगन के साथ करते रहते थे और आश्रम के नियमो को पूर्ण तया पालन करते थे। एक दिन एक छोटे से मेहतर के लडके को पाखाने की एक बडी और भारी बाल्टी उठाने के कष्ट से रोते हुए देख कर उन्होने उसकी सहायता की और तब से पाखाने की सफाई के कार्य को भी पवित्र कार्य समझकर उसको करने लगे। उन्होंने किसी कार्य को बडा छोटा न समझकर उसको ईश्वर की सेवा जानकर करने का अभ्यास किया। कठिन से कठिन और घृणित मे घृणित आवश्यक कार्य को उन्होने कलामय और साधना का अग बनाने का प्रयत्न किया। विद्याभ्यास समाप्त करके हिमालय में तपस्या और साधना करने के लिये जाने की बात सोचने लगे। १९१६ में हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन के समय दक्षिणी अफ्रीका में सत्याग्रह में ख्याति प्राप्त कर्मवीर गान्धी ने जो व्याख्यान दिया था उसकी रिपोर्ट अखबारो में पढकर विनोबा बहुत प्रभावित हुए और उनके मन में गान्धी के साथ रहने तथा उनके विचारो को

जानने की प्रबल इच्छा हो गई। अहमदाबाद में जाकर गान्धीजी से मिले और अपनी इच्छा प्रकट की। गान्धी जी ने वहाँ पर एक छोटा सा आश्रम खोला था। वहाँ पर उनके साथ रहने और कार्य करने की गान्धी जी से अनुमति माँगी। गान्धी जी ने कह दिया "यदि तुमको यहाँ का रहन-सहन पसन्द हो और अपना जीवन सेवा व शारीरिक परिश्रम करते हुए भी अपने अध्ययन और चिन्तन को बराबर जारी रक्खा। आश्रम में रहने के कुछ दिन पीछे विनोबा के मन में संस्कृत के अधिक अध्ययन की इच्छा उत्पन्न हुई और गान्धी जी से एक वर्ष की छुट्टी लेकर वे महाराष्ट्र में संस्कृत अध्ययन के लिये चले गये और ठीक उस दिन जब कि एक वर्ष समाप्त होता था वापिस आ गये। इससे गान्धी जी को बहुत आश्चर्य हुआ और उनका प्रेम विनोबा के प्रति बहुत बढ़ा।

१९२१ में सेठ जमनालाल बजाज के अनुरोध से गान्धी जी की आज्ञा से विनोबा वर्धा में सत्याग्रह आश्रम की स्थापना करने आये। इस आश्रम का उद्देश्य था देश सेवकों का निर्माण करना। यहाँ पर उन्होंने इन ग्यारह व्रतों का पालन करना सब आश्रमवासियों के लिए आवश्यक रक्खा था— अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य शरीर श्रम अस्वाद, अभय सब धर्मों के प्रति समानता स्वदेशी अस्पृश्यता निवारण। इन सब व्रतों का पालन करते हुए इस आश्रम में अनेक प्रकार की मौखिक तथा व्यावहारिक शिक्षा धार्मिक, औद्योगिक भाषा सम्बन्धी सामाजिक वैज्ञानिक कलात्मक और शारीरिक विषयों में दी जाती थी। यहाँ पर विनोबा का जीवन कठिन साधना और तपस्या का था। यहाँ पर रहते हुए उन्होंने भोजन के सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोग किये। उनका स्वभाव ही अन्वेषण का है और जहाँ उनको सत्य का दर्शन होता है, वहीं उसे ग्रहण कर लेते हैं।

यह तो स्वाभाविक ही था कि विनोबाजी गान्धी जी के सत्याग्रह आन्दोलन में सम्मिलित होते और जेल में जाते। उन्होंने सत्याग्रह किया और जेल में गये। धूलिया जेल में उन्हें बी क्लास में रक्खा गया पर उन्होंने सी क्लास में ही रहना पसन्द किया जहाँ और बहुत से सत्याग्रही रक्खे गये थे। धूलिया जेल में उनके जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी उनके गीता पर दिए गये प्रवचन। गीता के ऊपर उनकी श्रद्धा सीमातीत है। २१ फरवरी १९३२ से लेकर १९ जून १९३२ तक ये प्रवचन होते रहे। २०—२५ व्यक्तियों के लगभग उनके प्रवचन सुनते थे। जेल से लौटने पर उन्होंने एक ग्राम सेवा मण्डल नामक संस्था की स्थापना की। लोकसेवा को ही वे भगवान् की मूर्ति की पूजा समझते हैं। यहाँ पर उन्होंने लोकसेवा करने के लिये लोगों को तैयार करने का प्रयत्न किया। विनोबा जी ने संस्कृत अंग्रेजी हिन्दी और फ्रेंच आदि अनेक भाषाओं के साथ-साथ अरबी भाषा को भी सीखा और कुरान शरीफ की आयतों को कण्ठस्थ किया। उनके मन में सभी धर्मों के प्रति समान आदर है। उन्होंने गान्धी जी द्वारा निर्धारित अनेक रचना

त्मक कार्यों में पूर्णतया भाग लिया। सभी धर्मों का अध्ययन और उनके प्रति समान आदर, अस्पृश्यता निवारण, खादी का उत्पादन, बुनियादी तालीम, भारत के अन्य प्रान्तो की भाषाओ का सीखना और सिखाना, स्त्रियो का आदर व सम्मान करना, समाज में आर्थिक समानता लाने का प्रयत्न, कुष्ट सेवा, विद्यार्थियो को सदाचारी बनाने का प्रयत्न, और बुनियादी तालीम आदि अनेक रचनात्मक कार्यों में उन्होने दत्तचित्त होकर कार्य किया।

गान्धीजी ने विनोबाजी की दृढ़ निष्ठा को पहिचानकर १९४० के व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिये सर्वप्रथम विनोबाजी को चुना था। जेल जाने पर एक आदर्श सत्याग्रही की हैसियत से उन्होने जेल के सब नियमो का पालन किया। गान्धीजी के निधन (३० जनवरी १९४८) के दो महीने के पीछे वर्धा में एक सभा हुई जिसमे विनोबाजी की प्रेरणा से यह निश्चित हुआ कि भारत में एक सर्वोदय समाज स्थापित करने का आदर्श सामने रक्खा जाय, और इस आदर्श की पूर्ति के लिये सर्व सेवा सघ नामक सस्था का निर्माण किया जाये। शरणार्थियो की समस्या इस समय बडे वेग से उत्पन्न हुई थी। विनोबाजी ने शरणार्थियो को स्वावलम्बी बनाने के लिये बहुत प्रयत्न किया और उनकी अनेक समस्याओ को हल करने के लिये उनको सहायता दी। साम्प्रदायिकता के विषय को शान्त करने में भी बहुत काम किया।

सर्वोदय समाज के निर्माण करने के निमित्त विनोबा भावे ने अनेक साधनो को सोचा और उनका पैदल यात्रा द्वारा देश भर में प्रचार किया और कर रहे हैं। उन्होंने एक शोषण विहीन स्वावलम्बी समाज की कल्पना की और उसके लिये 'साम्य योग' का प्रचार किया। साम्ययोग का अर्थ उनके शब्दो में यह है कि "गाँव वाले अपनी पैदा की हुई चीजें आपस में गाँव वालो में ही आवश्यकतानुसार बाँट लें।" रुपए का अधिक मोह न होना चाहिये।" वित्त पाश से हम मुक्त हो जाते हैं तो दूसरे पाश से मुक्त होना आसान हो जाता है।" इसलिये ही उन्होंने श्रमदान की प्रथा चलाई। इसके द्वारा 'कान्चन मुक्ति योग' की साधना करने का उपदेश दिया। 'ऋषि खेती' का जिसमें बैलो की भी आवश्यकता न पड़े प्रचार भी किया। शारीरिक परिश्रम करते हुए ही भगवान की भक्ति और जीवन के तत्वो के ऊपर विचार होता रहना चाहिए इस प्रकार के साम्य योग का प्रचार किया। ८ मार्च १९५१ को उन्होंने अपने विचारो और तदनुसार जीवन का प्रचार करने के लिये सर्वोदय पदयात्रा आरम्भ की। सबसे पहिले उनकी अधिक दिन की यात्रा तैलगाना की थी। वहाँ पर उन्होने वहाँ के ग्रामो मे भीषण बेकारी, दरिद्रता और मादक वस्तुओ का प्रयोग देखा और वहीं पर कम्युनिस्ट लोगो का अहिंसात्मक क्रान्तिकारक प्रचार भी अधिक पाया। वहाँ पर उनको ज्ञात हुआ कि गरीब लोगो के पास खेती करने को जमीन नही है। तब उनको सूझा कि जिनके पास अधिक जमीन है उनको अपने दीन भाइयो को कुछ

जमीन दे देनी चाहिए वरना कुछ ही समय में कम्युनिस्टों द्वारा प्रचारित हिंसात्मक क्रान्ति की सम्भावना है जिसके फलस्वरूप किसी बड़े जमींदार के पास जमीन न रहेगी और न उसकी जान ही बचेगी। उन्होंने भूदान मांगना आरम्भ किया और उनको प्रथम भूदान तेलंगाना के श्री रामचन्द्र रेड्डी ने १ एकड़ जमीन का किया। इस पवित्र स्रोत से निकल कर भूदान गंगा समस्त भारत में बह निकली और विनोबाजी ने करोड़ों एकड़ जमीन गरीब भूहीन किसानों के लिये एकत्र कर ली और उसको उनमें बाँट दिया।

'कांचन मुक्ति योग' का प्रथम साधन भूदान है। दूसरा सम्पत्ति दान है जिसके अंग हैं 'बैल दान' 'हल दान' 'कूप दान' 'श्रमदान' 'अलंकार दान' और 'पैसा दान'। तीसरा साधन है 'ग्राम दान' और चौथा दान है बुद्धि दान।

विभाजन—उनके अनुसार समस्त भूमि गोपाल की है और समस्त सम्पत्ति नारायण की है। लोगों को इसको आपस में प्रेम से बाँट कर उपभोग करना चाहिए। सब मनुष्यों में परिवार भावना जाग्रत होनी चाहिए और एक कुटुम्ब के समान सबको सब वस्तुओं का बाँटकर उपभोग करना चाहिए। जैसे कुटुम्ब में बच्चों, बूढ़ों और बीमारों का अधिक ख्याल रखा जाता है वैसे ही मानव परिवार में भी दीन हीन और दुखियों का अधिक ख्याल रखना चाहिए, तभी समाज में शान्ति व प्रेम रह सकता है।

सन्त विनोबा भावे के वचन

अकिंचन सेवकों की आवश्यकता

जो चुनाव से अलग रहें, ठीक ढंग से चिन्तन और मनन करें, वे ही लोग शासक होने चाहिए। उनका काम तो केवल अध्ययन, चिन्तन, मनन और दुनिया की सेवा ही होना चाहिए। राजा और प्रजा की मदद वे ही कर सकते हैं जो केवल सेवा करते हों। (लोक नीति पृ १)

सर्वोदयी शासक

सर्वोदय वाले वे लोग होंगे जो राजा और प्रजा दोनों के बीच में खड़े होंगे। उनका काम होगा दोनों की गलतियों को बताना दोनों में प्रेम बढ़ाना। वे सबसे प्रेम करेंगे पर किसी भी दल में शामिल नहीं होंगे। मनुष्य के नाते ही सबकी सेवा करेंगे। (लोक नीति पृ ४)

भारतीय गाँव

सारा गाँव एक परिवार की तरह रहता है और गाँव में पंचायत का राज्य चलता था। इसी को बापूजी स्वराज्य कहते हैं। (लोक नीति पृ ५)

उपनिषद्काल के राज्य

'मेरे राज्य में न चोर हैं, न कजूस और न शराब पीने वाले तथा कोई अविद्वान् नही है।' (लोक नीति पृ० ५)

सद्विचार की अमोघ शक्ति

विचार की शक्ति की बराबरी करने वाली दुनिया में दूसरी कोई भी शक्ति नही है। जब इसे असत् विचार जाना जाता है तो इसे छोड़ देने में उसे देरी नही लगती। जहाँ ठीक दर्शन नही होता, वहाँ सम्यक् ज्ञान नही होता। फिर वहाँ मनुष्य समाज गलत रास्ते पर चलता है। (भू० ग० २ पृ० ७८)

विचार की सत्ता

आज तक दुनिया म विचार के ही राज चले हैं। एक-एक विचार आता गया और जाता गया, परन्तु सत्ता चली विचार ही की। (भू० ग० २ पृ० ७९)

विचार से पूंजीवाद का अन्त

पूंजीवाद का अन्त न प्रेम से होगा न सघप से, वल्कि विचार से ही होगा। (भू० ग० पृ० ९०)

अहिंसा आत्मा की शक्ति

अहिंसा आत्मा की शक्ति है। आत्मा नही मरता, यही उसकी शक्ति है, हिंसा देह की शक्ति है। देह मारी जाती है, देह से वढ़कर आत्मा की शक्ति है। (भू० ग० २ पृ० ९४)

सत्य बुनियादी गुण है

कोई झूठा हो और फिर भी सत्पुरुष हो, ऐसा नही हो सकता। सत्य तो वुनियादी चीज है। (भू० ग० ३ पृ० ४४)

सत्य ही एक मात्र साधना

सत्य को मौलिक गुण माना गया है इतना ही वम नही है। सत्य ही एक नतिक तत्व है और वाकी के मारे नैतिक गुण नही हैं, सामान्य गुण या दोष हैं। (भू० ग० ३ पृ० ४४)

दोषों के लिये दण्ड नहीं सुधार

समाज में जितनी वुराइयाँ हैं उन सबके लिये उपचार ही होना चाहिए, दण्ड नही। (भू० ग० ३ पृ० ४५)

सत्य का आरम्भ

सत्य का आरम्भ स्कूल से हो या घर से हो। (भू० ग० ३ पृ० ४५)

सत्य क्या है ?

सत्य की कोई व्याख्या नही हो सकनी। सत्य स्वय स्पष्ट है। दुनिया में इतना

स्पष्ट कोई दूसरा तत्व नहीं। (मू मं १ पृ ४०)

सत्य और निर्भयता

सत्य रक्षा के लिये निर्भयता की जरूरत मालूम होती है। आज बिना निर्भयता के सत्य प्रकट नहीं कर सकते। इसलिए निर्भयता को महत्व देना पड़ता है। (मू मं १ पृ ४७)

धर्म की परिभाषा

जिस नीति विचार पर हमारा जीवन चलता है उसे हम धर्म कहते हैं। (मू मं २ पृ १ १)

देव तथा दानव भावनाएँ ही हैं

मनुष्य के हृदय में जितने बुरे भाव हैं वे सब दानव हैं और जितने अच्छे भाव हैं वे सब देव हैं। (मू मं १ पृ ११७)

श्रद्धा, निष्ठा और तपस्या का समन्वय

हममें विचार पर निष्ठा और युद्ध लड़ने की तैयारी या तपस्या और हृदयस्थ ईश्वर पर श्रद्धा होनी चाहिये। (मू मं २ पृ १४१)

हिन्दू धर्म की उदारता

हिन्दू धर्म में किसी भी चीज का आग्रह नहीं है। यहाँ तक कि ईश्वर को मानने वाला भी हिन्दू होता है और न मानने वाला भी। (मू मं २ पृ १४७)

आज का हिन्दू धर्म

बुद्ध धर्म की दया और करुणा और हिन्दू धर्म की आत्म-विद्या मिलकर आज का हिन्दू धर्म बना है। (मू म २ पृ १४९)

यज्ञ में की नहीं आसक्ति जलानी है

"अग्नेय इद न मम" इस मन्त्र से ऋषि ने कहा कि यह भी नहीं आप लोगों की आसक्ति जल रही है। किन्तु अब तो अन्दर की अग्नि जलानी है। उसमें अपन स्वार्थ की आहुति देनी है। जिसके साथ हमारी पूरी आसक्ति हो गई है उसमें उस भूमि का मोह छोड़ना होगा और अपनी धरती की आहुति इस यज्ञ में देनी होगी। (मू मं १ पृ १५७)

बल से धर्म का प्रचार नहीं हो सकता

जहाँ बल आता है वहाँ धर्म क्षीण हो जाता है जब धर्म के प्रचार का उत्साह बढ़ जाता है तब उसमें विवेक नहीं रहता। तब वह धर्म धर्म नहीं रहता। बलात्कार से कोई धर्म टिक नहीं सकता। (म प २ पृ १६१)

धर्म का कार्य

मनुष्य की मनुष्यता बढ़ाना ही सब धर्मों का कार्य है। (मू प १ पृ १६२)

सत्य सर्वश्रेष्ठ धर्म है

सत्य से बढकर कोई धर्म नही है। "नास्ति सत्यात् परोधर्म" सत्य से बढकर कोई धर्म नही हो सकता। (भू० ग० २ पृ० १६४)

धर्म का सार, अभिमान रहित दया

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान। (भू० ग० २ पृ० १६४)

दया का स्वरूप

तुकाराम ने कहा है कि जिस तरह वाप अपने बेटे पर दया करता है, उसमें अभिमान का अश भी नही रहता, वैसी ही दया हम प्राणी मात्र पर करनी चाहिये। (भू० ग० २ पृ० १६५)

मुक्ति का मार्ग

मुक्ति के लिये एक ही मार्ग है, हमें असत्य में से सत्य में जाना है।

मानव का लक्षण

मानव वही है जो मनन करता है, विचार को समझता है, और उसी पर जिसका जीवन चलता है।

अवतार का स्वरूप

अवतार शरीर का नही मानव हृदय की भावना का होता है—आत्मा में अनन्त शक्ति है, जैसे-जैसे परिस्थिति, आवश्यकता और माँग पैदा होती है वैसे-वैसे आत्मा की शक्ति प्रगट होती है। (भू० ग० २ पृ० १७१)

अहकारहीन सेवा ही भक्ति है

अगर सेवा में अहकार का भाव रहता है तो वह भक्ति नही हो सकती। अगर सेवा में अहकार खत्म हो गया तो वह सेवा भक्ति है।

शारीरिक तथा मानसिक दोनों श्रमों की आवश्यकता

कोई शरीर परिश्रम का काम अधिक करेगा तो कोई बौद्धिक परिश्रम का, किन्तु दोनो को दोनो काम करने चाहिये।

समाज के टुकड़े करना अधम है

आज लोग सेवा तो करते हैं, लेकिन समाज के दो टुकडे भी करते हैं। इस तरह टुकडे करना आत्मा को चीरना या काटना बडी भयानक वस्तु है।

परमात्मा का अन्तरयामी रूप

हम परमात्मा को अन्तरयामी के रूप में देखें। हमारे हृदय में उसकी कुछ अनुभूति होती है। अगर हम सबके हृदय में परमात्मा का अश न होता तो सबको सार्वभौम सहानुभूति न होती। (भू० ग० ४ पृ० ५२)

स्पष्ट कोई दूसरा तत्व नहीं। (मू सं १ पृ ४०)

सत्य और निर्भयता

सत्य रक्षा के लिये निर्भयता की जरूरत महसूस होती है। आज बिना निर्भयता के सत्य प्रकट नहीं कर सकते। इसलिये निर्भयता को महत्व देना पड़ता है। (मू सं १ पृ ४०)

धर्म की परिभाषा

जिस नीति विचार पर हमारा जीवन चलता है उसे हम धर्म कहते हैं। (म सं २ पृ १९)

देव तथा दानव भावनायें ही हैं

मनुष्य के हृदय में जितने बुरे भाव हैं वे सब दानव हैं और जितने अच्छे भाव हैं वे सब देव हैं। (मू सं १ पृ ११७)

श्रद्धा, निष्ठा और तपस्या का समन्वय

हममें विचार पर निष्ठा और दुःख सहने की तैयारी या तपस्या और हमारा ईश्वर पर श्रद्धा होनी चाहिये। (मू सं २ पृ १४१)

हिन्दू धर्म की उदारता

हिन्दू धर्म में किसी भी चीज का आग्रह नहीं है। यहाँ तक कि ईश्वर को मानने वाला भी हिन्दू होता है और न मानने वाला भी। (मू सं २ पृ १४७)

आज का हिन्दू धम

बुद्ध धर्म की दया और करुणा और हिन्दू धम की आत्म-विद्या मिलकर आज का हिन्दू धर्म बना है। (मू० सं २ पृ १४९)

मन में भी यहीं आसक्ति जलानी है

"अग्नेय इदं न मम" इस मन्त्र से ऋषि ने कहा कि यह भी नहीं आप लोगो की आसक्ति जल रही है। किन्तु अब तो अन्दर की अग्नि जलानी है। उसमें अपना स्वार्थ की आहुति देनी है। जिसके साथ हमारी पूरी आसक्ति हो गई है हमें उस भूमि का मोह छोड़ना होगा और अपनी धरती की आहुति इस यज्ञ में देनी होगी। (मू सं १ पृ १५७)

बल से धर्म का प्रचार नहीं हो सकता

जहाँ बल आता है वहाँ धर्म क्षीण हो जाता है जब धर्म के प्रचार का उत्साह बढ़ जाता है तब उसमें विवेक नहीं रहता। तब वह धर्म धर्म नहीं रहता। बलात्कार से कोई धर्म टिक नहीं सकता। (मू स २ पृ १५१)

धर्म का कार्य

मनुष्य की मनुष्यता बढ़ाना ही सब धर्मों का कार्य है। (मू सं १ पृ १६२)

सत्य सर्वश्रेष्ठ धर्म है

सत्य से बढकर कोई धर्म नही है। "नास्ति सत्यात् परोधर्म" सत्य मे बढकर कोई धर्म नही हो सकता। (भू० ग० २ पृ० १६४)

धर्म का सार, अभिमान रहित दया

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान। (भू० ग० २ पृ० १६४)

दया का स्वरूप

तुकाराम ने कहा है कि जिस तरह बाप अपने बेटे पर दया करता है, उसमें अभिमान का अश भी नही रहता, वैसी ही दया हमे प्राणी मात्र पर करनी चाहिये। (भू० ग० २ पृ० १६५)

मुक्ति का मार्ग

मुक्ति के लिये एक ही मार्ग है, हमे असत्य में से सत्य में जाना है।

मानव का लक्षण

मानव वही है जो मनन करता है, विचार को समझता है, और उसी पर जिसका जीवन चलता है।

अवतार का स्वरूप

अवतार शरीर का नही मानव हृदय की भावना का होता है—आत्मा में अनन्त शक्ति है, जैसे-जैसे परिस्थिति, आवश्यकता और मांग पैदा होती है वैसे-वैसे आत्मा की शक्ति प्रगट होती है। (भू० ग० २ पृ० १७१)

अहकारहीन सेवा ही भक्ति है

अगर सेवा में अहकार का भाव रहता है तो वह भक्ति नही हो सकती। अगर सेवा में अहकार खत्म हो गया तो वह सेवा भक्ति है।

शारीरिक तथा मानसिक दोनों श्रमों की आवश्यकता

कोई शरीर परिश्रम का काम अधिक करेगा तो कोई बौद्धिक परिश्रम का, किन्तु दोनो को दोनो काम करने चाहिये।

समाज के टुकडे करना अधम है

आज लोग सेवा तो करते हैं, लेकिन समाज के दो टुकडे भी करते हैं। इस तरह टुकडे करना आत्मा को चीरना या काटना बडी भयानक वस्तु है।

परमात्मा का अन्तरयामी रूप

हम परमात्मा को अन्तरयामी के रूप में देखें। हमारे हृदय में उसकी कुछ अनुभूति होती है। अगर हम सबके हृदय में परमात्मा का अश न होता तो सबको सार्वभौम सहानुभूति न होती। (भू० ग० ४ पृ० ५२)

संग्रह तथा चोरी करना दोनों पाप हैं

संग्रह ही चोरी को जन्म देता है। इसलिये यदि चोरी पाप है तो संग्रह पुण्य नहीं हो सकता वह भी पाप होना चाहिये (मू ग ४ पृ १२)

दान नित्य काम है

जैसे हम रोज स्नान करते हैं, रोज भोजन करते हैं, रोज निद्रा लेते हैं, वैसे ही दान भी नित्य कार्य है। (मू ग ४ पृ १२)

दान का कर्म है ऋण से मुक्ति

दान में हम दूसरे पर उपकार नहीं करते। उन्हीं का हम पर खूब उपकार हो चुका है। इसलिये हम अपने ऋण का शोधन कर रहे हैं। (मू ग ४ पृ १३)

दान तथा संन्यास

व्यक्ति अपना सबस्व समाज को समर्पण करे यह सन्यास है। और भोग करते हुए उसका एक हिस्सा समाज को देना यह है दान। (मू ग ४ पृ ६७)

एकाग्रता

दुनिया को छोड़ कर पायी हुई एकाग्रता असली एकाग्रता नहीं। वह काँच के बरतन जैसी है जो जरा सा धक्का लगते ही फूट जाता है। (मू ग ४ पृ ७१)

समत्वानुकूल ब्रह्म

कृष्ण भगवान् का ब्रह्म था अनासक्त कर्मयोग बुद्ध भगवान् का ब्रह्म था अहिंसा और हमारा ब्रह्म है सर्वोदय। (मू ग ४ पृ ७२)

इन्द्रियों का नियमन

अपने मन को वश में तथा इन्द्रियों काबू में रखना चाहिये। (मू ग ४ पृ ८१)

शान्ति का उपाय

यदि दुनिया को शान्ति हासिल करनी है तो उसे महात्मा गाँधी के मार्ग पर आज नहीं तो कल चलना पड़ेगा। दुनिया में शान्ति तभी होगी जब शान्ति की स्वतन्त्र कीमत होगी। (मू ग ४ पृ १ १)

आत्मज्ञान तथा विज्ञान का समन्वय

यहाँ आत्म-ज्ञान का प्रवाह पहले से ही है और दूसरा विज्ञान-प्रवाह भी आकर मिल रहा है। इसलिये हम समझते हैं आत्मज्ञान और विज्ञान के योग से भारत यशस्वी होगा। (मू ग ४ पृ १४५)

आज के लिये पुराना वर्ण विभाग उचित नहीं

यह पुराना चातुर्वर्ण्य उस जमाने में उत्तम होगा लेकिन आज के जमाने के बिलकुल उपयुक्त नहीं है। हर वर्ण में चारों वर्ण होने चाहिये। हर एक वर्ण में चारों वर्ण के गुण

होने चाहिये। यह नया विचार है, पुराना नही। (भू० ग० ४ पृ० १६१)

परमेश्वर तथा उसकी प्राप्ति का साधन

हम सब भगवान् के अश हैं। कोई कम नही तथा कोई वेशी नही। इसलिये न तो हम किसी से दवें और न किसी को दवायें। हम किसी को न डरायें और न खुद किसी से डरें। परमेश्वर माने पूर्णता। हमें खुद पूर्णता हासिल करनी है और अपने समाज को भी हासिल करानी है। इसलिये हम सब अपना जीवन समर्पित करें। (भू० ग० ४ पृ० १६५)

प्रेम तथा श्रम दोनो मिलकर ही आनन्द देते हैं

मनुष्य-जीवन के लिये प्रेम तथा मेहनत दोनो चीजें बहुत ज़रूरी हैं। मेहनत या श्रम को सस्कृत में तप कहते हैं, क्योंकि उससे ताप होता है। प्रेम की ठडक और मेहनत की गर्मी दोनो इकट्ठा होते हैं तो फिर जीवन मे आनन्द ही आनन्द रहता है। (भू० ग० ४ पृ० १७३)

विद्याभ्यास सतत जारी रखना चाहिए

मनुष्य को विद्याभ्यास अध्ययन आमरण करना चाहिये। रोज अध्ययन करते हैं तो मन स्वच्छ रहता है। रोज के अध्ययन के अभाव में मन स्वच्छ न रहेगा। (भू० ग० ४ पृ० १८७)।

विद्यार्थी दिमाग को स्वतन्त्र रक्खें

विद्यार्थी का पहला कर्त्तव्य है कि वे अपना दिमाग अत्यन्त स्वतन्त्र रक्खें। श्रद्धा के साथ-साथ बुद्धि स्वातन्त्र्य की भी उतनी ही आवश्यकता है। (भू० ग० ४ पृ० १८९)

भेदभाव मिटाने का प्रयास

सब प्रकार के ऊँच-नीच मिटाने की कोशिश होनी चाहिये। शरीर परिश्रम पर चलने की तालीम मिलनी चाहिये। (भू० ग० ४ पृ० २०२)

कृत्रिम कुटम्ब नियोजन अनुचित

इन दिनो यही चलता है कि कृत्रिम रीति से कुटुम्ब नियोजन किया जाय और विषय वासना रखने पर कोई पाबन्दी न रखी जाय। (भू० ग० ४ पृ० २०२)

पुरुषार्थ सयम-वृद्धि का एक मात्र उपाय

जब जीवन में पुरुषार्थ बढता है तब विषय वासना कम होती है। सबको अच्छी तरह पुरुषार्थ करने का मौका मिलेगा तो स्वभावत विषय वासना पर नियन्त्रण हो जायेगा। (भू० ग० ४ पृ० २०३)

मोक्ष में समान अधिकार

सचमुच यह अद्भुत योजना रही कि कर्त्तव्यपरायण वैश्य, ब्राह्मण या क्षत्रिय

होने चाहिये। यह नया विचार है, पुराना नहीं। (भू० ग० ४ पृ० १६१)

परमेश्वर तथा उसकी प्राप्ति का साधन

हम सब भगवान् के अंश हैं। कोई कम नहीं तथा कोई बेशी नहीं। इसलिये न तो हम किसी से दबें और न किसी को दबायें। हम किसी को न डरायें और न खुद किसी से डरें। परमेश्वर माने पूर्णता। हमें खुद पूर्णता हासिल करनी है और अपने समाज को भी हासिल करानी है। इसलिये हम सब अपना जीवन समर्पित करें। (भू० ग० ४ पृ० १६५)

प्रेम तथा श्रम दोनों मिलकर ही आनन्द देते हैं

मनुष्य-जीवन में सिर्फ प्रेम तथा मेहनत दोनों चीजें बहुत जरूरी हैं। मेहनत या श्रम का गरमी में ताप कहते हैं, क्योंकि उससे ताप होता है। प्रेम की ठण्डक और मेहनत की गर्मी दोनों इकट्ठा होते हैं तो फिर जीवन में आनन्द ही आनन्द रहता है। (भू० ग० ४ पृ० १७३)

विद्याभ्यास सतत जारी रखना चाहिए

मनुष्य को विद्याभ्यास अध्ययन आमरण करना चाहिये। रोज अध्ययन करते हैं तो मन स्वच्छ रहता है। रोज के अध्ययन के अभाव में मन स्वच्छ न रहेगा। (भू० ग० ४ पृ० १८७)।

विद्यार्थी दिमाग को स्वतन्त्र रखें

विद्यार्थी का पहला कर्तव्य है कि वे अपना दिमाग अत्यन्त स्वतंत्र रखें। श्रद्धा के साथ-साथ बुद्धि स्वातन्त्र्य की भी उतनी ही आवश्यकता है। (भू० ग० ४ पृ० १८९)

भेदभाव मिटाने का प्रयास

सब प्रकार के ऊँच-नीच मिटाने की कोशिश होनी चाहिये। शरीर परिश्रम पर चलने की तालीम मिलनी चाहिये। (भू० ग० ४ पृ० २०१)

कृत्रिम कुटम्ब नियोजन अनुचित

इन दिनों यही चलता है कि कृत्रिम रीति से कुटुम्ब नियोजन किया जाय और विषय वासना रखने पर कोई पाबन्दी न रखी जाय। (भू० ग० ४ पृ० २०२)

पुरुषार्थ सयम-वृद्धि का एक मात्र उपाय

जब जीवन में पुरुषार्थ बढ़ता है तब विषय वासना कम होती है। सबको अच्छी तरह पुरुषार्थ करने का मौका मिलेगा तो स्वभावत विषय वासना पर नियन्त्रण हो जायेगा। (भू० ग० ४ पृ० २०३)

मोक्ष में समान अधिकार

सचमुच यह अद्भुत योजना रही कि कर्तव्यपरायण वैश्य, ब्राह्मण या क्षत्रिय

कोई भी हो यदि वह निष्कामता से सेवा करता है तो उसे मोक्ष का समान दर्जा मिलेगा। (मू दं ४पृ २५)

शिष्ट गुणों की आवश्यकता

क्या क्षमा करना य सारे शिष्ट गुण मानव के लिये सदा सर्वदा पूजनीय हैं फिर भी कहना पड़ता है कि आज दुनिया में क्षमा का दया का राज्य नहीं है। (मू दं ४ पृ २७)

आधुनिक क्षत्रिय धर्म

क्षत्रिय का धर्म यही हो सकता है कि वह सबके रक्षण के लिये आत्म समर्पण की तैयारी रक्खे। —फिर भी उसकी कोई जाति नहीं होगी, (वृत्ति रहेगी) क्षत्रिय का बरतने का तरीका सत्याग्रह होगा। जब समाज और सत्य के रक्षार्थ आत्मसमर्पण करने के लिये जो तैयार होंगे वे क्षत्रिय होंगे। (मू दं ४पृ २५६)

भक्ति मार्ग

हिन्दुस्तान के भक्ति मार्ग पर ज्यादा असर रामानुज का हुआ है। यहाँ के ज्ञान मार्ग पर ज्यादा से ज्यादा असर शंकराचार्य का है जो केरल के हैं। (मू दं ४पृ २७१)

तृष्णा दुःख का कारण

हम तृष्णा बढ़ाते जायेंगे तो दुःख बढ़ेगा। इसलिये उत्तरोत्तर आवश्यकतायें बढ़ाते जाने में लाभ नहीं। अन्त में यही सिद्ध होगा कि तृष्णा से वैर अवश्य बढ़ेगा। हर हालत में तृष्णा बढ़ाने से दुःख ही पैदा होगा। (मू दं ४पृ २०४)

देह और आत्मा की भिन्नता का ज्ञान

जिस तालीम द्वारा बच्चों में शरीर और आत्म से पृथक्करण की भावना और मैं देह नहीं देह से भिन्न आत्मा हूँ इस तरह का प्रत्यय पैदा हो वह सर्वोत्तम श्रेष्ठ तालीम है। उसमें चाहे नई तालीम कहो चाहे पुरानी। (मू दं ४पृ ३२१)

सात्विक राजस और तामस अत्याचार

धन शक्ति से लोगों पर कोई चीज लादना तामसिक अत्याचार है। तपस्या की शक्ति से लोगों पर कोई चीज लादना राजसिक अत्याचार है। और अगर हम ज्ञान शक्ति से दूसरों पर कोई चीज लादते हैं तो वह सात्विक अत्याचार है। तीनों अत्याचार ही हैं। सदाचार यही है कि प्रेम से हम दूसरों को अपनी बात समझावें। (मू दं ४ पृ ३२८)

निर्भयता की प्राप्ति के उपाय

निर्भयता हिंसक शस्त्रास्त्रों से नहीं प्राप्त हो सकती। वह प्रेम और अहिंसा से

प्राप्त हो सकनी है। (भू० ग० ४ पृ० ३३६)

शान्ति की उपासना

शान्ति का स्वतन्त्र महत्व समाज को जब तक महसूस न होगा तब तक शान्ति नही हो सकनी, दुनिया से हिंसा न टलेगी। (भू० ग० ३ पृ० ३८)

आत्मपरीक्षण

मन के दोष व न्यूनतायें क्या हैं यह हर मनुष्य देखे। जो न्यूनताये दीख पडेंगी उनका निवारण करना ही उसकी साधना का पहला कदम होगा। (भू० ग० ३ पृ० ३७)

असत्य मुख्य दोष

दुनिया में जितने दोष होते हैं जैसे खून, व्यभिचार, आदि और जिन्हे दुनिया बहुत बडा दोष मानती है वे सब दोष गौण हैं और मुख्य दोष असत्य है। असत्य ही एक नैतिक दोष है और बाकी सब व्यवहारिक दोष हैं। अगर यह वृत्ति समाज में स्थिर हो जाय तो हम आज ही झझटो से मुक्त हो सकगे। (भू० ग० ३ पृ० ४१)

पाप मानसिक रोग है

हम चाहते हैं कि समाज मे यह विचार पैठ जाय कि जितने पाप माने जाते हैं वे सब शरीर के स्थूल रोगो के समान मानसिक रोग हैं। (भू० ग० ३ पृ० ४२)

घृणा का दुष्परिणाम

हम चाहते हैं कि मानसिक बुराइयाँ भी न छिपाई जाँय। आज तो आम जनता के सामने उन्हे प्रगट करने की प्रेरणा या हिम्मत मनुष्य को नही होती क्योंकि समाज में उसकी निन्दा होती है, इन बुराइयों की ओर घृणा की निगाह से देखा जाता है। (लोक-नीति और भूदान गगा से भू० ग० ३ पृ० ४२)

अध्याय २२

पाश्चात्य नीति विज्ञान की विचार धारा

पाश्चात्य नीति विज्ञान

जिसका भारतीय विश्वविद्यालयों में आधुनिक काल में अध्ययन होता है।

नीति विज्ञान का विषय

अरस्तू के अनुसार मनुष्य विवेकशील प्राणी है। अन्य जन्तु केवल प्रवृत्तियों के वश में होकर काम किया करते हैं। मानव में भी प्रवृत्तियां हैं लेकिन वह उनसे प्रेरित होकर कार्य करते हुए भी विवेचन करने के लिये रुक जाता है। वह सोचने के लिए यह कार्य ठीक है या गलत उचित है अथवा अनुचित शुभ है अथवा अशुभ। कुछ दार्शनिकों के मत में यह विवेचन मौलिक है (इमैन्युअल कांट) कुछ की राय में यह एक प्रकार का नैतिक बोध है (शैफ्ट्सबरी हचीसन) (Shaftsbury Hutchison) कुछ के अनुसार यह अन्तरात्मा (जमीर) (कान्शन्स) द्वारा अनुभूत होता है। अन्य दार्शनिकों के मत में यह प्रत्यक्ष उपलब्ध ग्राह्य मूल्य (Immediately understood objective value) है (जी ई मूर, राम अरबन) किसी प्रकार से भी हो यह अनुभव मानव जीवन में होता है यह उचित अनुचित शुभ अशुभ का प्रश्न उत्थापित होता ही है।

अरबन की परिभाषा के अनुसार नीति विज्ञान कार्यों के अच्छे बीर बुरे, शुभ तथा अशुभ होने पर विचार करता है तथा इस प्रकार का निर्णय कार्यों के मूल्य (Value) का निर्धारण करना होता है। हम प्रश्न कर सकते हैं कि पहन, रहन, चाल चलन का क्या मूल्य है, उनको मानकर चलने का क्या मूल्य है सामाजिक जीवन में क्या भलाई है? शिक्षा तथा राष्ट्र मण्डल में क्या भलाई है? यह सब प्रश्न हमारे वातावरण तथा जीवन के विभिन्न पर्यायों का मूल्यांकन है निर्णय करने का प्रयास है कि इन सबमें से किसका मूल्य कितना है।

जिन वस्तुओं तथा कार्यों को हम मूल्यवान् समझते हैं उनको मात्र दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। वह जो स्वयं मूल्यवान् नहीं है किन्तु मूल्यवान् उपयोगी की

पूर्ति का साधन मात्र है तथा वह जो स्वयं मूल्यवान् हैं। इनको क्रमशः साधन मूल्य और स्वयंसिद्ध मूल्य कहा जा सकता है। इस प्रकार के विभाजन का उन्नीसवीं सदी में पाश्चात्य देशों में बहुत प्रचलन था। उनके मतानुसार साधन मूल्यों का विज्ञान अर्थनीति है तथा स्वयंसिद्ध मूल्यों का विज्ञान 'नीति विज्ञान' है। इन विचारकों के मत में अर्थनीति का उद्देश्य यहीं तक सीमित है कि वह बताये कि मानव जीवन को सम्पन्न और समृद्ध कैसे बनाया जा सकता है। मानव जीवन के लक्ष्यों तथा आदर्शों का निरूपण नीति विज्ञान करे। यह विचारक अर्थनीति तथा नीति विज्ञान साधन मूल्य और स्वयंसिद्ध मूल्यों को यथासम्भव अलग रखने के पक्ष में रहे। वर्तमान विचारधारा इस प्रकार के विभाजन के विरुद्ध है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों का रुख साधन तथा स्वयंसिद्ध मूल्यों को निकटतर लाने की ओर है। वे इस बात का अनुभव करते हैं कि आर्थिक तथा नैतिक जीवन को अलग नहीं किया जा सकता। दोनों एक दूसरे से ओतप्रोत तथा सम्बन्धित हैं। इस प्रकार नीति विज्ञान का क्षेत्र क्रमशः व्यापक होता गया है तथा जीवन के दैनिक कार्य क्षेत्र के निकट आता है।

नीति विषयक मत प्रायः दो प्रकार के हुए हैं—वैधानिक (Law) तथा लक्ष्यात्मक (End) वैधानिक नियम को मानने वाले प्रथम इनको ईश्वरीय आज्ञा के रूप में स्वीकार करते हैं जैसे हीब्रियू, (यहूदी) तथा ईसाई धार्मिक ग्रन्थों में पाया जाता है। इसके बाद क्रमशः बाह्य नियम को न मानकर इसके स्थान पर आन्तरिक नियम को मान्यता दी गयी। जैसे बटलर ने आत्म निर्देशन को भले बुरे का निर्णायक माना तथा कान्ट ने युक्ति को यह स्थान देकर कहा "वह कार्य करो जोकि सार्वभौम हो सके" (Act so that your act can be universal)

लक्ष्यात्मक नैतिक उद्देश्य को मानने वालों में जिन्होंने सकीर्ण तथा मोटी दृष्टि से विवेचन किया उन्होंने भोग (Pleasure or happiness) जीवन का चरम लक्ष्य समझा (वेनथम, मिल) किन्तु व्यापक दृष्टि रखने वाले विद्वानों ने भोग के अतिरिक्त जीवन की अन्य कार्य प्रेरणाओं को भी लक्ष्य में स्थान दिया है। अरस्तू ने कहा मनुष्य-जीवन का लक्ष्य वही होना चाहिये जिसमें वह अपनी सभी शक्तियों को सुव्यवस्थित रूप से परिचालित कर सके (So that he can exercise all his capacities harmoniously) । आत्म सिद्धि की नीति को मानने वाले हिगल, ब्राडले, ग्रीन ने सर्वांगी विकाशन को ही नैतिक लक्ष्य माना। आधुनिक लक्ष्यवादी मूर, अरबन, हार्टमैन, आदि आत्म-सिद्धि के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करके उसको जीवन के मूल्यों की प्राप्ति का रूप देते हैं। डेविड, रोस आदि वैधानिक तथा लक्ष्यात्मक नैतिक आदर्शों का समन्वय उपस्थित करते हैं।

यदि ये प्रश्न उपस्थित किए जायें कि मूल्य ही का मूल्य क्या है? हम भलाई क्यों करें और बुराई से क्यों दूर रहें? इस सृष्टि तथा संसार में इस पृथ्वी पर तथा जीवन में क्या नैतिकता है। इन सबका क्या मूल्य या सार्थकता है? तो नीति विज्ञान दर्शन शास्त्र का अंग हो जाता है तथा नीति और दर्शन के प्रश्न एक दूसरे से आ मिलते हैं।

विज्ञान तथ्य का अन्वेषण करता है यह खोज करता है कि वास्तविकता क्या है नीति मूल्यों का निर्णय करता है तथा यह बताने की चेष्टा करता है कि क्या होना चाहिये।

इस दृष्टि से नीति विज्ञान से भिन्न और दर्शन के अन्तर्गत मालूम पड़ता है। किन्तु विज्ञान भी प्रकृति में एक-नियमता (Uniformity) आदि लोअते समय औचित्य के रूप से परिभाषित होता ही है। तथा नैतिक सिद्धान्त भी विश्व में प्राकृत सत्ता का दावा करते हैं क्योंकि नैतिक आदर्श ही सार्थक हो सकते हैं जबकि यह मानव के लिये स्पष्ट साध्य हो तथा सांसारिक व्यवस्था में सम्भव है।

नैतिक जीवन की प्रेरणा (Ought) तथा नैतिक निर्णय (Judgment)

नीति विवेचन का विषय है कि क्या होना चाहिये। (Ought) यह नहीं कि क्या है (Is) वस्तु स्थिति का विवरण देना नीति का विषय नहीं है अपितु क्या होना चाहिये इस प्रकार नियम बताना इसका उद्देश्य है। यह एक विवरण विज्ञान नहीं है अपितु नियामक विज्ञान है।

हमारे जीवन में कुछ लक्ष्य होते हैं उन लक्ष्यों की सिद्धि के लिये मनुष्य कुछ न कुछ काम करते हैं, तथा काम को करने वाले व्यक्तियों का कुछ स्वभाव और चरित्र होता है। यह तीनों पहलू (पक्ष) नैतिक निर्णय के विषय हैं। नीति विज्ञान यह निश्चित करना चाहता है कि मानव जीवन के लक्ष्य क्या होने चाहिये उसका कर्तव्य क्या होना चाहिये तथा उसका स्वभाव कैसा होना चाहिये?

मानव जीवन के लक्ष्य के विषय में पाश्चात्य विद्वानों में बहुत मतभेद रहा है इनमें प्रमुख मत भोगवाद कल्याणवाद विकासवाद, आत्मसिद्धिवाद तथा मूल्यवाद हैं।

लक्ष्य के निर्णय हो जाने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मनुष्य प्रयत्न किस प्रकार का करे? क्या अच्छे उद्देश्य की सिद्धि की सम्भावना में अशुभ उपायों का प्रयोग उचित है? किसी कार्य के नैतिक मूल्य निरूपण के लिये उसके परिणाम को ही देखना पर्याप्त है अथवा जिस उद्देश्य से कर्ता उसे करता उसको भी देखने की आवश्यकता है? इत्यादि प्रश्नों का विवेचन भी नीति विज्ञान का विषय है।

जीवन के लक्ष्य मानव की बुद्धि तथा मन में रहते हैं तथा कार्य को करने वाला

भी मनुष्य ही है और एक आध कार्य को नैतिक अथवा अनैतिक रूप से करने मे अधिक महत्व का विषय यह है कि कार्य करने वाले का स्वभाव तथा चरित्र कैसा है। चरित्रवान् व्यक्ति से यह आशा की जा सकती है कि वह जीवन के लक्ष्यो का उचित ज्ञान प्राप्त कर सकेगा तथा अपने ज्ञान को व्यवहार में रूपान्तरित कर पावगा तथा उसके कार्य साधारणत नैतिक आदर्शों के अनुकूल होगे। इसलिये चरित्र (Character) तथा शील (Virtue) का विवेचन भी परमावश्यक है।

कर्त्तव्य के लक्ष्य तथा चरित्र और शील के विषय में चर्चा आगे की जायेगी, यहाँ क्रिया के कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, शुभाशुभ का विचार किया जायगा।

नैतिक निर्णय का विषय, उद्देश्य अथवा प्रयोजन

जिस लक्ष्य की सिद्धि के लिये मनुष्य कार्य करता है उसको उद्देश्य (Motive) कहते हैं। उस उद्देश्य की सिद्धि के लिये कोई न कोई साधन उसे अपनाना पडता है। प्रश्न उठता है कि नैतिक निर्णय का विषय केवल उद्देश्य है अथवा उद्देश्य तथा उसकी प्राप्ति के लिये अपनाये गये साधनो की समिष्ट है जिसे प्रयोजन कहा जाता है? यह सभव है कि उद्देश्य तो शुभ हो किन्तु उसके सिद्ध करने के उपाय अशुभ हो ऐसी अवस्था में नैतिक निर्णय का विषय क्या होगा? मेकेंजी ने इस प्रश्न पर विस्तृत विचार के बाद बतलाया है कि नैतिक विचार का विषय प्रयोजन (Intention) ही हो सकता है।

नैतिक निर्णय का विषय—कार्य का उद्देश्य अथवा वास्तविक परिणाम?

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि नैतिक निर्णय के अवसर पर वास्तविक परिणामो को देखा जाय अथवा जिस उद्देश्य से कर्ता उस क्रिया को करता है उसको देखा जाय? भोगवादी वैन्थम, मिल आदि के अनुसार परिणाम ही विवेचन का विषय है, जो कार्य वस्तुस्थिति मे जितना अधिक सुख का उत्पादक सिद्ध हो वह उतना ही अधिक नैतिक होगा। कान्ट आदि दार्शनिकों के अनुसार कर्त्तव्य का स्वरूप कार्य स्वय औचित युक्त है अथवा नही, यही नैतिक निर्णय का विषय है, परिणाम नही। कान्ट ने कर्त्तव्य को Categorical Imperative कहा है। वह केवल यौक्तिक होने ही से नैतिक है, व्यक्ति की इच्छाओ तथा सासारिक परिणामो की अपेक्षा नही रखता।

ग्रीन ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि सदिच्छा से किया गया कार्य सर्वदा शुभ परिणाम को ही देने वाला होता है। जैसा कि मैकेन्जी ने बताया है, कि इस कथन को तब ही स्वीकार किया जा सकता है जब क्रिया को केवल उसी परिणाम को ही परिणाम समझा जाय जोकि कर्ता के द्वारा अपेक्षित हो। अनपेक्षित परिणामो को भी यदि परिणाम में माना जाय, तो ग्रीन का मत नही ठहर सकता है। कोई चिकित्सक रोगी का शस्त्रोपचार इसलिये करता है कि वह स्वस्थ हो जाय किन्तु यदि शस्त्रोपचार के अवसर पर रोगी की

मृत्यु हो जाती है तो उसके लिये चिकित्सक का नैतिक दोष नहीं है यदि उसने पूरी सावधानी से काम किया है तथा अपनी क्षमता के अनुसार अच्छा करने की चेष्टा की है।

इस कारण नैतिक निर्णय का विषय न तो केवल उद्देश्य है और न कार्य का परिणाम अपितु वह कार्य जिस प्रयोजन से किया जाता है वही हो सकता है। प्रयोजन से किया गया कार्य ही नैतिक निर्णय का विषय है।

नैतिक निर्णय कैसे? अन्तर्विवेक से अथवा युक्ति से? शाफ्ट्सबरी के अनुसार हमारे अन्दर नैतिक निर्णय के लिये प्रत्यक्ष आन्तरिक बोध (Moral sense) की शक्ति है। जिस प्रकार चित्रों को देखकर कलाविद् उनके सौन्दर्य के विषय में प्रत्यक्ष अनुभव करता है तथा इसी के आधार पर निर्णय दे देता है उसी प्रकार नीतिविद् किसी कार्य के बारे में सोच कर उसके शुभाशुभ के विषय में प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर निर्णय कर सकता है। इसके अनुसार कर्मों की भलाई ही उनका सौन्दर्य और बुराई ही उनकी कुरूपता है। एडम स्मिथ के अनुसार सहानुभूति ही नैतिक मानदण्ड है। जिस परिस्थिति में हम दूसरों को जैसा देखना चाहते हैं तथा दूसरे हमसे जैसी प्रत्याशा करते हैं वही शुभ है इसके विपरीत स्वार्थमय विचार अशुभ है।

बटलर के अनुसार कर्मों के शुभाशुभ का निर्णायक अन्तर्विवेक (Conscience) है। बुद्धि तथ्य का निश्चय करती है कि यह सत्य है अथवा असत्य। भाव में इस प्रकार के ज्ञान के अतिरिक्त पसन्द तथा नापसन्द भी युक्त होते हैं। भाव रागात्मक होते हैं। अन्तर्विवेक इसके अतिरिक्त आदेशात्मक भी होता है। वह जिस कार्य को उचित समझता है उसे करने का तथा जिसे अनुचित समझता है उसे न करने का आदेश भी देता है।

उपर्युक्त मतवाद यदि सत्य माना जाये तो—

१—नैतिक आचरण के विषय में मतभेद का स्थान न रहे। यदि आन्तरिक भावना या अन्तर्विवेक ही कार्यों के शुभ या अशुभ का स्पष्ट निर्णय दे देता तो सब ही लोग सब ही विषयों पर उचित निश्चय कर लेते तथा सबके निर्णय एक से होते। हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष अनुभूत वर्ण अथवा आकार की संवेदना सब लोगों की एक सी होती है दो और दो मिलकर चार होते हैं इस पर भी सबका सहमत होना सम्भव है किन्तु नैतिक विषय में अनेक मतभेद पाये जाते हैं। एक ही व्यक्ति एक समय जो उचित समझता है वह दूसरे समय अनुचित समझता है। एक व्यक्ति जिसको अच्छा समझता है उसी को दूसरा बुरा समझता है तथा एक समाज में जो कार्य निन्दनीय है वही दूसरे समाज में निन्दनीय नहीं है।

२—नैतिक विषयों में विचार-विवेचन तथा परामर्श का कोई स्थान नहीं रहता। किन्तु हम व्यावहारिक क्षेत्र में पाते हैं कि प्रायः जटिल अवस्थाओं में कर्तव्य का निर्णय बहुत

कुछ युक्ति-मार्ग से पश्चात ही सम्भव हुआ करता है। इस प्रकार के आन्तरिक बोध तथा अन्तर्निर्देश के मतों के विरुद्ध कांट, हीगल ग्रीन आदि के अनुसार युक्ति तथा बुद्धि के द्वारा ही कर्तव्य का निर्णय सम्भव है। मैकेन्जी के अनुसार कर्तव्य का निर्णय हम लोग बौद्धिक प्रमाण से करते हैं जोकि बौद्धिक आत्मा (Rational Self) के पास होता है। आगे चलकर निर्णय के लिये बुद्धि की उपयोगिता पर विचार किया जायगा।

जी० ई० मूर तथा डेविड रौस के अनुसार कर्तव्य निर्णय के लिये बुद्धि तथा आन्तरिक प्रत्यक्ष नैतिक अनुभूति दोनों की आवश्यकता है। मूर ने प्रिंसिपिया एथिका (Principia Ethica) में दिखाया है कि नैतिक प्रत्यय (Concept) के लक्षण किसी भी अन्य प्रत्यय द्वारा सम्भव नहीं। इस कारण नैतिक शुभाशुभ का निश्चय केवल आन्तरिक प्रत्यक्ष अनुभूति से ही सम्भव हो सकता है। किन-किन अवस्था में कौन नैतिक तथ्य उपस्थित हैं इसका निर्णय केवल युक्ति सापेक्ष ही है। मूर के अनुसार वस्तुओं के शुभाशुभ के निर्णय में ही आन्तरिक बोध की आवश्यकता है, कर्त्तव्य वही है जो इन वस्तुओं की उत्पत्ति के लिये अनुकूल हो, किन्तु रौस के अनुसार वस्तु तथा कर्तव्य दोनों के नैतिक मूल्यों के निश्चय के लिये इस आन्तरिक बोध की आवश्यकता है।

नीति के दार्शनिक आधार (Postulates of Morality)

यदि नैतिक जीवन सम्भव तथा सार्थक हो तो उसके लिये कुछ मौलिक दार्शनिक आधारों की आवश्यकता होती है। यह आधार तीन प्रकार के हैं, आत्मा के बारे में, संसार के स्वभाव के विषय में, तथा इस ईश्वर के विषय में।

१—नैतिक दायित्व उसी व्यक्ति के लिये सम्भव है जिसका निजी व्यक्तित्व हो तथा जिसको अपने कार्यों को अपने चुनाव के अनुसार करने की स्वाधीनता हो। कुछ लोगों का मत है कि मनुष्य में आत्मा नामक कोई सत्ता नहीं है, मनुष्य केवल शरीर मात्र है तथा प्राकृतिक नियमों से वह पूर्णतया परिचालित होता रहता है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो फिर नैतिक जिम्मेदारी का कोई प्रश्न नहीं उठ सकता। यदि मनुष्य अपने हर एक कार्य को बाह्य परिस्थितियों से प्रेरित होकर करने को बाध्य है तो अपने कार्यों को अच्छे बुरे विचारों के आधार पर नियन्त्रित नहीं कर सकता। पेड़, पौधे, पशु तथा शिशु और पागल व्यक्ति अपने कार्यों की नैतिकता अथवा अनैतिकता के लिये जिम्मेदार नहीं समझे जा सकते, क्योंकि उनमें या तो स्वाधीन क्रिया करने की शक्ति नहीं होती अथवा विचार करने के उपयुक्त बुद्धि का विकास नहीं रहता। इसलिये नैतिक जिम्मेदारी के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति में विवेकशील तथा स्वाधीन इच्छा शक्ति सम्पन्न आत्मा हो।

२—नैतिक जीवन में हमको यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि भले करने वाले को उसका पुरस्कार तथा बुरा करने वाले को उसका दण्ड मिले। प्रायः सामाजिक तथा राष्ट्रीय व्यवस्था में इस न्याय को पूर्णतया करने की क्षमता नहीं होती। इसलिये नैतिक जीवन के लिये यह मानना आवश्यक है कि आत्मा अमर है जिससे कि एक जीवन की शुभाशुभ कृतियों का फल उसे जन्मान्तर में भी प्राप्त हो सके तथा अन्ततोगत्वा नैतिक कार्य को करने वाले व्यक्ति को ही अधिक सुख की प्राप्ति हो सके।

३—जीवन में नैतिकता एक कम वर्द्धमान विकास के रूप में देखी जाती है। नैतिक आदर्शों तथा वासनाओं और पाशविक वृत्तियों के संघर्ष में नैतिक आदर्श धीरे-धीरे अपना प्रभाव अधिक विस्तृत कर पाते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था के लिये जबकि कर्त्तव्य ज्ञान तथा कामनाएं एक दूसरे के अनुकूल बन जाय अनेक जन्मों की आवश्यकता है तथा यह आत्मा के अमर होने पर ही सम्भव है। (Kant) यदि नैतिकता के लिये आवश्यक है कि व्यक्ति उसे अपनाने के लिये विवेकशील तथा स्वाधीन हो तो यह भी आवश्यक है कि अन्ततोगत्वा संसार का स्वभाव ऐसा हो कि उसमें नैतिकता का स्थान हो। Morality should not only be attainable by man but also sustainable by the universe (Radhakrishnan) इस कारण यह मानना आवश्यक है कि संसार इस प्रकार से बना है कि यद्यपि आपात दृष्टि से तथा व्यक्ति के सर्वार्थ अनुभव में जो है (What is) तथा जो होना चाहिए। (What ought to be) में सामञ्जस्य भले ही सर्वदा न दिखलाई दे कोई व्यापक तथा परम सामञ्जस्य अवश्य होगा। इसका अर्थ यह होता है कि नैतिक आदर्शों का स्थान केवल व्यक्ति के विवेक में ही नहीं अपितु उसका सत्स्थान संसार के आन्तरिक सत्ता में भी है।

४—किन्तु संसार के आन्तरिक नैतिकता का आधार जड़ वस्तु नहीं हो सकता है। इसके लिये ईश्वर की आवश्यकता है जो कि हमारे जीवन का नैतिकता की ओर परि चालित करते रहें। कांट के अनुसार ईश्वर की इसलिये भी आवश्यकता है कि यहाँ नैतिक आदर्श आचरण तथा सुख प्रायः इस संसार में साथ नहीं देखे जाते हैं अन्त में नैतिक आचरण को मानने वाला सुखी हो सके। इस व्यवस्था को ईश्वर ही कर सकते हैं। इसलिये नैति कता के मौलिक आधारों में ईश्वर में विश्वास भी है।

नैतिक जीवन के प्रमाप

यहूदी तथा ईसाई धर्म के ग्रन्थों में नैतिकता को बाह्य ईश्वरीय आदेशों पर आधारित किया गया है, किन्तु वर्तमान युग में विचार के स्वातन्त्र्य के साथ-साथ लोगों को इस प्रकार का बाह्य प्रतिबन्ध सन्तोषकर न प्रतीत हुआ। उन्होंने देखा कि नैतिकता हमारे लिये कर्त्तव्य तभी हो सकता है जबकि उसकी प्रेरणा हमारे अन्दर ही से मिले।

इस प्रकार के विचारको में प्रमुख स्थान हाब्स (Hobbes) का रहा। हाब्स ने कहा कि व्यक्ति स्वार्थ सिद्धि के लिये ही मव कुछ करता है किन्तु उसको समाज में रहना पडता है जहाँ विभिन्न स्वार्थों के सघर्ष की सम्भावना है। इसलिये यदि व्यक्ति केवल अपनी स्वार्थ सिद्धि का प्रयत्न करता है तो दूसरो से प्रवल विरोध का सामना करना होगा। इसमे उसके स्वार्थ की अविक हानि होगी। इससे अधिक उपादेय पद्धति यह है कि वह कुछ सामाजिक तथा राष्ट्रीय प्रतिवन्धो को माने जो कि भिन्न स्वार्थों का सामन्जस्य कर सके।

किन्तु हाब्स का यह सिद्धान्त वहुतो को वहुत ही मोटा (Crude) मालूम हुआ। वटलर आदि ने इसके विरुद्ध में अन्तर्निर्देश आदि का सिद्धान्त स्वीकार किया। वटलर के अनुसार सभी कार्यों को देखकर हमारी अन्तर्भावना (Conscience) यह वतला देती है कि यह अच्छा तथा वह वुरा कार्य है। हर एक कार्य में जैसे मोहर लगी हो कि यह अच्छा है तो वह वुरा। यह मत भी वहुतो को सन्तोषजनक नही लगा। यदि हरेक काय को देखते ही यह स्पष्ट हो जाय कि अच्छा है अथवा वुरा तो भी नैतिक विषयों में इतना मतभेद क्यो? तथा एक ही कार्य अपने परिणाम की दृष्टि से अच्छा और बुरा हो सकता है। मन्दिर में कोई पूजा करने भी जा सकता है और सोना चुराने भी। इन विचारो से परिचालित होकर वहुत से दार्शनिको ने कहा कि भला वुरा कार्य मे नही अपितु जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिये कार्य हो उसमें है। इस प्रकार ऐसे मतवालो की सृष्टि हुई जो नैतिक जीवन के लक्ष्यात्मक प्रमाण मानते हैं।

भोगवाद—इन मतो में भोगवाद वहुत प्राचीन तथा स्वाभाविक है। इसके अनुसार सुख की प्राप्ति तथा दुःख का निराकरण ही नैतिक जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। इसके प्रमुख समर्थक वैन्थम तथा जे० एस० मिल रहे। इनके अनुसार अधिकाधिक सुख की उत्पत्ति ही नैतिक जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। इस मत के दो अग है—एक मनोवैज्ञानिक भोगवाद और दूसरा नैतिक भोगवाद।

१—मनोवैज्ञानिक भोगवाद वताता है कि मनुष्य जो कुछ करता है वह केवल सुख की प्राप्ति तथा दुःख के निराकरण के लिये ही करता है।

२—मनुष्य को वही कार्य करना चाहिए जिससे अधिक सख्यक लोगो को अधिक सुख की प्राप्ति हो तथा दुःख घटे। यह नैतिक भोगवाद है।

इस सिद्धान्त में अनेक त्रुटियाँ स्पष्ट हैं। यदि वैयक्तिक सुख ही उद्देश्य हो तथा सभी उसी की आशा मे स्वाभाविक रूप से प्रेरित होते ही रहें तो फिर नैतिक प्रतिवन्धो की कौन आवश्यकता है? यदि दोनो भोगवाद के सिद्धान्त सत्य हो तो फिर जो कुछ जो कोई करता है सब अच्छा और नैतिक आचरण ही है। किन्तु नीति विज्ञान एक क्रियात्मक

विज्ञान है नैतिक विज्ञान नहीं यह वांछित तथा वांछनीय जो है तथा जो होना चाहिये, उसमें स्पष्ट भेद करता है। इसलिये दोनों प्रकार के भोगवादों को स्वीकार करना नैतिक विज्ञान का विसर्जन होगा मिल ने इस प्रकार का सिद्धान्त अनेक तार्किक दोषों पर खड़ा किया है। दृष्टान्त स्वरूप—"जो देखा जाय वह दृश्य है" जो सुना जाय वह श्रव्य है इसी प्रकार जिस वस्तु की इच्छा की जाती है वही वांछनीय है यहाँ वांछित के स्थान पर मिल ने वांछनीय बतलाया।

प्रत्येक व्यक्ति को अपना सुख वांछित होता है इसलिये सभी का सुख सब व्यक्तियों के समुदाय के लिये वांछित है। इससे मिल ने यह अनुमान करना उचित समझा कि प्रत्येक सदस्य के लिये समूह का सुख वांछित होता है। इस तर्क में 'संग्रह दोष' है। सभी व्यक्ति अपना हित चाहते हैं इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि सभी को सभी का समष्टिगत हित वांछित होता है।

मिल ने मानसिक सुखों को शारीरिक सुखों से उत्तम बताया और इस प्रकार अधिकतम सुख के कलन के अन्तर्गत केवल सुखों के परिमाण ही नहीं अपितु उत्कृष्ट होने पर भी ध्यान रखना आवश्यक बताया किन्तु यह मान लेने पर सुखों के उत्कृष्ट निकृष्ट होने का मान स्वयं सुख के बाहर और कुछ हो जाता है तथा अच्छे बुरे का प्रमाण सुख नहीं रहता।

यदि व्यक्ति सुख चाहता है इसलिये सुख वांछनीय है तो व्यक्तिगत सुख ही आदर्श हो सकता है समष्टिगत सुख नहीं। यदि व्यक्ति सुख नहीं चाहता है तो कहना कि फिर भी उसे सुख ही आदर्श बनाना चाहिये विश्वास के योग्य प्रतीत नहीं होता है।

वास्तव में मनुष्य (Abstract) सुख दुःख को नहीं चाहता है मूल प्रवृत्तियों को कार्यतः चरितार्थ करना चाहता है। उनकी सफल क्रिया में उसे सन्तोष होता है बाधा प्राप्ति पर उसे असन्तोष होता है। इसलिये सुख को मनुष्य का वांछित ध्येय बताना भ्रमात्मक है।

सुख दुःख बहुत अंश में व्यक्ति की विशेष रुचि आदि पर निर्भर है। एक ही घटना किसी के लिये सुखकर तथा दूसरे के लिये दुःखकर, एक ही परिस्थिति किसी के लिये आनन्ददायक अन्य के लिए निरानन्दमय होती है। इसलिये उसका सुख कैसे अधिक होगा यह निर्णय करना सम्भव नहीं। सुख एक ऐसी अनुभूति है जो कि प्रायः वह मृगतृष्णा की तरह उसे प्राप्त करने के लिये इच्छुक व्यक्ति से भागता है। भोजन विलासी को अग्निमांद्य की सम्भावना अधिक होती है। आरामतलब व्यक्ति को अनिद्रा के सताने की सम्भावना बहुत होती है। किन्तु परिश्रमी तथा अनासक्त को सादा भोजन तथा भूमि शयन में भी अधिक सुख मिल जाया करता है।

यह निर्णय करना कि किस प्रकार से अधिक सख्यक व्यक्तियो को अधिक सुख प्राप्त होगा, सभव नही क्योकि एक तो सुख बहुताश में मनोराज्य की वस्तु हैं। बाह्य वस्तुओ पर ही केवल निर्भर नही, तथा किन कार्यों के फलस्वरूप क्या परिस्थिति होगी यह निर्णय करना भी प्राय आसान नही होता।

कर्तव्यवाद

भोगवाद के अनुसार क्रिया के परिणाम सुख की प्राप्ति ही पर क्रिया की नैतिकता आवारित रहती है। इसके विरुद्ध कर्तव्य के अनुसार कार्य के परिणाम से उसकी नैतिकता का कोई सम्बन्ध नही, कार्य को यदि नैतिक विचार द्वारा, केवल विशुद्ध शिव सकल्प (Goodwill) से किया जाय तो वह नैतिक होता हैं किन्तु यदि अन्य किसी भी उद्देश्य अथवा मनोवेगो के प्रभाव से किया जाथ तो वह अनैतिक रह जायगा। इस मत के सबसे प्रमुख दार्शनिक कान्ट थे। उन्होने कहा कि कर्त्तव्य एक शर्तहीन आदेश। (Categorical Imperating) है, स्वाधीन है। (Autonomous) तथा शुद्ध युक्ति सगत (Rational) है।

हम लोग कहते हैं कि बशर्ते कि धन वान्छित है तो अध्यवसाय चाहिये, बशर्ते कि अच्छा स्वास्थ्य चाहिये तो व्यायाम तथा अन्छा भोजन चाहिये इत्यादि। इन नियमो का पालन तभी आवश्यक होता है जब कि तत्सम्बन्धी फल की आशा की जाय। किन्तु काट के अनुसार नैतिक आदेश ऐसा नही हो सकता। वह अन्य किसी भी इच्छा पर निर्भर नही हो सकता है। नैतिक नियम को स्वाधीन करने का भी यही अर्थ है कि उसमें अन्य इच्छाओ अथवा शर्तो का समावेश नही होना चाहिये।

इस प्रकार कार्य स्वत ही भला, बुरा होगा वह अन्य किसी परिणाम अथवा इच्छाओ पर निर्भर नही होगा। किन्तु इसका निर्णय अन्तर्निदेश से नही अपितु युक्ति से होता है। इसलिये कान्ट ने कहा कि आचरण ऐसा करो कि तुम यह इच्छा कर सको कि जो कार्य कर रहे हो वह साधारण नियम बन सके।

इस प्रकार झूठ बोलना अकर्तव्य है क्योकि यदि सभी झूठ बोलना पारम्भ करें तो कोई किसी का विश्वास नही करेगा तथा बोलने का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जाएगा। असत्य वायदा करना भी इसी तरह व्यर्थ है क्योकि सभी यदि असत्य वायदा करने लगें तो फिर किसी के वायदे पर किसी को विश्वास न रह जाने से वायदा करना ही व्यर्थ हो जायगा।

आलोचना—काट के इस मत ने इस बात पर जोर दिया कि कुछ कार्य अपने ही में अच्छे तथा अपने ही में बुरे होते हैं केवल उनके परिणाम ही कार्यो को नैतिक अथवा अनैतिक नही बना सकते। इसलिये उद्देश्य अच्छा होने से ही कार्य नैतिक नही बनता, किन्तु प्रयोजन अच्छा होना चाहिये। (End does not justify the means if

they are bad) किन्तु कांट के इस कथन में अनेक त्रुटियाँ भी हैं—

१—यह नियम केवल निषेधात्मक है वैधानिक नहीं है क्योंकि यह केवल साधारण नियम है विशेष कार्यों के बारे में नहीं बता सकता केवल कुछ नियमों में क्या नहीं करना चाहिए कह सकता है। कार्य प्रायः हम इच्छा प्रवृत्तियों से ही प्राप्त होती है केवल बुद्धि से नहीं। असत् तथा सत् दोनों इच्छाएँ इच्छाएँ ही हैं इसलिए यहाँ भोगवाद को 'स्वरूपहीन वस्तुमात्र' (Matter without form) कहा जाता है वहाँ इस कर्तव्यवाद को वस्तुहीन स्वरूपमात्र (Form without matter) कहा जाता है। क्योंकि कांट को स्वयं यह त्रुटि प्रतीत होती थी इसलिये उन्होंने अपने नैतिक विचार में अन्य भी बातें कहीं, जैसे सभी व्यक्तियों को साध्य ही मानना चाहिये क्योंकि नैतिक निर्णय के बोधकर्ता हैं केवल साधन मात्र न समझना चाहिए। इत्यादि।

२—इच्छायें हैं तथा सुख दुःख की सम्भावना है इसी कारण कर्तव्य अकर्तव्य का प्रश्न उठता है इसलिए उसके विचार में सुख दुःख की बातों का बहिष्कार करना सम्भव नहीं।

३—अपने कार्यों की साधारणता पर विचार करते समय उसे उस विशेष परिस्थिति के साथ में देखा जाय तो कोई भी कार्य के बारे में व्यक्ति कर सकता है। हम चाहते हैं कि हमारी विशेष परिस्थिति में पड़ा हुआ कोई भी हमारे ऐसा कर ले। यदि सभी परिस्थितियों से अलग होकर विचार किया जाय तो ऐसे नियम की न तो कोई सार्थकता रहेगी न सचाई। अवस्था विशेष में रोगियों तथा डाकुओं से झूठ बोलने में भी अनैतिकता नहीं होती।

प्राकृतिक विकासवाद (Naturalistic Evolution)

उन्नीसवीं शताब्दी में डार्विन के प्राकृतिक क्रम विकासवाद का नैतिक विचारों पर भी बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। डार्विन का सिद्धान्त यह है कि जीवन संघर्षमय है जितने प्राणियों का संसार में जन्म होता उन सबके जीने योग्य साधन संसार में प्राप्त नहीं हैं। इसलिये उनका आपस में तथा प्राकृतिक परिस्थितियों से संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष के लिये योग्य दैहिक गुण जिन प्राणियों में होते हैं वे जी सकते हैं तथा सन्तान की उत्पत्ति कर पाते हैं। शेष सभी मर जाते हैं। सन्तान उत्पत्ति के समय उनमें पूर्वजों के अर्जित गुण कुछ सीमा तक आते हैं, कुछ अन्य परिवर्तन भी होते हैं। जो सन्तान अपने पूर्वजों के अनुकूल बन पाती है तथा जिनमें अनुकूल परिवर्तन आ जाते हैं वे ही जीती हैं शेष मर जाते हैं।

इन विचारों के आधार पर हर्बर्ट स्पेन्सर, लैसली स्टीफेन्स तथा सैमुएल एलैक्जेंडर आदि ने नैतिक जीवन का अलग निर्णय करना चाहा। इन दार्शनिकों के मत में परि-

स्थिति और वातावरण के साथ अनुकूलता ही नैतिकता की कसौटी है। स्पेन्सर के अनुसार जीवन की प्रगति के साथ साथ विभिन्नता, निश्चिन्तता तथा सगठन वढता जाता है, इससे जीवन में पूर्णता वढती है। सुखकर भी वही कार्य होता है जो जीवन विकास के उपयोगी हो तथा दु खकर वह होता है जो विकास के प्रतिकूल हो। इसको स्पेन्सर ने वैज्ञानिक भोगवाद कहा। स्टीफेन्स ने सामाजिक स्वास्थ्य पर अधिक जोर दिया तथा एलेक्जेन्डर ने कहा कि नैतिक आचरण सामाजिक सतुलन तथा योग्यतावर्धक होता है।

इन सभी मतो के अनुसार वातावरण के साथ अनुकूलता तथा सघर्ष में अधिक शक्ति शालिता ही नैतिकता का लक्ष्य होना चाहिये। इस विचार धारा में भी अनेक त्रुटियाँ हैं—

१—मनुष्य विवेकशील प्राणी है वह अपने विवेक जन्य कार्यो से बहुत अश में वातावरण को वदल सकता है। इसलिये उसके लिये वातावरण उस प्रकार निश्चित नही है जसे अन्य प्राणियो के लिये।

२—वातावरण के अनुकूल वनने की चेष्टा नीति सुविधावाद है जो नैतिकता के प्राय पूर्ण प्रतिकूल है जैसा कि टी० एच० हक्सले ने वताया है जहाँ अन्य कर्मचारी घूसखोर हैं वहाँ वने रहने के लिये तथा तरक्की के लिये सम्भव है कि एक विशेष कर्मचारी को वही नीति वर्तना वातावरण के अनुकूल हो, किन्तु यह नैतिक नही हो सकता है। शक्ति तथा राष्ट्र की पूजा का परिणाम गत युद्ध में देखा जा चुका है। वास्तविक प्रेम, दया, सहानुभूति इत्यादि नैतिक आचरण के जो प्रमुख स्तम्भ है वह सव क्रम विकास के पाशविक पहलू के सम्पूर्ण विरोधी हैं तथा युक्ति, आत्म-विकास तथा सामाजिक शिक्षा के परिणाम हैं।

३—किसी भी अवस्था मे मनुष्य का वातावरण क्या है तथा कौन गुण उस वातावरण में मनुष्य के भविष्य मे अनुकूल है यह निर्णय करना आसान नही।

४—यह सत्य नही है कि विकास के अनुकूल कार्य सर्वदा सुखद तथा विकास के प्रतिकूल कार्य सर्वदा दु खद हुआ करते हैं। इसलिये स्पेन्सर का तथा कथित वैज्ञानिक भोगवाद अत्यन्त अवैज्ञानिक है।

आध्यात्मिक विकासवाद तथा जीवन के प्रमुख मूल्य

पिछले अध्याय में प्रकृति-विकासवाद में प्रधान त्रुटि यह दिखाई दी कि मनुष्य को विचारशीलता तथा आध्यात्मिक सत्ता का उसमे स्थान नही। इन कमियो को पूरा करने वाला मत आध्यात्मिक विकासवाद है। अफलातूं, तथा अरस्तू, सेन्ट आगस्टीन, रोकनास, हीगल, नव हीगेलियन, ब्राडले, बोसान्केट, ग्रीन इत्यादि दार्शनिको ने आध्यात्मिक विकासवाद को जीवन का लक्ष्य समझा।

अरस्तू के अनुसार मनुष्य सुख को चाहता है यह एक तुच्छ सत्य है (Platitude) किन्तु यह निर्णय करने की आवश्यकता है कि कैसे मनुष्य को सुख की प्राप्ति सम्भव है। अरस्तू ने बताया कि अपनी शक्तियों को यथोचित कार्यान्वित करने में ही मनुष्य को सुख की प्राप्ति होती है तथा यही नैतिक आचरण भी है। अरस्तू ने कहा कि जिस प्रकार से यन्त्र आदि को अच्छा तभी कहा जा सकता है जब कि वह अपना कार्य सुचारु रूप से कर सके। मनुष्य भी अच्छा तभी है जब कि वह अपने शक्तियों को विधिपूर्वक कार्यान्वित कर सके। मनुष्य विवेकशील प्राणी है। तथा विवेकशीलता ही उसकी विलक्षणता है। इसलिये विवेकशीलता को कार्यान्वित करना ही मनुष्य की नैतिकता है अर्थात् प्रकृतिस्थ जीवन को विचार तथा विवेक के द्वारा परिष्कारित करना चाहिये तथा युक्तिसंगत नियमों तथा दर्शन का मनन करना चाहिये।

हीगेल ने नैतिकता का आदर्श इस प्रकार बताया—व्यक्ति बनो तथा दूसरों को व्यक्ति के रूप में आदर करो।

यह मत पूर्णता को जीवन का नैतिक लक्ष्य मानता है तथा यह पूर्णता केवल प्राकृतिक पूर्णता नहीं अपितु अति प्राकृतिक अथवा आध्यात्मिक पूर्णता है। इस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य और आर्थिक उन्नति के अतिरिक्त सामाजिक पारिवारिक चरितार्थता तथा सत्य शिव सुन्दर इन परम आदर्शों की प्राप्ति भी इस लक्ष्य के अन्तर्गत है।

आलोचना—आत्म-विकास अथवा आध्यात्मिक विकास का सिद्धान्त उपर्युक्त अन्य सिद्धान्तों से अधिक मान्य है क्योंकि मनुष्य का व्यक्तित्व क्या है इसके निर्णय के बिना इसका कहना संभव नहीं कि उसके लिये क्या होना चाहिए। मनुष्य के व्यक्तित्व के केवल एक अंग के विकास से भी नैतिक जीवन सम्भव नहीं अपितु उसके सभी अंगों का विकास होना चाहिए। इस सिद्धान्त में प्रधान त्रुटि इसकी अस्पष्टता है। आत्म-विकास एक ऐसा व्यापक तथा अनिर्दिष्ट आदर्श है कि यह तात्त्विक दृष्टि से अस्पष्ट है तथा व्यावहारिक दृष्टि से बेकार है। दूसरा दोष जो इसमें बताया जाता है वह (चक्राकार तर्क) Circular argument का है कि पूर्णता नैतिकता का ही नामान्तर है इसलिये पूर्णता से नैतिकता की परिभाषा मूल विषय को दुहराना है।

इन कमियों को दूर करने के लिये अरबन हार्टमैन रोस प्रमुख विद्वानों ने जीवन के उन मूल्यों की प्राप्ति से आत्म-सिद्धि होती है उसका विशद विवरण देना चाहा है।

निम्नलिखित तालिका अरबन महोदय की है—

मूल प्रवृत्तियाँ (Instincts)	मूल्य (Value)
१ दैहिक मूल्य।	
भूख तथा काम वासना	शारीरिक

सग्रह, शारीरिक क्रिया
तथा अभिव्यक्ति क्रीडा — आर्थिक सम्पत्ति, परिश्रम, मनोरजन

२ देहोत्तर मूल्य (Hyper organic)
सामाजिक

दूसरो की चाह — परिचित लोगो का सम्पर्क तथा
सहानुभूति — मित्रता आदि
आत्मप्रतिष्ठा तथा विनय

३ दोहोत्तर मूल्य
आध्यात्मिक

कौतूहल — विद्या तथा बौद्धिक तुष्टि
क्रीडा — सौन्दर्य अनुभूति
धार्मिक प्रवृत्ति — धार्मिक मूल्य

इस प्रकार के मानव के सर्वांगीण सुनियत्रित तथा सामन्जस्य रखते हुए विकास ही में उसके जीवन की नैतिकता है।

पाश्चात्य और भारतीय नीति शास्त्रो का तुलनात्मक अध्ययन

पाश्चात्य नीति शास्त्रो का अध्ययन भारतीय विश्वविद्यालयो के दर्शन विभागो की बी० ए० और एम० ए० कक्षाओ में होता है। कुछ भारतीय विद्वान् उसके सम्बन्ध में कभी-कभी लेख और पुस्तकें भी लिखते हैं। पर चूंकि अभी तक भारतीय नीति शास्त्र का अध्ययन, विशेषत पुस्तको के अभाव के कारण, विश्वविद्यालयो मे नही के बराबर है, पाश्चात्य और भारतीय नीतिशास्त्रो का तुलनात्मक अध्ययन बहुत कम हो पाया है। भारतीय नीति पर पश्चात्य नीति शास्त्र की शैली से अभी तक केवल एक ही उत्तम ग्रन्थ लिखा गया है जो कलकत्ता विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफेसर सुशील कुमार मैत्र ने लिखा है। उसका नाम है—The Ethics of the Hindus हिन्दुओ का नीति-शास्त्र। यह बहुत उच्चकोटि की पुस्तक है और पाश्चात्य नीति शास्त्रो की विवेचनात्मक शैली से लिखी गई है। इसमें इन विषयो की बहुत अच्छी तरह से चर्चा की गई है—प्रवृत्ति का विश्लेषण, धर्म और धर्मज्ञान का विश्लेषण, कर्म प्रवृत्तको का विश्लेषण, धर्मों का वर्गीकरण, मानसिक भावो का वर्णन, मोक्ष और मोक्ष साधन, और धर्माधर्म के प्रमापक। आधुनिक समय में इस बात की बहुत बडी आवश्यकता है कि अब नीति शास्त्र पर कही भी जो पुस्तकें लिखी जांय उनमें पाश्चात्य और भारतीय दोनो ही नैतिक विचारो और सिद्धान्तो का तुलनात्मक, विवेचनात्मक, आलोचनात्मक और समन्वयात्मक अध्ययन हो, और पाठको के सामने ससार के सभी नैतिक विचारो को निष्पक्ष भाव से रक्खा जाये।

पर यह तभी हो सकता है जब कि पहिले भारतीय नीतिशास्त्र पर हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं में अनेक पुस्तकें हों और दोनों का तुलनात्मक अध्ययन होता हो। यह तभी हो सकता है जबकि नीतिशास्त्र के शिक्षक पाश्चात्य और भारतीय दोनों नीति शास्त्रों के ज्ञाता हों। प्रोफेसर मैत्र की उपर्युक्त पुस्तक इस उद्देश्य की पूर्ति में कुछ सहायक हो सकती है। इसके पूर्व एक पुस्तक बम्बई के एक ईसाई प्रोफेसर मैकेंजी ने भी हिन्दू नीति शास्त्र (Hindu Ethics) नामक लिखी थी। पर वह इतनी अच्छी नहीं थी जितनी कि प्रो॰ मैत्र की पुस्तक है। बहुत समय पूर्व प्रो॰ मिश्र ने एक पुस्तक (Elements of Ethics) नीति शास्त्र के मूल तत्त्व नामक लिखी थी वह थी तो पाश्चात्य नीतिशास्त्र पर, फिर भी उसमें स्थान स्थान पर भारतीय नीति शास्त्र के विषयों को तुलनात्मक रूप से प्रविष्ट कर दिया गया था। कुछ दिनों से विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाने वाले नीतिशास्त्र के विषयों में बौद्ध और गीता की नीति का समावेश हो रहा है। पर वे विषय नीतिशास्त्र की पुस्तकों में अलग से ही रक्खे हैं और विषयों के साथ उनका समन्वय नहीं किया जाता। इस सम्बन्ध में हमको लोकमान्य तिलक के गीता रहस्य को नहीं भूलना चाहिये जिसमें उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य नैतिक विचारों का उस समय के ज्ञान के अनुसार सुन्दर समन्वय करने का प्रयत्न किया था।

अध्याय २३

भारतीय नीति शास्त्रों पर विहंगम दृष्टि

अब तक हमने वेदो से लेकर सन्त विनोबा भावे तक के नैतिक विचारो का संग्रह किया। अब हम उस पर विहंगम दृष्टि डालकर यह देखना चाहते हैं कि भारतीय इतिहास के इन लम्बे समय में नैतिक विचारो में क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं और किधर की ओर इसका विकास हो रहा है।

भारतीय नीति शास्त्र की एक विशेषता यह है कि इसमें विचारो में यद्यपि क्रान्तिकारी परिवर्तन होते आये हैं तो भी उसमें अधिकांश विचार सनातन ही रहे हैं। या यो कह सकते हैं कि भारतीय नीति शास्त्र की पृष्ठभूमि एक सी ही रहते हुए उसके आधार पर उसके कलेवर में युगानुकूल परिवर्तन होते आये हैं। भारतीय नीति का विकास वैसे ही हुआ है जैसे किसी व्यक्ति के जीवन का विकास हुआ करता है। प्रत्येक व्यक्ति वह का वही रहता हुआ भी समय के प्रभाव से आन्तरिक इच्छाओ और प्रेरणाओ और वाह्य परिस्थितियो के कारण, और अपने बढ़ते हुए ज्ञान के प्रकाश में, कुछ न कुछ बदलता हुआ विकसित होता है। इसी प्रकार भारतीय नीति शास्त्र में भी विकास हुआ है। इसकी आत्मा अमर होते हुए भी इसका शरीर परिवर्तनशील है। भारतीय विचारधारा के प्रवाह की एक विचित्र बात यह है कि नये विचारो के आने पर भी पुराने विचार नष्ट नहीं हुए और पुराने विचारो ने नए विचारो के आने का न विरोध किया और न उनको रोका। यहाँ पर नए पुराने सभी विचारो का सहस्तित्व और सहयोग और समन्वय सदा होता रहा है।

भारतीय नीति शास्त्र के लम्बे और परिवर्तनशील जीवन में जो विशेष क्रान्तियाँ हुई हैं उनका कुछ ज्ञान हमको इन ग्रन्थो के अध्ययन से प्राप्त हो सकता है और इनको ही हम भारत के युग प्रवर्तक ग्रन्थ कह सकते हैं। १—वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, धर्मसूत्र और स्मृतियाँ, रामायण और महाभारत, भगवद्गीता और योगवासिष्ठ पुराण, दर्शन ग्रन्थ, नीति ग्रन्थ, मध्यकालीन सन्तों की वाणियाँ, उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारको के लेख और वक्तताएँ, और बीसवी शताब्दी के नेताओ की विचारधारा । यद्यपि इन नैतिक स्रोतो

में पाये जाने वाले नैतिक विचार क्रान्तिकारी थे पर इन सब की विशेषता यह रही है कि किसी भारतीय विचारक ने यह नहीं कहा कि वह कोई सर्वथा नवीन विचार दे रहा है। प्रायः सबने यही कहा है कि वह विस्मृत अथवा न समझे हुए पुराने विचारों का ही अनावरण कर रहा है। आज भी विचार परिवर्तन के लिये वेदों उपनिषदों और भगवद्गीता के वाक्यों की दुहाई दी जाती है। आधुनिक काल के विचारक, जिनको हम महान् क्रान्तिकारक कह सकते हैं यथा राम मोहन राय स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ रवीन्द्रनाथ ठाकुर महात्मा गाँधी श्री अरविन्द और विनोबा भावे आदि सभी वेदों उपनिषदों और भगवद्गीता की ही दुहाई देते हैं। यहाँ तक कि प्राचीन काल के महान् क्रान्तिकारक विचारों वाले भगवान बुद्ध ने भी नैतिक उपदेश देते हुए यही कहा कि "यह सनातन धर्म है (एस धम्मो सनातनो') विदेश में उत्पन्न हुई और पली और शिक्षित विदुषी महिला एनी बेसेंट ने भी उपनिषदों और भगवद्गीता को ही नव प्रवर्तक माना और बताया। भारत के प्रायः सभी महान् दार्शनिकों—शंकराचार्य से लेकर अरविन्द तक—ने वेदों, उपनिषदों और भगवद्गीता के ही विचारों का प्रतिपादन करना अपने विचारों का उद्देश्य समझा और यही कहा भी।

ऐसी परिस्थिति में भारतीय नीति का पाश्चात्य विकासवादी सिद्धान्त के दृष्टिकोण से व्याख्या करना असंभव सा जान पड़ता है। पाश्चात्य देशों में पुरानी बातों को भी यदि नवीन बताकर न कही जावे तो उनकी ओर लोगों का आकर्षण नहीं होता इसके विरुद्ध भारत में जब तक किसी नवीन विचार को पुरातन और सनातन कहकर न बताया जावे और उसकी पुष्टि में किसी पुराने और अति पुराने ग्रन्थ का कोई वचन न दे दिया जावे तब तक उसको लोग मानने को तैयार नहीं होते। भारतीयों को नवीनता से चिढ़ सी है। यहाँ सब नवीन बातें पुरातन विचारों की आड़ में ही कहा जाना लोगों को अच्छा लगता है।

इतना बताकर हम भारतीय नैतिक विचारों पर एक विहंगम दृष्टि डालते हैं और यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि किस युग की क्या विशेषता रही है। संक्षेप में वैदिक युग के नैतिक विचार और जीवन ये थे। वैदिककालीन मनुष्य के जीवन के उद्देश्य सुख और शान्ति थे। वे पूरे सौ वर्ष जी कर सांसारिक सुखों का सभी इन्द्रियों द्वारा भोग करना चाहते थे। बुढ़ापे, रोग और मौत से बचना चाहते थे। स्वतंत्र और सम्पन्न रहना चाहते थे। बुद्धि, बल तेज और यश चाहते थे। उनमें राष्ट्र भावना थी और राष्ट्र को भी सुखी और सम्पन्न देखना चाहते थे। वे जीवन को एक संग्राम समझते थे और अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना चाहते थे। इन सब बातों के प्राप्त करने के लिये वे अपने निजी पुरुषार्थ के अतिरिक्त अन्तरिक्ष में रहने वाले देवताओं से और देवाधिदेव ईश्वर से

प्रार्थना करते थे, उनको प्रसन्न करने के लिये होम यज्ञ, प्रार्थना आदि करते रहते थे। अतिथि सत्कार करना अपना कर्तव्य मानते थे। केवल मनुष्यों से ही नहीं, वे सब प्राणियों के साथ मित्रता का व्यवहार करते थे और सब से मैत्री चाहते थे। वे विवाह करके स्त्री और बच्चों के बीच में अच्छे घरों में रहकर सब प्रकार के सुख भोगना चाहते थे। पुत्रों के लिये भगवान् से प्रार्थना करते थे। उन्होंने अपने समाज का चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों—में सगठन कर लिया था। उनका विश्वास था कि जगत् में ऋत का साम्राज्य है। ऋत सबका नियन्त्रण करता है, और तदनुसार आचरण करने वालों को शुभ गति प्राप्त होती है। यहाँ पर मरने के पश्चात् वे स्वर्ग लोक में जाकर अमर होने की इच्छा करते थे।

वैदिक संहिताओं के युग के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों का युग आता है। ब्राह्मण काल में भी लोगों के यही उद्देश्य और ध्येय रहे जो वैदिक काल में थे पर इस समय में देवताओं को प्रसन्न करने के लिये यज्ञों का महत्व बहुत बढ़ गया था। वैदिक काल में देवताओं की प्रार्थना और उपासना मुख्य थी तो ब्राह्मण काल में यज्ञों के नाना विधान और नाना सामग्रियों पर लोगों का अधिक ध्यान था। दमन, दया और दान का भी महत्व बढ़ गया था। गेहूँ, दूध, घी और मांस के खाने का रिवाज था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्ण सुदृढ़ हो गये थे। इस जीवन को ही अधिक महत्व दिया जाता था और यहीं पर स्वस्थ रहकर पुत्र और पौत्रों के बीच में रहते हुए ही लम्बे जीवन को उस समय के लोग अमरता मानते थे और अमर होने की इच्छा रखते थे। पत्नी का बहुत महत्व था और वह घर की रानी समझी जाती थी। सभी पुत्र की कामना करते थे और पुत्रोत्पत्ति से बहुत प्रसन्न होते थे। देवताओं का (जो हमको जल, वायु, अग्नि, वर्षा आदि देते हैं) ऋण, ऋषियों का (जिन्होंने हमको वेद दिये), पितरों का (पूर्वजों का जिन्होंने हमको अच्छा कुल दिया) और मनुष्यों का (जिनके साथ हमारा नाना प्रकार का आदान-प्रदान का व्यवहार रहता है) ऋण चुकाना, हमारा कर्तव्य है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो ही आश्रम थे। ब्रह्मचारी रहकर विद्याभ्यास करते थे और गृहस्थ होकर जीवन के सुख भोगते थे। प्रत्येक गृहस्थी का धर्म था अग्निहोत्र करना और दान देना। जीवन का ध्येय यहाँ पर तथा स्वर्ग में सुख सम्पत्ति और नियन्त्रित रूप में भोग विलास ही था।

उपनिषदों के समय में भारतीय नैतिक विचारों में एक महान् क्रान्ति आई। उपनिषदों के लेखकों ने जीवन के बाहरी विषयों और सुखों से हट कर आन्तरिक निरीक्षण किया, और यह जाना कि मानव के सुख दुःख का रहस्य उसके मन में है और उसकी अपनी आत्मा, अजर, अमर, और आनन्द स्वरूप है। समस्त संसार को उत्पन्न करने वाला और चलाने वाला परमतत्व अपने पूर्ण रूप में प्रत्येक प्राणी के भीतर उसके परम आत्मा के रूप

में मौजूद है। उसको जानकर और उसमें स्थित होकर जो आनन्द प्राप्त होता है बाहर के विषयों के भोग से प्राप्त होने वाले आनन्द उसके पासंग भी नहीं हैं। उसको जानकर और उसमें स्थित होकर प्राणी को न दुःख होता है न क्षोभ और न मृत्यु का भय। उपनिषदों में जगत के परम तत्त्व की खोज है, मनुष्य के आत्म तत्त्व की भी खोज है। दोनों प्रकार की खोजों से यही ज्ञात हुआ कि आत्मा ही ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ तू भी ब्रह्म है, और सब कुछ ब्रह्म ही है। इस बात को सब प्राणी जानते नहीं। उसको जानना अर्थात् अपने असली और अन्तिम स्वरूप को जानना और अपने को वही समझना और उस दृष्टि से या उस स्तर पर अपने को स्थित करके जीवन का व्यवहार करना यही उपनिषदों का नया उपदेश है। उस विचार ने जितनी बड़ी क्रान्ति भारत में की थी शायद उतनी बड़ी क्रान्ति और किसी विचार ने अभी तक नहीं की। इस विचार ने मनुष्य के आगे एक नया आदर्श स्थापित किया एक नई आशा दिखाई, और नया जीवन मार्ग दिया। आदर्श था आत्मज्ञान और आत्मानुभूति आशा थी ब्रह्म होना और मार्ग था आत्म-निरीक्षण आत्म चिन्तन आत्म ध्यान इसके लिये मन की पवित्रता और बुद्धि की कुशाग्रता और प्रज्ञा की जागृति भी आवश्यक थी। जिनको साधना द्वारा ब्रह्मानुभव प्राप्त हो जाता था वे संसार की सभी सम्पत्तियों को इसके आगे कुछ भी नहीं समझते थे। इस लोक के चक्रवर्ती राजा का सुख और स्वर्गादि दूसरे लोकों के सुख आत्मज्ञानी के सुख के सामने हेय समझे जाने लगे। इसलिये उपनिषद् काल में जो आचार और व्यवहार आत्मज्ञान के लिये सहायक होता था वही धर्म था और जो उसका बाधक होता था वही पाप था। आत्मा के निरीक्षण विचार और ध्यान के लिये एकान्त स्थान शान्त वातावरण और अकेले रहने की आवश्यकता पड़ती थी। इस-लिये गृहस्थ के वातावरण को छोड़ वन में जाकर साधना करने का रिवाज आरम्भ हो गया था। आरम्भ काल में तो ऐसा नहीं था क्योंकि उस समय ब्रह्म विद्या में राजा लोग भी रुचि रखते थे और जनक की नाईं राजा रहते हुए भी ब्रह्मज्ञानी हो जाते थे। वन में या एकान्त स्थान में रहकर ही आत्मज्ञान का अभ्यास किया जाने लगा उसका ही नाम योग पड़ गया। उस योग की नाना क्रियायें और विधियाँ मालूम की जाने लगीं। लोगों की आत्म ज्ञान की ओर प्रवृत्ति इस कारण भी अधिक हो गई कि इसको ही कर्मचक्र के नियम के अनुसार जन्म मरण (आवागमन) के चक्र से छूटने का उपाय मान लिया गया था। उपनिषद् काल में यह विचार सुदृढ़ हो गया था कि मनुष्य अपनी सांसारिक वासनाओं और कर्मों के कारण ही परलोक में और पुनः इस लोक में बार-बार जन्म लेता है और मरता है। परलोक में भी सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मलोक समझा जाता था। अत्यन्त शुभ कर्मों द्वारा यदि ब्रह्मलोक भी प्राप्त कर लिया जाये तो वहाँ से भी पुण्यों के क्षीण होने पर लौट कर इस लोक में जन्म लेना पड़ता है। यह विश्वास दृढ़ हो गया था। इस जन्म-मरण के चक्र से जिसमें सुख दुःखों

का अनुभव होता है, मुक्त होने का उपाय केवल आत्मज्ञान ही था। वैदिक और ब्राह्मण काल की देवताओं की उपासना और उनकी प्रसन्नता के लिये यज्ञ करना इसलिये छोड दिया गया कि देवताओं की कृपा से इस लोक और स्वर्ग लोक में ही विषय भोगों का सुख मिल सकता है और आवागमन के चक्र से मुक्ति नही मिल सकती। संसार के भोग प्रिय होते हुए भी श्रेय नही हैं, क्योकि श्रेय तो मुक्ति और परमानन्द ही है जो आत्मज्ञान से प्राप्त होते हैं। आत्म ज्ञान के लिये नैतिक नियमो का पालन करना जिसमें सत्य, माता, पिता और गुरू की सेवा और ब्रह्मचर्य की प्रधानता थी, आवश्यक था। उपनिषद्काल मे वर्णव्यवस्था बहुत कडी नही थी। क्षत्रियो में भी ब्रह्म विद्या की ओर बहुत रुचि थी। बहुत से ब्राह्मण क्षत्रियो के पास जाकर ब्रह्म विद्या सीखने में कोई लज्जा नही मानते थे। सनत कुमार (क्षत्रिय) ने नारद (ब्राह्मण) को आत्मज्ञान का उपदेश दिया था। एक दासी-पुत्र सत्यकाम को भी ब्रह्मज्ञान का अधिकारी मान लिया गया था। स्त्रियो को भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का पूरा अधिकार था। पति-पत्नी दोनो ही ब्रह्मज्ञानी हो सकते थे।

भारत में कोई नई प्रवृत्ति पुरानी प्रवृत्तियो को समूल नष्ट नही कर देती, बल्कि पुरानी प्रवृत्तियाँ भी आघात के कारण जागृत होकर पुन सजीव और बलवान हो जाती हैं और पीछे चलकर दोनो का समन्वय हो जाता है। वैदिक यज्ञ और उपासनाएँ, जिनकी उपनिषदो में अवहेलना और तिरस्कार किया गया था, विरोध के कारण पुन जागृत होकर जन-जीवन में अपना स्थान पाने लगी, यद्यपि देश, काल और परिस्थितियो के कारण उनके रूप में कुछ परिवर्तन हो जाना आवश्यक था। एक नवीन समन्वय का उदय हुआ जिसमें वैदिक और ब्राह्मण कालो की यज्ञो और उपासनाओ, गृहस्थ जीवन के सुखो और प्रवृत्ति मार्ग का उपनिषद्काल के आत्मज्ञान, योग और निवृत्ति मार्ग के साथ समन्वय हुआ। लोगो के दोनो ही प्रकार से जीवन को बिताने का प्रबन्ध हो सके इस प्रकार की जीवन योजना बनाई गई। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी की प्राप्ति, भोग और सिद्धि मनुष्य-जीवन में हो सके इस प्रकार के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की कल्पना की गई। मनुष्य अपने जीवन में आवश्यक विद्याओं का उपार्जन कर सके, अपने सब ऋणो को चुका सके, सब गृहस्थ का सुख भोग सके, तप और योग कर सके, और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके जीवन-मरण के चक्र से छूट सके, ऐसे जीवन की कल्पना की गई। यह तभी सभव हो सकता था जब कि जिस समाज मे मनुष्य रहता था वह सुरक्षित सम्पन्न, सुदृढ हो और उसमें विद्वानो की और सेवको की कमी न हो। ऐसा समाज उस समय में वर्ण और आश्रम की व्यवस्थाओ के आधार पर बनाना उचित समझा गया। इसलिये उपनिषदो के ज्ञान प्रधान समय के पश्चात् भारत में धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों और स्मृतियो का युग आया। इन ग्रन्थो ने व्यक्ति के लिये जीवन के उन नियमों को निर्धारित किया जिनके

में मौजूद है। उसको जानकर और उसमें स्थित होकर जो आनन्द प्राप्त होता है बाहर के विषयों के भोग से प्राप्त होने वाले आनन्द उसके पासंग भी नहीं है। उसको जानकर और उसमें स्थित होकर प्राणी को न दुःख होता है न शोक और न मृत्यु का भय। उपनिषदों में जगत् में परम तत्त्व की खोज है, मनुष्य के आत्म तत्त्व की भी खोज है। दोनों प्रकार की खोजों से यही ज्ञात हुआ कि आत्मा ही ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ तू भी ब्रह्म है, और सब कुछ ब्रह्म ही है। इस बात को सब प्राणी जानते नहीं। उसको जानना अर्थात् अपने असली और अन्तिम स्वरूप को जानना और जगत् को यही समझना और उस दृष्टि से या उस स्तर पर अपने को स्थित करके जीवन का व्यवहार करना यही उपनिषदों का नया उपदेश है। उस विचार ने जितनी बड़ी क्रान्ति भारत में की थी शायद उतनी बड़ी क्रान्ति और किसी विचार ने अभी तक नहीं की। इस विचार ने मनुष्य के सामने एक नया आदर्श स्थापित किया एक नई आशा दिखाई, और नया जीवन मार्ग दिया। आदर्श था आत्मज्ञान और आत्मानुभूति अर्थात् ब्रह्म होना और मार्ग था आत्म-निरीक्षण आत्म-चिन्तन, आत्म-ध्यान, इसके लिये मन की पवित्रता और बुद्धि की कुशाग्रता और प्रज्ञा की जागृति भी आवश्यक थी। जिनको साधना द्वारा ब्रह्मानुभव प्राप्त हो जाता था वे संसार की सभी सम्पत्तियों को इसके आगे कुछ भी नहीं समझते थे। इस लोक के चक्रवर्ती राजा का सुख और स्वर्ग और दूसरे लोकों के सुख आत्मज्ञानी के सुख के सामने हेय समझे जाने लगे। इसलिये उपनिषद् काल में जो आचार और व्यवहार आत्मज्ञान के लिये सहायक होता था वही धर्म था और जो उसका बाधक होता था वही पाप था। आत्मा के निरीक्षण विचार और ध्यान के लिये एकान्त स्थान शान्त वातावरण और अकेले रहने की आवश्यकता पड़ती थी। इसलिये गृहस्थ के वातावरण को छोड़ वन में जाकर साधना करने का रिवाज आरम्भ हो गया था। आरम्भ काल में तो ऐसा नहीं था क्योंकि उस समय ब्रह्म विद्या में राजा लोग भी रुचि रखते थे और जनक की भाँति राजा रहते हुए भी ब्रह्मज्ञानी हो जाते थे। वन में या एकान्त स्थान में रहकर जो आत्मज्ञान का अभ्यास किया जाने लगा उसका ही नाम योग पड़ गया। उस योग की नाना क्रियायें और विधियाँ मालूम की जाने लगीं। लोगों की आत्म-ज्ञान की ओर प्रवृत्ति इस कारण भी अधिक हो गई कि इसको ही कर्मफल के नियम के अनुसार जन्म मरण (आवागमन) के चक्र से छूटने का उपाय मान लिया गया था। उपनिषद् काल में यह विचार सुदृढ़ हो गया था कि मनुष्य अपनी सांसारिक वासनाओं और कर्मों के कारण ही परलोक में और पुनः इस लोक में बार-बार जन्म लेता है और मरता है। परलोक में भी सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मलोक समझा जाता था। अत्यन्त शुभ कर्मों द्वारा यदि ब्रह्मलोक भी प्राप्त कर लिया जाय तो वहाँ से भी पुण्यों के क्षीण होने पर लौट कर इस लोक में जन्म लेना पड़ता है। यह विश्वास दृढ़ हो गया था। इस जन्म-मरण के चक्र से जिसमें सुख दुःखों

महापुरुषों ने किस-किस अवस्था और परिस्थिति में किस प्रकार धर्म का आचरण और पालन किया इसको साधारण लोगो के सामने उदाहरणो के रूप में रखने के लिये, जिसमे धर्म पालन में लोगो की प्रवृत्ति हो इतिहास ग्रन्थो की रचना हुई। रामायण और महाभारत के दो महान् इतिहास ग्रन्थ हैं। उनमें धर्म और अधर्म पर चलने वालो के अच्छे और बुरे परिणामो को दिखलाया गया है। किस किस परिस्थिति में क्या धर्म है क्या अधर्म है यह महापुरुषो के आचरण से भी और उनके अन्य लोगो के उपदेशो, विचारो और कथनो द्वारा भी दिखलाया गया है। रामायण मे राम को आदर्श महापुरुष, मर्यादा पुरुषोत्तम रूप में, महाभारत में युधिष्ठिर को धर्म पालन के रूप मे, भीष्मपितामह को व्रत पालक और धर्मोपदेशक के रूप में और व्यास जी को धर्म के व्याख्याता के रूप मे और कृष्ण को अपने समय के महान् से महान् व्यक्ति के रूप में, जिसमें सब उत्तम गुणो का अपूर्व समन्वय था, पाकर लोगों में धर्म, भक्ति और ज्ञान का किसी समय बहुत अच्छा प्रचार हुआ था। उसका प्रभाव अभी तक भारत की जनता के ऊपर अमिट रूप मे मिलता है। इतिहास ग्रन्थो में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब की साधना के उदाहरण और धर्म अधर्म के यथोचित परिणामो का वर्णन है।

रामायण और महाभारत दोनो में महापुरुषो के चरित्रो द्वारा धर्मादि चारों पुरुषार्थों का प्रतिपादन किया गया है किन्तु इन दोनो ग्रन्थो से सम्बन्धित दो बडे उच्चकोटि के आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं जिनका विशेषतया उल्लेख करना आवश्यक है। उनमें से एक तो भगवद्गीता जो महाभारत का एक भाग ही समझा जाता है और दूसरा योगवासिष्ठ जो स्वय महारामायण कहलाता है। योगवासिष्ठ में यह बतलाया गया है कि महर्षि वसिष्ठ ने कुमार रामचन्द्र को, जो पीछे चलकर मर्यादा पुरुषोत्तम राम कहलाये, और जिनका धार्मिक आचरण उच्चतम कोटि का था, वह कौन सा आध्यात्मिक उपदेश दिया था जिसने उनको आदर्श पुरुष बनाया। भगवद्गीता में श्री कृष्ण का वह आध्यात्मिक उपदेश है जो उन्होने महाभारत सग्राम छिडने के पूर्व अर्जुन को, जिसका वे सारथित्व कर रहे थे, दिया था। वह उपदेश उन्होने पूर्णतया योगस्थ होकर दिया था। ये दो ग्रन्थ भारत की अनुपम आध्यात्मिक निधि हैं। भगवदगीता का भारत में उपनिषदों से कम आदर नही है, बल्कि उसको बहुत लोग उपनिषद ही कहते हैं। योग वासिष्ठ से उच्चकोटि का आध्यात्मिक ग्रन्थ तो शायद ससार भर में कोई नहीं है। इन दोनो ग्रन्थों ने वैदिक कर्मकाण्ड और वर्णाश्रम धर्म के नियमो से जकडे हुए धर्म सूत्रो और स्मृतियो के समय के मानव को स्वतत्र किया। उपनिषदो के पश्चात इन दो ग्रन्थो ने भारतीय विचारधारा में इतनी बडी क्रान्ति की कि आज तक उसका प्रभाव भारतीय जीवन पर है और न जाने कब तक रहेगा।

भगवदगीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा कि वेदो के आदेश तो त्रिगुणात्मक

द्वारा नियंत्रित होते हुए मनुष्य को धन कमाकर जीवन के सुखों का उपभोग करना चाहिए और बुढ़ापा आने के समय गृहस्थ त्याग करके वन में जाकर योग और तपस्या करके आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और आयु के अन्तिम भाग में ब्रह्म ज्ञानी होकर स्वतंत्रता से विचरण करते हुए परमानन्द का अनुभव करना चाहिए। इसके लिये उस युग में चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ और सन्यास की व्यवस्था बनी। समाज की सुव्यवस्थित और सुदृढ़ बनाने के लिये चार वर्णों—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों—की व्यवस्था बनी। धर्म-सूत्रों धर्म शास्त्रों और स्मृतियों में इन चार वर्णों और चार आश्रमों में रहने वालों के लिए विशेष धर्मों और सभी मनुष्यों के पालन करने के लिये सामान्य धर्मों का सविस्तार वर्णन है। राजाओं के धर्म स्त्रियों के धर्म और आपत्तिकाल में आत्मरक्षा के लिये पालन किए जाने वाले धर्मों का भी वर्णन है। धर्म के विरुद्ध यदि आचरण हो जाये तो उसके इस लोक और परलोक में प्राप्त होने वाले बुरे फल से बचने के लिये तुरन्त ही क्या उपाय करना चाहिए—इस प्रकार के प्रायश्चितों का भी वर्णन है। गृहस्थ आश्रम को सब आश्रमों का आधार और उपजीव्य मानकर गृहस्थ आश्रम के पालन योग्य नियमों का विस्तार से वर्णन है। गृहस्थ के दैनिक कृत्यों पंच महायज्ञों (देवयज्ञ पितृ यज्ञ भूतयज्ञ नृयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ) तीन ऋणों (देव ऋण ऋषि ऋण और पितृ ऋण) आतिथि सत्कार का विवाह के नाना उचित अनुचित प्रकारों का पत्नी के और विधवाओं के धर्मों का सविस्तार वर्णन है। नाना प्रकार के संस्कारों का विधान है और विशेष अवसरों और उत्सवों पर क्या नैमित्तिक कर्म करने चाहिए इसका भी निर्देश है। जीवन में कोई ऐसी अवस्था नहीं और छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा ऐसा अवसर और काम नहीं जिसके लिये स्मृतियों में नियम न पाये जाय। प्रातःकाल से लेकर सोने के समय तक जीवन में किये जाने वाले कामों के लिए नियम स्मृतियों और धर्म सूत्रों में पाये जाते हैं। प्रायः सभी स्मृतियों में धर्म के सामान्य नियमों की चर्चा है और प्रायः वे ही नियम सब धर्म शास्त्रों में कुछ उलटफेर के साथ पाये जाते हैं जो मनुस्मृति में बहुत सुन्दरता से एक श्लोक में मानवमात्र के लिये सामान्य नियम बतलाये गये हैं। वे ये हैं—धृति क्षमा दम अस्तेय शौच इन्द्रिय निग्रह धी (बुद्धि का प्रयोग) विद्या (का उपार्जन) सत्य (पालन) अक्रोध। कुछ स्मृतिकारों ने दान, दया और अहिंसा को भी धर्म के लक्षणों में जोड़ना आवश्यक समझा है।

धर्म सूत्रों और स्मृतियों आदि धर्मशास्त्रों के पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय के भारतीयों का जीवन नियमों में बहुत जकड़ा हुआ था। धर्म को पालन करते हुए सब कामों को करने में ही मनुष्य अपने को धन्य समझता था और उसके सामने संसार के किसी भी अन्य पदार्थ का कुछ मूल्य नहीं समझा जाता था। यहाँ तक की धर्म पालन में अपने प्राणों तक को त्याग देना भी श्रेष्ठ समझा जाता था। उस समय में और प्राचीन काल में

करना सिखाया। वर्ण, आश्रम धर्म, आचार, और शास्त्रो की शरणता से उस प्रकार निकलने का साधन बताया जिस प्रकार कि सिंह किसी पिंजरे से मुक्त होकर निकल कर संसार में निर्भय और आनन्दपूर्वक विचरने लगता है। योगवासिष्ठ ने मन का स्वरूप और उसकी अद्भुत और अनन्त शक्तियों को वर्णनाकार अनेक उपाख्यानो और दृष्टांतो द्वारा यह बतलाया कि संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय, शरीर का निर्माण और परिवर्तन, यौवन, वृद्धत्व और मृत्यु, परलोक, सब प्रकार की सिद्धियां और बन्धन और मोक्ष सब मनुष्य के अपने मन की ही करामात है। मनुष्य अपने मन के स्वरूप को समझकर और उसको अपने वश में करके जो चाहे प्राप्त कर सकता है, जो चाहे हो सकता है। स्वर्ग, नरक, बन्धन और मोक्ष सब उसके मन के ही आधीन है। मन ही सब फलो का देने वाला है। मन ही सब कुछ सम्पादन करता है और दूसरा कोई देव या ईश्वर हमारा नियन्ता नही है। मन के क्षय मे ही मोक्ष है। मन शान्त होकर आत्मा में, जो स्वयं परमात्मा, ब्रह्म या परमतत्व है, लीन होकर मोक्ष या निर्वाण या ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति कराता है। इसलिये मनुष्य को मन को शात करने की साधना करनी चाहिये। इस ही साधना का नाम योग है। वह योग तीन प्रकार से हो सकता है। एक तत्व चिन्तन और अभ्यास से, दूसरा मन के निरोध के अभ्यास से, तीसरा प्राणो को वश में करने से। मन के विलीन होने पर जो आत्मा में स्थित होकर ससार में सर्व प्रकार का व्यवहार करता है और किसी भी कर्म के फल के बन्धन में नही आता वही पुरुष जीवनमुक्त है। जीवन्मुक्ति ही मनुष्य-जीवन का उच्चतम आदर्श है। यह आदर्श केवल पुरुषो के लिये ही नही है। स्त्रियां भी इसको प्राप्त कर सकती हैं और पुरुषो की नाईं ही जीवनमुक्त होकर ससार में विचर सकती हैं। अपने आप जीवमुक्त होकर अपने सम्बन्धी पुरुषो को भी जीवन्मुक्त बनने में सहायता दे सकती है।

भगवद्गीता और योगवासिष्ठ में भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी। आगे आने वाले सभी युगो के विचार और जीवन पर उनका अमिट प्रभाव पडा है और पड रहा है।

इतिहास युग के पश्चात भारतीय धार्मिक और नैतिक आकाश में पुराणरूपी तारे उदय होते हैं। पुराणो मे कोई नई आध्यात्मिक और नैतिक बात नही कही गई। जनता में प्रचलित पूजा-पाठ, कथा-कहानियो और रस्म और रिवाजो के साथ स्मृति और इतिहास के युग के धार्मिक विचारो और आध्यात्मिक सिद्धान्तो का सम्मिश्रण करके उनका जनता मे प्रचार किया गया था। प्रत्येक पुराण किसी न किसी धार्मिक सम्प्रदाय के विश्वासो और प्रथाओ का समर्थन और प्रचार करने के लिये लिखा गया था। पर आध्यात्मिक और नैतिक विचार सब में प्राय एक से ही होते थे। मृत्यु पश्चात् अपने कर्मों के फलो को भोगने के लिये परलोकगत स्वर्ग और नरको में जीव जाते हैं उनका और किस कर्म का क्या फल मिलता है

जीवन तक मानने उचित हैं। मनुष्य को तो नियमातीत होना चाहिए और यह भी कहा कि जो व्यक्ति त्रिगुणातीत होकर ब्राह्मी स्थिति में पहुँच जाता है उसके लिये वेदों का महत्व समुद्र के सामने एक छोटे से पोखर के समान है। वेदों और ब्राह्मणों में बताई हुई और स्मृतियों द्वारा अनुमोदित उन यज्ञों से जिनमें द्रव्यों की आहुति दी जाती है ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ होता है। गृहस्थाश्रम को त्याग कर कर्म सन्यास लेने की अपेक्षा कर्मफल की इच्छा को त्याग कर कर्मों को बराबर करते रहना ही अच्छा बताया। जंगल में वानप्रस्थी और सन्यासी जिस ध्यान योग द्वारा आत्मानुभव प्राप्त किया करते थे उसके समान ही और उससे सुगम कृष्ण ने कर्मयोग भक्तियोग और ज्ञान योग का उपदेश दिया। उनके द्वारा वही सिद्धि प्राप्त हो सकती थी जोकि ध्यान योग से प्राप्त हो सकती थी। योग शब्द का उन्होंने इतना व्यापक अर्थ बतलाया कि किसी काम को भी दक्षता और कुशलता से करना योग है। स्मृति ग्रन्थ में मुक्ति मरने के पीछे की अवस्था थी पर कृष्ण ने इस जीवन में ही प्राप्य स्थितप्रज्ञ की अवस्था को जीवन का ध्येय बताकर मनुष्य को इसी जीवन में ब्राह्मी स्थिति के प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित किया। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि भगवद्गीता में मानव को इसी जीवन में उच्च से उच्च आध्यात्मिक सिद्धि को प्राप्त करने का मार्ग बतलाकर जन्म मरण के चक्र और कर्मों के अवश्यम्भावी फलों से बचने का मार्ग बतलाया। कर्मों के बाहरी रूप को कोई महत्व न देकर गीता में भी कृष्ण ने यह बतलाया कि कर्म स्वयं किसी बन्धन का कारण नहीं है। उनके पीछे जो इच्छा अभिलाषा और आसक्ति है वे बन्धन और फलभोग कारण हैं। सब लोगों को मारकर भी मारने वाला किसी पाप का भागी नहीं होता और किसी काम को न करके भी केवल मन में उसका संकल्प करने वाला कर्मफल के बन्धन में पड़ जाता है। भगवद्गीता ने सभी वस्तुओं और कर्मों के सात्विक राजस और तामस रूपों को बतलाकर सात्विक रूपों को ग्रहण करने और उनसे ही सम्बन्ध रखने का उपदेश देकर मनुष्य के आगे एक नवीन सुधार रक्खा। वर्ण व्यवस्था का आधार गुण और कर्म बतलाकर कृष्ण ने जन्म से वर्णों को मानने के महत्व को कम किया और स्वधर्म को निष्काम भाव से भगवान् को प्रसन्न करने की बुद्धि से करने का और ऐसा करने से परलोक में माने जाने वाले पाप और पुण्य के फलों के डर से मनुष्य को सदा के लिये मुक्त होने का उपदेश दिया। दैवी और आसुरी प्रकृतियों में भेद बतलाकर और अर्जुन को यह आश्वासन दिलाकर कि भगवान आसुरी प्रकृति वालों को सदा दण्ड देते रहते हैं मानव मात्र को दैवी जीवन के लिये प्रोत्साहित किया। भगवद्गीता वास्तव में एक महान् अपूर्व और अपने समय के लिये एक क्रान्तिकारी ग्रन्थ था। आज भी उसका बहुत बड़ा महत्व है।

योगवासिष्ठ तो भगवद्गीता से भी बहुत सी बातों में आगे बढ़ा। उसने मानव को अपने पैर पर खड़ा होना सिखाया अपनी स्वतन्त्र बुद्धि के द्वारा युक्तिपूर्ण विचार

का जोवन नैतिक नियमो से नियन्त्रित हो, उसके हृदय में सांसारिक विषय भोगो के प्रति राग न हो। उसके मन में काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद और मात्सर्य आदि की जहाँ तक हो सके कमी हो। अर्थात् नैतिक पवित्रता, (शुद्ध धार्मिक) (नैतिक जीवन) सभी साधनाओं का आवश्यक अग है।

केवल एक चार्वाक दर्शन ऐसा है जो इन छओ वातो मे से किसी को भी नही मानता। उसके अनुसार मनुष्य में भौतिक शरीर के अतिरिक्त और कोई सत्ता नही है। पचभूतो से बना हुआ शरीर ही मनुष्य है। यही मनुष्य की आत्मा है। जन्म से इसका आरम्भ होता है और मरने पर अन्त हो जाता है। मरने के पश्चात् न कोई जीवन है और न कही आना-जाना है। शरीर की उत्पत्ति से पूर्व भी कोई जीवन नही था और न कोई कही से आया था। जबकि मृत्यु के पश्चात् जीवन नही है और उत्पत्ति से पूर्व भी कोई जीवन नही था तो लोक लोकान्तरो से आने और वहाँ जाने की कोई बात ही नही, और यहाँ या वहाँ पूर्व जन्मो के कर्मो के फल भोगने का कोई प्रश्न ही नही। जब शरीर ही मनुष्य है और इसकी उत्पत्ति और मरण ही उसकी उत्पत्ति और नाश हैं तो बन्धन और मोक्ष का भी कोई अर्थ ही नही। अतएव मनुष्य का कर्त्तव्य इसके सिवाय और कुछ नहीं है कि वह इस ससार के अधिक से अधिक सुखो की प्राप्ति का और दु खो से बचने का प्रयत्न करता रहे। किसी भी सुख की अवहेलना न करे। मरने के पीछे किसी कर्म का फल तो भोगना ही नही इसलिये इस बात का कोई डर नही है कि मरने के पीछे नरकादि में कोई दण्ड मिलेगा। यही पर राज्य से जो दण्ड मिले वही दण्ड है। स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म और कर्म-फल नियम और मुक्ति में मिथ्या विश्वास करने वालो ने जो धार्मिक आचरण के नियम बना रक्खे हैं वे सब व्यर्थ हैं। वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था की कोई आवश्यकता नही है। गुरू शिष्य का भेद व्यर्थ है। अर्थ और काम ये ही दो जीवन के पुरुषार्थ हैं। कामोपभोग करने में किसी प्रकार का बन्धन और नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। सभी स्त्री और पुरुषो में कामोपभोग की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। स्वदार और परदार में कोई भेद नही होना चाहिए। जो पुरुष काम से पीडित और विह्वल स्त्री का, चाहे वह किसी की भी पत्नी हो, तिरस्कार और त्याग करता है वही ब्रह्मघाती समझा जाना चाहिए। सक्षेप में 'खाओ पियो और मौज उडाओ' यही चार्वाक मत के अनुयायियो का नैतिक दर्शन था।

आस्तिक दर्शनो में वैशिपक दर्शन का सिद्धान्त यह है मनुष्य के जीवन का उद्देश्य अभ्युदय और नि श्रेयस दोनो ही होने चाहिए। अभ्युदय का अर्थ है सासारिक सुख और उन्नति और नि श्रेयस का अर्थ है मोक्ष प्राप्ति। जो साधन इन दोनो को प्राप्त कराते हैं उन्ही को धर्म कहते हैं। वेद विहित शुभ कर्म (जिनका फल अच्छा होता है) यज्ञ, उपासना

इसका पुराणों में बहुत विस्तार से वर्णन पाया जाता है। नाना प्रकार के स्वर्गों और नरकों का वर्णन है। हाँ एक बात जो पुराणों में विशेषत पाई जाती है वह यह है कि अपने अपने इष्ट देवता की पूजा और भक्ति से उत्तम से उत्तम लोक यहाँ तक कि मोक्ष तक प्राप्त हो जाता है। वर्ण-व्यवस्था जन्म से मानी जाती थी और गी और ब्राह्मण का महत्व बहुत बढ़ गया था। जन्म से ब्राह्मणों की पूजा केवल ब्राह्मण मात्र होने से होने लगी थी।

उपनिषदों महाभारत और योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थों के पढ़ने से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि भारत में विचार स्वातन्त्र्य पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। जीवन की सभी समस्याओं पर स्वतन्त्रता से विचार किया जाता था और अनेक प्रकार के मत देश में प्रचलित थे। जीवन और संसार के वास्तविक स्वरूप और अन्तिम तत्वों के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता से बुद्धि और तर्क के आधार पर विचार करके किसी निश्चय पर आने का नाम भारत में दर्शन पड़ गया था। भारत में अनेक दर्शनों (दृष्टिकोणों) ने जन्म लिया और सभी पूर्ण स्वतन्त्रता के वातावरण में पनपे। उनमें से जो अधिक प्रसिद्ध हैं उनका वर्गीकरण आस्तिक और नास्तिक दो विभागों में किया जाता है। आस्तिक दर्शन वे हैं जिन्होंने वेदों (संहिता ब्राह्मण और उपनिषद्) के ज्ञान को अन्तिम प्रमाण माना है और नास्तिक दर्शन वे हैं जिन्होंने वेदों को प्रमाण नहीं माना। चार्वाक दर्शन बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन नास्तिक दर्शन हैं, और न्याय वैशेषिक सांख्य योग कर्म मीमांसा और वेदान्त ये आस्तिक दर्शन हैं। प्रमाण जीव ईश्वर, प्रकृति सृष्टि क्रम, मोक्ष और मुक्ति के साधनों के विषय में इन सभी दर्शनों का मतभेद है। अतएव उनके धार्मिक और नैतिक विचारों में भी कुछ न कुछ मतभेद है ही। फिर भी उतना नहीं है जितना हो सकता था। इसका कारण यह है कि एक चार्वाक दर्शन को छोड़कर प्राय सभी दर्शन ये छ बातें अवश्य ही मानते हैं— (१) मनुष्य भौतिक शरीर मात्र ही नहीं है। (२) शरीर के नाश हो जाने पर मनुष्य का अन्त नहीं हो जाता। भौतिक शरीर के जन्म से पूर्व और इसकी मृत्यु के पश्चात् भी प्राणी का अस्तित्व रहता है। (३) अनेक (कम से कम चौरासी लाख) योनियों में प्राणी इस लोक और इसके अतिरिक्त और अनेक लोकों में जन्म और मरण का अनुभव करता हुआ संसार चक्र में रहता है। (४) सबको गति उनके बुरे भले कर्मों के अनुसार होती है। सभी प्राणियों को अपने किये हुए भले बुरे कर्मों का भोगना पड़ता है। (५) इस संसार चक्र से जिसमें जन्म मरण सुख दुःख बुढ़ापा और रोग आदि का साम्राज्य है मुक्ति मिल सकती है और प्राणी सदा के लिये या बहुत काल के लिये जन्म मरण और उनके कारण होने वाले दुःखों से सर्वथा निवृत्त हो सकता है और अपने स्वरूप में स्थित होकर अत्यन्त दुःख निवृत्ति या परम सुख की प्राप्ति का अनुभव कर सकता है। (६) इस मोक्ष को प्राप्त करने के भिन्न-भिन्न साधन होते हुए भी सभी साधनों में यह बात सर्वमान्य है कि साधक

जीवन्मुक्त के रूप में संसार में रहता है।

योग दर्शन में प्रकृति और पुरुष में विवेक करके मुक्त होने की एक मनोवैज्ञानिक साधनों की योजना बनाई गई है, जिसको अष्टांग योग कहते हैं। वे साधन जिनका अभ्यास करके बुद्धि पुरुष के वास्तविक रूप का साक्षात् कराती है और अन्त में अपने आप भी विलीन हो जाती है ये हैं (योग में बुद्धि के बजाय चित्त शब्द का अधिक प्रयोग किया गया है) यम, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, नियम, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश प्राणिधान, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। समाधि की उस अवस्था में जबकि चित्त पुरुष के साथ तदाकार होकर विलीन हो जाता है मनुष्य को अपनी आत्मा का ज्ञान और उसमे अवस्थिति प्राप्त होती है। इसी से जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त होती है।

पूर्व मीमांसा वैदिक कर्मकाण्ड की ओर कर्म काण्ड सम्बन्धी वैदिक साहित्य की तार्किक और दार्शनिक व्याख्या है इसके अनुसार नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित आदि शुभ कर्मों के करने से मनुष्य को सद्गति और अत्यन्त दुःख निवृत्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

वेदान्त दर्शन उपनिषदों के अनेक स्थानों पर अनेक विचारों की क्रमिक, तार्किक और दार्शनिक व्याख्या है। कोई नया दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादन करना इसका ध्येय नहीं है। इस दर्शन के अनेक व्याख्याता हुये हैं जिनके अनेक मत हैं यथा अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, अचिन्त्य भेदाभेदवाद और द्वैतवाद अथवा भेदवाद हैं। इनमें सबसे अधिक प्रभावशाली शंकराचार्य का अद्वैतवाद है। अद्वैतवाद के अनुसार साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति ही वेदान्त शास्त्र के अध्ययन और अभ्यास का अधिकारी है। साधन चतुष्टय में अनेक नैतिक गुणों का समावेश है। साधन चतुष्टय यह है—१—विवेक, २—वैराग्य, ३—षट् सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान) और ४—मुमुक्षा या जिज्ञासा। इन साधनों से सपन्न व्यक्ति गुरु के पास जाकर आत्मा के स्वरूप को सुनता है, उस पर मनन करता है, उसका ध्यान करता है और अन्त में उसका दर्शन करता है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप का, जो कि पूर्ण ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, ज्ञान प्राप्त करके सब बन्धनों से मुक्त होकर ब्राह्मी स्थिति में आरूढ होकर मुक्त हो जाता है। यावज्जीवन जीवन्मुक्त रहकर शरीर के कालग्रस्त हो जाने पर ब्रह्मरूप में विलीन हो जाता है, और सदा के लिये जन्म-मरण और कर्मफलों के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

नास्तिक दर्शनों में चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त जैन और बौद्ध दर्शन हैं। इन दोनों दर्शनों की समानता इस बात में है कि ये वेदों को धर्म का प्रमाण नहीं मानते। ये दोनों

आदि और नित्य नैमित्तिक शुभ कर्मों के द्वारा मनुष्य का इस लोक और परलोक में अभ्युदय होता है और पदार्थों के ज्ञान से और निवृत्यात्मक कर्मों के करने से निःश्रेयस अर्थात मोक्ष या अपवर्ग की प्राप्ति होती है।

न्यायदर्शन के अनुसार अपवर्ग (जीवन मरण से चरम विमुक्ति) ही मनुष्य का सर्वोत्तम उपादेय है। उसकी प्राप्ति प्रमाण और प्रमेय के यथार्थ ज्ञान से होती है। वह कैसे? प्रमाण और प्रमेयों के ज्ञान से अज्ञान और मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होती है। मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति से दोष की निवृत्ति होती है। दोषों की निवृत्ति से सांसारिक प्रवृत्ति की निवृत्ति होती है। और जन्म मरण देने वाले कर्म नहीं किए जाते। जन्म मरण की संभावना के समाप्त होने पर दुःख का अभाव होकर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है। दुःख का अत्यन्त अभाव ही मुक्ति है। न्याय के अनुसार चित्त की शुद्धि मोक्ष प्राप्त करने के लिये बहुत आवश्यक है और वह बिना धार्मिक आचरण और आत्म-संयम के नहीं होती।

सांख्य दर्शन के अनुसार मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा ध्येय कैवल्य प्राप्ति है। मनुष्य का आत्मा जिसको सांख्य में पुरुष कहते हैं चिन्मात्र सत्ता है जोकि शरीर इन्द्रियों मन अहंकार बुद्धि आदि प्रकृति के विकारों से सर्वथा भिन्न है। वह अविवेक के कारण उनके विकारों और उनमें होने वाले दुःख सुखों को स्वगत समझने लगता है। इसलिये कर्मों का कर्ता अपने को मानकर वह संसार चक्र में फँसा रहता है। मनुष्य को चाहिए कि ज्ञान और विचार के द्वारा अपने चिन्मात्र पुरुष स्वरूप को प्रकृति और उसके विकारों से पृथक समझ कर वह केवल पुरुष स्वरूप में स्थित हो जावे। ऐसा करने पर वह प्रकृतिजन्य विकारों से असंस्पृष्ट रहकर अपने चिन्मात्र स्वरूप में स्थित रह सकता। यह विवेक आध्यात्मिक शक्ति और विशेषतः बुद्धि की शुद्धि से उत्पन्न होता है। बुद्धि की शुद्धि के लिये शुद्धि नैतिक जीवन की आवश्यकता है। मनुष्य में आठ प्रकार के संस्कार होते हैं। वे ये हैं—धर्म अधर्म वैराग्य अवैराग्य ऐश्वर्य अनैश्वर्य ज्ञान और अज्ञान। इनमें चार (अधर्म अनैश्वर्य अवैराग्य और अज्ञान) बन्धन देने वाले और चार (धर्म वैराग्य ऐश्वर्य और ज्ञान) उन्नति देने वाले हैं। धर्म का आचरण मृत्यु के पीछे ऊपर की ओर स्वर्ग को ले जाता है। अधर्म का आचरण नीचे के लोकों नरकादि में ले जाता है। ज्ञान से मुक्ति और अज्ञान से बन्धन मिलता है। वैराग्य से प्रकृतिलय नामक एक अवस्था प्राप्त होती है जो मोक्ष से कुछ नीची कोटि की है। अवैराग्य से संसार में जन्म-मरण की परम्परा चलती रहती है। ऐश्वर्य से वस्तुओं के ऊपर प्रभुता प्राप्त होती है और अनैश्वर्य से घर्षित होता। मुक्ति का अन्तिम साधन पुरुष और प्रकृति में अविवेक दूर कर देना है। अविवेक के द्वारा मुक्त हो जाने पर पुरुष अपने चिन्मात्र स्वरूप में स्थित होकर सब कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर

जीवन्मुक्त के रूप में संसार में रहना है।

योग दर्शन में प्रकृति और पुरुष में विवेक करके मुक्त होने की एक मनोवैज्ञानिक साधनों की योजना बताई गई है, जिसको अष्टांग योग कहते हैं। ये साधन जिनका अभ्यास करने से बुद्धि पुरुष के वास्तविक रूप का साक्षात्कार कराती है और अन्त में अपने आप भी विलीन हो जाती है ये हैं (योग में बुद्धि के बजाय चित्त शब्द का अधिक प्रयोग किया गया है) यम, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, नियम, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। समाधि की उस अवस्था में जबकि चित्त पुरुष के साथ तदाकार होकर विलीन हो जाता है मनुष्य को अपनी आत्मा का ज्ञान और उसमें अवस्थिति प्राप्त होती है। इसी से जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त होती है।

पूर्व मीमांसा वैदिक कर्मकाण्ड की और कर्म काण्ड सम्बन्धी वैदिक साहित्य की तार्किक और दार्शनिक व्याख्या है इसके अनुसार नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित आदि शुभ कर्मों के करने से मनुष्य को सद्गति और अत्यन्त दुःख निवृत्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

वेदान्त दर्शन उपनिषदों के अनेक स्थानों पर अनेक विचारों की क्रमिक, तार्किक और दार्शनिक व्याख्या है। कोई नया दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादन करना इसका ध्येय नहीं है। इस दर्शन के अनेक व्याख्याता हुये हैं जिनके अनेक मत हैं यथा अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, अचिन्त्य भेदाभेदवाद और द्वैतवाद अथवा भेदवाद हैं। इनमें सबसे अधिक प्रभावशाली शंकराचार्य का अद्वैतवाद है। अद्वैतवाद के अनुसार साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति ही वेदान्त शास्त्र के अध्ययन और अभ्यास का अधिकारी है। साधन चतुष्टय में अनेक नैतिक गुणों का समावेश है। साधन चतुष्टय यह है—१—विवेक, २—वैराग्य, ३—षट् सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान) और ४—मुमुक्षा या जिज्ञासा। इन साधनों से सम्पन्न व्यक्ति गुरु के पास जाकर आत्मा के स्वरूप को सुनता है, उस पर मनन करता है, उसका ध्यान करता है और अन्त में उसका दर्शन करता है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप का, जो कि पूर्ण ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, ज्ञान प्राप्त करके सब बन्धनों से मुक्त होकर ब्राह्मी स्थिति में आरूढ़ होकर मुक्त हो जाता है। यावज्जीवन जीवन्मुक्त रहकर शरीर के कालग्रस्त हो जाने पर ब्रह्मरूप में विलीन हो जाता है, और सदा के लिये जन्म-मरण और कर्मफलों के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

नास्तिक दर्शनों में चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त जैन और बौद्ध दर्शन हैं। इन दोनों दर्शनों की समानता इस बात में है कि ये वेदों को धर्म का प्रमाण नहीं मानते। ये दोनों

ईश्वर को सृष्टिकर्ता भी नहीं मानते। मनुष्य अपने पुरुषार्थ और अपनी तपस्या और ध्यानादि क्रियाओं से ही सद्‌गति पाता है।

जैन दर्शन के अनुसार सम्यक दर्शन सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र मोक्ष के साधन हैं। आत्मा का वास्तविक ज्ञान होना ही सम्यक ज्ञान है। आत्मज्ञान पर आरूढ़ होना ही सम्यक दर्शन है और तदनुसार व्यवहार करना ही सम्यक चरित्र है। जैन धर्म-विदों ने सम्यक चरित्र की अपने ग्रन्थों में बहुत विस्तृत व्याख्या की है और उसकी पूरी योजना बनाई है।

नैतिक आचरण इन नियमों पर आधारित होना चाहिए—अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। उन्होंने श्रावक और मुनि दो प्रकार के साधक बताकर दोनों के लिये साधना के नियमों और व्रतों की अलग-अलग योजनाएँ बनाईं।

बौद्ध दर्शन चार्वाक दर्शन को छोड़कर और सब आस्तिक और नास्तिक दर्शनों से इस बात में भिन्न है कि वह आत्मा को वास्तविक नहीं मानता और उसका मोक्ष किसी विशेष आत्म स्वरूप में स्थिति प्राप्त कर लेना नहीं है बल्कि शून्य में विलीन होकर सब दुःखों और रागों से निवृत्त हो जाना है। बुद्ध ने अपने प्रवचनों में बताया कि जीवन में दुःख ही दुःख है। दुःख का कारण है और उस कारण के दूर करने से दुःख से छुटकारा हो जाता है। दुःख का कारण हमारी अविद्याजनित तृष्णा अर्थात् विषयों के भोगों की लालसा है। इस लालसा को क्रमशः मिटाने के लिये बुद्ध ने अष्टांगी आर्य मार्ग का उपदेश दिया। अष्टांगी आर्य मार्ग के अंग ये हैं—१—सम्यक दृष्टि—दुराचार और सदाचार में भेद करना और हिंसा चोरी काम की प्रबलता ये शरीर के दुराचार हैं। झूठ बोलना चुगली करना कठोर वचन बोलना व्यर्थ वार्तालाप करना ये वाणी के दुराचार हैं। लोभ क्रोध और मिथ्या ज्ञान ये मन के दुराचार हैं। दुराचारों से बचकर जीवन के तत्वों पर विचार करके ठीक मत बनाना ही सम्यक दृष्टि है। २—सम्यक संकल्प—कर्मों का लय नहीं होना और विचार रहित होना। ३—सम्यक वाणी—सत्य और प्रिय वाणी बोलना। व्यर्थ बकवास न करना। ४—सम्यक कर्मान्त—दुराचारों को छोड़कर सदाचार का पालन करना। हिंसा, चोरी परस्त्री गमन मिथ्याचार आदि दुराचार हैं इनको छोड़ कर अच्छा आचरण करना। ५—सम्यक आजीविका —धर्म कर्मों द्वारा पैसा कमाना। ६—सम्यक व्यायाम—अच्छे-अच्छे गुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना। ७—सम्यक स्मृति—शरीर मन आदि के स्वरूप के ऊपर सदा विचार करते रहना। ८—सम्यक समाधि—चित्त को एकाग्र करना और रागों अच्छे-अच्छे गुणों, निर्वैर निर्लोभ मैत्री, करुणा मुदिता और उपेक्षा आदि के ऊपर ध्यान करके उनको अपने मन में लाना।

बुद्ध ने ४५ वर्ष तक पैदल यात्रा करते हुए अपने नैतिक सिद्धान्तों का और दूसरे

शब्दो मे भारतीय नैतिक ग्रन्थो में सामान्य धर्म के नाम से प्रचलित थे, उपदेश किया और भारतीय जनता ने उनको ग्रहण किया। भारत में शान्ति और मैत्री का वातावरण फैल गया। यहाँ तक कि राजाओ ने भी बुद्ध के बतलाये हुए अहिंसा, मैत्री और शान्ति के पथ पर चलना सीखा। अशोक विजय के लिये लड़ाई के पथ को छोड़कर बुद्ध के अनुयायी हो गये और उनके उपदेशो का प्रचार उन्होंने जहाँ-तहाँ जिस-तिस प्रकार से किया। उनके शिलालेखो से ज्ञात होता है कि वे कितने शान्तिप्रिय हो गये थे। बुद्ध के नैतिक उपदेश तो उनके सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थो मे भरे पड़े हैं, पर एक छोटा सा ग्रन्थ धम्मपद है जो बौद्ध के अनुयायी बड़े चाव से पढ़ते हैं। उसमे उनके नैतिक उपदेशो का सुन्दर संग्रह है। उसमें बुद्ध ने उच्चकोटि के नैतिक गुणो का उपदेश दिया है। उसकी जो विशेष बात सब को याद रखनी चाहिए यह है कि वैर का बदला कभी वैर से नहीं चुकाना चाहिए। वैर का बदला मनुष्य को निर्वैर प्रेम से देना चाहिए, वैर वैर से शान्त नहीं होता, निर्वैर से होता है।

जैनो और बौद्धो दोनो ने ही वैराग्य, अहिंसा और निर्वैर का भारत में इतना प्रचार किया था कि दूसरे मत वालो ने भी अपने नैतिक उपदेशो और आचरण में वैराग्य, अहिंसा और निर्वैर का पूरा समावेश किया और इनका अधिक से अधिक प्रचार होकर भारत की जनता शान्तिप्रिय जनता बन गई। शान्ति के युग मे यहाँ विज्ञान, कला और साहित्यादि में तो बहुत उन्नति हुई पर इनके दो भयंकर परिणाम भी भारत को भुगतने पड़े। एक परिणाम तो यह हुआ कि समाज में जो आसुरी प्रकृति के लोग थे वे उद्दण्ड हो गये, वे नाना प्रकार से सज्जन और शान्तिप्रिय लोगो को सताने लगे। दूसरा यह परिणाम हुआ कि विदेशियो ने भारत पर आक्रमण पीछे आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। भारत में लड़कर उनको भगा देने की शक्ति ही न रही।

यही कारण है कि बौद्ध काल के पीछे के भारतीय नीतिज्ञो ने पुरानी चाल के धर्मोपदेशो को छोड़कर नये प्रकार के नीति ग्रन्थ की रचना की—जैसे शुक्र नीति, चाणक्य नीति, कामन्दकीय नीति और नीतिशतक आदि। इन ग्रन्थो में नीति शास्त्र धर्म शास्त्र न रहकर जीवन कला शास्त्र बन गया। इनमें मनुष्य के वास्तविक स्वभाव, दुष्टो के स्वभाव, स्त्रियो के स्वभाव, साम, दाम, दण्ड, भेद आदि नाना प्रकार के शत्रुओ और मित्रो के साथ व्यवहार, आत्मरक्षा के महत्व और उसके लिये नाना प्रकार के उपाय, धोखा देना, मित्रो का संगठन करना, धन की आवश्यकता और महत्ता, शठो के प्रति शठता के व्यवहार आदि की भी चर्चा मिलती है। आत्मरक्षा अथवा अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिये कूटनीति की भी आवश्यकता बतलाई गई है। इस युग की नीति ने भी, यद्यपि यह अधिकतर राजनीति और कूटनीति का रूप धारण कर गई, भारतीय जीवन के उच्चतम आदर्शों को नही छोड़ा था। आत्मज्ञान की महत्ता, सदाचार और शील, सत्य और मधुरवाणी, परोपकार, दया

और दान आदि सद्गुणों की प्रशंसा इस युग के सभी नीति ग्रन्थों में पाई जाती थी। इस युग का नीति साहित्य वास्तव में एक उन्नत किन्तु अशान्त समाज का साहित्य है। इस युग में भारतीय जीवन अपने पथ प्रवर्तक के आध्यात्मिक आदर्शों पर तो चलना चाहता था किन्तु समाज में अधिक धूर्तता फैल जाने के कारण यह संभव नहीं था। धूर्तता तो यहाँ तक फैल गई थी कि गेरुवे वस्त्र धारण किये हुए बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ भी चोरी और कुट्टनियों का काम करने लगे थे। यन्त्र मन्त्र तन्त्र आदि के द्वारा मोहन मारण उच्चाटन आदि अनेक विधियों से धोखा देकर दूसरों के प्राण धन और स्त्रियों का हरने के काम करने वालों की सहायता करने लगे थे। बड़े-बड़े छल-कपट से लोग दूसरों की सम्पत्ति को अपना लेते थे। इसलिये ही इन सब नीति शास्त्रों में कहा गया है कि किसी में भी विश्वास नहीं करना चाहिए, सदा सजग रहना चाहिए। पंचतन्त्र और हितोपदेश में इसी प्रकार की नीति के उपदेशों का संग्रह है और मनुष्य पशु-पक्षियों की कहानियों द्वारा उनको जनता के मन में बैठाया गया है। चाहे ये नीति ग्रन्थ उच्च नैतिक और धार्मिक न हों तो भी ये जीवन रक्षा विधान के लिये सनातन महत्व के ग्रन्थ हैं।

इस्लाम के उदय होने से पूर्व बाहर से भारत पर आक्रमण करके जितनी जातियाँ भारत में आईं वे सब तो भारतीय धर्म और संस्कृति से प्रभावित होकर भारतीय बन गईं, यहाँ तक कि उन्होंने भारतीय वर्ण व्यवस्था तक को मानकर अपने को भारतीयों में सम्मिलित कर लिया और भारतीय और हिन्दू कहलाने में अपने को धन्य समझा। किन्तु दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों में जिन लोगों ने भारत के ऊपर हमले किये और भारत के धन को लूट कर ले गये वे केवल धन और राज्य और सुन्दर स्त्रियों के ही लोलुप नहीं थे। उनका उद्देश्य अपने धर्म और संस्कृति का प्रचार करना और इस देश के वासियों को मुसलमान बनाना भी था। एक नवजात धर्म (मजहब) के अनुयायी होने के कारण और यह विश्वास होने के कारण कि उनका धर्म ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है और उस धर्म का प्रचार करने से और दूसरों को धर्म को मनवाने से पुण्य प्राप्ति और तदनुसार मरने के पीछे स्वर्ग प्राप्ति होती है, मुसलमानी आक्रमणकारियों में बहुत उत्साह था। उनमें संगठन भी था। भारत के मन्दिरों और राजगृहों से बहुत धन संपत्ति जवाहरात और सुन्दर स्त्रियों के मिलने की तृष्णा और आशा से प्रेरित होने के कारण मुसलमान आक्रमणकारियों में असामान्य साहस था। उनमें आपस में बहुत मेल था। मरने-मारने में उनको झिझक नहीं थी। छल से हो या बल से शत्रु को परास्त करना उनका उद्देश्य था। भारतीय जनता में अनेक जातियों के होने के कारण और किसी देश पर विजय प्राप्त करने की आकांक्षा न होने के कारण अहिंसा दया निर्वैर और मानव मात्र के कल्याण की भावना रक्त में समाये रहने के कारण भारतीय जनता आक्रमणकारियों और तलवार के बल पर मुसलमान बनाने वालों

का मुकावला न कर सकी। क्या-क्या हुआ, कितनी लूट-मार हुई, कितनी सम्पत्ति भारत मे वाहर ले जाई गई, कितने व्यक्तियो का कत्ल हुआ। कितनो स्त्रियो के साथ वलात्कार हुआ, कितनी भगाकर ले जाई गई, कितनी विदेशी वाजारो मे वेची गई, किस प्रकार भय दिखाकर वलपूर्वक धर्म परिवर्तन कराया गया और न करने पर कितने लोग मारे गये, ये वाते मध्यकालीन भारत के इतिहास के विद्यार्थियो को विदित ही है।

इसका दोप केवल विदेशी आक्रमणकारियो के ऊपर आरोपित करना हमारे देशवासियो की भूल होगी। हमारे अपने ही दोषो के कारण हमारे अन्दर कमजोरियाँ आ गई थी। ससार और जीवन के प्रति अत्यन्त वैराग्य और उदासीनता, अहिंसा मे अत्यधिक विश्वास, और अनन्त जातियो का होना, शूद्र जातियो के प्रति घृणा, मन्दिरो मे मूर्तियो के ऊपर अधिक से अधिक मूल्यवान गहना और वस्त्रो का चढाना, और वही धन का एकत्रित करना, मन्दिरो की रक्षा करने के लिये कोई विशेष फौजी प्रवन्ध न रखना, गौओ को मनुष्यो से अधिक पवित्र समझकर उनकी रक्षा के निमित्त पीछे खडी हुई दुश्मन की फौजो पर हमला न करना, क्षत्रियो के अतिरिक्त और जातियो को किसी प्रकार की फौजी शिक्षा न मिलना, क्षत्रियो के अतिरिक्त और जातियो को लडने से भय होना, अनेक छोटे-छोटे राज्यो का होना, आदि अनेक वाते थी जिनके कारण भारत से वाहर के लोगो को भारत के ऊपर, जो उस समय पृथ्वी मण्डल पर सवसे अधिक धनी देश था, आक्रमण करने का प्रलोभन होना एक स्वाभाविक वात थी और विशेषत उन लोगो के लिये जिनके धार्मिक सिद्धान्त हिन्दू, वौद्ध और जैन सिद्धान्तो के सर्वथा विरुद्ध थे।

जो होना था हुआ और भारत पर मुसलमानी शासन स्थापित हो गया। इस्लामी सस्कृति और धर्म का प्रभाव भारतीय धर्म और सस्कृति पर और भारतीय धर्म और सस्कृति का प्रभाव इस्लामी धर्म और सस्कृति पर पडने लगा। समझदार व्यक्तियो ने दोनो मे मेल मिलाप कराने का प्रयत्न भी किया। दोनो मे ऐसे महापुरुष भी पैदा हो गये जिन्होने दोनो से ऊपर उठकर दोनो के दोष और गुणो को जानकर ऐसा धार्मिक और नैतिक विचारो का उपदेश दिया जिससे दोनो मे वैमनस्य घटे और प्रेम वढे। मध्यकालीन भारत मे इस कोटि के अनेक सन्त और महात्मा हो गये है जिन्होने हिन्दू मुसलमान के भेदो से ऊपर उठकर दोनो को समान रूप से देखा, प्यार किया और दोनो को मेल से रहने का उपदेश दिया। इन्होने एक निर्गुण निराकार ईश्वर की भक्ति, जाति-पाँति के भेदभाव का निराकरण, मूर्ति पूजा की निरर्थकता, और आडम्वरो वाली पूजा-पाठ, यज्ञ आदि को न करने का उपदेश दिया। इनमे कवीर, नानक, दादू, रैदास आदि अनेक महात्माओ की वाणियाँ आज भी वहुत प्रेम से पढी और गाई जाती है।

मध्यकाल मे कुछ महात्मा ऐसे भी हुए जिन्होने वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत,

पुराण आदि शास्त्रों में प्रतिपादित हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का पुनरुद्धार और प्रचार करने के लिये उस समय की भाषा में काव्य लिखना आरम्भ किया। इनमें सबसे उत्तम और अमर काव्य सन्त तुलसीदास का रामचरित मानस है। उसमें हिन्दू धर्म के सभी सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय मिलता है। इस ग्रन्थ से साधारण जनता में भारतीय संस्कृति का जितना प्रचार हुआ उतना किसी दूसरे से नहीं हुआ।

कुछ समय पश्चात् मुसलमान भी हिन्दुओं की भाँति कमजोर पड़ गए और आपस में लड़ भिड़कर अपनी सत्ता खो बैठे। योरप के लोगों ने अपनी बुद्धिमत्ता, कुशलता और हथियारों के बल से भारत को अपने आधीन कर लिया। अंग्रेजों के भारत में आने पर यहाँ पर ईसाई मत का बहुत यत्न के साथ प्रचार होना आरम्भ हुआ। ईसाइयों ने तलवार के बल पर तो ईसाई धर्म का प्रचार नहीं किया किन्तु नाना प्रकार के प्रलोभनों के बल पर अवश्य किया। भारत की अनेक शूद्र जातियों ने जिनको यहाँ पर अछूत समझा जाता था और जो बहुत दीन और हीन दशा में रहती थीं ईसाई बनकर अछूतता, दीनता और हीनता से मुक्ति पाई। ऐसा ऐसी बहुत अछूत शूद्र ईसाई बन गये। अंग्रेजी राज्य के आरम्भ काल में कुछ अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग भी बड़ी नौकरियों के और सुसज्जित रहने वाली ईसाई कन्याओं के साथ विवाह करने के प्रलोभन में आकर अथवा ईसामसीह के उच्च नैतिक उपदेशों से प्रभावित होकर तथा हिन्दुओं की कुछ घृणित प्रथाओं—सती, वैधव्य बाल विवाह, जाति-पाँति के भेद जिनके कारण खान-पान और विवाहादि सम्बन्धों पर रोक थी मूर्तिपूजा आदि से ऊबकर ईसाई हो गये थे और होते जा रहे थे। यहाँ तक कि राम मोहन राय और केशव चन्द्र सेन जैसे भारतीय विद्वान् भी ईसाई मत के बड़े भक्त हो गए थे।

भारतीय संस्कृति की आत्मा एक बार फिर जगी और यह उन्नीसवीं शताब्दी में सुधारकों—राजा राम मोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, स्वामी रामतीर्थ और श्रीमती एनी बेसेंट के लेखों और उपदेशों के रूप में प्रकट हुई,और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ होने के समय तक भारत को अपनी संस्कृति का ज्ञान होकर उसमें आत्माभिमान की जागृति हो गई। राजनैतिक गुलामी की हथकड़ी और बेड़ियों को काटकर फिर एक बार स्वतन्त्रतापूर्वक अपने समाज और अपनी संस्कृति का धम्मानुसार पुनः निर्माण करने का उसने संकल्प किया। महात्मा गाँधी के रूप में भारतीय आत्मा ने प्रकट होकर अपने भारतीय रीति से ही विदेशियों के नियंत्रण से भारत को मुक्त करा लिया।

आज भारत स्वतन्त्र होकर पुनः इस नवयुग में जहाँ विज्ञान और वैज्ञानिक उपकरणों का साम्राज्य है, अपने राष्ट्र का समाज का वैयक्तिक जीवन का एक नई रीति से जिसमें प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के गुण तो सब ही रहें पर दोष न रहें, निर्माण करने में

सलग्न है। इस निर्माण के बौद्धिक नेता और व्यावहारिक कार्यकर्ता हैं महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और विनोबा भावे और उनके अनुगायी और सहयोगी नेता और अनेक कार्यकर्ता। आज के युग में प्राचीन भारतीय धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक और सामाजिक विश्वासो और व्यवस्थाओ में से कौन सी जीवित रहेगी और कौन सी मर जायेगी यह कहना बहुत कठिन है, पर हां इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि भारत की आत्मा अमर है और भारतीयता कभी नष्ट होने वाली नही है, उसको वाह्य शरीर और आन्तरिक मन दोनो में ही चाहे जितने परिवर्तन हो जायें। वेदो, उपनिषदो, भगवद्गीता, योगवासिष्ठ अद्वैत वेदान्त, कबीर, नानक, दादू, रवीन्द्रनाथ, रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द, रामतीर्थ, गान्धी, विनोवा, जवाहरलाल में हम भारत की अमर आत्मा का अमर सन्देश पाते हैं। इनमें कुछ ऐसी शिक्षाएं हमको मिलती हैं जो केवल भारतीयो का ही भविष्य में पथ-प्रदर्शन नही करती रहेंगी वल्कि ससार के सभी मनुष्यो को भी और जिन पर चलकर ही ससार के निकट भविष्य में शान्ति और समृद्धि की स्थापना हो सकेगी।

अध्याय २४

भारतीय नीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त

भारतीय नीति शास्त्र का हम ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन कर चुके हैं और उसके ऊपर विहंगम दृष्टि डालकर यह भी देख चुके हैं कि पिछले सहस्रों वर्षों के इतिहास में भारतीय नैतिक विचारों म क्या-क्या विशेष परिवर्तन हुए हैं। अब यहाँ पर हम ऐति-हासिक दृष्टिकोण को छोड़कर भारतीय नीति शास्त्र के मूल तत्वों को एक साथ क्रमिक ढंग से पाठकों के सामने रखना चाहते हैं।

नीति शास्त्र के पर्यायवाची शब्द

नीतिशास्त्र के अनेक नाम हैं—धर्म शास्त्र आचार शास्त्र कर्तव्य शास्त्र और नीति शास्त्र जीवनकला व्यवहार दर्शन आदि।

नीति शब्द का अर्थ

नीति का अर्थ वे नियम हैं जिन पर चलने से मनुष्य का ऐहिक आमुष्मिक और सनातन कल्याण हो, समाज में स्थिरता और सन्तुलन रहे सब प्रकार से अभ्युदय हो और विश्व में शान्ति रहे अर्थात् जिन नियमों के पालन करने से व्यक्ति और समाज दोनों का ही श्रेय हो वे नीति के अन्तर्गत हैं।

शास्त्र शब्द का अर्थ

शास्त्र किसी विषय के सम्बन्ध म उसके स्वरूप सम्बन्ध प्रयोजन और मौलिक आधारों और अन्तर्गत नियमों के विवेचन और सर्वांगीण ज्ञान को कहते हैं। जिस ग्रन्थ में यह ज्ञान सङ्कलित हो उस भी शास्त्र कहते हैं। विज्ञान (विशेष ज्ञान) विद्या भी शास्त्र के पर्यायवाची शब्द हैं।

भारतीय नीति शास्त्र

भारतीय नीति शास्त्र से उन सब भारत में लिखे गए ग्रन्थों से अभिप्राय है जिनमें इन बातों पर विचार हो —जीवन क्या है? इसका क्या उद्देश्य है? उसकी प्राप्ति कैसे की जा सकती है? व्यक्ति का समाज से क्या सम्बन्ध है? उसको अपने जीवन म किन-किन उद्देश्यों की प्राप्ति करनी चाहिए, किन इच्छाओं को पूरा करना चाहिए? और किन

का निरोध करना चाहिये ताकि हम सुख और शान्ति से रह सकें और समाज में रहने वाले दूसरे व्यक्तियों के साथ उसका विशेष संघर्ष न हो? कैसे समाज में सब लोगो को सुख और शान्ति मिले? इस प्रकार के विचार वेदो से लेकर आधुनिक विचारको तक की लिखी हुई पुस्तको म मिलते हैं। अतएव जिन सब भारतीय ग्रन्थो में नीति, आचार, धर्म और आध्यात्मिक साधना सम्बन्धी चर्चा पाई जाती है वे सब भारतीय नीति शास्त्र हैं। इनमे से कुछ ग्रन्थ तो ऐसे हैं जिनमे केवल नीति ही की व्याख्या या विवेचन नही है, धर्म, दर्शन, कर्मकाण्ड तथा अन्य विषयो की भी है। कुछ ऐसे हैं जिनमें केवल नीति की शिक्षा है, और वे नीति शास्त्रो के नाम से ही विख्यात हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ म भारत के प्रख्यात नीति ग्रन्थो के नैतिक विचारो का सग्रह किया गया है।

इतिहास का अर्थ

इतिहास का भारत में यही अर्थ किया गया है कि जिस ग्रन्थ में पूर्वकाल में हो चुकने वाली बातो का सकलन है। महाभारत और रामायण भारत के इतिहास ग्रन्थ इसलिये कहलाते हैं कि उनमें पूर्वकाल में हो चुकी घटनाओ और उपदेशो (ऐसा हो चुका है) का सग्रह और वर्णन है।

भारतीय नीति शास्त्र और वर्तमान पाश्चात्य नीति शास्त्र में भेद

भारतीय नीति शास्त्र उपदेशात्मक (Hortative) है। इसमें ऋषियों, मुनियो, सिद्धो, सन्तो, विचारको और सुधारको ने अपनी-अपनी साधनाओ के द्वारा जीवन के सम्बन्ध में जो दृष्टि और सिद्धान्त बनाये उनके आधार पर उन्होंने जन साधारण को जो धर्म सदाचार, या नीति सम्बन्धी उपदेश लोगो के और समाज के कल्याण के लिये समय-समय पर दिये हैं उनका सकलन है। नीति, आचार, धर्म क्यो और क्या होने चाहिये इस विषय की सामान्य ज्ञान के स्तर पर स्वतत्र, क्रमिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक और तार्किक व्याख्या नही है।

इसके विपरीत आधुनिक पाश्चात्य नीति शास्त्र केवल उपदेश, श्रद्धा और विश्वास के ससार मे बाहर होकर साधारण मानव मात्र को जो ज्ञान, तर्क शक्ति और बौद्धिक विचार प्राप्त है, उसके आधार पर ऐहिक जीवन में मनुष्य का अपने प्रति, दूसरो के प्रति, और सामाजिक जीवन में क्या कर्त्तव्य हैं, इसका युक्ति युक्त विवेचन करना है। जहाँ भारतीय नीति शास्त्र में धार्मिक दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक, पारलौकिक, आध्यात्मिक, सामाजिक आदि जीवन सम्बन्धी सभी विषयो के ऊपर एक साथ ही चर्चा होती है और सब विचारो का एक दूसरे में समिश्रण होता है वहाँ पाश्चात्य नीति शास्त्र में केवल सीमित अर्थ में नैतिक समस्याओ पर शुद्ध तार्किक विचार होता है। पाश्चात्य नीति शास्त्र की समस्यायें केवल ऐहिक जीवन व्यवहार के सम्बन्ध की हैं।

अध्याय २४

भारतीय नीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त

भारतीय नीति शास्त्र का हम ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन कर चुके हैं और उसके ऊपर विहंगम दृष्टि डालकर यह भी देख चुके हैं कि पिछले सहस्रों वर्षों के इतिहास में भारतीय नैतिक विचारों में क्या-क्या विशेष परिवर्तन हुए हैं। अब यहाँ पर हम ऐतिहासिक दृष्टिकोण को छोड़कर भारतीय नीति शास्त्र के मूल तत्वों का एक साथ क्रमिक रूप से पाठकों के सामने रखना चाहते हैं।

नीति शास्त्र के पर्यायवाची शब्द

नीतिशास्त्र के अनेक नाम हैं—धर्म शास्त्र आचार शास्त्र कर्तव्य शास्त्र और नीति शास्त्र जीवनकला व्यवहार दर्शन आदि।

नीति शब्द का अर्थ

नीति का अर्थ वे नियम हैं जिन पर चलने से मनुष्य का ऐहिक आमुष्मिक और सनातन कल्याण हो समाज में स्थिरता और सन्तुलन रहे सब प्रकार से अभ्युदय हो और विश्व में शान्ति रहे अर्थात् जिन नियमों के पालन करने से व्यक्ति और समाज दोनों का ही श्रेय हो वे नीति के अन्तर्गत हैं।

शास्त्र शब्द का अर्थ

शास्त्र किसी विषय के सम्बन्ध में उसके स्वरूप सम्बन्ध प्रयोजन और मौलिक आधारों और अन्तर्गत नियमों के विशेष और सर्वांगी ज्ञान को कहते हैं। जिस ग्रन्थ में यह ज्ञान संगृहीत हो उसे भी शास्त्र कहते हैं। विज्ञान (विशेष ज्ञान) विद्या भी शास्त्र के पर्यायवाची शब्द हैं।

भारतीय नीति शास्त्र

भारतीय नीति शास्त्र से उन सब भारत में लिखे गए ग्रन्थों से अभिप्राय है जिनमें इन बातों पर विचार हो—जीवन क्या है? इसका क्या उद्देश्य है? इसकी प्राप्ति कैसे की जा सकती है? व्यक्ति का समाज से क्या सम्बन्ध है? उसको अपने जीवन में किन-किन उद्देश्यों की प्राप्ति करनी चाहिए किन इच्छाओं को पूरा करना चाहिए? और किन

के लिये जाना पडता है। अच्छे कर्मो के फल स्वर्ग में और बुरे कर्मों के फल नरक में भोगे जाते हैं, परलोक के स्वर्ग और नरक में देव, पितर, गन्धर्व आदि अनेक प्रकार की योनियाँ हैं। परलोक में सुख दु ख भोग कर मनुष्य का आत्मा फिर इस मर्त्यलोक में जन्म लेता है। देवी भागवत में लिखा है—"जीव अपने पहिले शरीर को छोडकर कर्म के वश में होकर अपने कर्म के अनुसार स्वर्ग या नरक को प्राप्त करता है और दिव्य देह को प्राप्त करके अथवा इच्छा से उत्पन्न यातना के शरीर को प्राप्त होकर स्वर्ग अथवा नरक के भिन्न-भिन्न भोगो का अनुभव करता है। भोग भोगने के पश्चात् जब उसके पुनर्जन्म का समय आता है तो काल इसके संचित कर्मों में से कुछ कर्मों को चुनकर उसके साथ लगा देता है (देवी भागवत् ४।२१,२२–२५) जन्म मरण (परलोक में भोग और फिर यहाँ जन्म) का सिलसिला तब तक चलता रहता है जब तक कि भगवान् की कृपा, आत्मज्ञान, या योग द्वारा मनुष्य जन्म-मरण के चक्र या भवसागर से पार नही हो जाता। इस चक्र से मोक्ष पा लेना ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है।

भारतीय नीति के दार्शनिक आधार

भारत में नीति का दर्शन से बहुत गहरा सम्बन्ध रहा है। वास्तव मे भारत की समस्त नीति दार्शनिक है और दर्शन का ही अग है। प्रत्येक दर्शन के तत्वज्ञान के आधार पर ही उसकी नीति निर्भर होती है। यद्यपि सभी दर्शनो का तत्वज्ञान भिन्न है तो भी सभी भारतीय दर्शनो में कुछ ऐसे तत्वज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त हैं जिनको सर्वतंत्र सिद्धान्त कहा जा सकता है, अर्थात् वे सिद्धान्त प्राय सभी भारतीय दर्शनो को मान्य हैं। वे ही प्राय नीति शास्त्र के तात्विक आधार हैं। वे ये हैं। १—ससार की सभी अवस्थाओ की क्षणिकता और नश्वरता। शरीर की नश्वरता किन्तु भौतिक शरीर से अतिरिक्त आत्मा, जीव या मन की अमरता। २—कर्मफल का नियम। परलोक का अस्तित्व और जीव का परलोक में कर्मफल भोग। ३—पुनर्जन्म का सिद्धान्त। ४—जन्म-मरण के चक्र की दु ख दायकता ५—सासारिक विषय भोगो में स्थायी सुख और शान्ति का अभाव। ६—ससार से मुक्ति की सम्भावना। ७—मुक्ति का निश्चित साधन ज्ञान, निष्काम कर्म, भक्ति या योग। ८—ईश्वर में विश्वास। कुछ लोग ईश्वर को नही मानते पर गुरू को या अपने सम्प्रदाय के प्रवर्त्तको—बुद्ध, महावीर आदि—को ईश्वर से भी अधिक मानते हैं।

भारतीय नीति के मनोवैज्ञानिक आधार

भारतीय नीति शास्त्र के ये मनोवैज्ञानिक आधार हैं—

मानव के व्यक्तित्व मे आत्मा, जीव, या चित्त, कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर होते हैं। जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति और तूर्या (समाधि) इन 'चार' अवस्थाओ मे मनुष्य रहता है। इनके अध्ययन और विश्लेपण से मनुष्य अपना आन्तरिक स्वरूप पहचान

करना पड़ा। अनेक जातियाँ होने के कारण उनके परस्पर व्यवहार और खान-पान और आदान-प्रदान का भी विचार करना पड़ा। सामाजिक स्थिति की पृष्ठभूमि पर ही नीति शास्त्रो की इन विषयो की चर्चा समझ मे आ सकती है।

भारतीय नीति ज्ञान के स्रोत

भारत की सभ्यता और संस्कृति अविच्छिन्न रूप से अनन्त काल से चली आ रही है और भारतीयो का यह विश्वास है कि मनुष्य का प्रादुर्भाव जगत् के सृष्टा 'ब्रह्मा' से हुआ है। वे सर्वज्ञ हैं और उन्होने ही मानव के कल्याण के लिये वेदो और शास्त्रो की रचना की और यह भी विश्वास है कि मनुष्यो के पूर्वज ऋषि और मुनि थे, जिनको ब्रह्माण्ड और जीवन का हस्तामलकवत् ज्ञान था। यह भी विश्वास है कि पूर्वकालीन मनुष्य अधिक ज्ञानी, सदाचारी और शक्तिशाली थे। उनको जीवन और जगत् का आगे आने वाले मनुष्यो से कही अधिक ज्ञान था। इन विश्वासो के आधार पर यह स्वाभाविक ही है कि भारतीय नीति लेखक पुराने शास्त्रो को अधिक महत्व दें। पाश्चात्य देशो में भी सभी विद्याओ का आरम्भ करते हुए लेखक प्लेटो और अरिसटाटल के मतो का आदर के साथ वर्णन करते हैं। इस विश्वास की पृष्ठभूमि में भारतीय नीति लेखको ने वेदो को नीति का सबसे प्रथम स्रोत ग्रन्थ माना है। वेदो को परम प्रमाण मानकर फिर स्मृतियो को नीति या धर्म को बताने में दूसरी और निम्नकोटि का प्रमाण माना है। जो उपदेश वेदो मे दिये गये हैं और जिनको विस्तार के साथ स्मृतिकारो ने प्रतिपादित किया है उनको ही इतिहास ग्रन्थो, रामायण और महाभारत, ने भारत के प्राचीन काल के महापुरुषो के आचरण और व्यवहार द्वारा उद्धृत किया है। इसलिये नीति का प्रथम स्रोत वेद, दूसरी स्मृतियाँ और तीसरा महापुरुषो के आचरण। किसी परिस्थिति में मनुष्य को अपने कर्त्तव्य को निर्धारित करने में कठिनाई हो तो अपने अन्तरात्मा का निर्णय सहायता देता है। इसलिये वेद, स्मृति, सदाचार और अपने अन्तरात्मा का निर्णय ये चार धर्म जानने के साधन हैं। पीछे चलकर सद्सद्विवेक करने वाली और निष्पक्ष विचार करके निर्णय करने वाली बुद्धि भी, और कुछ लोगो के मत से बुद्धि ही कर्तव्य और अकर्त्तव्य के जानने का साधन हो गई। बौद्धो और जैनियो ने वेद और स्मृतियो के स्थान पर बुद्ध और महावीर के उपदेशो को नीति का स्रोत माना है। आधुनिक युग में प्रज्ञा (Intuition) को जोकि बुद्धि से ऊपर की साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति है, धर्मज्ञान का स्रोत माना है।

कर्मस्वातन्त्र्य

भारतीय नीति शास्त्रो ने प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मों का उत्तरदायी माना है। यह तभी हो सकता है जबकि वह कर्म करने, न करने और यथेच्छ रूप से करने में स्वतन्त्र हो। अतएव अधिकतर भारतीय नीतिज्ञ मनुष्य को स्वतन्त्र कर्त्ता मानते हैं। अपने भविष्य

सकता है। सभी प्राणी निसर्गिक सुख या दुःख से विमुक्ति चाहते हैं। सभी प्राणी आत्म-रक्षा चाहते हैं और अपने को ही सबसे अधिक प्रेम करते हैं। सब मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र हैं पर फल भोगने में परतन्त्र हैं। सब मनुष्य एक से नहीं होते। सत्संगति का मनुष्य के ऊपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। साधना करने से मानव के व्यक्तित्व में बहुत तब्दीली हो जाती है। सन्तों और अभ्यासी साधकों को बहुत से आन्तरिक अनुभव हुआ करते हैं जिनसे अपनी साधना में उनकी श्रद्धा बढ़ जाती है। साधना करते-करते जब मन पवित्र हो जाता है और आत्म भावना होने लगती है या योग करते समय (धारणा ध्यान समाधि) का अभ्यास हो जाता है तो मनुष्य में अलौकिक शक्तियों का प्रादुर्भाव होने लगता है। देह भावना के समाप्त होने पर जब आत्मभावना सुदृढ़ हो जाती है तो अविच्छिन्न निजानन्द का अनुभव होने लगता है। सभी योगियों भक्तों और उच्चकोटि के साधकों को अपने-अपने इष्ट देवों के दर्शन और अनेक प्रकार के अद्भुत अनुभव हुआ करते हैं और जिनसे उनका ईश्वर में या आत्मा की अलौकिक शक्तियों में विश्वास बढ़ जाता है। भारत ही में नहीं सभी देशों में इस प्रकार के अद्भुत अनुभव साधकों को होते हैं। इन मनोवैज्ञानिक आधारों पर भारतीय नीति शास्त्र के बहुत से नैतिक सिद्धान्त स्थित हैं।

भारतीय नीति के सामाजिक आधार

मनुस्मृति में कहा गया है—"जन्तु अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही मरता है। अपने किए हुए पुण्य पाप अकेला ही भोगता है। इस कथन के अनुसार यद्यपि भारतीय नीति अधिकांश में वैयक्तिक है अर्थात् व्यक्ति की अपनी ही आध्यात्मिक उन्नति सम्बन्ध रखती है, तथापि प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी समाज में रहने के नाते और चारों ओर अपने जैसे और व्यक्तियों से अनेक प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध होने के कारण मनुष्य को यह भी सोचना पड़ता है कि वह दूसरों के प्रति कैसा व्यवहार करे। अपने ही हित की चिन्ता न करके उसे लोक संग्रह या लोक कल्याण की भी चिन्ता करनी पड़ती है। समाज में मनुष्य पैदा होता है और उस बने बनाये ढांचे में उसे रहकर ही आत्मोन्नति और समाज कल्याण और समाज संग्रह की विधियाँ सोचनी पड़ती हैं। समाज व्यक्ति को बनाता है और समाज के बदलने और बनाने में व्यक्ति का हाथ होता है। अतः समाज की रूढ़ियाँ, रिवाजों और संगठन के ऊपर व्यक्ति का नैतिक आचरण आधारित होता है। विशाल भारत जैसे देश में जहाँ कि सहस्रों वर्षों से अविच्छिन्न रूप से भारतीय समाज का प्रवाह चल रहा है। भारतीय समाज की विशेषता उसकी वर्णाश्रम व्यवस्था और प्रथा रही है। प्राचीन काल के चार वर्णों ने अनेक जातियों का रूप धारण कर लिया। इसलिये नीतिज्ञों को वर्ण जाति आश्रमों के सम्बन्ध में और इनके विशेष धर्मों को निश्चित

हमारे पूर्व किये हुए कर्म के संस्कारो के सचय का नाम सचित कर्म है। उनमें से जिनका फल हमको इस जन्म में दैवी नियम के अनुसार भुगतना है वे प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं। जो कर्म हम स्वेच्छापूर्व अब कर रहे हैं उनको क्रियमाण कर्म कहते हैं, और हो जाने पर वे सचित कर्मों में जमा हो जाते हैं। कर्मफल का नियम इस धार्मिक और दार्शनिक आधार पर निर्भर है कि ससार का पूर्ण रीति से और न्यायपूवक प्रवन्ध हो रहा है और जो जैसा करता है उसको ठीक नियमपूर्वक उसका पुरस्कार या दण्ड मिलता है।

जो कम स्वार्थ के उद्देश्य से नहीं किए जाते और न किसी इच्छा की पूर्ति के लिये किये जाते हैं या जो कर्तव्य बुद्धि से ही बिना अपने वैयक्तिक लाभ की इच्छा के किये जाते हैं उनका फल उनको करने वाले को नही भोगना पडता। इसलिये या तो ईश्वर की प्रसन्नता के लिये, या उसका आदेश समझकर, या लोक सग्रह के लिये या केवल कर्तव्य पालन के लिये ही, विना अपने लिये कुछ चाहे जो काम किये जाते हैं वे भुने हुए बीज की नाई होते हैं जिनसे कोई फल लाने वाला वृक्ष नही उगता। यह है सक्षेप में भारतीय कर्मफल के नियम का सिद्धान्त।

जीवन के चार पुरुषार्थ

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये जीवन के चार लक्ष्य, उद्देश्य, अर्थ, या प्रयोजन माने गये हैं। धर्म उन नियमो को कहते हैं जिनके पालन से व्यक्ति और समाज दोनो की उन्नति और कल्याण होते हो, जिन पर चलने से व्यक्ति को सुख, शान्ति, और समाज में सतुलन और सामन्जस्य और शान्ति स्थापित हो। अर्थ का अर्थ है धन-सम्पत्ति और सासारिक विषयो और वस्तुओ को प्राप्त करने के सभी साधन। काम का अर्थ है सुख-भोग, अर्थात् इन्द्रियो और मन के विषयो के साथ सपर्क स्थापित करके उनके द्वारा आनन्द का अनुभव करना। दूसरे शब्दो में ससार के विषयो के भोगने की इच्छापूर्ति का नाम है काम। जन्म-मरण के चक्र से छूट कर अपने अजर, अमर, अनन्त, आनन्दरूप आत्मा में, जो समस्त विश्व का आत्मा है, स्थिति, या सव क्लेशो और दु खो से छुटकारा पा लेना। धर्म के नियमों को पालन करते हुए धन कमाकर भोगो को सीमित रूप से भोगना चाहिये और भोगो को क्षणिक, दु खान्त, और सीमित समझकर असीम, निरूपाधि और सदा रहने वाले आनन्द के लिये आत्मज्ञान और आत्मानुभाव प्राप्त करना चाहिए। सव बन्धनों से मुक्त होकर आत्म स्वरूप में स्थिति प्राप्त करनी चाहिये। यही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। इसको मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य, अपवर्ग कहते हैं।

अर्थ केवल कामोपभोग का साधन है, स्वय कोई मूल्य नही है। कामोपभोग क्षणिक सुख को, जो दु ख में परिणत हो जाता है, जो रोग और शोक को उत्पन्न करता है, मनुष्य का उत्तम पुरुषार्थ नही हो सकता। धर्म के नियमो के अनुसार धन-प्राप्ति और कामोपभोग

का निर्माता और परलोक के बनाने या बिगाड़ने वाला मानते हैं। यद्यपि किसी कार्य के सम्पादन करने में अनेक कारण हुआ करते हैं तो भी मनुष्य का अपना निर्णय और अपना स्वेच्छ और स्वायत्त प्रयत्न विशेष कारण होता है। यदि मनुष्य में कर्म स्वातन्त्र्य न हो तो उसके कर्मों को भला-बुरा उचित-अनुचित पाप पुण्य धर्म अधर्म आदि कहना निरर्थक है। यदि मनुष्य प्रकृति के निर्णय में आकर ही कर्म करता है तो उसके लिये प्रकृति ही उत्तरदायी हो सकती है मनुष्य नहीं। यदि मनुष्य ईश्वर से प्रेरित होकर कर्म करता है तो उसका क्या उत्तरदायित्व हो सकता है और क्यों उसको दण्ड या पुरस्कार दिया जावे? क्यों उसको स्वर्ग या नरक में जाना पड़े? क्यों उसको कर्मों के बुरे या भले फल भुगतने पड़ें?

कर्मफल पारतंत्र्य

संसार में ऐसा अटल नियम (ऋत) है कि प्रत्येक स्वेच्छापूर्वक किये हुए कर्म का करने वाले को कुछ न कुछ फल पाना होता है। जैसा करता है उसको वैसा ही फल मिलता है, दूसरों को कष्ट देने वाले को कष्ट, और सुख देने वालों को सुख। यदि इस लोक में ऐसा नहीं है तो परलोक में अवश्य ही इस प्रकार का सुख या दुःख मिलता है जिस प्रकार अच्छे राज्य में पुरस्कार या दण्ड मिलता है। कोई भी व्यक्ति कहीं भी हो अपने किये हुए बुरे या भले कर्मों के बुरे या भले फलों को भोगे बिना नहीं रहता। योगवासिष्ठ में कहा गया है "ऐसा कोई पहाड़ आकाश समुद्र स्वर्ग आदि स्थान नहीं है जहाँ पर जाकर प्राणी को अपने किए हुए कर्मों का फल न भोगना पड़ता हो। पूर्व जन्म में अथवा इस जन्म में जो कर्म किया गया है वह अवश्य ही फल के रूप में प्रकट होता है। (यो वा ३।९५। १३-१४)

कर्म-फल-नियम से बाध्य होकर अपने किए हुए कर्मों के अवश्यम्भावी फलों को भुगतने का नाम ही दैव है। उसे दैव इसलिये कहा जाता है कि यह ईश्वरीय नियम है। मनुष्य के वश की बात नहीं है। मनुष्य को विवश होकर अपने कर्मों के फलों को भोगना पड़ता ही है जैसे चोर को दण्ड मिलता है। चूंकि मनुष्य को यह ज्ञान नहीं है कि जो दुःख उसको इस जीवन में प्राप्त हो रहा है वह उसी के पूर्व जन्म या पूर्वकाल में किए हुए कर्मों का फल है इसलिये वह यही समझता है कि कोई दैविक शक्ति उसके जीवन को बना या बिगाड़ रही है या उसको दुःख दे या दे रही है। उसके उसने अनेक नाम रख लिये हैं—दैव विधि अदृष्ट ईश्वरेच्छा आदि। भारतीय नीतिज्ञों ने तो यह निश्चित कर लिया है कि यद्यपि हमको दुःख और सुख धन सम्पत्ति अन्न कुलगौरव प्रभुता या दासता रोग शोक अल्पायु या दीर्घायु आदि अकस्मात् मिलते दिखाई पड़ते हैं। किन्तु वे हमारे ही पूर्व कर्मों के अवश्यम्भावी फल का ही नाम है।

पवित्रता), सन्तोष, तप (कष्ट सहन का अभ्यास), स्वाध्याय (आत्म चिन्तन और आत्मज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न) और ईश प्राणिधान (ईश्वर में विश्वास और उस पर भरोसा)। भगवद्गीता मे दैवी सम्पत्ति के नाम से धर्म के इन नियमो या गुणो का कथन किया गया है—अभय (निर्भय रहना), सत्व संशुद्धि (अन्तःकरण की स्वच्छता) ज्ञान योग व्यवस्थिति (तत्व ज्ञान प्राप्त करने के लिये ध्यान में स्थित रहना), दान, दम (इन्द्रियो और मन को वश में रखना), यज्ञ (देवताओं और भगवान् को वस्तुओ का अर्पण करना), स्वाध्याय (आत्मज्ञान के लिये अच्छे ग्रन्थो का अध्ययन), तप (कष्ट सहन का अभ्यास), आर्जव (सरलता), अहिंसा (किसी को कष्ट न देना), सत्य (यथार्थ भाषण और सत्य का अन्वेषण), अक्रोध (क्रोध करने के अवसर पर भी क्रोध न करना), त्याग, शान्ति, अपैशुन (किसी की भी निन्दा न करना), भूतो पर दया (सब प्राणियो पर दया) अलोलुप्त्वम् (अनासक्ति और लोभ का त्याग), मार्दव (कोमलता), ह्री (लज्जा) और अचपलता (व्यर्थ चेष्टाओ का अभाव)। इस प्रकार अनेक हिन्दू, बौद्ध और जैन नीतिज्ञो ने धार्मिक उसूलो या नियमो का कथन किया है जिनमें अधिक मत-भेद नही है केवल इसके सिवाय कि जैनियो ने अहिंसा और बौद्धो ने दया और करुणा को अधिक महत्व दिया है।

धर्म के नियमो को और भी अधिक सख्या में लोगो ने स्मृतियो, इतिहासो और पुराणो मे वर्णन किया है। इसके विपरीत इनको सारभूत शब्दो में भी रखने का प्रयत्न किया गया है। उनमें से दो प्रयत्न ये हैं। एक यह कि परोपकार ही पुण्य और परपीडा पाप है। दूसरा यह जो व्यास जी ने महाभारत में कहा है 'जो अपने लिये उचित नही समझो उसको दूसरे के लिये मत करो, और जो अपने लिये चाहो वह दूसरो के लिये भी करने का प्रयत्न करो।' इस स्वर्ण नियम का ससार के प्राय सभी नीतिज्ञो ने उपदेश दिया है। पर यह नियम और इसके पूर्व कथित नियम केवल सामाजिक सम्बन्धो में ही लागू होते हैं, वैयक्तिक आत्मोन्नति के लिये यह पर्याप्त नही है।

अधर्म

धर्म के विरुद्ध आचरण का ही नाम अधर्म है। उसी को पाप भी कहते हैं। भगवद्गीता में श्री कृष्ण ने आसुरी प्रकृति के नाम से वर्णन किया है। वह इस प्रकार है— आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य कर्तव्य म प्रवृत्त होना और अकर्तव्य से निवृत्त होना नही जानते। उनमें न शौच ही होता है और न सदाचार ही, और न वे सत्य का पालन करते हैं। वे कहते हैं कि जगत् आश्रय रहित हैं, असत्य के आधार पर चल रहा है, इसके बनाने वाला और चलाने वाला कोई ईश्वर नही है, आपसे आप ही उत्पन्न हुआ है। इसका उद्देश्य सिवाय भोग-विलास के और कुछ नही है। इस प्रकार के मिथ्या विश्वासो के कारण

करने से दुःख नहीं होता बुरे फल नहीं भुगतने पड़ते और समाज में शान्ति रहती है। अतएव धर्म का पालन करना श्रेयस्कर है पर मोक्ष की प्राप्ति के लिये साधन करना सर्वश्रेष्ठ है। मोक्ष सबसे श्रेष्ठ ध्येय (मुख्य) है और इसी को परम पुरुषार्थ कहा जा सकता है।

धर्म क्यों पालन करना चाहिए ?

धर्म के पालन से इस लोक और परलोक में जीव का कल्याण होता है यह बात तो कही जा चुकी है पर यह भी याद रखना चाहिये कि धर्म के पालन न करने से और अधर्म का आचरण करने से जीव को बहुत दुःख प्राप्त होता है और इस लोक और परलोक दोनों में दुःख होता है। मनु ने कहा है—"जो मनुष्य अधार्मिक है जो अधर्म से धन कमाता है जो हिंसा करता रहता है वह इस संसार में सुख प्राप्त नहीं कर सकता। यह देखते हुए कि अधार्मिकों और पापियों का नाश शीघ्र ही होता है धर्म के पालन करने से कष्ट होने पर भी अधर्म की ओर प्रवृत्त न होना चाहिये। संसार में अधर्म करने पर वह तुरंत ही भी के समान फल नहीं देता। धीरे-धीरे फल देता है। अधर्म करने वाले को वह समूल नष्ट कर देता है। अन्य स्मृतिकारों और नीति शास्त्रों में भी बतलाया गया है कि अधर्म से कमाई हुई सम्पत्ति कुछ दिनों में ही नष्ट हो जाती है। स्वास्थ्य सुख सम्पत्ति सुन्दर और सुशील पत्नी अच्छे पुत्र और पौत्र कीर्ति और मानसिक शान्ति धर्म पर चलने के ही फल होते हैं। इसके विपरीत फल अधर्म पर चलने से मिलते हैं। अधर्मी को परलोक में नाना प्रकार की यातनाएँ भुगतनी पड़ती है और पीछे नीच योनियों में जन्म मिलता है। इसलिये कष्ट उठाकर भी मनुष्य को धर्म-पथ पर चलना चाहिये और कभी भूल कर भी अधर्म के मार्ग पर पैर नहीं रखना चाहिये।

धर्म और अधर्म

वे नियम कौन से है जिनके पालन करने से इस लोक और परलोक में सुख और कल्याण होता है और समाज सुव्यवस्थित स्थिति में रहता है ? मनुस्मृति के अनुसार ये दस नियम धर्म है—धैर्य क्षमा दम (मन को वश में रखना) अस्तेय (चोरी न करना किसी दूसरे की वस्तु को उसकी बिना आज्ञा और बिना ज्ञान के न लेना) शौच (सब प्रकार की शुद्धि) इन्द्रिय-निग्रह (इन्द्रियों को अपने वश में रखना) धी (सब सद्विवेकमयी बुद्धि द्वारा विचार करके कार्मों को करना) विद्या (सब प्रकार का विशेषतः आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने में प्रयत्नशील होना) सत्य (सत्यपालन) अक्रोध (जहाँ क्रोध करने का अवसर हो वहाँ भी क्रोध न करना)। पतञ्जलि ने अपने योग सूत्र में ६ यम और नियमों के रूप में धर्म के नियमों के पालन करने का उपदेश दिया है वे ये हैं—पाँच यम—अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह। पाँच नियम—शौच (शुद्धि और

पवित्रता), सन्तोष, तप (कष्ट सहन का अभ्यास), स्वाध्याय (आत्म चिन्तन और आत्मज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न) और ईश प्राणिधान (ईश्वर में विश्वास और उस पर भरोसा)। भगवद्गीता मे दैवी सम्पत्ति के नाम से धर्म के इन नियमो या गुणों का कथन किया गया है—अभय (निर्भय रहना), सत्व सशुद्धि (अन्तःकरण की स्वच्छता) ज्ञान योग व्यवस्थिति (तत्व ज्ञान प्राप्त करने के लिये ध्यान में स्थित रहना), दान, दम (इन्द्रियो और मन को बस में रखना), यज्ञ (देवताओ और भगवान् को वस्तुओं का अर्पण करना), स्वाध्याय (आत्मज्ञान के लिये अच्छे ग्रन्थो का अध्ययन), तप (कष्ट सहन का अभ्यास), आर्जव (सरलता), अहिंसा (किसी को कष्ट न देना), सत्य (यथार्थ भाषण और सत्य का अन्वेषण), अक्रोध (क्रोध करने के अवसर पर भी क्रोध न करना), त्याग, शान्ति, अपैशुन (किसी की भी निन्दा न करना), भूतो पर दया (सब प्राणियो पर दया) अलोलुप्त्वम् (अनासक्ति और लोभ का त्याग), मार्दव (कोमलता), ह्री (लज्जा) और अचपलता (व्यर्थ चेष्टाओ का अभाव)। इस प्रकार अनेक हिन्दू, बौद्ध और जैन नीतिज्ञो ने धार्मिक उसूलो या नियमो का कथन किया है जिनमें अधिक मत-भेद नही है केवल इसके सिवाय कि जैनियो ने अहिंसा और बौद्धो ने दया और करुणा को अधिक महत्व दिया है।

धर्म के नियमो को और भी अधिक सख्या में लोगो ने स्मृतियो, इतिहासो और पुराणो में वर्णन किया है। इसके विपरीत इनको सारभूत शब्दो में भी रखने का प्रयत्न किया गया है। उनमें से दो प्रयत्न ये हैं। एक यह कि परोपकार ही पुण्य और परपीड़ा पाप है। दूसरा यह जो व्यास जी ने महाभारत मे कहा है 'जो अपने लिये उचित नहीं समझो उसको दूसरे के लिये मत करो, और जो अपने लिये चाहो वह दूसरो के लिये भी करने का प्रयत्न करो।' इस स्वर्ण नियम का ससार के प्राय सभी नीतिज्ञो ने उपदेश दिया है। पर यह नियम और इसके पूर्व कथित नियम केवल सामाजिक सम्बन्धों में ही लागू होते हैं, वैयक्तिक आत्मोन्नति के लिये यह पर्याप्त नही हैं।

अधर्म

धर्म के विरुद्ध आचरण का ही नाम अधर्म है। उसी को पाप भी कहते हैं। भगवद्गीता में श्री कृष्ण ने आसुरी प्रकृति के नाम से वर्णन किया है। वह इस प्रकार है—आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य कर्त्तव्य म प्रवृत्त होना और अकर्तव्य से निवृत्त होना नहीं जानते। उनमें न शौच ही होता है और न सदाचार ही, और न वे सत्य का पालन करते हैं। वे कहते हैं कि जगत् आश्रय रहित हैं, असत्य के आधार पर चल रहा है, इसके बनाने वाला और चलाने वाला कोई ईश्वर नही है, आपसे आप ही उत्पन्न हुआ है। इसका उद्देश्य सिवाय भोग-विलास के और कुछ नही है। इस प्रकार के मिथ्या विश्वासों के कारण

वे आत्मा को भूले रहते हैं और उनकी बुद्धि मन्द और क्षुद्र हो जाती है और वे सबका अहित करते रहते हैं और अपने क्रूर कर्मों द्वारा जगत् का नाश करने में प्रवृत्त रहते हैं। अर्थात् ऐसे-ऐसे काम करते हैं जिससे समाज की हानि और अकल्याण होता है। वे लोग दम्भ मान और मद से युक्त होकर कभी भी पूरी न होने वाली कामनाओं का आसरा लेकर अज्ञानवश मिथ्या सिद्धान्तों को मानकर संसार में रहकर भ्रष्ट आचरण करते रहते हैं। मरण पर्यन्त रहने वाली अनन्त चिन्ताओं से ग्रस्त होकर विषयों के भोगने में तत्पर यह समझते हैं कि संसार में इससे अधिक और कोई आनन्द ही नहीं है। सैकड़ों आशाओं के पाशों से बँधे हुए, काम क्रोध परायण वे इन्द्रियों के विषय भोगों के प्राप्त करने के लिये अन्यायपूर्वक धन सम्पत्ति को संचय करने का प्रयत्न करते रहते हैं। 'मैंने आज यह पा लिया है, अब इस मनोरथ को पूरा करूँगा मेरे पास इतना धन है और आगे इतना हो जायगा इस शत्रु को मैंने परास्त कर दिया है और दूसरे शत्रुओं को भी मार दूँगा। मैं ईश्वर (ऐश्वर्यवान्) हूँ। मैं बलवान हूँ (शक्तिशाली हूँ) और ऐश्वर्य को भोग रहा हूँ। मैं बड़ा धनवान् हूँ। मेरा कुटुम्ब या बन्धु-बान्धव बहुत है। मेरे समान दूसरा कोई है ही नहीं। मैं यज्ञ करूँगा दान करूँगा और मैं सुख भोगूँगा।" इस प्रकार वे अज्ञान से विमोहित वे लोग अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले मोह जाल में फँसे हुए विषय भोगों में अत्यन्त आसक्त रहने के पश्चात् महान् अपवित्र नरक में जा पड़ते हैं। वे अपने आप को ही श्रेष्ठ मानने वाले धन और सम्मान के मद से युक्त घमण्डी पुरुष केवल नाम मात्र के लिये बिना उचित विधि से केवल नाम मात्र के लिये यज्ञादि कर्म करते हैं। अहंकार, बल घमण्ड काम और क्रोध आदि के परायण दूसरों की निन्दा करने वाले अपने भीतर बैठे हुए अन्तर्यामी मेरे (भगवान) से द्वेष करते हैं। मेरे से (भगवान् से) द्वेष करने वाले पापाचारी क्रूर कर्मी नराधमों को मैं संसार में बारम्बार आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ। हे अर्जुन! वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्म में आसुरी योनियों को प्राप्त हुए मेरे (आत्मज्ञान) को न प्राप्त करके उससे भी अतिनीच गति (नरक) को प्राप्त होते हैं। क्योंकि काम क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं और आत्मा का नाश करने वाले हैं। इन तीनों को त्याग देना चाहिए।

स्मृतियों और पुराणों में जहाँ-तहाँ पापों का और उनके फलस्वरूप जो दुर्गतियाँ होती हैं उनका वर्णन विस्तार से किया है ताकि मनुष्य उनसे बचें।

पाप अनेक प्रकार के होते हुए भी उनका मूल कारण काम क्रोध मोह लोभ मद, और मात्सर्य ये छः हैं जिनको नीति शास्त्रों में छः शत्रु (षड्रिपु) बतलाये गये हैं। सबसे बड़ा पाप अपने सुख और स्वार्थ के लिये दूसरे प्राणियों को दुःख कष्ट, पीड़ा देना और हिंसा करना है। कोई प्राणी दुःख पाना नहीं चाहता तो क्या कोई किसी को अपने

सुख के लिये दुःख दे ? यदि देता है तो कर्मफल के नियम के अनुसार उसे दुःख पाना ही पड़ना है।

सामान्य और विशेष धर्म

ऊपर बतलाये गये धर्म के नियम सब मनुष्यों के लिये हैं चाहे वे किसी देश, काल, जाति, वर्ण या आश्रम के हों। इनके अतिरिक्त विशेष धर्म भी होते हैं जिनका पालन विशेष वर्ण, विशेष आश्रम, विशेष परिस्थितियों और विशेष देशों और कालों में होना चाहिए। अब उनका सक्षेप में कथन किया जाता है।

वर्ण धर्म

समाज में चार प्रकार के कार्य होते हैं जिनके अन्तर्गत अनेक प्रकार की क्रियाएँ हुआ करती हैं। वे है शिक्षण, रक्षण, उपार्जन और सेवा। जिन लोगों का व्यवसाय ज्ञान का अनुसन्धान और नाना प्रकार की विद्याओं का बालकों को शिक्षा देना (विद्या पढ़ाना) है उनको ब्राह्मण कहते हैं। जो समाज में व्यवस्था कायम रखते हैं, उसकी बाहर के आक्रमणों से रक्षा करते है और सब प्रकार के राज्य कार्य करते हैं, उनको क्षत्रिय कहते है, जो धन धान्य का कृषि, पशु-पालन और कल कारखाना द्वारा उत्पादन और वितरण करते हैं और दूसरे देशों से या अपने देश में भी इन वस्तुओं का व्यापार और वाणिज्य करते हैं उनको वैश्य कहते हैं, और जो अपने शरीर द्वारा दूसरों की सेवा करके अपने लिये भोजन, वस्त्र और स्थान की प्राप्ति करते हैं वे शूद्र कहलाते है। समाज में जितने व्यवसाय हैं उनको करने वालों जो अनेक जातियाँ (क्लास Class या कास्ट Caste हैं) वे सब इन्हीं चार वर्णों के अन्तर्गत समझी गई है। ये चार वर्ण कुछ लोगों के मत में जन्म पर निर्भर हैं और कुछ के मत में गुण और कर्म पर निर्भर हैं। शुक्रनीति और भगवत्गीता के अनुसार गुण और कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था बनी है? वे लोग भी जो वर्ण को जन्म पर आधारित मानते हैं गुणों और कर्मों को बहुत महत्व देते हैं। यदि ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न हुआ व्यक्ति शूद्रवत् आचरण करता था तो उसको वे लोग शूद्र ही समझते थे और यदि कोई व्यक्ति जो शूद्र के घर उत्पन्न हुआ है, विद्या प्रेमी, तपस्वी और सदाचारी था तो उसको वे ब्राह्मण के समान ही आदरणीय समझते थे।

केवल समाज की सुव्यवस्था के लिये और अपने-अपने कामों में अधिक से अधिक क्षमता और कुशलता प्राप्त करने के कारण और प्रत्येक व्यवसाय करने वाले के लिये उपयुक्त रहन-सहन और आचार व्यवहार निर्धारित करने के लिये वर्ण व्यवस्था बनी थी।

सामान्य धर्मों के पालने के अतिरिक्त मनु के अनुसार ब्राह्मण के ये विशेष धर्म समझे जाते थे। विद्याओं का उपार्जन करना और विद्याओं की शिक्षा देना, यज्ञ (धार्मिक कृत्य) करना और दूसरों से कराना, दान लेना और दान देना। क्षत्रियों के विशेष धर्म हैं—

वे आत्मा को भूले रहते हैं और उनकी बुद्धि मन्द और क्षुद्र हो जाती है और वे सबका अहित करते रहते हैं और अपने क्रूर कर्मों द्वारा जगत् का नाश करने में प्रवृत्त रहते हैं। अर्थात् ऐसे-ऐसे काम करते हैं जिनसे समाज की हानि और अकल्याण होता है। वे लोग दम्भ मान और मद से युक्त होकर कभी भी पूरी न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर अज्ञानवश मिथ्या सिद्धान्तों को मानकर संसार में रहकर भ्रष्ट आचरण करते रहते हैं। मरण पर्यन्त रहने वाली अनन्त चिन्ताओं से ग्रस्त होकर विषयों के भोग में तत्पर यह समझते हैं कि संसार में इससे अधिक और कोई आनन्द ही नहीं है। सैकड़ों आशाओं के पाशों से बँधे हुए, काम क्रोध परायण वे इन्द्रियों के विषय भोगों के प्राप्त करने के लिये अन्यायपूर्वक धन सम्पत्ति को संचय करने का प्रयत्न करते रहते हैं। 'मैंने आज यह पा लिया है, अब इस मनोरथ को पूरा करूँगा मेरे पास इतना धन है और आगे इतना हो जायगा इस शत्रु का मैंने पराजय कर लिया है और दूसरे शत्रुओं को भी मार दूँगा। मैं ईश्वर (ऐश्वर्यवान्) हूँ। मैं बलवान हूँ (शक्तिशाली हूँ) और ऐश्वर्य को भोग रहा हूँ। मैं बड़ा धनवान् हूँ। मेरा कुटुम्ब या बन्धु-बान्धव बहुत है। मेरे समान दूसरा कोई है ही नहीं। मैं यज्ञ करूँगा दान करूँगा और मैं सुख भोगूँगा। इस प्रकार से अज्ञान से विमोहित वे लोग अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले मोह जाल में फँसे हुए विषय भोगों में अत्यन्त आसक्त रहने के पश्चात् महान् अपवित्र नरक में जा पड़ते हैं। वे अपने आप को ही श्रेष्ठ मानने वाले, धन और सम्मान के मद से युक्त घमण्डी पुरुष केवल नाम मात्र के लिए बिना उचित विधि से केवल नाम मात्र के लिये यज्ञादि कर्म करते हैं। अहंकार बल घमण्ड काम और क्रोध आदि के परायण दूसरों की निन्दा करने वाले अपने भीतर बैठे हुए अन्तर्यामी मेरे (भगवान) से द्वेष करते हैं। मेरे से (भगवान् से) द्वेष करने वाले पापाचारी क्रूर कर्मों नराधमों को मैं संसार में बारम्बार आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ। हे अर्जुन! वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्म में आसुरी योनियों को प्राप्त हुए मेरे (आत्मज्ञान) को न प्राप्त करके उससे भी अतिनीच गति (नरक) को प्राप्त होते हैं। क्योंकि काम क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं और आत्मा का नाश करने वाले हैं। इन तीनों को त्याग देना चाहिए।

स्मृतियों और पुराणों में जहाँ-जहाँ पापों का और उनके फलस्वरूप जो दुर्गतियाँ होती हैं उनका वर्णन विस्तार से किया है ताकि मनुष्य उनसे बचे।

पाप अनेक प्रकार के होते हुए भी उनका मूल कारण काम क्रोध मोह, लोभ मद और मात्सर्य ये छः हैं जिनको नीति शास्त्र में षड् शत्रु (षड्रिपु) बतलाये गये हैं। सबसे बड़ा पाप अपने सुख और स्वार्थ के लिये दूसरे प्राणियों को दुःख कष्ट, पीड़ा देना और है। कोई प्राणी दुःख पाना नहीं चाहता तो क्या कोई किसी को अपने

सुख के लिये दुःख दे? यदि देता है तो कर्मफल के नियम के अनुसार उसे दुःख पाना ही पड़ता है।

सामान्य और विशेष धर्म

ऊपर बतलाये गये धर्म के नियम सब मनुष्यों के लिये हैं चाहे वे किसी देश, काल, जाति, वर्ण या आश्रम के हों। इनके अतिरिक्त विशेष धर्म भी होते हैं जिनका पालन विशेष वर्ण, विशेष आश्रम, विशेष परिस्थितियों और विशेष देशों और कालों में होना चाहिए। अब उनका संक्षेप में कथन किया जाता है।

वर्ण धर्म

समाज में चार प्रकार के कार्य होते हैं जिनके अन्तर्गत अनेक प्रकार की क्रियाएँ हुआ करती हैं। वे हैं शिक्षण, रक्षण, उपार्जन और सेवा। जिन लोगों का व्यवसाय ज्ञान का अनुसन्धान और नाना प्रकार की विद्याओं का बालकों को शिक्षा देना (विद्या पढ़ाना) है उनको ब्राह्मण कहते हैं। जो समाज में व्यवस्था कायम रखते हैं, उसकी बाहर के आक्रमणों से रक्षा करते हैं और सब प्रकार के राज्य कार्य करते हैं, उनको क्षत्रिय कहते है, जो धन धान्यों का कृषि, पशु-पालन और कल कारखानों द्वारा उत्पादन और वितरण करते हैं और दूसरे देशों मे या अपने देश में भी इन वस्तुओं का व्यापार और वाणिज्य करते हैं उनको वैश्य कहते हैं, और जो अपने शरीर द्वारा दूसरों की सेवा करके अपने लिये भोजन, वस्त्र और स्थान की प्राप्ति करते हैं वे शूद्र कहलाते हैं। समाज में जितने व्यवसाय हैं उनको करने वाली जो अनेक जातियाँ (क्लास Class या कास्ट Castc हैं) वे सब इन्हीं चार वर्णों के अन्तर्गत समझी गई है। ये चार वर्ण कुछ लोगों के मत में जन्म पर निर्भर हैं और कुछ के मत में गुण और कर्म पर निर्भर हैं। शुक्रनीति और भगवत्गीता के अनुसार गुण और कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था बनी है? वे लोग भी जो वर्ण को जन्म पर आधारित मानते हैं गुणों और कर्मों को बहुत महत्व देते हैं। यदि ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न हुआ व्यक्ति शूद्रवत् आचरण करता था तो उसको वे लोग शूद्र ही समझते थे और यदि कोई व्यक्ति जो शूद्र के घर उत्पन्न हुआ है, विद्या प्रेमी, तपस्वी और सदाचारी था तो उसको वे ब्राह्मण के समान ही आदरणीय समझते थे।

केवल समाज की सुव्यवस्था के लिये और अपने-अपने कामों में अधिक से अधिक क्षमता और कुशलता प्राप्त करने के कारण और प्रत्येक व्यवसाय करने वाले के लिये उपयुक्त रहन-सहन और आचार व्यवहार निर्धारित करने के लिये वर्ण व्यवस्था बनी थी।

सामान्य धर्मों के पालने के अतिरिक्त मनु के अनुसार ब्राह्मण के ये विशेष धर्म समझे जाते थे। विद्याओं का उपार्जन करना और विद्याओं की शिक्षा देना, यज्ञ (धार्मिक कृत्य) करना और दूसरों से कराना, दान लेना और दान देना। क्षत्रियों के विशेष धर्म हैं—

विद्या (वेद) पढ़ना यज्ञ करना दान देना विषयासक्ति से अनासक्त रहकर प्रजा की रक्षा करना। वैश्यों के विशेष धर्म हैं विद्या (वेद) पढ़ना यज्ञ करना दान देना खेती करना पशुपालन करना व्यापार करना सूद लेकर दूसरों को धन देना और शूद्रों का विशेष धर्म है ईर्ष्या रहित होकर ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा करना। दूसरे स्मृतिकारों ने शूद्रों का विशेष धर्म शारीरिक सेवा करके कमाने के अतिरिक्त शिल्पों को सीख कर उनसे अपनी रोजी कमाना भी बताया है। भगवद्गीता में चारो वर्णों के धर्मों (कर्मों) को अधिक मनोवैज्ञानिक ढंग से इस प्रकार वर्णन किया है—शम दम तप शौच क्षमा सरलता ज्ञान विज्ञान आस्तिकता ये ब्राह्मण के स्वभाव से उत्पन्न होने वाले कर्म हैं। वीरता तेज धैर्य युद्ध में से न भागना दान देना और प्रजा पर शासन करना क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म (धर्म) है। खेती पशु-पालन का उद्यम और वाणिज्य वैश्यों के स्वभाव जन्य कर्म (धर्म) हैं। इसी प्रकार सेवा करना शूद्रों का स्वाभाविक धर्म है। (भगवद् गीता १८-४१-४४)

मनु ने कहा है कि काठ के हाथी और चमड़े के हरिण के समान वेद न पढ़ने वाला (अर्थात् विद्याओं को सम्पादन न करने वाला) ब्राह्मण नाम मात्र का ब्राह्मण होता है। वेद को न पढ़कर (विद्याभ्यास न करने वाला) अन्यत्र परिश्रम करने वाला ब्राह्मण अपने पुत्र पौत्रों समेत शूद्र हो जाता है। (मनुस्मृति २।१५७।१५८) सदाचार के कारण शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और दुराचार के कारण ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। यही बात क्षत्रिय और वैश्य के सम्बन्ध में भी है (मनुस्मृति १०—६५) महाभारत के वन पर्व में युधिष्ठिर ने कहा है—"सत्य दान क्षमा शील सौम्यता तप दया जिस व्यक्ति में दिखाई दे उसे ब्राह्मण कहते हैं। यदि ये लक्षण किसी शूद्र में हों तो वह शूद्र नहीं है और ये लक्षण किसी ब्राह्मण में नहीं तो वह ब्राह्मण नहीं है। जिस व्यक्ति में ये आचार हैं उसे ब्राह्मण कहते हैं और जिसमें नहीं हैं उसे शूद्र समझना चाहिए। (म भा वन पर्व १८ ।२१ २५,२६) ब्राह्मण न जन्म से होता है न संस्कार से न कुल से और न वेद के अध्ययन से। ब्राह्मण केवल वृत्त (व्यवहार) से होता है। (म वनपर्व ३१३।१ ८) अत्रि स्मृति में कहा गया है। "जो ब्राह्मण सन्ध्या स्नान जप होम नित्य देव पूजन, अतिथि सत्कार वैश्व देव करता है वह देव ब्राह्मण है। जो ब्राह्मण वन में शाक पत्ते मूल फल खा कर रहता है और नित्य प्रति श्राद्ध करता है वह मुनि कहलाता है। जो ब्राह्मण नित्य उपनिषदों का पाठ करता है सब प्रकार के संग का त्याग करता है और सांख्ययोग के विचार में रहता है वह द्विज कहलाता है। जो ब्राह्मण धनुषबाण और अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्ध में विजय पाता है वह क्षत्रिय कहलाता है। जो ब्राह्मण खेती बारी और गोपालन करता है और जिसका व्यवसाय वाणिज्य है वह ब्राह्मण वैश्य कहलाता है। जो ब्राह्मण लाख लवण केसर,

दूध, मक्खन, शहद और मास को वेचता है वह शूद्र कहलाता है। जो ब्राह्मण चोर, तस्कर (गिरहकट), नट का कर्म करने वाला, मास काटने वाला, मास-मछली खाने वाला है, वह निषाद कहलाता है। क्रियाहीन, मूर्ख, सर्व धर्म विवर्जित, सब प्राणियो के प्रति निर्दय ब्राह्मण चाण्डाल कहलाता है। (अग्नि स्मृति १। ३७०-३८०) इस कथन से यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल मे जन्म से जाति का निर्णय नही होता था वल्कि कर्म से और गुण से होता था।

आश्रम धर्म

जीवन की १०० वर्ष की अवधि मानकर उसको चार वरावर के भागो में वाँट कर चार आश्रम इसलिये वनाये गये कि एक ही जीवन में मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त कर ले। ये चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्याओ, शक्तियो और व्यवसायो के ज्ञान का उपार्जन करके जीवन में प्रवेश करने की तैयारी की जाती है। गृहस्थ आश्रम मे धार्मिक नियमो का पालन करते हुए धन सचय करके उसके द्वारा सुखो की सामग्रियाँ प्राप्त करके जीवन में प्राप्त होने वाले सासारिक सुखो का अनुभव किया जाता है। वानप्रस्थ आश्रम में गृहस्थ का त्याग करके जगल में जाकर अपनी पत्नी सहित रहकर मोक्ष प्राप्ति के लिये साधना की जाती है और सन्यासाश्रम में जीवन्मुक्त होकर विचरण किया जाता है।

ब्रह्मचारी के धर्म

ब्रह्मचर्य आश्रम में वालक गुरू के घर (गुरुकुल) में रहकर विद्याओ का अभ्यास करता है। उसके लिये जो विशेष धर्म है उनका कथन मनुस्मृति म इस प्रकार है—'गुरू कहे अथवा न कहे, ब्रह्मचारी को निरन्तर अध्ययन में और गुरू के हित के कार्यों में लगा रहना चाहिए। (मनुस्मृति २।१९१) वहुत अधिक भोजन करना स्वास्थ्य, दीर्घायु, स्वर्ग-प्राप्ति और पुण्य में वाधक है। ससार में भी अधिक भोजन करने वाले की निन्दा होती है, इसलिये अधिक भोजन करने का परित्याग करना चाहिए। (मनुस्मृति २।५७) भोजन का सदा आदर करे और भोजन करते समय उसकी निन्दा न करे, उसे देखकर हर्षित होवे और उसका स्वागत करे। आदरपूर्वक किया हुआ भोजन वल और तेज देता है। अनादरपूर्वक किया हुआ भोजन दोनो को नष्ट कर देता है। (मनुस्मृति २।५४।५५) मदिरा, मास, सुगन्धो, माला, स्वादिष्ट भोजन, स्त्री, खट्टे पदार्थ तथा जीव हिंसा का ब्रह्मचारी को त्याग करना चाहिए। उवटन, सुरमा, जूता, छाता, काम, क्रोध, लोभ, नाचना-गाना इन सवका ब्रह्मचारी को परित्याग करना चाहिए। जुआ खेलना, गप-शप करना, निन्दा करना, असत्य वोलना, स्त्रियो की ओर घूरना, और उनका स्पर्श करना तथा दूसरो पर घात (हमला) करना छोड दे। उसे अकेला सोना चाहिए। वीर्य की रक्षा

करनी चाहिए। कामवासना से वीर्यपात करने वाला ब्रह्मचारी अपने व्रत को भंग करता है। (मनु २।१७७।१८१) जिस प्रकार सारथी घोड़ों को रोकता है और अपने वश में रखता है उसी प्रकार आकृष्ट करने वाले विषयों की ओर भ्रमण करने वाली इन्द्रियों के संयम में यत्न करे (मनुस्मृति २।८८) अपनी सब इन्द्रियों को वश में करके मन को नियमित कर अपने शरीर को बिना दुर्बल किए योग के द्वारा अपने अर्थों (पुरुषार्थों धर्म अर्थ काम मोक्ष) के साधन की तैयारी करनी चाहिए। (मनु २।१)

गृहस्थों के धर्म

ब्रह्मचर्याश्रम के पूरा होने पर स्नातक को विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। गृहस्थाश्रम में रहकर धर्म अर्थ और काम की साधना करना सन्तानोत्पत्ति और सन्तान का पालन-पोषण करना चाहिए और तीनों आश्रमों की सेवा और विशेषतः अतिथि सत्कार और घर की स्त्रियों का आदर करना चाहिए। गृहस्थी के कुछ विशेष धर्मों के कथन स्मृतियों में इस प्रकार हैं—

जिस प्रकार वायु के सहारे सब जीव जीते हैं उसी प्रकार गृहस्थ के सहारे सभी अन्य आश्रम रहते हैं। (मनु ३।७७) जो गृहस्थाश्रमी देवताओं अतिथियों माता-पिता आदि वृद्धजनों पितरों और अपने को अन्न आदि से सन्तुष्ट नहीं करता वह श्वास लेता हुआ भी मृतक के समान है। (मनु ३।७२) गृहस्थी को जिन कर्मों का त्याग करना चाहिए वे ये हैं—असत्य परस्त्री गमन अखाद्य भक्षण अगम्य का गमन अपेय का पान चोरी हिंसा श्रुति विरुद्ध कर्मों का आचरण चुगली कपट, काम, क्रोध अप्रियता द्वेष दम्भ परद्रोह (दक्ष स्मृति ३।११–१३) जो प्रतिदिन सब के भाग का सम्यक विभाग करने वाला क्षमा-युक्त दयालु देवता और अतिथियों का भक्त होता है वह गृहस्थ धार्मिक है। (दक्ष स्मृति २।५४) बालकों स्त्री रोगी नौकर, बालक और वृद्ध के भूखा रहते हुए जो गृहस्थी भोजन करता है वह सब पाप खाता है (व्यास स्मृति ३।५)

गृहस्थ को पाँच महायज्ञ नित्य करना चाहिए, वे ये हैं—१—ब्रह्मयज्ञ (आध्यात्मिक चर्चा वेद उपनिषद आदि का अध्ययन) २—देव यज्ञ—देवताओं को अग्नि में आहुति के द्वारा अन्न दान। ३—पितृ यज्ञ—पितरों के लिए श्रद्धापूर्वक जल दान ४—भूतयज्ञ—पशु-पक्षी कीट-पतंग आदि प्राणियों की रक्षा करना और उनको भोजन देना और ५—मनुष्ययज्ञ—सब मनुष्यों के साथ प्रेम का बर्ताव करना सबकी भलाई चाहना और अतिथियों की सेवा और सत्कार करना। मनु ने कहा है — अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है तर्पण पितृयज्ञ है होम देवयज्ञ है, बलि भूत यज्ञ है, और अतिथि-सत्कार मनुष्ययज्ञ है। (मनु ३।७) "ऋषि पितर देवता भूत और अतिथि यह गृहस्थों की सहायता की आशा करते हैं इसलिए जानने वाले को चाहिए कि उनको दे। स्वाध्याय के द्वारा ऋषियों

की, होम के द्वारा देवताओ की, भोजन के द्वारा मनुष्यो की और बलि के द्वारा भूतो की पूजा करनी चाहिये। (मनु० ३।८०)

अतिथि सत्कार का भारतीय नीति शास्त्रो में बहुत बडा महत्व लिखा है। गृहस्थी के लिये यह एक महापुण्य का कार्य है और इसका न करना बहुत बडा पाप है। मनु ने कहा है—"जो अतिथि को नही खिलाया जावे वह घी, दूध, मिठाई आदि पदार्थ स्वय भी न खावे। अतिथि का पूजन (भोजनादि से आदर सत्कार) करना, धन, आयु, यश तथा स्वर्ग का कारण होता है। (मनु० ३।१०६) तृण (आसन और शयन के लिये) भूमि (बैठने का स्थान) जल (पीने के लिये) और मधुर वचन, इन चारो की तो सज्जनो के घर मे कभी कमी नही होती। अतएव यदि अन्न भी न हो इन्ही के द्वारा अतिथियो का सत्कार करना चाहिए। (मनु० १०१) इष्ट (मित्र) हो या द्वेष्य (शत्रु), पडित हो या मूर्ख, भोजन के समय और वैश्य देव बलि के उपरान्त आया हुआ अतिथि स्वर्ग का निमित्त होता है।

गृहस्थी के सिर पर तीन ऋण होते हैं—देव ऋण, पितृ ऋण, और ऋषि ऋण। देव ऋण वह है जो वस्तुयें हम दैविक शक्तियो से बिना मूल्य चुकाये पाते हैं—जैसे अग्नि, जल, वायु, प्रकाश, वर्षा आदि। ऋषि ऋण वह ज्ञान है जो हम पूर्वकालीन ऋषि, मुनि, सन्त और महात्माओ की लिखी हुई पुस्तको से पाते हैं। पितृ ऋण वह ऋण है जो हमारे ऊपर हमारे पूर्वजो और माता पिता का है जिनके कुल में हम उत्पन्न हुए हैं और जिन्होंने हमारा पालन-पोषण किया है। इन तीनो को हमको गृहस्थ आश्रम में चुकाना चाहिये। देवताओ का बदला हम उनको होम द्वारा आहुति देकर, उनकी उपासना करके, उनको धन्यवाद देकर, चुका सकते हैं। ऋषियो का ऋण विद्यादान देकर, विद्यालयो को धन दान देकर, या स्वय पुस्तकें लिखकर चुका सकते हैं। पितृ ऋण हम पितरो को जलाजलि देकर, उनके लिये श्राद्ध करके और अच्छी सन्तान को उत्पन्न और पालन-पोषण करके और माता पिता की सेवा करके चुका सकते हैं।

गृहस्थ में रहकर हमारी माता, पिता, भाई, नौकर-चाकर आदि से सदा शिष्टता और प्रेम का व्यवहार होना चाहिये। इसकी शिक्षा हमको वाल्मीकि रामायण और तुलसीदास जी की रामचरित मानस से राम के आचरण से मिलती है।

गृहस्थ में स्त्रियो का आदर सत्कार होना चाहिये। उनको किसी प्रकार का कष्ट और क्लेश नही होना चाहिये। मनु ने कहा है—"बहुत कल्याण की इच्छा करने वाले पिता, भाई, पति, और देवरो को चाहिये कि स्त्रियो का आदर करें और उनको वस्त्र और आभूषणो से अलकृत करें। जहाँ स्त्रियो का सन्मान होता है वहाँ देवता लोग प्रसन्न होते हैं और जहाँ उनका आदर नही होता वहाँ सब क्रियायें निष्फल होती हैं। जिस

कुटुम्ब से सम्बन्ध की स्त्रियाँ शोकग्रस्त रहती हैं वह कुटुम्ब शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और जहाँ वे शोक से मुक्त रहती हैं वह कुटुम्ब सदा उन्नति करता है। (मनुस्मृति ३।५५-५७) जिस कुटुम्ब में पति पत्नी से और पत्नी पति से सन्तुष्ट रहते हैं वहाँ निश्चित रूप से सदा आनन्द ही आनंद है। (मनु ३।६)

माता-पिता और गुरु की सेवा करना और उनको प्रसन्न रखना पुत्रों का परम धर्म है। मनु ने कहा है—"माता पिता और आचार्य को जो प्रिय हो वही सदा करना चाहिये उनके सन्तुष्ट होने पर सब तपस्या पूर्ण हो जाती है। इन तीनों की शुश्रूषा ही सबसे बड़ा तप है। उनकी अनुमति के बिना और कोई धर्म नहीं करना चाहिये। जिसने इन तीनो का आदर कर लिया उसने सब धर्मों का आदर कर लिया। जिसने इन तीनो का अनादर किया उसकी क्रियायें निष्फल होती हैं। इन तीनो का आदर करने से मनुष्य का कर्तव्य पूरा हो जाता है। यह सबसे बड़ा धर्म है। अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं। (मनुस्मृति २।२२७—२२९,२१४ २३५,२३७) पद्मपुराण में लिखा है—"जिसकी सेवा और सद्गुणों से माता पिता सन्तुष्ट रहते हैं उस पुत्र को प्रतिदिन गंगा स्नान का फल मिलता है। माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओं का स्वरूप । इसलिये सब प्रकार से यत्नपूर्वक माता पिता का पूजन करना चाहिये"। (सृष्टि खंड ४७।१०—११) माता-पिता का पालन-पोषण न करने से समस्त पुण्यों का नाश हो जाता है। माता-पिता की आरा धना न करके पुत्र यदि तीर्थ और देवताओं का सेवन भी करे तो उसे उसका फल नहीं मिलता। (सृ ख ४७।२१)

भाइयों में परस्पर कैसा सम्बन्ध होना चाहिये यह महाभारत के अनुशासन पर्व के अध्याय ५५ में भीष्म द्वारा युधिष्ठिर को बतलाया गया है। "छोटे भाइयों से भूल-चूक हो जाने तो भी बड़े भाई को एकाएक कठोर नहीं होना चाहिये। छोटे भाई कुमार्गगामी हो तो भी बड़े भाई को किसी न किसी प्रकार उनके आचरण को सुधारने का यत्न करना चाहिये। बड़ा भाई पापी हो तो भी छोटे भाइयों को उसका सत्कार करना चाहिये। पिता के देहान्त हो जाने पर बड़ा भाई पिता के समान होकर छोटे भाइयों का पालन करता है अतएव छोटे भाई को बड़े भाई की आज्ञा उसी प्रकार माननी चाहिये जिस तरह पिता की मानते थे और उसी तरह उसका सम्मान करना चाहिये। मनुस्मृति में भी कहा गया है "बड़ा भाई छोटे भाइयों का इस प्रकार पालन करे जिस प्रकार पिता पुत्र का करता है तथा छोटे भाई को भी धर्मानुसार बड़े के प्रति पिता के समान व्यवहार करना चाहिये। (मनुस्मृति ९। १ ८—१ ९) बहनों के साथ भी उत्तम व्यवहार होना चाहिये और उनको धन आदि देकर सन्तुष्ट रखना चाहिये। मनुस्मृति में लिखा है—"भाई को चाहिये कि वह अपने अंश में से अपनी बहन को चौथाई भाग दे दे। नहीं देने से पतित होता है (मनुस्मृति

९।११८) भाई बहनों के अतिरिक्त कुटुम्ब में यदि और कोई भी रहते हों या अतिथि आदि के रूप में आते हों तो सबका भरण-पोषण करना गृहस्थी का धर्म है। मनु ने कहा है "माता, पिता, गुरु, स्त्री, सन्तान, दीन, समाश्रित, अभ्यागत, अतिथि और अग्नि ये पोष्य वर्ग हैं। जाति, बन्धु, अनाथ और दीन दुःखी और अन्य धनहीन भी इसी वर्ग में आते हैं। अन्न आदि सभी प्राणियों के लिये बनाये जाने चाहियें और सब को देने चाहिये। जो ऐसा नहीं करता वह नरक में जाता है। पोष्य वर्ग का पालन करना स्वर्ग का उत्तम साधन है। पोष्य वर्ग की पीडा से नरक होता है इसलिये पोष्य वर्ग का यत्न से पालन करे। वही वास्तव में जीता है जो बहुतों का पालन करता है। अन्य पुरुष तो केवल उदर भरने वाले हैं। जीवित ही मृतक हैं। (मनुस्मृति ३।३३–३६) प्रत्येक गृहस्थी का यह कर्त्तव्य है कि सभी मित्र सम्बन्धियों तथा नौकरों को भोजन कराने के पश्चात् जो शेष बचे वही खावे। ऋग्वेद में कहा है "जो न तो देवता को देता है और न मित्र को, और स्वयं भोजन कर लेता है वह केवल पाप ही खाता है।" (१०।११७।६) भगवद्गीता में कहा गया है कि "जो केवल अपने आप ही के लिये भोजन बनाते हैं वे पाप खाते हैं।" अपने पीडित कुटुम्बियों का पालन पोषण छोड़ कर जो दूर के लोगों को दान देते हैं (अपना नाम और ख्याति करने के लिये) उनकी शास्त्रों में निन्दा की गई है। मनु ने कहा है "जो समर्थ व्यक्ति स्वजनों के दुःखी होने पर भी परजनों को देता है उसका दान प्रारम्भ में मधु परन्तु अन्त में विष के समान धर्म का पाखण्ड मात्र है। भृत्यों (नौकरों) को कष्ट देकर जो परलोक के लिये दान करता है उसका दान जीवित रहने पर और मरने पर भी दुःखदायक होता है। (मनुस्मृति ११।९।१०)

इस प्रकार धार्मिक आचरण करता हुआ गृहस्थी केवल धर्म, अर्थ और काम का ही सुख नहीं भोगता वह उच्चकोटि की आध्यात्मिक साधना भी कर सकता है जैसा कि प्राचीन काल में ऋषियों, मुनियों, मध्यकालीन सन्तों और महात्माओं ने की है। आजकल के समय में भी महात्मा गान्धी, कवि सम्राट् रवीन्द्रनाथ टैगोर और महामना मालवीय जी ने गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी उच्च से उच्च प्रकार का आध्यात्मिक जीवन बिताया। योगवासिष्ठ में कहा गया है कि आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये घर त्याग कर वन जाने की नितान्त आवश्यकता नहीं है। जो सिद्धि वन में रहकर वानप्रस्थी या सन्यासी प्राप्त करता है वही घर में रहकर गृहस्थी भी प्राप्त कर सकता है—"जिनका चित्त भली भाँति स्थिर है और जिनका अहंभाव क्षीण हो गया है उन गृहस्थियों के लिये उनका घर ही निर्जन वन के तुल्य है।" (५।५६।२२) समाहित चित्त वालों के लिये तो घर और वन एक से ही हैं। (५।५६।२३) जो ज्ञान द्वारा कर्म त्याग (मानसिक त्याग) में स्थित हो गया है और वासना रहित होकर जीवन्मुक्त हो गया है, वह चाहे घर में रहे चाहे वन

में उनके लिए एक-सा ही है। शान्त चित्त व्यक्ति के लिए तो घर ही दूरवर्ती निर्जन वन के समान है और अशान्त पुरुष के लिए निर्जन वन भी मनुष्यों से भरी हुई नगरी के समान है। (६।२।३।१८)

वानप्रस्थाश्रम

जो लोग गृहस्थाश्रम में रहते हुए आध्यात्मिक साधना नहीं कर सकते उनको अपने पुत्र को गृहस्थ का भार सौंपकर संसार में योग्य होने पर आध्यात्मिक साधना अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए घर से दूर कहीं पर जाकर साधना करनी चाहिए। जब तक पत्नी जीवित है उसको साथ लेकर घर और बाल बच्चों से अलग रहकर कहीं जंगल में एक कुटिया बनाकर आध्यात्मिक साधना करनी चाहिए और जब तक पत्नी साथ है तब तक पंच महायज्ञादि कर्म और अतिथि सत्कार आदि धर्मों का पालन करते हुए तप स्वाध्याय और योगाभ्यास करना चाहिए। मनुस्मृति में लिखा है— गृहस्थ जब देखे कि उसके बाल सफेद हो गए हैं, त्वचा शिथिल हो गई है तथा पौत्र उत्पन्न हो गया है उस समय उसे वैराग्य युक्त होकर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने के लिये वन को चला जाना चाहिए। (मनुस्मृति ६।२) वानप्रस्थी के धर्म बताते हुए मनु ने कहा है उसको निरन्तर अध्ययन में लगा रहना चाहिये इन्द्रियों का दमन करना चाहिए सबके साथ मित्रता का व्यवहार करना चाहिए समाहित रहना चाहिए सदा दान देते रहना चाहिए किसी से कुछ लेना नहीं चाहिये और सब प्राणियों पर दया करते रहना चाहिए। (मनुस्मृति ६।८)

सन्यास आश्रम

वानप्रस्थ आश्रम में रहते हुए जब पत्नी का देहान्त हो जाय तब वानप्रस्थी को सन्यास आश्रम में प्रवेश कर लेना चाहिये। सन्यासी के लिए किसी यज्ञ का विधान नहीं है। उसको किसी का अतिथि सत्कार भी नहीं करना है। न उसको कोई कुटिया बनानी है उसे अपने लिए भो — — — है। उसको अकेला विचरण करना है और केवल आत्मज्ञान और — — । सब समय बिताना है। ब्रह्माभ्यास करते-करते मोक्ष का अनुभव कर — जीवन्मुक्त होकर संसार में विचरते रहना है। उसको जीवन की इच्छा और मौत का डर नहीं रहता। वह सब को भगवान् का स्वरूप समझकर सबके साथ प्रेम का बर्ताव करता है। मनु ने सन्यासी के सम्बन्ध में लिखा है—"वह अग्नि और निवास स्थान से रहित होवे। भोजन के लिए भिक्षा करने गाँव में जाय। सबसे उदासीन रहे। अपने निश्चय पर दृढ़ रहे और समाहित होकर विचार करता रहे। (मनुस्मृति ६।४३) न तो वह मृत्यु की आकांक्षा करे न जीवन की। जैसे सेवक आज्ञा की प्रतीक्षा करता है वैसे ही वह समय की प्रतीक्षा करे। अपनी दृष्टि से पवित्र करके (पृथ्वी को देखकर) पैर रखे। कपड़े से छान कर पानी पीवे। सत्य से युक्त पवित्र वाणी

बोले और पवित्र मन से कार्य करे। कठोर वचनों को सहे, किसी का अपमान न करे। इस शरीर के कारण किसी से वैर न करे। क्रोध करने वाले पर क्रोध न करे, गाली देने वाले को आशीर्वाद दे। असत्य वाणी को न बोले। आत्मा में ही आनन्दित रहे, उदासीन रहे, किसी वस्तु की अपेक्षा न करे, मांस न खाये, आत्मा को ही सहायक बनाकर पृथ्वी तल पर मुक्ति के आनन्द के लिये विचरण करे। (मनुस्मृति ६।४५–४९)

स्त्रियों के विशेष धर्म

सधवा स्त्री का धर्म

जो स्त्रियाँ विवाह करके गृहस्थाश्रम में पत्नी के रूप में रहती हैं उनका सबसे बड़ा कर्त्तव्य पति की सब प्रकार से सेवा करना है। एक नीतिकार ने आदर्श पत्नी का रूप यह बतलाया है—"घर के कामों में दासी के समान, रति क्रीडा में वेश्या के समान चतुर और प्रवीण, भोजन बनाने और खिलाने में माता के समान, और विपत्ति आदि के अवसर पर उचित सम्मति देने वाली होना चाहिये।' शंख स्मृति में कहा है "वही स्त्री भार्या है जो घर के कामों में दक्ष, पतिव्रता, पति को अपना प्राण समझने वाली तथा सन्तान वाली होती है। (शंख स्मृति ४–१५) स्त्री का एकमात्र धर्म पति की सेवा है। शंख स्मृति में कहा है—"न व्रत से, न उपवास से, न और किसी विविध धर्मों के पालन से, स्त्री स्वर्ग प्राप्त करती है। केवल पति की पूजा द्वारा ही वह स्वर्ग प्राप्त करती है। (शंख स्मृति ५।८) भारत के सभी धर्म और नीति के ग्रन्थों में स्त्री के लिये पति को प्रसन्न रखना और उसकी हर हालत से सेवा करना ही उसका एकमात्र धर्म बतलाया है। तुलसीदास के रामचरित मानस ने अनुसूया में सीता को इसी प्रकार का उपदेश दिया है।

विधवा स्त्री का धर्म

यदि स्त्री बाल्यकाल में विधवा हो जाये और उसका पति के साथ समागम न हुआ हो तो प्राय अधिक धर्मशास्त्र उसको दूसरा विवाह की आज्ञा देते हैं। मनुस्मृति में कहा गया है—"जिस स्त्री को पति ने त्याग दिया है, या जो विधवा हो गई है, वह पति के यहाँ जाने जाने पर भी यदि अक्षत योनि हो तो दूसरे पति को ग्रहण कर सकती है। (९।७६) पाराशर स्मृति भी यह उचित समझती है कि पति के मर जाने और खोये जाने आदि पर स्त्री का दूसरा विवाह किया जा सकता है। "पति के खोये जाने पर, मर जाने पर, परिव्राजक हो जाने पर, क्लीव निकल आने पर और पतित हो जाने पर, स्त्री दूसरा पति ग्रहण कर सकती है।" (४।३०) हाँ यह स्त्री की इच्छा पर निर्भर है कि वह दूसरा पति ग्रहण करती है अथवा ब्रह्मचर्य से रहकर वैधव्य के नियमों का पालन करती है। जो स्त्री विधवा होकर ब्रह्मचारिणी रहती है उसका पुण्य, विवाह करके दुबारा पत्नी बनने से कहीं, अधिक है। पराशर ने लिखा है भर्ता के मर जाने पर जो स्त्री ब्रह्मचर्य से रहती है वह मर

कर अन्य ब्रह्मचारियों की नाईं स्वर्ग को जाती है। (पारा स्मृ ४।११) ब्रह्मचारिणी विधवा के जीवन के यम नियम उसी प्रकार के होते जैसे कि अन्य नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के होते हैं।

ब्रह्मचारिणी को सब प्रकार के भोग-विलासों और इन्द्रियों के विषयों को त्याग कर तपस्या का जीवन व्यतीत करना होता है जिससे कि वह आध्यात्मिक साधना कर सके। जिस स्त्री ने कुछ दिनों तक गृहस्थ का अनुभव कर लिया है और इसके दु ख-सुखों से भली भाँति परिचित हो चुकी है उसके समक्ष भारतीय नीति के अनुसार यह पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वह पुन गृहस्थी बने या ब्रह्मचारिणी बनकर आध्यात्मिक साधना करे। भारतीय नीतिकारो ने विशेषत मनु ने एक तीसरी बात भी विधवा के लिये कही है जो पूर्वकालीन समय में तो कुछ पसन्द न आने की बात भी शायद रही हो पर इस युग में वह सरल है और नापसन्द नही हो सकती। वह है नियोग। जो स्त्री विधवा होने से पहिले माता नही हुई और वह माता बनना चाहती हो तो अपने कुटुम्बी किसी युक्त पुरुष के साथ नियोग (समागम) करके गर्भ धारण कर सकती थी। यह सब कामोपभोग के लिये नही होता था। केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये ही होता था। आज के युग में तो विज्ञान ने बिना कामोपभोग गर्भाधान को बहुत ही सरल बना दिया है। केवल माता बनना चाहने वाली विधवाओ को इस विधि (Artufical insemmation—कृत्रिम गर्भाधान) करने में भारतीय नीति में किसी नियम को अवहेलना नही होती।

आपद्धर्म

भारतीय नीति शास्त्र की परम उदारता और ऐहिलौकिक महत्ता उसके आपद्धर्म के विचार म प्रकट होती है। जो लोग भारतीय नीति शास्त्र में यह दोष बताते हैं कि यह जीवन रक्षक (Life affermmg) की नीति नही है जीवन त्याग (Life denying) की नीति है वे इसको अच्छी तरह नही समझे। भारतीय नीति शास्त्रो म मानव जीवन पर और हर हालत में जीवन रक्षा करने पर बहुत बल दिया है। अधिकतर नीतिकारो न जीवन रक्षा का धर्म रक्षा से श्रेष्ठ समझा है इस कारण कि जीवन रहा तो धर्म पालन किया जायेगा और यदि जीवन न रहा तो धर्म का पालन ही कौन करेगा। ऐसे धर्मों को जो आपत्काल में केवल जीवन रक्षा के निमित्त किये जाते हैं आपद्धर्म कहते हैं। आपद्धर्म के सम्बन्ध में कुछ उदाहरण यहाँ पर दिये जाते हैं—अपना जीवन पुन प्राप्त नही होता और सब वस्तुएँ प्राप्त हो सकती है। इसलिये अपने जीवन की सब प्रकार से रक्षा करे क्योंकि यदि कोई जीवित ही नही रहेगा तो वह किस प्रकार से आनन्द लेगा? (शुक्र नी ति ३।११८) मनुस्मृति में लिखा है—प्राणों के निकलने का अवसर आने पर मांस खा लेना चाहिये (५।२७) अुचित अजीर्णत पुत्र

हत्या में प्रवृत्त हुआ। इस प्रकार क्षुधा का प्रतिकार करता हुआ वह पाप लिप्त अधर्म और धर्म को भली भाँति जानने वाले महर्षि वामदेव प्राण रक्षा के लिये कुत्ते का मास खाने की इच्छा करते हुए भी दोषी नही हुए—धर्माधर्म को जानने वाले विश्वामित्र ऋषि ने क्षुधा से चाण्डाल से लेकर कुत्ते की जाँघ का मास खाने की इच्छा की (१०५)

किन्तु एक वात याद रखने की है कि "आपत्तिकाल में कहे गये धर्म का जो अनापत्तिकाल में प्रयोग करते हैं वे परलोक मे उसका फल नही पाते (मनुस्मृति ११–३८)

वलात्कार से स्त्री दूषित नही होती

भारतीय नीतिशास्त्र की सवसे वडी उदारता इस विचार में पाई जाती है कि वह वलात्कार किये जाने के पश्चात् भी स्त्री को पवित्र ही मानता है। जव तक स्त्री स्वयँ अपनी इच्छा मे किसी परपुरुष से व्यभिचार नही करती तव तक उसके साथ जवरदस्ती से कोई व्यभिचार कर ले तो उसमें उसका कोई पाप और दोष नही समझा जाता और यदि वह गर्भवती न हुई हो तो मासिक स्राव के पीछे वह पवित्र हो जाती है। कुछ नीतिकारो के कथन इस विषय पर ये हैं। "जिस प्रकार वहती हुई धारा, वायु से उडी हुई धूल सदा पवित्र रहती है, उसी प्रकार स्त्री, वृद्ध और वालक सदा पवित्र रहते हैं। (पाराशर स्मृति ७।३७)" स्त्री, वालक और वृद्ध के समस्त चरित्र पवित्र होते हैं। ये तीनो कभी दूषित नही होते" (आपस्तभ स्मृति २।१) "जार पुरुष से स्त्री दूषित नही होती। जो स्त्री असवर्ण पुरुष से भी गर्भ धारण कर लेती है वह जव तक उसके पेट में गर्भ रहता है तभी तक अशुद्ध होती है। उसके परित्याग करने पर जव रजोदर्शन हो जाता है तव वह नारी विमल स्वर्ण की भाँति शुद्ध हो जाती है। स्वय घवराकर या दूसरो द्वारा ताडित होकर, वलात्कार या चोरी से भोगी गई नारी का कभी परित्याग नही करना चाहिए। हाँ, ऋतुकाल तक उसकी प्रतीक्षा करे, क्योकि ऋतुमती हो जाने पर भी वह शुद्ध हो जाती है। रजक (धोवी) चमार, नट, वुरुड, मल्लाह, भेद, भील, ये सात अन्त्यज कहलाते हैं। यदि कोई स्त्री, मोहवश इनके पास जाकर, इनसे सभोग कर ले और गर्भवती भी हो जाये तो भी ज्ञानपूर्व कुछ व्रत का वर्ष भर तक और अज्ञान से दो वर्ष तक कुछ व्रत का अनुष्ठान करने पर वह शुद्ध हो जाती है। पाप कर्म करने वाले म्लेच्छो द्वारा एक वार उपभोग की हुई स्त्री प्राजापत्य व्रत के द्वारा तथा ऋतुस्राव के द्वारा शुद्ध हो जाती है। स्वेच्छा से अथवा वलात् अथवा दूसरो की प्रेरणा से एक वार भोगी हुई स्त्री प्राजापत्य व्रत द्वारा शुद्ध हो जाती है। (अत्रि स्मृति १८२।१९९) इसी प्रकार ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में लिखा है कि चार पुरुष के द्वारा वलात्कार से स्त्री के साथ सभोगादि किये जाने पर वह स्त्री दूषित नही होती। (४।६२।५३) जो स्त्रियाँ वलवान् पुरुषो द्वारा अपहृत कर ली जाती हैं उनकी प्रायश्चित के द्वारा शुद्धि हो जाती है। उनको इस प्रकार के अपहरण से सभोगजन्य पाप

नहीं सकता। (२।६१।८२) पञ्चतन्त्र में लिखा है "चन्द्रमा ने स्त्रियों को शुद्धता गन्धर्वों ने उसको शिक्षित (मधुर) वाणी और अग्नि ने सर्वांग पवित्रता दी है। अतः स्त्रियाँ सदा ही दोष रहित होती हैं (पञ्चतन्त्र १।२७७) स्त्रियों के सम्बन्ध में इससे अधिक उदार विचार और क्या हो सकता है?

मोक्ष साधना

धर्म जीवन यात्रा के ऐसे नियमों का नाम है जिन पर चलने से व्यक्ति का जीवन सुखी और समाज सुव्यवस्थित रहता है। धर्म से नियमित होकर धन कमाने और कामोपभोग करने से यहाँ कोई दुःख नहीं होता और परलोक में भी सद्गति प्राप्त होती है। पर न धर्म न धन और न कामोपभोग ही जीवन का परम लक्ष्य है। लक्ष्य है सब सीमाओं से मुक्ति और ब्रह्मत्व की प्राप्ति परम पूर्णता की प्राप्ति। सब दुःखों से निवृत्ति और परम आनन्द की प्राप्ति। भारतीय विचारधारा में इस अवस्था को अनेक नामों से व्यक्त किया गया है। मोक्ष अपवर्ग कैवल्य निर्वाण मुक्ति, ब्राह्मी स्थिति आत्मानुभव आदि उसी के नाम हैं।

उस अवस्था या स्थिति को प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार की साधनाएँ करनी होती हैं जिनका शास्त्रों में अलग-अलग वर्णन और निरूपण किया गया है पर वास्तव में वे सब एक दूसरी से बहुत ओतप्रोत और सम्बद्ध हैं और एक ही साधना के अनेक अंग या अनेक नाम और रूप हैं। उनमें कोई विरोध नहीं है। भेद इतना ही है कि आरम्भ में किसी साधक की रुचि और अधिकार किसी में है तो दूसरे साधक के किसी दूसरे में। अन्त में जाकर वे एक दूसरी के अधिक से अधिक समीप आकर ही एक ही में परिणत हो जाती हैं। आरम्भ में साधना के अलग-अलग मार्ग दिखाई देते हुए भी वास्तव में एक ही मार्ग है। इस मार्ग को योग नाम दिया गया है। योगवासिष्ठ में कहा गया है कि संसार सागर से पार होने की युक्ति का नाम योग है। (योग वासिष्ठ ६।१।१२६)

प्राचीन समय में योग के तीन प्रकार थे कर्म उपासना और ज्ञान भगवद्गीता में योग के प्रकार बताये गये हैं वे हैं ज्ञानयोग भक्तियोग, कर्मयोग और ध्यान योग। योगवासिष्ठ में योग के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—एक तत्त्व का अभ्यास (ज्ञानयोग) मनोनिरोध (राजयोग) और प्राण निरोध (हठयोग) मध्यकालीन सन्तों ने हठयोग, कुण्डलिनीयोग लययोग और शब्द योग और हरिस्मरण और कीर्तन के द्वारा सिद्धि प्राप्त की थी। महात्मा गाँधी ने सेवा योग और अनासक्ति योग का उपदेश दिया है। यहाँ पर हम इनमें से कुछ योगों (योग साधनाओं) की चर्चा करते हैं।

सब साधनाएँ वास्तव में ब्रह्मत्व की प्राप्ति के मार्ग हैं और अपनी-अपनी रुचि अधिकार, और परिस्थितियों के अनुसार की जानी चाहिए। जिससे जिसको सफलता

मिल जाये वही उसके लिये ठीक है। दूसरे की साधना से मुग्ध होकर अपनी को छोड़ना या दूसरों द्वारा प्रेरित होकर अपनी साधना को बल देना ठीक नही है। इसीलिये योगवासिष्ठ में कहा गया है "जिस साधना से किसी की उन्नति होती हो उसके लिये वही ठीक है। उसको छोडना न शोभा देता है, न सुखकर है, न हितकर है और न शुभ फल देने वाला है। (६।२ १३०।२)

उपासना

उपासना का शाब्दिक अर्थ है पास बैठना (उप = पास + आसन = बैठना) अर्थात् भगवान् (परमात्मा) के नजदीक होना। उपनिषद् मे कहा गया है "आत्मा (परमात्मा) की उपासना करनी (उसको प्रसन्न करना) चाहिये। उसके स्वरूप को जानने से प्राणी मृत्यु के साम्राज्य से परे चला जाता है। कल्याण के लिये कोई दूसरा मार्ग नही है।" (बृहदारण्यक उप० १।४।७) उपासना वसे तो किसी समय भी या हर समय ही होनी चाहिए पर आरम्भ में ऋग्वेद के अनुसार तीन वार (ऋग्वेद ८।२७।२१) और अथर्ववेद के अनुसार (१०–२–१६) चार वार करनी चाहिये। उपासना के ये चार समय हैं— सूर्योदय का समय, मध्यान्ह्य, सन्ध्या, और रात्रि (सोने के पहिले) किसी सुन्दर शान्त और एकान्त स्थान में पवित्र और शान्त चित्त होकर करनी चाहिए। उपासना (भगवान के ध्यान करने) में उसके गुणों, महत्व सर्व व्यापकत्व, और परमानन्दत्व आदि का चिन्तन करते हुये उससे उसकी कृपा और अनुग्रह के लिये प्रार्थना की जाती है। भगवान् की सत्ता मे विश्वास, उसमें श्रद्धा और उसका परम प्रेम (भक्ति) उपासना के प्राण हैं। इसलिये ही पीछे चलकर उपासना का नाम भक्ति पड गया और इस प्रकार की साधना को भक्तियोग कहा जाने लगा।

भक्तियोग

नारद के भक्ति सूत्र में लिखा है परमेश्वर के प्रति परम प्रेम को ही भक्ति कहते हैं। शाण्डिल्य सूत्र में कहा गया है। "ईश्वर के प्रति परम अनुराग का नाम भक्ति है। इस अनुराग या प्रेम से जीव अमृतत्व को प्राप्त करता है।" दैवी मीमांसा में कहा गया है भक्ति का रूप है भगवान के प्रति अनुराग। यह अनुराग स्नेह, प्रेम और श्रद्धा के रूप में प्रकट होता है।" मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भक्ति का लक्षण है भगवान् के प्रेम से द्रवित होकर उनके साथ सविकल्प तदात्मभाव। नारद ने भक्ति सूत्र मे भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पण कर देना और उसके क्षण भर को भी विस्मरण होने पर अत्यन्त व्याकुल होना भक्ति का रूप है। भक्ति तीन प्रकारो में व्यक्त होती है। वैधी (विधियुक्त), रागात्मिका और परा। वैधी भक्ति आरम्भ की अवस्था है जिसमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवा, अर्चना (पूजा) वन्दन, दास्य भाव, सख्यभाव

और आत्मनिवेदन नामक ९ प्रकार की क्रियायें होती हैं। यह अधिकतर भगवान् के सगुण रूपों की ही उपासना है। आरम्भ काल में कुछ साधकों के लिए यही उपयुक्त है और इसी के द्वारा प्राणी आगे बढ़ता है। इसकी पराकाष्ठा भक्त और भगवान के अभेद के अनुभव में होती है। जब मन स्थिर होकर भगवान् में पूर्णतया रमने लग और तन्मय तदाकार हो जाय और अपने मन के भीतर ही उसके रूप का प्रकाश हो जाय तब बाह्य रूप की उपासना का अन्त होकर भक्त आन्तरिक ध्यान में लग जाता है। मूर्ति पूजा और सगुण रूपों की पूजा का उद्देश्य यही है कि मन को भगवान के प्रति एकाग्र होने की आदत पड़ जाये।

भक्ति का दूसरा प्रकार रागात्मिका भक्ति है। रागात्मिका भक्ति भक्त का वह रागानुभव है जिसके द्वारा भगवान् के ध्यान में रस और आनन्द का अनुभव होने लगे। नारद भक्ति सूत्र में बतलाया गया है कि 'भक्ति में भक्त परमात्मा के साथ तल्लीन हो जाता है' तब तृप्त हो जाता है। उसके हृदय में परमात्मा के सिवाय और किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती। उसे किसी सांसारिक वस्तु से राग-द्वेष नहीं रहता न किसी की चिन्ता रहती है। उसे लौकिक विषयों में रुचि नहीं रहती और न किसी लौकिक वस्तु को प्राप्त करने का वह यत्न करता है। केवल परमात्मा को जानकर उसी में मस्त होता है और उन्मत्त सा होकर आनन्द में मग्न रहता है। उसी को निरन्तर देखता है सुनता है, उसी का चिन्तन करता है। परमात्मा के प्रति अनेक प्रकार के राग (आसक्ति) हो सकते हैं यथा दास्य सख्य कान्त वात्सल्य, आत्म निवेदन तन्मयता परम विरह आदि। पूर्ण रागात्मक भक्ति अपन सभी भावों का विषय ईश्वर को बना देता है। यहाँ तक कि गोपियों ने भगवान् को जार भाव से भी देखा। रागात्मिका भक्ति की पराकाष्ठा पराभक्ति में होती है क्योंकि इसके द्वारा भक्त अपने को भाव समुद्र में इतना डुबा देता है कि अपना अस्तित्व भूलकर केवल अपने इष्टदेव भगवान् के साथ तन्मय होकर भावसागर में तद्रूप हो जाता है।

पराभक्ति—सर्वत्र ब्रह्म की अनुभूति, ब्रह्म भावना और ब्राह्मी स्थिति होना क्रमशः पराभक्ति कहलाती है। यह भक्ति की परम पराकाष्ठा है। इसमें पहुँचने पर और कुछ करना नहीं रहता। तब अज्ञान क्षीण होकर ब्रह्मज्ञान हो जाता है और तब कर्मों के बन्धन छूटकर सब कर्म निष्काम भाव से भगवदर्पण भाव से किये जाने लगते हैं और मानव मुक्ति का अनुभव करने लगता है। भगवद्गीता में कहा गया है कि ऐसी अवस्था में वह सब जगत को आत्मा में और आत्मा को सब जगत् में और सब जगह सबको समान भाव से देखने लगता है। देवी भागवत् में लिखा है—सच्चे अनुरक्ति के साथ अभिन्न भाव से जब भक्त मेरा (परमात्मा का) चिन्तन करता है तो वह अहंकार आदि से रहित हो जाता है और भौतिक देह से उसका तादात्म्य नहीं रहता। परमात्मा के अतिरिक्त उसको

किसी और के इस जगत् में होने की भावना नहीं रहती। सच्चिदानन्द परमात्मा में वह विलीन हो जाता है। पराभक्ति की पराकाष्ठा ज्ञान भी यही गई है। 'इस प्रकार अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त किया हुआ व्यक्ति नाम रूप से विमुक्त होकर परम पुरुष ब्रह्म में इस प्रकार लीन हो जाता है जैसे समुद्र की ओर जाने वाली नदियाँ अपने नाम रूपों को त्याग कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं। (मुण्डक उपनिषद ३।२।८)

यह हुआ भक्ति द्वारा मोक्ष जो कि वही है जो ज्ञान द्वारा प्राप्त होता है।

कर्मयोग

जो लोग क्रिया प्रधान होते हैं उनके लिये कर्मयोग प्रधान साधना है। सभी लोग कर्म करते हैं और उनके फलों को भोगते हैं कर्म करने में स्वतंत्र है पर फल भोगने में परतन्त्र हैं। चाहे शुभ हो अथवा अशुभ, सभी कर्मों के फल भोगने ही पड़ते हैं। शुभ कर्मों के फल अच्छे लोकों में, अच्छे जन्मों में, और सुखी जीवन में। इस वास्ते नीतिकारों ने शुभ कर्म करने का उपदेश दिया है। कर्मों का विभाग नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों द्वारा करके यह बतलाया कि नित्य उन कर्मों को कहते जो प्रत्येक मनुष्य को सदा करना चाहिये। उनके न करने में पाप होता है और उसका फल परलोक में भुगतना पड़ता है। नैमित्तिक कर्म हमारे वे कर्त्तव्य है जिनको विशेष अवसरों पर विशेष अवस्थाओं और परिस्थितियों में किया जाना चाहिये। उनके न करने से भी पाप होता है। नित्य नैमित्तिक कर्म करते रहने से सद्गति मिलती है और मन पवित्र होता है। उनका करना मानव मात्र को वैयक्तिक और सामाजिक अभ्युदय और निःश्रेयस के लिये परम आवश्यक है। अब तीसरा प्रकार कर्मों का काम्य कर्म है। ये कर्म वे हैं जो कामना को पूर्ण करने के लिये किये जाते हैं। उचित कर्मों के करने से सभी कामनायें तो पूरी हो ही जाती हैं पर उन कर्मों के करने में जो दूसरे प्राणियों के ऊपर प्रभाव पड़ता है, उनको हानि और लाभ होते हैं, उनसे आदान प्रदान होता है, और सृष्टिक्रम में विघ्न और असतुलन होता है, उसका लेखा हमको कर्म फल के रूप में चुकाना ही पड़ता है। काम्य कर्म ही वास्तव में ऐसे हैं जिनके करने में जितनी क्रियाएँ हम करते हैं उनकी प्रतिक्रिया हमको भुगतनी पड़ती है। नित्य और नैमित्तिक कर्मों की नहीं। हाँ उनको न करने का फल हमको भुगतना पड़ता है क्योंकि उनको करना सामाजिक और ब्राह्माण्डिक कर्त्तव्य था।

इसलिये कर्म फल के नियम से मुक्त होने का एक ही उपाय है कि हम काम्य कर्मों का करना बिल्कुल बन्द कर दें और केवल अपने नित्य और नैमित्तिक कर्मों का पालन करते रहें। ऐसा करने से हमारा चित्त शुद्ध होगा, बुद्धि निर्मल हो जायेगी, और आत्मज्ञान के हम अधिकारी बन जायेंगे।

मनुष्य कामनामय है। उसके हृदय में स्वाभाविक रूप से, उसकी प्रकृति की प्रेरणा

से अनेक इच्छायें उत्पन्न होती ही रहती हैं। उसके मन में अनेक प्रकार की काम क्रोध मोह, लोभ मद मात्सर्य की तरंग उठती ही रहती है। बिना कुछ न कुछ किए उससे रहा भी नहीं जाता। ऐसी स्थिति में भगवद्गीता में बतलाये हुए कर्मयोग के द्वारा ही वह सब प्रकार के कर्मों के फलों के बन्धन से छूटकर मुक्ति का अनुभव करता है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को पहली बात तो यह कही कि कर्म का त्याग किसी प्रकार भी संभव नहीं है। योग वासिष्ठ में भी वसिष्ठ ने रामचन्द्र जी को यही बतलाया कि कर्म ही पुरुष है और पुरुष ही कर्म है। सोचना विचारना अनमन करना कल्पना करना आदि सभी तो कर्म हैं। उनसे बचकर हम कैसे रह सकते हैं। दूसरी बात यह बतलाई जाती है कि यह हमारी बड़ी भूल है कि हम यह समझते हैं कि अमुक काम करने से हमको अमुक फल मिलेगा। फल देना तो ब्रह्माण्डी शक्तियों के हाथ में है। किस कर्म का क्या फल होगा और कब होगा यह हम नहीं जानते। इस लोक में किसी फल को पाने के लिये अनेक उपाय हैं और उसके उत्पन्न होने के अनेक कारण हैं। इसलिये केवल हमारे किसी काम के करने मात्र से कोई फल उत्पन्न होगा यह कहना कठिन है। बहुत से निरानी कारण भी निहित अथवा प्रत्यक्षरूप में अपना सबल प्रभाव डालते रहते हैं। इन सब बातों को सोचकर श्री कृष्ण ने यह कहा "तेरा अधिकार कर्म करने तक ही सीमित है फल उत्पन्न करना तेरे हाथ में नहीं है। अतः एक किसी फल को प्राप्त करने मात्र की इच्छा से कोई काम नहीं करना चाहिए और साथ ही कर्म त्याग कर चुपचाप बैठना भी उचित नहीं है, क्योंकि यदि तू अपने आप सोच विचार कर काम नहीं करेगा तो प्रकृति दूसरी काम करायेगी ही। काम करे बिना कोई एक क्षण भी नहीं रह सकता क्योंकि यह संसार कर्मक्षेत्र है, कर्म भूमि है।

इसलिये हमको इस प्रकार कर्म करने चाहिये कि कर्म तो होते रहें और जीवन यात्रा चलती रहे पर हम अपने कर्मों के बुरे भले फलों को भोगने के बन्धन में रहकर अनिश्चित जन्म मरण के चक्र में न पड़ें।

यह कौन सा तरीका कर्म का है जिससे कर्मफल का बन्धन न हो ? श्री कृष्ण ने कई ऐसे तरीके कर्म करने के बताये। वे ये हैं—योग में स्थित होकर कर्म करो (२।४८) योग क्या है ? योग का अर्थ यहाँ पर कर्मों में कुशलता" (२।५) अर्थात् कर्म के मर्म को और उसको उचित रूप से करने को समझकर कर्म करना। कर्म का उद्देश्य क्या होना चाहिये।" लोक संग्रह को ध्यान में रखते हुए कर्म करना चाहिये। (३।२) अर्थात् अपने लिये नहीं बल्कि लोक कल्याण या लोक व्यवस्था के उद्देश्य से कर्म करने से व्यक्तिगत उत्तरदायित्व नहीं रहता। कृष्ण ने बतलाया कि यद्यपि उनका अपना कोई उद्देश्य नहीं है तो भी वे इसलिये खूब कर्म करते हैं कि लोग उनका अनुकरण करें और संसार की व्यवस्था ठीक रहे। (३।२३–२४) लोक संग्रह का भाव तब ठीक तरह चित्त में आ सकता है जब

कि सब प्राणियो को समान दृष्टि से देखें। कृष्ण कहते हैं कि वे सब प्राणियो को समभाव से देखते हैं न कोई उनका विशेषतया प्रिय है न द्वेष्य (९।२९) यह तभी हो सकता है जब सब प्राणियो में एक ही आत्मा या तत्व का अनुभव करने लगे। यह तभी हो सकता है जब कि शुद्ध चित्त, आत्मजित्, जितेन्द्रिय, योग युक्त होकर आत्मज्ञान प्राप्त कर ले। (५।७) तभी प्राणी असक्त होकर कम कर सकता है। (३।१९) असक्त होकर और अपनी किसी कामना के विना किये हुए कर्म वन्धन के कारण नही होते। "जिसके सब उद्योग कामना से रहित, जिसने कर्मो के फलो में कोई आसक्ति नही रक्खी, जो नित्य तृप्त है अर्थात् जिसको कर्म से कुछ प्राप्त होने की इच्छा ही नही है, वह कर्मो में लगा हुआ भी (वन्धन लाने वाला) कोई कर्म नही करता। जिसने सब कामनाओ को त्याग दिया है, जिसका चित्त और आत्मा उसके वश में है, जिसने सब आसक्ति और प्राप्ति की इच्छा छोड दी है और केवल शरीर द्वारा शरीर यात्रा मात्र के लिये कर्म करता है वह पाप का भागी नही होता। (४।१९-२१) इस प्रकार आसक्ति से लोक सग्रह मात्र के लिये कर्म करता हुआ व्यक्ति अन्त में परमपद को प्राप्त कर लेता है। (३।१९) यह भी यदि कठिन हो तो सब कर्मों को ईश्वर के अर्पण करके ईश्वर को ही प्रसन्न करने के लिये करने से भी मनुष्य को परमसिद्धि प्राप्त होती है।" अपने कर्म द्वारा उस (ईश्वर) की पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है।" (१८।४६) "जो कर्मो के फल की इच्छा न करते हुए कर्म करता है और सब कर्म ब्रह्म को अर्पण कर देता है वह पाप से वैसा ही बचा रहता जैसे कमल का पत्ता पानी से।" (५।१०) इस प्रकार कर्म करने वाला अव्यय और शाश्वत पद को प्राप्त कर लेता है। (१८।५६) कर्म के वन्धन से मुक्ति पा लेता है, और भगवान् (भगवद्भाव) को प्राप्त कर लेता है। यह है कर्मयोग के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग। इसमें भी भक्ति और ज्ञान का समन्वय दिखाई पडता है, केवल कर्मों का निष्काम भाव से करना ही नही।

ज्ञानयोग

उपनिषद में कहा गया है 'तरति शोकमात्मवित्'। (छा० उ० ७।१।३) 'ब्रह्मवेद ब्रह्मवभवति' अर्थात् आत्मा को जानने वाला शोक से पार हो जाता है। ब्रह्म को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है। यह विचार सभी उपनिषद् सभी वेदान्त ग्रन्थो और भारत के सभी सन्त महात्माओ की वाणियो में पाया जाता है। स्वामी निचलदास ने अपने हिन्दी के विचार सागर नामक प्रख्यात ग्रन्थ में भी लिखा है कि "ब्रह्म अहि ब्रह्मविद्ता की वाणी वेद ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही है। उसकी वाणी वेद है। ब्रह्म यद्यपि समस्त जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाला अन्तिम पर तत्व है जो सनातन निःसीम, पूर्ण, अव्यय, सर्वज्ञ, और सर्वशक्तिमान् और पूर्ण काम इत्यादि है, तो भी वह सर्वव्यापी है,

सबके हृदय में आत्मा के रूप में बैठा हुआ है। सबका परम आत्मा वही है। इसलिये ही उपनिषदों में यह कहा गया है। यह आत्मा ब्रह्म है ('अयं आत्मा ब्रह्म') मैं ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मास्मि) तू ब्रह्म है ("तत्त्वमसि") और यह सब कुछ (समस्त जग की समस्त वस्तुयें) ब्रह्म है (सर्व खल्विद ब्रह्म")

सब कुछ ब्रह्म ही होते हुए और हम भी अपने वास्तविक स्वरूप में ब्रह्म होते हुए इस बात को नहीं जानते। किसी कारण से हम इस सत्य से अनभिज्ञ हैं। ऐसा अज्ञान क्यों है? कब आरम्भ हुआ? और क्या इसका स्वरूप है? ये बातें तब तक हम नहीं समझ सकते जब तक कि हम अपने स्वरूप को जानकर उसमें स्थित होकर सर्वज्ञता नहीं प्राप्त कर लेते।

अतएव आत्मज्ञान ही परम श्रेय है। आत्मा को जानने के उपाय उपनिषदों में चार बताये गये हैं "आत्मा वा अरे दृष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य "अर्थात् आत्मा को देखो अर्थात अपने स्वरूप का विश्लेषणात्मक निरीक्षण करके उससे अजर अमर, अविनाशी सच्चिदानन्द रूप आत्म तत्व को पहचानो जिन लोगों ने आत्मा को जाना है उनके विचारों और निश्चयों को पढ़ो और सुनो उनपर बुद्धि द्वारा मनन करो और जब ठीक निर्णय हो जायें तो उसपर आस्था रखकर आत्मस्वरूप का ध्यान करते हुए उसमें स्थिति प्राप्त करो उसका अनुभव करो।

इस प्रकार की साधना सब नहीं कर सकते। जो इसका अधिकारी है वही कर सकता है। अधिकारी वह है जिसने अपने जीवन में साधन चतुष्टय का अभ्यास कर लिया है और जिसका मन इनके द्वारा इतना पवित्र और सूक्ष्मभेदी हो गया है कि वह आत्म विचार आत्म चिन्तन और आत्माभ्यास कर सके। साधन चतुष्टय अर्थात चार साधन ये हैं—

१—सत और असत् में विवेक करने की शक्ति और अभ्यास।

२—वैराग्य—इस लोक और परलोक के सुखों को दुख मिश्रित और अस्थिर समझकर उनसे विरक्ति और उनकी इच्छा का त्याग।

३—षट्-सम्पत्ति—छः बौद्धिक और नैतिक और मानसिक गुण शम दम, तितिक्षा उपरति श्रद्धा और समाधान।

४—मुमुक्षा या जिज्ञासा।

साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति ही ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान को प्राप्त कर सकता है। अन्य की समझ और इच्छा का यह विषय नहीं है।

भक्ति और धर्म भी आत्मज्ञान प्राप्ति में बहुत सहायक होते हैं क्योंकि भक्ति उपासना और ईश्वर प्रेम से मन में स्थिर और शान्त रहने का अभ्यास हो जाता है और आत्मज्ञान के लिए शान्त और स्थिर मन और बुद्धि की परम आवश्यकता है। मन शान्त

और स्थिर तभी होता है जबकि वह शुभ और निष्काम कर्मों के द्वारा निर्मल और पवित्र हो गया है। इस बात को ध्यान में रखकर ज्ञान योगियो ने यह बतलाया है कि भक्ति मन के विक्षेप को दूर करती है और निष्काम शुभ कर्म मल को। ज्ञान आत्मा के आवरण अज्ञान को दूर करता है।

आत्मा को पूर्णतया जान लेने पर कुछ और करना बाकी नही रहता। ज्ञान की अग्नि मे पूर्व जन्मो में किये हुये जो सस्कार अभी शेष हैं और जिनके फल भोगने के लिये परलोक या इस लोक में जन्म लेने पडते वे सभी जल जाते हैं और इस जीवन म जो कर्म किये जाते हैं वे भुने हुए बीज की नाईं आगे के लिये जन्मो रूपी वृक्षो को उत्पन्न नही करतीं इस शरीर के पश्चात् दूसरा कोई शरीर धारण नहीं करना पडता। यही, नहीं इसी जीवन में साधक मुक्तावस्था या ब्राह्मी स्थिति का अनुभव करता हुआ जीवन्मुक्त (जीते हुए ही मुक्त) होकर सम्राट् की नाईं बल्कि उससे भी कही अच्छी तरह ससार में विचरण करता है। उसको कोई दुःख, शोक, मोह और भय नही होता। वह परमानन्द में मग्न रहता हुआ सब प्राणियो से समता का वर्ताव करता हुआ निष्काम भाव से अनासक्त होकर जो चाहे करता रहता है। उसको किसी प्रकार का बन्धन नही रहता। वह जीता ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है। उसी को बोधिसत्व और अर्हत आदि कहते हैं।

ध्यान योग

ज्ञानयोग बतलाते हुए यह कहा गया था कि आत्मा को देखना और उसका निरन्तर ध्यान करना चाहिए। आत्मदर्शन और ध्यान के विशेष प्रकारो के अभ्यास करने का नाम ही ध्यानयोग है। ध्यानयोग के अनेक प्रकार हैं उनमें से जिनका हम यहाँ उल्लेख करना चाहते हैं वे हैं राजयोग, लययोग, हठयोग और मत्रयोग और सभी योग इन्ही की अनेक शाखायें प्रशाखायें हैं।

राजयोग

राजयोग वह योग है जिसमें अन्तःकरण या चित्त या मन। (जो शब्द भी आजकल के मनोविज्ञान के मन (Mind) का पर्यायवाची समझा जाये) को अपने वश में करके, उसके ऊपर विजय प्राप्त करके, उसको आत्माभिमुख करके, आत्मा में लीन करके, आत्म-भाव का अनुभव करने का तरीका है। इसका बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन योगवासिष्ठ में मनोनाश, मनोविलय, अमनीभाव आदि नामो से मिलता है। पातजल योग सूत्रो में भी 'चित्तवृत्ति निरोध' की परिभाषा करके इस योग के आठ अगो का वर्णन किया है। यहाँ पर विस्तार के भय से केवल सकेत मात्र से ही पातंजल अष्टांग योग और योगवासिष्ठ मनोविलय योग का वर्णन किया जाता है।

पातंजल योग

के आठ अंग या सीढ़ियाँ हैं—यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि। यम भी पाँच हैं—अहिंसा सत्य अस्तेय अपरिग्रह। नियम भी पाँच हैं—शौच सन्तोष तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। आसन का अर्थ है स्थिरता से बैठने का अभ्यास। प्राणायाम के अभ्यास से प्राणवायु के ऊपर नियंत्रण किया जाता है ताकि योगी स्वस्थ होकर बलवान् रहकर आत्मचिन्तन और आत्मा का ध्यान कर सके। प्रत्याहार का अर्थ है इन्द्रियों और मन की वृत्तियों को बाह्य विषयों की ओर से हटाकर अपने भीतर की ओर लगा देना। धारणा मन के किसी विशेष विषय पर लगाकर वहाँ स्थिर रखने का अभ्यास। ध्यान मन को विषय पर इस प्रकार स्थिर करना कि वह वहाँ से डिगे नहीं। समाधि में मन विषय के साथ इस प्रकार तदाकार हो जाता है कि दोनों में कोई भेद नहीं रहता और न मन को अपना ज्ञान रहता है और न उसमें किसी दूसरी वृत्ति का उदय होता है। समाधि चित्त की शान्त अवस्था का नाम है जिसमें केवल विषय का ही प्रकाश रहता है। जब मन आत्माकार होकर स्थिर हो जाय और उसमें आत्मा के सिवाय और किसी विषय की वृत्ति ही न रहे तो पूर्ण समाधि अवस्था का अनुभव होकर आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

योगवाशिष्ठ के अनुसार मन को विलीन करने के अनेक उपाय हैं उनमें से कुछ ये हैं—१—ज्ञान युक्ति (ज्ञान द्वारा मन का विश्लेषण करके उसके असली रूप को जान लेना) २—वासना का त्याग ३—वासनाओं का त्याग ४—भोगों से विरक्ति ५—अहंकार का त्याग ६—प्राण का अभ्यास ७—समभाव का अभ्यास ८—कर्तृत्व का त्याग ९—समाधि का अभ्यास। ये सब बातें मनोवैज्ञानिक ढंग से होनी चाहिए।

जिस विधि से भी हो मन के स्थिर होने पर और आत्मा के मन के विलीन होने पर परम पद की प्राप्ति हो जाती है।

लययोग

लय योग में नाद और बिन्दु के ध्यान की सहायता से मन को एकाग्र करके कुण्डलिनी शक्ति का षट् चक्र के भेदन द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर लीन करने से समाधि का अनुभव होकर आत्म साक्षात्कार किया जाता है। लय योग का सिद्धान्त यह है कि जो ब्रह्माण्ड में है वही सूक्ष्म रूप से पिण्ड में है। यदि पिण्ड में हम आत्मदर्शन कर लें तो सर्वव्यापी आत्मा या ब्रह्म का ही अनुभव हो जाता है। इस योग में पिण्ड एवं प्रत्याहारी और धारा के ऊपर ध्यान किया जाता है और मूलाधार में स्थित सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर छहों चक्रों के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचाकर वहाँ पर चिन्मय ब्रह्म (आत्मा) का अनुभव किया जाता है। इस योग के ९ अंग हैं—यम नियम स्थूल क्रिया सूक्ष्म

क्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, नाद क्रिया और समाधि। यम ये दस हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, नम्रता, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच। नियम ये ९ हैं—तप, सन्तोष आस्तिक्य, दान, ईश्वर पूजा, ह्री, मति, जप और व्रत। आसन और मुद्रादि स्थूल योग क्रियाओं का अभ्यास किया जाता है। प्राणायाम और स्वरोदय के अभ्यास को सूक्ष्म क्रिया कहते हैं। इस योग में केवली प्राणायाम का बहुत महत्व है। केवली प्राणायाम का साधन इन्द्रियों के विषयों से मन को हटाकर भ्रूमध्य में मन को स्थिर करके प्राण और अपान के समभाव करने से होता है। प्राणायाम के द्वारा स्थिरता पाकर महाप्राण पर विजय पाकर मन को निरोध करके आत्मा में स्थित होने को स्वरोदय कहते हैं। मन की शक्ति को इन्द्रियों के विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करने को प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहार के अभ्यास होने पर अपने भीतर नाना प्रकार की दैवी शक्तियों और रूपों का दर्शन और नाना प्रकार के नादों का श्रवण आरम्भ हो जाता है। नादों के श्रवण में चित्त लगाकर ध्यान का अभ्यास करने का ही नाम शब्द योग है जिसका अभ्यास कबीर, दादू आदि मध्यकालीन सन्त किया करते थे और आज भी राधास्वामी सम्प्रदाय के लोग करते हैं। प्रत्याहार के अभ्यास से ओस, धूम, सूर्य, वायु, अग्नि खद्योत, विद्युत्, स्फटिक और चन्द्रमा आदि रूपों के दर्शन होते हैं। और समुद्र की तरंगों, मेघ, गर्जन, झुनझुनाहट, घंटे, शंख, तन्त्री, मजीरे, और मृदंग की ध्वनि के सदृश बहुत मधुर और आन्तर ध्वनियां सुनाई देती हैं। इनमें से जिस नाद में भी मन (सुरति) लग जाये उसी नाद में मन को स्थिर करके योगी को मन को विलीन करने की चेष्टा करनी चाहिए। नादों में सबसे उत्तमनाद है अनाहत शब्द है (अनहदवाणी) जो ऊ० के सदृश होती है। उसको सुनते हुए मन के लीन होने पर ईश्वर का दर्शन होता है। योगी जब मन को अन्तर्जगत् (सूक्ष्म प्रकृति के किसी एक तत्व) में ठहरा लेता है तो उसे धारणा कहते हैं। धारणा की अवस्था में ही मूलाधार चक्र में स्थित सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर छहों चक्रों का भेदन करते हुए मस्तिष्क गत सहस्र दल कमल में पहुँचा कर लय कर देने पर योगी को आत्मदर्शन जो वास्तव में पिण्ड में स्थित ब्रह्म का ही दर्शन (अनुभव) प्राप्त होता है। यहाँ विस्तार के भय से कुण्डलिनी शक्ति और छः चक्रों का वर्णन नहीं किया गया, उत्सुक पाठक दूसरे ग्रन्थों में देखें।

मन्त्रयोग

नाम भय शब्द (मन्त्र) का भावपूर्वक जप करते-करते मन मन्त्र और देवता का एकीकरण होकर समाधि लगाना मन्त्रयोग कहलाता है। मन्त्रयोग के द्वारा जो समाधि होती है उसको महाभाव समाधि कहते हैं। मन्त्रयोग के ये १६ अंग हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पंचांग सेवन आचार, धारणा, दिव्य देश सेवन, प्राण क्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन,

पातंजल योग

के आठ अंग या सीढ़ियाँ हैं—यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि। यम म पाँच हैं—अहिंसा सत्य अस्तेय अपरिग्रह। नियम में पाँच हैं—शौच सन्तोष तप स्वाध्याय और ईश प्रणिधान। आसन का अर्थ है स्थिरता से बैठने का अभ्यास। प्राणायाम के अभ्यास से प्राणवायु के ऊपर नियमन किया जाता है ताकि योगी स्वस्थ होकर बलवान् रहकर आत्मचिन्तन और आत्मा का ध्यान कर सके। प्रत्याहार का अर्थ है इन्द्रियों और मन की वृत्तियों को बाह्य विषयों की ओर से हटाकर अपने भीतर की ओर लगा देना। धारणा मन के किसी विशेष विषय पर लगाकर वहाँ स्थिर रखने का अभ्यास। ध्यान मन को विषय पर इस प्रकार स्थिर करना कि वह वहाँ से डिगे नहीं। समाधि म मन विषय के साथ इस प्रकार तदाकार हो जाता है कि दोनों में कोई भेद नहीं रहता और न मन को अपना ज्ञान रहता है और न उसमें किसी दूसरी वृत्ति का उदय होता है। समाधि चित्त की शान्त अवस्था का नाम है जिसमें केवल विषय का ही प्रकाश रहता है। जब मन आत्माकार होकर स्थिर हो जाय और उसमें आत्मा के सिवाय और किसी विषय की वृत्ति ही न रहे तो पूर्ण समाधि अवस्था का अनुभव होकर आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

योगवासिष्ठ के अनुसार मन को विलीन करने के अनेक उपाय हैं उनमें से कुछ ये हैं—१-ज्ञान युक्ति (ज्ञान द्वारा मन का विश्लेषण करके उसके असली रूप को जान लेना) २-वस्तुओं का त्याग ३-वासनाओं का त्याग ४-भोगों से विरक्ति ५-अहंकार का त्याग ६-अभय का अभ्यास ७-समभाव का अभ्यास ८-कर्तृत्व का त्याग, ९-समाधि का अभ्यास। ये सब बातें मनोवैज्ञानिक ढंग से होनी चाहिए।

जिस विधि से भी हो मन के स्थिर होने पर और आत्मा व मन के विलीन होने पर परम पद की प्राप्ति हो जाती है।

लययोग

लय योग में नाद और बिन्दु क ध्यान की सहायता से मन को एकाग्र करके कुण्ड लिनी शक्ति को षट् चक्र के भेदन द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर लीन करने से समाधि का अनुभव होकर आत्म साक्षात्कार किया जाता है। लय योग का सिद्धान्त यह है कि जो ब्रह्माण्ड में है वही सूक्ष्म रूप से पिण्ड में है। यदि पिण्ड में हम आत्मदर्शन कर ले तो ब्रह्माण्डी आत्मा या ब्रह्म का ही अनुभव हो जाता है। इस योग म पिण्ड मध्य प्रकाशों और नादों के ऊपर ध्यान किया जाता है और मूलाधार में स्थित सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर छहों चक्रों के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचाकर वहाँ पर बिन्दुमय ब्रह्म (आत्मा) का अनुभव किया जाता है। इस योग के ९ अंग हैं—यम नियम, स्थूल क्रिया सूक्ष्म

है आत्मभाव या ब्रह्मभाव की प्राप्ति। इसी का नाम मोक्ष है।

मुक्त पुरुष के लक्षण

चाहे जिस साधना के द्वारा या सब साधनाओ के द्वारा आत्मानुभव हो जाने पर साधक सब सीमाओ, दु:खो और भेद भावो से मुक्त होकर आनन्द का जीवन बिताता है। उपनिषदो, भगवद्गीता और योगवासिष्ठ मे ऐसे पुरुषो का वर्णन मिलता है। यहाँ पर योगवासिष्ठ के आधार पर मुक्त व्यक्ति के चरित्र का सक्षेप से चित्रण किया जाना अनुपयुक्त न होगा। 'मुक्त पुरुष को न किसी वस्तु के प्रति रसिकता होती है और न नीरसता। वह विषयो का इच्छुक होकर विषयो में नही रमता। बाहर से राग वाला दिखाई देता हुआ भी वह राग रहित होता है। वह न किसी को उद्विग्न करता है और न किसी से उद्विग्न होता है। उसके लोभ, मोह आदि रिपु नष्ट हो जाते हैं। वह दूसरो के मन के भावो को समझकर लोकप्रिय आचरण करता है, और मधुर वाणी बोलता है। उसका व्यवहार अच्छे नागरिको जैसा होता है। वह सबका बन्धु होता है। बाहर तो वह सब काम करता दिखाई देता है पर अन्दर शान्त और शीतल रहता है। जीवनयात्रा में जो कार्य उसको करने को मिले उसको कामना और सकल्प रहित रहकर करता है। वह वर्ण, आश्रम, धर्म, आचार, और शास्त्रो की यत्रणा से बरी होकर जगत् के जजाल से इस प्रकार बाहर निकल जाता है जैसे पिंजरे से सिंह। सब कामो का फल जिसने त्याग दिया है, सदा तृप्त, किसी के आसक्ति न रहने वाला, वह पुण्य पाप या और किसी भाव में लिप्त नही होता। उसकी वासनाओ की ग्रन्थियाँ धीरे-धीरे खुलकर गिर जाती हैं, क्रोध क्षीण हो जाता है, मोह मन्द पड जाता है। उसके चेहरे पर सदा ही प्रसन्नता की शोभा छाई रहती है। वह न जीवित रहने की चाह करता है, और न मौत की निन्दा करता है। वह किसी वस्तु के बन्धन में नही पडता, सदा ही तृप्त और असक्त रहता हुआ, सम्राट् की नाई अमग रहता है। वह परिपूर्ण मन वाला, अपने मान में रहने वाला, मौनी, शत्रुओ के मध्य में भी अविचल रहता है। भयानक आपत्तियो में, आनन्द के उत्सवो मे, सपत्ति की अवस्थाओ में रहते हुए भी उसे न उद्वेग होता है और न हर्ष। मन में सदा अनासक्त रहता हुआ भी वह सब प्रकार के कामो को करता रहता है। वह न किसी से डरता है, न कभी विवश होता है और न दीन। मौनी, सम और स्वस्थ होकर वह पर्वत के समान धीर रहता है। प्राकृत कामो में लगा हुआ भी वह उदासीन के समान रहता है। वह किसी वस्तु की वाञ्छा नही करता, न किसी बात के लिये चिन्ता करता है। न वह किसी से द्वेष करता है और न राग। जैसा अवसर पडे उसके अनुसार असयत मन से वह भक्त के प्रति भक्त का, शठ के प्रति शठ का, बालक के प्रति बालक का सा, वृद्धो के प्रति वृद्धो का सा, धीरो में धीरता का व्यवहार करता है। वह युवको में युवा की नाई और दु:खियो के बीच में दु:खी की नाई रहता है।

भक्ति योग जप ध्यान और समाधि। मध्यकालीन सन्तों में से बहुत से सन्तों को हरिनाम जप के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त हुई थी। इस योग का विशेष रहस्य लौकिक कार्मों के प्रति भावों से मन को हटाकर ईश्वर में लगाना है।

हठयोग

हठयोग की धारणा यह है कि वीर्य वायु और मन ये तीन एक ही तत्व के स्थूल सूक्ष्म और कारण रूप हैं। इन तीनों में वायु के ऊपर नियन्त्रण करना सरल है। वायु के निरुद्ध हो जाने पर मन भी आप से आप निरुद्ध हो जाता है और मन के निरुद्ध हो जाने पर समाधि का अनुभव होता है जिसमें आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। वायु को हठ से निरोध करने का नाम हठयोग है। हठयोग से जो समाधि की अवस्था प्राप्त होती है उसे महाबोध समाधि कहते हैं। हठयोग के ये सात अंग हैं—षट्कर्म आसन, मुद्रा प्रत्याहार, प्राणायाम ध्यान और समाधि। षट्कर्म ये हैं—धौति नेति वस्ति लौलिकी (नौली) त्राटक, और कपालभाति। वायु और जल के द्वारा शरीर के भीतरी भाग को मुँह से गुदा तक साफ करने की क्रिया का नाम धौति है। जल में बैठकर गुदामार्ग द्वारा जल को भीतर खींच कर मूत्र स्थान और वस्ति प्रदेश को शुद्ध करने का नाम वस्ति क्रिया है। नाक के द्वार में से सूत्र वस्त्र देकर मुख के द्वार से निकाल कर नाक के भीतर सफाई करना नेति क्रिया है। पेट को दोनों पार्श्वों के बीच में प्रबल वेग से इधर उधर घुमाने को नौलि कहते हैं। किसी वस्तु के ऊपर दृष्टि को स्थिर रखने का नाम त्राटक है। एक नथुने से वायु को ग्रहण करके दूसरे नथुने से इच्छापूर्वक रेचन के अभ्यास को कपाल भाति कहते हैं। जिस स्थिति में शरीर को रखने से मन स्थिर हो जाये उसे आसन कहते हैं। इस प्रकार के ८४ आसन हैं जिनमें पद्मासन, सिद्धासन और वीरासन ये सर्वसाधारण के लिए सुगम हैं और सन्तों ने इनका अधिक आश्रय लिया है। जिन क्रियाओं के द्वारा प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि में सहायता मिलती है उनको मुद्रा कहते हैं। ये २५ प्रकार की हैं। इन सब अंगों का अभ्यास करने पर हठ योगी को अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं। अन्तर्मुखी होकर अपने भीतर ज्योति के ध्यान में मग्न का नाम प्रत्याहार है। पूरक कुम्भक और रेचक क्रियाओं द्वारा अभ्यास करके श्वास के ऊपर विजय प्राप्त करने का नाम प्राणायाम है। प्राणायाम के अनेक प्रकार हैं। दीपक की लौ के समान हृदयस्थ अन्तर्ज्योति पर ध्यान लगाने के अभ्यास का नाम ध्यान है। हठयोगी नाभि हृदय और भृकुटी के मध्यभाग में ध्यान करते हैं। शरीर प्राण और मन के ऊपर पूर्णतया विजय प्राप्त करने पर समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। समाधि की अवस्था में मन का लय होकर आत्म स्वरूप का अनुभव होता है।

भक्तियोग, कर्म योग, ज्ञान योग, और ध्यान योग सबका एक ही उद्देश्य है। यह

है आत्मभाव या ब्रह्मभाव की प्राप्ति। इसी का नाम मोक्ष है।

मुक्त पुरुष के लक्षण

चाहे जिस साधना के द्वारा या सब साधनाओ के द्वारा आत्मानुभव हो जाने पर साधक सब सीमाओ, दुःखो और भेद भावो से मुक्त होकर आनन्द का जीवन विताता है। उपनिषदो, भगवद्गीता और योगवासिष्ठ में ऐसे पुरुषो का वर्णन मिलता है। यहाँ पर योगवासिष्ठ के आधार पर मुक्त व्यक्ति के चरित्र का सक्षेप से चित्रण किया जाना अनुपयुक्त न होगा। 'मुक्त पुरुष को न किसी वस्तु के प्रति रसिकता होती है और न नीरसता। वह विषयो का इच्छुक होकर विषयो में नही रमता। वाहर से राग वाला दिखाई देता हुआ भी वह राग रहित होता है। वह न किसी को उद्विग्न करता है और न किसी से उद्विग्न होता है। उसके लोभ, मोह आदि रिपु नष्ट हो जाते हैं। वह दूसरो के मन के भावों को समझकर लोकप्रिय आचरण करता है, और मधुर वाणी वोलता है। उसका व्यवहार अच्छे नागरिको जैसा होता है। वह सवका वन्धु होता है। वाहर तो वह सब काम करता दिखाई देता है पर अन्दर शान्त और शीतल रहता है। जीवनयात्रा में जो कार्य उसको करने को मिले उसको कामना और सकल्प रहित रहकर करता है। वह वर्ण, आश्रम, धर्म, आचार, और शास्त्रो की यत्रणा से वरी होकर जगत् के जजाल से इस प्रकार वाहर निकल जाता है जैसे पिंजरे से सिंह। सब कामो का फल जिसने त्याग दिया है, सदा तृप्त, किसी के आसक्ति न रहने वाला, वह पुण्य पाप या और किसी भाव में लिप्त नहीं होता। उसकी वासनाओ की ग्रन्थियाँ धीरे-धीरे खुलकर गिर जाती हैं, क्रोध क्षीण हो जाता है, मोह मन्द पड जाता है। उसके चेहरे पर सदा ही प्रसन्नता की शोभा छाई रहती है। वह न जीवित रहने की चाह करता है, और न मौत की निन्दा करता है। वह किसी वस्तु के वन्धन में नही पडता, सदा ही तृप्त और असक्त रहता हुआ, सम्राट् की नाई असग रहता है। वह परिपूर्ण मन वाला, अपने मान में रहने वाला, मौनी, शत्रुओ के मध्य में भी अविचल रहता है। भयानक आपत्तियो में, आनन्द के उत्सवो मे, सपत्ति की अवस्थाओ में रहते हुए भी उसे न उद्वेग होता है और न हर्ष। मन में सदा अनासक्त रहता हुआ भी वह सव प्रकार के कामो को करता रहता है। वह न किसी से डरता है, न कभी विवश होता है और न दीन। मौनी, सम और स्वस्थ होकर वह पर्वत के समान धीर रहता है। प्राकृत कामो में लगा हुआ भी वह उदासीन के समान रहता है। वह किसी वस्तु की वाञ्छा नही करता, न किसी वात के लिये चिन्ता करता है। न वह किसी से द्वेष करता है और न राग। जैसा अवसर पडे उसके अनुसार असक्त मन से वह भक्त के प्रति भक्त का, शठ के प्रति शठ का, वालक के प्रति वालक का सा, वृद्धो के प्रति वृद्धो का सा, धीरो में धीरता का व्यवहार करता है। वह युवको में युवा की नाई और दुःखियो के बीच में दुःखी की नाई रहता है।

भक्ति योग जप ध्यान और समाधि। मध्यकालीन सन्तों में से बहुत से सन्तों को हरिनाम जप के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त हुई थी। इस योग का विशेष रहस्य लौकिक मार्गों से प्रति भावों से मन को हटाकर ईश्वर में लगाना है।

हठयोग

हठयोग की धारणा यह है कि वीर्य वायु और मन ये तीन एक ही तत्व के स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप है। इन तीनों में वायु के ऊपर नियमन करना सरल है। वायु के निरुद्ध हो जाने पर मन भी आप से आप निरुद्ध हो जाता है और मन के निरुद्ध हो जाने पर समाधि का अनुभव होता है जिसमें आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। वायु को हठ से निरोध करने का नाम हठयोग है। हठयोग से जो समाधि की अवस्था प्राप्त होती है उसे महायोग समाधि कहते हैं। हठयोग के य सात अंग हैं—षट्कर्म आसन मुद्रा प्रत्याहार, प्राणायाम ध्यान और समाधि। षट्कर्म य हैं—धौति नति बस्ति, लौकिकी (नौली) त्राटक और कपालभाति। वायु और जल के द्वारा शरीर के भीतरी भाग को मुँह से गुदा तक साफ करने की क्रिया का नाम धौति है। जल में बैठकर गुदामार्ग द्वारा जल को भीतर खींच कर मूत्र स्थान और बस्ति प्रदेश को शुद्ध करने का नाम बस्ति क्रिया है। नाक के द्वार में से सूत्र वस्त्र लेकर मुख के द्वार से निकाल कर नाक के भीतर सफाई करना नति क्रिया है। पेट को दोनों पार्श्वों के बीच में प्रबल वेग से इधर उधर घुमाने को नौलि कहते हैं। किसी वस्तु के ऊपर दृष्टि को स्थिर रखने का नाम त्राटक है। एक नथुने से वायु को ग्रहण करके दूसरे नथुने से इच्छापूर्वक छोड़ने के अभ्यास को कपाल भाति कहते हैं। जिस स्थिति में शरीर को रखने से मन स्थिर हो जाये उसे आसन कहते हैं। इस प्रकार के ११ आसन हैं जिनमें पद्मासन सिद्धासन और वीरासन ये सर्वसाधारण के लिये सुगम हैं और सन्तों ने इनका अधिक आश्रय लिया है, जिन क्रियाओं के द्वारा प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि में सहायता मिलती है उनको मुद्रा कहते हैं। ये २५ प्रकार की हैं। इन सब अंगों का अभ्यास करने पर हठ योगी को अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं। अन्तर्मुखी होकर अपने भीतर ज्योति के ध्यान में लगने का नाम प्रत्याहार है। पूरक कुम्भक और रेचक क्रियाओं द्वारा अभ्यास करके प्राणों के ऊपर विजय प्राप्त करने का नाम प्राणायाम है। प्राणायाम के अनेक प्रकार हैं। दीपक की लौ के समान हृदयस्थ अन्तर्ज्योति पर ध्यान लगाने के अभ्यास का नाम ध्यान है। हठयोगी नाभि हृदय और भृकुटी के मध्यभाग में ध्यान करते हैं। शरीर, प्राण और मन के ऊपर पूर्णतया विजय प्राप्त करने पर समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। समाधि की अवस्था में मन का लय होकर आत्म स्वरूप का अनुभव होता है।

भक्तियोग, कर्म योग ज्ञान योग और ध्यान योग सबका एक ही उद्देश्य है। यह

है आत्मभाव या ब्रह्मभाव की प्राप्ति। इसी का नाम मोक्ष है।

मुक्त पुरुष के लक्षण

चाहे जिस साधना के द्वारा या सब साधनाओ के द्वारा आत्मानुभव हो जाने पर साधक सब सीमाओ, दुःखो और भेद भावो से मुक्त होकर आनन्द का जीवन बिताता है। उपनिषदो, भगवद्गीता और योगवासिष्ठ में ऐसे पुरुषो का वर्णन मिलता है। यहाँ पर योगवासिष्ठ के आधार पर मुक्त व्यक्ति के चरित्र का सक्षेप से चित्रण किया जाना अनुपयुक्त न होगा। 'मुक्त पुरुष को न किसी वस्तु के प्रति रसिकता होती है और न नीरसता। वह विषयो का इच्छुक होकर विषयो में नही रमता। बाहर से राग वाला दिखाई देता हुआ भी वह राग रहित होता है। वह न किसी को उद्विग्न करता है और न किसी से उद्विग्न होता है। उसके लोभ, मोह आदि रिपु नष्ट हो जाते हैं। वह दूसरो के मन के भावो को समझकर लोकप्रिय आचरण करता है, और मधुर वाणी बोलता है। उसका व्यवहार अच्छे नागरिको जैसा होता है। वह सबका बन्धु होता है। बाहर तो वह सब काम करता दिखाई देता है पर अन्दर शान्त और शीतल रहता है। जीवनयात्रा में जो कार्य उसको करने को मिले उसको कामना और सकल्प रहित रहकर करता है। वह वर्ण, आश्रम, धर्म, आचार, और शास्त्रो की यत्रणा से बरी होकर जगत् के जजाल से इस प्रकार बाहर निकल जाता है जैसे पिजरे से सिंह। सब कामो का फल जिसने त्याग दिया है, सदा तृप्त, किसी के आसक्ति न रहने वाला, वह पुण्य पाप या और किसी भाव में लिप्त नही होता। उसकी वासनाओ की ग्रन्थियाँ धीरे-धीरे खुलकर गिर जाती हैं, क्रोध क्षीण हो जाता है, मोह मन्द पड जाता है। उसके चेहरे पर सदा ही प्रसन्नता की शोभा छाई रहती है। वह न जीवित रहने की चाह करता है, और न मौत की निन्दा करता है। वह किसी वस्तु के बन्धन में नही पडता, सदा ही तृप्त और असक्त रहता हुआ, सम्राट् की नाई असग रहता है। वह परिपूर्ण मन वाला, अपने मान में रहने वाला, मौनी, शत्रुओ के मध्य में भी अविचल रहता है। भयानक आपत्तियो में, आनन्द के उत्सवो मे, सपत्ति की अवस्थाओ में रहते हुए भी उसे न उद्वेग होता है और न हर्ष। मन में सदा अनासक्त रहता हुआ भी वह सब प्रकार के कामो को करता रहता है। वह न किसी से डरता है, न कभी विवश होता है और न दीन। मौनी, सम और स्वस्थ होकर वह पर्वत के समान धीर रहता है। प्राकृत कामो में लगा हुआ भी वह उदासीन के समान रहता है। वह किसी वस्तु की वाञ्छा नही करता, न किसी बात के लिये चिन्ता करता है। न वह किसी से द्वेष करता है और न राग। जैसा अवसर पडे उसके अनुसार असक्त मन से वह भक्त के प्रति भक्त का, शठ के प्रति शठ का, बालक के प्रति बालक का सा, वृद्धो के प्रति वृद्धो का सा, धीरो में धीरता का व्यवहार करता है। वह युवको में युवा की नाई और दुःखियो के बीच मे दुखी की नाई रहता है।

जैसे आँखें देखने का आनन्द लेती हैं वैसे वह भी बिना विशेष यत्न किए यथा प्राप्त भोगों को क्रीडा से असक्त मन होकर भोगता रहता है। कामों को करते हुए उनके बनने और बिगड़ने से प्रसन्न और अप्रसन्न नहीं होता। सदा समभाव से रहता है। वह अप्राप्त भोगों की वांछा नहीं करता और प्राप्त भोगों का त्याग नहीं करता। वह जगत् के व्यवहार को न त्यागता है और न उसकी कामना ही करता है। जैसा अवसर होता है वैसा ही व्यवहार करता है। स्त्री पुत्र मित्र धन सपत्ति को वह पूर्व जन्मो में किए हुए कर्मों के फल और स्वप्न के विषयों की भाँति समझता है। उसके मन में लोकैषणा धनैषणा और दारैषणा उत्पन्न नहीं होती। उसके मन में किसी वस्तु के प्रति हेय या उपादेय की कल्पना और 'मैं और मेरा' का भाव नहीं होते। जो उसको प्राप्त नहीं वह उसकी चिन्ता नहीं करता और जो उसको प्राप्त हो गया है उसकी प्रशंसा नहीं करता। शंका रहित होकर वह यथा प्राप्त परिस्थितियों के अनुसार व्यवहार करता है। जैसे वसन्त ऋतु में वृक्षों की सुन्दरता और शोभा आदि गुण बढ़ते हैं वैसे ही तत्वज्ञान हो जाने पर मनुष्य के बल बुद्धि और तेज की वृद्धि होती है। जीवन्मुक्त को सब आपदाएं इस प्रकार छोड़ जाती हैं जैसे साँप अपनी केंचुली को छोड़ देता है। स्वयं लोकपाल उसकी इस प्रकार रक्षा करते हैं जिस प्रकार वे सारे ब्रह्माण्ड की करते हैं।

अध्याय २५

भारतीय नीति शास्त्र की कुछ जटिल समस्यायें

यद्यपि भारत मे नैतिक विचारो मे अधिक मतैक्य है और भारत में नैतिक उपदेश बहुत प्राचीनकाल से अविच्छिन्न रूप से होते आ रहे हैं, फिर भी कुछ नैतिक प्रश्नो का अन्तिम और निर्विवाद उत्तर नही मिलता। जिज्ञासुओ के मन में कुछ शकायें रह ही जाती हैं। इसका कारण यह भी है कि एक ही लेखक विरुद्ध और विभिन्न मतो को मानने वाला जान पडता है। इन प्रकार की कुछ जटिल समस्याओ की ओर हम यहाँ पर पाठको का ध्यान आकर्षित करते हैं।

१—दैव या पुरुषार्थ

नैतिक जीवन के लिये मनुष्य की कर्तव्य-स्वतत्रता की आवश्यकता है। यदि मनुष्य के हाथ में अपना जीवन स्वय निर्माण करने की शक्ति नही है तो वह नैतिक आदर्शो की ओर कैसे बढ सकता है? कैसे वह पुण्य पाप का उत्तरदायी हो सकता है? कैसे उसके कामो को अच्छा या बुरा कहा जा सकता है? कैसे उसके कर्मो के अच्छे या बुरे कर्मों के अच्छे या बुरे फलो का भोक्ता ठहराया जा सकता है। यदि मनुष्य कर्म करने में पूर्णतया स्वतत्र नही है तो उसके लिये किसी कर्म को भला या बुरा मानना ही व्यर्थ है। जीवन के लिये किसी आदर्श को स्थापित करके उसको प्राप्त करना कैसे सभव हो सकता है। पर हम देखते हैं कि भारत के नीति शास्त्रो में दैव (भाग्य होनहार, विधि, भवितव्यता आदि) को भी हमारे कर्मो का या हमको जो कुछ भी प्राप्त होता है उसका एक प्रबल कारण माना है। मनुष्य के जीवन में बहुत सी घटनायें और बहुत सी वस्तुओ की प्राप्ति का दैव ही कारण है, मनुष्य का पुरुषार्थ नही। कहा गया है—"केवल मनुष्यो का नही देवताओ का भी दैव प्रभु है।" "प्राज्ञ, शूर या पण्डित क्या कर सकता है जबकि दैव के हाथ मे फल है और वह सब क्रियाओ को निष्फल बना देता है।" "सब जगह दैव के अनुसार फल होना है विद्या और पुरुषार्थ कुछ भी नही कर पाते।" "होनहार होकर ही रहती है।" "उच्छृखल विधि मनुष्योका सब कुछ हर लेता है।" "फल भाग्य के अनुसार मिलता है।" "जैसी होनहार है, उसके ही अनुकूल मनुष्य की बुद्धि और व्यवहार हो जाते हैं, और वैसी

ही सहायता मिल जाती है। "महापुरुषों के जीवन में भी होनहार होकर ही रहती है। "दैव के विपरीत होने पर न पुरुष कुछ कर सकता है और न उसका पुरुषार्थ" "जो भाग्य में विश्वसृष्ट ने लिख दिया उसको कोई अन्यथा नहीं कर सकता।" "जैसी होनहार है उसके अनुसार ही मनुष्य की बुद्धि मन और भावना हो जाती है और वैसी ही सहायता मिल जाती है। "विनाश का समय आने पर बुद्धि विपरीत हो जाती है। "मैं करता हूँ यह मनुष्य का वृथा अभिमान है। (अहंकारो नीति वृथाभिमान) "जो विधाता ने लिख दिया है वह अन्यथा नहीं हो सकता।" "विधि के वाम होने पर वाञ्छित फलों की प्राप्ति नहीं होती।" "दैव बलवान् है। "विधाता निर्विवेक है" "दैव से अनुकूल ही फल मिलता है। विधि के विमुख होने पर पुरुषार्थ क्या कर सकता है मनुष्यों की उन्नति और अवनति का कारण दैव ही है। जहाँ-जहाँ भाग्यहीन व्यक्ति जाता है वहीं-वहीं वह आप दाओं का भाजन होता है। विधि की गति पत्थर की लकीर है उसको कौन मिटा सकता है? 'दैव ने जो नियत कर दिया है उस पर विजय पाना कठिन है। "दैव की गति बड़ी विचित्र है। "क्रूर विधि असम्भव को भी संभव कर देता है। इत्यादि विचारों से मनुष्य की पूरी विवशता जान पड़ती है। तब मनुष्य के हाथ में क्या रह जाता है और किस प्रकार वह अपने चरित्र का निर्माण कर सकता है? कैसे वह धार्मिक बन सकता है? इस विचार के ठीक विरुद्ध भारतीय नीति शास्त्रों में मनुष्य को स्वतंत्रकर्ता और अपने पुरुषार्थ के द्वारा अपने भविष्य का निर्माता माना गया है।

मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा ऐहिक और पारलौकिक उन्नति कर सकता है और जैसा बनना चाहे वैसा बन सकता है। इस सम्बन्ध में योग वाशिष्ठ में जो कुछ कहा गया है वह स्मरण करने योग्य है। "इस संसार में सब दुःखों का क्षय करने के लिये पुरुषार्थ के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है। तीनों लोकों में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जोकि पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त न किया जा सके। जो जैसा यत्न करता है वैसा ही फल पाता है। जो उद्योग को छोड़ कर भाग्य के ऊपर भरोसा करते हैं वे अपने आप ही अपने शत्रु हैं और धर्म अर्थ और काम सब को नष्ट कर देते हैं। जो कुबुद्धि लोग यह समझते हैं कि सब कुछ भाग्य के ही आधीन है वे नाश को प्राप्त होते हैं। जो लोग शूर हैं, उद्यमशील हैं, ज्ञानी हैं, पण्डित हैं, उनमें से कौन भाग्य की प्रतीक्षा करता है? दैव कुछ नहीं है। दैव है ही नहीं। दैव कभी कुछ नहीं करता वह केवल कल्पना मात्र है। दैव की कल्पना कम बुद्धि वालों को दुःख के समय आश्वासन देने के लिये है। आश्वासन वाक्य के सिवा दैव वास्तव में कोई वस्तु नहीं है। और स्थानों पर भी कहा गया है—"बिना उद्योग के कोई ऊँचा पद नहीं प्राप्त कर सकता। "दैव की परवाह न करके अपनी शक्ति के अनुसार पुरुषार्थ करना चाहिये।

दैव और पुरुषार्थ की समस्या जैसी ही एक और समस्या कई दर्शनो और भगवद्-गीता ने खडी कर दी है। ये शास्त्र पुरुष को कर्मों का कर्ता न मानकर प्रकृति को कर्ता मानते हैं और कहते हैं कि सब कुछ प्रकृति के गुणो के द्वारा हो रहा है। मनुष्य अपने आप को वृथा और गलती से कर्ता मानता है। कृष्ण ने अर्जुन को कहा था कि यदि वह स्वयँ लडना नही चाहेगा तो भी प्रकृति उसको लडाई में प्रवृत्त कर देगी। प्रकृति और पुरुष के कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की समस्या को गीता में श्रीकृष्ण ने और जटिल यह कह कर बना दिया कि "ईश्वर अपनी माया से सब प्राणियो को कठपुतली की नाई नचा रहा है।" बहुत से सन्तो का भी यही मत रहा है कि जो कुछ हो रहा है ईश्वर की इच्छा से होता है। उसकी इच्छा के विरुद्ध पत्ता तक भी नही हिलता। यह होने पर भी गीता के अन्त में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह कहा कि "अब जो तुम्हारी इच्छा हो वह करो।" प्रकृति का ही कर्त्तव्य है या ईश्वर सब को कठपुतली की नाई नचा रहा हैं तो मनुष्य का क्या कर्त्तव्य, क्या पुरुषार्थ, क्या स्वातन्त्र्य और क्या उत्तरदायित्व रह जाता है? धर्म, अधर्म, बुरा, भला, नैतिक और अनैतिक, शुभ, अशुभ, पुण्य, पाप आदि शब्द निरर्थक हो जाते हैं। कर्त्तव्य और स्वधर्म का कुछ अर्थ नही रहता। जो कुछ हो रहा है वह दैव शक्ति वश, प्रकृति द्वारा, या ईश्वर की इच्छा मे ही हो रहा है। और इसलिये सब ठीक ही है। नैतिक उपदेश या धर्म की प्रचोदना, मोक्ष प्राप्ति का यत्न आदि क्रियायें व्यर्थ है। उपनिषदो में भी यह कहा गया है कि 'परमात्मा (भगवान्) अपने आप स्वय जिसको छाटते हैं उसी को अपना रूप दिखाते हैं। यहाँ तक भी कहा गया है 'जिसको वे ऊपर उठाना चाहते हैं उससे अच्छे कर्म कराते हैं और जिसको नीचे गिराना चाहते हैं उससे बुरे कर्म कराते हैं।'

इसलिये भारतीय नीति शास्त्र के लिये पुरुषार्थ, दैव (भाग्य) प्रकृति का कर्त्तव्य, और ईश्वर की इच्छा, जीवआत्मा का स्वातन्त्र्य आदि जो एक दूसरे के विरुद्ध और परस्पर असम्बद्ध विचार हैं उनमें सामन्जस्य और समन्वय करना बहुत आवश्यक है। कुछ लोगो ने दैव और पुरुषार्थों में इस रीति से समन्वय करने का यत्न किया है कि यद्यपि मनुष्य कर्म करने मे स्वतन्त्र और उसका उत्तरदायी है, तो भी पूर्वकाल में या पूर्व जन्म मे जो कर्म वह कर चुका है उसके फलो, परिणामो को उसे भोगना है। पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों के अवश्यम्भावी फलो को ही जो इस जन्म में हमको भोगने पडते हैं, दैव या भाग्य कहा जा सकता है। दैव केवल मनुष्य के अपने ही आप किये हुए कर्म या पुरुषार्थ के अवश्यभावी फल या परिणाम का नाम है। इसके अतिरिक्त दैव नाम की कोई वस्तु नही है। योग-वासिष्ठकार ने कहा है "देश और काल के अनुसार देरी में अथवा शीघ्र ही पूर्व किये हुए पुरुषार्थ के फल की प्राप्ति का नाम दैव है। पूर्वकृत कर्म के अतिरिक्त दैव और कोई वस्तु नही है। पूर्वकृत पुरुषार्थ का ही नाम दैव है। जैसा जैसा किसी ने प्रयत्न किया है

वैसा ही वैसा वह फल भोगता है। दोनों प्रयत्न (पूर्वकृत जिसका नाम दैव है और वर्तमान काल का जिसका नाम पुरुषार्थ है) दो मेढ़ों के समान एक दूसरे के साथ लड़ते हैं, और जो अधिक बलवान् होता है वही विजयी होता है। अब के किये हुए पुरुषार्थ (कर्म) द्वारा पूर्व का किया हुआ पुरुषार्थ (जिसका नाम दैव है) अभिभूत किया जा सकता है। पूर्वकाल में किये हुए पुरुषार्थ के मुकाबले में अब किये जाने वाला पुरुषार्थ बलवान हो सकता है। मनुष्य को इतना पुरुषार्थ करना चाहिए कि उसके द्वारा पूर्वकाल में किये हुए कर्मों के बुरे फलों को बदल सके। योगवासिष्ठकारों ने तो मनुष्य को ही अपने भविष्य का उत्तरदायी माना है। वह न प्रकृति के कर्तव्य को मानता है और न मनुष्य के भाग्य का विधायक ईश्वर को ही मानता है। उसने कहा है—"जो मनुष्य समझता है कि वह ईश्वर का भेजा हुआ स्वर्ग या नरक में जाता है वह सदा ही पराधीन रहता है, ऐसा मनुष्य पशु है इसमें कोई सन्देह नहीं है। जो मनुष्य यह समझकर कि उसको कोई दूसरा ही प्रेरित करता है स्वयं यत्न को छोड़ बैठता है वह अधम मनुष्य दूर से ही त्याग देने योग्य है। योगवासिष्ठकार और गौतम बुद्ध के अनुसार तो मनुष्य "अपने आप ही अपना मित्र है और अपने आप ही अपना शत्रु है। यदि वह अपने आप ही अपना उद्धार नहीं करता तो और कोई उपाय नहीं है। योगवासिष्ठकार के अनुसार केवल जीवात्मा और उसका मन ही कर्ता है। वही अपने भविष्य का उत्तरदायी है। वह पूर्णतया स्वतन्त्र है और अपने शरीर और संसार का बनाने और बिगाड़ने वाला है। जीवन जो कुछ चाहता है सब कुछ अपने आप ही सम्पादन कर लेता है। प्रत्येक जीवन में अनन्त शक्ति वर्तमान है। वह अपनी शक्ति से सब कुछ प्राप्त कर लेता है। यहाँ दूसरा और कोई हमारे भाग्य का निर्माण करने वाला नहीं है। प्रत्येक जीव में अपने अपने जगत और शरीर को निर्माण करने की शक्ति है और वह इस शक्ति के प्रयोग में पूर्णतया स्वतन्त्र है। नीतिशास्त्र को सार्थक बनाने और मनुष्य को परमार्थ और उच्च से उच्च आदर्शों को प्राप्त कराने में यदि कोई दार्शनिक विचार उपयुक्त हो सकता है तो वह कुछ इसी प्रकार का होना चाहिये। अलग प्रकृति अलग पुरुष और ईश्वर को मान लेने पर अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। नीतिशास्त्र की सार्थकता और नैतिक प्रवृत्ति का अर्थ यही है कि मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक अपने भविष्य का निर्माण कर सके।

२—पुरुषार्थ चतुष्टय में से कौनसा सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है ?

यह तो सभी जानते हैं कि मानव जीवन अमर नहीं है। मनुष्य संसार में उत्पन्न होता है और कुछ दिनों के लिये जीकर मर जाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य-जीवन का क्या उद्देश्य होना चाहिए और किस वस्तु को प्राप्त करने में उसे अपनी शक्ति को लगाना चाहिये ? यह प्रश्न मनुष्य के लिये बहुत बड़ा प्रश्न है। जो लोग पुनर्जन्म और परलोक

को नहीं मानने (चार्वाक के अनुयायी) और जो मानव को भौतिक शरीर मात्र ही मानते हैं उनके लिये तो क्षणिक इन्द्रिय सुख और ऐहिक भोग विलास के सिवाय जीवन का और उद्देश्य हो ही क्या सकता है? इसलिये उनका तो यही सिद्धान्त है कि "यावज्जीवेत्सुख जीवेत्"—जब तक जीवे सुख से जीवे। सुख अपनी सभी नैसर्गिक इच्छाओ के पूरी होने पर और इन्द्रियो के विषयो के भोग करने पर ही प्राप्त हो सकता है। मधुर शब्दो के श्रवण, कोमल वस्तुओ के स्पर्श, सुन्दर रूपो के देखने, स्वादिष्ट वस्तुओ के खाने, और सुगन्धित पदार्थों के सूंघने और और सुन्दर स्त्रियो और पुरुषो के सहवास, समाज में ऊँचे पदो की प्राप्ति, और दूसरो के ऊपर प्रभुत्व आदि से प्राप्त होने वाले जो ससार के सुख हैं वे ही जीवन का उद्देश्य हैं। उनको जिस प्रकार भी प्राप्त किया जा सके वही आचार और व्यवहार उचित आचरण हैं। ससार में अधिकाश मनुष्य इस प्रकार के सुखो को निरन्तर प्राप्त करते रहना ही जीवन का उद्देश्य समझते आये हैं। इस उद्देश्य का नाम नैतिक ग्रथो में "काम" है। काम ही जीवन का सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ या सब श्रेष्ठ मूल्य (Value) है। इसको बहुत लोग मानते आये हैं और आजकल तो, चाहे कोई विचार क्षेत्र में काम को परम पुरुषार्थ माने या न माने, व्यवहार और जीवन में तो प्राय सभी काम को ही परम पुरुषार्थ समझते हैं। आधुनिक सभ्यता और सस्कृति तो काम-प्रधान ही है। सासारिक सुख पाने के लिये ही सब लोग जीवन पर्यन्त प्रयत्नशील रहते हैं। आजकल के जितने वैज्ञानिक आविष्कार हैं वे सब मानव जीवन को अधिक से अधिक सुखी और भोगी बनाने के लिये हैं। सस्कृति का अर्थ ही मानव की वे क्रियायें हैं जो उसको ऐन्द्रिय विषयो द्वारा अधिक से अधिक सुख दें। आजकल की राज व्यवस्था का उद्देश्य यही है कि सब प्राणियो को पर्याप्त मात्रा में भोजन, वस्त्र और निवास स्थान प्राप्त हो सके और उनके जीवन सुरक्षित रह सकें। विषय-सुख और कामोपभोग के आधुनिक युग में अनन्त प्रकार के साधन लोगो को प्राप्त हैं और नित्य प्रति नये-नये साधनो का आविष्कार होता जा रहा है और इसका भी वैज्ञानिक लोग प्रयत्न कर रहे हैं कि मनुष्यो की विषयो के भोग करने की शक्ति बढे और उनकी आयु भी अधिक हो सके, जिससे बहुत दिनो तक ययाति की नाईं वे युवा रह कर विषय भोग का रस पान करते हुए सुखी रह सकें।

जो लोग काम को ही जीवन का एकमात्र अर्थ (मूल्य) या उद्देश्य समझते हैं वे कई बातो को भूल जाते हैं। एक तो यह है कि भोगो के विषयो को प्राप्त करने के लिये धन और दूसरे साधनो की, जो धन से ही प्राप्त होते हैं, आवश्यकता है। दूसरी, विषयो के भोगो के भोगने से मनुष्य की उनको भोगने की और उस भोग से सुख पाने की शक्ति का ह्रास होता है। अति भोगी थोडे ही दिनो में भोग भोगने योग्य नही रहता। तीसरी यह कि विषयो के भोग से नाना रोगों की उत्पत्ति होती है और जो भोग आरम्भ में सुख देने वाले

होते हैं वे ही अन्त में दुःख देने लगते हैं। कोई विषय-सुख सदा रहने वाला नहीं है। सभी क्षणिक हैं और सभी की दुःख में परिणति होती है। भोगी लोग रोगी और अल्पायु होते हैं। उनको शान्ति का अनुभव नहीं होता। तीसरी बात यह है कि भोगों का सुख प्राप्त करने में दूसरे लोगों से संघर्ष करना पड़ता है क्योंकि वे भी वे ही भोग्य पदार्थ चाहते हैं जो हम चाहते हैं और संसार में भोग्य वस्तुयें सीमित मात्रा में हैं।

इन बातों पर विचार करने वाले लोगों ने काम को परम पुरुषार्थ (सर्वश्रेष्ठ मूल्य) नहीं माना। कुछ लोग यह कहते हैं कि मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ कामोपभोग न होकर सम्पत्ति प्राप्त करना है, धन एकत्रित करना है। धन-सम्पत्ति आदि साधनों का नाम नीति शास्त्र में "अर्थ" है। बहुत से नीति शास्त्रों में अर्थ धन कांचन की प्रशंसा की गई है और अर्थ को संसार में सर्वश्रेष्ठ वस्तु माना है। "सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ते। सब गुण सुवर्ण के आधीन हैं। जिसके पास धन होता है वही सुखी है। वही भोग के विषयों को एकत्रित कर सकता है। वही धार्मिक कार्य मखदान ब्रह्मभोज दक्षिणा प्रायश्चित्त आदि कर सकता है। आजकल के युग में धन का सब गुणों से अधिक महत्व बढ़ गया है क्योंकि जीवन यापन की सभी वस्तुयें अत्यधिक मँहगी हो गई हैं। जीवन के लिये आवश्यक और उपयोगी वस्तुयें पुराने समय में सरलता से और थोड़ा सा मूल्य चुकाने पर मिल जाती थीं वे अब बहुत सा धन देकर मिलती हैं। आजकल नाना प्रकार की सुखदायक वस्तुयें प्रत्येक व्यक्ति को रखनी पड़ती हैं। प्रत्येक घर में बिजली की रोशनी और आग नल का पानी रेडियो ग्रामोफोन रेफ्रीजेरेटर, सिलाई की मशीन साइकिल स्कूटर या मोटरकार इत्यादि अनेक वस्तुयें ऐसी हैं जो न हों तो कष्ट का अनुभव होता है। आजकल का काम व्यवहार इस प्रकार का है कि रेल बस टैक्सी जलयान वायुयान द्वारा दूर-दूर स्थित स्थानों और देशों की यात्रा करनी ही पड़ती है। देखादेखी प्रत्येक मनुष्य अच्छे से अच्छा भोजन करना अच्छे से अच्छे और साफ कपड़े पहनना और उत्तम से उत्तम निवास स्थानों में रहना पसन्द करता है और उनका अपने और अपने कुटुम्ब के लिये निर्माण करता है। इन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये सभी अधिक से अधिक धन प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिये धन प्राप्ति के लिये अत्यधिक प्रयत्न करना पड़ता है और मनुष्य का समस्त जीवन इसी प्रयत्न में लगा रहता है। मरते समय तक धन ही कमाता रहता है। यहाँ तक कि जिन चीजों को भोगने के लिये धन की आवश्यकता थी उनको भोगकर सुख का अनुभव करने का भी उनको समय नहीं मिलता। धन कमाने के प्रयत्न में लगे हुए ही उनके हृदय की गति रुककर बीच हो जाती है। यह सब होते हुए अनेक लोग धन को जीवन का उद्देश्य समझते हैं और धन कमाने में उचित और अनुचित सभी साधनों का प्रयोग करते हैं। झूठ, बेई-मानी धोखेबाजी हिंसा कपट, छल आदि सभी साधनों का प्रयोग धन कमाने में और

सम्पत्ति एकत्रित करने में किया जाता है। ससार के इतिहास में धन की लिप्सा के कारण जितने अन्याय, अत्याचार और हिंसाएँ हुई हैं और किसी कारण से नही हुई। तो क्या वास्तव मे धन जीवन का सर्वश्रेष्ठ मूल्य है, जैसा कि कुछ नीतिकारो ने माना है? इसका सतोपजनक और युक्त उत्तर तो तभी दिया जा सकता है जबकि मनुष्य-जीवन क्या है इसका हमको पूर्ण ज्ञान हो। तो भी साधारण ज्ञान के आधार पर इस सिद्धान्त के विरोध में ये बाते कही जा सकती हैं—धन स्वय कोई मूल्यवान वस्तु नही है। धन एक साधन मात्र है। स्वय वह साध्य नही है। सुखो की सामग्री या विषयो को प्राप्त करने का साधन है। उसके द्वारा विषय भोगो से प्राप्त होने वाले सुख का ही अनुभव हो, सकता है। पर धन की लिप्सा वाले को और धन एकत्रित करने में व्यस्त व्यक्ति को उन सुखो का भोग भी उपलब्ध नही हो पाता। उसका जीवन सघर्षमय होता है और माया, छल, कपट, खुशामद और दूसरे अनेक दुर्गणो का उसे आश्रय लेना पडता है, जिसकी वजह से उसके चित्त में नाना प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न होकर अशान्ति होती है, और उसके शरीर मे नाना प्रकार के रोगो की उत्पत्ति होकर वह सुख का अनुभव नही कर सकता। धन कमाने में मनुष्य अपने सामने कोई सीमा नही रखता, निन्यानवे के फेर में पडकर वह अधिक से अधिक की ही इच्छा करता रहता है और किसी भी धनराशि को प्राप्त करके वह सन्तुष्ट नही होता अधिक से अधिक धन सम्पत्ति एकत्रित करने का प्रयत्न करता रहता है। अधिक धन वालो को चोर, डाकू, सरकार, मित्रो, दुश्मनो और सम्बन्धियो से भय (खतरा) बना रहता है और उसको अपनी और अपने धन की रक्षा के लिये ही बहुत धन खर्च करना पडता है। धन का नाश होने पर बहुत कष्ट होता है। जिन पापो के द्वारा धन कमाया गया है उनके दुःखदायी परिणाम भी भुगतने ही पडते हैं। शरीर में विषयो के सुख भोगने की शक्ति नही रहती। उसको प्राप्त करने के लिये बहुत धन व्यय करना पडता है, तो भी वह वापिस नही आती। धनी आदमी का जीवन अशान्त रहता है। उसको नाना प्रकार की चिन्ताएँ होती हैं। जितने दुःखी, रोगी, और अशान्त धनी व्यक्ति देखने में आते हैं उतने वे नही आते जिनको धन का अधिक लाभ नही है और उतना ही धन कमाते हैं जितने से उनकी अत्यन्त जरूरी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। इसलिये धन जीवन का सबसे श्रेष्ठ मूल्य, सबसे उत्तम पुरुपार्थ नही समझा जा सकता।

यदि "काम" और "अर्थ" (भोग और धन) जीवन के उपयुक्त और श्रेष्ठ पुरुपार्थ या मूल्य नही है तो मनुष्य के सामने जीवन का और क्या उद्देश्य हो सकता है? इसका सन्तोपजनक और युक्तिपूर्ण उत्तर तो तब दिया जा सकता है जबकि मनुष्य को अपना और इस ससार का पूरा ज्ञान हो। फिर भी यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य केवल एक भौतिक पुतला नही है। वह एक स्वय सवेद्य मानसिक और सामाजिक प्राणी है। उसके मन में

इच्छाएँ, भावनाएँ, ज्ञान प्रेम आदि ऐसी क्रियाएँ या वृत्तियाँ होती रहती हैं जो हमको जड़ भौतिक पदार्थों में दिखाई नहीं पड़तीं। यह दूसरे मनुष्यों से ही नहीं अन्य प्राणियों से भी सम्बद्ध है और उनके सम्पर्क में आता रहता है। उसके लिए यह प्रश्न आवश्यक है कि वह क्या करे या क्या न करे जिससे उसके मन में शान्ति और आनन्द रहे और सब प्राणियों के साथ उसका ऐसा सम्बन्ध बना रहे जिससे सब उसके बन रहें और वह सबका बना रहे। वह किसी को भयप्रद न हो और उससे किसी को भय न हो। वह सबकी मदद करे और उसकी सब मदद करें। उसको अपने विषय भोगों को भोगने और उनके साधनों के कमाने में अपने आपको इस प्रकार सीमित करना पड़ेगा कि जिससे दूसरों का उसी प्रकार की क्रियाओं में बाधा न पड़ती हो और उनके साथ अनुचित संघर्ष न होता हो। उसे अपने आपको कुछ ऐसे नियमों से नियंत्रित करना पड़ेगा जिनके अनुसार चलने से वह संसार के प्राणियों से सामञ्जस्य स्थापित कर सके और किसी को विशेष कष्ट न देता हुआ और अपने कामों से दूसरों को भी सुख देता हुआ अपने आप सुखी रह सके। इस प्रकार के नियमों का नाम ही भारतीय नीति शास्त्रों में "धर्म" है। धर्म वे नियम हैं जिनके पालन करने से मनुष्य स्वयं सुखी रहे, उन्नत करे और निर्भय और शान्त रहे और समाज भी अच्छी तरह चलता रहे, अर्थात् समाज में शान्ति रहे और सब प्रकार की उन्नति हो और सब एक दूसरे के साथ प्रेम और सहानुभूति रखें। धर्म शब्द "धृ" धातु से बना है जिसका अर्थ है धारण करना (कायम रखना)। धर्म वह है जो समाज को अच्छी तरह से कायम रखता हो जिससे (व्यक्ति और समाज की) उन्नति हो और श्रेयस (आन्तरिक शान्ति) की सिद्धि होती है वही धर्म है। धर्म के नियमों पर चलने से मनुष्य (व्यक्ति और समाज) का कल्याण होता है। धर्मशास्त्रों और नीति शास्त्रों में उन नियमों को जानने का प्रयत्न किया गया है जिनको धर्म के नियम समझा जा सके। मनु ने इन दस नियमों को धर्म बतलाया—

धैर्य क्षमा दम (मन को वश में रखना) अस्तेय (चोरी न करना) शौच (शुद्धि पवित्रता) इन्द्रिय-निग्रह धि (का प्रयोग) विद्या (ज्ञान) सत्य और अक्रोध (क्रोध के अवसर पर भी क्रोध न करना) और लोगों ने और भी नियम बतलाये हैं। पातञ्जलि योग सूत्र में पाँच यमों और पाँच नियमों के पालन की शिक्षा दी गई है। वे ये हैं—अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह और शौच सन्तोष तप स्वाध्याय और ईश्वर परिणिधान। व्यास ने महाभारत में धर्म का सार इस नियम को बतलाया है कि जो अपने को बुरा लगे वह दूसरों के प्रति न करो और जो अपने लिये कराना चाहते हो वह दूसरों के लिये भी करो। सभी नीति शास्त्रों में यह बतलाया गया है कि धर्म के नियमों को पालन करने से मनुष्य का कल्याण होता है और उनकी अवहेलना करने से मनुष्य का नाश और समाज में अव्यवस्था और अशान्ति होती है अतएव कुछ लोगों ने धर्म को ही जीवन का परम अर्थ (मूल्य)

माना है।

अब प्रश्न यह है कि क्या धर्म को ही जीवन का परम पुरुषार्थ मानना उचित है? धर्म, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वे नियम हैं जिनके अनुसार चलने से, जिनका पालन करने से मनुष्य की उन्नति होती है और नि श्रेयस की प्राप्ति होती है, समाज मे उचित सन्तुलन रहता है और दुर्व्यवस्था नही हो पाती। नियम किसी काम को उचित रूप से करने के लिये बनाये जाते हैं। सब क्रियाएँ कुछ न कुछ प्राप्त करने के लिये हुआ करती हैं, यह नियम या विधान स्वय कोई उद्देश्य नहीं होते। किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के साधन हो सकते हैं, स्वय उद्देश्य नही हो सकते। उद्देश्य वह होता है जिसको प्राप्त करने के लिये ही यम और नियमो का पालन किया जाता है। जिस प्रकार धन काम का साधन है, जीवन यात्रा में आवश्यक वस्तु इसलिये है कि उसके द्वारा मनुष्य की भोगेच्छा तृप्त होती है। उसी प्रकार धर्म के नियमो को पालन करके जीवन में अभ्युदय (उन्नति) और नि श्रेयस् की प्राप्ति होती है। ऊपर हम देख चुके हैं कि विषयो के भोगो से उत्पन्न हुआ सुख क्षणिक और दु खान्त होता है और उसको प्राप्त करने के लिये बाह्य विषयो को धन के द्वारा प्राप्त किया जाता है। विषयो से सुख प्राप्त करने वाला मनुष्य सदा अतृप्त सा ही रहता है क्योंकि उसको स्थायी सन्तुष्टि नही होती। भारतीय मनोवैज्ञानिक और दार्शनिको ने इस विषय में बहुत गहरी खोज की है कि मानव क्या है और उसकी आन्तरिक इच्छाएँ क्या हैं। वह क्या प्राप्त करना और बनना चाहता है। जो वह होना चाहता है और जो उद्देश्य उसके वास्तविक स्वरूप और स्वभाव के अनुरूप है वही जीवन का ध्येय हो सकता है।

सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि (१) मनुष्य अमर होना चाहता है अर्थात् सदा बना रहना चाहता है। (२) मनुष्य सर्वज्ञ होना चाहता है अर्थात् सब कुछ जानना चाहता है। (३) मनुष्य सदा सुखी रहना चाहता है। दु ख शोक और रोग से निर्मुक्त रहकर सदा सुखी प्रसन्न और सानन्द रहना चाहता है। (४) मनुष्य नि सीम होना चाहता है अर्थात् किसी भी सीमा, हद, बन्धन के भीतर न रहकर वह सब बन्धनो से मुक्त और सब सीमाओ से बाहर होकर रहना चाहता है, अर्थात् पूर्णरूपेण स्वतत्र होकर रहना चाहता है। (५) मनुष्य ससार की सभी वस्तुओ को आत्मसात् करके उनका प्रभु बनना चाहता है। उनको अपने नियत्रण में रखना चाहता है। (६) मनुष्य अपने लिये ही सब कुछ चाहता है। ससार के जितने विषय हैं उनको अपने आप अपने लिये ही भोगना चाहता है, दूसरो का ध्यान और ख्याल उसको तभी होता है जबकि उसकी अपनी पूर्ण तृप्ति हो जाती है। भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने मनूष्य का पूर्ण विश्लेषण और अध्ययन करके यह जान लिया है कि मनुष्य केवल भौतिक स्थूल शरीर मात्र ही नही है, वह अद्भुत और अनन्त शक्तियो वाला मन (mind) या सूक्ष्म शरीर, और पूर्ण ब्रह्म स्वरूप आत्मा है।

उसको अपने स्वरूप का शुद्ध और वास्तविक ज्ञान है। शरीर के स्तर पर मनुष्य की उपर्युक्त इच्छाएँ मूर्खतापूर्ण हास्यास्पद स्वप्न और कभी पूरी न होने वाली दिखाई पड़ती हैं। पर जब वह शरीर की भावना और शरीर के साथ तादात्म्य से ऊपर उठकर मन के और पुनः मन के जो कि चेतन उपचेतन और अति चेतन स्तरों वाला है साथ तादात्म्य करता है और उसमें मनोभावना आ जाती है तो उसमें भौतिक शरीर और इन्द्रियों की शक्तियों की अपेक्षा अनेक नई, अद्भुत अननुमेय और निःसीम शक्तियों का प्रादुर्भाव होने लगता है। मन की इन अद्भुत शक्तियों का थोड़ा सा भाग उन आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा हुआ है जिनका वर्णन आधुनिक पाश्चात्य परामनोविज्ञान (Para Psychology पैरासाइकोलोजी) में पाया जाता है। इन शक्तियों का संकेत मात्र पातंजलि योग सूत्र के विभूतिपाद में मिलता है। धारणा ध्यान और समाधि के अभ्यास से लोगों में इन अद्भुत मानसिक शक्तियों का प्रकाश होता है और तब उसको यह ज्ञान हो जाता है कि मन के उच्चतम स्तर पर पहुँच कर और उसके ऊपर नियन्त्रण स्थापित करके मानव की बहुत सी साधारणतया हास्यास्पद और असम्भव इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं।

मनुष्य अद्भुत शक्तिशाली मन ही नहीं है वह अपने निहित और अज्ञात स्वरूप में वह भी है जिसका ब्रह्म परमात्मा आदि नामों से शास्त्रों में संकेत किया जाता है। वह अपने वास्तरूप में "एकमेवाद्वितीयम्" एक है एक ही है और अद्वितीय है। अर्थात् अपने वास्तविक रूप में जिसका उसको इस समय इस कारण ज्ञान नहीं है कि उसने अपने आपको इस नश्वर अल्प शक्ति और सीमित शरीर या इसके साथ और इससे सम्बद्ध चेतन मन को साथ तदात्म्य कर रक्खा है। प्रत्येक मनुष्य वस्तुतया वही एक, अद्वितीय परम ब्रह्म है जिसके आधार पर समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति स्थिति प्रलय होती है और जो सत् (कभी नाश न होने वाला) चित् (सर्वज्ञ) और आनन्द (आनन्द का समूह है) जो निःसीम है, सबका प्रभु ईश्वर है और जो अकेला ही सबका मालिक है और सब भोगों का भोक्ता है। जब मनुष्य अपने इस स्वरूप को पहिचान कर उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है तो उसकी उपर्युक्त सभी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं और उसका और कुछ कर्तव्य नहीं रहता और संसार के क्षुद्र भोग विलासों की ओर कोई रुचि नहीं रहती। संसार की किसी वस्तु के प्रति उसकी इच्छा नहीं रहती। वह सब दुःखों और शोकों से परे हो जाता है उपनिषदों, योगवासिष्ठ और भगवद्गीता में इस ब्राह्मी स्थिति निर्वाण पद, मोक्ष का विशद वर्णन मिलता है जो वह मनुष्य अनुभव करता है जो अपने अज्ञात स्वरूप को जानकर उसमें स्थित होकर जीवन व्यतीत करता है। ऐसे व्यक्ति को जीवन्मुक्त स्थित प्रज्ञ आत्म अर्हत्, बुद्ध आदि कहा गया है। यदि मानव के स्वरूप का यह विश्लेषण और उसके लिये यह वास्तविकता है तो मानव-जीवन का एकमात्र उद्देश्य परम पुरुषार्थ सर्वश्रेष्ठ

नुन्न (अर्थ) इसके विनाश क्या हो जाता है।

इसलिये ही उच्च कोटि के भारतीय नीति विशारदों ने मोक्ष को ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य माना है। उसको उसे ही प्राप्त करने में अपनी समस्त शक्तियां लगानी चाहिए। क्योंकि उसको प्राप्त कर लेने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है। मुक्त पुरुष का महान् ऐश्वर्य होता है। संसार के सभी सुख उसके चरणों पर लुढ़कते रहते हैं। सब ऋद्धि सिद्धियां उसके सम्मुख हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। विषयों के भोग, अतुल धन और धार्मिक आचरण उसके लिये साधारण सी बातें हैं। इनकी ओर उसका ध्यान भी नही जाता। वह ब्रह्माण्ड का सम्राट् हो जाता है और इसका साक्षात् अनुभव करता है। स्वामी रामतीर्थ अपने को बादशाह राम कहा करते थे।

हां साधारण मनुष्यों के लिये नीति शास्त्रों का यह उपदेश ठीक है कि धर्म के नियमों का पालन करते हुए धन कमाकर धार्मिक सीमा में रहते हुए सासारिक विषयों का भोग करके यह अनुभव जब होने लगे कि विषय भोगों से स्थायी सुख और आनन्द नही मिलता और न तृप्ति होती है, व्यक्ति आत्मस्वरूप का चिन्तन करे और ब्रह्मपद प्राप्त करने का यत्न करे।

३—धर्म और जीवन मे किसको प्रधानता है ?

धर्म अर्थात् नैतिक नियमों का पालन करना मनुष्यों के लिये, और मानव समाज के लिये भी, अति आवश्यक है। इसके विना मनुष्य सुखी और समाज व्यवस्थित नही रह सकता। यह बात तो सभी भारतीय नीतिज्ञ मानते हैं। पर मतभेद इस प्रश्न पर पाया जाता है कि धर्म-पालन और जीवन दोनों में किसको प्रधान माना जाये। क्या धर्म के पालन करने में जीवन-दान दिया जाना चाहिए या जीवन की रक्षा के लिये धर्म के नियमों की अवहेलना की जा सकती है? उदाहरणार्थ सत्य को ले लीजिये। सत्य-पालन को सबने वडा धार्मिक नियम माना गया है। 'नहि सत्यात्परो धर्मः' सत्य से वडा कोई धार्मिक नियम नही है। सत्य की महिमा सभी नीतिशास्त्रो या धर्मशास्त्रों में गाई गई है। प्रश्न यह है क्या जीवन को सत्य-पालन करने में त्याग दिया जाना चाहिये या जीवन की रक्षा करने के लिये सत्य का त्याग कर देना चाहिए ? क्या असत्य के द्वारा अपने या किसी दूसरे व्यक्ति के जीवन की रक्षा करनी चाहिए ? कुछ नीतिज्ञ तो यही कहते हैं कि धर्म का पालन ही प्रधान है चाहे उसके कुछ भी परिणाम हों। व्यास जी ने महाभारत मे स्पष्ट शब्दो में कहा है कि किसी भी भय से, किसी भी लोभ से, किसी भी कामना से, जीवन रक्षा के लिये भी, कभी मनुष्य को धर्म का परित्याग नही करना चाहिए। अर्थात् धर्म का पालन हर हालत में करना चाहिये, उसके परिणाम चाहे जो भी कुछ हों। अथवा उसके परित्याग में कितने ही प्रलोभन सामने आयें और उसके पालन करने में कितने ही खतरे क्यो न हों। इतिहास और पुराण

इस उपदेश के पालन करने वाले व्यक्तियों के उदाहरणों से भरे पड़े हैं। हरिश्चन्द्र रन्ति देव शिवि दधीचि दशरथ आदि ने प्राणों की बाजी लगाकर धर्म का पालन किया है। भगवद्गीता ने स्वधर्म पालन में मर जाने को ही श्रेष्ठ समझा है। इसका कारण यह है कि मरना और जीना तो होता ही रहता है और एक न एक दिन सबको मरना ही है। जीव न मरता है और न उत्पन्न होता है। वह एक शरीर के नाश हो जाने पर दूसरे शरीर को धारण कर लेता है। इसलिये उसके लिये किसी शरीर से सम्बद्ध होकर जीना इतने महत्व की वस्तु नहीं है जितने महत्व की वस्तु उसके अपने पुण्य कर्म हैं जो उसके साथ जाकर उसके भविष्य का निर्माण करते हैं। यदि धार्मिक व्यवहार करते हुए, स्वधर्म का पालन करते हुए उसके प्राण किसी शरीर से निकल भी जायें तो क्या हानि हुई? उसको उससे अच्छा दूसरा शरीर किसी और उत्तम लोक में प्राप्त होगा? जो लोग यह मानते हैं कि यही एक जीवन है और शरीर के मरण पर और कोई शरीर नहीं मिलेगा उनके लिये प्राण देकर धर्म को पालन करने का सिद्धान्त मानना कठिन है। पुनर्जन्म और धर्म के सिद्धान्तों को मानने वाले के लिये और यह मानने वाले के लिये कि धर्म-पालन से इस लोक और परलोक दोनों में उन्नति होती है तो यही सिद्धान्त मान्य है कि धर्म-पालन करते हुए मर जाना धर्म की अवहेलना करके जीने से कहीं अच्छा है।

पर कुछ भारतीय नीतिज्ञ इस सिद्धान्त को नहीं मानते। उनका विचार है कि मनुष्य-जीवन बहुमूल्य वस्तु है। यह जीव को बार बार नहीं मिलता। ८४ लाख योनियों भोग कर जीव मनुष्य योनि को पाता है और यदि इस योनि में मनुष्य ने संसार चक्र से मुक्ति पाने का प्रयत्न न किया और मुक्त न हुआ तो न जाने कब उसको फिर यह अवसर प्राप्त होगा कि वह मनुष्य बन और फिर मुक्त होने का प्रयत्न करे। इसलिये भारत के बहुत से नीतिज्ञों ने आत्मरक्षा अपना जीवन और दूसरों के भी जीवन की रक्षा करना ही प्रधान कर्त्तव्य माना है। इस कर्त्तव्य के पालन में यदि झूठ, चोरी छल हिंसा आदि का भी आश्रय लेना पड़े तो वह अनुचित नहीं है। दुष्टों से रक्षा करने में मानव समाज का हित करने में और किसी ऊँचे उद्देश्य को प्राप्त करने व जिससे न्याय की रक्षा होती हो। झूठ बोलना आदि पाप चाहे उसका दूसरे जन्म में बुरा फल भोगना पड़े या यहीं पर पीछे चलकर उसका प्रायश्चित्त करना पड़े कर लेने चाहियें। इतिहासों और पुराणों में इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। कृष्ण ने महाभारत संग्राम में जय लाभ कराने वाले युधिष्ठिर से झूठ बुलवाया। द्रोण के जीवन का वध किया गया। रामचन्द्र ने रामायण में बाली को धोखे से मारा। लक्ष्मण ने शूर्पनखा का नाक काटा। विश्वामित्र ने चाण्डाल के घर का वर्जित पानी पिया और कुत्ते का मांस खाया। जीवन-रक्षा के लिये गुरु और ब्राह्मण का भी, यदि वह आततायी हो, वध करना विहित समझा गया है। इस सिद्धान्त के आधार पर

ही आपद्धर्म की कल्पना की गयी। प्रणय काल में स्त्रियो से वार्तालाप में, और विवाहादि सम्बन्धो आदि में झूठ बोलना पाप नही माना गया।

अब प्रश्न यह है कि इन दो विरुद्ध विचारो में कौन सा विचार ठीक है। हमारा निर्णय तो यह है कि भारतीय दर्शन, धर्म, और मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि में धर्म का पालन ही जीवन-रक्षा से श्रेयस्कर है। और इसीलिये उचिततर भी है। यदि आत्मा अमर है और पुनर्जन्म और कर्मफल के नियम के सिद्धान्त सत्य हैं तो क्षणिक और नश्वर जीवन या सामारिक प्रलोभन या विजय आदि के लिये धार्मिक नियमो का परित्याग करना अनुचित है। ऐसा यदि कोई श्रेष्ठ व्यक्ति करता है तो उसका प्रभाव जन-साधारण के ऊपर बहुत बुरा पडता है, क्योकि, जैसा भगवद्गीता में कहा गया ह, जैसा जैसा व्यवहार बडे आदमी करते हैं वैसा ही जन साधारण भी करते हैं। समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिये यह बहुत ज़रूरी है कि समाज के नेता और प्रबन्धक शुद्ध धार्मिक आचार-व्यवहार वाले हो, धार्मिक नियमो का पूरे तौर से पालन करें और समाज की आँखों में आदर्श व्यक्ति बनकर रहें। रही मनुष्य योनि के मिलने की बात। इसके विषय में यह कहा जा सकता है कि धार्मिक व्यक्ति और विशेपत' वह व्यक्ति जिसने धर्म के नियमो का पालन करने में अपने प्राणो या नश्वर शरीर की आहुति दे दी है, या जो आप या परायो की रक्षा या उपकार इस कारण नही कर सका कि उमने धार्मिक नियमो का उल्लघन नही किया या अधर्म का आचरण नहीं किया, कभी भी दूसरे जन्म में मनुष्य योनि से नीचे की योनि में उत्पन्न नही हो सकता। उसको तो इससे भी कही उत्तम योनि में जन्म मिलेगा। पृथ्वी मण्डल पर भले ही मनुष्य मे उत्तम योनि कोई न हो, पर ब्रह्माण्ड के अन्य लोको में जहाँ शायद सभी लोग स्वभावत' ही धर्म का आचरण करते हो और शायद जहाँ किसी कारण से भी अधर्म की शरण न लेनी पडती हो, ऐसे जीवो को वास मिले जो धर्म को जान देकर भी पालन करते हैं।

४—धर्म के जानने के उपाय

धर्म का पालन करना अर्थात् धर्म के नियमो के अनुमार चलना यदि इतना आवश्यक है कि उसके आगे जीवन भी कुछ नही है तो यह एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है कि कोई व्यक्ति यह कैसे जाने की धर्म क्या है। क्या विभिन्न देशो, कालो, विभिन्न जातियो, और विभिन्न व्यक्तियो के लिये धर्म एक ही है अथवा विभिन्न है। भारतवर्ष में धर्म को सामान्य और विशेष प्रकारो में विभक्त किया गया है। सामान्य धर्म वे नियम हैं जो मनुष्य मात्र को पालन करने चाहिए। इनके अतिरिक्त विभिन्न वर्णो के विशेष धर्म अलग-अलग हैं। विभिन्न आश्रमो के भी अलग-अलग धर्म माने गये है। विभिन्न युगो के भी अलग अलग धर्म माने गये हैं। स्त्रियो के धर्म पुरुषो के धर्म से भिन्न और स्त्रियो में भी सधवा और विधवाओ के धर्म अलग अलग प्रकार के बताये जाते हैं। नके अतिरिक्त आपत्काल के लिये अलग

धर्म माने गये हैं, राजाओं के धर्म अलग हैं। अब सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि धर्म क्या है इसका निर्णय कैसे हो? स्मृतियों और इतिहासों और पुराणों में यह बताया जाता है कि धर्म के जानने का परम प्रमाण वेद है। वेद में वर्णित धर्म को ही विस्तार के साथ स्मृतियाँ बतलाती हैं और महापुरुषों ने किस प्रकार धर्म का आचरण किया यह बतलाते हुए इतिहास और पुराण धर्म की विशद व्याख्या करते हैं। वेद स्मृति और सदाचार भी यदि किसी अवसर पर मनुष्य को उसका क्या कर्त्तव्य या धर्म है यह न बतला सके तो जो उसकी अन्तरात्मा कहे वही धर्म माना जाना चाहिए। भगवद्गीता में भी यह कहा गया है कि मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है इसको जानने के लिये शास्त्र ही प्रमाण है। कौन शास्त्र यह नहीं बतलाया गया।

अब प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में वेद स्मृति सदाचार और अन्तरात्मा का निर्णय किसी मनुष्य को उसका सामान्य या विशेष धर्म ठीक-ठीक बतलाते हैं, या बतला सकते हैं। वेदों में कहीं भी जन साधारण की समझ में आने वाली और मानव मात्र के लिये धर्म की व्याख्या नहीं मिलती। ऋत और सत्य की महिमा तो जरूर कहीं-कहीं वर्णन की गयी है। पर धर्म क्या है? उसके क्या-क्या नियम हैं, और क्यों उनका पालन करना चाहिये उसके पालन का क्या परिणाम होता है? इस प्रकार का उपदेश वेदों में नहीं मिलता। हाँ स्मृतियों में इस प्रकार की धर्म की व्याख्या अवश्य मिलती है। पर स्मृतियाँ भिन्न भिन्न समयों के लिये लिखी गई हैं और भिन्न भिन्न प्रकार से धर्म की व्याख्या करती हैं। इतिहास और पुराणों में जो देवताओं अवतारों और महापुरुषों के चरित्र मिलते हैं वे भी एक दूसरे के इतने विरोधी और भिन्न हैं कि कोई साधारण व्यक्ति यह निर्णय नहीं कर सकता कि किसका अनुसरण किया जाये। अन्तरात्मा का निर्णय भी सबका एक सा नहीं होता और बहुधा यह निर्णय कलुषित होता है। चोर, डाकू व्यभिचारी दुराचारी की अन्तरात्माओं का निर्णय महात्माओं और सन्तों की अन्तरात्मा के निर्णय से सदा भिन्न होता है। इन कठिनाइयों को देखते हुए किसी ने ठीक कहा है कि 'श्रुतियाँ विभिन्न हैं, स्मृतियाँ भी एक दूसरी से भिन्न हैं, कोई एक ऐसा ऋषि नहीं है जिसके वचनों को प्रमाण मान लिया जाये। धर्म का तत्त्व गुप्त है। इसलिये महापुरुष जिस मार्ग को ग्रहण करें वो ही ठीक है।

इसके अतिरिक्त एक और कठिनाई यह भी है कि जो लोग वेदों स्मृतियों और हमारे इतिहास और पुराणों को नहीं मानते जैसे चीनी बौद्ध ईसाई और मुसलमान आदि, वे लोग भी आखिरकार मनुष्य ही हैं, वे धर्म को कैसे जानें? केवल यह कहने से काम नहीं चलेगा कि "इस देश में पैदा हुए ब्राह्मणों से पृथ्वी के सब मनुष्य अपने-अपने आचार और व्यवहार की शिक्षा ग्रहण करेंगे। (मनु) धर्म का आचरण यदि मनुष्यमात्र के कल्याण

के लिये है तो मनुष्य मात्र के पास उसको जानने का कोई साधन होना चाहिए और वह साधन ऐसा होना चाहिए कि उसके द्वारा मनुष्य सामान्य और विशेष धर्म को प्रत्येक परिस्थिति में, प्रत्येक समय पर और प्रत्येक अवस्था मे जान सके। चाहे कोई भी शास्त्र हो, वह केवल सामान्य धर्मों को ही बतला सकता है, विशेष धर्मों को नही बतला सकता, क्योंकि देश, काल, परिस्थिति, अवस्था, शक्ति और भावना के अनुसार विशेष धर्म बदलता रहता है। सामान्य धर्मों को शास्त्रो से जानने से भी मनुष्य का काम नही चलता क्योकि उनको जीवन में प्रयुक्त करने में और उनके परस्पर विरोध होने में मनुष्य को ऐसी कठिनाइयों का सामना करना पडता है कि जिनमें शास्त्रो के वाक्यो या महापुरुषो के आचरण से कोई सहायता नही मिलती। उदाहरण के लिये सत्य और अहिंसा को ही ले लीजिये। सत्य के पालन करने में कभी-कभी हिंसा का प्रयोग करना पडता है और अहिंसा के पालन करने में कभी-कभी सत्य का गला घोटना पडता है। किन्तु सत्य और अहिंसा दोनो ही सामान्य धर्म माने गये हैं। कौन सा शास्त्र ऐसा है जो यह बतलायेगा कि सत्य और अहिंसा दोनो में से कौन सा धर्म का नियम अधिक मान्य और पाल्य है। इन कठिनाइयो के कारण ही धर्म को जानने के किसी ऐसे साधन (प्रमाण) की आवश्यकता है जो प्रत्येक मनुष्य को सदा प्राप्त हो, जिसका निर्णय उसको मान्य हो, और जिसके द्वारा मनुष्य सदा सब परिस्थितियो में निर्णय कर सके। वह साधन क्या है? हमारी समझ मे वह मनुष्य की अपनी विवेक शक्ति है, जिसको बुद्धि कहते हैं। बुद्धि के द्वारा निष्पक्ष और पूर्णतया या सर्वांगी विचार करने मे ही मनुष्य यह जान सकता है कि किसी समय उसका क्या कर्त्तव्य है और मानव की हैसियत से उसे क्या करना उचित है। बुद्धि द्वारा विचार करने पर मनुष्य को सत्य, असत्य, धर्म, अधर्म, उचित, अनुचित, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य, पुण्य और पाप और अपने उचित आदर्शों का पता लग जाता है। हाँ, आवश्यकता इस बात की है कि जानने वाले के हृदय में शुद्ध जिज्ञासा हो, किसी निर्णय के प्रति उसका आग्रह न हो और उसका विचार पक्षपात रहित हो। इसलिये योगवासिष्ठकार का यह मत हमें ठीक जान पडता है, "बिना विचार किए कोई भी तत्व अच्छी तरह से नही जाना जाता। विचार से ही तत्वज्ञान होता है।" (योग वा० २।१४।५२–५३) महाभारत के शान्तिपर्व के १४१–१४२वें अध्याय में भी भीष्म पितामह ने युधिष्ठर को यह बतलाया था —"अत हे कुन्ति पुत्र, अपने मन को वश में रखने वाले विद्वान पुरुष को चाहिए कि वह इस जगत् में धर्म और अधर्म का निर्णय करने के लिये अपनी ही विशुद्ध बुद्धि का आश्रय लेकर यथायोग्य बर्ताव करे (म० शा० व० १४१।१०२) हे कुरुनन्दन! धर्म और सत्पुरुषो का आचार से बुद्धि से ही प्रकट होते हैं और सदा उसी के द्वारा जाने जाते हैं। तुम मेरी इस बात को अच्छी तरह समझ लो"। (१४२।५) विद्वान् पुरुष स्वयं ही ऊहापोह करके—धर्म का निश्चय कर लें (१४२।

२१) इसमें कोई सन्देह नहीं कि वेदादि शास्त्रों के पठन पाठन से धर्म के तत्व को समझने में बहुत सहायता मिलती है। सत्संग भी इसमें सहायक होता है और गुरु की शिक्षा भी। इसलिये ही योगवासिष्ठ में कहा गया है कि "शास्त्र के अध्ययन सज्जनों की संगति और शुभकर्मों के करने से पाप क्षीण होने पर सार का ग्रहण करने वाली दीपक के समान प्रकाश देने वाली बुद्धि का उदय होता है। (यो वा ५।५।५)

५—घर या वन ? गृहस्थ या सन्यास ?

भारत के नीतिज्ञों ने मनुष्य मात्र के लिये जीवन के चार पुरुषार्थ निश्चित किये थे—धर्म अर्थ काम और मोक्ष। एक ही जन्म में इन चारों की सिद्धियाँ प्राप्त हो जायें और जीवन पूर्णतया व्यतीत होकर आगे के लिये कोई इच्छा न रह जाय—इस कारण से और धर्म अर्थ काम और मोक्ष में समन्वय हो सके इसलिये भी उन्होंने जीवन की एक योजना बनाई थी जिसका नाम आश्रम व्यवस्था था। इस अनुसार मानव की पूर्ण आयु को ? वर्ष की मानकर उन्होंने इसको चार बराबर के भागों में विभक्त करके उन भागों के ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम ये नाम रक्खे थे। सबसे प्रथम आश्रम में बालक को गुरुकुल में रखकर सब जीवनोपयोगी विद्याओं की शिक्षा धर्म और सदाचार का ज्ञान और अभ्यास और आध्यात्मिक विषयों से परिचित प्राप्त करके सांसारिक जीवन में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त करनी होती थी वैसी कि आजकल भी विद्यार्थी जीवन में करनी होती है। किन्तु उस समय ब्रह्मचर्य (स्त्री पुरुष के यौन सम्बन्ध से पूर्णतया बच रहने) और तपोमय जीवन पर विशेष जोर दिया जाता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर स्नातक विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश होकर और अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार किसी समाजोपयोगी व्यवसाय को करता हुआ अपनी विवाहिता स्त्री के साथ कामोपभोग करके सन्तानोत्पत्ति करके अपने बाल-बच्चों का पालन-पोषण करता हुआ धार्मिक जीवन व्यतीत करता था।

लगभग ५ वर्ष की आयु हो जाने पर वह अपनी पत्नी सहित घर को पुत्रों के ऊपर छोड़कर गृहस्थाश्रम को त्यागकर आध्यात्मिक साधना करने के लिए वन चला जाता था। वहाँ एक कुटिया बनाकर पत्नी सहित रहकर यम और तप करता हुआ आध्यात्मिक साधना करता था। लगभग २५ वर्ष तक इस प्रकार तपस्या और साधना करता हुआ वह ७५ वर्ष के समीप—जब उस समय उसकी सहिनी का देहान्त हो चुका होगा—वह सन्यास आश्रम में प्रवेश करता था। इस आश्रम में वह परिव्राजक होकर भ्रमण करता हुआ ब्रह्म-ध्यान करता था। सब जगत् को अपना निवास स्थान सब प्राणियों को अपना बन्धु और अपनी आत्मा का रूप समझता हुआ सुखी जीवन व्यतीत करके वहीं भी अपने इस नश्वर शरीर को त्याग देता था।

यह थी पुरानी आश्रम व्यवस्था। इसके ऊपर यद्यपि मव लोग नही चलते थे पर यह जीवन की एक आदर्श योजना समझी जाती थी जिस पर लोग चलना चाहते थे प्राचीन काल के ऋषि मुनियों का जीवन वानप्रस्थी भले ही रहा हो पर उनमें से वहुत कम सन्यास लेते थे। कुल लोग जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी रहकर विद्याभ्यास करते थे। कुछ सदा ही गृहस्थाश्रम में रहकर अपने वाल-वच्चो के पालन-पोषण में और गृहस्थी के धर्मपालन में रहते थे। कुछ लोग शीघ्र ही जीवन की कुछ घटनाओ के कारण विरक्त होकर सन्यास ले लेते थे।

वुद्ध भगवान् जव युवराज सिद्धार्थ थे, विवाहित हो गये थ और उनकी पत्नी की कोख से एक नन्हा सा वालक भी उत्पन्न हो गया था, अपने नगर में अकस्मात् एक दिन एक वूढे को, एक वीमार को और एक मृतक को और एक प्रसन्नचित्त सन्यासी को देखकर सन्यासाश्रम से मुग्व होकर सन्यासी वन गये थे। उन्होने वुद्धत्व प्राप्त कर लेने पर भी सन्यासी ही वना रहना और अपने शिष्यो को भिक्षु वनाना ही उचित समझा। उस समय से लेकर भारत में सन्यामी, भिक्षु या साधु वनने का बहुत रिवाज सा हो गया है, और आश्रम व्यवस्था को पूरा पालन न करने किसी आयु में भी लोग सन्यासी वनने लगे हैं। शकराचार्य वालकपन में ही सन्यासी हो गये थे और उन्होंनें अपने इस सिद्धान्त का 'जिस दिन भी वैराग्य उत्पन्न हो जाये उसी दिन सन्यास ले लेना चाहिये' प्रचार किया। इस शताब्दी के आरम्भ के कुछ वर्ष पूर्व भी विवेकानन्द और रामतीर्थ ने युवावस्था मे ही सन्यास लेकर ससार में वेदान्त का प्रचार किया। आज भी अनेक नवयुवक और नवयुवतियाँ सन्यास आश्रम मे प्रवेश कर लेते हैं। वास्तव में आजकल कुछ वर्षो के विद्यार्थी जीवन को छोडकर दो ही आश्रम रह गये हैं एक गृहस्थ और दूसरा सन्यास, और यह समझा जाता है कि धन उपार्जन और कामोपभोग के लिये गृहस्थाश्रम है और आध्यात्मिक चिन्तन और नाना प्रकार के साधनाओ और योगाभ्यास के करने के लिये सन्यासाश्रम है, यद्यपि वास्तव में ऐसा सर्वत्र और सर्वथा नही है। वहुत से साधु, भिक्षु और सन्यासी गृहस्थो से भी अधिक धनी, भोगी और विलासप्रिय हैं, और वहुत से गृहस्थी भी ज्ञानी, साधन और ब्रह्माभ्यासी हैं।

पीछे भारतीय नीतिज्ञो ने इस वात पर वहुत विचार किया है कि घर (गृहस्थाश्रम) या वन (सन्यास आश्रम) धर्म का आचरण और आध्यात्मिक साधना के लिये अधिक उपयुक्त है या दोनो ही इस दृष्टि से समान हैं। भगवद्गीता और योगवासिष्ठ मे इस विषय में काफी चर्चा की गई है और घर को छोडकर कर्मो का परित्याग करके, सन्यास लेकर वन में रहने की निन्दा नही, तो प्रशसा नही की। पुरातनकाल के नीतिज्ञो ने भी गृहस्थाश्रम को ही सर्वश्रेष्ठ आश्रम और दूसरे सव आश्रमो का आधार और पोषक माना है।

प्रायः सभी नीतिज्ञों ने यह बतलाया है कि एक धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने वाला गृहस्थी उसी सद्गति को प्राप्त होता है जिसको सब कुछ त्याग कर वन में रहने वाला सन्यासी। योगवासिष्ठ के ये वाक्य स्मरण रखने योग्य हैं—"जो ज्ञान द्वारा कर्मत्याग (मानसिक त्याग) में स्थित हो गया है और वासना रहित जीवन्मुक्त है वह चाहे घर में रहे चाहे वन में चाहे शान्त हो जाय चाहे उन्नति करे उसके लिये घर त्याग एक से हैं। उपशान्त व्यक्ति के लिये तो घर ही दूरवर्ती निर्जन वन के समान है और अशान्त पुरुष के लिए निर्जन वन भी मनुष्यों से भरी नगरी के समान है। (६।२।१।१७—१८) व्यवहार में लगा हुआ ज्ञानी और वन में रहने वाला ज्ञानी एक से हैं। (५।५६।१२) जिनका चित्त भली भांति स्थिर है और जिनका अहंभाव रूपी दोष क्षीण हो गया है उन गृहस्थियों के लिये उनका घर ही निर्जन वन के तुल्य है। समाहित चित्तवालों के लिये तो घर और वन एक से हैं। (५।५६।२२—२१)

इसलिये घर और वन गृहस्थ और सन्यास दोनों में कोई दूसरे से अधिक श्रेयस्कर नहीं है। दोनों ही एक जगह रहकर साधक साधना करते हैं और ज्ञानी कर्मोपभोग करते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करके अपने जीवन को आध्यात्मिक बनाये और इस संसार में रहता हुआ ही सब और आत्मदर्शन करे। यही कारण है कि मध्यकालीन सन्तों ने गृहस्थी बने रहते हुए और ईमानदारी से सांसारिक व्यवसायों को करते हुए सिद्धि को प्राप्त किया और गान्धी भी गृहस्थी रहते हुए महात्मा हो गए।

९—भारतीय नीति शास्त्र और नारी

भारतीय नीति ग्रन्थों में यद्यपि स्त्री की रक्षा करने और उसका आदर करने की शिक्षा तो बराबर पाई जाती है, मनु आदि सब स्मृतिकारों ने ऐसी बातें लिखी हैं कि जिस कुल में स्त्रियाँ प्रसन्न रहती हैं और उनका आदर सत्कार होता है उससे देवता भी प्रसन्न रहते हैं, पर सभी नीतिकारों ने स्त्री में अनेक विशेष दुर्गुणों के होने का जिक्र किया है। मध्यकालीन सन्तों—कबीर और तुलसी आदि ने भी स्त्रियों के स्वाभाविक दुर्गुणों का जहाँ-तहाँ वर्णन किया है। अधिकतर लेखकों ने स्त्री को छल कपट युक्त और पुरुष से अत्यधिक काम वासना वाली, अधिक मान वाली, अधिक चपल, अधिक अपवित्र रहने वाली, अधिक मूढ़ योवन वाली, विवेकहीन पुरुषों को मोह के जाल में फँसाने वाली और माया का पुतला, परमार्थ के मार्ग से डिगाने वाली आदि कहकर उसकी निन्दा और तिरस्कार किया है और आध्यात्मिक साधना करने वालों को उससे बचकर दूर रहने और उसको त्याग कर वन जाने का उपदेश दिया है। पुरुष मुमुक्षु और साधक को स्त्रियाँ विष की बेल घिनौनी नागिनी मोह और माया की सजीव मूर्ति दिखाई पड़ती है, जैसा कि

योगवासिष्ठ में रामचन्द्र ने अपने गुरु वासिष्ठ से बतलाया है।

तो क्या प्राचीन भारत के सब आध्यात्मिक और नैतिक शास्त्रों का यही निश्चित निर्णय है कि स्त्री ही पुरुष के सब दु खों और बन्धनों का कारण है? क्या स्त्री स्वयं आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकती? क्या वह पुरुष की आध्यात्मिक संगिनी नहीं बन सकती? क्या वह पुरुष का आध्यात्मिक उद्धार करने में सर्वथा असमर्थ है? क्या उसकी गणना शूद्रों की ही कोटि में की गई है?

यदि ऐसा ही हो तो भारतीय नैतिक साहित्य में यह एक बडा भारी दोष होता। इस मत के विपरीत यह मत भी पाया जाता है कि स्त्री पुरुष से किसी प्रकार बुद्धि, विवेक और विरक्ति से कम नहीं होती। वह भी आध्यात्मिक उन्नति कर सकती है और योगाभ्यास द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त कर सकती है, और पुरुष को साधना में केवल मदद ही नहीं कर सकती बल्कि उसकी पथ प्रदर्शक और गुरू भी हो सकती है। तुलसीदास की वास्तविक गुरु उसकी स्त्री ही थी जिसने उसे चेतावनी दी थी। इस प्रकार के अनेक उदाहरण इतिहास और पुराणों में मिलते हैं। योगवासिष्ठ मे लीला और चुडाला के उपाख्यानों को पढकर यह जान पडता है कि पुरुषों से कहीं अधिक जिज्ञासा, बुद्धि, विवेक और आध्यात्मिक तत्परता और क्षमता स्त्रियों मे होती है। वे पुरुषों के समान ही नहीं उनसे अधिक और शीघ्र आत्मज्ञान और योग सिद्धियाँ प्राप्त कर सकती हैं। योगवासिष्ठकार ने तो यहाँ तक कह दिया है, और हम समझते हैं कि ठीक ही कहा है कि—"अच्छे कुलों की प्रयत्नशील स्त्रियाँ पुरुषों को अनन्त और अनादि गहरे मोह से पार कर देती हैं। शास्त्र, गुरु, मंत्र आदि कोई भी संसार से पार उतारने में इतना सहायक नहीं होता जितनी कि स्नेह से भरी हुई अच्छे कुलों की स्त्रियाँ। ये अपने पति के लिये सखा, बन्धु, सुहृद, सेवक, गुरू, मित्र, धन, सुख, शास्त्र मन्दिर और दास आदि सभी कुछ होती हैं।" (यो० वा० ६।१।१०९।२६–२८)

योगवासिष्ठ के अनुसार स्त्री और पुरुषों की मनोवृत्ति एक सी हो सकती है और "समान मनोवृत्ति वाले स्त्री और पुरुष को एक दूसरे की संगत से जो विलक्षण आनन्द प्राप्त होता है वह संसार के सब आनन्दों से बढ़कर आनन्द है। (यो० वा० ६।१।८५।४३)

न तो सब पुरुष ही आदर्श चरित्र वाले होते हैं और न सब स्त्रियाँ ही। पर दोनों में समान रूप से आदर्श मनुष्य बनने की सम्भावना होती है। प्राचीन नीतिज्ञों ने आदर्श पत्नी का इन दो कथनों में चित्रण किया है जो यद्यपि विरल हैं तथापि सम्भव है—

"घर के काम करने में दासी के समान, रति क्रीडा करने में वेश्या की नाईं प्रवीण, भोजन बनाने और कराने में माता के समान, और विपत्ति के समय सद्बुद्धि और उचित सलाह देने वाली"—ऐसी भार्या होनी चाहिये (१) "सब कामों में मंत्री की नाईं उचित सलाह देने वाली, गृह कार्यों को दासी की नाईं करने वाली, भोजन बनाने और कराने में

माता की नाईं सहवास के समय रम्भा (अप्सरा) की नाईं आकर्षक और प्रवीण पृथ्वी की नाईं सहनशील और धर्म के अनुकूल आचरण करने वाली"—ऐसी छः गुणो वाली पत्नी होनी चाहिये। (२) यदि चाहे और प्रयत्न करें तो सभी स्त्रियाँ ऐसी पत्नी हो सकती है।

७—वर्ण व्यवस्था जन्म से या कर्म से

वेदो से लेकर आज तक सभी भारतीय नीति शास्त्रों में वर्ण व्यवस्था का वर्णन और चारो वर्णों—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों के धर्मों और कर्त्तव्यों का जिक आता है। जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन को प्राचीन भारतीयो ने चार आश्रमों में विभक्त करके धर्म अर्थ काम मोक्ष नामक चार पुरुषार्थो के प्राप्त करने की योजना बनाई थी उसी प्रकार उन्होने अपने ही ढग की एक समाज व्यवस्था भी बनाई थी जिसमें समाज के चार प्रकार के मुख्य काम सहयोग दक्षता और सफलतापूर्वक चलते रहें। ये चार सामाजिक काम थे—अध्यापन रक्षण धनोपार्जन और सेवा। जो लोग विद्या का विशेष अभ्यास करके समाज के बच्चो को शिक्षा देते थे वे ब्राह्मण कहलाते थे (आजकल के युग में उनको शिक्षक कहते है) जो समाज की भीतर और बाहर से रक्षा करते थे वे क्षत्रिय कहलाते थे (आज उनको पुलिस और फौज कहते है) जो कृषि वाणिज्य गोरक्षा आदि के द्वारा अन्न और धी दूध का उत्पादन करते थे वे वैश्य कहलाते थे (आजकल उनको किसान और बनिया कहते है) और जो ये सब काम न करके केवल घर में और बाहर लोगो की सेवा करते थे उनको शूद्र कहते थे (आजकल उनको नौकर और मजदूर कहते है)। ये चारों वर्ण (पेशे वाले) समाज के इस प्रकार एक दूसरे से सबद्ध और एक दूसरे के सहायक अग समझे जाते थे जैसे एक ही शरीर के विभिन्न अग सिर धड बाहु और टाँगें। ये एक दूसरे के पूरक थे विरोधी नही थे। सबके लिये सामान्य धर्म एक ही थे पर विशेष धर्म अलग-अलग थे जैसे सिर का काम सोचना पेट का काम भोजन पचाना और हाथो का काम शरीर की रक्षा करना और पैरो का काम चलना है। पर सब काम है एक ही शरीर के जैसे शरीर के अग अपने कामो के करने की विशेष योग्यता रखते है वैसे ही समाज के इन चारो वर्णो को अपने-अपने विशेष कर्त्तव्यो में प्रवीण होना पडता था। नीति शास्त्रो में यह भी बतलाया गया है कि एक समय ऐसा था जबकि समाज का वर्णों में विभाजन नही था और कोई व्यक्ति कोई काम कर लेता था। सब काम अधिक दक्षता से हो सकें इसलिये वर्ण व्यवस्था का आयोजन किया गया। आरम्भ में तो इसमें इतनी स्वतत्रता थी कि कोई भी व्यक्ति जिस व्यवसाय को करना चाहे छाँट कर उसको करने वालो की कोटि में सम्मिलित हो जाता था और वर्ण को ही विशेष महत्व दिया जाता था जन्म को नही। पर कुछ दिन पीछे चारो प्रकार के व्यवसाय करने वाली चार इस प्रकार की जातियाँ हो गई थी कि उनमें उत्पन्न होने वाले अपने

पैतृक व्यवसायो को करने लगे क्योकि उनके करने में ही उनको आसानी थी और उनमे ही वे दक्षता प्राप्त कर सकते थे। समय पाकर वर्ण व्यवस्था जन्म के आधार पर दृढ हो गई और उनके विशेष धर्म और रहन-सहन के तरीके निश्चित हो गये। बहुत दिनो तक ऐसा ही चलता रहा। पर यह देखने में वरावर आता था कि किसी वर्ण में उत्पन्न होने वाले उस वर्ण के अनुरूप आचार व्यवहार नही करते थे। ब्राह्मण कभी-कभी ब्राह्मणोचित आचारवान् नही होते थे और वैश्य, शूद्र वहुत सदाचार वाले होते थे इसलिये नीतिकारो ने यह बतलाया है कि दुराचारी ब्राह्मण को ब्राह्मण नही समझना चाहिय। और सदाचारी शूद्र का भी आदर और सन्मान होना चाहिए। कुछ लेखको ने तो यह मान लिया कि जन्म से सब शूद्र होते हैं, केवल सस्कारो से ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य होते हैं। धम्मपद से ज्ञात होता है कि बुद्ध भगवान् ब्राह्मणो का वहुत आदर करते थे। ब्राह्मण वर्ग मे उन्होंने ब्राह्मण किसे कहते हैं यह विस्तार से वतलाया है। उन्होने भी यही कहा है कि "न जटाओ मे, न गोत्र से, न जन्म से मनुष्य ब्राह्मण होता है वल्कि जिसके चित्त मे सत्य और धर्म है, जो पवित्र अन्त करण वाला है वही ब्राह्मण है।" (धम्मपद ३९३)

वज्रसुचिकोपनिषद् के अनुसार जातिमात्र से कोई ब्राह्मण नही हो सकता। जो ब्रह्म का साक्षात् करके ब्राह्मी स्थिति में रहता है और तदनुरूप उसकी चेष्टा होती है वही ब्राह्मण है। शुक्रनीति में तो स्पष्टतया यह कहा गया है कि किसी का वर्ण जन्म से निर्णीत नही होता, केवल गुण और कर्म से ही होता है। "इस जगत में जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, म्लेच्छ नही होते, किन्तु गुण और कर्म के भेद से होते हैं। समस्त जीव ब्रह्म से उत्पन्न होने मात्र से क्या ब्राह्मण हो सकते हैं? वर्ण या पिता से तेज की प्राप्ति नही होती। ज्ञान, कर्म, देवता आदि की उपासना, देवता के आराधना में तत्पर, शान्त, दान्त, और दयालु जो मनुष्य है वही गुणो से ब्राह्मण होता है। जो मनुष्य लोक की रक्षा करन में चतुर, शूरवीर, दान्त, पराक्रमी, और दुष्टो को दण्ड देने वाला होता है वह क्षत्रिय कहलाता है। जो खरीद बिक्री मे चतुर, व्यापार से जीवन निर्वाह करने वाले पशु रक्षा तथा खेती करने वाले होते हैं उन्हे पृथ्वी पर वैश्य कहा जाता है। जो ब्राह्मण की सेवा और पूजन में तत्पर, शूर, वीर, शान्त, जितेन्द्रिय, हल, काष्ठ, तृण आदि को ले जाने वाले हैं वे शूद्र कहलाते हैं। जो अविवेकी मनुष्य अपने धर्म के आचरण का परित्याग कर निर्दय दूसरो को कष्ट देने वाले हिंसक हो उन्हे म्लेच्छ कहा जाता है। (१–३८–४३) विभिन्न क्रियाओ के भेद से कला में भेद होता है और जो कला का आश्रयण करते हैं उनकी जाति उसी कला के नाम पर रक्खी जाती है।" (३।३०७) आगे चलकर अनेक प्रकार के व्यवसाय और कलायें हो जाने मे अनेक जातियाँ वन गई ठीक उसी प्रकार से जैसे आज अनन्त प्रकार के पेशे हैं। दुर्भाग्यवश जातियाँ भी वर्णों की नाई पेशे पर निर्भर न रहकर जन्म पर

शिथिल हो गई और जातियों में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध और खान-पान का व्यवहार बन्द हो गया। जो व्यक्ति जिस जाति में पैदा हुआ उसका वही पेशा हो गया था उसी का वह दास हो गया। इससे समाज में एकता की भावना कम हो गई और असमानता और भेद की भावना बढ़ गई। इसका प्रभाव और इससे दुर्गति होकर, और जाति पाँति के भेद से रहित मुसलमानों और ईसाइयों को अधिक प्रभावशाली देखकर मध्यकालीन सन्तों ने १९वीं शताब्दी के सुधारकों ने और बीसवीं शताब्दी के नेताओं ने जाति-पाँति के विरुद्ध आन्दोलन किया और आज भारत गणराज्य जाति और सम्प्रदाय विहीन समाज बनाने का प्रयत्न कर रहा। अद्वैतवादी भारत के लिए जो समस्त प्राणियों को अपना आत्मा समझता है और समस्त मानवता के कल्याण की कामना करता है यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। समय की आवश्यकताओं को देखते हुए और मानव मात्र का कल्याण चाहते हुए भारत ने आधुनिक नीति विचारों को अपना लिया कुछ अनुचित नहीं जान पड़ती। भारत की सनातन आध्यात्मिकता धार्मिकता और नैतिकता के आधार पर ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

८—यह लोक या परलोक ?

प्राचीन भारतीय संस्कृति चाहे वैदिक हो, जैन हो या बौद्ध परलोक में सदा विश्वास रहा है। मरने के पश्चात् प्राणी को स्वर्ग या नरक या और किसी लोक में जाना पड़ता है। और अपने कर्मों के अनुसार अच्छे या बुरे फलों को भोगना पड़ता है। तत्पश्चात् फिर यहाँ पर कर्मानुसार किसी योनि में जन्म लेना पड़ता है। परलोक में अनेक प्रकार के स्वर्ग और नरक हैं। जिसमें अनेक प्रकार की यातनाएँ होती हैं और अनेक प्रकार के सुख या यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। स्मृतियों, इतिहासों और पुराणों में और दूसरे धार्मिक ग्रन्थों में भी परलोकों का स्वर्गों और नरकों का वर्णन मिलता है और विस्तारपूर्वक यह बतलाया जाता है कि अमुक कर्म करने का अमुक फल भोगना पड़ता है। वहाँ के सुखों और दुःखों के भोगने की अवधि भी हजारों वर्षों की संख्या में बतलाई जाती है जबकि मानव जीवन सौ वर्ष है, क्षणिक है और यह नहीं मालूम कि कब इसका अन्त हो जावे।

इन सब ग्रन्थों के पढ़ने से भारतीय मानव के मन के ऊपर परलोक का ख्याल इतना दृढ़ हो गया था कि उसके सामने इस लोक को सुखमय बनाने और यहाँ के भोगों को भोगने की इच्छा ही नहीं रह जाती थी। इस लोक को सुधारने के बजाये परलोक को सुधारने की अधिक चिन्ता रहती थी। इस विचार के साथ साथ यह एक और विचार दृढ़ था कि मनुष्य योनि ही कर्म योनि है और परलोक में सब योनियाँ केवल भोग योनियाँ हैं। इसलिये यहाँ पर मनुष्य इन्द्रिय विषयों के भोगों से सुख प्राप्त करने के स्थान तपस्या, यम, इन्द्रिय-निग्रह, उपवास, ब्रह्मचर्य आदि कष्टमयी साधना करके उत्तम लोकों को प्राप्त

करना चाहिये। मानव जीवन नश्वर है और इसमे सुख की तलाश करना मृग मरीचिका के पीछे दोडना है। जीवन के सुख माया हैं, स्वप्न मात्र हैं और मिथ्या है। इनके पीछे पडकर मनुष्य जन्म को व्यर्थ खोना है।

इस प्रकार के विचार उपनिषदो के समय से लेकर उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक भारत में प्रचलित रहे। लोगो को परलोक का भय इतना लगता रहा कि उन्होने इस लोक के जीवन को सुधारने का विचार ही नही किया। ससार को और मानव-जीवन को उत्तम और दृढ बनाने का कोई प्रयत्न नही किया जाता था। यही कारण था कि विदेशियो ने आक्रमण करके इस देश मे अपनी सत्ता स्थापित की और भारत के ऊपर सैकडो वर्षों से १९४७ तक राज्य किया।

उन्नीसवी शताब्दी के नीतिज्ञो ने भारतीयो का ध्यान इस लोक की ओर आकृष्ट किया। दयानन्द, टैगोर, गाँधी, श्री अरविन्द, जवहरलाल, विनोवा भावे ने इस लोक को और मानव जीवन को सुधारने और यही पर स्वर्ग बनाने और रामराज्य स्थापित करने की शिक्षा दी। इनकी शिक्षा से प्रेरित होकर आज भारतीय लोग अपने ऐहिलौकिक जीवन के स्तर को ऊँचा करने, अपने देश को सब प्रकार से उन्नत, बलवान् करने और जन-साधारण को सुखी बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं और परलोक की चर्चा को बिल्कुल भूल गये हैं।

इसका फल यह तो जरूर होगा कि भारतीयो का जीवन अधिक सुखमय और उन्नत होगा। पर यह भी हमको स्मरण रखना चाहिये कि जब तक ससार में मृत्यु का साम्राज्य रहेगा तब तक उसके मन में परलोक का भय बना ही रहेगा और उसको परलोक की भी चिन्ता करनी ही पडेगी। यदि जीवात्मा अमर है और मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् कर्मानुसार गति होती है तो हमको यह सोचना ही पडेगा कि हम ऐसे काम करें जिनसे यह लोक और परलोक दोनो ही सुधरें, जिनसे दोनो में ही हमारा कल्याण हो। इसलिये ही एक भारतीय नीतिकार का यह वचन हमको मान्य है। "**अनेन मर्त्यदेहेन यल्लोकद्वयशर्मदम्। विचिन्त्य तदनुष्ठेय कर्म हेय ततो अन्यथा।**" अर्थात् भली भाँति सोच विचार कर इस मरणशील शरीर से ऐसे कर्म करने चाहिये जिनसे दोनो लोको में कल्याण हो, और इनके विपरीत कर्मों को नही करना चाहिये। खेद की बात है कि आज व्यक्तिगत उन्नति और अपने-अपने प्रदेशो और राष्ट्रो की समृद्धि करने में लोगो ने नैतिक नियमो सत्य, ईमानदारी, सदाचार, शील, और चरित्र की पवित्रता को तिलाजलि दे दी है। गाँधी जी की उस शिक्षा की साध्य को प्राप्त करने के लिये शुद्ध और पवित्र साधनो का प्रयोग करना चाहिये जीवन के सभी क्षेत्रो में हम लोग अवहेलना कर रहे हैं, और दिन पर दिन भारत का नैतिक पतन हो रहा है।

८—साधना का मार्ग

मन से ही मानव अपनी वर्तमान अवस्था या स्थिति से असन्तुष्ट रहा है वह जो है वह न रहकर कुछ और हो बनना चाहता रहा है। उसका जीवन दुःख और दुर्गम मृत्यु अज्ञान अनन्तता असीमित भय बन्धन आदि दोषों से आक्रान्त रहा है। अतएव वह मन में यही चाहता रहा है कि वह अजर, अमर दुःखों से निर्मुक्त शोक रहित, ज्ञानवान, ऐश्वर्यवान, निर्भय बन्धनों से मुक्त और शान्त हो जावे। उसको चारों ओर अशान्ति दिखाई पड़ती है इसलिए वह शान्ति की इच्छा करता है। अनेकता दिखाई पड़ती है इसलिए वह एकता का ज्ञान और अनुभव करना चाहता है उसको संसार में सभी वस्तुएँ बदलती हुई दिखाई पड़ती हैं, अतएव वह किसी ऐसे तत्व की खोज में रहता है जो कभी न बदलने वाला हो। उसकी सब शक्तियाँ सीमित हैं अतएव वह किसी निःसीम और सर्वशक्तिमती सत्ता के साथ नाता जोड़ना चाहता है। मनुष्य वास्तव में जो है ठीक उसके विरुद्ध होने की इच्छा करता है। इस इच्छा का कारण शायद यही हो कि उसमें इस इच्छा को पूरा करने की शक्ति निहित है और जो वह है नहीं पर होने की इच्छा करता है वह होना उसके लिए सम्भव हो। यदि हम जो वह है उसका नाम "जीवाणु" रखें और जो वह बनना चाहता है उसका नाम "ब्रह्म" (बढ़ने वाला फैलने वाला) तो दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक जीवाणु (छोटा जीव) में ब्रह्म (अनन्त सत्ता) बनने की ब्रह्मत्व प्राप्त करने की, ब्रह्म के साथ तादात्म्य अनुभव करने की, ब्रह्म के साथ कोई न कोई सम्बन्ध स्थापित करने की ब्रह्म दर्शन की, ब्रह्म से मिलन की मनुष्य को छोड़कर देवत्व या ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व प्राप्त करने की इच्छा है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि सब बन्धनों से मुक्त होने की सब दुःखों से छूटने की, सब सीमाओं से परे होने की सब सांसारिक विषयों के ताप से छुटकारा पाने की निर्वाण या कैवल्य का अनुभव करने की इच्छा है।

भारत के विचार और जीवन के इतिहास में इस इच्छा ने अनेक प्रकार के रूप धारण किये हैं और उसकी पूर्ति के अनेक साधन ढूंढ़ निकाले हैं। इस इच्छा को यदि हम "मुमुक्षा" (दुःख से मुक्ति और ब्रह्मत्व की प्राप्ति) के नाम से पुकारें और इसकी पूर्ति के सब प्रकार के उपायों को "साधना" के नाम से पुकारें तो अधिक अनुपयुक्त न होगा। मोक्ष जिसको प्राप्त करने की इच्छा का नाम मुमुक्षा है क्या है इसका जिक्र हम ऊपर पुरुषार्थों के सम्बन्ध में कर चुके हैं। यहाँ पर हम साधनाओं के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहते हैं।

सबसे प्रथम साधना भारत में ब्रह्माण्डी शक्तियों, अग्नि, जल वायु मरुत्, आकाश बिजली एवं सूर्यादि प्रकाश सम्पन्न, अटल नियम आदि के अधिष्ठाता आत्माओं अर्थात् देवताओं की प्रार्थना उपासना और उनको प्रसन्न करने के निमित्त

उनको यज्ञ द्वारा आहुतियों का देना थी। मनुष्य अपने को बहुत सी बातों में अशक्त पाकर और प्राकृतिक घटनाओं से भयभीत होकर, चारों ओर के वातावरण को अशान्त देखकर, ब्रह्माण्ड की शक्तियों को प्रसन्न करके उनसे मैत्री करके उनकी कृपा का पात्र बनना चाहता था। यद्यपि देवताओं के नाम और रूप बदल गये, और प्रार्थना, उपासना और यज्ञ का भी रूप बदल गया है, तो भी सदा से ही अधिकांश मनुष्यों का देवताओं और देवियों में विश्वास और उनकी उपासना और प्रार्थना, पूजा और उनको हवन, बलि, आदि द्वारा कुछ देने और उनसे उन वस्तुओं को पाने की आशा करने का रिवाज अभी तक बहुत लोगों में प्रचलित है जो उसको प्राप्त नहीं है। साधारण मनुष्य का स्वभाव सदा ही एक सा रहता है। चूंकि पृथ्वी तल पर दुःख, शोक, और मृत्यु है इसलिये मनुष्यों ने देवलोक (स्वर्ग) की कल्पना करके मृत्यु पश्चात् देवलोक, स्वर्ग, अथवा अपने उपास्य देव के लोक में जाने का स्वप्न देखा। चूंकि हमारे भी माता, पिता, दादा दादी आदि हम को यहाँ से छोडकर चले गये हैं, पर हमारा उनके प्रति प्रेम और श्रद्धा उनके अभाव के कारण बढ गई है, इसलिये हमने एक पितृलोक की भी कल्पना की, जहाँ पर हमारे सभी पूर्वज अमर होकर रहते हैं और हमारी प्रार्थना, उपासना और श्रद्धा से दिये हुए जल और अन्न से प्रसन्न होकर हमको हमारी मनोवांछित वस्तुओं को देते हैं।

अनेक देवी देवताओं की प्रार्थना, उपासना और यज्ञ से ऊबकर मनुष्य ने देवों के प्रभु किसी एक देव की कल्पना की, जो या तो उन्हीं में से कोई एक निकला, या उनसे अलग, और उनसे बलवान् और परे समझा गया। उसको ईश्वर, खुदा, अल्लाह, प्रभु आदि नामों से पुकारा गया। ईश्वर की उपासना, प्रार्थना, उसके लिये बलि, दान, और उसको प्रसन्न करने के नाना प्रकार के अनेक और उपाय, मनुष्य ने उसको प्रसन्न करके अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये निकाल लिये। ईश्वर के साथ अनेक प्रकार के नाते जोडे गये। किसी ने उसको पिता, किसी ने माता किसी ने सखा, किसी ने भ्राता, किसी ने शरण, किसी ने पति, आदि मानकर उसको अपनाकर अपनी कमियों को पूरा करने की भावना की। उसकी भक्ति करने के नाना प्रकारों का आविष्कार किया। उसके नाम पर मन्दिर बने, उसकी नाना रूपों और नामों की मूर्तियाँ बनाई गई, जिनकी पूजा करने की अनेक विधियाँ बनी। उसकी उपासना मस्जिद में की गई, गिरजा आदि अनेक प्रकार के स्थानों में की गई, और उससे उन वस्तुओं, उन अवस्थाओं और उन विषयों को प्राप्त करने की अभिलाषा और आशा की गई, और की जाती है, जो भक्तों को संसार और सांसारिक जीवन नहीं दे सका और न दे सकता है।

ईश्वर एक है, दूर है, व्यक्तितत्व युक्त है। इसलिये कुछ लोगों ने यह समझकर कि ऐसा ईश्वर कैसे सब प्राणियों की इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है, कैसे सब की बातें

सुन सकता है और कैसे सबके मन के भाव को जान सकता है? इसलिये उसके उपासकों ने यह कल्पना की कि ईश्वर सबमें व्याप्त है सबके हृदय में रहता है और सबको देखता है, अर्थात् वह सब जगह हाजिर और नाजिर है। इसलिये सबकी मनःकामनाओं को पूरा कर सकता है। ईश्वर का इस प्रकार का रूप ही भारत में अधिक प्रचलित हुआ। इसकी विशेषता यह भी है कि इस प्रकार के ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये किसी बाहरी पूजा, उपासना यज्ञ और दूसरे आडम्बरों की आवश्यकता नहीं है। वह अन्तर्यामी है और उसका रूप सूक्ष्म है और वह हमारे मानसिक भावों और हार्दिक भक्तिभाव से ही प्रसन्न हो जाता है, और प्रसन्न होकर हमको सब कुछ देता है क्योंकि वह हमारे हृदय में रहते हुए भी ब्रह्माण्ड के भीतर भी रहता है और उसका भी मालिक और नियन्ता है। इस प्रकार से मनुष्य ने ऐसे ईश्वर की कल्पना की जो हमारी सब इच्छाओं की पूर्ति कर सके, जो सबको सब कुछ देने योग्य हो। वह सब प्रकार से पूजने योग्य भक्त हो और प्रेम करुणा और सौहार्द से भी युक्त हो। उसकी शरण में जाने से सब संकट और दुःख दूर हो जायें। ईश्वर का यह पूर्णस्वरूप भगवद्गीता के एक श्लोक में बहुत सुन्दर और स्पष्ट शब्दों में वर्णित है। वह यह है—

गति भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्' (भगवद्गीता ९।१८)

अर्थात् यह ईश्वर गति (संसार का गम्य स्थान) भर्ता (सब को भरण-पोषण करने वाला) प्रभु (सब का स्वामी) साक्षी (सबके शुभाशुभ कर्मों को देखने वाला) निवास (सबका वास स्थान) शरण (शरण देने योग्य) सुहृद् (प्रत्युपकार न चाहकर हित करने वाला) प्रभव (उत्पत्ति का कारण) प्रलय (प्रलय का कारण) स्थान (सबका आधार) निधान (सब सूक्ष्मो या श्रेष्ठ अर्थों का खजाना) अविनाशी (सृष्टि का) बीज है।

यही ईश्वर पूर्ण रूप से सबके हृदय के भीतर मौजूद रहता है और अनन्य भक्ति से और हार्दिक पूजा से वह प्रसन्न होकर भक्त को अपना लेता है। इस विचार से मनुष्य को अत्यन्त सन्तुष्टि होती है। उसको अपने जीवन निर्वाह तक की चिन्ता नहीं रहती। भगवद्गीता में कहा गया है कि जो भगवान् का अनन्य भक्त है और सदा उसके ही चिन्तन में लगा रहता है उसकी योग क्षेम भगवान् स्वयं अपने आप ही करते हैं। मध्यकालीन सन्तों को यह विश्वास था कि जिसके मोदी राम हैं उनको भोजन आदि की क्या परवाह है। इस प्रकार की चिन्ता रहित अवस्था का भक्त को कठिन से कठिन आपत्ति काल पर भी अनुभव होता है क्योंकि वह समझता है कि भगवान् उसकी परीक्षा कर रहा है। भक्ति की पराकाष्ठा तब होती है जब भक्त अपने अहंकार, अपने मन और आत्मा को ही भगवान् को अर्पण कर देता है और भगवान् की सत्ता में समा जाना चाहता है, दूरी का मिटाकर पूरा

बन जाना चाहता है। खुदी को ही सब क्लेशों, दुर्गुणों, अवगुणों, कमियों, बन्धनों और सीमाओं का कारण समझकर भक्त इनको मिटाकर भगवत्स्वरूप में प्रवेश करना चाहता है। भक्ति के अनेक प्रकार और भक्त की अनेक प्रकार की भावनायें और भगवान् के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्धों की कल्पना की गई है। भक्ति की पराकाष्ठा इसमें ही है कि भक्त अपने को सब प्रकार से मिटाकर भगवान् को ही अपना सर्वस्व समझता है। अपने आपको भगवान् के प्रति पूर्णतया अर्पण कर देता है। इसमें उसको परम तृप्ति और परम आनन्द का अनुभव होता है।

कुछ लोगों ने भक्ति और भावना का आश्रय न लेकर ज्ञान का आश्रय लिया। उन्होंने अपने आपको जानने का प्रयत्न किया। मैं क्या हूँ ? मेरी क्या-क्या शक्तियाँ हैं ? मैं क्या हो सकता हूँ ? आत्मचिन्तन, आत्म-विश्लेषण और आत्मानुसन्धान द्वारा उन्होंने यह जाना कि वे भौतिक शरीर मात्र नहीं हैं, उन्होंने मनुष्य की चारों अवस्थाओं—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या का भली भाँति सूक्ष्म विश्लेषण और अध्ययन करके इस बात का पता लगाया कि मनुष्य के व्यक्तित्व में तीन शरीर—स्थूल, कारण, सूक्ष्म—और पाँच कोश अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—और अजर अमर सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है। शरीर और अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) से परे जाकर उनको आत्मा के अस्तित्व का पता चला। आत्मा के विषय में विचार करने पर उसके ऊपर संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) का अभ्यास करने से उनको यह पता चला कि अन्ततोगत्वा सब प्राणियों का परम आत्मा वही है जो समस्त ब्रह्माण्ड का आत्मा है। जो पुरुष सूर्य में है, जो अग्नि में है, जो आकाश में है, वही मनुष्य के भीतर भी आत्मा रूप से स्थित है। उन्होंने (जिनके अनुभव, विश्लेषण और विचार उपनिषदों में हमको प्राप्त हैं) पूर्णतया निश्चित होकर यह बतलाया कि, "आत्मा ही ब्रह्म है (अयमात्मा ब्रह्म") तू भी वही है। (तत्वमसि) और सब कुछ ब्रह्म ही है (सर्वं खल्विद ब्रह्म) यह बात सत्य तो है पर इसको मनुष्य जानता नहीं। इस अज्ञान के कारण ही वह अपने को भौतिक शरीर या मन, या जीवात्मा मात्र ही समझता है। जो अपने को जैसा समझता है वह वैसा ही और उतना ही होता है। जो अपने पूर्ण और वास्तविक स्वरूप ब्रह्म को जानकर वैसा ही समझता है वह वही हो जाता है। ब्रह्म का जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। "**ब्रह्म विद्ब्रह्मैव भवति।**" इसलिये उपनिषदों का यह उपदेश है "**आत्मा वा अरे दृष्टव्य श्रोतव्यो, मन्तव्यो निदिध्यासितव्य**" अर्थात् आत्मा को जानो, उसके सम्बन्ध में जो ज्ञान दूसरों ने प्राप्त किया है उसको सुनो, उसके सम्बन्ध में विचार करो, और उसका निदिध्यासन अर्थात् भावनात्मक ध्यान करो। ऐसा करने से जीव को ब्रह्मत्व का अनुभव होता है और उसका जीवन ब्राह्मी जीवन हो जाता है जिसमें न कोई सीमा है, न बन्धन है, न

सुन सकता है, और कैसे सबके मन के भाव को जान सकता है? इसलिये उसके उपासकों ने यह कल्पना की कि ईश्वर सबमें व्याप्त है सबके हृदय में रहता है और सबको देखता है, अर्थात् वह सब जगह हाजिर और नाजिर है। इसलिये सबकी मनःकामनाओं को पूरा कर सकता है। ईश्वर का इस प्रकार का रूप ही भारत में अधिक प्रचलित हुआ। इसकी विशेषता यह भी है कि इस प्रकार के ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये किसी बाहरी पूजा, उपासना यज्ञ और दूसरे आडम्बरों की आवश्यकता नहीं है। वह अन्तर्यामी है और उसका रूप सूक्ष्म है और वह हमारे मानसिक भावों और हार्दिक भक्तिभाव से ही प्रसन्न हो जाता है, और प्रसन्न होकर हमको सब कुछ देता है क्योंकि वह हमारे हृदय में रहते हुए भी ब्रह्माण्ड के भीतर भी रहता है और उसका भी मालिक और नियन्ता है। इस प्रकार से मनुष्य ने ऐसे ईश्वर की कल्पना की जो हमारी सब इच्छाओं की पूर्ति कर सके जो सबको सब कुछ देने योग्य हो। वह सब प्रकार से पूर्ण योग्य सशक्त हो और प्रेम करुणा और सौहार्द से भी युक्त हो। उसकी शरण में जाने से सब भय और दुःख दूर हो जायें। ईश्वर का यह पूर्णस्वरूप भगवद्गीता के एक श्लोक में बहुत सुन्दर और स्पष्ट शब्दों में वर्णित है। वह यह है—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्। (भगवद्गीता ९।१८)

अर्थात् वह ईश्वर गति (संसार का अन्त्य स्थान) भर्ता (सब को भरण-पोषण करने वाला) प्रभु (सब का स्वामी) साक्षी (सबके शुभाशुभ कर्मों को देखने वाला) निवास (सबका वास स्थान) शरण (शरण देने योग्य) सुहृद् (प्रत्युपकार न चाहकर हित करने वाला) प्रभव (उत्पत्ति का कारण) प्रलय (प्रलय का कारण) स्थान (सबका आधार) निधान (सब मूल्यी या श्रेष्ठ वस्तुओं का खजाना) अविनाशी (सृष्टि का) बीज है।

यही ईश्वर पूर्ण रूप से सबके हृदय के भीतर मौजूद रहता है और अनन्य भक्ति से और हार्दिक पूजा से यह प्रसन्न होकर भक्त को अपना लेता है। इस विचार से मनुष्य को वास्तव सन्तुष्टि होती है। उसको अपने जीवन निर्वाह तक की चिन्ता नहीं रहती। भगवद्गीता में कहा गया है कि जो भगवान् का अनन्य भक्त है और सदा उसके ही चिन्तन में लगा रहता है उसकी योग क्षेम भगवान् स्वयं अपने आप ही करते हैं। मध्यकालीन सन्तों को यह विश्वास था कि जिसके गोसी राम हैं उनको भोजन आदि की क्या परवाह है। इस प्रकार की चिन्ता रहित अवस्था का भक्त को कठिन से कठिन आपत्ति काल पर भी अनुभव होता है क्योंकि वह समझता है कि भगवान् उसकी परीक्षा कर रहा है। भक्ति की पराकाष्ठा तब होती है जब भक्त अपने अहंकार, अपने मन और आत्मा को ही भगवान् को अर्पण कर देता है और भगवान् की सत्ता में समा जाना चाहता है, खुदी को मिटाकर खुदा

बन जाना चाहता है। अहं को ही सब क्लेशों, दुःखों, अवगुणों, कमियों, बन्धनों और सीमाओं का कारण समझकर भक्त इनको मिटाकर भगवत्स्वरूप में प्रवेश करना चाहता है। भक्ति के अनेक प्रकार और भक्त की अनेक प्रकार की भावनायें और भगवान् के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्धों की कल्पना की गई है। भक्ति की पराकाष्ठा इसमें ही है कि भक्त अपने को सब प्रकार से मिटाकर भगवान् को ही अपना सर्वस्व समझता है। अपने आपको भगवान् के प्रति पूर्णतया अर्पण कर देता है। इसमें उसको परम तृप्ति और परम आनन्द का अनुभव होता है।

कुछ लोगों ने भक्ति और भावना का आश्रय न लेकर ज्ञान का आश्रय लिया। उन्होंने अपने आपको जानने का प्रयत्न किया। मैं क्या हूँ? मेरी क्या-क्या शक्तियाँ हैं? मैं क्या हो सकता हूँ? आत्मचिन्तन, आत्म-विश्लेषण और आत्मानुसन्धान द्वारा उन्होंने यह जाना कि वे भौतिक शरीर मात्र नहीं हैं, उन्होंने मनुष्य की चारों अवस्थाओं—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या का भली भाँति सूक्ष्म विश्लेषण और अध्ययन करके इस बात का पता लगाया कि मनुष्य के व्यक्तित्व में तीन शरीर—स्थूल, कारण, सूक्ष्म—और पाँच कोश अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—और अजर अमर सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है। शरीर और अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) से परे जाकर उनको आत्मा के अस्तित्व का पता चला। आत्मा के विषय मे विचार करने पर उसके ऊपर संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) का अभ्यास करने से उनको यह पता चला कि अन्ततोगत्वा सब प्राणियों का परम आत्मा वही है जो समस्त ब्रह्माण्ड का आत्मा है। जो पुरुष सूर्य में है, जो अग्नि में है, जो आकाश में है, वही मनुष्य के भीतर भी आत्मा रूप से स्थित है। उन्होंने (जिनके अनुभव, विश्लेषण और विचार उपनिषदों में हमको प्राप्त हैं) पूर्णतया निश्चित होकर यह बतलाया कि, "आत्मा ही ब्रह्म है (अयमात्मा ब्रह्म") तू भी वही है। (तत्वमसि) और सब कुछ ब्रह्म ही है (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) यह बात सत्य तो है पर इसको मनुष्य जानता नहीं। इस अज्ञान के कारण ही वह अपने को भौतिक शरीर या मन, या जीवात्मा मात्र ही समझता है। जो अपने को जैसा समझता है वह वैसा ही और उतना ही होता है। जो अपने पूर्ण और वास्तविक स्वरूप ब्रह्म को जानकर वैसा ही समझता है वह वही हो जाता है। ब्रह्म का जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। "**ब्रह्म विद्ब्रह्मैव भवति।**" इसलिये उपनिषदों का यह उपदेश है "**आत्मा वा अरे दृष्टव्य श्रोतव्यो, मन्तव्यो निदिध्यासितव्य**" अर्थात् आत्मा को जानो, उसके सम्बन्ध में जो ज्ञान दूसरों ने प्राप्त किया है उसको सुनो, उसके सम्बन्ध मे विचार करो, और उसका निदिध्यासन अर्थात् भावनात्मक ध्यान करो। ऐसा करने से जीव को ब्रह्मत्व का अनुभव होता है और उसका जीवन ब्राह्मी जीवन हो जाता है जिसमें न कोई सीमा है, न बन्धन है, न

दुःख और शोक है। न भय है और न मृत्यु का अनुभव है। वह जीवन्मुक्त होकर रहता है। इस प्रकार पूर्णत्व को प्राप्त करने की साधना का नाम ज्ञानयोग है।

तीसरी साधना कर्ममार्ग की है। उस पर वे लोग चलते हैं जिनको यह विश्वास है कि यह संसार कर्मक्षेत्र है। यहाँ पर शुभ कर्मों का फल शुभ होता है और अशुभ कर्मों का फल अशुभ। शुभ कर्म करने से उच्च गति मिलती है मन पवित्र होता है और आत्मा ऊँचे लोकों में जाता है। पुण्य कर्मों के करने से और मन के शुद्ध होने से जीवात्मा में अनेक शक्तियों और सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है। शुभ कर्मों द्वारा इन्द्र, ब्रह्मा आदि तक की पदवी प्राप्त हो जाती है और धीरे-धीरे जीव ईश्वर तक हो जाता है। शुभ कर्मों को भी यदि उनके फलों की आकांक्षा त्याग कर किया जाय या उनके फलों को ईश्वरार्पण करके किया जाय तो जीव को और ऊँची और अच्छी गति प्राप्त होती है। जैसे कर्मचारी की पदोन्नति हुआ करती है जो निष्काम भाव से अपने स्वधर्म का पालन करता है यानी अपना नियत कर्म अदा करता है, इसी प्रकार जो भगवान् की सेवा की भावना से और उनको प्रसन्न रखने के कारण अपने लिए कोई विशेष फल न चाहकर अपने स्वधर्म का पालन करता है उसे सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है। भगवद्गीता में कहा गया है कि जो लोग भगवान् की पूजा अपने स्वधर्म पालन के द्वारा करते हैं वे सिद्ध हो जाते हैं। (१८ ४६) इस प्रकार की साधना कर्मयोग कहलाती है।

भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग के अलावा और भी कई प्रकार के योग हैं जिनमें से कुछ का सामान्य नाम ध्यान योग है। इनमें विशेषतः तीन मुख्य हैं—राजयोग, हठयोग और कुण्डलिनी योग। इन सब में नाना प्रकार के ध्यानों का अभ्यास करके आत्मा के स्वरूप का, जो ईश्वर का या ब्रह्म का ही स्वरूप है, ध्यान करके उसमें स्थिति प्राप्त की जाती है। ध्यान की प्रगाढ़ श्रेणी पर आत्मा में अद्भुत शक्तियाँ प्रकाश होने लगती हैं और अनिर्वचनीय आनन्द और उल्लास का अनुभव होकर परम संतुष्टि की प्राप्ति होती है और सब सीमाओं और बन्धनों से मुक्त होकर ब्राह्मी स्थिति का अनुभव होता है।

यदि निष्पक्ष भाव से और विचारपूर्वक देखा जाय तो ये सब योग एक ही अवस्था को प्राप्त करने के साधक की रुचि के अनुसार नाना उपाय हैं। जैसे सब दिशाओं से आने वाले यात्री अलग-अलग मार्गों से आकर भी एक ही तीर्थस्थान पर पहुँचते हैं उसी प्रकार अपनी-अपनी रुचि और प्रकृति के अनुकूल योग को अपनाकर उसका अभ्यास करते हुए सभी जिज्ञासु मुमुक्षु और साधक वही पूर्णता प्राप्त करते हैं जिसको प्राप्त करके मानव की सभी प्रकार से तृप्ति हो जाती है उसमें अलौकिक शक्तियाँ आ जाती हैं और वह परम आनन्द का अनुभव करता है। इस सम्बन्ध में योगवासिष्ठ की यह बात बहुत उपयुक्त

है—"जिस प्रकार बहुत से मुसाफिर नाना देशों से चले हुए नाना मार्गों द्वारा एक ही नगर को जाते हैं, उसी प्रकार सब साधक एक ही विचित्र परमार्थ पद को नाना देश और मार्गों में ज्ञात हुए मार्गों द्वारा प्राप्त करते हैं। नाना प्रकार से उस परम पद को जाने वाले लोग, परमार्थ का किसी को पूर्णज्ञान न होने के कारण और कभी-कभी उसका गलत ज्ञान होने से, वृथा ही परस्पर वाद-विवाद करते हैं, जैसे बटोही लोग अपने-अपने मार्ग को ही सर्वोत्तम समझ कर झगड़ने लगें।" (यो० वा० ३।९६।५१–५२)

यद्यपि आरम्भ में कर्म, भक्ति, ज्ञान और ध्यान साधनाओं में कुछ भेद सा दिखाई पड़ता है पर किसी साधना पथ पर कुछ आगे बढ़कर यह ज्ञात होने लगता है कि सब साधनाएँ एक दूसरी से ओत-प्रोत हैं और एक को दूसरी की आवश्यकता पड़ती है। पूर्ण साधना वह है जिसमें सब ही सम्मिलित रहती हैं। पूर्ण और सर्वांगी साधना में भक्ति ज्ञान, निष्काम शुभ कर्म और ध्यान सभी का अभ्यास किया जाता है। इसी का नाम कुछ योगियो ने 'पूर्णयोग' रक्खा है। भारतीय साधनाओ की पराकाष्ठा पूर्णयोग में ही होती है।

१०—भारतीय नीति वैयक्तिक या सामाजिक ?

आपातत तो यह जान पड़ता है कि भारतीय नीति शास्त्रो में प्रत्येक व्यक्ति अपने ही कल्याण की साधना करता है और उसी को सिद्ध कर लेने में उसके जीवन का सब समय और सब शक्तियाँ व्यय हो जाती हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जो चार जीवन के पुरुषार्थ या परम श्रेय (मूल्य) माने गये हैं वे भी व्यक्ति के ही उद्देश्य हैं, समाज के नही। एक नीतिकार ने तो यहाँ तक कहा है कि, "**आत्मार्थे पृथ्वी त्यजेत्**"=आत्मा के (अपने) हित के लिये पृथ्वी को भी त्याग देना चाहिये। उसी ने यह भी कहा है कि धन और स्त्रियो का त्याग करके भी अपनी रक्षा करनी चाहिये। "**आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि**" उपनिषदो में याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी से बतलाया था कि पति, देवता, पशु क्षत्र, पुत्र ब्रह्म, भूत, लोक, वित्त, वेद यहाँ तक कि सब कुछ आत्मा के (अपने) कारण प्रिय होते हैं उनके कारण वे प्रिय नही होते। (छा० ४।५।५-६, वृ० २।४।५–६) मोक्ष प्राप्ति के लिये मनुष्य गृहस्थाश्रम को छोडकर वन में जाकर साधन करता है। सभी प्रकार की साधनायें व्यक्तिगत उन्नति के उपाय हैं। तो क्या यह मत कि भारतीय नीति शास्त्र वैयक्तिक है, सामाजिक नही है, ठीक है? ऐसी बात नही है। गहरे विचार करने से ज्ञात हो जायेगा कि भारतीय नीति शास्त्र में समाज-कल्याण, परोपकार, परहित, और सबके हित की भावना इतनी ओत-प्रोत है कि उसके चरितार्थ किये विना मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति, चाहे वह सांसारिक हो चाहे आध्यात्मिक, संभव नही है। वैदिक प्रार्थनाओ में लोक और समाज के कल्याण की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। सबके लिये सुख, अभय और शान्ति की और राष्ट्र के सभी अंगो को पुष्ट कराने की प्रार्थनाएँ वार-वार की

गई है। उपनिषदों में सब प्राणियों को अपने आत्मा में और सब प्राणियों में अपने आत्मा को देखने और सबके साथ समभाव से रहने का उपदेश दिया गया। त्याग के साथ भोग करने और दान दया और दम का बहुत महत्त्व बतलाया गया है। महाभारत में इस सुनहरे नियम को धर्म का सार बताया गया है कि अपने प्रति जो कराना नहीं पसन्द करते उसको दूसरों के प्रति न करो और जो अपने लिये चाहते हो वह दूसरों के लिए भी करो। भगवद् गीता में ब्रह्मज्ञानी को "सर्वभूत हिते रत" सब प्राणियों के हित में लगा हुआ कहा गया है। वर्णाश्रम व्यवस्था बनाई थी इस प्रकार के जीवन और समाज की योजना थी कि जिसमें सब लोगों को धर्म अर्थ काम और मोक्ष के साधन का अवसर मिल सके लोगों में परस्पर संघर्ष न हो और समाज में सबको उचित काम और स्थान मिल सकें। सुराज्य व्यवस्था न्याय व्यवस्था दण्ड व्यवस्था इसलिये ही थी कि सब लोग सुखी और सम्पन्न हों। गृहस्थ आश्रम के धर्मों में पंच महायज्ञ—अतिथि सत्कार, माता-पिता की सेवा गुरु के आदर और दान आदि को इसलिये ही अधिक महत्त्व दिया गया है कि समाज की सेवा आपसे आप ही हो जाये। यह वचन बहुत प्रसिद्ध है कि व्यास ने १८ पुराणों में यही शिक्षा दी है कि परोपकार ही एक मात्र पुण्य है और पर पीड़ा ही एकमात्र पाप है। सत्य अहिंसा अक्रोध अस्तेय, क्षमा अपरिग्रह और दान आदि सब सामाजिक धर्म ही तो हैं। जिस समाज के व्यक्ति सभी प्राणियों की भलाई की सोचते हों जिसमें अतिथि-सत्कार का अत्यधिक महत्त्व हो और जिसमें देव ऋण ऋषि ऋण और पितृ ऋण को चुकाने को धर्म समझा जाता हो जिसमें 'स्वधर्म' पालन करने से ही सिद्धि प्राप्ति होती हो उस समाज की उन्नति क्यों न होगी। रन्तिदेव की प्रार्थना है कि वह न स्वर्ग जाना चाहता है और न मोक्ष प्राप्त करना चाहता है केवल दुखियों के दुःख को दूर करना चाहता है। सभी भारतीयों का सदा से आदर्श रहा है और बौद्धों ने तो बोधिसत्त्व रहकर और स्वयं निर्वाण में प्रवेश न करके दूसरों का निर्वाण का प्राप्त करने में सहायता देना ही अपना धर्म समझा था। मध्यकालीन सन्तों ने परोपकार और दान आदि को बहुत महत्त्व दिया है। श्रीमद्भागवत में सर्व मनुष्यों के साथ प्रेम को भगवत्प्रेम और भगवद्भक्ति का आवश्यक अंग माना है। तुलसीदास ने सबों के समाज में परोपकार और पारस्परिक सम्बन्धों को आदर्श सम्बन्ध रखने की बार-बार शिक्षा दी है। इसलिये यह बात सत्य नहीं है कि भारतीय नीति केवल वैयक्तिक साधना है जिससे समाज का कुछ भी लाभ नहीं होता।

११—भारतीय नीति के अनुसार दुष्टों के प्रति व्यवहार

नीति शास्त्र का एक बहुत महत्त्वपूर्ण और कठिन प्रश्न यह है कि दुष्टों के साथ किस प्रकार का व्यवहार होना चाहिये। यहाँ पर हम राजनीति और दण्डनीति का प्रश्न नहीं उठा रहे हैं, क्योंकि राजनीति और दण्डनीति में राजा और शासन का प्रश्न था यह

कर्त्तव्य ही है कि वह समाज को सुव्यवस्थित और सभी व्यक्तियों को सुरक्षित करने के लिये अपराध करने वालो को न्यायानुसार उचित दण्ड दे। पर यहाँ पर प्रश्न है व्यक्तिगत आचार और व्यवहार का। जो व्यक्ति मेरे प्रति दुष्टता करता, मेरा बुरा करता है, मेरे साथ शत्रुता का व्यवहार करता, मुझे मारने को आता है उसके प्रति मेरा क्या व्यवहार होना चाहिये? क्या मुझे उसकी दुष्टता का उत्तर उसके प्रति उसी प्रकार दुष्ट व्यवहार करके देना चाहिये अथवा मुझे दुष्ट की अपने प्रति की गई दुष्ट का ध्यान न रखकर उसके साथ प्रेम और सद्व्यवहार करना चाहिये। मैं स्वय उसके प्रति वैसा ही आचरण करता हूँ तो यद्यपि मेरा आचरण है तो केवल प्रतिक्रिया मात्र और शायद सुप्रेरित, तो भी है दुष्टता का व्यवहार, जिसके करने से कुछ मात्रा में मैं भी दुष्ट हो जाऊँगा। भारतीय ही नही ससार भर के नीतिज्ञ इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर नही दे सके। और यह समस्या आज भी वैसी की वैसी कठिन बनी हुई है जैसी कि कभी पहिले थी। यह समस्या व्यक्तियो के परस्पर व्यवहार की ही नही जातियो, समाजो और राष्ट्रो की जीती-जागती समस्या है।

इस प्रश्न के तीन उत्तर हो सकते हैं। एक तो यह कि दुष्ट के प्रति दुष्टता का व्यवहार करना चाहिये, दूसरा यह कि उससे बचकर रहना चाहिये और तीसरा यह कि उसके साथ सज्जनता का व्यवहार करना चाहिये। भारतीय नीति शास्त्रो में इन तीनो का ही उपदेश भिन्न-भिन्न स्थानो पर मिलता है। पर पूर्णतया विचार कर यह निर्णय नही किया गया कि कौन सा मार्ग क्यो उचित है। यहाँ पर हम उदाहरण के लिये कुछ उक्तियाँ देते हैं—

चाणक्य नीति मे कहा गया है—"दुष्ट तथा काँटा—इन दोनों के लिये दो ही प्रकार के उपाय हैं। एक तो जूते से मुख तोड देना और दूसरा दूर से ही परित्याग कर देना।" (१५–३) और भी "उपकार करने वाले के साथ प्रति उपकार, हिंसा करने वाले के साथ प्रतिहिंसा करनी चाहिये और दुष्टो के साथ दुष्टता करनी चाहिये। मैं इसमें कोई दोष नही देखता।" (१०–२) पचतत्र में कहा गया है 'अपने हित की इच्छा करने वाले पुरुष को चाहिये कि बढते हुए शत्रु की उपेक्षा न करे।' (१–२५८) उपेक्षा करने से क्षीण बलवान शत्रु भी प्रमाद के कारण बलवान् हो जाता है और आगे चलकर व्याधि (रोग) की नाई असाध्य हो जाता है। (१–२५८) अपनी शक्ति को न प्रकट करने वाला समर्थ पुरुष भी तिरस्कृत हो जाता है। (१–३२) बिना उपद्रव किये बलवान की भी पूजा नही होती। मक्खन की भाँति कोमल वाणी और निर्दय चित्त करके शत्रु के सर्वनाश का यत्न करना चाहिये।" (१–४४०) विदुर नीति में भी कहा गया है—"जो मनुष्य जैसा बर्ताव करता है उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये। कपटी के साथ कपट का बर्ताव करना

चाहिये और सज्जन के साथ सज्जनता का यही धर्म है। (५१७) शुक्रनीति में कहा गया है—"कभी मनुष्य के साथ अवश्य ही छल करना चाहिये। (४।१ १) हिंसा करने वाले की उपेक्षा न करे। शक्ति हो तो उसी क्षण उसका नाश करे। (१।२२९) जब तक शत्रु अपने से बलवान् हो तब तक उसे अपने कन्धे पर ले चले पर जब उसका बल नष्ट हो जाये तो उसको घड़े की तरह पत्थर पर पटक कर उसका नाश कर दे।" (१–२२१) सभी नीति शास्त्रों स्मृति पुराण आदि—में आततायी को मारना धर्म माना गया है—आततायी को मारने में कोई पाप नहीं है। उसको न मारना ही पाप है। समर्थ पुरुष आततायी को मार कर अपनी रक्षा करे। आततायी की हत्या करने वाले को कोई दोष नहीं लगता। जो आततायी शस्त्र उठाकर आता हो यदि वह बालक भी हो तो भी उसकी हत्या कर देनी चाहिये। उसके मारने में भ्रूण हत्या का पाप नहीं लगता। न मारने में लगता है। (४।११४९–५१) वाशिष्ठस्मृति में लिखा है—"अपनी रक्षा की इच्छा करने वाले पुरुष को आततायी की हत्या करने में कोई पाप नहीं लगता। छः प्रकार के आततायी कहे गये हैं—आग लगाने वाला विष देने वाला मारने के लिये हाथ में शस्त्र लिये हुए, धन का अपहरण करने वाला क्षेत्र (जमीन) का अपहरण करने वाला स्त्री का हरण करने वाला।" (वाशिष्ठस्मृति ३) महाभारत में भी यही बात इस प्रकार कही गई है—"जो आततायी है और जो मारने की इच्छा से चला आ रहा है उसको आते ही आते बिना विचारे मार डालना चाहिये चाहे वह गुरु हो, बालक हो बूढ़ा हो बहुत विद्वान् हो वेदान्त में पारंगत हो। ऐसा करने से कोई दोष नहीं लगता और ऐसा न करने से जीव हत्या का पाप लगता है।" श्रीराम कृष्ण परमहंस ने बताया है कि यदि दुष्टों की क्रूरता को शान्तिपूर्वक सहन करता रहे तो मनुष्य को उस सांप की भांति कष्ट सहन करना पड़ता है जिसने किसी मित्र से अहिंसा का पाठ पढ़कर काटना छोड़ दिया था। उसको अपनी रक्षा के लिये चाहिये था कि यदि कष्ट देने वालों को काटे भी नहीं तो उनकी ओर फुंकार कर उनको डरा तो अवश्य दे।

शठ के प्रति शठता करने के बजाय दूसरा मार्ग उनसे बचकर रहने का नीतिज्ञों ने बतलाया है। नीति मंजरी में लिखा है "शठ, अतिक्रूर और लालची लोगों से (मैत्रि मित्रता) का व्यवहार नहीं रखना चाहिए। (१५६) शुक्र नीति में कहा गया है "जिस ग्राम स्थान में अधर्म होते हों नीतिहीन खली लोगों और कष्ट देने वाले लोग रहते हों उसको परित्याग कर दूसरे स्थान में निवास करना चाहिये। (३।३ ६) भर्तृहरि के नीतिशतक में कहा गया है "दुर्जन यदि विद्या आदि गुणों से अलंकृत भी हो तो भी उसके साथ सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये (५३) "दुष्टों के संसर्ग से सदाचार नष्ट हो जाता है। "सज्जनों के बिना कारण ही दुर्जन वैरी होते हैं। (६१) अतएव उनसे दूर ही रहना अच्छा है। तुलसी-

दास जी ने भी कहा है "नरक में वास करना अच्छा है किन्तु दुष्टो का सग भगवान् न दे। दुष्ट लोग जिनके द्वारा उन्नति करते हैं पहिले उनको ही वर्वाद करते हैं। कवि और पण्डित यह उपदेश देते हैं कि दुष्टो के साथ न प्रीति करे और न लडाई। दुष्ट से उदासीन ही रहना अच्छा है। जैसे कुत्ते से वचकर आदमी चलता है वैसे ही उनसे दूर ही रहना चाहिये।" (रामचरितमानस)

इन दो तरीको के अतिरिक्त एक और तीसरा तरीका भारतीय नीति ज्ञान और भारत के महापुरुषो, सन्तो और महात्माओ ने वतलाया है। वह है क्रोध, क्षमा, और भलाई, निर्वैर और प्रेम का। दुष्टो के साथ दुष्टता करने से भले भी दुष्ट वन जाते हैं और उनको छोडकर उनसे वचकर भाग जाने से आत्मरक्षा भले ही हो जाये पर उनका सुधार नही होता और न ससार में दुष्टता की कमी ही होती है। सन्त महात्माओ का विश्वास ईश्वर के न्याय में और अपने-अपने शुभकर्मो के शुभ परिणाम में अटल होता है, इसलिये वे बुराई का वदला वुराई से न चुकाकर भलाई से, प्रेम से और उपकार से चुकाते हैं। क्योकि वे जानते हैं कि अन्ततोगत्वा दुष्ट लोग अपने ही कर्मो के द्वारा नष्ट हो जाते हैं और भलाई, मित्रता, प्रेम और क्षमा का फल उनको अच्छा ही मिलता है। वुद्ध, ईसामसीह, और गाँधी जी ने तो यही वतलाया है कि प्रेम, उपकार, सेवा, क्षमा, अक्रोध और निर्वैर से ही दुष्ट को भला वनाया जा सकता है और अपने स्वय उन्नति होती है। मीठी वाणी और किसी का वुरा न चाहते हुए सवके साथ भलाई करने से ही मानव का कल्याण होता है। धम्मपद में भगवान् वुद्ध ने कहा है—"उसने मुझे डाटा फटकारा था, उसने मुझे उस समय मारा था, उसने मुझे जीत लिया था और उसने मुझे लूट लिया था, इस प्रकार की भावनाएँ जो लोग मन में वनाये रखते हैं उनका वैर भाव कभी भी शान्त नही होता। (१) वैर से कभी वैर शान्त नही होता। अवैर से ही दूसरे के मन का वैर भाव शान्त हो जाया करता है। यही सनातन धर्म है। (५) क्रोध को अक्रोध से जीतना चाहिये और असाधु व्यक्ति को अपनी साधुता से जीतना चाहिये, कजूस को दान से तथा असत्यवादी को सत्य से जीतना चाहिये।" (२२३) सज्जनो के गुणो को वर्णन करते हुए पचतत्र में इस प्रकार लिखा है "उपकार करने वालो के प्रति जो उपकार करता है उसमें साधुता का क्या गुण है? साधु (सज्जन) तो वे ही हैं जो अपकार करने पर भी उपकार ही करते हैं।" (सुभाषित-रत्न-भाण्डागार) महाभारत में भी कहा गया है कि सबसे ऊँचा धर्म दूसरो के साथ अद्रोह (अवैर), अनुग्रह और उपकार करना और सबके साथ मित्रता का वर्ताव करना है।" मनु ने कहा है कि "अपमानित व्यक्ति सुख से सोता है पर अपमान करने वाला व्यक्ति का विनाश हो जाता है।" गाँधी जी ने यह वतलाया है कि हम अपनी सज्जनता के द्वारा दूसरो का हृदय वदल सकते हैं।

अव प्रश्न यह है कि व्यक्तियों और राष्ट्रो को इन तीन मतो में से किसका

अनुसरण करना चाहिये। हम समझते हैं कि साधारण व्यक्तियों और राष्ट्रों को दोनों मार्गों का समन्वय करके चलना चाहिये। आपस्तम्ब स्मृति में ठीक कहा है कि "क्षमाशीलता का बड़ा गुण है। क्षमा में एक ही दोष है और कोई दूसरा नहीं कि लोग क्षमावान् पुरुष को असमर्थ (अशक्त) समझते हैं। (आपस्तम्ब स्मृति १ ।१ ।५) क्षमा का जो कुछ गुण मिलना वह तो पीछे मिलेगा या परलोक में मिलेगा पर इस समय तो दुर्जन लोग उसकी अशक्तता से लाभ उठाकर उसको क्लेश देते ही रहते हैं। इसलिये श्रीराम कृष्ण परमहंस का यह उपदेश कि यदि काटे नहीं तो फुफकार तो दे ही उचित ही जान पड़ता है।" दुष्टों से बचकर कोई कहाँ जा सकता है। जहाँ भी मनुष्य जाता है वहीं उसे लोगों से पाला पड़ता है जो नैतिक या धार्मिक नियमों का उल्लंघन और नाना प्रकार के पापाचरण करते हुए केवल छल कपट, बल और चालाकी से दूसरों के, विशेषतः क्षमा और शीलवान् और धर्मभीरु सज्जनों के धन भूमि स्त्री और धाम के पीछे पड़े रहते हैं। चोर, डाकू हत्यारे, लुटेरे, बदमाश और धोखा देने वाले चारों ओर हैं, और उनसे कोई व्यक्ति कहाँ तक अपनी सज्जनता मात्र से बच सकता है। सज्जन लोग सरल सीधे और मितभाषी होते हैं। अपनी रक्षा की न उनको चिन्ता होती है और न उसका वे कोई प्रबन्ध ही करते हैं। भगवान् के भरोसे ही रहते हैं और दुर्जनों द्वारा अनेक कष्ट पाते रहते हैं। तब क्या करना उचित है?

इसका उत्तर भारत के इतिहास और पुराणों में मिलता है और विशेषतः कृष्ण के जीवन और शिक्षा में। कृष्ण का जो महाभारत में लिखा हुआ चरित्र और भगवद् गीता में अर्जुन को दिया हुआ उपदेश है वही भारतीय नीति शास्त्र का इस प्रश्न का सुस्पष्ट उत्तर है। श्रीकृष्ण ने अपने पूरे जीवन तक सत्य न्याय और औचित्य का पक्ष लिया और जहाँ तक हो सका दुष्टों को समझा बुझा कर, उनको ठीक रास्ते पर लाने का प्रयत्न किया और अपनी और दूसरों की उनसे बचाकर रक्षा की। पर जब शान्तिपूर्ण उपायों से काम न चला तो उनको लड़ाई में परास्त किया या करवाया और संसार में शान्ति स्थापित कराई। अपने लिये राज्य स्थापित करने के लिये या अपनी प्रभुता फैलाने के लिये वे कभी नहीं लड़े। लड़े या अर्जुन को लड़ने के लिये प्रोत्साहित किया तो केवल "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" अर्थात् सज्जनों की रक्षा करने के लिये और दुष्ट कर्म करने वालों का विनाश करने के लिये। जिस देश में भले लोग अपनी रक्षा न कर सकें और राज्य भी भले लोगों की चोर, डाकू, हत्यारे और धोखेबाजों और बलात्कार करने वाले अपराधियों से रक्षा न कर सके उस देश में सुख शान्ति और अभ्युदय कैसे हो सकते हैं? इसलिये उच्च से उच्चकोटि का सदाचारी और धार्मिक होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति को इतना शक्तिशाली होना चाहिए कि वह अपनी रक्षा अपने आप कर सके क्योंकि हर समय

और हर जगह राज्य कर्मचारी तो उसकी रक्षा करने नहीं आयेंगे। राज्य कर्मचारी तो जब चोरी, हत्या, डाका या धोखा हो जाता है तभी आते हैं। जो होना था वह हो चुकता है। राज्य द्वारा तो अधिकांश अपराधियों के किये हुए अपराधों का दण्ड भी नहीं मिलता। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को और व्यक्ति समूह को, अपनी रक्षा करने के लिये समर्थ होना चाहिये। अपनी ही नहीं, अपनी स्त्री, बच्चों और बन्धुओं की रक्षा भी करनी चाहिये और दुर्बल सज्जनों की भी। गौतम स्मृति में लिखा है कि "**प्राण संशये ब्राह्मणोऽपि शस्त्रमाददीत**" अर्थात् प्राणों की रक्षा करने के लिये ब्राह्मण को भी शस्त्र का प्रयोग करना चाहिये। दुष्टों से अपनी और दूसरों की रक्षा करना और उनको दमन करना दुष्टता नहीं समझनी चाहिये। उसका नाम वीरता है। सज्जनता और वीरता में कोई विरोध नहीं है। वीर ही क्षमावान् हो सकता है। वीर द्वारा ही अपनी और दूसरों की रक्षा हो सकती है, कायरता द्वारा नहीं। जब से भारत में वीरता का आदर होना कम हुआ है और झूठी अहिंसा, दया, विरक्ति और उदासीनता का अधिक प्रचार हुआ है तभी से भारत के लोग बलहीन हो गये और बाहर के लोगों ने भारत पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये और सैकड़ों वर्ष तक यहाँ पर विदेशियों का राज्य रहा। इस युग में महात्मा गांधी ने पुन लोगों को वीरता का पाठ पढ़ाया और विदेशी हुकूमत का मुकाबला करके उसको भारत से भगा दिया। हाँ, महात्मा गांधी ने एक और नई देन नीति को दी वह यह है कि उन्होंने दुष्टता और दुष्ट व्यक्ति में भेद करना सिखलाया और यह सिखाया कि दुष्टता का विरोध करना चाहिये न कि दुष्ट व्यक्ति का। व्यक्ति के भीतर से यदि दुष्टता निकल जाये तो वही व्यक्ति और व्यक्तियों जैसा ही हो जाता है। इसलिये जिस प्रकार भी हो भारतीय नीति के अनुसार दुष्टता, अधर्म, अत्याचार, अन्याय और अपराधों को दूर करना प्रत्येक सज्जन का कर्तव्य है। साम, दाम, दण्ड, भेद, इनमें से किसी का या सबका दुष्टता पर विजय पाने में प्रयोग किया जा सकता है। यह इस विषय में भारतीय नीति का निचोड़ है।

युद्ध जहाँ तक हो नहीं करना चाहिये इसीलिये हितोपदेश में कहा गया है— "साम, दाम और भेद का एक साथ या पृथक-पृथक प्रयोग में लाकर शत्रुओं को वश में करने का प्रयत्न करना चाहिये। युद्ध करने का यत्न नहीं करना चाहिये।" पचतन्त्र में कहा गया है "ब्रह्मा ने साम से लेकर दण्ड पर्यन्त (साम, दाम, दण्ड, भेद) नीतियाँ बनाई हैं। उनमें से दण्ड नीति उपाय युक्त है। इसलिये उसका प्रयोग सबसे पीछे करना चाहिये। अर्थात् जब दूसरी नीतियों द्वारा दुष्ट से रक्षा न हो सके। विज्ञ पुरुषों को पहिले साम नीति का प्रयोग करना चाहिये। सामनीति से सिद्ध कार्य कभी विकार को प्राप्त नहीं होते। विद्वेष से फैला हुआ अन्धकार साम नीति से दूर हो जाता है। (१।४०८–४११) सब कुछ कर लेने पर भी यदि न्याययुक्त अधिकारों की रक्षा करने के लिये युद्ध भी करना पड़े तो भगवद्-

गीता के अनुसार उसको करना ही चाहिये। उससे भावना सम्भरता है और दुष्टता को बलवान् बना देता है।

१२—भारतीय नीति और मांसाहार

भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ पर मनुष्यों वर्णों में अधिकांश मनुष्यों ने मांसाहार को बुरा और निषिद्ध समझा और जहाँ पर अधिकतर लोग निरामिष भोजी ही रहे हैं। संसार के और सब देशों में मांस ही लोगों का मुख्य आहार है और अब भारत में भी मांस, मछली और अण्डे खाने का रिवाज दिन पर दिन अधिक होता जा रहा है और खाद्यान्न की कमी के कारण भारत की सरकार भी मुर्गी पालन, मत्स्यवर्धन आदि का बहुत प्रचार कर रही है और इसकी योजनायें बना रही है और इनको प्रोत्साहन दे रही है। वेद स्मृति इतिहास और पुराणों के पढ़ने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में भी मांस खाने का काफी रिवाज था और क्षत्रिय लोग तो प्रायः सभी मांस खाते थे। भवभूति ने उत्तर रामचरित में लिखा है कि जब वसिष्ठ ऋषि वाल्मीकि के आश्रम पर उनसे मिलने गये थे तो एक पूरी बछिया को वे खा गये थे। मृग खाने का तो बराबर रिवाज था ही। बुद्ध के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उनकी मृत्यु सड़े हुए सूअर के मांस के खाने से हुई थी। मनुस्मृति में श्राद्ध में पितरों को प्रसन्न करने के लिये नाना प्रकार के मांसों की बलि देने का विधान है। यदि पूर्वज मांस नहीं खाते होते और घरों में मांस न बनता होता तो मांस की बलि क्यों दी जाती? मनु ने लिखा है "मछलियों के मांस से दो महीने तक पितर तृप्त रहते हैं, हरिण के मांस से तीन महीने तक और मेढ़े के मांस से चार महीने तक, पक्षियों के मांस से पाँच महीने तक, बकरे के मांस से छः महीने तक तृप्त रहते हैं। चित्र मृग के मांस से सात महीने तक, हरिण के मांस से आठ महीने तक, रुरु नाम के मृग के मांस से नौ महीने तक [illegible]। सूअर और भैंसे के मांस से दस महीने तक, खरगोश और कछुए के मांस से ग्यारह महीने तक, वार्ध्रीणस नामक बकरे के मांस से बारह वर्ष तक के लिये पितरों की तृप्ति हो जाती है। (३।२६७—७१) पितरों के लिए ही नहीं ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार अतिथियों के लिये भी मांस एक अच्छी भेंट है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है "सब अन्नों में श्रेष्ठ खाने योग्य जो अन्न है, मांस है। वह (मांस) इन सबसे बढ़िया खाद्य पदार्थ है।" (शत ११।७।१।३) मांस खाने के सम्बन्ध में मनुस्मृति में यह कहा गया है—

ब्राह्मण मन्त्रों से शुद्ध किए हुए और यज्ञ में बचे हुए (अर्थात् देवताओं को होम कर देने के बाद बचे हुए) मांस को ब्राह्मण भक्षण करे। अपनी इच्छा से भी मांस खाना हो तो विधिपूर्वक खावे। दूसरा आहार न मिलने पर प्राणों के नाश का भय हो तो भी खावे। किसी रोग के कारण खाना हो तो खावे। मांस को भी प्रजापति ने प्राणों की रक्षा करने के लिए एक अन्न बनाया है। स्थावर जंगम जितने प्राणी हैं वे सब प्राणी के भोजन हैं।

चलने वालो का खाद्य अचर, दांत वालो का खाद्य बिना दांत वाले, हाथ वालो का खाद्य बिना हाथ वाले, वीरो का खाद्य कायर है। प्रतिदिन भी खाद्य को खाने मे पाप नही लगता क्योंकि ब्रह्मा ने ही खाने वालो को और खाद्यो को बनाया है। यज्ञ के लिये बनाये हुए मास का कोई अग खाना दैव विधि है, बिना यज्ञ के लिये बनाया हुआ माम खाना राक्षस विधि है। अपने आप उत्पन्न करके, या मोल लेकर, या किसी के द्वारा लाकर दिये हुए, मास को देवता तथा पितरो को अर्पण करके शेष मास जो खाता है वह पाप नही करता। धन के लिये मृगो को मारकर जीविका करने वालो को वैसा पाप नही होता जैसा देवता तथा पितरो को बिना अपर्ण किए हुए मास के खाने वालो को होता है। (मनुस्मृति ५।२७-३४) श्राद्ध आदि मे नियुक्त पुरुष यदि मास नही खाता तो वह मर कर २१ जन्मों तक पशु होता है। (३५) ब्रह्म वैवर्त पुराण में भी जो कि वैष्णव पुराण है "तुरन्त का ताजा मास नया अन्न, बाला स्त्री, क्षीर भोजन और घृत का जो उपभोग करते हैं उनके पास बुढ़ापा नही जाता। (१।१६।४२) सूखा मास खाने वालो को बुढापा प्रसन्न होकर आता है। (१।१६।४६) इस प्रकार के अनेक कथन उद्धृत किये जा सकते हैं।

इसके विरोध में भारतीय नीति शास्त्र में हिंसा के और दूसरे प्राणियो को मारकर खाने के विरुद्ध अनेक नीति शास्त्रो के वाक्य मिलते है। मनुस्मृति मे ही लिखा है "जो अपने आनन्द के लिये हिंसा न करने वाले जीवो का नाश करता है वह इस लोक तथा परलोक में कभी भी सुख नही पाता। (मनुस्मृति ५।४५) हितोपदेश मे कहा गया है "जो प्राणी किसी समय किसी प्राणी का मास खाता है तो उसे विचार करना चाहिये कि उन दोनो में कितना अन्तर है। एक को तो केवल क्षणभर का स्वाद मिलता है और दूसरे का सदा के लिये प्राण चला जाता है।" (१।६६) और भी कहा है ("इस ससार में जितना श्रेष्ठ अभयदान (दूसरे प्राणियो को हमसे कोई भय न रहे) है वैसा न भूमिदान है, न सुवर्ण दान न गोदान, और न अन्नदान" (४।५६) "भूत दया ही धर्म है' (१-१४६) पचतन्त्र में लिखा है—"जो निर्दयी हिंसक प्राणियो को भी मारता है वह भी नरक में जाता ही है। भला जो अहिंसक जीवो को मारता है उनका तो कहना ही क्या है? (३।१०६) वृक्षो को काट कर और पशुओ को मारकर उनके लहू का कीच करके यदि स्वर्ग मिल जाये तो नरक और किन कामो से मिलेगा? (३।१०) मनुस्मृति में भी लिखा है "जो अपने सुख की इच्छा से हिंसा न करने वाले जीव को मारता है वह न इस लोक में और न परलोक में सुख पाता है। जो प्राणियो को बांधने और मारने के क्लेश को नही देना चाहता और सबका हित चाहता है वह अनन्त सुख को पाता है। (मनुस्मृति ५।८६) जो व्यक्ति किसी भी प्राणी को नही मारता वह जिसका ध्यान करता है, और जिसको दृढता से चाहता है उस वस्तु को अवश्य ही प्राप्त करता है (अर्थात् किसी की हिंसा न करने से मनुष्य आप्त

काम हो जाता है) (५।४७) बिना प्राणियों की हिंसा किये मांस और कहीं से उत्पन्न नहीं होता। प्राणियों का वध स्वर्ग को ले जाने वाला नहीं है। इसलिये मांस खाना पूर्णतया छोड़ देना चाहिये। (५।४८) जो व्यक्ति वेद विधान के अतिरिक्त पिशाच के समान (केवल अपनी तृप्ति के लिये ही) मांस नहीं खाता है वह लोकप्रिय होता है और कभी रोगों से नहीं पीड़ित होता। (५।५) सौ वर्ष तक प्रतिवर्ष अश्वमेध करने का जितना फल होता है उतना ही मांस न खाने का होता है। पंडित लोगों ने मांस का अर्थ यही बताया है कि जिसका मैं इस लोक में खाता हूँ वह मुझे परलोक में खायेगा। (५।५५) अपने शरीर के मांस को जो दूसरे के शरीर के मांस से बढ़ाता है इससे अधिक पापी कोई नहीं (५।५२) जो व्यक्ति यह समझते हैं कि यदि वे हिंसा नहीं करते हैं और मांस को दूसरों से मोल लेकर ही खाते हैं उनको शायद पाप न लगता हो ठीक नहीं समझते मांस खाने वाले न हों तो क्यों कोई किसी की हत्या करेगा। इसलिये मनु ने कहा है—"आज्ञा देने वाला हत्या करने वाला काटने वाला बेचने वाला खरीदने वाला पकाने वाला लेकर चलने वाला (परोसने वाला) ये सब घातक कहे जाते हैं। इन सबको हिंसा के पाप का भागी बनना पड़ता है। (५।५१)

इस प्रकार प्राणियों के वध की और मांस खाने की निन्दा प्रायः सभी नीति शास्त्रों में मिलती है। तब कौन सा मत मान्य है? इस प्रश्न पर बहुत विचार करने पर मनु का यही मत समीचीन जान पड़ता है —"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महा फला"—अर्थात मांस भक्षण मद्यपान और मैथुन (यदि वे किसी धार्मिक कृत्य यज्ञ आदि की भांति और सन्तोत्पत्ति के लिए हों) में कोई दोष नहीं है। इन मनुष्यों की प्रवृत्ति उनकी ओर होती ही है। पर यदि उनको त्याग दिया जाये तो महान् पुण्य होता है। (मनुस्मृति ५।५६) मनु के मत से मांसाहार के त्यागने से बहुत पुण्य और स्वास्थ्य का लाभ होता है।

अध्याय २६

नीति के ऊपर विज्ञान का प्रभाव तथा भारतीय नीति मे उथल व पुथल

यह युग वैज्ञानिक है। इसमे विज्ञान ने ससार और जीवन के प्राय सभी अगो और क्षेत्रो में अनुभव, विचार, तथा प्रयोग द्वारा निश्चित ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया है और उस विज्ञान के आधार पर ही अनेक ऐसी वस्तुओ का निर्माण किया गया है, जिनके उपयोग से मानव जीवन अधिक सुखी और सपन्न हो चुका है। विज्ञान की खोजो और आविष्कारो के द्वारा आज हम अधिक खाद्य वस्तुएँ उत्पन्न कर सकते हैं। शरीर को अधिक स्वस्थ तथा दीर्घायु बना सकते हैं, रोगो के ऊपर विजय प्राप्त कर सकते हैं, बुढापे तथा मृत्यु को चुनौती दे सकते हैं। कुछ ही समय के अन्दर अत्यन्त वेगशाली वायुयानो के द्वारा हम कही से कही जा सकते हैं। रेडियो द्वारा तत्क्षण ही कही से कही समाचार पहुँचा सकते हैं। फोटोग्राफ द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म भौतिक वस्तुओ और घटनाओ को अकित कर सकते हैं। रेकार्डर के द्वारा किसी भी शब्द को अकित करके जब चाहे तब पुन सुन सकते हैं। राकेटो द्वारा कही से कही, यहाँ तक कि चन्द्रलोक में भी वस्तुयें फेंक सकते हैं। टेलीफोन द्वारा कही भी बैठे हुए हम तत्क्षण किसी दूसरी जगह बैठे हुए व्यक्ति से बातचीत कर सकते हैं और तार द्वारा हम कही से कही सूचना पहुँचा सकते हैं। बिजली की शक्ति द्वारा बिना ईंधन और धुएँ के आग ले सकते हैं। बिना तेल के केवल बटन के दबाने से प्रकाश का आदान-प्रदान अत्यन्त सुलभ है। वायु के लिये पखा चला सकते हैं। कमरे को गरम तथा ठडा कर सकते हैं। शरीर के किसी भी अग को बदल कर उसके स्थान पर दूसरा अग लगाया जा सकता है। किसी भी पुरुष के वीर्य द्वारा किसी भी स्त्री में बिना सभोग किये ही सन्तानोत्पत्ति कर सकते हैं। स्त्री तथा पुरुष के सभोग होते हुए भी सन्तति निरोध किया जा सकता है। मनोविज्ञानशालाओ में बुद्धि का नाप, मन के गुप्त विचारो का ज्ञान, तथा मनोविकारो का उपचार भी इसी विज्ञान के आधार पर आधारित हैं। इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक क्षेत्र में भी विज्ञान ने अनेक प्रकार की अद्भुत खोजें कर ली हैं। और मनुष्य की अलौकिक तथा अज्ञात शक्तियो—सम्मोहन,दूर दर्शन, परामनोविज्ञान,

भूत-ज्ञान भविष्यत्-ज्ञान प्रेत सम्बन्धी क्रिया विज्ञान एवं परलोक ज्ञान समाधि अनुभव आदि का ज्ञान और नियमन विज्ञान द्वारा अधिक से अधिक होता जा रहा है। विज्ञान की खोजें इतनी बहुमुखी और अनन्त हैं तथा इसके आविष्कार इतने आश्चर्यजनक एवं व्यवहार को चमत्कृत करने वाले हैं कि उनका कथन करना प्राचीन भारतीय पुराणों के ध्यान और धारणा को भी कठिन तथा असम्भव है।

ऐसे वैज्ञानिक युग में यह स्वाभाविक ही है कि मनुष्य के विचार तथा जीवन में कल्पनातीत परिवर्तन हो जायें। आज के विज्ञान इस व्यक्ति को प्राचीनकालीन धार्मिक, दार्शनिक तथा नैतिक विचारों में विश्वास ही नहीं रह गया है। शास्त्रों और उनके उपदेशों पर भी श्रद्धा नहीं रह गयी है और जीवन के आदर्श फीके दिखाई पड़ने लगे हैं। नैतिक नियम अव्यावहारिक तथा अप्राकृतिक जान पड़ने हैं। आज का प्रत्येक मानव एक मात्र वैज्ञानिक पद्धति तथा प्रमाणों में ही आस्था रखता है। विज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान को ज्ञान ही समझता है। धार्मिक ज्ञान को कल्पनामात्र ही समझता है। वैज्ञानिक खोजों के आधार पर आधारित सिद्धान्तों ज्ञान को ही सत्य ज्ञान मानता है और वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रयोग तथा सहायता के आधार पर ही वह अपने शारीरिक और सामाजिक जीवन को सुखी एवं स्वस्थ तथा सुसंगठित बनाना चाहता है जिससे कि वह अपने जीवन काल पर्यन्त स्वास्थ्य लाभान्वित रहे। पुरातनकाल में लोगों के पास समय बहुत अधिक होता था और कार्य बहुत कम होते थे। इसीलिए उनको अपना जीवन एक भारभूत सा प्रतीत होता था और उसको किसी प्रकार यापन करना तथा मृत्यु की प्रतीक्षा करना उनके लिये स्वाभाविक-सा हो गया था। जीवन के सुख और आमोद-प्रमोद अत्यन्त ही सीमित थे। उनके अन्दर नवीनता तथा परिवर्तन बहुत कम होने के एवं बराबर उनका ही उपभोग करने के कारण उनसे विरक्त हो जाना स्वाभाविक था। परन्तु आज के वैज्ञानिक युग में मानव जीवन की क्रियाओं, आमोद-प्रमोद सम्बन्धित विषयों एवं सुख के सम्पादन करने वाले साधनों और नित्य नूतन प्रकार के सुख सम्बन्धी साधनों का इतना विस्तार होता जा रहा है और ऐसा-वैसा उनको प्राप्त करने की तत्सम्बन्धी इच्छाएँ भी इतनी प्रबल होती जा रही हैं, एवं उन इच्छाओं की पूर्ति करने के लिये धन की इच्छा भी इतनी उत्कट होती जा रही है कि आजकल मनुष्य के सामने अन्य धार्मिक पारलौकिक दार्शनिक तथा नैतिक समस्याएँ उठती ही नहीं हैं। आजकल मनुष्य जीवन का लक्ष्य वैज्ञानिक तथा भौतिक विज्ञान का अधिक से अधिक ज्ञान और शक्ति सम्पन्न होना अधिक से अधिक धन का संचय करना एवं ऊँचे से ऊँचे पदों पर आरूढ़ होना वहाँ पर रहकर अधिकाधिक प्रभाव शक्ति तथा धन प्राप्ति ही मुख्य बन गया है। आज का मनुष्य धन चाहता है प्रभाव चाहता है शक्ति चाहता है और उन्हें प्राप्त करने की इच्छा से उच्चतम पद चाहता है।

ये सब जिस किसी भी साधन द्वारा प्राप्त हो सके उस साधन की प्राप्ति के लिये अपने प्रयत्न तथा पुरुषार्थ का उपयोग करता है। और ये वस्तुये झूठ बोलकर, धोखा देकर, बेईमानी करके, किसी की हत्या करके, सगठन करके, किसी के हृदय में आघात पहुँचा करके, एव किसी के साथ अन्याय करके भी यदि प्राप्त हो सकती हो तो कोई परवाह नही है और यदि ऐसा करने में किसी प्रकार की हानि होती भी है तो होने दो, क्योकि पद प्राप्त करने पर, शक्तिशाली बनने पर, धनवान् हो जाने पर, एव अधिक सुख, अधिक भोगादि सुख सामग्री, अधिक आदर, अधिक प्रभाव, समाज में अधिक सम्मान, ससार में अधिकाधिक भ्रमण, तथा सन्तान और दूसरे सम्बन्धियो को अधिक से अधिक उन्नति करने का अवसर और अधिकाधिक स्त्रियो तथा वैदेशिको के साथ ससर्ग इन्ही पूर्वोक्त कारणो से होता है। आज साधन की पवित्रता और औचित्य के ऊपर ध्यान न देकर साध्य की प्राप्ति ही लक्ष्य हो गयी है। आत्म प्रशसा, अपने कल्पित एव दिखावटी गुणो का प्रचार, झूठे वायदे, गुट्टबाजी, झूठ, धोखा, पक्षपात, साम, दाम, दण्ड, भेद का सर्वत्र प्रयोग, सघर्ष प्रियता, ये सब आजकल लक्ष्य प्राप्ति के आवश्यक तथा अग्रहणीय साधन समझे जाते हैं। पुराने समय में मास भक्षण प्राय निन्द्य समझा जाता था, और मानसिक शान्ति तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये बाधक भी समझा जाता था। इस वैज्ञानिक युग में लोगो को यह धारणा हो गयी है कि मास, मछली और अण्डा मनुष्य के उपयुक्त एव उचित आहार हैं। भारत में भी दिन प्रति-दिन मास भक्षण की वृद्धि ही होती जा रही है। और आजकल जनवृद्धि होने के कारण, तथा वाणस्पतिक खाद्य की कमी होने के नाते मास, मत्स्य और अडे खाने का प्रचार भी किया जा रहा है। मास को स्वादिष्ट भोजन समझकर कुछ लोग नरमास को खाना भी निन्द्य नहीं समझते। वास्तव में कोई भी प्राणी ऐसा नही है कि जिसका मास कही न कही, कोई न कोई न खाता हो। मास खाने की अधिक से अधिक प्रवृत्ति होने के कारण किसी साधन को अपना लक्ष्य सिद्धि करने के लिये गर्हित नही समझा जाता। आज किसी भी प्राणी का प्राण ले लेना तथा नृशसतापूर्ण ढग से हत्या कर देना बुरा नही माना जाता है। यहाँ तक कि महात्मा गाँधी जैसे मनुष्य की भी हत्या करना कुछ लोगो में कोई पाप न समझा गया जिनका कि समस्त जीवन भाई-चारे के प्रचार मे बीता, और जो सदा अधिक मे अधिक अहिंसक रहे वे ही हिंसा के शिकार बने। जीवन के सम्बन्ध मे हैयह धारणा बन गई है कि मनुष्य भी एक दृष्टि से पशु ही है। उसका विकास पशु जीवन से ही हुआ है। और प्रकृति में चारो ओर वाणस्पतिक, पाशविक, एव मानवीय जीवन में सघर्ष के कारण ही उन्नति होती है। और सघर्ष के अन्दर जिसका जीवन जितना बलवान् होता है, तथा अधिक सुस-गठित होता है वही सफल एव जीवित रहता है। आजकल के वैज्ञानिक इतिहास ने भी यही पाठ पढ़ाया है कि युद्ध में विजय उसी की होती है जिसके पास अधिक और अच्छे

अस्त्रशस्त्र तथा अधिक युद्ध सामग्री होती है, एवं अधिक संगठन होता है। "सत्यमेव जयते नानृतम्" यह बात आजकल ठीक नहीं जान पड़ती। आजकल तो बुद्धि, बल, संगठन और छल की ही विजय होती है।

वैज्ञानिक युग में वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था आश्रम व्यवस्था तथा प्राचीन कालीन सामाजिक एवं जीवन व्यवस्थाओं का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। सब मनुष्यों के सामान्य अधिकार ही एक से नहीं समझे जाते हैं, किन्तु विशेष अधिकार भी कौन व्यक्ति किस काम को करने की क्षमता रखता है यह निर्णय न उसकी जाति कर सकती है और न उसका वर्ण और न उसका शील ही। मनोवैज्ञानिक ही अपनी विशेष परीक्षाओं द्वारा यह बतला सकते हैं कि किसी बालक की मानसिक वृत्ति किस ओर है यह प्रवृत्ति पूर्व जन्म के कतिपय कर्मों अथवा तज्जन्य संस्कारों का फल नहीं है, बल्कि उसके गर्भाधान से लेकर आज तक के वातावरण प्रतिक्रियाओं और शिक्षा का फल है। यदि उनको बदल दिया जावे तो बालक की रुचियाँ तथा प्रवृत्तियाँ भी बदली जा सकती हैं। व्यावहारिक मनोवैज्ञानिक (Behavioristic Phychologist) वाटसन की तो यह चुनौती है कि यदि उसके हाथ में जीवन के प्रारम्भ ही किसी बालक को सौंप दिया जाय तो वह उसको जो कुछ भी चाहे बना सकता है। यद्यपि आजकल काम नोविज्ञान यह भी मानता है कि प्रत्येक बालक की बुद्धि की मात्रा जन्मजात है, साथ में वह यह भी कहता है कि बुद्धि की मात्रा का कम और अधिक होना किसी वर्ण जाति, अथवा वंश की सम्पत्ति नहीं है। प्रायः देखने में भी आता है और इतिहास इस बात का साक्षी भी है कि विद्वानों तथा ब्राह्मणों के वंश में मूर्ख और नीच जातियों में प्रतिभासंपन्न बालक भी पैदा हो जाते हैं। संसार के अधिकतर विद्वान् वीर, तथा महात्मा नीचे की जातियों में ही उत्पन्न हुये हैं और उनका बाल्यपन बहुत ही कठिनाइयों में बीता है। इसीलिये आज के युग में वर्ण जाति, कुल तथा वंशक्रम का कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता और इनके आधार पर कोई विशेष निर्णय करना उचित भी नहीं जान पड़ता है। आश्रम-व्यवस्था का भी आजकल कोई विशेष महत्व नहीं समझा जाता। आज का मनुष्य तो जीवन भर और प्रत्येक अवस्था में आवश्यकतानुसार और समय-समय पर ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और सन्यासी होना ही उचित समझता है। विद्याभ्यास कामोपभोग समाज सेवा और आध्यात्मिक साधना, इन चारों के लिये जीवन काल के चार भाग करने की आज के युग में आवश्यकता नहीं समझी जाती है और यह बात अस्वाभाविक तथा अप्राकृतिक भी जान पड़ती है कि मानव जीवन की इन चार प्रवृत्तियों को एक दूसरी से अलग करके पूरा किया जावे। जीवन भर तक चारों प्रवृत्तियों को जागृत रखना और उनके अनुसार व्यवहार करना अधिक उचित समझा जाता है। मनोवैज्ञानिकों की खोज द्वारा यह निर्धारित किया जा

चुका है कि मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त काम वासना से प्रेरित होता रहता है। हाँ उसके विषय और भोग की रीतियाँ वदलती रहती हैं। जीवन की सभी अवस्थाओ में कामोपभोग की मनुष्य को आवश्यकता होती हैं। और किसी न किसी रूप में कामोपभोग न करने से तथा काम प्रवृत्ति को दृढता पूर्वक रोक देने से अनेक प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक व्याधियों की उत्पत्ति हो जाती है। जीवन की मुख्य प्रेरक शक्ति कामवासना है और उसके शान्त होने पर जीवन मन्द पड जाता है, और मृत्यु की आकाक्षा होने लगती है, जिसे मनोविश्लेषण विज्ञान में मृत्यु-प्रवृत्ति अथवा निर्वाण प्रवृत्ति कहा जाता है। अनुभव में भी यही आता है और इतिहास इस वात का साक्षी है कि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और सन्यासी लोग भी उस प्रकार काम से पीडित होते हैं, काम से विह्वल होकर कुकृत्य भी कर वैठते हैं, जैसे कि गृहस्थी भी नही करते। आजकल के युग में १०-११ वर्ष की अवस्था से वालक और वालिका काम क्रीडा करने लगते हैं और विद्यार्थी गृहस्थ लोगो से अधिक कामोपभोग करते हैं। वैज्ञानिको का मत है कि शरीर के अनेक स्रावो के समान वीर्य भी एक श्राव है और साधारणतया वह उत्पन्न और नष्ट होता ही रहता है और उसके स्खलन से कोई विशेष हानि नही होती है। आज का विज्ञान इस प्राचीन मत की पुष्टि नही करता—"**मरण बिन्दु पातेन जीवन बिन्दु धारणात्**" अर्थात् वीर्यपात से मौत और वीर्य रक्षा से जीवन है।

पाश्चात्य देशो में लोग ८० वर्ष की अवस्था के पश्चात् भी विवाह करते हैं और वे दोनो दम्पती नितान्त प्रसन्न तथा स्वस्थ रहते हैं। वहाँ पर कोई वालक तथा वालिका ऐसी नही मिलेगी जिसे यौन सुख का अनुभव न हो इसका बुरा प्रभाव उनके स्वाथ्य और विद्याभ्यास पर कुछ भी नही पडता है ऐसा कहा जाता है। इसीलिये भारत के नैतिक शास्त्रो में जो ब्रह्मचर्य के पालन और विद्याभ्यास के काल में ब्रह्मचारी रहने पर इतना जोर दिया गया है वह आज के वैज्ञानिक युग में व्यर्थ सा जान पडता है और भारत का आजकल का विद्यार्थी वर्ग इस ब्रह्मचर्य नियम से सर्वथा दूर मालूम पडता है। वालक, वालिकाओ, वालको और वालको, वालिकाओ और वालिकाओ तथा विद्यार्थियो और शिक्षको तथा विद्यार्थियो और अन्य वर्ग की स्त्री पुरुषो में आजकल अनेक प्रकार के गुप्त यौन सम्बन्ध एक साधारण सी वात हो गई है। विज्ञान इसमें कोई बुराई नही समझता है।

पाश्चात्य देश के ही नही बल्कि भारत के साधु सन्यासियो के गुप्त यौन का जीवन वैज्ञानिक अन्वेषण करने पर यह निश्चित हो जाता है कि सन्यास और वृद्ध अवस्था में भी मनुष्यो में यौन प्रवृत्तियाँ रहती हैं और उनके अनुसार वे कार्य करते ही हैं।

इसी प्रकार हमारी ज्ञान पिपासा की प्रवृत्ति भी यदि किसी अवस्था विशेष में

जाकर सीमित हो जाती है तो उसे अवैज्ञानिक दृष्टि ही कहा जा सकता है और इसे एकमात्र जाति विशेष वर्ग विशेष अथवा आयु विशेष का ही कर्तव्य समझना यह वैज्ञानिक दृष्टि से एक प्रकार की भूल है। "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" इतना ही नहीं बल्कि "यावज्जीवम् वेदान्तमनुष्ठेयः" ही वैज्ञानिक घोषणा है। यही बात आध्यात्मिक साधना के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। आध्यात्मिक भावना को बूढ़ों तक सीमित रखना सर्वथा अनुचित दृष्टि है। हमको बाल्यकाल से ही आध्यात्मिक बनना चाहिए। हमारा गृहस्थाश्रम सम्बन्धी जीवन यदि आध्यात्मिक न हुआ एवं हमारा व्यावहारिक जीवन और पारस्परिक सम्बन्ध यदि आध्यात्मिकता से सम्बन्धित न हो पाया तो हमें अपना जीवन सर्वथा अधूरा एवं दुःखमय तथा दोष ग्रस्त ही समझना चाहिए। आध्यात्मिकता का अनुभव करने के लिए घर और समाज को भी यदि छोड़ना आवश्यक हो अथवा आध्यात्मिकता के लिए वन जाना या वन में रहना ही आवश्यक हो तो यह आध्यात्मिकता बिल्कुल बेकार की वस्तु है। स्वामी विवेकानन्द स्वामी रामतीर्थ रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गांधी ने आध्यात्मिकता को जंगल से शहरों में साधुओं की कुटियों से गृहस्थ लोगों के प्रासादों में, वृद्ध एवं संन्यासियों के जीवन से बच्चों युवकों और सांसारिक कार्यकर्ताओं के जीवन में विद्यालयों प्रयोगशालाओं तथा कार्यालयों में ला दिया है। यही आजकल की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है जिसके सामने प्राचीन आश्रम सम्बन्धी समस्त व्यवस्थाएँ टिक नहीं सकती।

भारतीय नीति शास्त्रों का एक दूसरा व्यापक सिद्धान्त यह है कि "स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति" अर्थात् स्त्री स्वातन्त्र्य के योग्य नहीं है। बाल्यकाल में उसे पिता के, युवावस्था में अपने पति के और वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रहना चाहिए। वैज्ञानिक युग में यह सिद्धान्त असत्य एवं अनुचित जान पड़ने लगा है और निकट भविष्य में तो यह कभी भी मान्य नहीं हो सकता है। विज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया है कि स्त्री पुरुष में केवल कुछ यौन सम्बन्धी भेदों को छोड़कर नैतिक भावना कार्यक्षमता प्रतिभा एवं उत्तरदायित्व आदि शक्ति और गुण विद्यमान हैं। यदि किसी पुरुष विशेष में शारीरिक बल अधिक हो तो भी स्त्री में साहस तथा तितिक्षा उससे कहीं अधिक है। स्त्री की प्रतिभा पुरुष से अधिक नहीं तो कम भी नहीं है। जहाँ कुल परम्परा माता से चलती है और माता का कुटुम्ब पर शासन तथा नियन्त्रण होता है वहाँ यह देखने में आता है कि स्त्री पुरुष की अपेक्षा अपने उत्तरदायित्व का अच्छी प्रकार निर्वाह कर लेती है। आज के युग में स्त्री को किसी भी विषय में पुरुष से कम समझना तथा उसे कम अधिकार देना अथवा उसका स्वातन्त्र्य सीमित करना अवैज्ञानिक समझा जाने लगा है। विज्ञान ने स्त्रियों के सम्बन्ध में जो एक अति प्राचीन काल से चली आई हुई धार्मिक और नैतिक धारणा थी उसको भी असत्य एवं अप्रमाणित सिद्ध कर दिया है। पुरुष सदा से यही समझता आ रहा है कि स्त्री काम

छल, कपट, और प्रलोभन की एक साकार मूर्त्ति है, उसमें पुरुष से कहीं अधिक काम वासना है, और वही पुरुष को काम मे प्रवृत्त करती है। यदि उसके प्रभाव से मनुष्य दूर रहे तो मनुष्य का जीवन शुद्ध, पवित्र, और काम वासना शून्य हो सकता है। इसी कारण से स्त्री को ससार रूपी मोह जाल मे फँसाने वाली माना गया है, और उससे दूर रहने, उसको त्याग देने, तथा उसके प्रलोभन प्रभाव से बचे रहने का उपदेश दिया गया है। कामिनी और काञ्चन, काम और अर्थ, दोनों ही निन्द्य बतलाये गये हैं।

विज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया है कि पुरुष ने अपनी कमजोरियों और अपने समस्त प्रलोभनों को, जो उसके लिये अपने ही सहज दोष हैं, स्त्री के ऊपर आरोपित करके उसको स्वयं ही उनकी साकार मूर्त्ति समझ लिया है। वास्तव में स्त्री की कामवासनाएं अधिकतर सुप्त रहती हैं। वे जागृत और प्रबल तभी होती हैं जब कि पुरुष स्त्री को उत्तेजित करता है और पुरुष की कामवासनाएँ तो प्राय हमेशा ही जागृत तथा उत्तेजित रहती हैं। यह भी एक नियम देखने मे आता है कि प्राय पुरुष ही स्त्रियों को काम की ओर प्रेरित करते हैं, न कि स्त्री पुरुषों को, यह वैज्ञानिक निर्णय है। हाँ यह भी वैज्ञानिक सत्य है कि स्त्री की कामवासना एक बार उत्तेजित हो जाने पर पुरुष की कामवासना से अधिक देर में शान्त होती है और अधिकतर पुरुष ऐसे होते हैं जो स्त्रियों को शान्त करने में असमर्थ होते हैं। इस कारण से ही स्त्रियों की कामसन्तुष्टि पूर्णरूप से नहीं हो पाती है। स्त्री और पुरुषों के पारस्परिक द्वेष और झगड़ों का मूल कारण भी उनकी विभिन्न प्रकार की कामेच्छाएँ ही होती हैं। वास्तव मे स्त्री पुरुष की प्रलोभक और उत्तेजक नहीं है बल्कि पुरुष ही स्त्री का प्रलोभक तथा उत्तेजक है। पुरुष ही स्त्रियों को भ्रष्ट करने वाले तथा उनके जीवन को चौपट करने वाले हैं। इसीलिये स्त्रियों के सम्बन्ध में जो प्राचीन शास्त्रों में घृणाकारक वाक्य मिलते हैं वे सब अवैज्ञानिक एवं सर्वथा असत्य प्रतीत होते हैं।

भारतीय नीति शास्त्र में आदर्श जीवन काल के ३ पादों अर्थात् ७५ वर्ष में स्त्री से दूर रहने अथवा स्त्री से काम सम्बन्ध न रखने का उपदेश दिया गया है। प्रथम में २५ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम में स्त्रियों के साथ सब प्रकार के सभव होने वाले स्पर्शों से, अर्थात् आठ प्रकार के मैथुन, जिनमें देखना तथा मन के द्वारा चिन्तन करना भी सम्मिलित हैं, बचने का उपदेश दिया है। वान प्रस्थाश्रम के २५ वर्ष तक स्त्री के साथ रहते हुए उससे किसी भी प्रकार यौन सम्बन्ध न रखने का उपदेश है और आखिरी २५ वर्षों मे तो उसका पूर्णरूप से त्याग करके ब्रह्मज्ञान मे लीन रहने का उपदेश है और गृहस्थाश्रम में तो २५ वर्ष में केवल पुत्रोत्पत्ति के निमित्त ही स्त्री प्रसग का विधान है। यह सब उपदेश अवैज्ञानिक, अमानुषिक, अस्वाभाविक और सर्वथा अव्यावहारिक हैं, क्योंकि यह न तो सभव ही है और न इससे कोई लाभ ही है। बल्कि हमारे वैयक्तिक जीवन में और सामाजिक

जाकर सीमित हो जाती है तो उसे अवैज्ञानिक दृष्टि ही कहा जा सकता है और इसे एकमात्र जाति विशेष वर्ग विशेष अथवा आयु विशेष का ही कर्तव्य समझना यह वैज्ञानिक दृष्टि से एक प्रकार की भूल है। यावज्जीवमधीयाद् विप्रः इतना ही नहीं बल्कि "यावज्जीवम् अधीयामहे" ही वैज्ञानिक घोषणा है। यही बात आध्यात्मिक साधना के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। आध्यात्मिक साधना को बुढ़ापे तक सीमित रखना सर्वथा अनुचित दृष्टि है। हमको बाल्यकाल से ही आध्यात्मिक बनना चाहिए। हमारा गृहस्थाश्रम सम्बन्धी जीवन यदि आध्यात्मिक न हुआ एवं हमारा व्यावहारिक जीवन और पारस्परिक सम्बन्ध यदि आध्यात्मिकता से सम्बन्धित न हो पाया तो हमें अपना जीवन सर्वथा अधूरा एवं दुःखमय तथा शोक ग्रस्त ही समझना चाहिए। आध्यात्मिकता का अनुभव करने के लिये घर और समाज को भी यदि छोड़ना आवश्यक हो अथवा आध्यात्मिकता के लिए वन जाना या वन में रहना ही आवश्यक हो तो यह आध्यात्मिकता बिल्कुल बेकार की वस्तु है। स्वामी विवेकानन्द स्वामी रामतीर्थ रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गांधी ने आध्यात्मिकता को जंगल से शहरों में साधुओं की कुटियों से गृहस्थ लोगों के मकानों में एवं संन्यासियों के जीवन से कर्मठ युवकों और सांसारिक कार्यकर्ताओं के जीवन में विद्यालयों प्रयोगशालाओं तथा कार्यालयों में ला दिया है। यही आजकल की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है जिससे आश्रम प्राचीन आश्रम सम्बन्धी समस्त व्यवस्थाएँ ठीक नहीं लगतीं।

भारतीय नीति शास्त्रों का एक दूसरा व्यापक सिद्धान्त यह है कि 'स्त्री स्वातंत्र्य नार्हति' अर्थात् स्त्री स्वातंत्र्य के योग्य नहीं है। बाल्यकाल में उसे पिता के युवावस्था में अपने पति के और वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रहना चाहिए। वैज्ञानिक युग में यह सिद्धान्त असत्य एवं अनुचित जान पड़ने लगा है और निकट भविष्य में तो यह कभी भी मान्य नहीं हो सकता है। विज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया है कि स्त्री पुरुष में केवल कुछ यौन सम्बन्धी भेदों को छोड़कर नैतिक भावना कार्यक्षमता प्रतिभा एवं उत्तरदायित्व आदि समान और तुल्य विद्यमान हैं। यदि किसी पुरुष विशेष में शारीरिक बल अधिक हो भी तो स्त्री में साहस तथा तितिक्षा उससे कहीं अधिक है। स्त्री की प्रतिभा पुरुष से अधिक नहीं तो कम भी नहीं है। जहाँ कुल परम्परा माता से चलती है और माता का कुटुम्ब पर शासन तथा नियंत्रण होता है वहाँ यह देखने में आता है कि स्त्री पुरुष की अपेक्षा अपने उत्तरदायित्व का अच्छी प्रकार निर्वाह कर लेती है। आज के युग में स्त्री को किसी भी विषय में पुरुष से कम समझना या उसे कम अधिकार देना अथवा उसका स्वातन्त्र्य सीमित रखना अवैज्ञानिक समझा जाने लगा है। विज्ञान ने स्त्रियों के सम्बन्ध में जो प्राचीन काल से चली आई हुई धार्मिक और नैतिक धारणा थी उसको भी असत्य सिद्ध कर दिया है। पुरुष वर्ग ये नहीं समझता आ रहा है कि स्त्री काम

छल, कपट, और प्रलोभन की एक साकार मूर्त्ति है, उसमें पुरुष से कहीं अधिक काम वासना है, और वही पुरुष को काम में प्रवृत्त करती है। यदि उसके प्रभाव से मनुष्य दूर रहे तो मनुष्य का जीवन शुद्ध, पवित्र, और काम वासना शून्य हो सकता है। इसी कारण से स्त्री को संसार रूपी मोह जाल में फँसाने वाली माना गया है, और उससे दूर रहने, उसको त्याग देने, तथा उसके प्रलोभन प्रभाव से बचे रहने का उपदेश दिया गया है। कामिनी और काञ्चन, काम और अर्थ, दोनों ही निन्द्य बतलाये गये हैं।

विज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया है कि पुरुष ने अपनी कमजोरियों और अपने समस्त प्रलोभनों को, जो उसके लिये अपने ही सहज दोष हैं, स्त्री के ऊपर आरोपित करके उसको व्यर्थ ही उनकी साकार मूर्त्ति समझ लिया है। वास्तव में स्त्री की कामवासनाएं अधिकतर सुप्त रहती हैं। वे जागृत और प्रबल तभी होती हैं जब कि पुरुष स्त्री को उत्तेजित करता है और पुरुष की कामवासनाएँ तो प्राय हमेशा ही जागृत तथा उत्तेजित रहती हैं। यह भी एक नियम देखने में आता है कि प्राय पुरुष ही स्त्रियों को काम की ओर प्रेरित करते हैं, न कि स्त्री पुरुषों को, यह वैज्ञानिक निर्णय है। हाँ यह भी वैज्ञानिक सत्य है कि स्त्री की कामवासना एक बार उत्तेजित हो जाने पर पुरुष की कामवासना से अधिक देर में शान्त होती है और अधिकतर पुरुष ऐसे होते हैं जो स्त्रियों को शान्त करने में असमर्थ होते हैं। इस कारण से ही स्त्रियों को कामसन्तुष्टि पूर्णरूप से नहीं हो पाती है। स्त्री और पुरुषों के पारस्परिक द्वेष और झगड़ों का मूल कारण भी उनकी विभिन्न प्रकार की कामेच्छाएं ही होती है। वास्तव में स्त्री पुरुष की प्रलोभक और उत्तेजक नहीं है बल्कि पुरुष ही स्त्री का प्रलोभक तथा उत्तेजक है। पुरुष ही स्त्रियों को भ्रष्ट करने वाले तथा उनके जीवन को चौपट करने वाले हैं। इसीलिये स्त्रियों के सम्बन्ध में जो प्राचीन शास्त्रों में घृणाकारक वाक्य मिलते हैं वे सब अवैज्ञानिक एवं सर्वथा असत्य प्रतीत होते हैं।

भारतीय नीति शास्त्र में आदर्श जीवन काल के ३ पादों अर्थात् ७५ वर्ष में स्त्री से दूर रहने अथवा स्त्री से काम सम्बन्ध न रखने का उपदेश दिया गया है। प्रथम में २५ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम में स्त्रियों के साथ सब प्रकार के संभव होने वाले स्पर्शों से, अर्थात् आठ प्रकार के मैथुन, जिनमें देखना तथा मन के द्वारा चिन्तन करना भी सम्मिलित हैं, बचने का उपदेश दिया है। वानप्रस्थाश्रम के २५ वर्ष तक स्त्री के साथ रहते हुए उससे किसी भी प्रकार यौन सम्बन्ध न रखने का उपदेश है और आखिरी २५ वर्षों में तो उसका पूर्णरूप से त्याग करके ब्रह्मज्ञान में लीन रहने का उपदेश है और गृहस्थाश्रम में तो २५ वर्ष में केवल पुत्रोत्पत्ति के निमित्त ही स्त्री प्रसंग का विधान है। यह सब उपदेश अवैज्ञानिक, अमानुषिक, अस्वाभाविक और सर्वथा अव्यावहारिक हैं, क्योंकि यह न तो संभव ही है और न इससे कोई लाभ ही है। बल्कि हमारे वैयक्तिक जीवन में और सामाजिक

व्यवहार में आज जितने भी दोष पाये जाते हैं काम वासना की अतृप्ति ही उन सबका उत्पादक है। आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानव जीवन में काम प्रवृत्ति जन्म से लेकर मृत्युकाल पर्यन्त रहती है। उसको दबाने और निरोध करने से अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। सामाजिक सन्तुलन भी बिगड़ता है और अनेक प्रकार के अपराधों की उत्पत्ति होती है। पापियों और अपराधियों की संख्या बढ़ती है चित्त को शान्ति नहीं होती और प्रयत्नशील तथा गुणमय व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो पाता है। इसीलिए काम वासना का तिरस्कार करना उसको दबाना और उसको उचित रीति से पूर्ण न करना बड़ा भारी दोष है। मनुष्य के अन्दर काम प्रवृत्ति केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही नहीं है। भले ही पशु पक्षियों में शायद यह इसीलिये दिखाई पड़ती हो। काम प्रवृत्ति आनन्द का अनुभव करने के लिए भी है। आज जबकि भूमण्डल की जनसंख्या बहुत बढ़ती जा रही है सन्तानोत्पत्ति जो कि पूर्व काल में भारतवर्ष के अन्दर एक पुण्य का काम माना जाता था और आज भी उन देशों में जहाँ जनसंख्या अधिक है इस युग में काम क्रीड़ा का लक्ष्य नहीं बनना चाहिए। बल्कि काम क्रीड़ा होने पर भी गर्भाधान न हो यही आजकल के युग में उचित जान पड़ता है और इसके लिये विज्ञान ने अनेक प्रकार के उपाय भी निकाल लिये हैं। और कुटुम्ब नियोजन के आन्दोलन द्वारा उनके ज्ञान तथा उपयोग का प्रचार भी किया जा रहा है। वैज्ञानिक युग में जैसा कि किसी समय प्राचीन भारत में भी था काम क्रीड़ा एक आनन्दानुभव करने की कला का रूप धारण करती जा रही है। इसका जो जीवन में उचित स्थान प्राप्त हो गया था उसकी अब उपेक्षा ही नहीं बल्कि निन्दा भी की जाती रही है। स्त्री पुरुष का सम्बन्ध एक अत्यन्त ही पवित्र सम्बन्ध है जो कि सर्वथा अनिन्दनीय माना गया है तथा जीवनकाल पर्यन्त अवस्था और शक्ति के अनुरूप नाना प्रकार से काम-क्रीड़ा के आनन्द का अनुभव प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष को करते रहना चाहिए यह विज्ञान का निष्कर्ष है।

भारतवर्ष में पति पत्नी का सम्बन्ध और उसकी नीति बहुत कुछ अवैज्ञानिक सी जान पड़ती है। जहाँ पर स्त्री के पुरुष के लिए आत्मोत्सर्ग स्पष्ट रहस्य और अधिक अधिक वाञ्छनीय समझी गयी है। पातिव्रत्य पर अधिक जोर दिया गया है और पातिव्रत की अपेक्षा पत्नीव्रत अनिश्चिततर है। पुरुष को बहु विवाह की आज्ञा और पत्नी को निषेध तथा पत्नी के मर जाने के पश्चात् पुरुष को फिर से विवाह की आज्ञा और पत्नी को वैसा निषेध। यदि बाल्यावस्था में भी जब कि वर्षों विवाह स्त्री की बाल अवस्था में किये जाते पति की मृत्यु हो जावे तो जीवन पर्यन्त उसे वैधव्य धारण करना पड़ता था। वैधव्य ही नहीं अपितु कठोरतम कामोपभोग रहित जीवन विहित था। पति को पत्नी के त्याग करने का पूर्ण अधिकार—राम नल बुद्ध तुलसीदास आदि महापुरुषों ने भी किया था—पर

पत्नी को पति के त्यागने का कोई अधिकार नही था। यह सब नियम अवैज्ञानिक हैं। इस युग मे पति पत्नी का सम्बन्ध मैत्री और सहास्तित्व का होता है, और जब उसमे कटुता आ जाये और वह सुखपूर्वक न निभाया जा सके तब ही उसका विच्छेद कर देना उचित जान पडता है। इस सम्बन्ध में स्वामित्व अथवा स्वामिनित्व की गन्ध तक नही आनी चाहिए। दोनो को अपने-अपने विचार, आचार और व्यवहार में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए और यही नही कि पुरुष स्त्री को और स्त्री पुरुष को अपनी-अपनी प्रवृत्तियो के अनुसार आचरण करने की अनुमति दे, वल्कि वे एक दूसरे की इच्छापूर्ति मे और स्वतन्त्रता के जीवन में सहायता भी करे। यह आजकल के गृहस्थी पति पत्नियो का धर्म समझा जाता है। यहाँ तक ही नही, पति अपनी पत्नी को और पत्नी अपने पति को पर-पत्नी और पर-पति अथवा पर-स्त्री और पर-पुरुष के साथ इच्छित सम्पर्क के, वह किसी सीमा तक भी हो, स्थापित करने में यथाशक्ति सहायता दे और उस सम्पर्क की आलोचना तक भी न करे। विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि पुरुष और स्त्री दोनो का स्वभाव ही यह है कि नये-नये सम्पर्क और नये-नये व्यक्तियो से सग हो। काम क्रीडा में तो पूरे आनन्द का अनुभव नवीनता और परता के विना सम्भव नही है। यदि विवाह इस आनन्द के अनुभव में बाधक है तो विवाह प्रथा ही अवैज्ञानिक है, अवास्तविक है, और इसका समाज में रहना ही अवाछनीय है। सम्भव है कि आगामी युग में मानव-समाज से यह सस्था ही उठ जाये और मनुष्य भी पशु, पक्षियो और दूसरे प्राणियों की भाँति स्वतन्त्रतापूर्वक यथा समय, यथा अवसर और यथेच्छ काम, मैत्री और सह-जीवन की प्रथा का निर्माण कर ले। आजकल अधिक पढे लिखे स्त्री और पुरुष विवाह वन्धन से वहुत घवडाते हैं, और यह कहते हैं कि जबकि यथेच्छ, शुद्ध और ताजा दूध मिल सकता है तो गाय पालने की मुसीबत कौन अपने सर पर ले। भारत में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड रही है।

सभी धर्मो मे धन की वहुत निन्दा की गई है और गरीबी त्याग, तितीक्षा और तपस्या की बहुत वडी प्रशसा की गई है। नीति की भी प्रवृत्ति कुछ ऐसी ही रही है। आज के वैज्ञानिक युग मे धन और सम्पत्ति ही सबसे महत्व की वस्तु मानी जाती हैं। धन के द्वारा सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ तक कि सती स्त्री का सतीत्व भी धनी के चरणो पर आ गिरता है। वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति के लिये अधिक से अधिक धन चाहिए। आत्मरक्षा के साधनो को प्राप्त करने के लिये भी अधिक से अधिक धन की आवश्यकता है। धनी व्यक्ति के हाथ में समाज की सब शक्तियाँ हैं। वही आजकल सबसे अधिक प्रभावशाली समझा जाता है। उसको ही समाज में ऊँचा स्थान मिलता है। वही आदर पाता है और वही उच्च ज्ञान प्राप्त कर सकता है, उसी का सन्मान साधु, महात्मा और सन्यासी भी करते हैं, राष्ट्र और सरकार तो करते ही हैं। अतएव

धन प्राप्त करना मनुष्य का कर्तव्य ही नहीं वरन् प्रथम और मुख्य कर्तव्य हो जाता है। आजकल की समस्त शिक्षा प्रणाली ही ऐसी है जिसके द्वारा मनुष्य कुछ उपार्जन कर सके, कुछ उत्पादन कर सके। इसलिये जीवन में धन कमाने को उचित स्थान देना पड़ता है। धन को आज इतना महत्त्व होने के कारण दान का महत्त्व घटता जा रहा है। समाज के कल्याण के लिये सरकार और समाज को कायम रखने के लिये और उसे सुदृढ़ बनाने और सार्वजनिक काम और सुख के हित कार्यों में करने के लिये अधिक से अधिक कर लगाने की प्रथा ने दान देने की प्रथा का उन्मूलन कर दिया है। विज्ञान ने व्यक्तिगत और अनियमित और अनियोजित दान देने का अनेक सामाजिक कुरीतियों का जन्मदाता प्रमाणित कर दिया है। वर्तमान युग सामाजिक संस्थाओं को चन्दे और शासन को कर देने का युग है। स्वेच्छा से किसी व्यक्ति को दान देने का नहीं है। दोनों ही परवश से देने पड़ते हैं, स्वेच्छा से नहीं। कुछ दिनों में चन्दा देना भी असम्भव हो जाने की सम्भावना है क्योंकि लोगों की आवश्यकताएँ बढ़ती ही जा रही हैं, व्यक्तिगत लाभ कम होता जा रहा है।

धर्म या कर्तव्य के विषय में जो बहुत सी विद्वान की गवेषणाएँ हुई हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि मनुष्य के धर्म सामाजिक दैशिक पारस्थितिक और सापेक्ष हैं। कोई धर्म नित्य सर्वव्यापक सनातन और सर्वथा निरपेक्ष नहीं है। समय-समय पर और देश-देश में और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न जातियों और मनुष्य समुदायों में भिन्न-भिन्न शास्त्रों और उपदेशकों द्वारा भिन्न-भिन्न धार्मिक नियमों का उपदेश और पालन होता रहा। श्रुतियाँ स्मृतियाँ ऋषि मनियों के वचन महापुरुषों के आचार-विचार, व्यवहार और मनुष्य की अन्तरात्मा इत्यादि जो भी धर्म के निर्णायक माने गये हैं किसी एक बात पर सहमत नहीं हैं। मनुष्य क्या है? उसके जीवन का क्या लक्ष्य होना चाहिए, मनुष्य का समाज के साथ क्या सम्बन्ध है और होना चाहिए? मनुष्यों का परस्पर क्या सम्बन्ध है और होना चाहिए? परलोक है अथवा नहीं? पुनर्जन्म होता है अथवा नहीं? भला बुरा क्या है? भला करने वाले को ईश्वर से कोई पुरस्कार और बुरा करने वालों को कोई दण्ड मिलता है अथवा नहीं? कर्मफल का अटल नियम है अथवा नहीं? धर्म अर्थ काम मोक्ष में क्या तारतम्य है और किसके लिये किसका त्याग कर देना चाहिए? जीवन की रक्षा के लिये धर्म का परित्याग कर देना अथवा धर्म के पालन में और धर्म के लिये जीवन का बलिदान करना चाहिए? क्या आपत्तिकाल में धार्मिक नियमों को भंग किया जा सकता है अथवा नहीं? किसी पूर्वकाल में जो धर्म समझा जाता था या किसी दूसरे देश में जो धर्म समझा जाता था यह अब और यहाँ भी वही धर्म समझा जाना चाहिए? क्या आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार धर्म नहीं बदलना चाहिए? सत्य क्या है? क्या कोई प्राणी सत्य के लिए हित का परित्याग करे अथवा हित के लिये सत्य का? क्या कोई प्राणी

ऐसा है जिसके मन में सत्य पालन के लिये स्वत प्रवृत्ति है? क्या कही और कभी सत्य का पालन अशेष रूप से हुआ है? सत्य और स्वहित, परहित और अहिंसा में किसको सर्वोपरि मानकर जीवन यापन किया जाये? सत्य भी इतना सापेक्षिक है कि दो विरोधी विपक्षो वाले अपने-अपने को सत्य के अनुयायी मानते हैं। प्रत्येक प्राणी और समुदाय अपने पक्ष को सत्य मानता है और दूसरे के पक्ष को असत्य। क्या कोई पक्षपात रहित निर्णय हो सकता है? क्या सत्य-पालन के कारण दशरथ का राम को वनवास देना उचित था? अथवा हरिश्चन्द्र का सत्य-पालन के लिये अपने आप कष्ट उठाना अपनी पत्नी और पुत्र को कष्ट में डालना उचित था? क्या राम का सीता को वनवास देना उचित था? क्या सत्य है, क्या उचित है, इसका निर्णय कभी भी निरपेक्ष नही हो सकता।

अहिंसा के सम्बन्ध में तो सत्य से भी अधिक सन्देह होते हैं। समस्त प्राकृतिक जगत् में हिंसा का साम्राज्य है। सभी पशु, पक्षी, कीट-पतगो और अधिकतर मनुष्य दूसरे प्राणियो को खाकर ही जीवित रहते हैं। विना किसी को कष्ट पहुँचाये, किसी का मन दुखाये, किसी को ताडना दिये और कटु वचन कहे, कोई काम सिद्ध नही होता। यह सब हिंसा का ही रूप नही तो और क्या है? कृषि करने में अनेक प्रकार की हिंसा होती है। सफाई से रहने में हिंसा होती है। मक्खी, मच्छर, साँप, भिरड, ततइयो, चूहो, भेडियों, सिंहो आदि की हिंसा किये विना मनुष्य-जीवन स्थिर नही रह सकता। साँस लेने और निकालने में भी अनेक जीवो की हिंसा होती है। सत्य के लिये, अथवा हित के लिये, अथवा जीवन को कायम रखने के लिये, अपने मन के अनुसार कोई काम करने में किसी न किसी की हिंसा, किसी न किसी को कष्ट, किसी-किसी के मन को दु ख होता ही है। यदि मनुष्य अहिंसा का सच्चा व्रत ले ले तो उसका जीवन ही कठिन हो जाये और उसे आत्मा हिंसा हो की शरण लेनी पडे। जीवन में पद-पद पर सघर्ष है, विरोध है, सग्राम है, विरोधी के साथ किस प्रकार का वर्ताव करना चाहिए, इस पर सदा मतभेद रहा है और रहेगा। विरोध और प्रेम तो साथ जा ही नही सकते। यदि "जैसा को तैसा" का व्यवहार किया, तो द्वेष ही वढ़ता जायेगा। यदि अपने वल का पूर्णतया प्रयोग करके विरोधी को परास्त किया तो हमसे जो लोग अधिक वलवान हैं वे हमको भी इसी प्रकार परास्त करेंगे, और करते भी हैं। इस कारण सदा अशान्ति और सग्राम चलता रहता है। वहुत लोग—वुद्ध ईसा-मसीह, और गाँधी—कहते हैं कि अपने वैरी से प्रेम करो, वैर का वदला प्रेम से दो और यहाँ तक कि वह तुम्हारी हानि करे तो तुम उनका लाभ करो, वह कोट छीने तो उसको चादर भी उतार कर दे दो, और वह एक गाल पर चपत मारे तो दूसरा गाल उसके आगे कर दो। यदि इस प्रकार का व्यवहार सभी भले और सम्पन्न लोग करने लगें तो निश्चय ही ससार में वुरो की प्रधानता और वुरो ही का साम्राज्य होगा। यदि सब मनुष्य सदा अपने-अपने

स्त्रियों के लिए सन्त लड़ते ही रहे तो भी संसार में अशान्ति ही रहेगी और संसार से ईर्ष्या, द्वेष क्रोध लड़ाई, झगड़ा दूर ही कैसे जा सकती है? घर घर में व्यक्ति-व्यक्ति में समाज-समाज में लड़ाई होती ही है। यहाँ तक कि छोटे-छोटे बच्चे आपस में लड़ते हैं झगड़ते हैं मारपीट करते हैं। भाई-भाई और भाई-बहन और बहन-बहन भी लड़ते रहते हैं।

सभी मनुष्यों में ईर्ष्या काम क्रोध मोह लोभ मद मात्सर्य इन की सहज प्रवृत्तियाँ भी हैं और साथ ही साथ प्रेम दया उत्साह सहयोग की भी। मनुष्य को केवल बुरा ही समझना उतना ही असत्य है जितना कि भला समझना है। जो लोग मनुष्य को देवता मानते हैं वे भ्रम में हैं। दैवी और आसुरी प्रवृत्तियाँ सब में ही होती हैं। उनमें से किसी को सर्वथा निर्मूल नहीं किया जा सकता। मनुष्य सदा ही मनुष्य रहता है। न वह सर्वथा देव बन सकता है और न सर्वथा असुर ही। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी काम क्रोध लोभ से आक्रान्त होते हैं यह इतिहास बतलाता है। पुराणों में इस प्रकार की अनेक कथायें हैं। इन आसुरी प्रवृत्तियों के बिना भी मनुष्य का काम नहीं चलता। इनकी भी जीवन में आवश्यकता है। आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य अवसर को पहिचान कर इनमें प्रवृत्त हो और इनके ऊपर उसका नियन्त्रण हो ताकि उसका व्यवहार उचित सीमा के भीतर ही रहे। दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों में सामञ्जस्य और उनके ऊपर नियन्त्रण और उनका उचित सीमा में प्रयोग करना ही मनुष्य का नैतिक ध्येय होना चाहिए। "अति सर्वत्र वर्जयेत्।

कर्मफल के नियम पुनर्जन्म और परलोक के सम्बन्ध में भी हमारे विश्वास विज्ञान और बुद्धि के आधार पर बनने चाहिये क्योंकि प्राचीन शास्त्रों में इनके विषय में बहुत सी अमौलिक धारणाएँ पाई जाती हैं। प्रत्येक कर्म का कुछ न कुछ प्रभाव तो व्यक्ति और समाज पर अवश्य ही होता है। पर किस कर्म का क्या और कितना प्रभाव होता है उसका निश्चय करना सम्भव नहीं है और न कहा जा सकता है कि किसी विशेष कर्म का कोई विशेष फल ही होता है और वह फल कर्म करने वाले के प्रति उसी रूप में आ जाता है कि जिस रूप में उसने किया था अथवा उसके किसी निश्चित और विशेष रूप में। महात्मा गाँधी और ईसामसीह की हत्याएँ उनके किन कर्मों का फल कही जा सकती हैं? यदि कहो कि किसी पूर्व जन्म के कर्मों का फल है तो जब तक उनका हमको ज्ञान न हो तो यह कैसे सत्य समझा जावे? यह निश्चित होना भी कठिन है कि कोई कर्म पूर्वजन्म के कर्मों का फल है अथवा आगे जन्म के फल का कारण है। उदाहरणार्थ यह नहीं कहा जा सकता कि नाथूराम गोडसे ने महात्मा गाँधी को इस कारण से मारा कि महात्मा गाँधी ने किसी पूर्व जन्म में गोडसे को मारा था। अथवा इस कर्म के फल-

स्वरूप गोडसे किसी भावी जन्म में महात्मा गांधी द्वारा मारा जायेगा। किस कर्म का क्या फल मिलेगा यह निश्चित करना सर्वथा असम्भव है। शास्त्रों की यह बातें कि अमुक कर्म का अमुक फल है कपोल कल्पित और अर्थवादी ही हैं। उनमें कोई भी तथ्य नही जान पड़ता और न आज के बौद्धिक और वैज्ञानिक युग में समझा जाता है। आदमी उनसे भले कामो में प्रेरित होते हैं और न बुरे कामो से डरते हैं।

यही बात परलोक के सम्बन्ध मे है। "अब तो आराम से गुजरती है आकबत की खबर खुदा जाने।" परलोक के सम्बन्ध में सोचने की फुर्सत किसे है और उसकी चिन्ता ही क्यों की जाये? उसका हमें कोई ज्ञान ही नही है और न हो सकता है और किसी एकाध को होता भी हो तो हमें उससे क्या लाभ? पुनर्जन्म और परलोक, स्वर्ग और नरक, दोनो के सम्बन्ध में चर्चा करना और उनके द्वारा अपने कामो में प्रेरित होना आजकल के युग में, जबकि इस लोक और इस जन्म की ही समस्याएँ इतनी अधिक हैं कि उनको सुलझाना कठिन है, व्यर्थ समझा जाता है। यदि यह जन्म सुखी और सम्पन्न नही बनाया जा सका तो अगले जन्म को अच्छा बनाना हमारे हाथ में कहाँ है? और यदि हम यहाँ भी सुखी और सम्पन्न नही हैं तो परलोक के सुख और समृद्धि की हमको क्या आशा करनी चाहिये? कर्मफल, पुनर्जन्म और परलोक की धारणाएं मनुष्यो को शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त करने के लिये अर्थवाद के रूप मं बनाई गई थी, आज के युग मे मनुष्य को उनसे कोई प्रेरणा नही मिलती। आज का मनुष्य "नौ नकद न तेरह उधार" के नियम का अनुयायी है। उसको तो अपना यही जीवन, इसी लोक में, और इसी जीवन के सुधार में, सम्पन्न और सुखी बनाने के लिये वे कर्म करने हैं जिनके द्वारा उसको इस लोक की ही वस्तुएँ प्राप्त हो, इस लोक को ही वह सुन्दर बना सके और इस लोक में वह भली-भांति रह सके। मृत्यु के पश्चात् क्या होगा न इसका उसे ज्ञान है और न इसकी उसे परवाह है।

मृत्यु के सम्बन्ध में आज का मनुष्य इतना सोचता भी नही है जितना कि प्राचीन काल के लोग सोचा करते थे। आज का बालक नचिकेता नही है जोकि यहाँ के सुख और भोगो पर लात मारकर यह जिज्ञासा करे कि मौत के पश्चात् क्या होता है और मनुष्य कहाँ जायेगा। मनुष्य अपने चारो ओर यही देखता है कि संसार में सब वस्तुएँ किसी आकार में उत्पन्न होती हैं, बढ़ती हैं, और रहती हैं, और नष्ट हो जाती हैं, और सर्वदा के लिये प्रकृति में विलीन हो जाती हैं। प्राकृतिक जगत् परिवर्तनशील है, उसमें सभी वस्तुओं का आकार क्षण-क्षण में परिवर्तित होता रहता है। कोई भी वस्तु सदा किसी एक आकार में नही रहती, सब आकार परिवर्तनशील और नष्ट होने वाले हैं। सभी नाम और रूप नश्वर हैं।

इस नश्वर और परिवर्तनशील जगत् में मनुष्य या और किसी प्राणी या वस्तु के अन्दर कोई अपरिवर्तनीय अनश्वर, अमर नाम और रूप वाली आत्मा जैसी सत्ता है इसका कोई प्रमाण नहीं है और न अनुभव ही इसका साक्षी है। अतएव कोई विज्ञान भी अभी तक आत्मा की सत्ता मे विश्वास नहीं करता। 'सत्यमी मुलस्य देहस्य पुनरागमन कुतः।' इसका कोई प्रमाण नहीं है कि प्रत्येक प्राणी में या मनुष्य में कोई अमर आत्मा है। और यदि ऐसी कोई अपरिवर्तनशील अनश्वर, और अनाम अरूप निर्विकार, निराकार, निर्लेप और शरीर के सब धर्मों और स्वभावो से रहित आत्मा है भी तो उसके मानने और न मानने से हमारे आचार और व्यवहार पर क्या प्रभाव पड़ता है? क्योंकि वह आत्मा तो किसी कर्म का कर्ता हो ही नहीं सकता। सुख-दुःख का भोक्ता भी नहीं हो सकता। उसके लिये जन्म और मरण का भी कोई अर्थ नहीं है। वह भला और बुरा भी नहीं बन सकता। वह न मारता है और न मरता है। न वह कर्म करता है और न उसको फल ही मिलता है। वह न कहीं जाता है और न कहीं से आता है। वैज्ञानिक और बौद्धिक दृष्टि से देखा जाये तो "आत्मा" की धारणा जीवन के लिये सर्वथा निरर्थक है। व्यर्थ है। उससे मनुष्य का कोई लाभ नहीं हो सकता। उसके चिन्तन में समय खोना व्यर्थ है।

जबकि आत्मा की सत्ता ही निराधार है तो उसके सुधार, उद्धार, परिष्कार, संस्कार, बन्धन और मोक्ष आदि की समस्याएँ उठती ही नहीं हैं। वेदान्तियों का आत्मा तो सदा ही मुक्त है और वह कभी बन्धन में पड़ता ही नहीं। सांख्य का पुरुष तो कभी कर्ता ही ही नहीं सकता वह तो सदा ही प्रकृति से अलग रहने वाला है। उसमें कोई मानसिक, बौद्धिक अथवा आहंकारिक विकार या क्रिया सम्भव ही नहीं तो फिर बन्धन कैसा? और जब बन्धन ही सम्भव नहीं है तो मोक्ष कैसा? निराकार, निर्विकार निर्लेप शुद्ध, बुद्ध, नाम और रूप रहित आत्मा म बन्धन हो नहीं सकता तो मुक्ति की समस्या ही कहाँ? अतएव बन्धन का भय और मुक्ति की चिन्ता और उसके लिये साधन और उनम अपना समय लगाना सब व्यर्थ है और इसमें समय लगाना जीवन को बर्बाद करना है।

संसार के अनेक धर्मों में जिनके परस्पर विरोध और प्रचार के कारण और ईश्वर के नाम पर भूमण्डल पर पूर्वकालो में बहुत लड़ाइयाँ और अत्याचार हुये हैं। ईश्वरों की जो धारणा है और उसके साथ जगत् तथा जीव का जो सम्बन्ध माना गया है वह भी अवैज्ञानिक और अबौद्धिक है। मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं अपनी मनोवृत्तियों और अपनी कल्पनाओं के द्वारा ईश्वर सम्बन्धी विचारों का निर्माण किया है। उन विचारों की सच्चता वास्तविकता और औचित्य में कोई प्रमाण नहीं है। ईश्वर-सिद्धि में जितने प्रमाण आज तक दिये गये हैं वे सब दोषपूर्ण हैं। तर्क द्वारा सब काट जाते हैं। ईश्वर सम्बन्धी सभी धारणाएँ सब प्रकार के हेत्वाभासों से पूर्ण हैं। ऐसे ईश्वर की भक्ति और उपासना

मे मनुष्य-जीवन को लगाना, जिसके अस्तित्व में ही सदेह हो, और जिसके सम्बन्ध की सभी धारणाएँ तार्किक दोष से पूर्ण हो, और जिससे मनुष्य-जीवन सुखी और उन्नत न बनाया जा सके, इस युग में उचित नही जान पड़ती।

अतएव इस वैज्ञानिक युग में मनुष्य का विश्वास उन सब पुरानी बातों से उठ गया है जो पूर्वकाल में मनुष्य को प्रेरित किया करती थी। वे आज के इस युग की नीति का आधार नही बन सकती, यह आजकल की परिस्थिति है। इसको हमें भूलना नही चाहिए। भारत भी इससे अलग और परे नहीं है।

अध्याय २७

भारतीय नीति शास्त्र की समग्रता

आधुनिक विज्ञान तथा बुद्धिवाद तथा उनके उपजीवी धार्मिक नास्तिकवाद और नैतिक हैडिज्मवाद सापेक्षवाद तथा प्रकृतिवाद इस समय संसार के ऊपर और इसलिए भारत के ऊपर भी घन काले बादलों की भाँति मँडराकर और गर्जन कर रहे हैं, तथापि भारत को उनको देखकर घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। भारत के इतिहास में इस प्रकार के बादल कितनी बार आये और बरस कर समाप्त हो गए। भारत में सब बातों को ग्रहण करने और अपने स्वाभाविक और आश्चर्यजनक समन्वयीकरण के द्वारा आत्मसात् करने की अनुपम शक्ति है। प्रत्येक दृष्टि और प्रत्येक विचार का भारत आदर करता तथा आतिथ्य करना जानता है और प्रत्येक नवीन विचार के आक्रमण तथा आपाततः पराजय के कुछ काल पीछे ही यह अपने को अधिक योग्य पाता है। इस देश में सदा से ही यह सामर्थ्य रही है कि नवीन परिस्थितियों के प्रति यथोचित विचार प्रतिक्रिया हो सके, तथा उनके सार को अपनाया जाय और आवश्यकतानुसार अपने को बदलते रहें। भारत के व्यक्तित्व में सनातन और परिवर्तनशील दोनों ही प्रवृत्तियाँ संतुलित मात्रा में सदा से रही हैं और यही कारण है कि उसका व्यक्तित्व अमर है वह अनादि काल से चला आ रहा है तथा उसमें अनन्त काल तक जीवित रहने की क्षमता है। अमेरिका के एक विद्वान् प्रोफेसर ने भी प्रैट ने अपने एक गवेषणापूर्ण लेख Why Religions Die"व्हाई रिलिजन्स डाई" में ठीक कहा है कि संसार के सब धर्म इस वर्तमान वैज्ञानिक युग में मर गये या मृत प्राय हैं,किन्तु एक वैदिक (हिन्दू) धर्म ही ऐसा है जो न मरा है और न जिसके मरने की सम्भावना है। उसमें सभी नवीन विचारधाराओं के आक्रमण को सहकर अपने व्यक्तित्व को कायम रखते हुए अपने को यथा अवसर और यथा परिस्थिति बदलने की अद्भुत शक्ति है। यही एक धर्म ([illegible]) ऐसा है जिसका आत्मा अमर है और शरीर नित्य नवीन है। वैदिक धर्म ही ऐसा है जो नित्य नवीन होकर अपने को जीवित रखना जानता है। जिसमें अपने मूल सिद्धान्तों को न त्यागते हुए सदा नवीन दृष्टियों विचारों, और आचारों को ग्रहण करने की शक्ति है। हिन्दू धर्म इस कारण ही अमर है कि उसमें परस्पर विरोधी

बातो को सहन करने की, दूसरो के तथा अपने भी मतो और आचारो को पूर्ण और अन्तिम तथ्य न समझने की शक्ति है। वास्तव में यही एक ऐसा देश है जिसमे अनन्त प्रकार के मत-मतान्तर, धर्म और सम्प्रदाय अपना-अपना पूर्ण स्वातन्त्र्य रखते हुए, शान्तिपूर्वक परस्पर विचार-विनिमय, एक दूसरे के मत का अध्ययन, और खण्डन मण्डन आदि सदा से चलते आ रहे हैं। यहाँ पर एक ही आश्रम में (हर्ष चरित्र को देखिये) अनेक विरुद्ध मतो और सम्प्रदायो के प्रौढ विद्वान तथा विद्यार्थी अध्ययन और शास्त्रार्थ किया करते थे। सबका उद्देश्य सत्य की खोज और असत्य का त्याग और विरुद्ध दृष्टियो का समन्वय ही रहता था। जैन अनेकान्तवाद, बौद्धाद्वि सत्य (सवृत्ति और परमार्थ) अद्वैत त्रिसत्य (पारमार्थिक, व्यवहारिक, प्रातिमासिक) ऐसे उपाय हैं जिनके द्वारा सभी मतो का समन्वय किया जा सकता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये पुरुषार्थ चतुष्टय ऐसे हैं जिनके अन्तर्गत जीवन की सभी प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं और उनका सहयोग और समन्वय हो सकता है। भारत ही सदा से एक ऐमा देश रहा है जहाँ पर पूर्ण विचार-स्वातन्त्र्य, पूर्ण साधना-स्वातन्त्र्य और पूर्ण विश्वास-स्वातन्त्र्य होते हुए भी सास्कृतिक एकता स्थिर रही है।

आज का वैज्ञानिक नीति शास्त्रज्ञ कौन सी ऐमी नास्तिकता की बात कहेगा जो भारत में सदा से लोकायतिक नीति शास्त्रज्ञो ने न कही हो? आधुनिक से आधुनिकतम स्वतन्त्रता प्रेमी स्त्री या पुरुष कौन सा ऐसा आचरण करेगा जो कतिपय भारतीयो ने नही किया है और जिसका ज्ञान भारतीय इतिहास लेखको, पुराण लेखकों को नही है। निर्विवाह-जीवन, प्रेम-विवाह, बहु-विवाह, बहुपतीन्त्व, बहु-पतित्व, परनारी सग, प्राक्-विवाह पुरुप-सग, काम-प्रवृत्ति की प्रवलता आदि सभी बातें जिनका विज्ञान ने अपनी खोजो द्वारा उद्घघाटन किया है, भारतीय नीतिज्ञो को पहले से ही ज्ञात थी। आजकल प्रचलित समाजवादी सिद्धान्त कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने शरीर की तात्कालिक आवश्यकताओ से अधिक एकत्र नही करना चाहिए और प्रत्येक को अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार समाज सेवा करनी चाहिए, भारतीय नीतिज्ञ भली भाँति जानते थे। वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था प्राचीनकाल के समाजवादी विचारो पर ही आधारित थे।

नैतिक अपेक्षावाद, नैतिक स्वातन्त्र्यवाद और नैतिक प्राकृतिवाद तो भारत के सदा से सर्वमान्य सिद्धान्त रहे हैं। यहाँ तक कि मनु ने यह स्पष्ट कहा है—

"न मास भक्षण में दोष है, न मद्य पीने में, और न मैथुन करने में। प्राणियो में इन सब कामो को करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है किन्तु इनसे निवृत्त होने मेंऔर भी अधिक फल होता है।"

व्यासजी ने महाभारत मे धर्म (आचार) की सापेक्षता इन महान् शब्दो में स्वी-

स्वीकार की है—

"देश काल और निमित्त के भेदों से धर्म में भी भेद होता है। समान परिस्थितियों में रहने वाले के लिये समान धर्म और विषम परिस्थितियों में रहने वाले के लिये विषम धर्म होता है। कोई आचरण ऐसा नहीं है जिससे सबका समान हित हो। जो एक के लिये हितकर है वह दूसरे के लिये हानिकर हो सकता है। इसलिये आचारों में भी सब जगह एकता की अपेक्षा नहीं है।" कोई धर्म भी ऐकान्तिक नहीं है। सभी धर्म परिस्थितियों और अवस्थाओं के आधीन हैं। और भी—

"जिन देशों में जो लोक के नियम अथवा जो आचार हैं उनका निरादर नहीं करना चाहिये। उन देशों को वैसा ही धर्म मानना चाहिए। "सभी धर्मशास्त्रों का निर्माण मन्दबुद्धि वाले लोगों की शिक्षा के लिए किया गया है। लोक कल्याण का क्या उचित मार्ग है इसको बुद्धिमान् स्वयं निश्चित कर लेते हैं। "श्रुतियों में भी भेद है स्मृतियाँ भी भिन्न भिन्न हैं। कोई एक ऐसा ऋषि नहीं जिसके वचन सदा और सर्वत्र मान्य हों। धर्म का तत्व बहुत गूढ़ है और ज्ञात नहीं है। (गुफा में छिपा हुआ है) अतः महापुरुष जिस मार्ग को ग्रहण कर ले वही उसके लिए उचित मार्ग है।

भारतीय नीतिज्ञ मनुष्य के प्राकृतिक स्वभाव को और उसकी सहज प्रवृत्तियों को भली भाँति जानते थे। वे केवल आदर्शवादी ही नहीं थे। उन्होंने जीवन के उच्च से उच्च आदर्श का वास्तविकता के आधार पर ही निर्माण किया था केवल कल्पना के आधार पर नहीं। इसलिए भारतीय नीति शास्त्र के आदर्श और सिद्धान्त जब तक मनुष्य का वर्तमान स्वरूप और स्वभाव बना रहेगा तब तक स्थिर रहेंगे। भारतीय नीतिज्ञों ने मानव मात्र और मानव समाज के कल्याण के लिये ही नहीं प्राणी मात्र के लिये सोचा था। अतएव भारतीय नीति के नियम सार्वभौम हैं। सबको पसन्द आने वाले हैं। भारतीय नीति में स्वार्थ और परमार्थ स्वहित और परहित आत्मतुष्टि और परोपकार में पूरा पूरा सन्तुलन पाया जाता है। एकांगी उन्नति को भी उचित नहीं समझा गया है। परोपकार, परसेवा परहित दान क्षमा दया और करुणा तथा अहिंसा द्वारा ही आत्मा की आध्यात्मिक उन्नति होती है क्योंकि वास्तव में सभी प्राणियों में एक ही आत्मा व्याप्त है। जो व्यक्ति सबके हित का चिन्तन करता है उसका ही सबसे बड़ा हित होता है।

भारतीय दृष्टि से विचार करने से यह कहा जा सकता है कि अभी विज्ञान जीवन और संसार के स्थूल रूप को ही जानता है। उसका ज्ञान अभी तक इन्द्रिय-गोचर विषयों तक ही सीमित है और इन्हीं विषयों के सम्बन्ध में उसे निर्णय देने का अधिकार है। अतीन्द्रिय पदार्थों—प्राण मन बुद्धि आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में उनके अस्तित्व स्वरूप और परस्पर सम्बन्ध में उसको अभी तक न ज्ञान है और न उसकी दृष्टि से इनका

ज्ञान प्राप्त ही हो सकता है। अत इनके सम्बन्ध में जो कुछ वह कहता है सब उसकी अनाधिकार चेष्टाएँ हैं। विज्ञान के पास अभी कोई साधन यह जानने के लिये नही है कि परमात्मा है अथवा नहीं, आत्मा है या नही, वह अमर है या नाशवान्, परलोक है या नही, कर्मों का फल करने वालो को मिलता है या नही, शरीर के नष्ट हो जाने पर मनुष्य पूर्णतया नष्ट हो जाता है या उसका कोई सूक्ष्म भाग बच रहता है। अभी विज्ञान ने मानव को पूरी तरह से नही जाना। उसने मन और आत्मा को नही समझा। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और समाधि अवस्थाओ के स्वरूप और सम्बन्ध के विषय में भी अभी उसे ज्ञान नहीं है। जबकि उसने मनुष्य को ही सूक्ष्म अवस्थाओ और उनमें व्यक्त सूक्ष्म तत्वो को ही नहीं जाना, तो उस विश्व के सम्बन्ध में, जिसका मनुष्य एक सूक्ष्मतम अंश है, विज्ञान क्या जानता है ?

अतएव मनुष्य विज्ञान के ही निर्णयों द्वारा अपनी जीवन यात्रा नहीं कर सकता। उसको अपने समस्त जीवन के सर्वांगी अनुभव के आधार पर बुद्धि द्वारा अपने जीवन की समस्याओ पर विचार करना होगा। जिन लोगो ने पूर्वकाल मे इस प्रकार विचार किया है उनसे सहायता लेकर अपनी समस्याओ को समझना और सुलझाना होगा। अपने जीवन का लक्ष्य और कर्तव्य निर्धारित करना होगा। इसलिये ही भारतीय नीति शास्त्रो मे श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्मनिर्णय ये चार धर्म के पथ प्रदर्शक बतलाये गये हैं। देश, काल, परिस्थिति, सामर्थ्य सभी को ध्यान में रखकर मनुष्य को अपने कर्तव्य का निर्णय करना चाहिये। अन्धा होकर शास्त्र, सदाचार, अथवा अन्तरात्मा की प्रेरणा के अनुसार नही चलना चाहिये। यह बात सदा के लिये ही ठीक है। भारत के नीति विज्ञान में ससार भर के मनुष्यो के लिये आदेश मिल सकता है, क्योंकि वह सर्वांगी है, सार्वभौम है और सब प्रकार की दृष्टियों का इसमें समन्वय हो जाता है। इनमें सर्व साधारण से लेकर अधिक से अधिक ज्ञानी, सबके लिये प्रेरणा मिलती है। इसमे किसी एक आदर्श का, किसी एक मार्ग का, किसी एक भावना का, किसी एक सम्प्रदाय का पक्षपात नही है। इसमें भोग और त्याग, परलोक और इहलोक, स्वार्थ और परहित, आत्मा और परमात्मा में सघर्ष नही है। अन्तोगत्वा दोनो पक्ष एक ही हैं।

अध्याय २८

भारतीय नीति शास्त्र के लिये कुछ सुझाव

ऊपर हम देख चुके हैं कि भारतीय नीति शास्त्र जीवित शास्त्र और समर्थ शास्त्र है। यह जीवाश्म नहीं है। यह अजर और अमर है और उसका भविष्य उसके भूत और वर्तमान से कहीं उज्ज्वल हो सकता है यदि भारतीय विचारक भारतीय दृष्टिकोण से वर्तमान और भविष्य की समस्याओं पर स्वतन्त्र रूप से विचार करना आरम्भ कर दें। भारतीय नीति शास्त्र की आत्मा अमर रहते हुए भी उसको अपना सामयिक और परिवर्तन शील शरीर को नवीन रीति से और नवीन आधारों पर पुष्ट करके उसको स्वस्थ रखना पड़ेगा। आत्मा के अमर होते हुए भी मन और शरीर परिवर्तनशील होते हैं। यदि देश काल और परिस्थितियों के अनुसार उनमें समय-समय पर यथोचित परिवर्तन न हो तो दोनों में दोष आ जाते हैं। मन कुण्ठित और विकृत हो जाता है और शरीर वृद्ध और जर्जर होकर नष्ट हो जाता है। इसलिये भारतीय नीति शास्त्र को चिर नवा बनाये रखने के लिये हम यहाँ पर कुछ सुझाव प्रस्तुत करते हैं।

१—नीति शास्त्र की स्वायत्तता के सम्बन्ध में

अभी तक भारतीय नीति शास्त्र का एक स्वायत्त शास्त्र (Autonomous Science) नहीं है। यह धर्म (Religion) और दर्शन शास्त्रों का ही एक उपांग मात्र है। विचारों के इस सत्या-वृद्धि और स्वतन्त्र स्थापना के युग में नीति शास्त्र को केवल धर्म शास्त्र और दर्शन शास्त्र का उपजीवी और उपांग मात्र नहीं रहना चाहिए। धर्म केवल श्रद्धा और विश्वास के आधारों पर स्थित रहता है और दर्शन बौद्धिक कल्पनाओं के आधार पर। इन दोनों में मतभेद पाये जाते हैं और पाये जाते रहेंगे क्योंकि उनकी प्राय सभी समस्यायें साधारण अनुभव से परे की हैं। नीति की समस्या जीवन की जीती-जागती और सामयिक समस्यायें होती हैं जिनके ऊपर प्रत्येक व्यक्ति को पग-पग पर निर्णय करने की आवश्यकता है। प्रत्येक मानव धार्मिक हो या न हो दार्शनिक हो या न हो पर उसे नैतिक तो होना ही पड़ता है। धार्मिक और दार्शनिक विश्वासों और दृष्टिकोणों के बदलने से क्या मनुष्यों का परस्पर सम्बन्ध और व्यवहार भी बदल जाना चाहिए? आज के युग में सभी धर्मों के

अनुयायी, सभी दार्शनिक मतो के मानने वाले, एक ही साथ रहते हैं और उनके ऐहिक जीवन की समस्याएँ एक सी हैं। सबका सबके साथ सम्पर्क और व्यवहार सदा और सब जगह होता है, रहता है। इसलिये इस बात की परम आवश्यकता है कि भारत में हम एक ऐसे नीति शास्त्र या आचार शास्त्र का निर्माण करे जो धर्म और दर्शनो के भेदो से अप्रभावित होकर जीवन की व्यावहारिक समस्याओ पर विचार करके एक नई और समयोचित जीवन कला को जन्म दे सके।

२—भारतीय नीति शास्त्र के मानवोपयोगी होने के सम्बन्ध में

इसमें कोई सन्देह नही है कि सदा से ही भारतीय नीति शास्त्र मानव मात्र का नीति शास्त्र रहा है जिसमें मानव मात्र के कल्याण की बातें सोची गई हैं और मानव का अन्य प्राणियो के साथ भी क्या सम्बन्ध और उसके उनके प्रति क्या कर्त्तव्य हैं इस पर भी विचार किया गया है। पर चूंकि भारत का ससार के और देशो मे इतना सम्पर्क नही था जितना कि आज हैं। आज भारत का सम्बन्ध उन देशो से भी है जिनके धार्मिक विश्वास और दार्शनिक मत भारत के विश्वासो और मतो से सर्वथा भिन्न हैं। जडवादी, अनीश्वरवादी और इहलोकवादी रूसियो तथा इस्लाम के अनुयायी पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान, अरब और तुर्की के वासियो और ईसाई धर्म के अनुयायी योरुपियन और अमेरिकन देशो के रहने वालो से आज भारतीयो का पारस्परिक व्यवहार, लेन-देन, मिलन-चिलन का प्रतिदिन का सम्बन्ध है। भारतीय नीति शास्त्र की पृष्ठभूमि सर्वथा भारतीय है। इसकी परम्पराओ, विश्वासो और रूढियो से ओतप्रोत होने के कारण हमको आज यह कहना पडता है कि भारतीय नीति शास्त्र रूसी, इस्लामी, ईसाई और पाश्चात्य वैज्ञानिक नीति शास्त्रो से भिन्न है। आज के युग में नीति शास्त्र में इस प्रकार की भिन्नता का पाया जाना नीति शास्त्रो की प्राचीनता और असामयिकता का द्योतक है। आज मानव मात्र के लिय, समस्त मानव समाज के लिये, ऐसे नीति शास्त्र या आचार शास्त्र के रचने की आवश्यकता है जिसको सब लोग अपना सकें, जिसमे किसी देश की गन्ध न हो, जो किसी प्राचीन धर्म या सस्कृति के रग में रँगा हुआ न हो, जिसमें मानव मात्र की गहन से गहन तक नैतिक समस्याओ पर इस प्रकार विचार हो कि वह मानव मात्र के लिये आकर्षक और रुचिकर हो।

३—नीति के प्रमाणों के सम्बन्ध में

भारतीय नीति शास्त्र ने वेद, स्मृति और महापुरुषो के आचरण नीति के तीन महास्रोत या परम प्रमाण माने हैं। हमको आज के युग में इन पर खूब विचार करके इनको बदलना या इनके अर्थ को बदलना चाहिए। भारत में ही, और देशो का तो कहना ही क्या, सब लोग वेदो को नीति का परम प्रमाण नही मानते। बौद्ध, जैन, मुसलमान, ईसाई

पशुपी, चार्वाक के अनुयायी अज्ञानिक, कोई भी वेद को प्रमाण नहीं मानते। वे सब भारतीय हैं। इसलिये भारतीय नीति शास्त्र का स्रोत वेद नहीं माना जा सकता। सभी हिन्दू भी वेद को परम प्रमाण नहीं मानते। जो मानते भी हैं वे वेद में क्या है यह तक नहीं जानते। बहुत से हिन्दुओं ने तो वेदों की पुस्तकों को भी नहीं देखा पढ़ना तो दूर रहा। जो वेदों को पढ़ते भी हैं वे उनका अर्थ और अभिप्राय ही नहीं समझते। वेद के अर्थों के सम्बन्ध में बड़े-बड़े वैदिक विद्वानों में भी अत्यन्त मतभेद है। इन सब कारणों से वेदों को नीति ज्ञान का परम प्रमाण मानना केवल उपहास मात्र है। वेद में हमारी आधुनिक नैतिक समस्याओं पर प्रकाश डालने की कहाँ तक क्षमता है यह तो वैदिक विद्वान् जानें पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आज का कोई मनुष्य अपनी नैतिक उलझनों को सुलझाने के लिए चाहे वह कट्टर हिन्दू या वैदिक विद्वान् क्यों न हो वेदों की शरण नहीं लेता।

प्राचीन स्मृतियों के सम्बन्ध में भी यह कहना अनुचित न होगा कि वे आजकल की और व्यक्तिगत नैतिक समस्याओं पर हमारा पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकती भले ही उन्होंने प्राचीन कालों में जबकि वे लिखी गई थी और उनका जिसके लिये वे लिखी गई थी ऐसा किया हो। किसी विशेष युग, देश जाति के लिये लिखी हुई स्मृति (Code of Laws) जिसमें सविस्तार उस देश और काल और जाति के व्यक्तियों के पालन करने के लिये नियम लिखे हों भला दूसरे समय में दूसरे देशों में और दूसरी जातियों के व्यक्तियों के लिये कैसे पथ प्रदर्शक हो सकती है? इसलिए आज के भारतीय या पार्थिव मानव के लिये कोई स्मृति भी नैतिक प्रमाण नहीं मानी जा सकती। यही महान पुरुषों के आचरण की बात। महान् पुरुषों के आचरण साधारण पुरुषों का पथ-प्रदर्शन कभी नहीं कर सकते, क्योंकि वे महान नहीं हैं, साधारण हैं। महान पुरुषों के आचरण भी देश काल परिस्थिति और शक्ति से अनुमित होते हैं। उनका सदा सर्वत्र और सबके लिये अनुकरण नहीं हो सकता। और गहरे अध्ययन करने पर महापुरुषों के चरित्रों में भी अनैतिकता का आभास होता है और उसकी कम जाती है। उनके चरित्र में भी बहुत सी बातें ऐसी होती हैं जिनका साधारण आदमी को अनुकरण नहीं करना चाहिए। महापुरुषों का रास्ता अपना ही होता है और वे उसको अपनी ही बुद्धि द्वारा निकाल कर उस पर चलते हैं। वह हमारे काम का नहीं होता। आज के युग में राम हरिश्चन्द्र शिबि दधीचि कृष्ण बुद्ध, राणा प्रताप और शिवाजी का अनुकरण करना मूर्खता कहलायेगा।

चौथा प्रमाण जो भारतीय नीति शास्त्र में माना गया है वह भी असमर्थ और असंगत नहीं है। अपने आपको जो पसन्द हो (स्वस्य चप्रियमात्मनः) वह सदा नैतिक नहीं हो सकता। नैतिक बनने के लिये हमको सदा अपने आप को पसन्द आने वाले कामों को करने से पूर्व उनकी नैतिकता की परीक्षा करके उनको करने का निश्चय कर लेना चाहिए।

मनमानी और मन चाही बातें सदा नैतिक नही हुआ करती। चोर, जार, डाकू, हत्यारा, कपटी और धूर्त विना नैतिक विचार किये ही तो मन चाही किया करते हैं, जिससे दूसरो को और समाज को हानि पहुँचती है।

इन सव प्रमाणो के स्थान पर बौद्धिक विचार को ही नीति का प्रमाण मान लेना उचित है। बौद्धिक विचार व्यक्ति, परिस्थिति, देश, काल और उद्देश्य आदि के आधार पर निष्पक्ष भाव से और शुद्ध जिज्ञासा से होना चाहिए।

४—धार्मिक आधारो के सम्बन्ध में

जीवन यात्रा के लिये धार्मिक विश्वासो की आवश्यकता पडती है, क्योकि न विज्ञान ही जीवन और ससार को पूर्णतया जानता है और न दार्शनिक कल्पनाएँ ही पूर्णतया सन्तोष-जनक होती हैं। पर आज के युग में ऐसे विश्वासो की आवश्यकता है जिनका विज्ञान के निर्णयो से विरोध न हो, और न वे परस्पर विरोधी हो और न बौद्धिक नियमो का तिरस्कार करते हो। ऐसे विश्वास कम से कम होने चाहिए। नीति शास्त्र के लिये वे कौन आधार हैं जिनको हम धार्मिक कह सकते हैं? यद्यपि यह सर्वथा और सबके लिये आवश्यक नही है पर अधिकाश मनुष्यो के लिये नैतिक वनना कठिन है, यदि उनके हृदय में यह विश्वास नही कि ससार की रचना और इसका प्रवाह ऐसा है कि इसमें नैतिक वनन में ही मानव का कल्याण है। प्रत्येक व्यक्ति जैसा करता है वैसा भोगता है। अन्ततोगत्वा ससार में न्याय होता है और सत्य की जय होती है। इस विश्वास को प्राचीन काल में ऋत कहते थे। आजकल के पाश्चात्य विद्वान् इसको ससार की नैतिक व्यवस्था (Moral order) कहते हैं। यदि यह ससार या मानव जीवन ऐसा बना हुआ हो कि यहाँ पर नैतिक जीवन और अनैतिक जीवन दोनो का परिणाम एक सा ही हो तो कौन नैतिक नियमो का पालन करना चाहेगा। कर्मफल के नियम में किसी न किसी प्रकार का विश्वास नैतिक वनने के लिये आवश्यक है। दूसरा आवश्यक विश्वास यह भी है कि यदि इस जीवन में शुभ कर्मो का शुभ फल नही मिलता तो और आगे चलकर कही और स्थान पर और जन्म में मिलता होगा। जीवन का अविच्छिन्न प्रवाह और कर्मफल का नियम ये दो विश्वास मनुष्य के हृदय में हुए विना मनुष्य का नैतिक बनना असम्भव-सा दिखाई पडता है।

५—दार्शनिक आधारों के सम्बन्ध में

नैतिक जीवन के लिये यह आवश्यक-सा प्रतीत होता है कि मनुष्य इस पर विचार करे कि यह ससार क्या है, इसमें उसका क्या स्थान है और उसके जीवन का क्या उद्देश्य है? ये सव प्रश्न दार्शनिक हैं, अतएव इनके सम्बन्ध में किसी दार्शनिक दृष्टि को बनाये विना मनुष्य का नैतिक वनना कठिन है। ऐसा मनुष्य जिसकी कोई जीवन दृष्टि ही नही है बे-पेंदी का लोटा या हवा का रुख बतलाने वाला लोहे का मोर है। प्रत्येक मनुष्य को

स्वयं सोच-विचार कर अपने जीवन के ध्येय को निश्चित करना ही चाहिए। नैतिक जीवन तो एक प्रकार की साधना है स्वयं ध्येय नहीं। यदि इसको कुछ लोग ध्येय ही मानते हैं तो यह भी एक दार्शनिक दृष्टि ही है। किसी मनुष्य की क्या दार्शनिक दृष्टि हो यह उसके अपने स्वतंत्र विचार पर निर्भर होनी चाहिए। इतना यहाँ पर कहा जा सकता है कि दार्शनिक दृष्टि के निर्माण करने के लिये मनुष्य को केवल स्थूल और भौतिक जगत् को ही ध्यान में न रखकर इसके सूक्ष्म अप्रत्यक्ष और आन्तरिक रूप को भी जोकि मनुष्य के अपने अन्दर अनुभव में आता है ध्यान में रखकर सोचना चाहिए।

६—मनोवैज्ञानिक आधारों के सम्बन्ध में

नैतिक बनने के लिए यह परम आवश्यक जान पड़ता है कि मनुष्य अपने कर्म स्वातन्त्र्य और उत्तरदायित्व को माने। जो लोग ईश्वर दैव विधि शैतान आदि को अपने कर्मों के नियामक या प्रेरक मानते हैं वे कभी नैतिक जीवन का निर्माण नहीं कर सकते। भारतीय नीति शास्त्रों में इस विषय में बहुत मतभेद है। यह सब भारत में प्रचलित अनेक धार्मिक विश्वासों और दार्शनिक मतों के कारण है। यद्यपि आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान भी भौतिक विज्ञानों से प्रभावित होने के कारण आत्म-स्वतंत्रता को नहीं मानता पर यह तो आत्मा और मन की भी कोई सत्ता नहीं मानता इसलिए नीति शास्त्र को उससे प्रभावित होने की आवश्यकता नहीं है।

७—पुरुषार्थों के सम्बन्ध में

भारतीय नीति शास्त्रों में जीवन के जो चार पुरुषार्थ माने गये हैं उनके सम्बन्ध में हमको पुनः विचार करना होगा और इस युग में जिन मूल्यों का महत्त्व हो गया है उनका समावेश भी पुरुषार्थों में करना होगा। आज का व्यक्ति इस जीवन के पश्चात् परलोक के जीवन के सम्बन्ध में चिंता नहीं करता न वह मरने के पश्चात् मुक्ति पाने की ही इच्छा करता है। कुछ लोग प्राचीन काल में भी नहीं करते थे। इसलिये ही उन्होंने पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म अर्थ काम मोक्ष) के स्थान पर त्रिवर्ग अर्थात् धर्म अर्थ और काम को ही जीवन के ध्येय माना था। आज का मनुष्य तो अर्थ और काम के सिवाय और कुछ जानता ही नहीं। उसको सब प्रकार की युक्तियों से यह समझना चाहिए कि जीवन में नैतिकता की क्या आवश्यकता है। केवल यह कह देने से काम नहीं चलेगा कि धर्म भी एक पुरुषार्थ है। वास्तव में धर्म या नैतिकता पुरुषार्थ नहीं है, साधन मात्र है। साधन भी इस प्रकार का नहीं कि उसके बिना अर्थ और काम प्राप्त नहीं होते। वह साधन है सुखी जीवन का और सुव्यवस्थित समाज के स्थापना का।

इन सब बातों से यह सोचना है कि इस युग में जीवन का क्या उचित उद्देश्य हो सकता है जिसके सम्पादन करने के लिये मनुष्य को सदाचारी या नैतिक बनना चाहिए।

विचार करने पर यही समझ में आता है कि पूर्णतया सुखी जीवन ही मनुष्य जीवन का ध्येय होना चाहिये। आधुनिक समय मे जीवन को पूर्णतया सुखी बनाने के लिये अनेक बातो की आवश्यकता है, उनमें से कुछ ये हैं—१—शारीरिक स्वास्थ्य, २—मानसिक स्वास्थ्य और शान्ति, ३—आत्मज्ञान और आत्मभाव स्थिति, ४—स्वतन्त्रता, ५—आर्थिक आत्मनिर्भरता, ६—जीवन की नैसर्गिक या प्राकृतिक आवश्यकताओ और इच्छाओं की पूर्ति के साधन—भोजन, वस्त्र, घर, परिवार आदि, ७—असानी, कुशलता, सुख और आराम देने वाले आधुनिक यन्त्र यथा सोने की मशीन, स्त्री करने का यन्त्र विजली के पखे, प्रकाश साधन और तापक साधन, रेडियो, रेफ्रीजेटर, साइकिल, मोटरकार आदि अनेक वस्तुऐं, ८—एक सुव्यवस्थित न्यायाधारित और सम्पन्न समाज जिसमें मनुष्य रहकर जीवन बिताना पसन्द करे। ९—कोई व्यवसाय जिसमें वह लगा रहे और जिसके द्वारा वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये पर्याप्त मात्रा में धन कमा सके, जो उसकी रुचि के अनुकूल हो और जिसमें उसका काल यापन विना दुख और थकान के अनुभव किये हो सके, १०—व्यवसाय सम्बन्धी कामो को कर चुकने के पश्चात् मनुष्य विनोद भी चाहता है। विना विनोद के जीवन एक भार-सा हो जाता है। मनुष्य की काम वासना की पूर्ति भी विनोद के अन्तर्गत है। विनोद में आमोद और प्रमोद दोनो ही होते हैं। ११—इतना खाली समय कि वह अपने सब प्रकार के ज्ञानो की वृद्धि कर सके और जीवन और ससार की समस्याओ पर सोच-विचार कर सके। ये दस बातें ऐसी हैं जिनको आधुनिक समय के प्राय सभी मनुष्य चाहते हैं और जिनके प्राप्त न होने पर जीवन के पूर्ण सुख में कमी रह जाती है। आधुनिक मनुष्य जीवनोपरान्त मुक्ति नही चाहता। हाँ जीवन्मुक्ति जिसमें इसी जीवन में वह अवस्था प्राप्त हो जाय कि जिसमें निरूपाधि और निःसीम परमानद का अनुभव होता रहे अवश्य ही उसके लिये आकर्पक अवस्था है। सासारिक सुख होते हुए भी यदि जीवन्मुक्ति का अनुभव हो सके तो इससे बढ़कर जीवन का आधुनिक मनुष्य के लिये कोई ध्येय नही है। यदि ये सब वस्तुऐं मनुष्य को अपने आप ही प्राप्त होती और यदि ससार में एक ही मनुष्य होता और उसको अबाधित रूप से ये सब वस्तुऐं यथेच्छ मात्रा और सख्या में प्राप्त हो जाती तो उसे नैतिक होने की कोई आवश्यकता ही न होती। पर चूंकि इस जगत में असख्य मनुष्य हैं जो सब यही वस्तुऐं चाहते हैं और असख्य ऐसे प्राणी हैं जो मनुष्यो के इनके प्राप्त करने में बाधक होते हैं, और इनके प्राप्त करने में अनेक प्राणियो और मनुष्यो का सहयोग भी लेना पडता है। उनके साथ किसी प्रकार का सामन्जस्य और समझौता करना पडता है। कुछ व्यक्तियो को अपने सुखो के साधन भी बनाना पडता है और कुछ को अपने आप साधन बनना पडता है। इसलिये ही मनुष्य को यह सोचना पडता है और निश्चित करना होता है किस प्रकार वह आचरण करे कि उसका जीवन पूर्ण-

स्वयं सोच-विचार कर अपने जीवन के ध्येय को निश्चित करना ही चाहिए। नैतिक जीवन तो एक प्रकार की साधना है स्वयं ध्येय नहीं। यदि इसको कुछ लोग ध्येय ही मानते हैं तो यह भी एक दार्शनिक दृष्टि ही है। किसी मनुष्य की क्या दार्शनिक दृष्टि हो यह उसके अपने स्वतन्त्र विचार पर निर्भर होनी चाहिए। इतना यहाँ पर कहा जा सकता है कि दार्शनिक दृष्टि के निर्माण करने के लिये मनुष्य को केवल स्थूल और भौतिक जगत् को ही ध्यान में न रखकर इसके सूक्ष्म अप्रत्यक्ष और आन्तरिक रूप को भी जोकि मनुष्य के अपने अन्दर अनुभव में आता है, ध्यान में रखकर सोचना चाहिए।

१—मनोवैज्ञानिक आधारों के सम्बन्ध में

नैतिक बनने के लिए यह परम आवश्यक जान पड़ता है कि मनुष्य अपने कर्म स्वातन्त्र्य और उत्तरदायित्व को माने। जो लोग ईश्वर, दैव विधि शैतान आदि को अपने कर्मों के नियामक या प्रेरक मानते हैं वे कभी नैतिक जीवन का निर्माण नहीं कर सकते। भारतीय नीति शास्त्रों में इस विषय में बहुत मतभेद है। यह सब भारत में प्रचलित अनेक धार्मिक विश्वासों और दार्शनिक मतों के कारण है। यद्यपि आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान भी भौतिक सिद्धान्तों से अनुप्रेरित होने के कारण आत्म-स्वतंत्रता को नहीं मानता पर वह तो आत्मा और मन की भी कोई सत्ता नहीं मानता इसलिए नीति शास्त्र को उससे प्रभावित होने की आवश्यकता नहीं है।

२—पुरुषार्थों के सम्बन्ध में

भारतीय नीति शास्त्रों में जीवन के जो चार पुरुषार्थ माने गये हैं उनके सम्बन्ध में हमको पुनः विचार करना होगा और इस युग में जिन मूल्यों का महत्त्व हो गया है उनका समावेश भी पुरुषार्थों में करना होगा। आज का व्यक्ति इस जीवन के पश्चात् परलोक के जीवन के सम्बन्ध में चिंता नहीं करता न वह मरने के पश्चात् मुक्ति पाने की ही इच्छा करता है। कुछ लोग प्राचीन काल में भी नहीं करते थे। इसलिये ही उन्होंने पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म अर्थ काम मोक्ष) के स्थान पर त्रिवर्ग अर्थात् धर्म अर्थ और काम को ही जीवन के ध्येय माना था। आज का मनुष्य तो अर्थ और काम के सिवाय और कुछ जानता ही नहीं। उसको सब प्रकार की युक्तियों से यह समझाना चाहिए कि जीवन में नैतिकता की क्यों आवश्यकता है। केवल यह कह देने से काम नहीं चलेगा कि धर्म भी एक पुरुषार्थ है। वास्तव में धर्म या नैतिकता पुरुषार्थ नहीं है, साधन मात्र है। साधन भी इस प्रकार का नहीं कि उसके बिना अर्थ और काम प्राप्त नहीं होते। वह साधन है सुखी जीवन का और सुव्यवस्थित समाज के स्थापना का।

इन सब कारणों से यह सोचना है कि इस युग में जीवन का क्या उचित उद्देश्य हो सकता है जिसके सम्पादन करने के लिये मनुष्य को सदाचारी या नैतिक बनना चाहिए।

विचार करने पर यही समझ में आता है कि पूर्णतया सुखी जीवन ही मनुष्य जीवन का ध्येय होना चाहिये। आधुनिक समय मे जीवन को पूर्णतया सुखी बनाने के लिये अनेक बातो की आवश्यकता है, उनमें से कुछ ये हैं—१—शारीरिक स्वास्थ्य, २—मानसिक स्वास्थ्य और शान्ति, ३—आत्मज्ञान और आत्मभाव स्थिति, ४—स्वतत्रता, ५—आर्थिक आत्मनिर्भरता, ६—जीवन की नैसर्गिक या प्राकृतिक आवश्यकताओ और इच्छाओ की पूर्ति के साधन—भोजन, वस्त्र, घर, परिवार आदि, ७—आसानी, कुशलता, सुख और आराम देने वाले आधुनिक यत्र यथा सोने की मशीन, स्त्री करने का यत्र विजली के पखे, प्रकाश साधन और तापक साधन, रेडियो, रेफ्रीजेटर, साइकिल, मोटरकार आदि अनेक वस्तुऐं, ८—एक सुव्यवस्थित न्यायाधारित और सम्पन्न समाज जिसमें मनुष्य रहकर जीवन विताना पसन्द करे। ९—कोई व्यवसाय जिसमें वह लगा रहे और जिसके द्वारा वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये पर्याप्त मात्रा में धन कमा सके, जो उसकी रुचि के अनुकूल हो और जिसमें उसका काल यापन विना दुख और थकान के अनुभव किये हो सके, १०—व्यवसाय सम्बन्धी कामो को कर चुकने के पश्चात् मनुष्य विनोद भी चाहता है। विना विनोद के जीवन एक भार-सा हो जाता है। मनुष्य की काम वासना की पूर्ति भी विनोद के अन्तर्गत है। विनोद मे आमोद और प्रमोद दोनो ही होते हैं। ११—इतना खाली समय कि वह अपने सब प्रकार के ज्ञानो की वृद्धि कर सके और जीवन और ससार की समस्याओ पर सोच-विचार कर सके। ये दस बातें ऐसी हैं जिनको आधुनिक समय के प्राय सभी मनुष्य चाहते हैं और जिनके प्राप्त न होने पर जीवन के पूर्ण सुख में कमी रह जाती है। आधुनिक मनुष्य जीवनोपरान्त मुक्ति नही चाहता। हाँ जीवन्मुक्ति जिसमें इसी जीवन में वह अवस्था प्राप्त हो जाये कि जिसमें निरूपाधि और नि सीम परमानद का अनुभव होता रहे अवश्य ही उसके लिये आकर्षक अवस्था है। सासारिक सुख होते हुए भी यदि जीवन्मुक्ति का अनुभव हो सके तो इससे बढ़कर जीवन का आधुनिक मनुष्य के लिये कोई ध्येय नही है। यदि ये सब वस्तुएँ मनुष्य को अपने आप ही प्राप्त होती और यदि ससार में एक ही मनुष्य होता और उसको अबाधित रूप से ये सब वस्तुएँ यथेच्छ मात्रा और सख्या में प्राप्त हो जाती तो उसे नैतिक होने की कोई आवश्यकता ही न होती। पर चूंकि इस जगत में असख्य मनुष्य हैं जो सब यही वस्तुएँ चाहते हैं और असख्य ऐसे प्राणी हैं जो मनुष्यो के इनके प्राप्त करने में वाधक होते हैं, और इनके प्राप्त करने में अनेक प्राणियो और मनुष्यो का सहयोग भी लेना पडता है। उनके साथ किसी प्रकार का सामन्जस्य और समझौता करना पडता है। कुछ व्यक्तियों को अपने सुखो के साधन भी बनाना पडता है और कुछ को अपने आप साधन बनना पडता है। इसलिये ही मनुष्य को यह सोचना पडता है और निश्चित करना होता है किस प्रकार वह आचरण करे कि उसका जीवन पूर्ण-

तथा सुखी हो सकें। इसी प्रकार के जीवन को नैतिक जीवन कहते हैं। जिन नियमों का इसी उद्देश से पालन करना पड़ता है उन्हें ही धार्मिक नैतिक या सदाचार के नियम कह सकते हैं।

८—नैतिक नियमों के सम्बन्ध में

नैतिक नियम मनुष्यों के बनाये हुए कानूनों की तरह ऐसे नहीं हैं कि उन्हें मनुष्य जब चाहे तब बदल दे और किसी समय की प्राप्ति के लिये जो चाहे नियम बना ले। वे वे नियम हैं जिनको बनाना नहीं पड़ता बल्कि जानना और ढूंढना पड़ता है। वे नियम सनातन सार्वभौम और सबको मान्य होने चाहिये। वे ऐसे नियम होने चाहिये जिनको यदि सब लोग पालन करें तो सब का ही कल्याण हो, सब ही सुखी रह सकें और किसी को भी कष्ट न हो। समस्त समाज सुव्यवस्थित रहे। उन नियमों को ढूंढना ही नीति शास्त्र का विशेष कर्तव्य होना चाहिये।

संसार के सभी देशों और शास्त्रों में नैतिक नियमों को जानने का प्रयत्न किया गया है और प्रायः सभी देशों और समयों के ज्ञानियों ने मनुष्य जीवन को यथोचित रूप से चलाने के लिए नियम ढूंढे और बताये हैं। आजकल का मनुष्य पुराने समय की उपदेशात्मक बातें सुनना पसन्द नहीं करता। इसलिये धर्म के सम्बन्ध में भी उसको आधुनिक ढंग से ही शिक्षित करना पड़ेगा। आधुनिक मनुष्य को सुखी और समाज को सुव्यवस्थित बनाने के लिए ये नियम बतलाये जा सकते हैं—

१—प्रत्येक काम के करने के पूर्व यह सोच लेना चाहिये कि उसके करने से अपने ऊपर तथा दूसरे व्यक्तियों के ऊपर उसका क्या प्रभाव पड़ सकता है। बिना यह विचार किये हुए कोई काम केवल किसी [illegible] मानसिक भाव काम क्रोध लोभ प्रेम ईर्ष्या, अभिमान बदला लेने की भावना दया करुणा आदि के आवेश में आकर नहीं करना चाहिए। प्रत्येक काम के सभी सम्भावित परिणामों को जानकर और उनको अपनाने के लिये प्रस्तुत होकर उसको करने का निश्चय करना चाहिये।

२—ऐसे काम न करने चाहिए जिनको करके कभी पछताना पड़े।

३—ऐसे काम न करने चाहिए जिनसे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ने का अन्देशा हो और जिनसे समाज का सन्तुलन बिगड़े या उसकी व्यवस्था पर आघात पहुँचे।

४—ऐसे काम नहीं करने चाहिये जिनका अनुकरण यदि दूसरे लोग करें तो आपको अच्छा न लगे।

५—दूसरों के प्रति ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये जैसा यदि वे आपके प्रति करें तो आपको अच्छा न लगे और सदा दूसरों के प्रति उस प्रकार का व्यवहार करना

चाहिये जैसा दूसरों से अपने प्रति कराना चाहते हों।

६—अधिक से अधिक आत्मज्ञान (शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक ज्ञान) प्राप्त करना चाहिये।

७—अधिक से अधिक संसार के और समाज के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

८—कोई न कोई अपनी रुचि, प्रकृति, क्षमता और योग्यता के अनुसार ऐसा व्यवसाय करना चाहिये जिसकी समाज को आवश्यकता हो और जिसके द्वारा आप अपनी जीवन यात्रा के लिये आवश्यक धन, यश और सम्मान कमा सकें। विना समाज को कुछ दिये कुछ लेने की आशा नहीं करनी चाहिये।

९—अपनी आवश्यकताओं से अधिक धन, सम्पत्ति, भूमि, मकान आदि को एकत्रित करके नहीं रखना चाहिये।

१०—जीवन के एक-एक क्षण को मूल्यवान् समझकर समय को बर्बाद या उसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये।

११—सब प्राणियों के साथ समता, प्रेम और बन्धुत्व का बर्ताव करना चाहिये। यह समझना चाहिये कि सब को इस संसार में रहने और सुख प्राप्त करने का उतना ही हक है जितना किसी दूसरे को।

१२—जहाँ तक हो सके ईमानदारी और न्याय के ऊपर सभी सामाजिक सम्बन्ध और परस्पर व्यवहार स्थापित होने चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से सब का कल्याण होता है।

१३—जितनी स्वतन्त्रता आप अपने लिये चाहते हैं उतनी ही स्वतन्त्रता अपको दूसरों को देने के लिये तैयार रहना चाहिए।

१४—समाज में समानता, सहानुभूति, सहयोग, और सहास्तित्व का साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये। जहाँ तक हो सके आपस के झगड़े आपस में बातचीत करके एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझ कर और एक दूसरे के प्रति श्रद्धा, और उदारता का भाव रखकर तै करने चाहिये।

१५—अनुचित शक्ति और लाभ प्राप्त करने के लिये गुट नहीं बनाने चाहिए।

१६—मानव मात्र ही नहीं प्राणीमात्र के हित को सोचकर ऐसे काम करने चाहिए जिनसे अधिक से अधिक प्राणियों का हित हो सके।

१७—संसार जिस किसी अनन्त और अप्रमेय और अज्ञात शक्ति से चल रहा है उसके प्रति जिज्ञासा, श्रद्धा और विनय का भाव होना चाहिये।

१८—शारीरिक सुखों की अपेक्षा मानसिक, और मानसिक सुखों की अपेक्षा आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति का अधिक प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि वे उत्तरोत्तर अधिक

देर तक रहने वाले अधिक मनोपाधिक अधिक दुख विवर्जित और अधिक सामाजिक होते हैं।

१९—पुरुषों और स्त्रियों को एक दूसरे के भोग सुख और सेवा का साधन नहीं मानना चाहिये। दोनों को समता सहयोग और सहानुभूति से सब काम करने चाहिये।

२०—वृद्धों का आदर, सम्मान सेवा और बच्चों का पालन पोषण और उत्तम से उत्तम और उच्च से उच्च शिक्षा का प्रबन्ध सभी को करना चाहिए।

२१—बिना किसी धार्मिक, साम्प्रदायिक, जातीय देशीय प्रान्तीय, वेष भूषा सम्बन्धी भाषा सम्बन्धी राष्ट्रीय भेद भाव के सब मनुष्यों के साथ अपने जैसा व्यवहार करना चाहिये।

९—समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध में

भारतीय नीति शास्त्र में व्यक्ति का दूसरे व्यक्तियों और प्राणियों के प्रति क्या कर्तव्य है इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ मिलता है। पंच महायज्ञ तीन ऋण अतिथि सत्कार वर्ण धर्म आश्रम धर्म क्षमा दया करुणा अहिंसा सर्वभूत हित अक्रोध मैत्री आदि सामाजिक गुण ही तो हैं, फिर भी आज के युग में इतना ही पर्याप्त नहीं है। आज का समाज बहुत जटिल और प्रभावशाली है। व्यक्ति को आज के समाज से जो मिलता है पहिले युगो में शायद न मिलता रहा हो। विद्यालय महाविद्यालय विश्वविद्यालय पुस्तकालय औषधालय अनेक प्रकार की मशीनें सड़क अखबार, प्रेस सिनेमा रेडियो तार रेल डाकतार और टेलीफोन हवाई यान जलयान गृहमार्ग पुलिस फौज बड़े बड़े कल कारखाने बैंक, सहयोग-संस्थाय समाज-कल्याण संस्थाये आदि अनेक ऐसी वस्तुयें हैं जिनको समाज ने निर्माण किया समाज चलाता है और व्यक्ति उनसे काम उठाता है। व्यक्ति के ऊपर आज समाज का ऋण पहिले युगों से कहीं अधिक है। आज का व्यक्ति सामाजिक संस्थाओ के आधार पर ही जीता है, और सब प्रकार के सुखो और सुविधाओं को भोगता है। इसलिये भारतीय नीति शास्त्रों में जहां देवऋण ऋषिऋण और पितृ-ऋण का भार बता कर उनका नाना क्रियाओ द्वारा चुकाने का उपदेश दिया है आज उसको समाज ऋण बतलाकर उसको चुकाने का उपदेश देना चाहिये। इस ऋ से आज हमको जो कुछ मिल रहा है वह पूर्वकाल के व्यक्तियों ने ही समाज को दिया था। हमारा भी यह कर्तव्य होना चाहिये कि हम भी समाज को कुछ न कुछ देकर सामाजिक संस्थाओं सम्पत्तियों, संस्थानों, और सुविधाओं की उत्पत्ति करें। वैज्ञानिक अनुसंधान करके नई-नई मशीनें बनाकर, नये-नये आविष्कार करके नये और मौलिक अथवा ज्ञान प्रसारक ग्रन्थ लिखकर नाना प्रकार के व्यवसायों को अपनी वैतनिक या अवैतनिक सेवा में देकर चन्दे दान और द्रव्य देकर, सामाजिक सम्पत्ति की रक्षा में सहयोग देकर और अन्य इसी प्रकार के काम

करके हम समाज का ऋण चुका सकते हैं। केवल ऋण चुकाना ही उद्देश्य न होकर हमारा उद्देश्य समाज को अधिक से अधिक देकर उसको अपना ही ऋणी बनाना होना चाहिए। अधिक क्या कहा जाये प्रत्येक मनुष्य की सभी क्रियायें सामाजिक हित की दृष्टि से होनी चाहिए, समाज को अच्छे से अच्छा बनाने के उद्देश्य से होनी चाहिए और समाज से जितना उसको मिलता है उसको ध्यान में रखकर होनी चाहिये।

१०—वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में

पुराने समय की वर्ण व्यवस्था का निर्माण और प्रचार वास्तव में एक सुव्यवस्थित और सुखी समाज बनने के लिये ही किया गया था, और उसने भारतीय समाज को सुदृढ़, स्थिर, और उन्नत बनाने में बहुत काम दिया, यद्यपि वह पूरे तौर से ठीक-ठीक चल नहीं पाया। भारत के ब्राह्मणों ने जितना ज्ञान भण्डार समाज के लिये एकत्रित किया, जितने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे उतने शायद संसार के प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास में किसी देश में नहीं लिखे गये होंगे।

वर्ण व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह था कि समय पाकर यह गुण कर्म और वृत्त के आधार पर न रहकर केवल जन्म के आधार पर हो गया। चार वर्णों के अतिरिक्त इससे अनन्त जातियाँ, जो आरम्भ में तो गुण, कर्म और वृत्त के आधार पर ही बनी थी, पीछे चलकर जन्म के आधार पर चल गई। समाज में व्यक्ति स्वातंत्र्य और व्यक्ति और समाज दोनों की प्रगतिशीलता समाप्त होकर समाज एक जकड़ने वाला ढांचा मात्र बन गया। आज के युग में पुरानी चाल की वर्ण व्यवस्था का कोई अर्थ ही नहीं है, न उसकी कोई उपयोगिता ही है। आज का समाज बड़ा जटिल, परिवर्तनशील और उन्नत समाज है। इसमें केवल चार प्रकार के ही व्यवसाय नहीं हैं, अनन्त प्रकार के व्यवसाय है जिनका वर्गीकरण करना कठिन है। कौन सा व्यवसाय ब्राह्मण वर्ग का है, कौन सा क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र वर्ग का है यह कहना असम्भव है। जातियों के आधार पर व्यवसायों को बाँटना असम्भव है। आजकल कोई भी काम ऐसा नहीं है जो कम बुद्धि वाले, बिना पढ़े-लिखे या अशुचि और अकिन्चन लोग कर सकें। सब व्यवसायों में बुद्धि, विद्या, धन और अध्यवसाय की जरूरत है।

प्राचीन वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था को जो सबसे निकृष्ट देन भारत को मिली वह थी शूद्र जातियाँ और उनके प्रति घृणा का भाव और उनको नीच समझने का रिवाज, जिसने कि भारत के अगण्य स्त्री और पुरुषों को शूद्र कह कर और उनको ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के व्यवसाय करने से वंचित करके सहस्रों और लाखों कलियों को पुष्प रूप में परिणत होने से वंचित करके भारतीय समाज को बलहीन बना दिया। जिन शूद्र जातियों में उत्पन्न हुये लोगों को कुछ अवसर मिला, या भीतर बाहर से प्रोत्साहन मिला, उन्होंने प्राचीन और मध्य काल में भी ब्राह्मणों से भी अधिक सात्विकता का परिचय दिया।

देर तक रहने वाले अधिक अनोपाधिक, अधिक दुःख निवर्जित और अधिक सामाजिक होते हैं।

१९—पुरुषों और स्त्रियों को एक दूसरे के भोग सुख और सेवा का साधन नहीं मानना चाहिये। दोनों को समता सहयोग और सहानुभूति से सब काम करने चाहिये।

२०—वृद्धों का आदर, सम्मान सेवा और बच्चों का पालन पोषण और उत्तम से उत्तम और उच्च से उच्च शिक्षा का प्रबन्ध सभी को करना चाहिए।

२१—बिना किसी धार्मिक साम्प्रदायिक, जातीय देशीय, प्रान्तीय, वेष भूषा सम्बन्धी भाषा सम्बन्धी राष्ट्रीय भेद भाव के सब मनुष्यों के साथ अपने जैसा व्यवहार करना चाहिये।

९—समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध में

भारतीय नीति शास्त्र में व्यक्ति का दूसरे व्यक्तियों और प्राणियों के प्रति क्या कर्तव्य है इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ मिलता है। पंच महायज्ञ, तीन ऋण अतिथि सत्कार वत धर्म आश्रम धर्म क्षमा दया करुणा अहिंसा सर्वभूत हित अक्रोध मैत्री आदि सामाजिक गुण ही तो हैं, फिर भी आज के युग में इतना ही पर्याप्त नहीं है। आज का समाज बहुत जटिल और प्रभावशाली है। व्यक्ति को आज के समाज से जो मिलता है पहिले युगों में शायद न मिलता रहा हो। विद्यालय महाविद्यालय विश्वविद्यालय, पुस्तकालय संग्रहालय अनेक प्रकार की पत्रिकायें अखबार, प्रेस, सिनेमा रेडियो तार रेल डाकतार और टेलीफोन हवाई मार्ग अस्पताल नुमायशें पुलिस फौज बड़े बड़े कल कारखाने बैंक, सहयोग-संस्थायें समाज-कल्याण संस्थायें आदि अनेक ऐसी वस्तुयें हैं जिनको समाज ने निर्माण किया समाज चलाता है और व्यक्ति उनसे लाभ उठाता है। व्यक्ति के ऊपर आज समाज का ऋण पहिले युगो से कहीं अधिक है। आज का व्यक्ति सामाजिक संस्थाओं के आधार पर ही जीता है, और सब प्रकार के सुखों और सुविधाओं को भोगता है। इसलिये भारतीय नीति शास्त्रों में जहां देवऋण ऋषिऋण और पितृ ऋण का भार बता कर उनको नाना क्रियाओ द्वारा चुकाने का उपदेश दिया है आज उसको समाज ऋण बतलाकर उसको चुकाने का उपदेश देना चाहिये। इस ऋ से आज हमको जो कुछ मिल रहा है यह पूर्वकाल के व्यक्तियो ने ही समाज को दिया था। हमारा भी यह कर्तव्य होना चाहियें कि हम भी समाज को कुछ न कुछ देकर सामाजिक संस्थाओं सम्पत्तियों, संस्थानों और सुविधाओं की उन्नति करें। वैज्ञानिक अनुसंधान करके नई-नई मशीनें बनाकर, नये-नये आविष्कार करके नये और मौलिक अथवा ज्ञान प्रसारक ग्रन्थ लिखकर नाना प्रकार के व्यवसायो को अपनी वैतनिक या अवैतनिक सेवा में देकर धन दान और रक्त देकर, सामाजिक सम्पत्ति की रक्षा में सहयोग देकर और अन्य इसी प्रकार के काम

इसी प्रकार जाति का अर्थ है जन्म। आजकल के मनोवैज्ञानिकों ने यह मान लिया है कि प्रत्येक व्यक्ति में जन्मजात प्रवृत्तियाँ अभिरुचियाँ और विशेषतायें हुआ करती हैं। उनको समझकर और उनके अनुसार यदि कोई व्यवसाय किया जाता है तो मनुष्य अधिक सफल होता है। इसलिये यह उचित ही है कि प्रत्येक बालक के जन्मजात गुणों का अध्ययन करके उसकी व्यवसाय सम्बन्धी शिक्षा होनी चाहिये और उसको उसकी अभिरुचि के अनुसार काम करना चाहिये, क्योंकि उन्हीं कामों को वह उत्तम रीति से कर सकता है जिनके लिये उसकी जन्मजात अभिरुचि है।

इस प्रकार 'जाति' और 'वर्ण' के अनुसार व्यवसायों का प्रबन्ध करना ही सच्ची वर्ण-व्यवस्था है। अपने वर्ण (पसंद) और जाति (जन्मजात अभिरुचि) के अनुसार कुशल से अपने व्यवसाय को करने को ही भगवद्‌गीता में योग कहा गया है ("योग कर्मसु कौशलम्") इस योग की आधुनिक समाज और व्यक्ति दोनों को ही आवश्यकता है। इसलिये ही आजकल व्यवसाय पसन्द (Vocational Choice) और व्यवसाय निदेशन (Vocational Guidance) व्यवसाय शिक्षा (Vocational Training) पर बहुत बल दिया जा रहा है।

११—आश्रम व्यवस्था के सम्बन्ध में

आश्रम व्यवस्था का भी उद्देश्य वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण ही था। इससे भी प्राचीन भारत में बहुत लाभ हुआ। पर इसमें भी बहुत दोष आ गये थे, जिनके कारण यह अपने पुराने रूप में चल न सकी। आज के युग में तो अपने पुराने रूप में यह चल ही नहीं सकती और न इसको चलाने की आवश्यकता ही है। आज पुराने गुरुकुलों के स्थान पर नई प्रकार की शैक्षिक संस्थायें हैं, जो वनों में नहीं है, बड़े-बड़े नगरों में हैं, जिनमें केवल बालक, युवक और पुरुष ही शिक्षा नहीं पाते बल्कि बालिकायें, युवतियाँ, और स्त्रियाँ भी सह शिक्षा पाती हैं, और दिन प्रतिदिन सम्पर्क में आती हैं। परस्पर मिलन, सहयोग, और मित्रता भी उनमें होनी स्वाभाविक ही है। शिक्षा के उस स्तर पर जब कि यौन प्रवृत्तियों का उदय और प्राबल्य होता है उनमें परस्पर यौन सम्बन्ध होना स्वाभाविक और सरल तथा वास्तविक भी है। आज के युग में बच्चे सिनेमा भी देखते हैं। रेडियो पर और उत्सवों आदि में प्रेम के गाने भी सुनते हैं। लड़कियाँ और लड़के एक दूसरे के प्रति आकर्षक बनने के लिये अपने को स्वस्थ, सुन्दर और सुसज्जित भी रखने का प्रयत्न करते हैं। विद्या अभ्यास के अतिरिक्त सब विद्यार्थी खेल कूद, नाटक, वाद-विवाद और सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं में भी भाग लेते ही हैं। आजकल के मनोवैज्ञानिक शरीर विज्ञान, और चिकित्सा विज्ञान के ग्रन्थों में इन्द्रिय निग्रह, मनोनिरोध, और विशेषत: काम वासना के निरोध से उत्पन्न होने वाली बुराइयों और रोगों की अधिक चर्चा है, और वीर्य रक्षा की

अनेक मध्यकालीन सन्त शूद्र जातियों में उत्पन्न और पालित-पोषित हुए थे।

इन सब बातों और अनेक और कारणों से आज के युग में जन्म से या कर्म से भी वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था जिसमें परस्पर विवाह और खान-पान वर्जित हो सर्वथा निरर्थक है। भारतीय नीति शास्त्र को अब उनके विलुप्त हो जाने पर शोक के आँसू नहीं बहाने चाहिए। अब हमको किसी नई व्यवस्था की रचना करनी चाहिये जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव रुचि मन और के अनुसार कोई ऐसा व्यवसाय स्वेच्छा से चुन सके जिसके द्वारा वह समाज की अधिक से अधिक सेवा कर सके और समाज से उसके बदले में अधिक से अधिक धन ख्याति और सम्मान पा सके। हो सकता है कि भारतीय नैतिक नियमों और आदर्शों से अनुप्राणित आधुनिक विचारकों द्वारा प्रतिपादित समाजवादी व्यवस्था ही देश के लिये आजकल की सड़ी हुई और मृत प्राय वर्णव्यवस्था और उसकी सन्तति जाति व्यवस्था से अधिक सुखकर और क्षेमस्कर हो।

प्राचीन वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था के सामाजिक उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए और आजकल के समय की आवश्यकताओं को देखते हुए हमको वर्ण व्यवस्था और जाति प्रथा के प्रचलित अर्थ से दूसरे ही अर्थ लगाने चाहिए जो कि कुछ प्राचीन ग्रन्थों के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं हैं। वर्ण शब्द 'वृ' धातु से बना है जिसके दो अर्थ हैं। एक ढकना और दूसरा चुनना। वर्ण के भी दो अर्थ हैं। एक रंग जो वस्तु के भीतरी स्वरूप को ढक देता है और दूसरा 'चुना हुआ' 'छाँट किया गया' व्यवसाय। आज जिसको हम अंग्रेजी में Vocational Choice पेशे की छाँट या पसन्द कहते हैं वही वर्ण व्यवस्था का मूल आधार है। अर्थात् वर्ण किसी मनुष्य का अपने आप छाँटा हुआ या पसन्द किया हुआ व्यवसाय है। वर्ण व्यवस्था का अर्थ है अनेक व्यवसायों में से किसी एक व्यवसाय को अपने लिये पसन्द करके उसपर दृढ़ रहकर उसके उपयुक्त आचरण करते हुए समाज के हित की दृष्टि से उसको चलाना। प्रत्येक व्यवसाय को स्वार्थ की दृष्टि या और समाज के हित कीदृष्टि से किया जा सकता है। जो मनुष्य दोनों में सन्तुलन करके अपने व्यवसाय को उसके उपयुक्त विशेष सदाचार का पालन करते हुए चलाता है वह वर्ण व्यवस्था का ठीक-ठीक पालन करता है। यथा जिसने शिक्षण का अपना व्यवसाय चुन लिया है उसका ऐसा आचार व्यवहार होना चाहिये जिससे वह योग्य और उत्तम प्रकार का शिक्षक बन सके। वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य यही होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पसन्द किए हुए व्यवसाय को उत्तम से उत्तम रीति से करके समाज की सेवा करे और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धन कमावे। पसन्द कर लेने पर वह व्यवसाय 'स्वधर्म' 'स्वकर्म' बन जाता है। इसी को समाज सेवा और ईश्वर सेवा समझकर उत्तम रीति से करने पर सब प्रकार की सिद्धि होती है। मध्यकालीन सन्तों ने अपने-अपने व्यवसायों को ईमानदारी से करते हुए ही सिद्धि प्राप्त की थी।

इसी प्रकार जाति का अर्थ है जन्मा। आजकल के मनोवैज्ञानिको ने यह मान लिया है कि प्रत्येक व्यक्ति में जन्मजात प्रवृत्तियाँ अभिरुचियाँ और विशेषतायें हुआ करती हैं। उनको समझकर और उनके अनुसार यदि कोई व्यवसाय किया जाता है तो मनुष्य अधिक सफल होता है। इसलिये यह उचित ही है कि प्रत्येक बालक के जन्मजात गुणो का अध्ययन करके उनकी व्यवसाय सम्बन्धी शिक्षा होनी चाहिये और उसको उसकी अभिरुचि के अनुसार काम करना चाहिये, क्योंकि उन्ही कामो को वह उत्तम रीति से कर सकता है जिनके लिये उसकी जन्मजात अभिरुचि है।

इस प्रकार 'जाति' और 'वर्ण' के अनुसार व्यवसायो का प्रबन्ध करना ही सच्ची वर्ण-व्यवस्था है। अपने वर्ण (पसद) और जाति (जन्मजात अभिरुचि) के अनुसार कुशल से अपने व्यवसाय को करने को ही भगवद्गीता मे योग कहा गया है ("**योग कर्मसु कौशलम्**") इस योग की आधुनिक समाज और व्यक्ति दोनो को ही आवश्यकता है। इसलिये ही आजकल व्यवसाय पसन्द (Vocational Choice) और व्यवसाय निदेशन (Vocational Guidance) व्यवसाय शिक्षा (Vocational Training) पर बहुत बल दिया जा रहा है।

११—आश्रम व्यवस्था के सम्बन्ध में

आश्रम व्यवस्था का भी उद्देश्य वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण ही था। इससे भी प्राचीन भारत मे बहुत लाभ हुआ। पर इसमें भी बहुत दोष आ गये थे, जिनके कारण यह अपने पुराने रूप में चल न सकी। आज के युग में तो अपने पुराने रूप में यह चल ही नही सकती और न इसको चलाने की आवश्यकता ही है। आज पुराने गुरुकुलो के स्थान पर नई प्रकार की शैक्षिक सस्थाये हैं, जो वनो में नही है, बडे-बडे नगरो में हैं, जिनमे केवल बालक, युवक और पुरुष ही शिक्षा नही पाते बल्कि बालिकायें, युवतियाँ, और स्त्रियाँ भी सह शिक्षा पाती हैं, और दिन प्रतिदिन सम्पर्क में आती हैं। परस्पर मिलन, सहयोग, और मित्रता भी उनमें होनी स्वाभाविक ही है। शिक्षा के उस स्तर पर जब कि यौन प्रवृत्तियो का उदय और प्राबल्य होता है उनमें परस्पर यौन सम्बन्ध होना स्वाभाविक और सरल तथा वास्तविक भी है। आज के युग में बच्चे सिनेमा भी देखते हैं। रेडियो पर और उत्सवो आदि में प्रेम के गाने भी सुनते हैं। लडकियाँ और लडके एक दूसरे के प्रति आकर्षक बनने के लिये अपने को स्वस्थ, सुन्दर और सुसज्जित भी रखने का प्रयत्न करते हैं। विद्या अभ्यास के अतिरिक्त सब विद्यार्थी खेल कूद, नाटक, वाद-विवाद और सामाजिक और राजनैतिक सस्थाओ में भी भाग लेते ही हैं। आजकल के मनोवैज्ञानिक शरीर विज्ञान, और चिकित्सा विज्ञान के ग्रन्थो में इन्द्रिय निग्रह, मनोनिरोध, और विशेषत काम वासना के निरोध से उत्पन्न होने वाली बुराइयो और रोगो की अधिक चर्चा है, और वीर्य रक्षा की

असम्भवता निर्विकता और दोनों का जहाँ-तहाँ वर्णन है। चाय कॉफी तम्बाकू मांस, मछली अंडा, उत्तेजक पेय और खाद्य पदार्थों का कुप्रभाव छात्रावासों और होटलों में अधिक से अधिक प्रचलन है और इन कामों को करने पर कहीं भी किसी के लिए रोक-टोक नहीं है। इसलिये पुरातन काल के ब्रह्मचर्य आश्रम की आज न सम्भावना ही है और न आवश्यकता ही है।

वैसे आज के युग में पुरानी प्रकार व्यवस्था नहीं हो सकती वैसे ही पुरानी चाल का सन्यास और वानप्रस्थ भी नितान्त असम्भव है और अनावश्यक भी है। आजकल वानप्रस्थी हो या सन्यासी केवल नाममात्र के हैं। उनको अच्छे और अप-टू-डेट मकानों की सवारी की आराम के उपकरणों की शिष्य और शिष्याओं और धन-सम्पत्ति की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि गृहस्थियों को है। वानप्रस्थ और सन्यासियों के यहाँ जो योग्य वस्तुयें और सुख सामग्रियां मिल सकती हैं वे गृहस्थियों के यहाँ दुर्लभ हैं। बहुत कम सन्यासी और वानप्रस्थी ऐसे मिलेंगे जिनका जीवन सर्वथा आध्यात्मिक हो। इसलिये आज के युग में आश्रम व्यवस्था की बातचीत करना व्यर्थ जान पड़ता है।

हाँ आश्रम व्यवस्था का अर्थ यदि जीवन योजना लगाया जाये। जो कि प्राचीन आश्रम व्यवस्था का वास्तविक अर्थ रहा ही होगा। तो इसको आजकल इस प्रकार से बनाया जा सकता है।

यह जानते हुए कि जीवन में बालकपन जवानी अधेड़ता बुढ़ापा और मृत्यु अवश्यम्भावी हैं, मनुष्य को अपने जीवन की इस प्रकार योजना बनानी चाहिये कि वह चार काम अपने जीवन में अवश्य कर सके—१—जीवन के लिये सर्वतोमुखी और अधिक से अधिक तैयारी। २—संसार के कामधन्ध और भोग-धन में प्रवेश करके आवश्यकतानुसार, और नैतिक आचरण द्वारा धन कमाना और सांसारिक सुखों का उपभोग करना समाज को अपनी सेवा देकर उससे अपने लिये सुखों साधनों को लेते हुए दाम्पत्य जीवन को बिताना। ३—दाम्पत्य जीवन के सुखों को धर्मानुसार भोग कर, और उसकी जिम्मेदारियों (बाल बच्चों के पालन-पोषण शिक्षा आदि) से छुट्टी पाकर सपत्नीक अपने बाल बच्चों से अलग स्वतन्त्र रहकर, समाज सेवा समाज कल्याण और देश के राजनैतिक या सांस्कृतिक कामों में सदाचारपूर्ण भाव लेते हुए, आदर, सम्मान और ख्याति का अर्जन करना। ४—पत्नी के न रहने पर और जोतक शेष युग के कामों के करने की शक्ति क्षीण हो जाने पर आत्मज्ञान और आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिये आध्यात्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय और योगाभ्यास करना। इस प्रकार के जीवन की योजना बना लेने से मनुष्य को अपने जीवन में सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति हो सकती है।

जो लोग बालकपन में अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास-सुखो

के उपभोग में ह्रास कर देते हैं, और जीवन के लिये तैयार नही करते, वे सुखी और सम्पन्न गृहस्थी नही बन सकते, और जो गृहस्थी बिना सोचे-विचारे सन्तानोत्पादन करते रहते हैं और भविष्य की चिन्ता न करते हुए बिना सोचे समझे अर्थ का व्यय करते हैं, और अपनी अधेड़ उम्र और बुढापे केलिये उचित आर्थिक प्रबन्ध नही करते और न स्वास्थ्य और शक्ति की ही रक्षा और वर्धन करते हैं, वे आगे चलकर कभी सुखी नही रहते, उनके जीवन का उत्तरार्द्ध कष्टमय होता है। इसलिये गृहस्थ जीवन को भली भांति व्यतीत करना चाहिये। जीवन के पूर्वार्द्ध समाप्त होने तक अर्थात् ५०—६० वष के भीतर ही दम्पती को बाल-बच्चो के प्रति उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाना चाहिये।

इसके पश्चात् स्वतत्र रहकर सामाजिक कामो मे भाग लेकर समाज का ऋण चुकाने का यथा शक्ति और यथा अभिरुचि यत्न करना चाहिये। व्यक्तियो की नि स्वार्थ देन और सेवा से ही समाज उन्नत होता है।

जब बुढापे में मनुष्य की शारीरिक शक्तियो का ह्रास होने लगे तब किसी शान्त और सात्विक वातावरण मे रहकर प्रत्येक व्यक्ति को आत्मचिन्तन और योगाभ्यास करते हुए आत्मज्ञान और आत्मावस्थिति प्राप्त करके समय आने पर सहर्ष शरीर त्याग करना चाहिये। इस प्रकार की आश्रम-व्यवस्था आज भी चल सकती है और इसके चलाने का प्रयत्न करना चाहिये।

समाज को भी आश्रम व्यवस्थानुसार जीवन योजना बनाने मे व्यक्ति को सहायता देनी चाहिये। व्यवसायो से अवकाश प्राप्त व्यक्तियो को अवैतनिक सेवाये करने के अवसर, अवकाश प्राप्त व्यक्तियो के लिये आवास और आध्यात्मिक साधना करने वालो के लिये कुटियां बनवानी चाहिये और उनकी आवश्यक खाने-कपडे आदि की व्यवस्था कर देनी चाहिये, ताकि जो लोग अपने गृहस्थाश्रम में अधिक नही बचा सके वे भी अपने जीवन के उत्तरार्ध को सुख से बिता सकें।

१२—धन्धो और व्यवसायों के द्वारा व्यक्ति की उच्चता या नीचता के सम्बन्ध में

भारतीय जीवन में सदा ही मनुष्य के व्यवसाय या धन्वो के द्वारा उसकी नीचता और उच्चता निर्धारित होती रही है, और समाज में आदर और सन्मान भी धन्धो के ऊपर ही निर्भर रहे हैं। आज भी यही देखने में आता है। जहाँ प्राचीन काल में शिक्षक ब्राह्मण और आध्यात्मिक साधना में लगे हुए सन्यासी या योगी को सर्वोच्च मान कर उसको सबसे उच्च और सन्मानित व्यक्ति माना जाता था वहाँ आज भी जो राजनैतिक क्षेत्र में काम करते हैं उनके लिये एक विशेष नाम (V I P = Very important persons) 'महान् व्यक्ति' देकर उनका सबसे अधिक आदर और सन्मान किया जाता है और सब जगह उनको ही ऊँचा स्थान मिलता है। प्राचीन काल में सबसे ऊँचा स्थान

असम्यता निर्लज्जता और रोगों का जहाँ-तहाँ नग्न है। चाय कॉफी तम्बाकू मांस मदिरा अंडा उत्तेजक पेय और खाद्य पदार्थों का दुकानों जलपानगृहों और होटलों में अधिक से अधिक प्रचलन है और इन कामों को करने पर कहीं भी किसी के लिये रोक-टोक नहीं है। इसलिये पुराने काल के ब्रह्मचर्य आश्रम की आज न सम्भावना ही है और न आवश्यकता ही है।

जैसे आज के युग में पुरानी ब्रह्मचर्य व्यवस्था नहीं हो सकती वैसे ही पुरानी काल का सन्यास और वानप्रस्थ भी नितान्त असम्भव है और अनावश्यक भी है। आजकल वानप्रस्थी हो या सन्यासी केवल नाममात्र के हैं। उनको अच्छे और अप-टू-डेट मकानों की सवारी की आराम के उपकरणों की शिष्य और शिष्याओं और धन-सम्पत्ति की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि गृहस्थियों को है। वानप्रस्थ और सन्यासियों के यहाँ जो भोग्य वस्तुयें और सुख सामग्रियाँ मिल सकती हैं वे गृहस्थियों के यहाँ दुर्लभ हैं। बहुत कम सन्यासी और वानप्रस्थी ऐसे मिलेंगे जिनका जीवन सर्वथा आध्यात्मिक हो। इसलिये आज के युग में आश्रम व्यवस्था की बातचीत करना व्यर्थ जान पड़ता है।

हाँ आश्रम व्यवस्था का अर्थ यदि जीवन योजना लगाया जाये। जो कि प्राचीन आश्रम व्यवस्था का वास्तविक अर्थ रहा ही होगा। तो इसको आजकल इस प्रकार से बनाया जा सकता है।

यह जानते हुए कि जीवन में बालकपन जवानी अधेड़ता बुढ़ापा और मृत्यु अवश्यम्भावी है, मनुष्य को अपने जीवन की इस प्रकार योजना बनानी चाहिए कि वह य चार काम अपने जीवन में अवश्य कर सके—१—जीवन के लिये सर्वतोमुखी और अधिक से अधिक तैयारी। २—संसार के कार्यक्षेत्र और भोग क्षेत्र में प्रवेश करके आवश्यकतानुसार, और नैतिक आचरण द्वारा धन कमाना और सांसारिक सुखों का उपभोग करना समाज को अपनी सेवा देकर उससे अपने लिये सुखों साधनों को लेते हुए दाम्पत्य जीवन को बिताना। ३—दाम्पत्य जीवन के सुखों को धर्मानुसार भोग कर, और उसकी जिम्मेदारियों (बाल बच्चों के पालन पोषण शिक्षा आदि) से छुट्टी पाकर सपत्नीक अपने बाल बच्चों से अलग स्वतन्त्र रहकर, समाज सेवा समाज कल्याण और देश के राजनैतिक या सांस्कृतिक कामों में सदाचारपूर्वक भाग लेते हुए, आदर सम्मान और ख्याति का अर्जन करना। ४—पत्नी के न रहने पर, और अधिक वृद्ध रूप के कामों के करने की शक्ति क्षीण हो जाने पर आत्मज्ञान और आत्मावस्थिति प्राप्त करने के लिये आध्यात्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय और योगाभ्यास करना। इस प्रकार के जीवन की योजना बना लेने से मनुष्य को अपने जीवन में सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति हो सकती है।

जो लोग बालकपन में अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विषय-सुखों

के उपभोग में ह्रास कर देते हैं, और जीवन के लिये तैयार नही करते, वे सुखी और सम्पन्न गृहस्थी नही बन सकते, और जो गृहस्थी बिना सोचे-विचारे सन्तानोत्पादन करते रहते हैं और भविष्य की चिन्ता न करते हुए बिना सोचे समझे अर्थ का व्यय करते हैं, और अपनी अधेड़ उम्र और बुढापे के लिये उचित आर्थिक प्रबन्ध नही करते और न स्वास्थ्य और शक्ति की ही रक्षा और वर्धन करते हैं, वे आगे चलकर कभी सुखी नही रहते, उनके जीवन का उत्तरार्द्ध कष्टमय होता है। इसलिये गृहस्थ जीवन को भली भाँति व्यतीत करना चाहिये। जीवन के पूर्वार्द्ध समाप्त होने तक अर्थात् ५०–६० वर्ष के भीतर ही दम्पती को बाल-बच्चो के प्रति उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाना चाहिये।

इसके पश्चात् स्वतंत्र रहकर सामाजिक कामो में भाग लेकर समाज का ऋण चुकाने का यथा शक्ति और यथा अभिरुचि यत्न करना चाहिये। व्यक्तियो की निःस्वार्थ देन और सेवा से ही समाज उन्नत होता है।

जब बुढापे में मनुष्य की शारीरिक शक्तियो का ह्रास होने लगे तब किसी शान्त और सात्विक वातावरण में रहकर प्रत्येक व्यक्ति को आत्मचिन्तन और योगाभ्यास करते हुए आत्मज्ञान और आत्मावस्थिति प्राप्त करके समय आने पर सहर्ष शरीर त्याग करना चाहिये। इस प्रकार की आश्रम-व्यवस्था आज भी चल सकती है और इसके चलाने का प्रयत्न करना चाहिये।

समाज को भी आश्रम व्यवस्थानुसार जीवन योजना बनाने मे व्यक्ति को सहायता देनी चाहिये। व्यवसायो से अवकाश प्राप्त व्यक्तियो को अवैतनिक सेवायें करने के अवसर, अवकाश प्राप्त व्यक्तियो के लिये आवास और आध्यात्मिक साधना करने वालो के लिये कुटियाँ बनवानी चाहिये और उनकी आवश्यक खाने-कपड़े आदि की व्यवस्था कर देनी चाहिये, ताकि जो लोग अपने गृहस्थाश्रम में अधिक नहीं बचा सके वे भी अपने जीवन के उत्तरार्ध को सुख से बिता सकें।

१२—धन्धो और व्यवसायो के द्वारा व्यक्ति की उच्चता या नीचता के सम्बन्ध में

भारतीय जीवन में सदा ही मनुष्य के व्यवसाय या धन्धो के द्वारा उसकी नीचता और उच्चता निर्धारित होती रही है, और समाज में आदर और सन्मान भी धन्धो के ऊपर ही निर्भर रहे हैं। आज भी यही देखने में आता है। जहाँ प्राचीन काल में शिक्षक ब्राह्मण और आध्यात्मिक साधना में लगे हुए सन्यासी या योगी को सर्वोच्च मान कर उसको सबसे उच्च और सन्मानित व्यक्ति माना जाता था वहाँ आज भी जो राजनैतिक क्षेत्र मे काम करते हैं उनके लिये एक विशेष नाम (V I P = Very important persons) 'महान् व्यक्ति' देकर उनका सबसे अधिक आदर और सन्मान किया जाता है और सब जगह उनको ही ऊँचा स्थान मिलता है। प्राचीन काल में सबसे ऊँचा स्थान

ब्राह्मणों (विद्वान् शिक्षकों) का था उससे नीचे का स्थान क्षत्रियों (समाज की रक्षा करने वालों) का। उससे नीचा स्थान वैश्यों (बनियों) का था और सबसे नीचा स्थान शरीर की क्रिया द्वारा दूसरों की (ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों की) सेवा करने वालों—नायक, नाई, धोबी खेत पर काम करने वाले बढ़ई, लोहार, मिस्त्री आदि का था। अंग्रेजी राज्य में समाज में सबसे ऊँचा स्थान धनी लोगों का था।

अब प्रश्न यह है कि क्या किसी काम के करने से किसी धन्धे को करके जीवन निर्वाह करने से या किसी व्यवसाय को चलाने से किसी मनुष्य को ऊँचा नीचा सम्माननीय आदरणीय अथवा पूज्य समझना नैतिक दृष्टि से उचित है और क्या किसी समाज में किसी विशेष पेशे वालों को या किसी विशेष प्रकार के समाज कार्य करने के कारण किसी व्यक्ति को, इतना बड़ा समझा जाये कि उसके सम्मान के लिए बड़े-बड़े आयोजन किए जायें उसके दर्शन के लिए या उसके पैर छूने के लिये लोग दौड़े जायें भीड़ लगे और एक आडम्बर खड़ा हो जाय। ऐसा होना समाज का एक महान् रोग है। भारतीय समाज से यह रोग निकलना चाहिये। आज के समाज की दृष्टि से सब व्यवसाय धन्धे काम एक सा ही महत्व रखते हैं। सबका मूल्यांकन और आदर एक सा ही होना चाहिये। क्या जूता बनाना जूता गाँठना पाखाना साफ करना सड़क साफ करना कपड़े धोना भोजन बनाना मोटर चलाना वायुयान चलाना रेल चलाना बस चलाना पुलिस का काम करना फौजी काम करना किसी भी कारखाने में कोई भी काम करना बैंकों और दफ्तरों म काम करना किसी व्यवसाय की शिक्षा देना पढ़ाना नाच गाकर प्रसन्न करना कविता करना पुस्तक लिखना व्याख्यान देना आदि कोई भी ऐसा काम है जिसका दूसरे कामों से कम महत्व है ? आजकल समाज के लिए शिक्षक, रक्षक प्रबन्धक किसान वणिक और उद्योग धन्धे में लगा हुआ मजदूर, कवि दार्शनिक पुजारी आदि सभी का एक सा ही महत्व है। सब की एक सी ही आवश्यकता है। सब ही यदि अपने-अपने कार्य कुशलता से करते हुए समाज की सेवा करते हैं। यदि उनमें से कोई अपने कामों में प्रमाद करता है तो समाज को हानि पहुँचती है रेल मोटर, बस या वायुयान का चालक यदि जरा-सा भी प्रमाद कर दे तो हजारों व्यक्तियों की जान चली जाती है समाज की सम्पत्ति की हानि होती है। इसलिये समाज को किसी काम करने के कारण किसी व्यक्ति को उच्च या नीच समझकर किसी का अधिक सम्मान और किसी का कम आदर या अनादर करना बड़ी भारी नैतिक भूल ही नहीं यह बड़ा भारी सामाजिक दोष है।

व्यक्ति की स्वयं अपनी दृष्टि में भी कुछ कार्य उच्च और कुछ नीचे होते हैं, और वह स्वयं ही कुछ धन्धों को इसी कारण करना पसन्द नहीं करता। यह विचार सर्वथा अनैतिक है। कोई भी धन्धा व्यवसाय या काम स्वयं अच्छा या बुरा नहीं है उच्च या

नीच नही है। धर्म या अधर्म नही है। पुण्य या पाप नहीं है। पवित्र या अपवित्र नही है। स्वर्ग या मोक्ष का बाधक नही है। यश या अपयश देने वाला नही है। कर्मो या धन्धो का इस प्रकार विभाग करना सर्वथा अनुचित है। कोई भी काम हो जिसको करके हम दूसरो की कोई आवश्यकता पूरी करते हैं, उनके काम आते हैं, उनकी सेवा करते हैं, और उनके बदले में दूसरो से हमको अपने जीवन-निर्वाह और जीवन को सुखी बनाने के लिये धन मिलता है, वह काम-धन्धा तो अपना विशेष महत्व रखता है। केवल उसके करने से कोई उच्च और नीच हो यह भला क्यों ? हाँ नैतिक उच्चता और नीचता, पाप और पुण्य, धर्माधर्म, इस बात पर निर्भर हैं कि कोई व्यक्ति अपने विशेष धंधे को किस रीति से करता है, किस भाव से करता है, किस उद्देश्य से करता है, कितनी लगन से करता है। व्यवसाय मात्र में नैतिकता का प्रश्न नही है करने वालो की मानसिक अवस्था में है। पहाडो में मोटर बस चलाने वाला चालक यदि जरा-सा भी प्रमाद करे, कुशलता और दक्षता से काम न करे, उसके ध्यान में चचलता आ जाये, वह इधर-उधर के विचारो में निमग्न हो जाये, तो वह अवश्य पापी है, अधर्म करता है, और वह नीचात्मा है। ऐसे ही यदि कोई प्रोफेसर विद्याभ्यास और विद्यादान में प्रमाद करके राजनैतिक पदो को प्राप्त करने में लग जाता है तो वह पाप करता है। वह नीच है। इसी प्रकार जो राजनैतिक नेता देश का अहित करके अपने स्वार्थो की पूर्ति करने और धन-सम्पत्ति और ख्याति के प्राप्त करने में ही लगा रहे वह पापी है, नीच है, अधर्मी है।

इसलिये न समाज को, न व्यक्ति को, कोई धन्धा नीच या उच्च समझना चाहिये। नैतिक प्रश्न यह नही है कि हम क्या करते हैं। वह यह है कि हम कैसे करते हैं। इसीलिये भगवद्गीता में कर्म की कुशलता को ही योग की पदवी दी है और स्वधर्म (अपने अपने व्यवसाय) को कुशलतापूर्वक पालन करके सिद्धि प्राप्त करने की सभावना बताई है। मध्यकालीन सन्त कबीर ने कपडे बुनते हुए, दादू ने रुई धुनते हुए और रैदास ने जूते गाँठते हुए, ऊँचे से ऊँचा आध्यात्मिक पद प्राप्त किया। आज हम सब लोग उनका किसी भी ब्राह्मण किसी भी राजनैतिक नेता, किसी भी सरकारी कर्मचारी से अधिक आदर करते हैं।

किसी व्यवसाय को करने वाले या किसी भी पद पर आरूढ़ व्यक्ति से साधारण व्यक्ति को चकाचौंध होकर अपने मन में हीन भावना नही लानी चाहिए। बाहरी महत्ता, सन्मान और उच्च पदवी आभास मात्र है। ससार में क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी से लेकर ब्रह्मा तक को सृष्टि में इस प्रकार की समानता प्राप्त है कि कोई भी एक दूसरे से बडा नही है। सबको सुख दुःख का समान अनुभव होता है। मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से तो है ही, शारीरिक दृष्टि से भी सब समान है। जो वस्तु जिसको प्राप्त है वह उससे सन्तुष्ट न होकर जो उसको प्राप्त नही है उसकी ही इच्छा किया करता है। इच्छा का पूरा न होना ही

दुःखदाई होता है, चाहे उसका विषय कुछ भी हो। इच्छा की पूर्ति होने पर भी क्षणिक सुख होता है, चाहे उसका विषय कुछ भी हो। जो वस्तु प्राप्त हो जाती है वह चाहे जो कुछ भी हो उसका किसी के लिए भी कुछ मूल्य नहीं रहता। जिस वस्तु का अभाव समझा जाने लगता है वह बहुमूल्य हो जाती है। जिनको जितना वैभव प्राप्त है उनको सुखी और प्रसन्न होने के लिए उतनी अधिक मात्रा में और चाहिये। जिनको अधिक खाने को मिलता है उनको भूख कम लगती है। अन्न नहीं पचता और खाने में स्वाद नहीं आता। जिनको खाने को कठिनाई से मिलता है उनको ही खाने में आनन्द का अनुभव होता है। जो चारों ओर सुन्दर पदार्थों से घिरे रहते हैं उनके लिये उन पदार्थों में सौन्दर्य ही नहीं रहता। प्रत्येक व्यक्ति को उन सब पदार्थों की पूरी-पूरी कीमत चुकानी पड़ती है जिनको वह प्राप्त करता है। किसी को कुछ भी सस्ते दामों नहीं मिलता। सुख और दुःख बाहरी पदार्थों आडम्बरों, पदों धन सम्पत्ति और विषय व्यवसायों में नहीं हैं। वे तो मन की अवस्थाओं पर निर्भर हैं। मन सब की सम्पत्ति है उसके उन्नत होने से मानव उन्नत और उसके अवनत होने से मानव अवनत होता है। इसलिये मन की दृष्टि से ही सब वस्तुओं अवस्थाओं पदों और पदार्थों का मूल्य निर्धारण करना चाहिए। यह संभव है कि एक चक्रवर्ती राजा भी दुःखी हो और अपने को भाग्यहीन समझे और यह भी संभव है कि एक लंगोटा मात्र परिधान वाला अपने को भाग्यवान् समझने लगे। "कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः" शंकराचार्य ने ठीक ही कहा है।

११—स्त्रियों के सम्बन्ध में

भारतीय नीति शास्त्रों में स्त्रियों के सम्बन्ध में अनेक परस्पर विरोधी और असत्य धारणायें पाई जाती हैं अब समय आ गया है कि हम उनके सम्बन्ध में असत्य धारणाओं के स्थान पर सत्य धारणायें बनायें। स्त्रियों को पुरुषों ने सब दुर्गुणों की खान समझी थी। मनु ने कहा है "स्त्रियों का यह स्वभाव है कि वे पुरुषों में दूषण उत्पन्न कर देती हैं" (मनुस्मृति २।२१३) पुरुष ने उनको केवल अपनी काम वासना की तृप्ति और सन्तानोत्पत्ति का साधन मात्र माना था। उनको सदा अविश्वास की दृष्टि से देखा था और इसी कारण उनको सदा ही किसी न किसी की देखभाल में रहने का आदेश दिया था। उनको कभी भी स्वतन्त्र रहने की आज्ञा नहीं थी। वे अबला और स्वयं अपनी रक्षा करने के अयोग्य समझी जाती थीं और बालक और बड़ा पुरुष भी उनका रक्षक बन सकता था। बालकपन में पिता की देखभाल में युवा अवस्था में पति की और बुढ़ापे में पुत्र की देखभाल में उनको रहना पड़ता था। स्वतन्त्र जीवन उनके लिये विहित नहीं था। क्योंकि यह डर था कि वह कहीं दुराचारिणी न हो जाये। पुरुष के दुराचारी होने की इतनी आशंका नहीं थी जितनी कि स्त्री के दुराचारिणी होने की रहती थी। स्त्री स्वभाव से ही

दुराचारिणी, पुरुषों को मोहने वाली, पुरुषों से आठ गुणी कामेच्छा वाली, अधिक चालाक, अधिक कृपण, और अधिक छल कपट करने वाली, समझी जाती थी। उसको नरक का द्वार, विष की बेल, पुरुष का बन्धन, और माया की मूर्ति समझा जाता था। पुरुष को मोह में फंसा कर अपनी इच्छाओं की पूर्ति का साधन बनाना ही उनका काम समझा जाता था। ये सब विचार अमनोवैज्ञानिक और निराधार हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि स्त्री और पुरुष में बहुत से शारीरिक और मानसिक भेद हैं और यही कारण है कि वे एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों मिलकर एक साथ रहने से एक दूसरे की शारीरिक, मानसिक और सामाजिक कमियों को पूरा करते हैं। स्त्री के सौन्दर्य से पुरुष आकृष्ट होता और पुरुष के वीर्य, तेज और ओज से स्त्री आकृष्ट होती है। दोनों का एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है, और इसमें कोई पाप भी नही है। आकृष्ट होना एक मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया है इसमें यदि दोष है तो आकृष्ट होने वाले का है जिसके मन में यह प्रतिक्रिया होती है, न कि उस विषय का जिसके प्रति आकर्षण होता है। स्वगत दोष को विषय के ऊपर प्रक्षेप करके विषय का दोष बताना यह मनुष्य की मनोवैज्ञानिक भूल ही है। इसी भूल के कारण पुरुष ने स्त्री को मोहने वाली बताकर अपने दोष को उसके ऊपर आरोपित कर दिया। यही कारण है कि पुरुष सदा से ही अपनी प्रत्येक निर्बलता और बुराई को स्त्री के ऊपर आरोपित करके उसको दोष देता रहा है। कामेच्छा से मनुष्य प्रेरित होकर यह समझता है कि स्त्री तो उसकी कामवासना का कारण है। इसी प्रकार और अनेक प्रकार की अपनी बुराइयों को वह स्त्री पर आरोपित करके उसको ही बुरा समझता है और कहता है। वास्तव में यदि मनोवैज्ञानिक रीति से देखा जाये तो स्त्री कामेच्छा के प्रकट करने में पुरुष से कही अधिक नियन्त्रित हैं। अधिकतर पुरुष ही स्त्रियो की कामेच्छा को जागृत और उत्तेजित करते हैं। पुरुष ही स्त्रियो पर बलात्कार करते हैं। पुरुष ही स्त्रियो से अधिक काम प्रेरित होते हैं, और पुरुषो मे स्त्रियो से कम स्वनियन्त्रण होता है। स्त्रियो को पुरुषो से अधिक समाज का, पाप का, और आगे पीछे का, भय होता है। किसी भी धार्मिक गुण में स्त्रियाँ पुरुषो से कम नही होती। स्वतत्र रहने वाली स्त्री स्वतत्र रहने वाले पुरुष से कही अधिक सयमी और धार्मिक होती है। नैतिकता की दृष्टि से पुरुष और स्त्री में कोई भेद ही नही है। इसलिये पुरुष को स्त्री को नैतिकता में कभी अपने से कम नही समझना चाहिये। यदि एक का नैतिक उत्थान और पतन हो सकता है तो दूसरे का भी हो सकता है। सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रो में दोनो को समान समझना ही उचित है। दोनो को पूर्ण नैतिक स्वतत्रता मिलनी चाहिये और दोनो को समान अधिकार होने चाहिये। दोनो को ही मित्र भाव से एक दूसरे के साथ मिल कर ससार के कार्य करने

दुःखदाई होता है, चाहे उसका विषय कुछ भी हो। इच्छा की पूर्ति होने पर भी अधिक सुख होता है, चाहे उसका विषय कुछ भी हो। जो वस्तु प्राप्त हो जाती है वह चाहे जो कुछ भी हो उसका किसी के लिये भी कुछ मूल्य नहीं रहता। जिस वस्तु का अभाव समझा जाने लगता है वह बहुमूल्य हो जाती है। जिनको जितना वैभव प्राप्त है उनको सुखी और प्रसन्न होने के लिये उतनी अधिक मात्रा में और चाहिये। जिनको अधिक खाने को मिलता है उनको भूख कम लगती है। अन्न नहीं पचता और खाने में स्वाद नहीं आता। जिनको खाने को कठिनाई से मिलता है उनको ही खाने में आनन्द का अनुभव होता है। जो चारों ओर सुन्दर पदार्थों से घिरे रहते हैं उनके लिये उन पदार्थों में सौन्दर्य ही नहीं रहता। प्रत्येक व्यक्ति को उन सब पदार्थों की पूरी-पूरी कीमत चुकानी पड़ती है जिनको वह प्राप्त करता है। किसी को कुछ भी सस्ते दामों नहीं मिलता। सुख और दुःख बाहरी पदार्थों आडम्बरों, पदों धन सम्पत्ति और विषय व्यवसायों में नहीं है। वे तो मन की अवस्थाओं पर निर्भर हैं। मन सब की सम्पत्ति है उसके उन्नत होने से मानव उन्नत और उसके अवनत होने से मानव अवनत होता है। इसलिये मन की दृष्टि से ही सब वस्तुओं अवस्थाओं पदों और पदार्थों का मूल्य निर्धारण करना चाहिये। यह सम्भव है कि एक चक्रवर्ती राजा भी दुःखी हो और अपने को भाग्यहीन समझे और यह भी सम्भव है कि एक कपोटा मात्र परिधान वाला अपने को भाग्यवान् समझने लगे। "कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः" शंकराचार्य ने ठीक ही कहा है।

१९—स्त्रियों के सम्बन्ध में

भारतीय नीति शास्त्र में स्त्रियों के सम्बन्ध में अनेक परस्पर विरोधी और असत्य धारणायें पाई जाती हैं। अब समय आ गया है कि हम उनके सम्बन्ध में असत्य धारणाओं के स्थान पर सत्य धारणायें बनायें। स्त्रियों को पुरुषों ने सब दुर्गुणों की खान समझी थी। मनु ने कहा है स्त्रियों का यह स्वभाव है कि वे पुरुषों में दूषण उत्पन्न कर देती हैं (मनुस्मृति २।२१३) पुरुष ने उनको केवल अपनी काम वासना की तृप्ति और सन्तानोत्पत्ति का साधन मात्र माना था। उनको सदा अविश्वास की दृष्टि से देखा था और इसी कारण उनको सदा ही किसी न किसी की देखभाल में रहने का आदेश दिया था। उनको कभी भी स्वतन्त्र रहने की आज्ञा नहीं थी। वे अबला और स्वयं अपनी रक्षा करने के अयोग्य समझी जाती थीं और बालक और बड़ा पुरुष भी उनका रक्षक बन सकता था। बाल्यपन में पिता की देखभाल में युवा अवस्था में पति की और बुढ़ापे में पुत्र की देखभाल में उसको रहना पड़ता था। स्वतन्त्र जीवन उसके लिये विहित नहीं था। क्योंकि यह डर था कि वह कहीं दुराचारिणी न हो जावे। पुरुष के दुराचारी होने की इतनी आशंका नहीं थी जितनी कि स्त्री के दुराचारिणी होने की रहती थी। स्त्री स्वभाव से ही

दुःखदायिनी, पुरुष को मारने वाली है, पुरुष से अधिक कामेच्छा वाली, अधिक पापरूप, अधिक मूर्ख, और अधिक दान न करने वाली, समझी जाती थी। उसको नरक का द्वार, फिर भी देव, पुरुष का सहारा और माता की मूर्ति समझा जाता था। पुरुष को मोह मे डाल कर अपनी तृष्णा की तृप्ति का साधन बनाना ही उसका काम समझा जाता था। ये सब विचार अवास्तविक और निराधार है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि स्त्री और पुरुष मे बहुत से शारीरिक और मानसिक भेद है और यही कारण है कि वे एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होते है और एक दूसरे के पूरक है। दोनों मिल कर एक साथ रहने से एक दूसरे की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक कमियों को पूरा करते है। स्त्री के सौन्दर्य से पुरुष आकृष्ट होता और पुरुष के शौर्य, तेज और ओज से स्त्री आकृष्ट होती है। दोनों का एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है, और इसमें कोई पाप भी नहीं है। आकृष्ट होना एक मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया है इसमें यदि दोष है तो आकृष्ट होने वाले का है जिसके मन में यह प्रतिक्रिया होती है न कि उस विषय का जिसके प्रति आकर्षण होता है। स्वगत दोष को विषय के ऊपर आरोप करके विषय का दोष बताना यह मनुष्य की मनोवैज्ञानिक भूल ही है। इसी प्रकार मोह के कारण पुरुष ने स्त्री को मारने वाली बताकर अपने दोष को उसके ऊपर आरोपित कर दिया। यही कारण है कि पुरुष समाज ने ही अपनी प्रत्येक निर्बलता और बुराई को स्त्री के ऊपर आरोपित करके उसको दोष दिया गया है। कामेच्छा से मनुष्य प्रेरित होकर यह समझता है कि स्त्री ही उसकी कामवासना का कारण है। इसी प्रकार और अनेक प्रकार की अपनी बुराइयों को वह स्त्री पर आरोपित करके उसको ही बुरा समझता है और कहता है। वास्तव में यदि मनोवैज्ञानिक रीति से देखा जाये तो स्त्री कामेच्छा के प्रकट करने में पुरुष से कहीं अधिक नियंत्रित है। अधिकतर पुरुष ही स्त्रियों की कामेच्छा को जागृत और उत्तेजित करते है। पुरुष ही स्त्रियों पर बलात्कार करते है। पुरुष ही स्त्रियों से अधिक काम प्रेरित होते है, और पुरुषों से स्त्रियों मे अधिक स्वनियंत्रण होता है। स्त्रियों को पुरुषों से अधिक समाज का, पाप का, और आगे पीछे का, भय होता है। किसी भी धार्मिक गुण मे स्त्रियां पुरुषों से कम नहीं होतीं। स्वतन्त्र रहने वाली स्त्री स्वतन्त्र रहने वाले पुरुष से कहीं अधिक सदाचारी और धार्मिक होती है। नैतिकता की दृष्टि से पुरुष और स्त्री में कोई भेद ही नहीं है। इसलिये पुरुष को स्त्री को नैतिकता में कभी अपने से कम नहीं समझना चाहिये। यदि एक का नैतिक उत्थान और पतन हो सकता है तो दूसरे का भी हो सकता है। सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में दोनों को समान समझना ही उचित है। दोनों को पूर्ण नैतिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये और दोनों को समान अधिकार होने चाहिये। दोनों को ही मित्र भाव से एक दूसरे के साथ मिल कर संसार के कार्य करने

दुखदाई होता है, चाहे उसका विषय कुछ भी हो। इच्छा की पूर्ति होने पर भी क्षणिक सुख होता है, चाहे उसका विषय कुछ भी हो। जो वस्तु प्राप्त हो जाती है वह चाहे जो कुछ भी हो उसका किसी के लिये भी कुछ मूल्य नहीं रहता। जिस वस्तु का अभाव मनुष्य जाने लगता है वह बहुमूल्य हो जाती है। जिसको जितना वैभव प्राप्त है उसको सुखी और प्रसन्न होने के लिये उतनी अधिक मात्रा में और चाहिये। जिसको अधिक गान का मिलता है उसको भूख कम लगती है। अन्न नहीं पचता और खाने में स्वाद नहीं आता। जिसको खाने को कठिनाई से मिलता है उसको ही खाने में आनन्द का अनुभव होता है। जो चारों ओर सुन्दर पदार्थों से घिरे रहते हैं उनके लिये उन पदार्थों में सौन्दर्य ही नहीं रहता। प्रत्येक व्यक्ति को उन सब पदार्थों की पूरी-पूरी कीमत चुकानी पड़ती है जिनको वह प्राप्त करता है। किसी को कुछ भी सस्ते दामों नहीं मिलता। सुख और दुःख बाहरी पदार्थों आडम्बरों, धन सम्पत्ति और विलास व्यवसायों में नहीं है। वे तो मन की अवस्थाओं पर निर्भर हैं। मन सब की सम्पत्ति है उसके उन्नत होने से मानव उन्नत और उसके अवनत होने से मानव अवनत होता है। इसलिये मन की दृष्टि से ही सब वस्तुओं अवस्थाओं धनों और पदार्थों का मूल्य निर्धारण करना चाहिये। यह सम्भव है कि एक चक्रवर्ती राजा भी दुखी हो और अपने को भाग्यहीन समझे और यह भी सम्भव है कि एक लंगोटी मात्र परिधान वाला अपने को भाग्यवान् समझने लगे। "कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः" शंकराचार्य ने ठीक ही कहा है।

१६—स्त्रियों के सम्बन्ध में

भारतीय नीति शास्त्रों में स्त्रियों के सम्बन्ध में अनेक परस्पर विरोधी और असत्य धारणायें पाई जाती हैं। अब समय आ गया है कि हम उनके सम्बन्ध में असत्य धारणाओं के स्थान पर सत्य धारणायें बनायें। स्त्रियों को पुरुषों से सब दुर्गुणों की खान समझी थी। मनु ने कहा है स्त्रियों का यह स्वभाव है कि वे पुरुषों में दूषण उत्पन्न कर देती हैं" (मनुस्मृति २।२११) पुरुष ने उनको केवल अपनी काम वासना की तृप्ति और सन्तानोत्पत्ति का साधन मात्र माना था। उनको सदा अविश्वास की दृष्टि से देखा था और इसी कारण उनको सदा ही किसी न किसी की देखभाल में रहने का आदेश दिया था। उनको कभी भी स्वतन्त्र रहने की आज्ञा नहीं थी। वे अबला और स्वयं अपनी रक्षा करने के अयोग्य समझी जाती थी और बालक और बड़ा पुरुष भी उनका रक्षक बन सकता था। बालकपन में पिता की देखभाल में युवा अवस्था में पति की और बुढ़ापे में पुत्र की देखभाल में उनको रहना पड़ता था। स्वतन्त्र जीवन उनके लिये विहित नहीं था। क्योंकि यह डर था कि वह कहीं दुराचारिणी न हो जाये। पुरुष के दुराचारी होने की इतनी आशंका नहीं थी जितनी कि स्त्री के दुराचारिणी होने की रहती थी। स्त्री स्वभाव से ही

चाहिये। प्रत्येक नारी को यह पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वह विवाह करे या न करे, सन्तान उत्पन्न करे या न करे। कितनी सन्तान उत्पन्न करे यदि पुरुष उसके साथ दुर्व्यवहार करे उसके साथ रहे या न रहे। यदि पुरुष को यह सब अधिकार है तो कोई कारण नहीं कि स्त्री को क्यों न हो। उसको भी शिक्षा प्राप्त कर आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने का उतना ही अधिकार होना चाहिये जितना पुरुष को है। उसको भी अपने माता पिता की सम्पत्ति से उतना ही भाग मिलना चाहिये जितना की पुरुष को मिलता है।

१४—ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध म

भारतीय नीति शास्त्रों में ब्रह्मचर्य (वीयरक्षा) का बहुत बड़ा महत्व है और ठीक भी है क्योंकि जीवन शक्ति का जितना ह्रास होगा मनुष्य का शरीर उतना ही दुर्बल और रुग्ण हो जायेगा। वीर्य की रक्षा करना उसके द्वारा जीवनी शक्ति को वृथा बर्बाद न करना बहुत अच्छी बात है। यहाँ तक तो ठीक बात है। पर ब्रह्मचय के सम्बन्ध में जो अनेक ऐसी धारणाएं हमारे देश में बन गई हैं जो शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान की खोजो के विरुद्ध हैं, उनका हमको त्याग कर देना चाहिय। शरीर विज्ञान का यह निर्णय है कि जैसे शरीर में और अनेक प्रन्थिस्राव होते रहते हैं, वैसे ही मनुष्य का वीर्य भी कई स्रावो से मिलकर बनता है जिसके द्वारा अण्डकोषों में उत्पन्न होने वाले अनन्त जीवित मानव बीज क्रिमि मूत्रनालिका द्वारा बाहर निकलते हैं। ये यौन समागम में भी निकलते हैं, और अन्य प्रकार के मैथुनो में भी स्वप्न में भी और बिना स्वप्न के स्वत भी विशेषत जब कि कोई मानसिक उत्तेजना हो अथवा अधिक भोजन कर लिया हो। स्रावो के सामान्य तथा निकलने पर ग्रन्थियाँ फिर स्रावो का निर्माण करने लगती हैं। आजकल का शरीर विज्ञान यह नहीं मानता कि वीर्य नामक स्राव यदि मूत्र की नाली के बाहर न निकले तो वह किसी और नाली द्वारा ऊपर की ओर चढ़कर मस्तिष्क म जाकर मस्तिष्क को सबल बनाता है। (जिसमें ऐसा होने लगे वह ऊर्ध्वरेता कहलाता है) हाँ यह अवश्य है कि सभी स्रावों के बनाने में शरीर की ही शक्ति व्यय होती है। इसलिय किसी भी कामग्रन्थि को अधिक मात्रा में उत्तेजित करना उचित नहीं है। इसलिये शरीर विज्ञान का यह निर्णय है कि सामान्यत जो वीय स्राव होता है उससे शरीर की कोई विशेष हानि नहीं होती और जो होती भी है तो वह शीघ्र ही पूरी हो जाती है। वीर्यपात होने पर मनुष्य को इतनी चिन्ता नहीं होनी चाहिय जितनी की भारतीय नीति शास्त्र में बतलाई गई है।

शारीरिक ब्रह्मचर्य भले ही शरीर को पुष्टि करने में बालकपन म इतनी अधिक आवश्यकता है। सहायता देता हो पर मानसिक ब्रह्मचर्य अर्थात् नैसर्गिक कामेच्छा को हठ और बलपूर्वक निरोध करने और दबाने से जितनी हानियाँ आधुनिक मनोविज्ञान के *अनुसार होती हैं उनका ज्ञान साधारणतया लोगों को नहीं है। वा शायद ने यह मालूम*

किया है कि कामेच्छाओ के साथ लडने और उनके दमन करने में मनुष्य की वहुत वडी शक्ति का ह्रास होता है, दमन में पूर्णतया सफलता भी नही मिलती, और उसके भयकर शारीरिक, मानसिक और सामाजिक परिणाम होते हैं। स्त्री पुरुष का प्रेम होना, उनका एक दूसरे के अधिक से अधिक सम्पर्क होना, और यौन समागम होना, और उस समागम में दोनो के यौन अगो में कुछ न कुछ स्रावों का होना नैसर्गिक और स्वाभाविक है। इन वातो को अधार्मिक या अनैतिक समझकर उनसे घृणा करनी अनुचित है। ऐसा करने से मनुष्य स्वस्थ और सुखी नही रह सकता। हाँ अति सव कामो में बुरी होनी है। सव काम उचित मात्रा में और अवस्था, समय, परिस्थिति के अनुसार और उपयुक्त व्यक्तियो मे होनी चाहियें।

आजकल के युग में जवकि स्त्री और पुरुष वचपन से लेकर वुढापे तक सव स्थानो और सव समयो मे घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं और साथ रहकर और परस्पर सहयोग से अनेक काम करते हैं, किसी स्त्री का किसी पुरुष के साथ सभी प्रकार का सम्पर्क वर्जनीय समझना जैसा कि प्राचीन काल के आठ प्रकार के (स्मरण, कीर्तन, केलि, दर्शन, गुप्त वार्तालाप, सकल्प, चेष्टा और क्रियानिष्पति) स्त्री सम्पर्को से वचना ब्रह्मचर्य समझा जाता था, एक अनुचित वात है। उसको आदर्श वनाना व्यर्थ है।

स्त्री पुरुष जितने एक दूसरे से दूर रहते हैं उतने ही परस्पर आकर्षक होते हैं। जितने एक दूसरे से छिपते हैं उतने ही एक दूसरे को देखना चाहते हैं। जितने अप्राप्य होते हैं उतने ही एक दूसरे को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। उनके सम्बन्ध जितने वर्जित होते हैं उतने ही वे प्रेरक होते। इसके विरुद्ध जितना उनका अवर्जित, निकट और अधिक सम्पर्क होता है उतने ही वे एक दूसरे को साधारण और अनाकार्षक दिखाई पडने लगते हैं। इसलिये आधुनिक समय मे स्त्री पुरुष का अधिकाधिक सम्पर्क और नानाविध सम्वन्ध किसी प्रकार भी अनैतिक नही कहा जा सकता जव तक कि स्त्री या पुरुष एक दूसरे को वल से, भयभीत करके लोभ दिखाकर, धोखा देकर, या मिथ्या प्रलोभन दिखाकर किसी प्रकार के सम्पर्क के लिये मजवूर न करे। दो स्वतत्र व्यक्ति परस्पर प्रेम और परस्पर के हित को ध्यान में रखते हुए अपने कामो से दूसरे व्यक्तियो को हानि न पहुँचाते हुए, जो कुछ करें वह अनैतिक नही कहा जा सका है। मनु की यह वात कि "पुरुष को चाहिये कि माता, वहन, पुत्री के साथ भी कभी एकान्त में न बैठे क्योंकि वलवान् इन्द्रिय समूह विद्वान् को भी अपने वश में कर लेता है। (२–२१४) आजकल के युग में उचित नही जान पडती।

१५—भारतीय नीति की भारतीयता के सम्वन्ध में

पाठक हमारे सुझावो को पढकर यह न समझ लें कि हम भारतीय नीति में ये सुझाव देकर भारतीय नीति का भारतीयता को नष्ट करके उसको अभारतीय या पाश्चात्य

नीति बनाना चाहते हैं। पाश्चात्य नैतिक विचारधारा यद्यपि कोई त्याज्य विचारधारा नहीं है, और एक भी भारतीय नीति की गंगा में आ पड़ने में कोई हानि नहीं है क्योंकि जैसे गंगा में जितनी नदियाँ पड़ेंगी वे गंगा ही होकर बहेंगी तो भी हम भारतीय नीति की धार दीपता को सदा के लिए सुरक्षित रखना चाहते हैं। इसलिए ही कि यह भारतीय ही हमारी है, बल्कि इसलिए कि उसमें जो भारतीयता है उसमें ही मानव मात्र के कल्याण होने की सम्भावना है। यही इस नीति का प्राण है। हमारे सुझावों में उसको कोई ठेस नहीं लगती।

भारतीय नीति का प्राण क्या है। वह है इसकी य बातें—१—व्यक्ति के पूर्ण और सर्वांगी रूप को ध्यान में रखकर व्यक्ति के कर्मों का निर्धारण करना। व्यक्ति को भारतीय नीति शास्त्रों में केवल भौतिक शरीर मात्र न समझकर उसको मन और आत्मा भी समझा है। २—व्यक्ति के जीवन पर दीर्घ दृष्टि और सूक्ष्म दृष्टि दोनों डालकर उसके इहकालीन और दीर्घकालीन हित को ध्यान में रखकर उसके कल्याण पर विचार किया गया है। ३—व्यक्ति के अपने स्वार्थ को ही ध्यान में न रखकर उसका समष्टि जगत् में रहने वाले अन्य सभी प्राणियों मनुष्य, पशु पक्षी आदि के सम्बन्ध में और सब के हित को ध्यान में रखते हुए, उसके कर्तव्यों का निर्णय किया गया है। ४—शरीर, मन और आत्मा की अधिकाधिक देश काल और वस्तु में व्यापकता को ध्यान में रखकर शरीर से अधिक मन को और मन से अधिक आत्मा को महत्व देकर मानव के कर्तव्यों को निर्धारित किया गया है। ५—दान दया अहिंसा अस्तेय करुणा सेवा सर्वभूत हित में रति आदि एसे सामाजिक गुण जिनके द्वारा दूसरों को लाभ होता है आत्मकल्याण साधन माने गए हैं। अतएव यहाँ पर हित और स्वहित में कोई विरोध ही नहीं माना जाता। परोपकार से ही स्वहित होता है यह माना गया है। स्वार्थ सेवन अहंभाव अभिमान दर्प आदि आत्मनाश के हेतु हैं। ६—भारतीय नीति में ही यह माना गया है कि संसार न्यायक्षेत्र है। यहाँ प्रत्येक कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। किसी बुरे या भले के का फल से कोई प्राणी बच नहीं सकता। इसलिए ही सब को शुभ कर्म करने चाहिये

७—यहाँ पर पूर्ण विचार स्वातन्त्र्य मत स्वातन्त्र्य साधना स्वातन्त्र्य होते हुए भी वैमनस्य नहीं होता। य बातें यदि हमारी नैतिक विचारधारा से निकल जायें तो वह विचारधारा भारतीय नहीं कहलायगी हमारा ऐसा विचार है।

१६—पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में

आजकल के युग में जबकि हमारा सम्पर्क संसार के सभी कोनों के साथ होता जा रहा इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता है कि हम अपने विचारों को प्रकट करने में ऐसी भाषा का प्रयोग करें जो दूसरों की समझ में आ जाये। यहाँ हमारा अभिप्राय संस्कृत अंग्रेजी या हिन्दी आदि भाषाओं से नहीं है बल्कि प्रत्येक भाषा में प्रयुक्त की जाने वाली

उस शब्दावली मे है जिसके द्वारा हम अपने विशेष विचारो को व्यक्त करते है। प्रत्येक अर्थ को व्यक्त करने के लिये हमको किसी विशेष शब्द का प्रयोग करना चाहिये जो किसी दूसरे अर्थ का द्योतक न होकर केवल उसी एक अर्थ का द्योतक हो जिसके लिये हमने उसका प्रयोग किया है और जो अर्थ हम दूसरे व्यक्तियो को बतलाना चाहते हैं। भारतीय नीति शास्त्र में बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग अनेक अर्थों के लिये हुआ है, जिनसे कहने वाला कुछ समझता है और सुनने वाला कुछ और।

उदाहरण के लिये "धर्म शब्द को जो नीति शास्त्र का एक मुख्य शब्द है लीजिये। धर्म के अनेक अर्थों में से कुछ बहुत प्रचलित अर्थ हैं। १—मजहब जो इन प्रयोगो में आता है—'हिन्दू धर्म', 'बौद्ध धर्म', 'जैन धर्म', 'सिक्ख धम', 'ईसाई धर्म', मुसलमानो का धर्म', 'पारसियो का धर्म' आदि। २—वे काम जिनको करने से मनुष्य का इस लोक और परलोक दोनो में कल्याण हो, अर्थात् कल्याणकारी कर्म। ३—कर्त्तव्य अर्थात् किसी व्यक्ति, जाति या वर्ण को किसी विशेष अवस्था या परिस्थिति मे क्या विशेष कार्य करना चाहिये। जैसे गीता में "स्वधर्म' का प्रयोग। ४—'व्यवसाय या वृत्ति' जैसे ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य शूद्रों के क्या क्या धर्म हैं। ५—सदा रहने वाला नैसर्गिक स्वभाव। जैसे अग्नि का धर्म जलाना है। वायु का धर्म सुखाना है। ६—'आचार'—यथा स्त्रियो के धर्म ब्रह्मचारियों, गृहस्थो, वानप्रस्थियो और संयासियो के धर्म। ७—आवश्यकतानुसार प्राण बचाने वाली क्रियायें—जैसे आपद् धर्म। ८—कानून—जैसे मानव धर्म शास्त्र जिसमें भारतीयो के लिये रहन सहन और परस्पर व्यवहार के नियम बनाये गये थे। इत्यादि और भी अनेक अर्थ है जिनको व्यक्त करने मे धर्म शब्द का प्रयोग किया गया है। अब आवश्यकता यह है कि हम यह निश्चित कर लें कि नीति शास्त्र में भविष्य में धर्म शब्द का प्रयोग किस विशेष अर्थ में करेंगे।

इसी प्रकार 'कर्म' शब्द भी बहुत से अर्थों के लिये प्रयोग में आया। यहाँ तक कि भारत का साधारण मनुष्य कर्म (करम) का अर्थ तकदीर, किस्मत, या भाग्य समझता है। वह कहता है उसके 'करम मे जैसा लिखा होगा उसे वैसा ही मिलेगा।' कर्म के कुछ ये अर्थ हैं—१—'क्रिया'—कोई भी कार्य हो कर्म कहलाता है। २—यथा—'यथा किसी जाति का क्या कर्म है।' 'ब्राह्मण का अमुक कर्म है।' ३—आचरण—बुरा या भला कोई भी व्यवहार ४—स्वतन्त्रतापूर्वक निश्चित करके किया हुआ काम, जिसका परिणाम भुगतना पडे। ५—पूर्व जन्म के लिये हुए कर्म जिनका फल हमको इस जन्म मे भुगतना पडे इत्यादि और भी अनेक अर्थ जिनमें यह शब्द नीति ग्रन्थो और साधारण भाषा में प्रयुक्त होता है।

आत्मा शब्द का तो कहना ही क्या है। यह शब्द तो अनन्त अर्थों में प्रयुक्त होता

है और इससे क्या अभिप्राय है यह समझना सुनने वाले के लिये बहुत कठिन हो जाता है। उपनिषद् में ही आत्मा शब्द के साथ बहुत खेल खेला गया है। इस शब्द के कुछ विभिन्न अर्थ ये हैं। १—शरीर के अर्थ में जैसे 'आत्मरक्षा' 'आत्मघात' आदि में २—जीवन के अर्थ में जैसे 'आत्मकथा' में। ३—अहङ्कार के अर्थ में जैसे 'आत्माभिमान' 'आत्मश्लाघा' आदि में। ४—व्यक्तित्व के अर्थ में—जैसे 'आत्मद्रोही' 'आत्मनिरीक्षण' 'आत्मनिवेदन' 'आत्मप्रशंसा' 'आत्ममानी' आदि में। ५—बुद्धि के अर्थ में यथा 'आत्म सम्पन्न' में ६—जीव के अर्थ में जैसे एक शरीर को छोड़कर आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है इसमें। ७—सदसद्विवेक करने वाली बुद्धि के अर्थ में जैसे 'आत्मा को जो प्रिय होवें'। ८—व्यक्तित्व प्राणी के अर्थ में जैसे 'आत्मा के लिये सब कुछ प्रिय होता है' आत्मकल्याण' 'आत्मसुख' आत्मनिर्भर' आत्माधीन 'आत्माश्रय' 'आत्मबल' आदि में। ९—निर्गुण और निर्विकार चिन्मात्र पुरुष के अर्थ में सांख्य शास्त्र में प्रयुक्त हुआ है। अन्य दर्शनों—न्याय आदि में "आत्मा" का दूसरे अर्थों में प्रयोग किया गया है। १०—परमात्मा ब्रह्म अन्तिम तत्व के अर्थ में जहाँ तहाँ उपनिषद् में प्रयोग किया गया है। आत्मा ही सब कुछ है। आत्मा में ही सबकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होती है' आदि विचारों में।

इसी प्रकार नीति शास्त्र के और भी अनेक शब्द, पाप पुण्य ज्ञान भक्ति योग (जिसका प्रयोग भगवद्गीता में बीसों स्थानों पर भिन्न भिन्न अर्थों में किया गया है। समाधि त्याग अज्ञान माया मोक्ष काम अर्थ आदि ऐसे हैं जिनको लिखने और पढ़ने वाले या सुनने वाले अपने अपने अर्थों में प्रयुक्त करते हैं। नीति शास्त्र को वैज्ञानिक और बौद्धिक बनाने के लिये अपनी पारिभाषिक शब्दावली निर्धारित करनी चाहिये।

उपसंहार

भारतीय नीति शास्त्र के सम्बन्ध में इस समय जो कुछ हमको कहना था कह चुके। अब हम पाठक से छुट्टी लेते हैं। अन्त में हम पाठक को यह बतलाना चाहते हैं कि भारतीय जीवन में केवल वैयक्तिक कल्याण की चिन्ता और साधना ही नही रहती थी। भारतीय लोग सदा ही से प्राणी मात्र का कल्याण चाहते रहे हैं, और उनके लिये प्रार्थना और प्रयत्न करते रहे हैं भारतीयों की सदा से यही अभिलाषा रही है कि सब लोग सुखी हों, और सज्जनता से परस्पर व्यवहार करते रहे। समाज में शान्ति रहे, और सब लोग परस्पर सहानुभूति और सहयोग से प्राणी मात्र को सुखी बनाने का प्रयत्न करते रहें। इस प्रकार का विचार नीचे किये हुए तीन प्रार्थना-श्लोको में व्यक्त हैं जिनको अधिकतर भारतीय, जो नित्य सन्ध्या वन्दन करते हैं, दुहराते रहते हैं।

भारतीयो की प्राणिमात्र के कल्याण की प्रार्थना

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्व सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वस्सर्वत्र नवतु ॥१॥
दुर्जनस्सज्जनो भूयात् सज्जन शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान्विमोचयेत् ॥२॥
सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥३॥

अर्थात् सब लोग अपनी कठिनाइयो को पार करे। सब लोगो की दृष्टि कल्याण की ओर हो, सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो, सब को सब जगह प्रसन्नता और आनन्द हो, जो दुर्जन हैं वे सज्जन बन जायें, जो सज्जन हैं उनको शान्ति मिले, जिनको शान्ति प्राप्त हो गई है वे बन्धनो से मुक्त हो जायें और जो मुक्त हो गये हैं वे दूसरो को मुक्त करावें। सभी सुखी हो, सब रोग रहित हो, सब भलाई ही देखें, किसी को दुःख न हो।

भारतीय नीति शास्त्र के लिये स्रोत ग्रन्थों की सूची

वेद

- ऋग्वेद
- यजुर्वेद
- सामवेद
- अथर्ववेद

ब्राह्मण

- आर्षेय ब्राह्मण
- ऐतरेय ब्राह्मण
- कौषीतकि ब्राह्मण
- गोपथ ब्राह्मण
- ताण्ड्य ब्राह्मण
- तैत्तिरीय ब्राह्मण
- वंश ब्राह्मण
- शतपथ ब्राह्मण
- शांखायन ब्राह्मण
- सामविधान ब्राह्मण
- संहितोपनिषद् ब्राह्मण

उपनिषद्

- ईशोपनिषद्
- ऐतरेयोपनिषद्
- कठोपनिषद्
- केनोपनिषद्
- कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्
- छान्दोग्योपनिषद्

तैत्तिरीयोपनिषद्
प्रश्नोपनिषद्
बृहदारण्यकोपनिषद्
मुण्डकोपनिषद्
माण्डूक्योपनिषद्
श्वेताश्वतरोपनिषद्
ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्।

धर्मसूत्र

आपस्तम्भ धर्मसूत्र
गौतम धर्मसूत्र
वसिष्ठ धर्मसूत्र
विष्णु धर्मसूत्र

स्मृति

अत्रिस्मृति
अंगिरा स्मृति
उशनस स्मृति
कात्यायन स्मृति
दक्ष स्मृति
पराशर स्मृति
बृहस्पति स्मृति
मनुस्मृति
यम स्मृति
याज्ञवल्क्य स्मृति
लिखित स्मृति
वसिष्ठ स्मृति
व्यास स्मृति
शातातप स्मृति
शंख स्मृति
संवर्त स्मृति
हारीत स्मृति

इतिहास

महाभारत
रामायण
चि वि वैद्य संक्षिप्त रामायण
संक्षिप्त महाभारत

इतिहास सम्बद्ध उपदेशात्मक ग्रन्थ

भगवद्गीता
विदुरनीति
योगवासिष्ठ
आत्रेय वासिष्ठ दर्शनम् योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त

पुराण

अग्निपुराण
कूर्मपुराण
गरुडपुराण
नारद पुराण
पद्मपुराण
ब्रह्मपुराण
ब्रह्मवैवर्तपुराण
ब्रह्माण्डपुराण
भविष्यपुराण
भागवतपुराण
मत्स्यपुराण
मार्कण्डेयपुराण
लिंगपुराण
वाराहपुराण
वामन पुराण
वायुपुराण
विष्णुपुराण
शिव महापुराण
स्कन्दपुराण

दर्शन

चार्वाकषष्टि
षड्दर्शन समुच्चय (हरिभद्रसूरि)
सर्वदर्शन संग्रह (माधवाचार्य)
न्यायसूत्र (गौतम)
मीमांसासूत्र (जैमिनि)
योगसूत्र (पतंजलि)
वेदान्तसूत्र (बादरायण)
वैशेषिकसूत्र (कणाद)
सांख्यसूत्र (कपिल)
शारीरिक भाष्य (शंकराचार्य)
श्रीभाष्य (रामानुजाचार्य)
अणुभाष्य (वल्लभाचार्य)
सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्ण)
बौद्ध-त्रिपिटक, विनयपिटक
स्याद्वादमंजरी
महावीर की वाणी

नीति ग्रन्थ

कौटिलीय अर्थशास्त्र
कामन्दकीय नीतिसार
शुक्रनीति
नीतिमंजरी
चाणक्य नीतिदर्शन
भर्तृहरि नीति शतक
बार्हस्पत्यसूत्र
कामसूत्र (वात्स्यायन)

कथात्मक नीति ग्रन्थ

पंचतंत्र
हितोपदेश
कथासरित्सागर

नीति संग्रह ग्रन्थ

परत सुभाषितरत्न भाण्डागार

इस्लाम पर ग्रन्थ

कुरानमजीद
The Koran Translated by Rev J M Rodwell.
One Hundred Great Lives (Mohammed)
H U W Stanton The Teachings of the Quran.
Hazrat Mirza Ghulam Ahmad. The Teachings of Islam.
Duncan Greenless. The Gospel of Islam

मध्यकालीन सन्तों पर ग्रन्थ

परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की सन्त परम्परा
वियोगी हरि सन्तसुधासार
गोरखबानी
ज्ञानेश्वरी (ज्ञानेश्वर)
अमृतानुभव (ज्ञानेश्वर)
भक्तमाल (नाभादास)
गुरु ग्रन्थसाहब
कबीर ग्रन्थावली
दादूदयाल की बानी
सुन्दर ग्रन्थावली
दरियासागर
महात्माओं की बानी
बुल्ला साहब की बानी
पलटू साहब की कुण्डलियां व बानी
गरीबदास की बानी
रैदास की बानी
भीखा साहब की बानी
मारी साहब की बानी
बारी साहब की बानी
मलूकदास की बानी

जगजीवन साहब की बानी
गरीबदास की बानी
दरियासाहब (मारवाड़ वाले) की बानी
सहजप्रकाश
रज्जबजी की वाणी
रामचरितमानस (तुलसीदास)
विनयपत्रिका (तुलसीदास)
दोहावली (तुलसीदास)
वियोगी हरि कृत (तुलसीदास सूक्तिसुधा)

ईसामसीह के उपदेश

New Testament and Psalms
(The Holy Bible)
Arthur Mee The Children's Bible

उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारकों के ग्रन्थ

Raja Ram Mohan Roy **राजा राम मोहन राय**
English Works of Ram Mohan Roy (Panini Office) A Second Defence of the Monotheistic System of the Vedas
Life and Letters of Ram Mohan Roy (S D Collet)

Maharshi Devendra Nath Tagore
देवेन्द्र नाथ टगोर
History of the Brahmo Samaj by Shiva Nath Shatri
Autobiography of Maharshi Devendra Nath
Brahma Dharmer Mata (Bengali) (Viswas)
Patravali (Bengali) पत्रावली

Keshava Chandra Sen **केशव चन्द्र सेन**
P C Mazumdar The Life and Teachings of Keshava Chandra Sen
Shiva Nath Shastri History of Brahmo

Samaj Lectures In India.
Rabindra Nath Tagore रविन्द्रनाथ ठाकुर
The Religion of Man
Sadhana साधना
Gitanjali गीतांजलि
Shri Ramakrishna Paramahansa.
स्वामी रामकृष्ण परमहंस
Teachings of Shri Rama Krishna.
Sayings of Shri Rama Krishna Paramahansa.
Rama Krishna Charitamrita. (Bengali)
रामकृष्ण चरितामृत
Swami Vivekanada स्वामी विवेकानन्द
The Life of Swami Vivekananda by His Eastern and Western Disciples.
Complete Works of Swami Vivekananda.
Swami Ram Tirtha स्वामी रामतीर्थ
In the Woods of God realization.
Swami Ram's Works.
Hindi Translation of the above
Swami Dayanand Saraswati.
स्वामी दयानन्द सरस्वती
Satyartha Prakash सत्यार्थ प्रकाश
Dayananda Commemoration Volumes.
Mrs Annie Besant एनी बेसेंट
Ancient Widsom.
Dharma.
Hindu Ideals.
Questions and Answers on Hinduism
Introduction to Yoga.
Birth of New India.
Mahadeva Govind Ranade महादेव गोविन्द रानाडे

Speaches and Writings of Mahadeva Govind Ranade

बीसवीं शताब्दी के नेता

Shri Aurobindo श्री अरविंद

The Life Divine

Essays on the Gita

On the Vedas

On Yoga

Mahatma Gandhi महात्मा गांधी

Autobiography My Experiments with Truth

सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा

Speeches and Writings of Mahatma Gandhi

R Gregg Gandhi's Satyagraha or non-violent Resistance

Diwakar Satyagraha

Jawahar Lal Nehru जवाहरलाल नेहरू

The Discovery of India

Jawahar Lal Nehru's Speeches Vols I, II, III

Panchasheel Its Meaning an History.

Vinoba Bhave विनोबा भावे

भूदान गगा १—५

गीता प्रवचन

लोक नीति

स्वराज्य शास्त्र

सर्वोदय विचार

शान्ति सेना

ग्राम धर्म

दादा धर्माधिकारी सर्वोदय दर्शन

बाबूराव जोशी तपोधन विनोबा

Samaj Lectures In India.
Rabindra Nath Tagore रविन्द्रनाथ ठाकुर
The Religion of Man.
Sadhana साधना
Gitanjali गीतांजलि
Shri Ramakrishna Paramahansa.
स्वामी रामकृष्ण परमहंस
Teachings of Shri Rama Krishna.
Sayings of Shri Rama Krishna Paramahansa.
Rama Krishna Charitamrita (Bengali)
रामकृष्ण चरितामृत
Swami Vivekanada स्वामी विवेकानन्द
The Life of Swami Vivekananda by His Eastern and Western Disciples.
Complete Works of Swami Vivekanarda
Swami Ram Tirtha स्वामी रामतीर्थ
In the Woods of God-realization.
Swami Ram s Works
Hindi Translation of the above
Swami Dayanand Saraswati.
स्वामी दयानन्द सरस्वती
Satyartha Prakash सत्यार्थ प्रकाश
Dayananda Commemoration Volumes
Mrs Annie Besant एनी बेसेंट
Ancient Widsom.
Dharma.
Hindu Ideals.
Questions and Answers on Hinduism
Introduction to Yoga.
Birth of New India.
Mahadeva Govind Ranade महादेव गोविन्द रानाडे

पाश्चात्य नीति विज्ञान

Western Ethics

A I. Meidon (Ed.) Ethical Theories.

A. C Mitra Elements of Morals

Mackenzie Manual of Ethics

भारतीय नीति शास्त्र

Indian Ethics

History of Dharma Shastra by Kane

Sushil Kumar Maitra Ethics of the Hindus.

Mackenzie Hindu Ethics.

Tilak Gita Rahasya Vol. I.

तिलक : गीता रहस्य ।